भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

व्याख्याद्वयोपेतम्

[तृतीयो भागः]

कुलपतेः प्रो० राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दी-व्याख्याकारः
सम्पादकश्च
डॉ० पारसनाथद्विवेदी

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[तृतीयो भागः]

व्याख्याद्वयोपेतम्

कुलपतेः प्रो० [illegible] प्रस्तावनया विभूषितम्

सम्पादकः

डॉ० पारसनाथद्विवेदी



सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 14]

NĀṬYAŚĀSTRA

Of

ŚRĪ BHARATA MUNI

[PART THREE]
(CHAPTERS-12-18)

With the Commentary

ABHINAVABHĀRATĪ

By

ŚRĪ ABHINAVAGUPTĀCĀRYA

&

MANORAMĀ

(Hindi Commentary)

By

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

FOREWORD BY

PROF. RAMMURTI SHARMA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ
Ex-Dean, Faculty of the Sāhitya-Sanskṛti
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi



VARANASI
2001

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-039-3 (Vol.III)
ISBN : 81-7270-040-7 (Set)



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 1000 Copies

Price : Rs. 280. 00



Printed by—
VIJAYA PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[द्वादशाध्यायादारभ्याष्टादशाध्यायान्तो तृतीयो भागः]

श्रीमदभिनवगुप्तकृतया
'अभिनवभारती' व्याख्यया
डॉ. पारसनाथद्विवेदिकृतया
'मनोरमा' हिन्दी-व्याख्यया च
समलङ्कृतम्

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितम्

सम्पादकः
डॉ. पारसनाथद्विवेदी
साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्षचरः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य, वाराणसी



वाराणस्याम्
२०५७ तमे वैक्रमाब्दे १९२२ तमे शकाब्दे २००१ तमे ख्रैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक: —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-039-3 (Vol.III)
ISBN : 81-7270-040-7 (Set)

❐

प्रकाशक: —
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशनसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम् – १००० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – २८०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रक : —
विजय-प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी।

संस्कृत के तपोधन, संस्कृत-सेवा के महाव्रती
संस्कृत-रक्षा के प्रहरी
ऋषियों, मुनियों, मनीषियों एवं आचार्यों
को
सादर अर्पित

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

प्रस्तावना

महामुनि भरत द्वारा प्रणीत '**नाट्यशास्त्र**' वास्तव में अपने विषय का विश्वकोश माना जाता है। भारतीय नाट्यकला के स्वरूप, तत्त्व तथा प्रकृति को समझने के लिए **भरत मुनि** का विश्वकोशात्मक 'नाट्यशास्त्र' ही आलम्बन है। नाट्यशास्त्र के आनुषङ्गिक विषय यथा—काव्य, संगीत, नृत्य, शिल्प आदि का विस्तृत विवरण पुङ्खानुपुङ्ख रूप से इस विश्वकोश में उपलब्ध होता है। वस्तुत: इसकी विविधता ने ही इसे विश्वकोशात्मकता प्रदान की है। चतुर्विध अभिनय-सिद्धान्त, गीत एवं विद्या-विधि, पात्रों की विविध प्रकृति तथा भूमिका, रस-निष्पत्ति, रूपकों के संघटक तत्त्व आदि नाट्य-विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवरण देने वाला यह ग्रन्थ नाट्य-कला के प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

इस ग्रन्थ का अपर नाम '**भरत-सूत्र**' भी मिलता है, जो इसके रचयिता के लोकोत्तर व्यक्तित्व को प्रतिपादित करता है। 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि को ही नाट्य-वेद का आचार्य बताया गया है। यह भरत-सूत्रात्मक 'नाट्यशास्त्र' वैदिक परम्परा को आत्मसात् किये हुए है। इसी तथ्य का रेखाङ्कन और सङ्केत अधोलिखित श्लोक में देखा जा सकता है—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।

यह श्लोक इस तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए स्वत: प्रमाण है कि वैदिक यज्ञादि विधियों में जो गीत, नृत्य, आङ्गिक-वाचिक अभिनय आदि आयोजित होते थे, उनका साङ्गोपाङ्ग क्रोडीकरण '**नाट्यशास्त्र**' में हुआ है। इसीलिए इसे **षट्साहस्री-संहिता** भी कहा गया है। इस 'नाट्यशास्त्र' में ३६ अध्याय हैं, किन्तु इसके प्रमाणभूत व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद ने ३७ अध्यायात्मक 'नाट्यशास्त्र' का विवरण प्रस्तुत किया है।

यह ग्रन्थ प्रधान रूप से पद्यात्मक शैली में प्रणीत हुआ है। इसके श्लोकों की कुल संख्या ६००० मानी गयी है। प्राय: अनुष्टुप् छन्द में रचित ये पद्य

सूत्र अथवा कारिका के रूप में माने जाते हैं; परन्तु भरत मुनि ने यथाप्रसङ्ग आनुवंश्य श्लोकों, आर्याओं तथा सूत्रानुविद्ध आर्याओं का भी प्रयोग किया है। गद्य का भी प्रयोग सिद्धान्त-निरूपण, व्याख्यान तथा निर्वचन के लिए किया गया है। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में सूत्र, भाष्य, संग्रहकारिका एवं निरुक्त जैसी सभी प्राचीन शास्त्रीय पद्धतियों का पुङ्खानुपुङ्ख रूप से दर्शन होता है।

इस लोकोत्तर, नाट्यवेदात्मक, षट्साहस्री-संहितात्मक '**नाट्यशास्त्र**' की लोकोत्तरता, साङ्गोपाङ्गता तथा वैदिक-पारम्परिकता को ध्यान में रखते हुए शार्ङ्गदेव ने अपने '**सङ्गीतरत्नाकर**' के एक श्लोक में भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकारों की ओर सङ्केत किया है—

व्याख्याकारा भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ।।

इसी प्रकार '**नाट्यशास्त्र**' पर प्रणीत व्याख्याओं की सुदीर्घ ऐतिहासिक परम्परा का परिचय अभिनवगुप्तपादाचार्य की '**अभिनवभारती**' टीका में भी मिलता है, जिसके अनुसार मुख्य रूप से १६ आचार्य नाट्यशास्त्र के भाष्यकार/व्याख्याकार माने गये हैं; किन्तु इस षट्साहस्री-संहिता पर अभिनवगुप्तपादाचार्य की '**अभिनवभारती**' टीका अप्रतिम मानी गयी है।

आचार्य भरत मुनि का भारतीय काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अभिनयशास्त्र तथा ललित-कलाओं के आदि आचार्य के रूप में स्मरण किया गया है। इनकी ऐतिहासिकता के बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ईसा पूर्व ५०० से १०० तक के मध्य मानते हैं; कुछ लोग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मानते हैं और कुछ लोग इन्हें ईसा की चौथी शताब्दी का मानते हैं। भारतीय परम्परा में इन्हें वृद्धभरत या आदिभरत भी कहा गया है। वस्तुत: भरत मुनि नाट्यशास्त्र के अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे हैं। इन्होंने नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, काव्यशास्त्र, नृत्यशास्त्र, अभिनयशास्त्र का जो विवेचन अपनी प्रत्यग्र प्रतिभा से जिस वैज्ञानिकता एवं सूक्ष्मता के साथ किया है, उसने भारतीय नाट्यशास्त्र को पराकाष्ठा के शिखर तक पहुँचाया है।

इस प्रकार की अलौकिक कृति, जो नाट्यवेद भी कही गयी है, का '**अभिनवभारती**' एवं स्वप्रणीत '**मनोरमा**' हिन्दी-व्याख्या के साथ सम्पादन करते हुए पुराणपुरुष **प्रो० पारसनाथ द्विवेदी** ने जिस कठोर समर्पण, विवेचन एवं

विश्लेषण का परिचय दिया है, उससे प्रस्तुत संस्करण मानक ग्रन्थों की श्रेणी में आया हुआ माना जाएगा। अद्यावधि इस नाट्यवेदात्मक '**नाट्यशास्त्र**' के प्रायः जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उन सबसे पाठभेदों का निर्धारण करते हुए प्रो० द्विवेदी ने शुद्धतम पाठ को अपना विवेच्य-पाठ बनाया है, यह हमारे लिए अत्यन्त परितोष की बात है।

मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय को गौरवशाली मानता हूँ कि भरत मुनि के इस नाट्यवेद के तीसरे भाग का इतनी उदात्त व्याख्याओं के साथ (१२ से १८ अध्यायों में) प्रस्तुतीकरण किया है। एतदर्थ मैं **प्रो० पारसनाथ द्विवेदी** को पौनःपुन्येन अपनी सम्मानाञ्जलि समर्पित करता हूँ और यह आशा करता हूँ कि वर्तमान समय में भी चुनौती बने इस नाट्यवेद का चौथा भाग भी उक्त व्याख्याओं के साथ शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित हो सकेगा।

ऐसे लोकोत्तर यशस्वी ग्रन्थ के हृदयावर्जक प्रकाशक प्रकाशन-निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** को हार्दिक धन्यवाद एवं आशीर्वाद देते हुए, प्रकाशन-संस्थान के ईक्ष्यशोधनप्रवीण **डॉ० हरिवंश कुमार पाण्डेय,** सहायक सम्पादक **डॉ० ददन उपाध्याय,** ईक्ष्यशोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल, श्री अतुल कुमार भाटिया,** प्रकाशन-सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा** तथा पाण्डुलिपि-संग्राहक-सहायक **श्री ओमप्रकाश वर्मा** का वर्द्धापन करते हुए उनका मंगलाभिशंसन करता हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ के मुद्रक विजय-प्रेस के सञ्चालक **श्री गिरीश चन्द्र** एवं इस भाग के आवरणपृष्ठ के सङ्कल्पक श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स के सञ्चालक **श्री अनूप कुमार नागर** को अपनी शुभानुशंसा प्रदान करता हूँ।

अन्त में इस नाट्यवेद को **आदि-नट** सान्नपूर्णा भगवान् विश्वेश्वर के कर-कमलों में समर्पित करते हुए यह प्रार्थना करता हूँ कि यह नाट्यवेद सुधीजनों का महान् कल्याणकारक सिद्ध हो।

राममूर्ति शर्मा

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
माघ-पूर्णिमा,
वि.सं. २०५७

पुरोवाक्

नाट्यशास्त्र एवं अभिनव-भारती की हिन्दी व्याख्या के साथ तृतीय भाग (१२-१८ अध्याय) सुधीजन के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस भाग का भी प्रथम एवं द्वितीय भाग के समान स्वागत होगा। इस भाग में भी पूर्ववत् नाट्यशास्त्र का मूल एवं अभिनव-भारती व्याख्या का सम्पादन किया गया है और पाठभेदों को नीचे टिप्पणी में दिया गया है। नाट्यशास्त्र की मूल कारिका तथा अभिनव-भारती का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया गया है। तत्पश्चात् विमर्श के अन्तर्गत विषय के स्पष्टीकरणार्थ मत-मतान्तरों की समीक्षा की गई है। प्रस्तुत संस्करण का अनुवाद मूलग्रन्थ के मन्तव्यों के अनुरूप दिया गया है और विवेच्य विषय को विमर्श के अन्तर्गत व्याख्यात किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रस्तावना दी गई है, जिसमें इस संस्करण के प्रतिपाद्य विषय की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत श्लोकार्धानुक्रमणी भी दी गई है। इसके आगे का अंश चतुर्थ भाग में प्रकाशित होगा।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में मुख्य रूप से ''**गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बडौदा**' से प्रकाशित संस्करण का पाठ ही आधार रूप में स्वीकार किया गया है और उसके पाठभेदों को बहुत कुछ अपरिवर्त्तनों के साथ यहाँ भी दिया गया है तथा प्रस्तुत संस्करण के 'क' सङ्केत द्वारा उनका निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त पाठ-निर्धारण में चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, काव्यमाला संस्करण तथा एम.एम. घोष द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित संस्करणों का भी उपयोग किया गया है। इसमें चौखम्बा संस्करण के पाठों का निर्देश 'ख' सङ्केताक्षर द्वारा तथा काव्यमाला संस्करण के पाठों का निर्देश 'ग' सङ्केताक्षर द्वारा और एम.एम.घोष संस्करण के पाठों का निर्देश 'घ' सङ्केताक्षर द्वारा किया गया है। पाठ-निर्धारण में अर्थसङ्गति तथा पूर्वापर प्रसङ्गों पर भी विचार किया गया है और शुद्ध पाठ को मूल में रखा गया है तथा अशुद्ध एवं विकृत पाठ को नीचे पाद-टिप्पणी में दिया गया है।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** ने पूर्ण तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है। यदि उनका सहयोग प्राप्त न होता, तो सम्भवतः यह संस्करण प्रकाश में न आ पाता। अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के उन सभी आचार्यों, ग्रन्थकारों तथा समालोचकों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृतियों

से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता मिली है। विजय प्रेस के व्यवस्थापक **श्री गिरीशचन्द्र जी** के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने बड़े उत्साह एवं लगन के साथ कलात्मक ढंग से इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध बनाने का प्रयास किया गया है, फिर भी मानव-सुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है, अत: उसके लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि एवं कमी का अनुभव हो, सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। प्रस्तुत ग्रन्थ को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा। लेखक के अल्प अध्ययन एवं सीमित सामर्थ्य से एक गुरुतर, गम्भीर एवं जटिल विषय पर किया गया यह लघु प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है।

इसकी सफलता/असफलता का निकष वस्तुत: उन्हीं का परितोष है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है कि—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

दीपावली
वि.सं. २०५७
वाराणसी

विनयावनत
पारसनाथ द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

द्वादशोऽध्यायः

गतिप्रचारः

आसनविधानम्

त्रयोदशोऽध्यायः

कक्ष्याविभागः

प्रवृत्तिनिरूपणम्

चतुर्दशोध्यायः

वागभिनयः

छन्दो निरूपणम्

पञ्चदशोध्यायः

वृत्तलक्षणम्

षोडशोऽध्यायः

लक्षण विचारः

अलङ्कार निरूपणम्

दोष-विचारः

अनुबन्धलक्षणानि

सप्तदशोऽध्यायः

भाषाविधानम्

अष्टादशोऽध्यायः

रूपकनिरूपणम्

परिशिष्ट



सङ्केताक्षर

अ० पु०	=	अग्निपुराण
अ०, अध्या०	=	अध्याय
अभिनव	=	अभिनव भारती
अभिनव	=	अभिनवगुप्त
अ० श०	=	अमरुशतक
काव्यमाला	=	निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित नाट्यशास्त्र (सम्पूर्ण)
कुमार०	=	कुमार सम्भव
गायकवाड़	=	गायकवाड़ ओरिन्टल सिरीज, बड़ोदा
गा० ओ० सी	=	,, ,, ,, ,,
चौखम्बा	=	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
जे० ए० एच० आर० यस०	=	जनरल आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च, सोसाइटी ।
जे० ओ० आर० एम०	=	जनरल आफ ओरिन्टल मद्रास
तापस०	=	तापसवत्सराज
ध्वन्या०	=	ध्वन्यालोक
ना० शा०	=	नाट्यशास्त्र
नि० सा०	=	निर्णय सागर
म० म० घोष	=	मदन मोहन घोष
काणे (पी० वी० काणे)	=	पाण्डुरङ्ग वामन काणे
दे० (यस० के० दे०)	=	सुशील कुमार दे
रघु०	=	रघुवंश
रत्ना०	=	रत्नावली
वेणी०	=	वेणीसंहार
विक्रमो०	=	विक्रमोर्वशीय
शाकु०	=	अभिज्ञानशाकुन्तल

●

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

ना ट्य शा स्त्र म्

[अभिनवभारतीव्याख्याविभूषितम्]

[तृतीयो भागः]

॥ श्रीः ॥

भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[1]द्वादशोऽध्यायः

एवं व्यायामसंयोगे कार्यं मण्डलकल्पनम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि गतीस्तु प्रकृतिस्थिताः[2] ॥ १ ॥

अभिनव-भारती

श्रुत्यन्तविश्रान्तविधिर्या गतिः परमात्मनः ।
तां महानन्दसन्दोहतत्त्वमूर्ति[3] स्तुमः सदा ॥

प्रकरणसङ्गतये [4]प्रकृतानुपूर्वकं निरूपयिष्यमाणं प्रतिजानीते—एवमिति ।

हिन्दी-व्याख्या

गति-प्रचार

मण्डल-विधान नामक ग्यारहवें अध्याय में चारियों के संयोग से बनने वाले मण्डलों का विधान बताया गया हैं अब इस बारहवें अध्याय में प्रकरण की सङ्गति के लिए प्रकृति के अनुरूप गतियों का निरूपण करते हैं—

अभिनव—वेदान्तों के विश्रान्ति (पर्यवसान) की विधि रूप परमात्मा की जो गति है। महान् आनन्द-सन्दोह रूप (तत्त्वभूत) तन्मूर्त्ति स्वरूप उस गति की हम सदा स्तुति करते हैं ॥

अभिनव—प्रकरण की सङ्गति के लिए प्रकृत विषय के अनुरूप आगे निरूपण किये जाने वाले विषय में ग्रन्थकार प्रतिज्ञा करते हैं—'एवमित्यादि' ।

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वोक्त (पिछले अध्याय में बतलाये गये) विधि से व्यायाम अर्थात् नाना चारियों के संयोग से बनने वाले मण्डलों की कल्पना करनी चाहिए। इसके बाद प्रकृति अर्थात् पात्रों की गतियों का वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

---

१. ख. अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।
२. क-प, गतिं तु प्रकृतिस्थिताम् ।
३. क. (टि.) संवीद्धि सत्त्वमूर्ति ।
४. क. (टि.) वर्णितानुपूर्वकम् ।

व्यायामानामन्योन्यसंमीलनयोग्यानां चारीणां संहत्या[१] योगे मिश्रीभावे सति मण्डलानां कल्पनमनुक्तमपि कर्तुं शक्यं बुद्ध्येति तत उपरम्यते। तत्राङ्गिकस्य [२]रसभावयोर्विभागशो विनियोगस्य कृतत्वाद्यद्यपि क्वचित् तन्मिश्रणेऽपि पृथग्विनियोगो न वक्तव्यः तथापि शिष्यहितप्रतिपन्नो मुनिर्दिशं दर्शयितुं शिरःप्रभृतिपादान्तं यानि [३]अङ्गसंधेयानि कर्माण्युक्तानि तत्मेलनबलेन यो [४]देहसन्निवेशो गतावेव न स्थितौ प्रकाराभावात्तस्य विनियोगं [५]प्रकटयिष्यन् चारीमण्डलप्रसङ्गस्याचित्तवृत्तित्वाद्-गतिविनियोगमेव प्रतिजानीते। गतिश्च प्रकृतिं रसमवस्थां देशं कालं चापेक्ष्य वक्तव्या प्रतिपुरुषमभिधानात्। तत्र प्रक्रिया पूर्वमुच्यते, [६]तदेतत्तु शब्देन यावच्छब्दपर्यायवाचिना क्रमार्थेन काक्वाक्षिवदुभयतो धावता द्योतितम्॥ १॥

अभिनव—व्यायामों के परस्पर सम्मीलन के योग्य चारियों के समूह रूप से योग (मिश्रीभाव) होने पर आचार्यों के द्वारा न कहे जाने पर भी अपनी बुद्धि से मण्डलों की कल्पना की जा सकती है, इसलिए अब उससे विरत होते हैं। उनमें रस और भावों के सम्बन्ध में आङ्गिक अभिनय के विनियोग का विभाजन कर देने से यद्यपि कहीं पर उनका मिश्रण होने पर भी अलग से उनका विनियोग नहीं करना चाहिए तथापि शिष्यों के हित की कामना से अर्थात् शिष्यों के हित-चिन्तक दिशा (मार्ग) दिखलाने के लिए शिर से लेकर पैर तक अङ्गों के जो कर्म कहे गये हैं उनके मेलन (मिलाने) के बल से जो शरीर का सन्निवेश है वह गति के विषय में ही है, न कि स्थिति के विषय में। क्योंकि वहाँ उनके प्रकारों का अभाव होने से उनके विनियोग को स्पष्ट करने के लिए चारी और मण्डल के चित्तवृत्ति का विषय न होने से गतियों का विनियोग बतलाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रकृति (पात्र), अवस्था, रस, भाव, देश और काल की अपेक्षा करके गतियों का कथन करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक पुरुषों की गति अलग-अलग होती है। अतः पहिले उसकी प्रक्रिया को कहते हैं। कौए की आँख की तरह दोनों ओर दौड़ने वाले 'यावत्' शब्द के पर्यायवाची क्रमार्थक 'तु' शब्द से यह भाव द्योतित होता है॥ १॥

१. क. (टि.) संगत्या।
२. क. (टि.) तत्राङ्गिकसाभागयोर्विनियोगशो।
३. क. (टि.) अङ्गकर्मसंयोगानि। ४. क. (टि.) भेदसंनिवेशो।
५. क. (टि.) प्रकटयिष्यामः।
६. क. (टि.) तदेतादृच्छब्देन यादृक्छब्दपर्यायवाचिना।

तत्राप्रविष्टस्य का गतिरिति [1]प्रयोगोपक्रमं सूचयति तत्रोपवहनमिति।

विमर्श—इसके पूर्व ग्यारहवें अध्याय में मण्डल-विकल्पन का विधान बताया गया है। तदनुसार अनेक चारियों के संयोग से मण्डलों का रचना होती है। वहाँ उनके स्वरूप की कल्पना आचार्यों द्वारा नहीं बताई गई है, फिर भी अर्थात् आचार्यों द्वारा न बतलाये जाने पर भी स्वयं लक्षणों को देखकर उनके स्वरूप की कल्पना अपनो बुद्धि से कर लेना चाहिए। इसलिए यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर रहें। उसमें रस और भावों के प्रसङ्ग में विनियोग का विभागशः कथन किया है अतः उनके परस्पर मिश्रण हो जावे पर भी यद्यपि उनके विनियोग को अलग-अलग बतलाने की आवश्यकता नहीं है तदपि शिष्यों के हित की कामना से भरतमुनि ने शिर से लेकर पाद पर्यन्त अङ्गों के कर्मों को कह दिया है और उनके मिश्रण कर देने से और स्थिति के विषय में प्रकारों के न होने से गति के विषय में ही विनियोग को स्पष्ट करेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब पिछले अध्याय में चारी के संयोग से निर्मित मण्डलों को बतलाया है तो उनके उन मण्डलों के विनियोग अथवा योजना को क्यों नहीं बतलाया? इस पर कहते हैं कि चारीमण्डल का प्रसङ्ग चित्तवृत्ति रूप नहीं है कि उन्हें रस एवं भावों की उपयोगिता में बतलाया जाय, अतः मण्डलों के विनियोग को न बतलाकर रस और भावों के अनुसार की जाने वाली गतियों के विनियोग को कहते हैं। क्योंकि यह गति प्रकृति (पात्रों) के दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य रूप और उसकी अवस्था तथा देश और काल की अपेक्षा करके गति का कहना आवश्यक है। यह गति प्रत्येक पुरुषों में अलग-अलग होती है, यह आगे कहा जायगा। अतः पहिले उनकी प्रक्रिया को बतलाते हैं॥ १॥

विमर्श—गति-विधान यद्यपि आङ्गिक अभिनय का अङ्ग है तथापि भरत ने इसके अन्तर्गत पाद-प्रचार, शयन, आसन आदि नाट्योपयोगी विभिन्न विधियों का तात्त्विक विवेचन किया है। इसमें रङ्गमञ्च पर पात्रों के प्रवेश से लेकर निष्क्रमण काल तक की प्रत्येक गतियों का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। इसमें रस, भाव, अवस्था, देश, काल आदि की भिन्नता के अनुसार गतियों में भिन्नता, पात्रों के स्थानक, पाद-प्रचार, आसन, शयन, यान, आदि नाट्य-प्रयोग सम्बन्धी तात्त्विक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। नाट्य-प्रयोग की सफलता की दृष्टि से गति-विधान को नाट्य में बड़ा महत्त्व है॥ १॥

अभिनव—रङ्गमञ्च पर जो पात्र प्रविष्ट नहीं होते, उनको किस प्रकार की गति होगी? यह बतलाने के लिए प्रयोग के उपक्रम को सूचित करते हैं—'तत्रोपवहनमित्यादि'।

---

१. क. (टि.) प्रवेशोपक्रमं।

[1]तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम् ।
[2]यथामार्गरसोपेतं प्रकृतीनां प्रवेशने[3] ॥ २ ॥
ध्रुवायां [4]संप्रयुक्तायां पटे चैवापकर्षिते[5] ।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः ॥ ३ ॥

[6]यद्रङ्गानुसारालाप इति प्रसिद्धं[7] तमालापं कृत्वा ध्रुवायां सम्यक् प्रवृत्तायां, कथं ? भाण्डवाद्यपुरस्कृतत्वादि रूपत्रययुक्तं कृत्वेति, त्रीण्यपि क्रियाविशेषणानि । तन्त्रीभाण्डं वाद्यमानं पुष्करवाद्यम् । मार्गो देशः, रसः स्थायिचित्तवृत्तिः । वीप्सायामव्ययीभावः यो यः कश्चिद्गृहोद्याननिर्देशः । रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषः तेनोपेतं कृत्वा, या ध्रुवा तथा उत्तमादिप्रकृतीनां यस्यावेशनं बुद्धौ प्रवेशो यत्र तथा कृत्वा । एतदुक्तं भवति— हंसाद्युपमानमुखेन प्रकृतिविशेषः, उद्यानादिविशेषश्चावश्यं ध्रुवासूपनिबन्धनीयः ॥ २ ॥

अनुवाद—उस रङ्गमञ्च पर पात्रों के प्रवेश के समय भाण्डवाद्य पुरस्कृत, 'मार्ग' अर्थात् देश-काल और रसों से उपेत (युक्त) उपवहन-क्रिया सम्पन्न करके ध्रुवागान के सम्यक् प्रयोग किये जाने पर और जवनिका अर्थात् परदे के हटा दिये जाने पर नानार्थ रस के सर्जक पात्रों का प्रवेश कराना चाहिए ॥ २-३ ॥

अभिनव—जो रङ्ग के अनुसार (पाठभेद से अङ्गों के अनुसार) किये जाने वाले, आलाप के नाम से प्रसिद्ध है उस आलाप का करके ध्रुवागान के सम्यक् प्रयोग हो जाने पर पात्रों का प्रवेश कराना चाहिए। ध्रुवागान का प्रयोग कैसे करना चाहिऐ ? इस पर कहते हैं कि भाण्डवाद्य पुरस्कृतत्वादि तीन रूपों से युक्त करके (ध्रुवा का प्रयोग करे) । यहाँ ये तोनों क्रिया-विशेषण हैं । तन्त्री (वीणा) आदि भाण्ड हैं । यहाँ तन्त्री आदि भाण्डों को ग्रहण करने वाले को भाण्ड शब्द से अभिहित किया गया है । पुष्कर आदि वाद्य भी भाण्ड हैं, अतः तन्त्री आदि भाण्डों को ग्रहण करने वाले पात्र, पुष्कर आदि वाद्य और उनका वादन ये तीन रूप हैं । 'मार्ग' का अर्थ देश है और 'रस' स्थायी चित्तवृत्ति रूप है । यहाँ वीप्सा में अव्ययीभाव समास है अर्थात् यथामार्गम्-यथारसम् । जो किसी गृह एवं उद्यान का निर्देश है तथा जो रत्यादि चित्तवृत्ति विशेष है, उनसे युक्त करके, जो ध्रुवा तथा उत्तम, मध्यम एवं अधम पात्रों का जिसका आवेशन अर्थात् प्रवेश कराकर । यह कहा गया है कि हंस आदि उपमान के द्वारा प्रकृति-विशेष, चित्तवृत्ति-विशेष और उद्यानादि-विशेष का ध्रुवाओं में अवश्य उपनिबन्धन करना चाहिए ॥ २ ॥

१. ग. तत्रोपवाहनं । २. क-प. यथामार्गकलोपेतम् । ३. ख. प्रवेशनम् ।
४. क. ग. सम्प्रवृत्तायां ।
५. ख. चैवावकर्षिते । क. (टि.) चैवावर्षिते । चैवावघट्टिते ।
६. क. यदङ्गानुसारालाप । ७. क. (टि.) प्रसिद्धः क्रमालापं ।

एवं ध्रुवायां प्रवृत्तायामेवं सत्यां। पटेऽपकर्षिते यवनिकायामपसारितायां तदा सामाजिकानां नेपथ्यगृहादयमागत इति नटी निवर्त्यते। चकारात्तत्काले पुनरुपोहनम्[1]। ध्रुवाप्रवेशो लये मध्ये[2] वलितया (वलितयेति कोहलेन प्रयोगवल-नाद्युपविष्टम्) शुष्काक्षरगानं कृत्वा, प्रवेश एव तथा समुचितस्थानकदृष्टिमुख-रागादिभिर्युक्तः कर्तव्यो यथा सामाजिकानां झटित्येवान्विताभिधाननयेन [3]मुख्यरस-व्याप्तिरुदयते। प्रगीतं गीयमानग्रामरागाग्रगतैकगमकाकर्णने समग्रग्रामतत्त्व-संवेदनवशः।

अभिनव—इस प्रकार ध्रुवा के प्रवृत्त होने पर और जवनिका अर्थात् परदे के हटा दिया जाने पर नेपथ्य-गृह से 'यह आ गया' ऐसा सामाजिकों के कहे जाने पर नटी रङ्गमञ्च से चली जाती है। 'पटे च' में चकार पद से यह सूचित होता है कि उस समय पुनः उपोहन करना चाहिए। ध्रुवा प्रवेश का तात्पर्य है कि मध्य लय में नर्त्तकी वलन करती हुई प्रवेश करे। यद्यपि नर्तकी स्वभावतः वलन करती हुई प्रवेश करती हैं अतः उसे शब्द से कहने को आवश्यकता नहीं है, फिर भी कोहल आदि आचार्यो ने बलनादि प्रयोग बताया है, इस दृष्टि से 'बलन करती हुई' (वलितया) कहा है। शुष्काक्षर गान करके समुचित स्थानक, दृष्टि एवं मुखरा-गादि से युक्त पात्र इस प्रकार प्रवेश करे जिससे सामाजिकों को अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त के अनुसार शीघ्र ही मुख्य रस की प्रतीति हो जाय। इसमें गाये जाने वाले ग्रामराग में मुख्यभूत एकगमक (ध्वनि-विशेष) के सुनने पर श्रोता समग्र ग्राम-तत्त्व को जानने के लिए परवश हो जाता है, उत्सुक हो जाता है।

विमर्श—रङ्गमञ्च पर पात्रों का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण नाटच-क्रिया है। पात्र-प्रवेश के द्वारा सामाजिकों के हृदय में सुख-दुःखात्मक भावों का सृजन होता है। अतः रङ्गमञ्च पर पात्रों का प्रवेश इस प्रकार होना चाहिए कि पात्रों के प्रवेश काल से ही सामाजिकों के हृदय में रस का उदय होने लगे। इसीलिए भरत ने प्रवेश काल के पूर्व 'भाण्डवाद्य पुरस्कृत' तथा 'मार्गरसोपेत' उपोहन क्रिया का विधान बताया है। उपोहन को उपवहन भी कहते हैं। भरत के अनुसार जिससे स्वर उपवहन (धारण, परिशोलन) किये जाते हैं और उससे गीत का प्रवर्त्तन होता है और शुष्काक्षर से समन्वित होता है उसे 'उपोहन' कहते हैं।

उपोह्यन्ते स्वरा येन तेन गीतं प्रवर्त्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम्॥ (नाट्यशास्त्र ३१।१३८)

---

१. क. पुनरुपोहनात्। २. क. (टि.) चलितया।
३. क. (टि.) मुख्यः सव्याधिरुदयते।

स्थानं तु वैष्णवं कृत्वा[1] ह्युत्तमे मध्यमे तथा।
समुन्नतं समं चैव चतुरस्त्रमुरस्तथा ॥ ४ ॥
बाहुशीर्षे प्रसन्ने च नात्युत्क्षिप्ते च कारयेत्।
[2]ग्रीवाप्रदेशः कर्तव्यो [3]मयूराञ्चितमस्तकः ॥ ५ ॥

अन्ये तु नानार्थरससम्भव इत्यत्र यथामार्गकलोपेतमिति पठन्ति। उभयतः शेषत्वेन व्याचक्षते—मार्गेषु चित्रादिषु याः कला द्विमात्राचतुर्मात्राष्टमात्रेति ग्रामेषु उच्यन्ते चालिप्तकादिषु कला वाद्याक्षराणीति। यद्यपि पात्राणामध्रुवा अपि प्रवेशा वक्ष्यन्ते तथापि [4]संभवमात्राभिधानमेतदुत्तममध्यमयोर्वा प्रस्तावादेवमुक्तम्। तयोर्हि ता ध्रुवाः प्रवेशास्तेऽपि वा चकारेण संगृहीता एव ॥३॥

अथवा जिससे नाट्य प्रयोग की सूचना शुष्काक्षर ज्ञान और भाण्डवाद्य के द्वारा दी जाती है उसे 'उपोहन' कहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार जिससे अङ्ग में पद, काल, ताल सहित स्वरों का संक्षेप और विस्तार से उपवहन किया जाता है उसे 'उपोहन' कहते हैं (उपाह्यन्ते समासव्यासतः पादकालतालमभिहृताः स्वराः यस्मिन्नङ्गे तदुपोहनम्)। इस प्रकार 'उपोहन' गीत का प्रारम्भिक भाग है जिसमें स्वरों का शुष्काक्षरों द्वारा गायन होता है और उपोहन-क्रिया के बाद नर्त्तकी का रङ्गमञ्च पर प्रवेश होता है।

अभिनव—अन्य लोग 'यथामार्गरसापेतम्' के स्थान पर 'यथामार्ग-कलोपेतम्' पाठ मानते हैं और उसकी दूसरी व्याख्या करते हैं—मार्ग अर्थात् चित्र आदि मार्गों में द्विमात्रिक, चतुर्मात्रिक, अष्टमात्रिक जो कलाएँ ग्रामराग में कही गई हैं और आलिप्तक आदि में जो कलाएँ वाद्य अक्षरों के रूप में कही गई हैं, उनसे उपेत (युक्त) होना चाहिए। यद्यपि विना ध्रुवागान के भी पात्रों का प्रवेश होता है यह आगे कहेंगे, फिर भी सम्भावनामात्र से ऐसा कहा गया है अथवा उत्तम और मध्यम पात्रों के प्रस्ताव के अनुसार ऐसा कहा गया है। क्योंकि उनकी वे ध्रुवाएँ और वे प्रवेश चकार से ग्रहण की गई हैं ॥ ३ ॥

अनुवाद—प्रवेश के समय उत्तम तथा मध्यम पात्र वैष्णव स्थानक में स्थित रहें, फिर वक्षःस्थल को समुन्नत, सम एवं चतुरस्र करें और बाहु एवं शिर को प्रसन्न अर्थात् अचल (स्थिर) रखें और अत्यन्त उत्क्षिप्त न करे। ग्रीवा प्रदेश को मोर की तरह अञ्चित (सुन्दर) जिसमें मस्तक हो जाय, उस प्रकार रखना चाहिए ॥ ४-५ ॥

१. क-म. कार्यमुत्तमे।
२. ग. ग्रीवाप्रवेशः।
३. ग. मयूराङ्कित।
४. क. (टि.) संभवमात्राविधानं मस्तकः।

[1]कर्णादष्टाङ्गुलस्थे च बाहुशीर्षे प्रयोजयेत् ।
[2]उरसश्चापि चिबुकं चतुरङ्गुलसंस्थितम् ॥ ६ ॥
हस्तौ तथैव कर्तव्यौ [3]कटिनाभितटस्थितौ ।
दक्षिणो नाभिसंस्थस्तु वामः [4]कटितटस्थितः ॥ ७ ॥

स्थानमिति त्र्यश्रेऽर्धद्विकतालभागिति वैष्णवं सममन्यत् समुन्नतम् । स्वप्रवेश एव सन्ने अचले प्रसन्ने नात्युत्क्षिप्ते[5] अधो वा उपरि वा। अधोगामित्वं यत्नेन [6]परिहार्यमिति श्लोकार्थमेव शिक्षयितुं स्पष्टमुपायमाह ग्रीवाप्रदेश इत्यादिना सार्धेन श्लोकद्वयेन । स्वस्थमयूरवदञ्चित सुरूपं शिरो यत्र ॥ ४-५ ॥

नाभिसंस्थ इति चातुरश्रचप्रस्तावः खटकामुखः, वाम इत्यर्धचन्द्रः ॥ ७ ॥

अभिनव—स्थानमिति-त्र्यस्र, चतुरस्र और विकृष्ट इन तीन स्थानों में त्र्यस्र स्थान में वैष्णव स्थानक हो। उनमें एक पक्ष समान (सम) हो और दूशरा समुन्नत होना चाहिए। **प्रसन्न इति**-अपने प्रवेश के समय बाहु और शिर को सन्न अर्थात् अचल रखे। 'नात्युक्षिप्ते' का अर्थ है नीचे अथवा ऊपर। 'अधोगामित्व' (नीचे की ओर जाने) का यत्नपूर्वक परिहार करना चाहिए। इस प्रकार श्लोकार्थ के बताने के लिए स्पष्ट उपाय को 'ग्रीवाप्रदेश' इत्यादि ढाई श्लोक के द्वारा कहते हैं। स्वस्थ मोर के समान अञ्चित अर्थात् सुन्दर शिर हो जिसमें उसी प्रकार रखना चाहिए ॥ ४-५ ॥

अनुवाद—कान से आठ अङ्गुल की दूरी पर बाहु और शिर को स्थित करे और उरस् अर्थात् वक्षःस्थल से चार अङ्गुल की दूरी पर चिबुक को स्थित करे। उसी प्रकार दोनों हाथों को कटि और नाभि तट पर स्थित करे। उनमें दाहिने हाथ को नाभि पर और बायें हाथ को कटि तट पर स्थित करना चाहिए ॥ ६-७ ॥

अभिनव—'नाभिसंस्थः' पद से 'चतुरस्र' का सङ्केत है। अतः नाभिस्थित दाहिना हाथ खटकामुख और कटिस्थित वाम हस्त का अर्धचन्द्र प्रयोग करना चाहिए, यह सङ्केत है ॥ ६-७ ॥

---

१. ख. कर्ण्यदष्टाङ्गुलिस्थे च । ग. कर्णाद्दष्टाङ्गुलस्थे च ।
क-म कर्णाभ्यां बाहुशिरसो स्यातामष्टाङ्गुलस्थिते ।
२. क-भ. उरसश्चापि देशाच्च चिबुकं चतुरङ्गुलम् ।
३. क-म. कटिं नाभिं तु संस्थितौ । ४. क-ग. कटितटे स्थितः ।
५. तान्युत्क्षिप्ते । ६. यत्तेन ।

पादयोरन्तरं कार्यं द्वौ तालावर्धमेव च ।
[1]पादोत्क्षेपस्तु कर्त्तव्यः स्वप्रमाणविनिर्मितः ॥ ८ ॥
चतुस्तालो द्वितालश्चाप्येकतालस्तथैव च[2] ।
चतुस्तालस्तु देवानां पार्थिवानां तथैव च ॥ ९ ॥
द्वितालश्चैव मध्यानां तालः स्त्रीनीचलिङ्गिनाम्[3] ।

न चेदमुपविष्टस्थानकमपि तु गत्यानन्तयौचित्यात्तु स्थितस्थानकमेवेति दर्शयितुमाह—पादयोरन्तरमिति ।

"द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेदिति (१०-५२) । यत्स्थानकलक्षणं सूचितं तदेव कार्यं नान्यदुपवेशनादित्यर्थः । तत्र स्थानकानन्तरं गतिमुपक्षिपति पादोत्क्षेप इति । स युक्तस्तेन भाविलक्षणेन देशकालपरिच्छेदेन च कर्तव्यः । स्वकर-मानेन च तालः पात्रस्येत्यर्थः ॥८॥

तत्र देशपरिच्छेदं तावदाह एकताल इति ।

अभिनव—यह केवल बैठने का स्थानक नहीं है, अपितु गति के अनन्तर उचित होने से स्थित स्थानक दिखाने के लिए कहते हैं—'पादयोरन्तरमित्यादि' ।

अनुवाद—पात्र अपने पैरों को ढाई ताल के अन्तर पर रखे । उसके बाद हाथों के प्रमाण के अनुसार पैरों का उत्क्षेपण करे ॥ ८ ॥

अभिनव—नाट्यशास्त्र के दसवें अध्याय में स्थानक का जो लक्षण बताया गया है कि स्थानक में ढ़ाई ताल के अन्तर पर पैरों को स्थिति होनी चाहिए, उसी को यहाँ करना चाहिए, उपवेशन के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहिए । अब स्थानक के बाद गति का उपक्षेपण करते हैं—'पादोत्क्षेप' इत्यादि । वह युक्त है, अतः देश-काल का परिच्छेद बतलाने वाले भावी लक्षण के अनुसार उपक्षेप करना चाहिए । ताल का लक्षण बाते हैं—अपने हाथ के प्रमाण को ताल कहते हैं ॥ ८ ॥

अनुवाद—पैरों का उत्क्षेपण चतुष्ताल, द्विताल तथा एकताल के प्रमाण के अनुसार करना चाहिए । उनमें चतुष्ताल देवताओं एवं राजाओं के लिए है, दो ताल मध्यम पात्रों के लिए और एक ताल स्त्री-पात्र एवं नीच पात्रों के लिए है ॥ ९-१० ॥

अभिनव—उनमें पहले देश का परिच्छेद (प्रमाण) को कहते हैं—'एकताल' इत्यादि) ।

१. ग. पादक्षेपस्तु । २. ख. एकतालस्तथैव च । क-म. तथा स्यादेकतालकः ।
३. ख. ग. स्त्रीनीचलिङ्गिनाम् । क-द. स्त्रीणां च लिङ्गिनाम् ।

चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथा ह्येककलः स्मृतः[1] ॥ १० ॥
चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत् ।
तथा चैककलः [2]पातो नीचानां संप्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

तालः [3]प्रसारितमध्यमाङ्गुष्ठान्तरं "तालः स्मृतौ मध्यमया ?" इति ।

संख्याक्रमेणाभिधाय स्थायिस्थानभूतोत्तमप्रकृतिविश्रान्तत्वात् प्रयोगजातस्य तदुपक्रमं विनियोगमाह चतुस्तालस्त्विति ।

तुशब्दोऽप्यर्थे कदाचिदन्यथापि भावात् । तथाशब्दो राज्ञां देवसदृशगत्य-संभावनापसारणद्योतकः ॥९॥

स्त्रीणां नीचानां साहचर्यादधमानामिति मन्तव्यम् । तेषां हि लिङ्गित्वादध-मत्वं किंचिन्न संभावयेत् । यथाशोभमिति नाटचधर्मीकाममित्यर्थः ॥१०॥

देशनियममुक्त्वा कालनियमप्यौत्सर्गिकं तावदाह—चतुष्कलो होति ।

अभिनव—फेलाई हुई तर्जनी और अंगूठे के बीच का प्रदेश (लम्बाई) 'ताल' कहलाता है । इसी को लोक में एकताल या एक बालिश्त (बित्ता) कहते हैं ।

अभिनव—संख्या के क्रम का उल्लंघंन कर तालों को कहकर स्थायी आदि के स्थानभूत उत्तम प्रकृति में प्रयोगों की विश्रान्ति होने से उसके उपक्रम विनियोग को कहते हैं—'चतुष्ताल' इत्यादि ।

अभिनव—'यहाँ पर तु शब्द 'अपि' के अर्थ में हैं, कभी अन्यथा भी हो सकता है । 'तथा, शब्द राजाओं की देवताओं के समान गति असम्भव होने से सम्भावना के अपसरण का द्योतक है ॥ ९ ॥

अभिनव—स्त्रियों और नीचों के साहचर्य से अधमों का भो ग्रहण मानना चाहिए । क्योंकि नीचों के लिङ्गी के कारण उनमें अधमत्व की कुछ भी सम्भावना नहीं है । यहाँ पर 'यथाशोभम्' यह नाट्यधर्मी का बोधक है ॥ १० ॥

अभिनव—इस प्रकार देश के नियम को कहकर अब काल के नियम को कहते हैं—

अनुवाद—काल के माप के अनुसार पादोत्क्षेप चतुष्कल, द्विकल और एककल होता है । इनमें उत्तम पात्र देवता एवं राजाओं के लिए चतुष्कल, मध्यम पात्रों के लिए द्विकल और अधम, स्त्रो एवं नीच प्रकृति के पात्रों के लिए एककल कहा गया है ॥१०-११॥

---

१. क. पुनः । २. ख-ग. पादो । ३. ङ. प्रसारितमध्यमा ? तर्जन्यङ्गुष्ठान्तरं ।

तथा चेति तेनोत्क्षेपेण यत्पादस्य पतनं तदुत्तनानां चतसृभिः कलाभिः यस्मात्तदर्धार्धक्रमेण मध्यमाधमयोः परिभाषित इत्युत्सर्गतयेति भावः। तत्र गति-चतुष्टयं मागध्यादि वक्ष्यते यत्तत्रार्धमागध्यादौ क्रमेण चित्रादित्रयविनियोगात्। "निमेषाः पञ्च मात्रा स्यात्" इति कला सामान्यलक्षणलब्ध औत्सर्गिकः सर्वत्र ध्रुवकमार्गो मन्तव्यः। विशेषाविभिधाने तेन ध्रुवकमानेन चतुष्कलः पादपातः तथा चोत्तमपरिग्रहे द्विपदी[1] कोहलेनोक्ता—

"स्यादुत्तमानां द्विपदी चतुर्गुरुसमन्विता।
तत्रोत्क्षेपनिपाताभ्यां यस्मात्पादद्वयं भवेत्" ॥

विमर्श—पात्रों की प्रत्येक चेष्टा ताल, काल और लय पर आश्रित होती है। इनमें देवताओं एवं राजाओं के पादोत्क्षेप का अन्तर चार ताल का होता है, मध्यम पात्रों का पादोत्क्षेप दो ताल और स्त्री एवं नीच पात्रों पादोत्क्षेप का अन्तर एक ताल होता है। इसी प्रकार पादोत्क्षेप का कालमान भी पाद-ताल के अनुसार ही होता है। उत्तम पात्रों के पाद-न्यास में चार कला का, मध्यम पात्रों के चरण-न्यास में दो कला का और अधम पात्रों के पाद-न्यास में एक कला का समय लगता है। इसी प्रकार लय तीन प्रकार होते हैं—स्थित लय, मध्यलय और द्रुतलय। गम्भीर स्वभाव के पात्रों के गति क्रम में स्थितलय, मध्यम स्वभाव के पात्रों के गतिक्रम के लिए मध्यलय और अधम स्वभाव के पात्रों के गतिक्रम ये द्रुतलम का विधान किया गया है॥ १०-११॥

अभिनव—तथा चेति—पैर को उठाकर जो गिराना (पतन) है उसमें उत्तम प्रकृति के पात्रों के लिए चार कलाएँ कही गई है और उसका आधा-आधा क्रम मध्यम एवं अधम प्रकृति के पात्रों के लिए कही गई है, यह उत्सर्गतः होता है। भाव यह कि मध्यम प्रकृति के पात्रों के लिए दो कलाएँ और अधम प्रकृति के पात्रों के लिए एक कला बतलाया गया है। उनमें मागधी आदि चार गीतियों को आगे कहेंगे। क्योंकि अर्धमागधी आदि में क्रमशः चित्रादि त्रय का विनियोग होता है। पाँच निमेष की एक मात्रा होती है। इस सामान्य लक्षण से यह सूचित होता है कि सर्वत्र ध्रुवक मार्ग को औत्सर्गिक मानना चाहिए। विशेष रूप से कहने में ध्रुवक के प्रमाणानुसार पादोत्क्षेप में चार कलाएँ आवश्यक हैं, और कोहल ने उत्तमादि पात्रों के लिए द्विपदी आदि का विधान बताया है—

"उत्तमों की द्विपदी चार गुरुओं से समन्वित होनी चाहिए। क्योंकि उत्क्षेप और निपातों के द्वारा उनमें दो पाद होते हैं।"

१. क. टि॰ द्विचारो।

[1]स्थितं मध्यं [2]द्रुतं चैव समवेक्ष्य लयत्रयम्[3] ।
यथाप्रकृति नाट्यज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥ १२ ॥

लक्ष्यश्च इत्थमेव 'धिक् डिधिं' इति द्विपदीभागेन पादेन पादपातः । अत्र ध्रुवके चतस्रः कला भवन्ति । 'धिगडधिङ्' इत्यस्य कालः कखगघङ, इत्यादिना संकेतितः । नहि व्यञ्जनकालः स्वरकालात्पृथक् तत्र गुरोश्च प्रचलत्वं [4]खडतलचडस्तद्विद्भिस्त्रिपुटमेवावधार्यते । तत्र हि धिगडिधि-इत्येवंरूपा लघु कला तस्यास्तिस्रो मात्राश्चतुर्थे गुर्वक्षरे द्वे मात्र इति च मात्राः । सर्वत्र चैवं प्रकारः समनन्तरग्रहणे विश्रान्त्यभावेन दुष्करः प्रयोग इति स्थानचेष्टाविश्रान्तिप्रक्लृप्तये मध्यगता [5]विरामरूपैका मात्रा लक्ष्यविद्भिः प्रकल्पिताः, तद्वशादुक्ताः तादृशाः मात्राः चतुष्कलायां प्रतिभासन्त इत्यास्तां तावत् । इह चित्रमार्गेव चतुष्कलपादपतनमिति [6]न्याय लक्ष्यलक्षणशोभावाह्यत्वादपेक्ष्यते च ॥११॥

अथ लयकालनियमशेषमाह—

अभिनव—और लक्ष्य इसो प्रकार का होता है । 'धिक् डि धि' इस प्रकार द्विपदी भाग पाद से पाद का पात (पतन) होता है । यहाँ ध्रुवक में चार कलाएँ होती हैं । 'धिग् डि धिङ्' इसका काल 'क ख ग घ ङ' इत्यादि के द्वारा सङ्केतित है । यहाँ व्यज्जनों का काल स्वरों के काल से भिन्न (पृथक्) नहीं है । उनमें स्वर कभी गुरु कभी प्लुत होने से प्रचल हैं । खड, तल, चट इस प्रकार के त्रिपुट व्यज्जनों में अवधारण करते हैं । उनमें 'धिग् डिधिं' इस प्रकार लघु कलाएँ है जिनमें तीन लघु मात्राएँ है, चतुर्थ गुरु अक्षर में दो मात्राएँ है किन्तु यदि सभी जगह यही प्रकार होगा तो समन्तर-ग्रहण में विश्रान्ति का अभाव होने से अभिनव प्रयोग दुष्कर होगा । इसलिए विज्ञानों ने स्थान, चेष्टाएँ और विश्रान्ति की कल्पना करने के लिए मध्य में विराम रूप एक मात्रा की कल्पना की है । उस कल्पना के आधार पर वैसो मात्राएँ चतुष्कला में प्रतिभासित होतो है, इसलिए अब रहने दिया जाय । यहाँ चित्रमार्ग के द्वारा पाद के पतन में चार कलाएँ है, यह लक्ष्य-लक्षण की शोभा के बाहर होने से अपेक्षित नहीं है ।

अभिनव—अब इसके बाद लय विषयक काल के नियम को कहते हैं—स्थितमित्यादि ।

अनुवाद—नाट्यकला के विशेषज्ञ विद्वान् इस प्रकार स्थित, मध्य और द्रुत लय को अच्छी तरह समझकर पात्रों के अनुसार गति का प्रयोग करे ॥ १२ ॥

१. क-भ. स्थिरं । २. क-द. समं । ३. क-ग. लयं बुधः ।
४. क. खण्डतलचेड़ल: । क-ख. खडकलयेद्धः ।
५. क. मध्यगताऽपि समरूपैका मात्रा । ६. क. नायं ।

[1]धैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानां मध्या गतिर्मध्यमसम्मतानाम् ।
द्रुता गतिश्च [2]प्रचुराधमानां लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम् ॥१३॥

स्थितमिति विलम्बितम् । समवेक्ष्येति प्रकृत्यादि भेदविभागेनेत्याह तमेव दर्शयति यथाप्रकृतीति धैर्यस्थैर्यविलम्बितमध्यद्रुतलयसम्मतं संवेदनं यथार्थ-मिथ्या-गौण-धैर्य-गाम्भीर्यादिकृतं मन्तव्यं न तु जातिकालादिकृतम् ।

यथाप्रकृति । विदूषकस्य द्विजत्वेऽपि अविमलात्मत्वात् केवलमुत्तमघोषणायैव रचितं जात्यादि योजनीयम् । उत्तमस्याप्यन्यथाभावः क्वचिदनुत्तमत्वेऽपि समीचीन-भाव इति ॥ १२ ॥

प्रचुरेति लोकप्रसिद्धमेवेदमुक्तमित्यर्थः । न केवलं प्रकृतितोऽवयवभेदो यावच्चित्तवृत्तिभेदेनेत्यभिप्रेत्याह सत्त्वबलेन च लयत्रयं योज्यम् । सत्त्व चित्तवृत्तिः तेन संग्रामादावुत्तमस्यापि द्रुतं शोकादावधमस्यापि विलम्बितवम् ॥ १३ ॥

अभिनव—स्थित का अर्थ विलम्बित है। 'समवेक्ष्य' का अभिप्राय है प्रकृति आदि (पात्रों) में भेद के विभाग के अनुसार अच्छी तरह देखकर (विचार कर) आदि पद से यहाँ देश, काल, अवस्था, रस आदि का ग्रहण है, उन्हें देखकर यह कहा है, उसे ही दिखाते हैं—'यथाप्रकृति' का तात्पर्य है धैर्य, स्थैर्य के कारण विलम्बित लय तथा इसके अभाव में कभी मध्य और कभी द्रुत लयों से सम्मत संवेदन ज्ञान को यथार्थ, मिथ्या, गौण गत धैर्य, गाम्भीर्य आदि से किया हुआ मानना चाहिए और ज्ञाति, काल आदि से किया हुआ नहीं मानना चाहिए। क्योंकि विदूषक के द्विज (ब्राह्मण) होने पर भी उसकी आत्मा विमल (पवित्र) न होने से केवल उत्तम घोषणा के लिए जात्यादि की रचना की है, यह योजना करनी चाहिए। क्योंकि उत्तम जाति के होने पर भी अन्यथाभाव अर्थात् विकार-भाव देखा आता है और कहीं उत्तम जाति के न होने पर भी उत्तम भाव होते हैं ॥ १२ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की गति धैर्य से युक्त (स्थितलय में) होती है। मध्यम माने जाने वाले पात्रों की गति मध्य लय में और अधम पात्रों की गति द्रुत होती है। इस प्रकार सत्त्व के अनुसार तीनों लयों की योजना करनी चाहिए ॥ १३ ॥

अभिनव—प्रचुर का अभिप्राय है यह लोकप्रसिद्ध है, ऐसा कहा गया है। केवल प्रकृति (पात्रों) के अनुसार अवयवों का भेद नहीं होता। अपितु चित्तवृत्तियों के भेद से भेद होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं कि सत्त्व के कारण तीनों लयों की

---

१. क-प. स्थैर्योपपन्ना । २. क-न. प्रकृताधमाना ।

एष एव [1]तु विज्ञेयः कलातालल्लये विधिः ।
[2]पुनर्गतिप्रचारस्य प्रयोगं श्रृणुतानघाः ? ॥ १४ ॥

अत्र गत्यनुसारी तालविधिः । अन्ये त्वन्यथेत्युक्तं ताले । यस्तालल्लयः कला-सहितः स कलातालल्लयः इति मध्यमपदलोपी समासः । तेनायमर्थः ध्रुवतालेऽपि गत्यनुसार्येव कलाविधिर्लयविधिश्च । अत एवैतदनुसारेण भट्टलोल्लटगोपालादिभिर्भ-ङ्गोपभङ्गविभङ्गविषये तालदीपिकादौ चिरन्तनसंमतो ध्रुवातालानां विनियोगः प्रपञ्चतो दूषितः । तत्तु ध्रुवाध्याये विचारयिष्याम इत्यास्ताम् ।

एवं देशकालनियममुक्तं प्रकृते योजयति पुनर्गतिप्रचारस्येति गतिषु । प्रचारो वैचित्र्यं तस्य प्रयोगं पुनः श्रृणुतेति संबन्धः । संघटना ह्यनुक्तेति भावः ॥ १४ ॥

अथैतदनुसारिण्यां गत्युपयोगिन्यां ध्रुवायां विधिरिति दर्शयति एष त्विति ।

योजना करनी चाहिए। सत्त्व का अर्थ है चित्तवृत्ति । इससे सङ्ग्राम आदि में उत्तम पात्र का भो लय द्रुत होता है और शोक आदि में अधम पात्र का भी लय विलम्बित होता है ॥ १३ ॥

अभिनव—अब इसी के अनुसार गति की उपयोगिनी ध्रुवा में यही विधि होती है, यह दिखाते हैं—'एष एव' इत्यादि ।

अनुवाद—हे अनघ ? काल, ताल और लय के विषय में यही विधि समझनी चाहिए । अब गति प्रचार के प्रयोग को सुनिये ॥ १४ ॥

अभिनव—यहाँ पर गति के अनुसार ताल विधि होती है। अन्य लोग तो ताल के विषय में अन्यथा (अन्य प्रकार से) विधि बताते हैं जो ताल लय कला के सहित है वह कलाताल लय है। इस प्रकार यहाँ मध्यमपदलोपी समास है। इससे यह अर्थ है—ध्रुव ताल में भी गति के अनुसार ही कलाविधि और लयविधि होती है। इसलिए इसका अनुसरण करने वाले भट्टलोल्लट, भट्टगोपाल प्रभृति आचार्यो ने भङ्ग, उपभङ्ग और विभङ्ग के विषय में तालदीपिका आदि ग्रन्थों में चिरन्तन-सम्मत ध्रुवातालों के विनियोग को विस्तार से दूषित किया हे। ध्रुवाध्याय में इसका हम विस्तार से विचार करेंगे, इसलिए यहाँ रहने दिया जाय ।

इस प्रकार पहिले कहे हुए देश-काल के नियम को प्रकृत में योजना करते हैं—गतियों के प्रचार के प्रयोग को फिर से सुनिये। भाव यह कि गतियों में जो प्रचार है, विचित्रता है, उसके प्रयोग को फिर से सुनिये, यह सम्बन्ध है। संघटना नहीं कही गई है, यह भाव है ॥ १४ ॥

---

१. ख. ग. एष एव भुवि ज्ञेयः ।   २. ख. पुनर्गतिप्रचारस्य ।

[1]स्वभावात्तूत्तमगतौ कार्यं जानु कटीसमम् ।
युद्धचारीप्रयोगेषु [2]जानुस्तनसमं न्यसेत् ॥ १५ ॥
पार्श्वक्रान्तैः सललितैः पादैर्वाद्यान्वितैरथ ।
रङ्गकोणोन्मुखं[3] गच्छेत् सम्यक् पञ्चपदानि च ॥ १६ ॥
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणेन तु ।
परिवृत्य द्वितीयं तु गच्छेत् कोणं ततः परम् ॥ १७ ॥

स्वभावात्त्विति । तुना विशेषद्योतकेन मन्थरगतौ चतुरतालत्वमुक्तं, स्वभाव गतौ तु त्रितालत्वं, दीप्तगतौ तु पञ्चतालत्वमपि कार्यमिति दर्शयति ॥ १५ ॥

तां गतिप्रचारघटनामाह—पार्श्वक्रान्तैरित्यादि ।

"कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वोत्थानोत्थितं न्यसेत् ।
उद्घट्टितेन पादेन पार्श्वक्रान्ता विधीयते" (१०-३२)

इति पार्श्वक्रान्ता चारी । रङ्गकोणं पूर्वोत्तरम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की स्वाभाविक गति में जानु और कटि को सम रखना चाहिए और युद्धचारी के प्रयोगों में जानु और स्तन के सम (बराबर) में रखे ॥ १५ ॥

अभिनव—'स्वभावात्तु' में विशेषता के द्योतक 'तु' शब्द के द्वारा यह सूचित किया गया है कि मन्थर गति में चार ताल कहे गये हैं, स्वभाव गति में तीन ताल और दीप्त गति में पाँच ताल का प्रयोग करना चाहिए, यह दिखाया गया है ॥१५॥

अभिनव—इसके बाद गति-प्रचार की घटना को कहते हैं–'पार्श्वक्रान्तैरित्यादि' ।

अनुवाद—इसके बाद वाद्य-ध्वनि से युक्त पार्श्वक्रान्ताचारी के अनुसार सुन्दर ललित पैरों से रङ्गमञ्च के कोण अर्थात् पूर्वोत्तर कोण में उन्मुख होकर अच्छी तरह पाँच पग चले ॥ १६ ॥

अभिनव—कुञ्चितमिति—'यदि कुञ्चित पाद को पार्श्व (बगल) से ऊपर की ओर उठाकर फिर उद्घट्टित पाद से पृथ्वी पर रखे तो 'पार्श्वक्रान्ता' चारी होती है ॥ (१०-३२) ॥

यह पार्श्वक्रान्ताचारी का लक्षण है । रङ्गकोण का अर्थ पूर्व और उत्तर का कोण (कोना) है ॥ १६ ॥

अनुवाद—इसके बाद वामवेध करके दक्षिण पैर से विक्षेप करे । उसके बाद द्वितीय पाद को परिवर्तित करके दूसरे कोण में चले ॥ १७ ॥

१. ख. स्वभावैरुत्तमतौ । क. ग. स्वभावे तूत्तमगतौ ।
२. क. ग. पुनः स्तनसमं भवेत् । ३. ख. रङ्गकोणोन्मुखो ।

तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो [1]दक्षिणेन च ।
ततो भाण्डोन्मुखो गच्छेत् तान्येव [2]तु पदानि च ॥ १८ ॥
एवं गतागतैः कृत्वा पदानामिह[3] विंशतिम् ।
वामवेधं ततः कुर्यात् विक्षेपं [4]दक्षिणस्य च ॥ १९ ॥
रङ्गे विकृष्टे भरतेन कार्यो गतागतैः पादगतिप्रचारः ।
[5]त्र्यश्रस्त्रिकोणे चतुरस्त्ररङ्गे गतिप्रचारश्चतुरस्त्र एव ॥ २० ॥

द्वितीयं कोणमित्युत्तरपश्चिममिति । ततः परमिति । कोणद्वयेऽतिदिशति पूर्वं रङ्गे चैषा पञ्चपदी व्याख्याता (अ ५-७३)। वेधः पार्ष्णिक्षेत्रे सूचीपादनिपातः। वामवेधमिति अन्तराविद्धमुखं (तत्) प्राप्तिसिद्धौ कोणैर्गत्वा ब्रह्मस्थानस्यानुल्लंध्यतामाह। एतच्च पञ्चपदीगमनं सर्वत्रौत्सर्गिकम् ।१७–१९।

विशेषमप्याह रङ्गे विकृष्ट इति ।

भरतशब्देन उपचारतस्तद्विद्यायोनिसंबन्धः सूच्यते। गतागतैरिति परिमितायां दिशि पञ्चपदी गतागतेन[6] नियमः। एकत्रैव स्थाने द्वौ [7]पादविक्षेपादिति

अनुवाद—उसमें भी बायें पैर से वेध करे और दक्षिण पैर से विक्षेप करे, फिर भाण्डवाद्य की ओर उन्मुख होकर उतने ही पग चले ॥ १८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आने-जाने से पैरों की बीस संख्या पूरी कर फिर बायें पैर से वेध करे और दाहिने पैर से विक्षेप करे ॥ १९ ॥

अभिनव—द्वितीय कोण का अर्थ है उत्तर-पश्चिम का कोण। अन्य दो कोणों में अतिदेश है। पूर्वरङ्ग के विषय में पञ्चपदी की व्याख्या की गई है। वेध अर्थात् वामवेध का अर्थ है पार्ष्णिक्षेत्र अर्थात् एड़ी पर सूची पाद का निपात और प्रक्षेप। 'वामवेध' का अर्थ है अन्तराविद्ध मुख। गति की सिद्धि होने पर कोणों से जाकर ब्रह्मस्थान का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। पञ्चपदी गमन सर्वत्र औत्सर्गिक है, स्वाभाविक है ॥ १७-१९ ॥

अभिनव-अब गति के विषय में विशेष का वर्णन करते हैं-'रङ्गे विकृष्ट'इत्यादि।

अनुवाद—विकृष्ट रङ्गमञ्च पर पात्र को बार-बार आने जाने के प्रकार से गति प्रचार करना चाहिए। त्रिकोण रङ्गमञ्च पर त्र्यस्त्र और चतुष्कोण रङ्गमञ्च पर चतुरस्त्र गति-प्रचार करना चाहिए ॥ २० ॥

---

१. ख. ग. वृक्षितेन। २. ख. ग. बिपदानि च।
३. ख. ग. पदामायेकविंशतिम्। ४. ख. विक्षेपं दक्षिणेन च।
५. त्र्यस्ते त्रिकोणे। ६. क. निर्गमा। ७. क. पादौ।

यः समैः संहितो गच्छेत्तत्र कार्यो लयाश्रयः ।
चतुष्कलोऽथ द्विकलऽस्तथैवैककलः पुनः[1] ॥ २१ ॥
अथ मध्यमनीचैस्तु गच्छेद्यः [2]परिवारितः ।
[3]चतुष्कलमथार्धञ्च तथा चैककलं पुनः ॥ २२ ॥

मन्तव्यम् । विकृष्टायां च भूयो भूयः पञ्चपदी । अत्रैव विषये विविधप्रमाणा पातरीतिः, तद्‌द्विलयद्विभङ्गचतुर्भङ्गादयः प्राधान्येन ॥ २० ॥

व्यामिश्रगतेरपि विशेषं व्याचिख्यासुः समगतिमुपसंहरति यः समैरिति—तथैवेति साम्येनेत्यर्थः ॥ २१ ॥

[4]मिश्रगतिमाह अथेति ।

परिवारित इत्युत्तमत्वेन विवक्षितः इत्यर्थः । तेन देवादिवत् साध्वाश्रीयमाणायामुत्तमप्रकृतावपि नायं विधिरन्यस्यैव तत्र प्राधान्यात् तदोत्तमाविपादपाते मध्यमस्य द्वौ नीचादेरेकः, उत्तमस्य चत्वारः ॥ २२ ॥

अभिनव—भरत शब्द उपचार से अर्थात् लक्षण के द्वारा नाट्य-विद्या अथवा भरत-सन्तान (नट) का सूचक है। 'गतागतैः' का अभिप्राय है परिमित दिशा में पञ्चपदी का आने जाने का नियम । एक ही स्थान पर पादों (पैरों) का दो बार विक्षेप होता है, ऐसा मानना चाहिए । विकृष्ट भूमि में बार-बार पञ्चपदी होती है । इस विषय में भिन्न प्रमाणों वाली गति को रीति ही प्रमाण है। उनमें द्विलय, द्विभङ्ग, चतुर्भङ्ग आदि प्रधान रूप है ।

अभिनव—अब व्यामिश्र गति के विषय में विशेष व्याख्या करने की इच्छा से समगति का उपसंहार करते हैं—'यः समैरिति' ।

अनुवाद—जहाँ समान अवस्था वाले पात्रों के साथ सम गति में चलना हो तो उसकी गति लय के आश्रित अर्थात् लय के आधार पर चतुष्कल, द्विकल और उसी प्रकार एककल के अनुसार होनी चाहिए ॥ २१ ॥

अभिनव—यहाँ 'तथैव' का अर्थ है समानता से ।

अभिनव—अब मिश्र गति को कहते हैं—'अथ इत्यादि' ।

अनुवाद—जहाँ कोई अभिनेता मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों के साथ मिलकर चले तो चतुष्कल, द्विकल और एककल के अनुसार चलना चाहिए ॥ २२॥

---

१. ख. चतुष्कालोऽथ द्विकालो भवेदेककलः पुनः ।
२. ख. ग. गच्छेत्संपाविवारितः । ३. ख. ग. चतुष्कलमथोर्ध्वं च ।
४. क. देवाविसाध्वानियमानां । ख. देवाविसाध्वसाध्वाश्रीयमानां ।

[1]देवदानवयक्षाणां नृपपन्नगरक्षसाम् ।
चतुस्तालप्रमाणेन कर्तव्याथ गतिर्बुधैः ॥ २३ ॥
दिवौकसां तु [2]सर्वेषां मध्यमा गतिरिष्यते ।
तत्रापि[3] चोद्धता ये तु तेषां देवैः समा गतिः ॥ २४ ॥

अत्रैव च चतुस्तालादिविभागे निश्चयार्थं प्रश्नमुत्थापयितुमुपसंहार-मुक्तविशेषाभिधानसहितमाह[4]—दैत्यदानवेत्यादि ॥२३॥

सर्वेषामिति देवदूतादीनाम् । उद्धता ये त्विति मातलिप्रभृतयः ॥२४॥

अभिनव—'परिवारित' का अर्थ है जो उत्तम रूप से विवक्षित है। इसलिए देव आदि के समान साधु (श्रेष्ठ) माने गये उत्तम प्रकृति के पात्रों में भी अन्य की प्रधानता होने के कारण यह विधि नहीं है। उस समय उत्तम आदि के पादपात के सम्बन्ध में उत्तम की चार कला, मध्यम की दो कला और अधम की एक कला प्रमाण का पादपात होता हैं ॥ २२ ॥

अभिनव—यहाँ कला के प्रसङ्ग में चतुष्तालादि के विभाग को निश्चय करने के लिए प्रश्न उठाना आवश्यक है इसलिए उपसंहार को विशेष के अभिधान के साथ कहते हैं—'देवदानव इत्यादि'।

अनुवाद—देव, दानव, यक्ष, राक्षस, पन्नग (नाग) और राजा आदि पात्रों की गति विद्वानों को चतुष्ताल प्रमाण से करनी चाहिए ॥ २३ ॥

विशेष—इस श्लोक में कुछ संस्करणों में देव-दानव के स्थान पर 'दैत्य-दानव' इत्यादि पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होगा। दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, नाग, आदि पात्रों की गति चतुष्ताल प्रमाण से होती है ॥ २३ ॥

अनुवाद—द्युलोकवासी सभी देवताओं की मध्यमा गति इष्ट है और उनमें भी जो उद्धत प्रकृति के पात्र है उनकी गति देवताओं के समान प्रमाण की होनी चाहिए ॥ २४ ॥

अभिनव—'सर्वेषाम्' पद का अर्थ है सभी देवदूत आदि उत्तम पात्र। उद्धत पात्र मातलि प्रभृति हैं ॥ २४ ॥

---

१. क. ग. दैत्यदानवयक्षाणां । २. क. प. शेषाणां ।
३. ख. ग. चोर्ध्वंबा (गा ?) क-अ. ढ. चोर्ध्वंतालेषु ।
४. क. उपसंहारमुक्तमविशेषाभिधानसहितमाह ।

[1]ऋषय ऊचुः—

यदा मनुष्या राजानस्तेषां देवगतिः[2] कथम् ।
अत्रोच्यते कथं नैषा [3]गती राज्ञां भविष्यति ॥ २५ ॥
[4]इह प्रकृतयो दिव्या दिव्यमानुष्य[5] एव च ।
[6]मानुष इति विज्ञेया नाट्यनृत्तक्रियां[7] प्रति ॥ २६ ॥
[8]देवानां प्रकृतिर्दिव्या [9]राज्ञां वै दिव्यमानुषी ।
या त्वन्या लोकविदिता मानुषी सा प्रकीर्तिता ॥ २७ ॥
[10]देवांशजास्तु राजानो वेदाध्यात्मसु[11] कीर्तिताः ।
एवं [12]देवानुकरणे बोधो ह्यत्र न विद्यते ॥ २८ ॥

ऋषिगण कहते हैं—

अनुवाद—(प्रश्न यह होता है कि) जब राजा मनुष्य होते हैं तो उनकी गति देवताओं जैसे क्यों होती है ? इस पर कहते हैं कि राजाओं की गति देवताओं जैसे क्यों नहीं होगी ? अर्थात् देवताओं के समान राजाओं को गति मानने में क्या आपत्ति है ? ॥ २५ ॥

अनुवाद—क्योंकि यहाँ नाटक एवं नृत्य क्रिया में प्रकृति (पात्र) दिव्य, दिव्य-मानुष और मानुष ये तीन प्रकार के होते हैं ॥ २६ ॥

अनुवाद—उनमें देवताओं की प्रकृति दिव्य होती है, राजाओं की प्रकृति दिव्य-मानुष और अन्य लोक प्रसिद्ध पात्रों की प्रकृति मानुषी होती है ॥ २७ ॥

अनुवाद—वेद एवं अध्यात्मशास्त्र में बताया गया है कि राजा लोग देवताओं के अंश से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार देवताओं के अनुकरण करने में यहाँ कोई दोष नहीं है ॥ २८ ॥

१. ख. अत्राह । २. क-ड. तथा दैवगतिः । ३. क-न. गते ।
४. क-ड. अथ दिव्या प्रकृतयो । ५. ख. ग. तथा च दिव्यमानुषी ।
६. ख. ग. मानुषो चेति विज्ञेया । क-ड. मानुषा इति विज्ञयो ।
७. क. ङ. नाट्यवृत्तिक्रियां प्रति । क-ज. नाट्यस्य प्रक्रियां प्रति ।
८. ख. ग. देवा हि प्रकृतिर्दिव्या । ९. ख ग. राजानो दिव्यमानुषी ।
१०. ख. देवान्वाजास्तु । ग. देवान्वाजा (न्वया) स्तु ।
११. ख. वेदाध्यात्मप्रकीर्त्तिताः ।
१२. क-ड. एवं देवानुसरणे दोषो । ग. एवं देवानुकरणे देवो ।

अयं विधिस्तु कर्तव्यः स्वच्छन्दगमनं प्रति।
संभ्रमोत्पातरोषेषु प्रमाणं न विधीयते ॥ २९ ॥
[1]सर्वासां प्रकृतीनां तु अवस्थान्तरसंश्रया।
[2]उत्तमाधममध्यानां गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ३० ॥

देवांशजा इति लोकपालांशविनिर्माणा राजानः वेदेषु तथाध्यात्मशास्त्रेषु वेदान्तेषु । तेषामनेन प्राधान्यमुक्तम् । अनुकरणं देवादीनां वर्णनात् । उक्तं च राजविद्या राजगुह्यमिति । देवानुकरणे नाल्पत्वमित्यर्थः ॥२८॥

अयमिति चतुष्कल इत्यादिः । स्वच्छन्दगमनं स्वस्था गतिः । संभ्रम आवेगः । उत्पातोऽत्रोन्मादादिः । प्रमाणमिति उक्तरूपमित्यर्थः ॥२९॥

सर्वासां प्रकृतीनां, गतिरिति कलालयतालाश्रिता । सर्वमेतदिति तु युक्तम् ॥ ३० ॥

अभिनव—राजा लोग भी देवताओं के अंश से उत्पन्न होते हैं क्योंकि स्मृतिशास्त्र के अनुसार राजा लोकपालों के अंश से उत्पन्न होते हैं। (**अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः**—मनुस्मृति)। यह बात वेदों और अध्यात्म-शास्त्र वेदान्तों में कहीं गई है। इसलिए उनकी प्रधानता कही गई है। देवादि के अनुकरण का वर्णन किया गया है। यह तथ्य 'राजविद्या राजगुह्यम्' इत्यादि के द्वारा कहा गया है। अतः देवताओं के अनुकरण में अल्पता रूप दोष नहीं है।। २८ ॥

अनुवाद—यह विधि (विधान) स्वच्छन्द गमन के विषय में करनी चाहिए, किन्तु सम्भ्रम (आवेग) उत्पत्ति और रोष (क्रोध) में कोई प्रमाण (नियम) का विधान नहीं है ॥ २९ ॥

अभिनव 'अयम्' पद का अभिप्राय है चतुष्कल इत्यादि। 'स्वच्छन्दगमनं' का अर्थ है स्वस्थ गति। 'सम्भ्रम' का अर्थ है आवेग। 'उत्पात' का अर्थ यहाँ उन्माद आदि है। 'प्रमाण' का अर्थ पहिले कहा गया है ॥ २९ ॥

अनुवाद—नाटय-प्रयोक्ताओं को उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के प्रकृतियों (पात्रों) को गति का प्रयोग उनकी जवस्थाओं के अनुसार करना चाहिए ॥ ३० ॥

अभिनव—सभी पात्रों की गति कला, लय और ताल के आश्रित होती है। यह सब उचित ही है। ॥ ३० ॥

---

१. क-ख. सर्वासामित्यादि श्लोको नास्ति।   २. क-प. मध्योत्तमाधमानां।

[1]चतुरर्धकलं वा स्यात् तदर्धकलमेव च ।
[2]अवस्थान्तरमासाद्य कुर्याद् गतिविचेष्टितम् ॥ ३१ ॥
ज्येष्ठे चतुष्कलं ह्यत्र मध्यमे द्विकलं भवेत् ।
[3]द्विकला चोत्तमे यत्र मध्ये त्वेककला भवेत् ॥ ३२ ॥
[4]कलिकं मध्यमे यत्र नीचेष्वर्धकलं भवेत् ।
[5]एवमर्धार्धहीनं तु जडानां संप्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥

एतदेवास्य दूषयति—चतुरर्धकलमिति ।

द्वे उत्तमस्य, एका मध्यमस्य, अर्धं नीचस्य, अवस्थान्तरबलात् ॥ ३१-३२ ॥

नीचेष्वर्धकलं भवेदिति । अनेन कलातुर्यभागो भरतमुनिना सूचितोऽयं लक्षणविदो वृत्ताकारं द्रुतमाहुः, यद्यथा पञ्चमांश उक्तनीत्या श्वासादिविश्रान्तिपूर्वक इति चतुर्धा स एव द्रुतो युक्तः ॥ ३३ ॥

अभिनव—इसी बात को दूषित करते हैं—'चतुरर्धकलमित्यादि' ।

अनुवाद—उत्तम पात्रों की गति में चतुरर्द्धकल अर्थात् चार का आधा अर्थात् दो कलाओं का और मध्यम पात्रों की गति में एक कला का और अधमपात्रों की गति में अर्द्धकला का समय लगता है । भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार गति की चेष्टाएँ करनी चाहिए ॥ ३१ ॥

अनुवाद—ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम पात्रों की गति में चार कला और मध्यम पात्रों की गति में दो कला का समय लगता है और जहाँ उत्तम पात्रों की गति दो कलाओं की होगी वहाँ मध्यम पात्र की गति में एक कला का समय लगना चाहिए ॥ ३२ ॥

अभिनव—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुरूप उत्तम पात्र की दो कलाएँ, मध्यम पात्र की एक कला और अधम की अर्धकला होती है ॥ ३१-३२ ॥

अनुवाद—जहाँ मध्यम पात्रों की गति में एक कला का समय लगता है । वहाँ अधम पात्रों की गति में अर्धकला का समय लगेगा । इस प्रकार जड़ों के विषय में आधी-आधी कला हीन करके प्रयोग करना चाहिए ॥ ३३ ॥

१. ख. चतुर्थ्येककलं वा स्यात् तथार्धकलमेव च । क-ङ. चतुर्थैककलं ।
२. क-ङ. अथवान्तरं ।
३. इतः परं सार्धश्लोकद्वयं क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति ।
४. ख. ग. विकलं चोत्तमा यत्र नीचेष्वर्धकलं भवेत् ।
५. ख. ग एवमर्धार्धहानि तु ।

ज्वरार्ते च क्षुधार्ते च तपःश्रान्ते भयान्विते ।
[1]विस्मये चावहित्थे च तथौत्सुक्यसमन्विते ॥ ३४ ॥
शृङ्गारे चैव शोके च स्वच्छन्दगमने तथा ।
[2]गतिः स्थितलया कार्याधिकलान्तरपातिता[3] ॥ ३५ ॥

चतुष्कलादप्याधिक्यमस्तीति दर्शयति—ज्वरार्त इत्यादि ।

भयेन योऽन्वितो जातोरुस्तम्भः, अन्यथा ह्यस्य त्वरिततरा गतिर्वक्ष्यते । विस्मय इति तत्कृतस्तम्भ इत्यर्थः । अवहित्थ इति कृतकधैर्याणाम्; कृतकं हि नः सुश्लिष्टं कर्तुं पार्यत इति । तत्राधिक्यमेव भवति । तत एव हि कुशलाः कृतकतां विदुः ॥ ३४ ॥

अभिनव—अधम पात्र में अर्धकला होती है, इससे भरतमुनि ने कला के चतुर्थ भाग को सूचित किया है । लक्षण के ज्ञाता विद्वान् द्रुत लय को वृत्ताकार मानते हैं । जिस प्रकार उक्त नीति से पञ्चमांश है । श्वासादि से विश्रान्ति के साथ यह चार प्रकार का होता है और यही द्रुत लय युक्त है ॥ ३३ ॥

अभिनव—अब चतुष्कल से भी अधिक का प्रयोग होता है इस बात को दिखाते हैं—'ज्वरार्त्त इत्यादि ।

अनुवाद—ज्वर से पीड़ित, भूख से पीड़ित, तप से श्रान्त, भय से युक्त, विस्मित अर्थात् विस्मय से युक्त, अवहित्थ और औत्सुक्य से समन्वित, शृङ्गार और शोक की अवस्था में, स्वच्छन्द गमन में चार कला के प्रमाण की गति से अधिक विलम्बित लय में गति-प्रचार करना चातिए । भाव यह कि चार कलाओं की गतियों की अपेक्षा अधिक कलाओं का प्रयोग स्थिर विलम्बित लय के साथ करना चाहिए ॥ ३४-३५ ॥

अभिनव—भय से जो अन्वित (युक्त) होता है वह 'ऊरुस्तम्भ' हो जाता है । अन्यथा अर्थात् ऊरुस्तम्भ न होने पर इसकी अतिशीघ्र गति को कहेंगे । 'विस्मय' के कारण जिसका 'ऊरुस्तम्भ' हो गया है । 'अवहित्थ' का अर्थ है कृत्रिम (बनावटी) धैर्य । कृत्रिमता हम लोगों को सुश्लिष्ट करने में समर्थ है । वहाँ आधिक्य ही होता है । उसी से कुशल लोग कृत्रिमता को जानते हैं ॥ ३४ ॥

---

१. क-ङ. विक्षते ।
२. ख. पुस्तके श्लोकार्धोऽयं नास्ति ।
३. ग. विफलान्तरपातिता ।

अत्यादरवदौत्सुक्येन सम्यगन्वितो य एव शृङ्गारभेदस्तत्रैव विप्रलम्भ इति यावत् । स्वच्छन्दगमन इति कार्येण विना क्रीडाचङ्क्रमणे[1] । अधिकले इत्यधि-शब्दोऽधिकार्थः । अधिकलामिति केचित् । आधिक्यं प्रकर्षेण चतुःस्वरूपेण संख्या चैतत्[2] । प्लुतस्य विरामस्य च स्वरूपाधिक्ये तालबोधः संख्याधिक्येन षडष्टकलादेर्वि-कृष्टमधिकृतं कलान्तरं परिमाणं यथा तथाभूतः पादपातो यस्याम् । अत एवैतत्पा-दपतनप्रसङ्गविचारणाद्वक्ष्यति—

[3]षट्कलन्तु न कर्तव्यं तथाष्टकलमेव च ।
पादस्य पतनं तज्ज्ञैः खेदनं तद्भवेत् स्त्रियाः ॥ १२/१८४-१८५ ॥

अर्धैकद्विचतुष्कलमिति वचसा षडष्टकलयोर्निषेधेन च त्रिकलपञ्चकलादी-नामभावं सूचयति । विषमाणां सपरिमाणोत्क्षेपणनिपातनायोगात्तालविदां हि साम्यमुपनिषद्भूतं तच्चात्र स्फुटयति ॥ ३५ ॥

अत्यन्त आदर से विशिष्ट औत्सुक्य से युक्त शृङ्गार का जो विप्रलम्भ नामक भेद है उसमें यह गति होती है । 'स्वच्छन्दगमन' का तात्पर्य है बिना किसी लक्ष्य या कार्य के क्रीड़ा करते हुए चलना (क्रीड़ा के साथ चङ्क्रमण करना) । 'अधिकलान्तरपपातिता' में 'अधि' शब्द आधिक्य अर्थ का सूचक है । कुछ लोग 'अधिकला' पाठ मानते हैं । **'आधिक्य'**—चार कला के प्रमाण की गति से स्थितलय में पादप्रक्षेप । करना आधिक्य हैं, प्रकर्ष है । यह प्लुत जैसे स्वर या विराम के आधिक्य से ताल का बोधक होता है । छः, आठ कलाओं की संख्या के आधिक्य से अभिनय के विकृष्ट रङ्गमञ्च का बोध होता है । पादपात का जिस गति में जैसा कलान्तर का परिमाण बतलाया गया है वैसा ही पादपात होना चाहिए । इसलिए इसे पाद-पातन के प्रसङ्ग के विचार में आगे कहेंगे—

"अभिनय-विशेषज्ञों को स्त्रियों से छः कलाओं और आठ कलाओं तक के पाद-पात (पाद का पतन) नहीं कराना चाहिए, क्योंकि ऐसा कराने में स्त्रियों को (थकावट) होगी ।"

अभिनव—'अर्धैकद्विचतुष्कलम्' इस वचन (वाक्य) से और छः एवं आठ कलाओं को पाद-पातन के निषेध से त्रिकल और पञ्चकल पादपात का अभाव सूचित होता है । विषम संख्या के किसी विशेष परिमाण में पाद का उत्क्षेपण और निपातन का योग नहीं बनता है । अतः आचार्यगण यहाँ सम संख्या को ही प्रमाणभूत मानते हैं उसी को यहाँ स्फुट करते हैं ॥ ३५ ॥

---

१. क. क्रीडाचङ्क्रमेण ।
२. क. चेतनप्लुतस्य । ख. चैतदप्लुतस्य ।
३. क. षट्कलस्तु ।

[1]पुनश्चिन्तान्विते चैव गतिः कार्या चतुष्कला ।
[2]अस्वस्थकामिते चैव भये वित्रासिते तथा ॥ ३६ ॥
आवेगे चैव हर्षे च [3]कार्यं यच्च त्वरान्वितम्[4] ।
अनिष्टश्रवणे चैव क्षेपे[5] चाद्भुतदर्शने ॥ ३७ ॥
अपि चात्ययिके कार्ये [6]दुःखिते शत्रुमार्गणे ।
[7]अपराद्धानुसरणे श्वापदानुगतौ[8] तथा ॥ ३८ ॥
[9]एतेष्वेवं गतिः प्राज्ञो [10]विकलां सम्प्रयोजयेत् ।

एवमेतेषु षट्कलादप्यधिकं मानं तथा च तपःशान्तानां परिक्रमे यत्र उल्लसनाख्यो लयः कोहलादिभिरुक्तो यस्यातिविलम्बितः कालावधिः ।

एवं कलाधिक्यमभिधाय न्यूनत्वमप्यस्तीत्याह—अस्वस्थकामित इत्यादि ।

अभिनव—इस प्रकार इन प्रकरणों में षट्कल में भी अधिक प्रमाण तथा और भी तपःश्रान्तों के परिक्रम में जो उल्लसन नामक लय को कोहल आदि आचार्यो ने कहा है जिसकी कालावधि अतिविलम्बित है समझना चाहिए ।

अभिनव—इस प्रकार कलाधिक्य को कहकर अब कलाओं में न्यूनता भी होती है इस बात को कहते हैं—'अस्वस्थकामित इत्यादि ।

अनुवाद—फिर चिन्ता से युक्त दशा में गति चतुष्कल अर्थात् चार कला की होनी चाहिए । अस्वस्थकामित अर्थात् प्रच्छन्न कामुक में, भय में, वित्रासन में, आवेग में, हर्ष में, शीघ्रता युक्त कार्य में, अनिष्ट बात के में, श्रवणआक्षेप (निन्दा) में या क्षेपण में, अद्भुत वस्तु के दर्शन में, कष्ट कर कार्य में; दुःख में, शत्रु के खोजने में, अपराधी के पकड़ने में, श्वापद अर्थात् व्याघ्रादि हिंसक पशुओं के अनुसरण में विद्वान् कला-रहित (विकल) गति का प्रयोग करें ॥ ३६-३९ ॥

---

१. ग. पुस्तके श्लोकार्धोऽयं नास्ति । २. ख. ग. अस्वस्थे कामिते ।
३. ग. कार्यं । ४. क-ड. यच्च तुरान्बिते ।
५. ख. कोपेर्ष्याद्भुतदर्शने ।
६. ग. तथा चैवारिमार्गणे ।
७. ख. ग. अपराध्वानुसरणे । क-न. अपराद्धानुकरणे ।
क-प. अवरुद्धानुकरणे ।
८. ख. ग. श्वापदानुगते । ९. ग. एतेष्वेव । १०. ख. ग. ङ. द्विकलां ।

अस्वस्थे प्रच्छन्नकामिते हि त्वरातिशयः। अनिष्टं यदा बान्धवादेः श्रुतं तदा—[1]तदन्तिकं द्रुतगमनं, अद्भुतदर्शनविषये यदा क्षेपः प्रक्षिप्तता, पुनरेतन्न दुष्यत इति। यन्नाभिरुचितमवश्यकर्तव्यं च तत्त्वरया क्रियते, त्वरयान्वितं सुकार्यमभिरुचितमेवेति विशेषः त्वरान्वितमिति। इयता यद्यपि सर्वं लभ्यते तथापि कविनटव्युत्पादनाय प्रपञ्चः॥ ३६-३७॥

अत्ययोऽतिक्रमणं शीघ्रसम्पादनं प्रयोजनमस्य। अपराधोऽभिनेयः शत्रोरन्य एव, यद्वा यस्यापराधः कृतो गुर्वादिस्ततश्च रुषा गतः सोऽपराद्धः, तथापि एतेष्विति एवंप्रकारेष्वन्येषु मदादिष्वपीत्यर्थः। विकलामिति विकलः कलापरिमाणो यस्याः सा कला अर्धकलारहिता तुर्या यद्यपि, तथापि नादरणीया, यतः त्रिभागषड्भागादिरपि तत्र भवति। अत एव संभ्रमोत्पातरोषेषु चतुरर्धकलमित्यनेन पौनरुक्त्यं तस्याविषयत्वादस्य तु विषयभागविषयत्वात्।

अभिनव—अस्वस्थ का अर्थ है प्रच्छन्न और कामित का अर्थ है कामुक। जब बान्धव आदि का अनिष्ट श्रवण हो तो उसके पास शीघ्रता से जाना। अद्भुत वस्तु के दर्शन में जब क्षेप (प्रक्षिप्तता) हो या उतावलापन हो तो त्वरा (शीघ्रता) गति का दोष नहीं होता। जहाँ अभिरुचि नहीं है किन्तु अवश्य कर्त्तव्य (कार्य) को शीघ्रता से किया जाता है। शीघ्रता से किया हुआ सुन्दर कार्य अभिरुचित ही है यह विशेष है। 'यच्च त्वरान्वितम्' अर्थात् जो शीघ्रता से करणीय है, वहाँ शीघ्रता (त्वरा) करनी चाहिए। इतने से यद्यपि सब कुछ मिल जाता है, फिर भी कवियों एवं नटों को व्युत्पन्न करने के लिए यह प्रपञ्च किया गया है।

'अत्यय' का अर्थ है अतिक्रमण अर्थात् शीघ्रता से सम्पादन ही प्रयोजन है जिसका। अपराध अभिनेय है किन्तु वह शत्रुकृत अपराध से भिन्न है अथवा जिसका अपराध किया है उस गुरु आदि से रुष्ट होकर जो चला गया है, वह अपराद्ध है। फिर भी इस प्रकार के मदादि में भी, यह 'एतेष' का अर्थ है। 'विकलाम्' अर्थात् विकल है कला का परिमाण जिसका, ऐसी अर्धकला रहित चतुर्थी कला यद्यपि होती है, तथापि वह आदरणीय नहीं है, क्योंकि उसमें तीसरा एवं छठा हिस्सा भी होता है। इसलिए सम्भ्रम, उत्पात और रोष (क्रोध) में चतुरर्धकल कहा है। इससे पुनरुक्ति है, किन्तु यह उसका (पुनरुक्ति का) विषय नहीं है इसका विषय तो विषम विभाग है।

१. क. तदन्तिकं।

उत्तमानां गतिर्या तु न तां मध्येषु योजयेत् ॥ ३९ ॥
या गतिर्मध्यमानां तु न तां नीचेषु योजयेत् ।

तथाहि मत्तगतौ शेखरकस्य खण्डकप्रयोगे हि "गहिदुं धिं" इत्येवं रूपे मात्रा तृतीये, तृतीयस्य नामात्र धं धग् इत्येकः पातः, त्सुक इति द्वितीयो, धि इति तृतीयो, न चैषां साम्यम् । एतेन च कलानां साम्यं न्यूनाधिकतानिरूपणेन समविषमकलाभागभङ्गाभिधानेन गुरुलघुद्रुतप्लुतानां स्वीकारात्तद्वैचित्र्यम् । इयमपि [1] भङ्गोपभङ्गविभङ्गप्रकारप्रस्तारसंगृहीता लक्ष्यसिद्धा भङ्गलयव्यवस्था प्रतिपाद्याक्षरतदर्थादिरूपा च धाराबन्धादिविषयाधातमार्गशब्देन प्रसिद्धा व्यवस्था स्फुटमेव दर्शिता ।

माभूदेवं कालप्रमाण (कलापरिमाण ?) नियमाभिधानं गजस्नानीभूतमित्याह–उत्तमानां गतिर्या त्विति ।

जैसे 'गहि दं धि' इस प्रकार के खण्डकाव्य के प्रयोग में शेखरक के मत्तगति में तीसरे 'दुं' अक्षर में मात्रा है। इस प्रसङ्ग में यहाँ तृतीय अक्षर का 'धं धग्' यह एक पात है। 'त्सुक' यह द्वितीय पात है, 'धिं' यह तृतीय पात है। किन्तु इसमें समानता नहीं है। इससे कलाओं के साम्यता एवं न्यूनाधिकता के निरूपण एवं सम, विषम कलाओं के भागों में भङ्गादि के अभिधान से तथा गुरु, लघु एवं प्लुतों को द्रुत मान लेने से कलाओं में वैचित्र्य है। यह भङ्ग, विभङ्ग उपभङ्ग के प्रकारों के प्रस्तार से संगृहीत लक्ष्यसिद्ध लय का व्यवस्था और जो धाराबन्धादि विषय घातमार्ग शब्द से प्रसिद्ध प्रतिपाद्य अक्षर और तत्प्रतिपाद्य अर्थ रूप व्यवस्था उसे स्पष्ट रूप से दिखा दिया है ॥ ३६-३९ ॥

अभिनव—कलाओं के परिमाण के विषय में नियम का कथन हाथी के स्नान के समान न हो जाय, इस आशय से कहते हैं—उत्तमानामित्यादि ।

अनुवाद—उत्तम पुरुषों की जो गति बताई गई है उसका प्रयोग मध्यम पात्रों में न करे और मध्यम पात्रों की जो गति है उसका प्रयोग नीच पात्रों में नहीं करना चाहिए ॥ ४० ॥

१. क. भङ्गा द्वादश—चञ्चत्पुटः चाचपुटः, षट्पितापुत्रका, संपक्वेष्टका, हेला, त्रिगता, नर्कुटः नकुंटी, खञ्जकः, खञ्जिका, आक्रोडिता, विलम्बिता च । उपभङ्गाः, षट्—कुटिलाः, आक्षिप्तिकाः, त्र्यस्रा, चतुरस्रा, चटुला, संयुक्तिका च । विभङ्गाः—विशेषः, माला, सुभद्रं संगतं च । लयतालानां भङ्गप्रस्तारद्वारेण यद्यवधिर्न स्यात्, तेषां ध्रुवातालेतिप्रसिद्धाश्चत्वारिंशत् कोहलोक्ता गतिपरिक्रमे विनियुज्यन्ते । ध्रुवातालानामुदाहरणानि विक्रमोर्वश्यादौ द्रष्टव्यानि । तुम्बुरुदत्तानि तालाध्यायमुद्रणावसरे सूचयिष्यायः ।

गतिः श्रृङ्गारिणी कार्या [1]स्वस्थकामितसम्भवा ॥ ४० ॥
[2]दूती दर्शितमार्गस्तु प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।
[3]सूचया चाप्यभिनयं कुर्यादर्थसमाश्रयम्[4] ॥ ४१ ॥

तुरेवार्थे [5] अन्यक्रमेणैवेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति अनियमेन निदर्शितेन नियमो विप्लुतः, तथापि कलाधिक्ये षट्कलतोत्तमस्य, तत्र मध्यमस्य चतुष्कलता, अधमस्य द्विकलता । यत्र न्यूनकलमुक्तं तत्राप्युत्तमस्यैका कला, मध्यमस्यार्धकला, अधमस्य कलातुर्यभाग इति कथं विप्लवः ॥ ३८-३९ ॥

एवं प्रकृतिभेदेन गतिमभिधाय रसविषयेण दर्शयितुं प्रथमं पुरुषार्थोपयोगिरसविषयां निरूपयन् प्राधान्याच्च श्रृङ्गारे तावदाह—गतिः श्रृङ्गारिणीत्यादि ।

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द 'एव' अर्थ में है। नियम के क्रम में भेद है, यह अर्थ भी इससे प्राप्त होता है। यह कहा गया है कि अभिनय के निदर्शन से (दिखा देने से) नियम का विलोप हो जाता है। फिर भी कलाओं की अधिकता में उत्तम पात्रों की षटकलता, मध्यम पात्रों की चतुष्कलता और अधम पात्रों की द्विकलता सिद्ध है। और जहाँ न्यूनकला का प्रतिपादन है वहाँ उत्तम पात्रों की एक कला, मध्यम पात्रों की अर्धकला और अधम पात्रों की चतुर्थांश कला होती है, अतः विप्लव कैसे हो सकता है ? ॥ ४० ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रकृति-भेद से गति का अभिधान करके रस के विषय में गति को दिखलाने के लिए पहिले पुरुषार्थ के उपयोगी रसों के विषय का निरूपण करते हुए रसों में श्रृङ्गार के प्रधान होने से उसको गति को कहते हैं—'गतिः श्रृङ्गारिणी' इत्यादि ।

१. श्रृङ्गार रस में गति

अनुवाद—स्वस्थ अर्थात् अप्रच्छन्न कामुक की गति श्रृङ्गारिणी होनी चाहिए। श्रृङ्गारी पात्र दूती के द्वारा दर्शित (दिखाये गये) मार्ग से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे। वह किसी अर्थ-विशेष का आश्रय लेकर सूचा चारी के द्वारा अभिनय करे ॥ ४०-४१ ॥

---

१. ख. ग. स्वच्छकामितसम्भवा ।
२. क. दूतीदर्शनमार्गस्तु । क-प. दूतीदर्शनमार्गेण ।
३. ख. सूचयञ्चाप्यभिनयं । ग. सूचयन्वाभिनयनं । क-प. सूचया चाभिगमनं ।
४. क-न. कुर्यादर्थस्य संश्रयम् ।
५. क. अन्यक्रममनेनैवेत्यर्थः ।

[1]हृद्यैर्गन्धैस्तथा वस्त्रैरलङ्कारैश्च भूषितः ।
नानापुष्पसुगन्धाभिर्मालाभिः समलंकृतः ॥ ४२ ॥
गच्छेत् सललितैः पादैरतिक्रान्तस्थितैस्तदा[2] ।
तथा सौष्ठवसंयुक्तैर्लयतालवशानुगैः[3] ॥ ४३ ॥

स्वस्थकामितमप्रच्छन्नम् । अर्थसमाश्रये सिद्धे सूचाया पुनवर्चनं हृद्यस्य पदार्थस्य पर्यालोचनं सातिशयं चमत्कारकारीति निरूपयितुं तत्र चर्वितचर्वणवत्पुनः पुनः कञ्चिदपि भागमत्यजन् सूचां शृंगारे कुर्यादिति दर्शयति ।

युद्धवीरादौ हि प्रधानानुसंधानमेवोचितं तन्मध्यपतितानां कार्यान्तराणामपर्यालोचनीयत्वात्, पर्यालोचने आचार्यं मातुलान् भ्रातृन् स्वजनमित्याद्यापत्तेः, येऽपि चान्तरमार्गा इत्यत्रत्यान् नृत्त सूच्यान् परिहर्तुमित्यर्थसमाश्रयणमित्यसत् ॥४०-४१॥

साऽपि हि निरर्थिका सूचैव हि कथं स्यात् ? सूचतोऽपि चान्तरङ्गमस्य प्रकृतां गतिमाह—नानेति । शोभनो गन्धः सुगन्धः । नानापुष्पैः सह सुगन्धः । अत्र समासान्ताभावः । सललितैः सविलासैः । सौष्ठवेनाङ्गचातुरश्र्येण युक्तः, लयो विलम्बितादि, तालं चतुरश्रादि, भूयः पुनः समान्येन उक्ताप्युत्तमगतिः पुनर्विशेषतया निरूप्यत इति भावः ॥ ४२-४३ ॥

अभिनव--स्वस्थकामित का अर्थ है अप्रच्छन्न कामुक । अर्थ के समाश्रयण से सूचा के समाश्रयण की सिद्धि हो जाती है, फिर सूचा का पुनः कथन आकर्षक पदार्थ का पर्यालोचन अत्यन्त चमत्कारी होता है, इसका निरूपण करने के लिए तथा चर्वित-चर्वण की तरह बार-बार निरूपण में किसी भाग को न छोड़ते हुए शृङ्गार में सूचा चारी का प्रयोग करना चाहिए, यह दिखाते हैं ।

युद्ध-वीर आदि में प्रधान का अनुसन्धान करना ही उचित है; क्योंकि उनके बीच में आने वाले अन्य कार्य अपर्यालोचनीय है । पर्यालोचन में तो गीता में कथित 'आचार्य, मामा, भाई, स्वजन आदि का कैसे मारूँगा' इत्यादि कथन आपत्तिजनक हो जायेगा और जो 'आन्तरमार्ग है' वहाँ पर नृत्त में सूच्य (सूचनीय) वस्तु का परिहार करने के लिए अर्थ समाश्रयण करना चाहिए, यह कथन असत् है ॥ ४०-४१ ॥

अनुवाद—हृद्य गन्ध, आकर्षक वस्त्र, और अलङ्कारों से सुशोभित तथा नाना प्रकार के पुष्प, सुगन्धित पदार्थ तथा माला आदि से अलङ्कृत, सौष्ठव से युक्त तथा ताल, लय, कला के अनुसार सुललित अतिक्रान्त चारी में स्थित पैरों से चलें ॥ ४२-४३ ॥

---

१. क-ग. हृद्यैवस्त्रैस्तथा गन्धैधूपैश्चूर्णैश्च भूषितः ।
२. ख. अतिक्रान्तोत्थितस्तथा । ३ ख. समन्वितैः ।

[1]पादयोरनुगौ हस्तौ नित्यं कार्यौ प्रयोक्तृभिः ।
[2]उत्क्षिप्य हस्तं पातेन पादयोश्च विपर्ययात् ॥ ४४ ॥

प्रच्छन्नकामिते चैव गतिं भूयो निबोधत ।
[3]विसर्जितजनः त्रस्तस्तथा दूतीसहायवान् ॥ ४५ ॥

निर्वाणदीपो नात्यर्थं भूषणैश्च विभूषितः ।
[4]वेलासदृशवस्त्रैश्च सह[5] दूत्या शनैस्तथा ॥ ४६ ॥

व्रजेत् प्रच्छन्नकामस्तु[6] पादैर्निश्शब्दमन्दगैः ।
[7]शब्दशङ्क्युत्सुकश्च स्यादवलोकनतत्परः ॥ ४७ ॥

वेपमानशरीरश्च शंकितः प्रस्खलन् मुहुः ।

अभिनव—क्योंकि वह निरर्थक है तो सूचा ही कैसे कहलायेगी ? अतः सूचा से अन्तरङ्ग इसकी प्रकृत गति को कहते हैं—नानेति । शोभन गन्ध सुगन्ध है । नाना प्रकार के पुष्पों के कारण सुगन्धित मालाएँ । यहाँ समासान्त 'इत' (इतच्) प्रत्यय का अभाव है । सललित का अर्थ है सविलास । सौष्ठव अङ्ग-चातुरस्र्य से युक्त लय विलम्बित आदि । ताल का अर्थ है चतुरस्र आदि ताल । सामान्य रूप से उत्तमों की गति यद्यपि कह दी गई है तथापि विशेष रूप से कहते हैं ॥ ४२-४३ ॥

अनुवाद—नाट्य प्रयोक्ताओं को पादों के अनुसार हाथों का प्रयोग करना चाहिए और एक हाथ को ऊपर उठाकर विपरीत दिशा में पैरों के पात से अभिनय करे ॥ ४४ ॥

---

१. क. ग. पादयोरनुगौ चापि हस्तौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ।
२. ख. उत्क्षिप्तः सह पादेन पतनेन विपर्ययः ।
३. ख. विसर्जितजनस्तत्र तथा दूतीसहायवान् ।
क-ज. विसर्जितगतिस्तत्र तथा दूतसहायवान्
४. ख. वेलासदृशवस्त्रश्च ।
५. क-ज. तथा दूत्या सहायवान् ।
६. क. नृत्तसूचाम् ।
६. ख. प्रच्छन्नकामैस्तु ।
७. क. शब्दशङ्क्युत्सुकश्च ।

प्रच्छन्नं कृत्वा कामितं यत्र शृङ्गारे सागरिकादाविव वत्सराजादेः तदन्यत्र सीतादाविव पौलस्त्यप्रभृतेस्तु । निर्वाणदीपः । वेलातुल्यवस्त्रः इति । तथाहि चन्द्रालोके सितवस्त्रागुण्ठितो घनसारपरागपुञ्जमञ्जुगात्रो मुक्ताप्रायप्रचुराभरणो वस्त्राद्युपलक्षणम् ॥ ४५-४६ ॥

प्रच्छन्नकामस्तु । एवंविधकामिविषयमेव [1]सुभद्राभिधानं ध्रुवातालमाहुः कोहलाद्याः । यस्य हि प्रस्तारो द्रुतलघुमिश्रः । शब्दशङ्कीत्यादिना खण्डितां कलां सूचयन् मिश्रप्रयोगां गतिमत्राह । उत्सुक इत्यादिना कार्यः । वेपमानदेहः प्रस्खलन्नित्यादिना कलातुर्यांशात् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—अब प्रच्छन्न कामुक की गति को फिर से समझिये। प्रच्छन्न कामी सहायकों को लौटाकर दूती के साथ चले। वह दीपक को बुझा दे और शरीर को अलङ्कारों से अधिक विभूषित न करे। समय के अनुसार वस्त्र धारण कर प्रच्छन्न कामुक दूती के साथ बिना आहट किये शब्द (आहट) की शङ्का से उत्सुकता से इधर-उधर देखते हुए काँपते हुए शरीर से शङ्कित लड़खड़ाते हुए पैरों से मन्दगति से गमन करें ॥ ४५-४८ ॥

अभिनव—प्रच्छन्न रूप से अर्थात् छिपकर कामिनी से सम्बन्ध हो जिस शृङ्गार में। जैसे सागरिका से वत्सराज का। उससे भिन्न अप्रच्छन्न कामुक जैसे सीता आदि में पौलस्त्य (रावण) आदि का सम्बन्ध। 'निर्वाणदीपः' का अर्थ है दीपक को बुझा देना। 'वेलातुल्यवस्त्रः' का अभिप्राय है कि चन्द्रमा के प्रकाश में सफेद वस्त्रों को धारण करने वाला कपूर से मिश्रित परागपुञ्ज से लिप्त शरीर वाला, मोती की माला (आभूषण) को धारण करने वाला। यहाँ पर वस्त्रादि आभूषण आदि का उपलक्षण है अर्थात् वस्त्रादि से आभूषणादि का भी ग्रहण होता है ॥ ४५-४६ ॥

इस प्रकार के अर्थात् प्रच्छन्न कामी के विषय में कोहल आदि आचार्यों ने सुभद्रा नामक ताल का विधान बताया है। उसका प्रस्तार द्रुत एवं लघु से मिश्रित है। शब्दशङ्की इत्यादि के द्वारा खण्डित कला को सूचित करते हुए मिश्रित प्रयोग वाली गति को कहते हैं। 'उत्सुक' इत्यादि के द्वारा कार्य में उत्कण्ठा सूचित होती है 'वेपमानदेह' का अर्थ है काँपते हुए शरीर वाला। 'प्रस्खलन्' इत्यादि के द्वारा कला से चतुर्थांश का संकेत है ॥ ४७-४८ ॥

१. ख. सुभद्रमित्युपभङ्गविशेषः। तल्लक्षणं तु कोहलमते—

नवमः पञ्चमश्चैव षष्ठः पुनर्गिहेष्यते।
शेषास्तु गुरवः सप्त सुभद्रं रौद्रवीरयोः ॥
त्रिमात्रान्ते प्रभावत्यां ठक्करागस्थ भाषया ।
इति त्रिमात्रान्तविरामं प्रभावतीनामकद्विपदीच्छन्दः प्रयुक्तं च सुभद्रम् ।

रसे रौद्रे तु वक्ष्यामि दैत्यरक्षोगणान् प्रति ॥ ४८ ॥
एक एव रसस्तेषां स्थायी रौद्रो द्विजोत्तमाः ।
नेपथ्यरौद्रो विज्ञेयस्त्वङ्गरौद्रस्तथैव च ॥ ४९ ॥
तथा [1]स्वभावजश्चैव त्रिधा रौद्रः प्रकल्पितः[2] ।

विप्रलम्भे तु शृङ्गारिण्येव करुणव्यामिश्रा गतिर्व्यभिचारिसंवादिन्यभिप्रेत्य पृथङ्नोक्ता । एवं विषयाभिलाषप्राणे शृङ्गारेऽभिधाय तद्रूप एव रौद्रे गतिं निरूपयति—रौद्रे रसे त्विति ।

दैत्यादिप्रयुक्तं यदुक्तं तत्केनाशयेनेति शङ्काशमनायाह—एक एवेति । ननु किं तेषां क्रोधेन विनापि रौद्रता? ओमिति ब्रूमः । कथमिति चेत् रसाध्यायोक्तन्यायेनानुरसयितुमाह—नेपथ्यरौद्र इत्यादि स्वभावज इत्यन्तम् । एवमेक एव रसस्तेषामिति कथितम्, रसाध्याये चैतत्प्रपञ्चितम् ॥ ४९-५० ॥

विमर्श शृङ्गारी पात्र ललित वेशभूषा धारण कर स्वच्छन्द रूप से ताल एवं लय के आश्रित पादगति से रङ्गमञ्च पर मन्द-मन्द सञ्चरण करता है । किन्तु प्रच्छन्नकामो चन्द्र-ज्योत्स्ना में कर्पूरवासित श्वेत वस्त्र धारण कर शब्द-श्रवण मात्र से भयभीत तथा शङ्कित दृष्टि से लड़खड़ाते पैरों से शनैः शनैः गमन करता हुआ संकेत स्थान पर जाता है ॥ ४७-४८ ॥

अभिनव—विप्रलम्भ शृङ्गार में तो सम्भोग शृङ्गार के समान करुण से मिश्रित व्यभिचारि-सम्वादिनी शृङ्गारिणी ही गति होती है । इस अभिप्राय से सम्भोग से पृथक् गति को नहीं कहा है । इस विषय की अभिलाषा रूप वाले शृङ्गार रस में गति को कहकर रसत्वेन समान रूप वाले रौद्र रस में गति का निरूपण करते हैं— 'रौद्रे रसे तु' ।

२. रौद्र रस में गति

अनुवाद—अब मैं रौद्र रस के विषय में दैत्य, दानव, राक्षसों की गति को कहता हूँ । हे ब्राह्मणों ! उनके यहाँ रौद्र ही एकमात्र स्थायी रस होता है ॥४८-४९॥

अनुवाद—रौद्र रस तीन प्रकार का होता है - प्रथम नेपथ्य रौद्र रस जानना चाहिए । दूसरा अङ्ग रौद्र होता है और तीसरा स्वभावज रौद्र होता है, इस प्रकार तीन प्रकार का रौद्र कहा गया है ॥ ४९-५० ॥

१. क. स्वभावतश्चैव । स्वभावश्चेति ।
२. ख. प्रकीर्तितः ।

रुधिरक्लिन्नदेहो यो रुधिरार्द्रमुखस्तथा ॥ ५० ॥
तथा[1] पिशितहस्तश्च रौद्रो [2]नेपथ्यजस्तु सः ।
बहुबाहुर्बहुमुखो नानाप्रहरणाकुलः ॥ ५१ ॥
स्थूलकायस्तथा प्रांशुरङ्गरौद्रः प्रकीर्त्तितः ।
रक्ताक्षः पिङ्गकेशश्च असितो विकृतस्वरः ॥ ५२ ॥
[3]रुक्षो निर्भत्सनपरो रौद्रः [4]सोऽयं स्वभावजः ।
चतुस्तालान्तरोत्क्षिप्तैः पादैस्त्वन्तरपातितैः[5] ॥ ५३ ॥
गतिरेवं प्रकर्त्तव्या तेषां ये चापि तद्विधाः ।

अभिनव—दैत्य, दानव आदि में प्रयुक्त, यह जो कहा गया है वह किस आशय से कहा गया है, इस शङ्का के शमन के लिए कहते हैं—'एक एव इति'। क्या उसमें क्रोध के बिना भी रौद्रता रहती है? कहते हैं कि हाँ। यह कैसे? रसाध्याय में कहे हुए न्याय के अनुसार रसन करने के लिए 'नैपथ्य रौद्र' से लेकर, 'स्वभावज' यहाँ तक है। इस प्रकार उन दैत्यादि में एक ही रस कहा गया है। रसाध्याय में इसका विस्तार से कथन किया गया है ॥ ४९-५० ॥

अनुवाद—खून से सना हुआ शरीर और खून से आर्द्र मुख तथा हाथ में मांस के टुकड़े से युक्त रहना नेपथ्य रौद्र रस कहलाता है ॥ ५०-५१ ॥

अनुवाद—जो अनेक भुजाओं और अनेक मुखों वाला, अनेक प्रकार के आयुधों को धारण करने से आकुल, स्थूल शरीर वाला तथा उन्नत (ऊँचा, लम्बा) है, वह अङ्ग रौद्र है ॥ ५१-५२ ॥

अनुवाद—लाल आँखें, पीले केश, काला वर्ण (रङ्ग), विकृत स्वर, रूखे स्वभाव वाला, फटकारने में तत्पर रहना स्वभावज रौद्र होता है ॥ ५२ ॥

अनुवाद—इसमें पैरों को चार के अन्तर पर उठाकर उससे कम तालों के अन्तर से गिराया जाता है, इस प्रकार की गति उन्हें करनी चाहिए और जो उनके समान है उन्हें भी ऐसी गति करनी चाहिए ॥ ५३-५४ ॥

---

१. ख. तथापि शिरहस्तश्च । ग. तथापि सहितस्तच्च ।
२. क-ङ. रौद्रनेपथ्यजस्तु । ३. ख. रूक्षो ।
४. क. रौद्रे सोऽयं स्वभावजं ।
५. ख. ग. पादैस्त्र्यन्तरपातितैः ।

चतुस्तालान्तरोत्क्षिप्तैरिति तालान्तरपातित्वं द्वितीयतालान्तरालापापेक्षयेति केचित्। उपाध्यायास्तु तालशब्देनात्र कालमानमुक्तं न तु देशमानम्, तेन यावता कालेनोत्क्षेपस्ततो न्यूनेन पतनमिति। एतदनु प्रकृतिसन्धिसंरम्भत्वं चाभिदधता विषमगतित्वमेषामनुज्ञातम्। तथा च कोहलमुखाः कलातदर्थद्वयलक्षणेन नर्तनकोत्फुल्लकादिना रौद्रादौ परिक्रममाहुः। तद्विधा इति भीमसेनादयः। अनेन युद्धवीरेऽप्येषैव गतिरिति सूचयति॥ ५३-५४॥

अभिनव—'चतुष्तालान्तरोत्क्षिप्तैरिति'। इसका अभिप्राय है कि—तालान्तर का पात द्वितीय तालान्तर की अपेक्षा से होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। हमारे उपाध्याय जी तो कहते हैं कि यहाँ ताल शब्द से काल का मान (प्रामाण्य) कहा गया है न कि देश का मान। इससे अर्थात् तालान्तरपातित्व से जितने काल तक उत्क्षेप होता है उससे न्यून काल में पतन होता है, इसी के अनुगत प्रकृति में सन्धि का संरम्भत्व का अभिधान करते हुए इनके विषम गति की अनुज्ञा दी है और कोहल आदि आचार्य कला और उसके अर्थद्वय रूप लक्षण वाले नर्तनक, उत्फुल्लक आदि के द्वारा रौद्र आदि में परिक्रम को कहा है। 'तद्विधाः' पद से भीमसेन आदि का ग्रहण है। इससे युद्धवीर में ऐसे व्यक्ति की ऐसी ही गति होती है, यह सूचित होता है॥ ५३-५४॥

विमर्श—रौद्र रस के अभिनय में दैत्य, दानव आदि पात्र होते हैं। अभिनय प्रयोग में उनके अङ्ग रुधिर-स्नात होते हैं। कभी अनेक मुख, अनेक बाहु वाले होते हैं और कभी रक्त-नयन, रूखे स्वर, काले वर्ण आदि के द्वारा रौद्र रूप का प्रदर्शन करते हुए विषम रूप में पाद-प्रचार करते हैं॥ ५३-५४॥

१. नर्तनकस्य लक्षणं यथा—

तिस्रोऽथ यतयः कार्या विरामोऽन्ते द्रुतैस्त्रिभिः।
लयो नर्तनकः प्रोक्तः सौम्यात्र द्विपदी भवेत्॥
विजयारम्भहर्षेषु मत्तोन्मत्तप्रमत्तके।
नर्तनकः प्रयोक्तव्यष्ठक्करागस्य भाषया॥

उत्फुल्लकस्य लक्षणं तु—

द्वौ द्रुतौ लघुरेकश्च चतस्रो यतयः स्मृताः।
छिन्नकस्य विरामोऽन्ते लयमुत्फुल्लकं विदुः॥
उत्तमाधममध्यानां कामोन्मादविलासयोः।
परिक्रमे पञ्चमेन तोटकं सचतुष्टयम्॥
मध्यमोत्तमपात्राणां प्रफुल्लकमिहेष्यते।
छन्दश्चतुष्पदा चात्र गुरुमध्यविवर्जिता॥

[1]अहृद्या तु मही यत्र श्मशानरणकश्मला ॥ ५४ ॥
गतिं तत्र प्रयुञ्जीत बीभत्साभिनयं[2] प्रति ।
क्वचिदासन्नपतितैः विकृष्टपतितैः क्वचित् ॥ ५५ ॥
एलकाक्रीडितैः पादैरुपर्युपरि पातितैः ।
तेषामेवानुगैर्हस्तैर्बीभत्से [3]गतिरिष्यते ॥ ५६ ॥

अथ रौद्रप्राणौग्रचविवक्षामध्ये पुरुषार्थप्राणायातबीभत्साश्रयां गतिमाह—अहृद्या त्विति ।

श्मशानरूपा युद्धपतितकबन्धप्रभृतिविरचिता[4] अत एव रणेन कश्मला जुगुप्सिता । आसन्नपतितत्त्वेन कलार्धतुर्यांशत्वादि, विकृष्टपतितत्वेन कलासार्धकलादि सूचयति ॥ ५४-५६ ॥

---

३. बीभत्स रस में गति

अभिनव—इसके बाद रौद्र रस की प्राणभूता 'उग्रता' को कहने की इच्छा के मध्य पुरुषार्थ के प्राण के अनुसार प्राप्त बीभत्स रस की गति को कहते हैं—'अहृद्या इत्यादि' ।

अनुवाद—जहाँ पर श्मशान और युद्धभूमि होने से जुगुप्सित (घृणित, घिनौनी) भूमि अप्रिय हो गई हो वहाँ बीभत्स रस के अभिनय में उपर्युक्त गति का अभिनय करना चाहिए ॥ ५५ ॥

अनुवाद—कहीं पर आसन्नपतित और कहीं पर दूर-पतित ऊपर-ऊपर उछलते हुए एलकाक्रीड़ित पादों से और उन्हीं के अनुगामी हाथों से उपलक्षित गति बीभत्स रस में कही गई है ॥ ५५-५६ ॥

अभिनव-श्मशानरूपा अर्थात् जहाँ युद्ध में कट-कट कर गिरने वाले कबन्ध (रुण्ड-मुण्ड) आदि के कारण भूमि श्मशान बन गई हो, इसलिए युद्ध के कारण भूमि जुगुप्सिता (घृणित) बन गई हो । यहाँ कश्मला का अर्थ जुगुप्सा (घृणा) है ॥ ५४ ॥

---

१. क-न. आहोर्णा । ग. (टि.) आद्या । २. ख. बीभत्सानुनयं ।
३. ख. बीभत्सागतिरिष्यते । बीभत्सगतिरुच्यते ।
४. क. (टि.) युद्धपतितबन्धनिहृनिपरिचिता ।

अथ वीरे च [1]कर्त्तव्या [2]पादविक्षेपसंयुता ।
[3]द्रुतप्रचाराधिष्ठाना नानाचारीसमाकुला ॥ ५७ ॥

अथ वीरगतिमाह— अथ वीरे चेति ।

विस्तारेण क्षेप इति स्यन्दितापस्यन्दितादेर्ग्रहणम् । तत्र च कलयार्धकलादि च प्रयोगः । तत एवोल्लासनिकाख्यं[4] तालमत्राहुर्लक्ष्यविदः । द्रुतेन प्रचारेणाधिष्ठानं गन्तव्ये देशे यस्यामिति । मल्लघटीत्र्यश्रादि विकृष्टपतितत्वे कलासार्धलघुद्रुतप्रचारं सूचितमनेन वीरे रौद्रे वा प्रवेगस्य स्पर्शभावत्वात् ॥ ५७ ॥

अभिनव—आसन्नपतित होने से बोभत्स में कला की आधी गति अथवा कला की चतुर्थांश गति और विकृष्ट अर्थात् दूरपतित होने के कारण बीभत्स में कला या अर्धकला प्रमाण की गति होती है, यह सूचित होता है ॥ ५५ ॥

विमर्श—बीभत्स रस के अभिनय में भूमि श्मशान तथा युद्ध में कटे हुए नरकंकाल से घृणित हो जाती है । इसमें पैर कभी पास में पड़ते हैं और कभी दूर पड़ते हैं । इसमें कट-कट कर गिरने वाले नर कंकालों से भूमि श्मशान बन जाती है, जो देखने और सुनने में अप्रिय लगती है ॥ ५४-५५ ॥

४. वीररस की गति

अभिनव—अब वीर रस की गति को कहते हैं—वीरे चेति ।

अनुवाद—वीर रस में पाद-विक्षेप पूर्वक द्रुत प्रचार के अधिष्ठान से युक्त और नाना प्रकार की चारियों से समाकुल (व्याप्त) गति का अभिनय करना चाहिए ॥ ५७ ॥

---

१. ख. प्रकर्त्तव्या । २. ख. पदविक्षेपसंयुता ।

३. द्रुता प्रहरणाविद्धा ।

४. क. (टि०) उल्लसनाख्यस्य तालस्य लक्षणं कोहलमते—

तोटकस्यैव यः पादः द्रुतद्वयलयत्रयः ।
मालिनी द्विपदा चात्र ठक्करागस्य भाषया ।
अन्योन्यकार्यसंसर्गे मदे गर्वे प्रहर्षिते ।
उल्लसना प्रयोक्तव्या सर्वदा लयवेदिभिः ।

पार्श्वक्रान्तैर्द्रुताविद्धैः[1] सूचीविद्धैस्तथैव च ।
[2]कलाकालगतैः पादैरावेगे योजयेद् गतिम् ॥ ५८ ॥

तत्र गतिमाह—कलाकालगतैरिति पादैरिति बहुवचनेन त्रयः पादपाता गृह्यन्ते। तेन कलया कालेन च सन्निधानात् तालगतैव गतिरिति लघु पातनं येषाम्। अथवैको लघुपातो द्वावन्योन्यद्रुतपातौ कलामात्रं च विराममित्येवम् ॥ ५८ ॥

अभिनव—'पादक्षेप' का अर्थ है विस्तार से क्षेपण। इससे स्यन्दिता चारी एवं अपस्यन्दिता चारी का ग्रहण होता है। इसमें एक कला या अर्धकला का प्रयोग होता है। इसीलिए नाट्यवेत्ता लोग यहाँ उल्लासनिक नामक ताल को कहते हैं। इसमें गन्तव्य प्रदेश में द्रुतगति (शीघ्रता) से आगे चलकर अधिष्ठान (स्थान) प्राप्त करना अभीष्ट होता है। मल्ल एवं घटीयन्त्र आदि के विकृष्ट देश में पड़ जाने पर डेढ़ कला तक कभी लघु एवं कभी द्रुत प्रचार सूचित होता है। इससे वीर और रौद्र रस में आवेग नामक भाव का स्पर्श होने से कभी धीरे और कभी द्रुत प्रचार का विधान सूचित होता है ॥ ५७ ॥

अनुवाद—पार्श्वक्रान्ता, द्रुताविद्ध एवं सूचीविद्ध चारी से उपलक्षित कला प्रमाण वाले काल के अनुसार पैरों से आवेश की दशा में उचित गति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५८ ॥

अभिनव—अब आवेग में गति को कहते हैं—'कलाकालगतैरिति अर्थात् कलागत प्रमाण वाले काल के अनुसार गतिशील पैरों से यहाँ पर 'पादैः' इस बहुवचन के प्रयोग से तीन पादपातों का ग्रहण है। इससे कला और काल के सन्निधान से तालानुसरिणी गति होती है, इसलिए इसमें लघु-पातन होता है अथवा एक लघु पात, एक दूसरे की ओर दो द्रुतपात और फिर एक कला का विश्राम होता है ॥ ५८ ॥

---

१. ख. तथाविद्धैः।
२. ख. ग. कालाकालागतैः।

उत्तमानामयं प्रायः प्रोक्तो गतिपरिक्रमः ।
मध्यानामधमानां च गतिं वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ५९ ॥
विस्मये चैव हर्षे च विक्षिप्तपदविक्रमान् ।
आसाद्य तु रसं [1]हास्यमेतच्चान्यञ्च योजयेत् ॥ ६० ॥

उत्फुल्लकपरिक्रमः । स चोभयोर्वीररौद्रयोः क्रमः । उत्तमानामिति । ननु [2]बीभत्सस्यैवोत्तमविषयतैवं केनैतदुपदिष्टं भवतः ? पुरुषार्थसाधनः बीभत्सः उत्तमेष्वेवैतदभिहितरसविषय व्यभिचारियोगे तु ॥ ५९ ॥

मध्यमानां गतिमाह—विस्मये चेति ।

अनुवाद—मैंने प्रायः उत्तम पात्रों का यह गति का परिक्रम बतलाया है। अब मैं मध्यम एवं अधम पात्रों की गति को कहूँगा ॥ ५९ ॥

अभिनव—उत्फुल्लकपरिक्रमेति–वीर और रौद्र दोनों रसों में यह गतिपरिक्रम होता है। उत्तमानामिति—अब प्रश्न होता है कि बीभत्स रस की उत्तम-विषयता है तो आपको किसने इसका उपदेश दिया है ? कहते हैं कि बीभत्स भी पुरुषार्थ का साधन है। अतः रस के विषय में कहे हुए रसानुकूल व्यभिचारियों के संयोग से उत्तम पात्र में भी बीभत्स रस होता है ॥ ५९ ॥

५-६. अद्भुत और हास्य रस में गति

अभिनव—अब मध्यम पात्रों की गति को कहते हैं—'विस्मये च'।

अनुवाद—विस्मय और हर्ष में पैरों की गति विक्षिप्त होनी चाहिए। भाव यह कि विस्मय और हर्ष की दशा में पाँव-क्रम इधर-उधर लड़खड़ाते हुए होने चाहिए। हास्य रस को प्राप्त करके तो इसी प्रकार की अन्य उचित गति की योजना करनी चाहिए ॥ ६० ॥

---

१. ख. ग. हास्यमेताश्चान्याश्च ।
२. क. (टि.) न तु बीभत्सस्योनोत्तमविषयतैवं ।

पुनश्च करुणे कार्या गतिः स्थिरपदैरथ ।
वाष्पाम्बुरुद्धनयनः[1] सन्नगात्रस्तथैव च ॥ ६१ ॥
उत्क्षिप्तपातितकरस्तथा [2]सस्वनरोदनः ।
[3]गच्छेत्तथाध्यर्धिकया प्रत्यग्राप्रियसंश्रये ॥ ६२ ॥
एषा स्त्रीणां प्रयोक्तव्या नीचसत्त्वे तथैव च ।

चकारादावेगादौ व्यभिचार्यन्तरेष्वपि । विक्षिप्तः इतस्ततो व्याकुलप्रायो लघुद्रुतबहुलः परिक्रमो यस्य तथा विस्मय एव व्यभिचारिरूपे स्थायिनि अद्भुतरसरूपे मध्यमानाम् ।

पुनरिति पुनर्ग्रहणादुत्तमानामद्भु्तेऽपि स्वच्छन्दगतिरेव पूर्वोक्तेति दर्शयति । केवलं तत्र विस्मयो वदन उत्पाद्यो मुखरागे ।

७. करुण रस में गति

अभिनव—अब करुण रस की गति को कहते हैं—पुनश्चेति ।

अनुवाद—पुनश्च करुण रस में स्थिरपद अर्थात् विलम्बित गति में पैरों को रखना चाहिये। आँसुओं के जल से रुद्ध (लबालब भरे) नेत्र, शरीर का सुन्न होना, हाथों को उठाकर फिर नीचे पटकना, चिल्ला चिल्ला कर रोना आदि अध्यर्धिका चारी के द्वारा नवीन अप्रिय घटना के समय में अभिनय करना चाहिए। इस गति का प्रयोग स्त्रियों तथा नीच पात्रों के विषय में करना चाहिए ॥ ६१-६३ ॥

अभिनव—यहाँ पर चकार से यह सूचित होता है कि आवेग आदि अन्य व्यभिचारी भावों में यह गति होती है। 'विक्षिप्त' का अर्थ है इधर-उधर आने-जाने से व्याकुल तथा लघु-द्रुत-बहुल परिक्रम पादविक्षेप है जिसका। व्यभिचारी रूप का अर्थ है चितवृत्तिरूप। अद्भुत रसात्मक को प्राप्त होने वाले चित्तवृत्तिरूप विस्मय स्थायोभाव में मध्यम पात्रों की गति होतो है।

पुनरिति—पुनः पद के ग्रहण से सूचित होता है कि उत्तम पात्रों के अद्भुत रस में स्वच्छन्द गति पहिले बतायी जा चुकी है। केवल विशेषता यह है कि यहाँ वदन में मुख पर राग 'लालिमा' उत्पन्न हो जाती है।

१. क-ज. वाष्पाम्बुनद्धनयनः । २. क-ड. सस्वररोदनः ।
३. ख. ग. गच्छेत्तथाविद्धकायः प्रत्यग्रगतिसंश्रये ।

उत्तमानां तु कर्त्तव्या [1]सधैर्या वाष्पसंगता ॥ ६३ ॥
[2]निःश्वासैरायतोत्सृष्टैस्तथैवोर्ध्वनिरीक्षितैः ।
न तत्र सौष्ठवं कार्यं न प्रमाणं तथाविधम् ॥ ६४ ॥

एतच्चेति परं हास्यं स्मिताद्यतिहसितपर्यन्तं, यदोत्तमानां स्वस्थगतिरेव तदा मध्याधमानान्तु अपहसितातिहसितयोर्विक्षिप्तगतित्वमेव। अन्यच्चेति तावद्विदूषकगतौ वक्ष्यमाणम्। एवं प्रसङ्गाद् द्रुतहास्ययोग्यगतिरभिहिता[3] करुणे तूच्यते पुनश्च करुण इति।

"ज्वरार्ते चे" त्यादिश्लोकेन यद्यपि स्तोकगतिरुक्ता तथापि यद्वक्ष्यत इति पुनः शब्दार्थः। स्थिरपदैः विलम्बितैः ॥ ६१-६२ ॥

आयतं दीर्घं कृत्वा उत्सृष्टैस्त्यक्तैः। उर्ध्वनिरीक्षणैः देवोपालम्भसूचकैः। न प्रमाणं तथाविधमिति नात्र सर्वथा प्रमाणाभावः, अपि त्वनियन्त्रितमेव पातात्मकं प्रमाणम्। अत एवात्र विलम्बितलयेन लघुलयेन द्रुतलयेन गुरुप्लुतमात्रेण च विरामेण

एतच्चेति—स्मित से लेकर अतिहसित पर्यन्त उत्कृष्ट हास्य है। इसमें उत्तम पात्रों को गति स्वस्थ होती है। किन्तु वहीं अपहसित और अतिहसित में मध्यम पात्र की गति विक्षिप्त होती है। 'अन्यच्च' पद से विदूषक की गति को आगे कहेंगे, यह संकेत दिया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रसङ्गवश हास्य के योग्य द्रुत गति बतलाई गई है।

अभिनव—यद्यपि 'ज्वरार्त्ते च' इत्यादि श्लोक के द्वारा करुण में स्तोक गति का उल्लेख कर दिया है तथापि जिसको आगे कहेंगे, यह पुनः शब्द का अर्थ है। 'स्थिरपदैः' का अर्थ है 'विलम्बित गति से पैर रखना' ॥ ६१-६३ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की गति का अभिनय धैर्य से युक्त एवं आँसुओं से परिप्लुत, लम्बे लम्बे छोड़े गये दीर्घ निःश्वास और ऊर्ध्व-निरोक्षण के द्वारा करना चाहिए। इस गति में न सौष्ठव का कोई विधान है और न गति का कोई प्रमाण रहता है। इसमें अनियन्त्रित (स्वतन्त्र) पादपात ही प्रमाण होता है ॥ ६३-६४ ॥

---

१. ख. सधैर्यं। २. ख. उत्क्रुष्टैः।
३. क. (टि.) धृतहास्यत्रिभिरभिहिता।

'मध्यानामपि सत्त्वज्ञा गतिर्योज्या विधानतः ।
उरःपात[2]हतोत्साहशोकव्याकुलचेतनः[3] ॥ ६५ ॥
नात्युत्क्षिप्तैः पदैर्गच्छेत् इष्टबन्धुनिपातने ।

जम्भटिकाख्यो[4] लयः कोहलेन दर्शितः ॥ ६३-६४ ॥

उरसः पातः आभुग्नत्वात् करुणप्रसङ्गात्प्रहारे गतिमाह ॥ ६५ ॥

अभिनव—'आयत' का अर्थ है दीर्घ करके छोड़े गये दीर्घ श्वाँस । 'ऊर्ध्व-निरीक्षण' पद दैवोपालम्भ का सूचक है । 'न प्रमाणं तथाविधम्' का अभिप्राय है गति का कोई शास्त्रीय प्रमाण न होना । इसमें केवल अनियन्त्रित पादपात की योजना ही प्रमाण है । इसलिए यहाँ पर कोहल ने विलम्बित एवं द्रुत लय के द्वारा तथा गुरु एवं प्लुत अक्षरों पर विराम के द्वारा 'जम्भटिका' लय का प्रयोग प्रदर्शित किया है ॥ ६३-६४ ॥

अनुवाद—सत्त्व के ज्ञाता अथवा सत्त्व के वेत्ताओं को विधान के अनुसार मध्य पात्रों की गति की योजना करनी चाहिए । इष्ट-बन्धु (प्रियजनों) के विनाश अर्थात् निधन हो जाने पर छाती पीटना, उत्साहहीन होना तथा शोक से व्याकुल-

---

१. ख. ग. पुस्तकयोः श्लोकार्धोऽयं नास्ति ।

२. ख. ग. उरःपातः गतोत्साह ।

३. ग. शोकव्यामूढचेतनः । क-ज. शोकव्याकुलचेतसः ।

४. जम्भटिकालक्षणमुक्तं तुम्बुरुणा—

आदावृजुद्वयं कृत्वा द्विद्रुतान्तविरामिकम् ।
पुनरप्येवमेव स्याज्जम्भटो नाम कीर्तिता ॥
करुणारसपात्रेषु जम्भटीं सम्प्रयोजयेत् ॥
तदेव कोहलमते--
"लघुद्वयं विधायाथ द्वौ द्रुतौ सविरामकौ ।
पुनरप्येवमेव स्याज्जम्भटीपात इष्यते ॥
मरणे पतने चैवाप्रियस्य श्रवणे तथा ।
जम्भटिका सदा कार्या ह्युत्तमाधममध्यमैः ॥
गुरुद्वया चतुर्मात्रा गुरुरन्ते व्यवस्थितः ।
ककुभेन प्रयोक्तव्या जम्भटीलयकोविदैः ॥
जम्भटी, जम्भेटी, जम्भाटिका, जम्भेटिका च पर्यायवाचकाः ॥

गाढप्रहारे [1]कार्या च शिथिलाङ्गभुजाश्रया[2] ॥ ६६ ॥
विघूर्णितशरीरा च [3]गतिश्चूर्णपदैरथ ।
शीतेन चाभिभूतस्य वर्षेणाभिद्रुतस्य[4] च ॥ ६७ ॥
गतिः प्रयोक्तृभिः कार्या स्त्रीनीचप्रकृतावथ ।

चूर्णानि परिमितोत्क्षिप्तानि अधिकपतितानि पादानि [5]तेनाध्यर्धिकातोऽल्पान्तरं स्यात् ।

करुणे रसे दारिद्र्यमभिभवस्त्वत्र शीतः [6]वर्षभवः संभाव्यत इति । तद्भवगतिमाह—शीतेन चेति ॥ ६७ ॥

चित्त हो जाना बतलाया गया है । ऐसी दशा में पैरों को बहुत ऊँचे उठाकर नहीं चलना चाहिए ॥ ६५-६६ ॥

अभिनव—आभुग्न अर्थात् झुक जाने से छाती का पात 'उरःपात' है ।

अनुवाद—चोट लगने (गाढ़ प्रहार) पर अङ्गों को शिथिल कर भुजाओं के आश्रित तथा शरीर को घुमाता हुआ पैरों को 'चूर्णपद' की स्थिति में रखना चाहिए । पैरों को थोड़ा ऊपर उठाकर जोर से पृथ्वी पर पटकना 'चूर्णपद' कहलाता है ॥ ६६-६७ ॥

अभिनव—करुण रस का प्रसङ्ग, होने से प्रहार अर्थात् चोट लगने पर 'गति' का निरूपण करते हैं—'चूर्णपदैरिति' । पैरों को थोड़ा ऊपर उठाकर फिर जोर से नीचे की ओर गिराना 'चूर्णपद' कहलाता है । इस क्रिया से चूर्णपद में अध्यर्धिका से थोड़ा अन्तर रह जाता है ॥ ६६-६७ ॥

अभिनव—करुण रस के अभिनय में शीत से अभिभव होता है और वर्षा से अभिद्रव होता है अर्थात् प्रकृत में अभिभव शीतभव है और अभिभद्रव वर्षभव है। अतः शीतभव और वर्षभव गति को कहते हैं—शीतेन चेति ।

अनुवाद—शीत (ठण्ड) से अभिभूत तथा वर्षा होने पर दौड़ने वाले की गति का अभिनय नाट्य-प्रयोक्ताओं को स्त्री तथा अधम पात्रों की गति की तरह करनी चाहिए ॥ ६७-६८ ॥

---

१. ख. कार्ये ।　　२. क-ङ. शिथिलांसभुजाश्रण ।
३. ग. गतिस्तूर्णा पदैरथ । क-ङ. गतिघूर्णपदैरथ ।
४. ख-ग. वर्षेणाभिहतस्य च ।
५. क. (टि.) तेनाभ्यद्धिकातो ।　　६. क. (टि.) शीतभावः ।

पिण्डीकृत्य तु गात्राणि तेषां चैव प्रकम्पनम् ॥ ६८ ॥

करौ वक्षसि निक्षिप्य [1]कुब्जीभूतस्तथैव च।

दन्तोष्ठस्फुरणं चैव चिबुकस्य[2] प्रकम्पनम् ॥ ६९ ॥

कार्यं शनैश्च[3] [4]कर्त्तव्यं शीताभिनयने गतौ।

अथेत्यनेन मध्यमोत्तमानामनुभावन्यूनभावेन [5]शीतादिगतिं सूचयति। तेषामिति पिण्डीकृतानां गात्राणां, चकारेण कम्पनं सङ्कोचनं समुच्चीयते। एवकारेण सौष्ठवचातुरश्र्यादि निरस्यते कराविति कटिपातरूपावित्यर्थः। गात्राणि पिण्डीकृत्य करौ वक्षसि च कृत्वा या गतिः लोके तस्याभिगमने [6]योऽयं शीताभिनयस्तत्र कर्तव्यः प्रयोक्तृभिर्नटैर्गात्रकम्पनं [7]कुब्जीभूतो देह इत्यादि कार्यमिति पदसङ्गतिः ॥६८-७०॥

अनुवाद -शीत के अभिनय में शरीर को सिकोड़ लेना, शरीर के अङ्गों का काँपना, हाथों को छाती पर रखकर कुबड़े की तरह टेढ़ा हो जाना, दाँत और ओठों का पकड़ना, चिबुक (ठुड्डी) का प्रकम्पन होना चाहिए तथा ठंड से धीरे-धीरे कार्य करना चाहिए ॥ ६९-७० ॥

अभिनव—'अथ' पद से मध्यम और उत्तम पात्रों की शीतादि से होने वाली गति अनुभावों से शून्य भावों के द्वारा सूचित की जाती है। 'तेषाम्' का अभिप्राय है पिण्डीकृत पात्रों की। 'च' पद से (चकार) से शरीर के कम्पन एवं सङ्कोचन का समुच्चय होता है। 'एव' पद से सौष्ठव एवं चातुरश्र्य आदि का निषेध किया गया है। 'करौ' पद से यहाँ वे हाथ अपेक्षित है जो कटि के ऊपर गिराये गये हैं। शरीर को सिकोड़कर हाथों को वक्षःस्थल (छाती) पर रखकर जो गति लोक में प्रसिद्ध है उसके अभिगमन में यह शीत का अभिनय है, वहाँ करना चाहिए और नाट्य-प्रयोक्ता को शरीर का कम्पन, देह का कुब्जोभाव (कुञ्चन) आदि लोकप्रचलित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ६८-७० ॥

---

१. क-ढ. कुञ्चीभूतस्तथैव च।

२. ख. चिबुकस्य तु कम्पनम्। क-च. चिम्बुकस्य च कम्पनम्।

३. क-न. शनैस्तु। ४. ख. ग. गन्तव्यं।

५. क. (टि.) गीतादिगतिं।

६. क. (टि.) यो भावः क्रियते गीताभिनयः।

७. क. (टि.) नात्र कम्पनम्।

तथा भयानके चैव गतिः कार्या विचक्षणैः ॥ ७० ॥
स्त्रीणां कापुरुषाणां च ये चान्ये सत्त्ववर्जिताः ।
विस्फारिते चले नेत्रे विधुतं च शिरस्तथा ॥ ७१ ॥
भयसंयुक्तया दृष्ट्या पार्श्वयोश्च विलोकनैः[1] ।
[2]द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव बद्ध्वा हस्तं कपोतकम् ॥ ७२ ॥
प्रवेपितशरीरश्च शुष्कोष्ठस्खलितं व्रजेत् ।

एवं करुणे तत्प्रसङ्गेन चान्यत्रापि गतिमभिधाय भयानकं कथयति—ये चान्य इति ।

येषामुत्तमत्वं [3]कुलाद्यौचित्यात् । अथ सत्त्वविहीनाः । तद्यथा—विराटपुत्र उत्तरः ॥ ७१ ॥

द्रुतैरित्यनेन [4]धारालयादिः कोहलोक्तः सूचितः ॥ ७२ ॥

---

८. भयानक रस की गति

अभिनव—इस प्रकार करुण रस के प्रसङ्ग में और अन्यत्र भी गति का कथन करके अन्य भयानक रस में गति का निरूपण करते हैं—'ये चान्ये' ।

अनुवाद—भयानक रस के अभिनय में विद्वानों को स्त्री, कापुरुष और अन्य जो सत्त्व से वर्जित (बलहीन) व्यक्तियों की गति उस प्रकार प्रदर्शित करनी चाहिए । भयानक रस के अभिनय में नेत्र विस्तारित तथा चञ्चल, शिर कम्पित, भयातुर दृष्टि से दोनों पार्श्वों में देखना, चूर्णपद से युक्त द्रुत गति होती है । इसमें हाथ को कपोत मुद्रा में बाँधकर, शरीर को कम्पित तथा ओष्ठ को शुष्क रखते हुए स्खलित गति से चलना चाहिए ॥ ७०-७२ ॥

अभिनव—जिसमें कुल-शील आदि के औचित्य के कारण उत्तमत्व का औचित्य के प्राप्त होने पर भी जो सत्त्वहीन हैं । जैसे—विराट का पुत्र उत्तर ।

अभिनव—'द्रुतैः' पद से कोहल के द्वारा बतलाये हुए धारालयादि का संकेत है ।

---

१. ग. विलोकितैः । २. ग. द्रुतैः घूर्णपदैः ।
३. क. (टि.) कलाद्यौचित्यात् ।
४. क. (टि०) धारालक्षणं कोहलयते—
"आद्यावष्टौ द्रुता ज्ञेया अन्ते चापि द्रुताष्टकम् ।
विरामरहिता धारा अधमेषु द्रुते लये ॥

एषानुकरणे कार्या तर्जने त्रासने तथा ॥ ७३ ॥

सत्त्वं च विकृतं दृष्ट्वा श्रुत्या च विकृतं स्वरम्[1] ।
एषा स्त्रीणां [2]प्रकर्त्तव्या नृणाञ्चाक्षिप्तविक्रमा ॥ ७४ ॥

क्वचिदासन्नपतितैर्विकृष्टपतितैः क्वचित् ।
[3]एलकाक्रीडितैः पादैरुपर्युपरि पातितैः ॥ ७५ ॥

एषामेवानुगैर्हस्तैर्गतिं भीतेषु योजयेत् ।

अनुसरण इति शत्रोः पृष्ठतः आगमनमित्यर्थः । नृणां पुनराक्षिप्तविक्रमं यत्तेनोपाहृतं मध्ये-मध्ये कृतधैर्यं यस्यामित्यर्थः । तेन मध्ये गुरु-लघु-पादपाता अपि । तदाह—क्वचिदासन्नपतितैरित्यादि ॥ ७३-७५ ॥

अनुवाद—शत्रु के द्वारा अनुसरण अर्थात् पीछा करने, फटकारने तथा डराने में इस गति का प्रयोग करना चाहिए। विकृत सत्त्व (प्राणी) को देखकर और विकृत स्वर को सुनकर आक्षिप्त (दबे हुए) पराक्रम वाले स्त्री और पुरुषों के सम्बन्ध में इस गति का प्रयोग करना चाहिए। कहीं आसन्नपतित अर्थात् समीप में हलके पादपात और कहीं पर विकृष्टपतित अर्थात् एक दूसरे से दूर रखकर भारी पादपात और कही एलकाक्रीडित चारो में एक पैर से दूसरे पैर का पादपात और इन्हीं के अनुगामी हाथों से उपलक्षित गति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७३-७६ (१)

अभिनव—'अनुसरण' का अभिप्राय है—शत्रु का पीछे से आगमन (आ जाना)। जिनमें विक्रम पुनः आक्षिप्त है उस उपाहृत विक्रय से बीच-बीच में धैर्य लाया जाता है। इसमें बीच में हलके और भारी पादपात भी होते हैं। इसी को 'आसन्नपतितैः' आदि के द्वारा कहा गया है ॥ ७३-७६ (१) ॥

---

१. ग. विकृतं रवम् । ख. विकृतस्वरम् ।

२. ग. प्रयोक्तव्या ।

३. ख. ग. एड़काक्रीडितैः ।

वणिजां सचिवानां च गतिः कार्या स्वभावजा ॥ ७६ ॥
कृत्वा नाभितटे [1]हस्तमुत्तानखटकामुखम् ।
आद्यं चारालमुत्तानं कुर्यात्पार्श्वं [2]स्तनान्तरे ॥ ७७ ॥
न निषण्णं न च स्तब्धं न चापि परिवाहितम् ।
कृत्वा गात्रं तथा गच्छेत्तेन चैव क्रमेण तु ॥ ७८ ॥

अथ शान्तरसे गतिर्वक्तव्या । स च प्राधान्येन तथा प्रयोगसौन्दर्यमावहति अतोऽन्तस्संस्काररूपता येषां वणिक्प्रभृतीनामस्ति "धीरप्रशान्ता वाणिज" इति वचनात् । यतिप्रभृतयोऽपि शान्तरसप्रधानाः, ये नाटकादौ प्रसङ्ग भवन्ति तेषामुभयेषामपि गतिमाह—वणिजामित्यादिना ।

सचिवा अमात्याः । शान्तत्वादेव हि हृदयं नियम्ययेषां वणिगमात्यप्रभृतीनाम् । स्वभावशब्देन तत्र [3]तत्रानाविष्टमेव रूपमाह । ७६-७८ ।

शान्तरस अथवा वणिक् एवं अमात्य की गति

अभिनव—इसके बाद शान्त रस की गति बतलानी चाहिए थी, किन्तु यह गति प्रधान रूप से उसी प्रकार सौन्दर्य का आवहन करतो है, अतः 'धोरप्रशान्ता वणिजः' अर्थात् 'वणिक् (बनिये) धीरप्रशान्त होते हैं, इस वचन के अनुसार जिन वणिक् प्रभृति पात्रों के अन्तःकरण में वह शान्तरस संस्कार के रूप में स्थित है तथा जो शान्तरस प्रधान यति प्रभृति भी नाटक आदि में प्रसङ्ग होते हैं, उन सब की गति भी 'वणिजाम्' इत्यादि के द्वारा बतलाते हैं—

अनुवाद—वणिक् और सचिवों (अमात्यों) की गति स्वाभाविक होनी चाहिए। इसमें खटकामुख हस्त को उत्तान करके नाभि पर रखकर फिर एक अराल हस्त को उत्तान करके दोनों स्तनों के मध्य में पार्श्व में रखे। फिर शरीर को निषण्ण स्तब्ध और परिवाहित (हिलते हुए) न रखे, अर्थात् शरीर को बिना हिलाये डुलाये उसी क्रम से अवाहित गति से चले ॥ ७६-७८ ॥

अभिनव—'सचिव' का अर्थ अमात्य है। वणिक्, अमात्य आदि का हृदय शान्त होने से नियमन के योग्य है। स्वभाव शब्द से स्वभावजा गति के अनाविष्ट रूप को बतलाया गया है अर्थात् जिसको गति आवेश रहित हो ॥ ७६-७८ ॥

---

१. ख. ग. हस्तं मुक्ताङ्गकटकामुखम् ।
२. ख. ग. तदन्तरे ।
३. क. अनाविष्टं भावाविष्टमेव ।

[1]अतिक्रान्तैः पदैर्विप्रा द्वितालान्तरगामिभिः ।
[2]यतीनां श्रमणानाञ्च ये चान्ये तपसि स्थिताः ॥ ७९ ॥
[3]तेषां कार्या गतिर्ये तु नैष्ठिकं व्रतमाश्रिताः ।
अलोलचक्षुश्च भवेद्युगमात्रनिरीक्षणः[4] ॥ ८० ॥
उपस्थितस्मृतिश्चैव[5] गात्रं सर्वं विधाय च ।
अचञ्चलमनाश्चैव यथावल्लिङ्गमाश्रितः[6] ॥ ८१ ॥
विनीतवेषश्च भवेत् कषायवसनस्तथा ।

नैष्ठिकमिति ब्रह्मचर्य एव प्रवर्तित इत्यर्थः । युगं चतुरहस्तम् । उपस्थिता झटिति संस्कारप्रबोधप्रभवा स्मृतिर्यस्य । लिङ्गं जपभस्म कौपीनादि । अन्येष्विति नाममात्रवृत्तिषु तत्र तु विपर्यासौ यथोचितं द्रष्टव्यः । तद्यथा, लोलं चक्षुः, मनश्चञ्चलम् । लिङ्गं पुनर्जटादि भवति । एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् ॥ ७९-८१ ॥

यति, श्रमण आदि की गति

अनुवाद—हे विप्रों ! दो ताल के अन्तर के चाल से अतिक्रान्त पदों से यतियों, श्रमणों तथा जो अन्य तपस्या में स्थित है और जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के व्रत में रत है उनको गति का अभिनय करना चाहिए। अभिनय में अभिनेता अलोल चक्षु अर्थात् चञ्चल दृष्टि रहित, युगमात्र का निरीक्षण करते हुए अर्थात् चार हाथ तक भूमि पर दृष्टि डालते हुए, अभिनेय वस्तु को स्मृति में रखकर, समस्त शरीर को सन्नद्ध करके स्थिरचित्त होकर अपने चिह्न को धारण कर, विनीत वेष तथा कषाय (गेरुआ) वस्त्र को धारण करे ॥ ७९-८२ ॥ (१)

---

१. ख. पुस्तके श्लोकार्धोऽयं नास्ति ।
२. ग. यतीनां चैव सर्वेषां ।
३. ख. तेषां कार्या गतिर्विप्रा नैष्ठिकं व्रतमाश्रिता ।
४. क-न. युगमात्रावलोकनः ।
५. क-च उपस्थितगतिश्चैव ।
६. ख. तथालिङ्गं समाश्रितः ।

प्रथमं समपादेन [1]स्थित्वा स्थानेन वै बुधः ॥ ८२ ॥
हस्तं च चतुरं कृत्वा तथा चैकं प्रसारयेत्[2] ।
प्रसन्नं[3] वदनं कृत्वा प्रयोगस्य वशानुगः[4] ॥ ८३ ॥
अनिषण्णेन गात्रेण गतिं गच्छेद् व्यतिक्रमात्[5] ।
उत्तमानां भवेदेषा लिङ्गिनां ये महाव्रताः ॥ ८४ ॥
एभिरेव विपर्यस्तैर्गुणैरन्येषु योजयेत् ।
तथा[6] व्रतानुगावस्था ह्यन्येषां लिङ्गिनां गतिः ॥ ८५ ॥
विभ्रान्ता [7]वाप्युदात्ता वा विभ्रान्तनिभृताऽपि[8] वा ।
शकटास्यस्थितैः पादैरतिक्रान्तैस्तथैव च ॥ ८६ ॥
कार्या पाशुपतानां च गतिरुद्धतगामिनी[9] ।

अभिनव—नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की गति ब्रह्मचर्य से ही प्रवृत्त होती है। 'युग' शब्द चतुरहस्त या चतुर्हस्त का वाचक है। 'उपस्थितास्मृतिः' का अर्थ है—संस्कार के उद्बुद्ध होने से सर्वदा उपस्थित रहती है स्मृति जिसकी वह। 'लिङ्ग' पद का अभिप्राय है—जप, भस्म, कौपीन आदि। 'अन्येषु' का तात्पर्य है नाम मात्र के लिङ्गी, उनमें जपादि का विपर्यास (अभाव) दिखाई देता है। जैसे, उनके नेत्र लोल (कम्पित), मन चञ्चल और लिङ्ग जटा आदि हैं। इसी प्रकार अन्य की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए ॥ ७९-८१ ॥

अनुवाद—विद्वान् अभिनेता पहिले समपाद नामक स्थान में स्थित होकर एक हाथ को चतुर हस्त मुद्रा में रखकर दूसरे को फैला दे और प्रसन्नमुख होकर तथा प्रयोग के अनुसार नियन्त्रित होकर अस्थिर शरीर से व्यतिक्रम गति से चले। उत्तम यतियों की तथा अन्य महाव्रतधारी सन्यासियों की यही गति होती है। इन्हीं गुणों से विपरीत गुणों से अन्य व्यक्तियों की गति की भी योजना करे ॥ ८२-८५ ॥

---

१. ख. कृत्वा । २ ख. प्रयोजनम् । ३. क-न. प्रसन्नवदनं ।
४. क. वशानुगम् । ५. ख. गच्छेदति अक्रमात् ।
६. ख-ग. तथा व्रतानुगा च ह्यान्येषां लिङ्गिनां गतिः ।
७. क. वाप्युदात्ता । ८. क. विभ्रान्ता निभृतापि वा ।
९ ख. गतिरुद्भ्रान्तगामिनी ।

व्रतानुगतत्त्वं स्फुटयति विभ्रान्ता चेति। [1]उन्मत्तादिव्रतं हि श्रूयते। आगमेषु [2]तत्तदुचितैरित्यैवमेव गतिरित्यर्थः। [3]क्रमणादुत्क्रान्तं कृत्वा पतिः पाशुपतानां परमेश्वरव्रतधारिणां गतिरत्युदात्तेत्यर्थः। यदि वा परमयोग्यवस्थायां [4]नाकुल-दर्शनप्रतिपन्नानामुन्मत्तव्रतमप्यस्ति, तद्विषमेवोद्भ्रान्तत्वं गतौ। एवं रसान्त-रसङ्गतिरुक्ता। [5]यच्चान्यै रौद्रानन्तरं शान्तरसाभिप्रायेण पठितम्।

" [6]रूपादित्वनिराशंसः परोपायविचिन्तकः।
चतुष्कलैर्द्विपातैश्च पादैर्भ्रान्तिगतिं व्रजेत् ॥ इति

[7]तदनर्थमेव, [8]एतत् ग्रन्थे पुनरुक्तमपुष्कलार्थं, पुस्तके कथं दृष्टमिति स्वकल्पितमेवेत्युपेक्ष्यम्[9] ॥ ८५-८६ ॥

अनुवाद-इनके अतिरिक्त अन्य सन्यासियों के व्रत की अवस्था के अनुगामी—जो विभ्रान्त होकर उदात्त अथवा विभ्रान्त होकर निभृत (शान्त) हैं उनकी गति का अभिनय शकटास्याचारी तथा अतिक्रान्ताचारी से करनी चाहिए। इसी प्रकार पाशुपत सम्प्रदाय के शैव सन्यासियों की उत्क्रान्तगामिनी गति का भी इन्हीं चारियों से अभिनय करे ॥ ८२-८६ ॥

अभिनव-अब 'व्रतानुगा' का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं – **'विभ्रान्ता'** इति। आगमों में जो उन्मत्त आदि व्रत सुनाई देते हैं, उनके योग्य पादों से इसी प्रकार की गति होती है। क्रमण अर्थात् उत्क्रमण करने के कारण परमेश्वर के व्रत को धारण करने वाले पाशुपतों की गति भी उदात्त होती है, उद्धत होती है अथवा परमयोगी की अवस्था में नकुलीश दर्शन के ज्ञाता पाशुपतों के लिए उन्मत्त व्रत का विधान भी है। इस व्रत के कारण उनकी गति में उद्भ्रान्तता (उद्धतता) होती है। इसी प्रकार रसान्तरों की सङ्गति कह दी गई हैं। जो अन्य विद्वानों ने रौद्र रस के बाद शान्त रस के अभिप्राय से कहा है—

"रूप, रस आदि विषयों का निराकरण कर परमेश्वर (परमतत्त्व) की प्राप्ति के उपायों के चिन्तक विद्वान् चतुष्कल एवं द्विपात पादों से उद्भ्रान्त (उद्धत) गति से चले।"

यह कथन अनर्थक है, निरर्थक है। इस ग्रन्थ में पुनरुक्त वचन पुष्कल नहीं है तो पुस्तक में कहाँ से कैसे देख लिया? यह सब निजी कल्पना है, अतः यह उपेक्षणीय है ॥ ८५-८६ (?) ॥

१. क. उत्तमादिव्रतं। २. क. तत्र तदुचितैरेवं। ३. क. (टि) भ्रमणादुत्क्रान्तं।
४. क. नाकुटिल। ५. क. यस्त्वन्थैर्वीररौद्रानन्तरं। ६. क. रूपादिसत्त्व।
७. क. तदानवमेन। ८. क. तद्ग्रन्थस्य। ९. ख. उत्प्रेक्ष्यम्।

अन्धकारेऽथ[1] याने च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ८७ ॥
भूमौ विसर्पितैः पादैर्हस्तैर्मार्गप्रदर्शिभिः[2] ।

एवं रसानुसारेण गतिमुक्त्वा देशानुसारेणाप्याह—अन्धकार इति अन्धत्वेन गमन इति[3] । विसर्जितैरपक्षेणशून्यैः मार्गप्रदर्शिभिः मार्गान्वेषणपरैरित्यर्थः ॥८७-८८॥

विमर्श—इस प्रकरण में यतियों, तपस्वियों एवं श्रमणों की गति का निरूपण किया गया है। यतियों, श्रमणों एवं नैष्ठिक व्रत को धारण करने वाले अर्थात् आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की गति का अभिनय दो ताल के अन्तर का ताल से अतिक्रान्त पैरों से करना चाहिए। लिङ्ग अर्थात् भस्म, कौपीन आदि धारण करने वाले लिङ्गी तपस्वी होते हैं जिनकी दृष्टि अचञ्चल, मति स्मृतिमान्, मन चञ्चलता रहित है, जो विनीतवेष एवं गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले हैं, उनकी भी गति इसी प्रकार की होती है। इनके अतिरिक्त अन्य तपस्वियों की गति उक्त गुणों के विपरीत गुणों के द्वारा होती है। अन्य लिङ्गियों अर्थात् पाशुपतव्रतधारियों की गति विभ्रान्त होते हुए भी उदात्त अथवा निभृत अर्थात् अनुद्धत होती है। इस प्रकार उनकी गति शकटास्य एवं अतिक्रान्त पैरों से प्रदर्शित करनी चाहिए। पाशुपतों की गति उत्क्रान्तगामिनी होती है। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार पाशुपतों के लिए जो व्रत बताये गये हैं उनमें एक उन्मत्त व्रत भी है जिसमें साधक उन्मत्तों के समान आचरण करता है। शरीर-कंपाना, लंगड़ाकर चलना, ऊट-पटांग बोलना, उलटा-सीधा काम करना, कामुक के समान आचरण करना, भस्म धारण करना आदि पाशुपतों के व्रत हैं ॥ ७९-८६ ॥

अभिनव—इस प्रकार रसों के अनुसार गति को कहकर अब देशों के अनुसार गति को कहते हैं—

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को अन्धकार में या अन्ध पात्रों के गमन में भूमि पर सरकते हुए पैरों तथा हाथों से मार्ग (रास्ता) को टटोलते हुए गति का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ८७-८८ ॥

अभिनव—अन्धकार में अथवा अन्धे की तरह चलने में। 'विसर्पितैः' अर्थात् अपक्षेपण से शून्य भूमि पर पैर को खिसकाते हुए चलने से। 'मार्गप्रदर्शिभिः' का अभिप्राय है मार्ग (रास्ता) के अन्वेषण में तत्पर ॥ ८७ ॥

---

१. ख-ग. अन्धकारेऽन्धयाने च ।
२. ख. मार्गप्रदर्शितैः ।
३. इत्यर्थः ।

[1]रथस्थस्यापि कर्त्तव्या [2]गतिश्चूर्णपदैरथ ।
समपादं तथा स्थानं कृत्वा रथगतिं व्रजेत् ॥ ८८ ॥
धनुर्गृहीत्वा चैकेन तथा चैकेन[3] कूबरम् ।
सूतश्चास्य भवेदेवं [4]प्रतोदप्रग्रहाकुलः ॥ ८९ ॥
वाहनानि विचित्राणि कर्तव्यानि विभागशः ।
द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव गन्तव्यं रङ्गमण्डले[5] ॥ ९० ॥

कर्तव्या गतिरिति च्छेदः । [6]तदाह चूर्णपदैः, । चूर्णपदैरित्यनेन [7]खण्डधारालयं द्रुतबहुलं गुर्वन्तं कोहलोक्तं सूचयति । समपादेन स्थानकेन रथेन[8] गतिः यस्मिन् देशे तं व्रजेत् । रथविशिष्टा वा गतिः । सामान्यके अकर्मकरभसात्मिका साऽत्र इति । कूबरं युगन्धरं प्रतोदः प्रेषणकः, प्रग्रहो वल्गा । वाहनानि रथ्यानि तानि, प्रकृतिविभागौचित्येन विचित्राणि तुरगबलीवर्दखरौष्ट्रकानि चित्राणि लिखितानि । अस्य सूतस्यैव कर्तव्यानि तच्चित्रपटं सूतस्यैव हस्ते आवर्जयेदिति यावत् । चूर्णपदानां लयविशेषनिरूपणाय पुनर्ग्रहणं[9] द्रुतैरिति । रङ्गमण्डल इत्यनेनेवमाह—वस्तुतोऽसौ [10]रङ्गमण्डल एव गतिक्रियां करोति तथात्र सर्वम् । [11]तच्चित्रं तद्रथाकृति कर्तव्यं तत्त्वनुगतपदमात्रमेव, रथो यातीति प्रतीयते । एवं सर्वत्र ।

रथस्थ पात्र की गति

अनुवाद—रथ पर बैठे हुए पात्र की गति चूर्णपदों के द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए । रथारूढ़ पात्र समपाद स्थानक को करके एक हाथ से धनुष को लेकर और दूसरे हाथ से रथ का कूबर पकड़ कर रथ की गति का अभिनय करे और उसका सारथि चाबुक एवं लगाम को संभालने में व्यस्त हो । अलग-अलग प्रकृतियों के विभाग के अनुसार विचित्र वाहनों का अभिनय करे और द्रुत लय के साथ चूर्णपदों से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥ ८८-९१ ॥

१. ख. अथस्तस्यापि । २. ख-ग. गतिस्तूर्णपदैरथ ।
३. ग. ह्येकेन । ४. क. प्रतोदप्रग्रहाकुलम् ।
५. क-न. रङ्गमण्डलम् । ६. क. तामाह चूर्णपदै ।
७. खण्डधाराया लक्षणम्—"वेदखत्रिदाः खण्डधारा" ।
८. क. अथमेन । ९. क-ख. पुनर्ग्रहघूरिति ।
१०. क. रथ्यामण्डल । क-ख. रम्यामण्डल । ११. क-ख. तच्छत्रम् ।

विमानस्थस्य कर्तव्या ह्येषैव[२] स्यन्दिनी गतिः ।
[३]आरोढुमुद्वहेद् गात्रं किञ्चित् स्यादुन्मुखस्थितम् ॥ ९१ ॥
अस्यैव वैपरीत्येन कुर्याच्चाप्यवरोहणम् ।

अत एवाह—विमानस्थस्यापीति । दिव्यस्याकाशगामिनोऽपि पुष्पकादेरित्यर्थः । अथ रथप्रसङ्गादुद्धतं क्रियान्तरमप्याह—आरोढुमिति । उद्वहेदूर्ध्वं प्रापयेत् । वैपरीत्येन अधोमुखत्वेन गात्राधोनयनेन चेत्यर्थः ॥ ९१-९२ ॥

अभिनव—'कर्त्तव्या गतिः' इस प्रकार पदच्छेद है। इसलिए 'चूर्णपदैः' कहा है। 'चूर्णपदैः' इससे कोहल के द्वारा कहे हुए द्रुतबहुल एवं गुर्वन्त (गुरु अक्षर पर विराम) खण्डधारालय का सङ्केत है। समपाद स्थानक के द्वारा रथ से जिस देश में गति हो उस वेश में जाना चाहिए अथवा रथविशिष्ट की गति यहाँ प्रदर्शित है। सामान्यतः यहाँ पर अकर्मक रभसात्मिका (वेगवान्) गति है। 'कूबर' का अर्थ युगन्धर है, 'प्रतोद' का अर्थ चाबुक है और प्रग्रह का अर्थ लगाम है। 'वाहन' का अर्थ रथ में जोतने योग्य अश्वादि है। प्रकृति के विभागगत औचित्य से विचित्र अश्व, बैल, गदहा तथा ऊँट आदि चित्रित हों, इस सूत के ही ये कर्त्तव्य है, इसलिए चित्रपट को सूत के ही हाथों में आवर्जित कर दे। चूर्णपदों के लय विशेष का निरूपण करने के लिए 'द्रुतैः' पद का पुनः ग्रहण किया गया है। 'रङ्गमण्डल' इस पद के द्वारा यह कहा गया है कि जिस प्रकार वस्तुतः वह रङ्गमण्डल में ही गति कर्म करता है, वैसे ही यहाँ सब कार्य करता है। इसलिए रथ के आकार का चित्र बनाना चाहिए। वह भी अनुगत पदमात्र ही है, पदों में ही अनुकूलगमन हो जिससे, रथ से चल रहा है (रथ से जा रहा है), यह प्रतीत होता है। इसी प्रकार सब जगह करना चाहिए ॥ ८८-९१ ॥

विमानस्थ गति

अनुवाद—विमान पर आरोहण करते समय इसी स्यन्दिनी गति (रथारोहण की गति) का अनुसरण करना चाहिए। विमान पर आरोहण करने के लिए किञ्चित् उन्मुख (उन्नत) होकर शरीर का उद्वहन करे अर्थात् विमानारोहण के समय गात्र को उन्नत (ऊँचा उठाकर) स्थित करे और इसके विपरीत अर्थात् आरोहण क्रिया के विपरीत पद्धति से विमान से अवरोहण करे ॥ ९१-९२ ॥

---

२. ख. एषैव । ३. ख. ग. आरूढमुद्वहेद् ।

अधोऽवलोकनैश्चैव मण्डलावर्तनेन च ॥ ९२ ॥
आकाशगमने चैव कर्तव्या नाटचयोक्तृभिः ।
[1]स्थानेन समपादेन तथा चूर्णपदैरपि ॥ ९३ ॥

व्योम्नश्चावतरेद्यस्तु तस्यैतां कारयेत् गतिम् ।
[2]ऋज्वायतोन्नतनतैः कुटिलावर्तितैरथ ॥ ९४ ॥
भ्रश्यतश्च तथाकाशादपविद्धभुजा गतिः ।
[3]विकीर्णवसना चैव तथा भूगतलोचना ॥ ९५ ॥

अथाकाशगतिं विमानप्रसङ्गादाह—अधोऽवलोकनेनेति ।

अभिनव—'विमानस्थस्यापि' का अभिप्राय है विमान में बैठे हुए की भी अर्थात् आकाशगामी दिव्य पुष्पक आदि विमानों को। इसके बाद रथ के प्रसङ्ग होने से उद्धत अन्य क्रिया को भी कहते हैं—'आरोढुमिति'। 'उद्वहेत' का अर्थ है ऊपर को प्राप्त कराये। 'वैपरीत्येन' पद का अभिप्राय है अधोमुख रूप में गात्र को नीचे को ओर ले जाकर अवरोहण करना ॥ ९१-९२ ॥

आकाश गति

अभिनव—इसके बाद विमान की प्रसङ्ग होने से आकाश गति को कहते हैं—'अधोऽवलोकनेनेति'।

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को आकाश के गमन में अधः (नीचे) अवलोकन एवं मण्डलाकार आवर्तन के साथ समपाद स्थान के द्वारा चूर्णपदों से गति प्रदर्शित करे और जो आकाश से अवतरण करे उसकी गति इस प्रकार प्रदर्शित करे। अर्थात् आकाश से उतरते समय, ऋजु (सरल), आयत (लम्बे), नत (नीचे), उन्नत (ऊँचे), कुटिल (टेढ़े) और आवर्तित (घूमते हुए) गति को प्रदर्शित करे तथा आकाश से गिरते हुए पात्र की गति अपविद्ध-भुजा (दोला के समान झूलते हुए भुजाओं वाली), विकीर्णवसना (इधर उधर बिखरे हुए वस्त्र हों जिसमें) तथा भूगतलोचना (पृथ्वी पर लगी हुई दृष्टि से युक्त) होती है ॥ ९२-९५ ॥

१. ख. ग. श्लोकार्धो नास्ति।
२. ख. ग. ऋद्धायतोऽनुतननं।।
३. क. विकीर्णवदना।

प्रासादद्रुमशैलेषु नदीनिम्नोन्नतेषु च ।
आरोहणावतरणं कार्यमर्थवशाद् बुधैः[1] ॥ ९६ ॥
प्रासादारोहणं कार्यमतिक्रान्तैः पदैरथ ।
[2]उद्वाह्य गात्रं पादञ्च न्यसेत्सोपानपङ्क्तिषु ॥ ९७ ॥
[3]अथावतरणञ्चैव गात्रमानम्य रेचयेत् ।

मण्डलावर्तं परिवर्तुलगतिरिति केचित् । आकाशीयानां चारीमण्डलानां पुनः पुनरावर्तनेनेति तूपाध्यायाः एतामिति वक्ष्यमाणां कारयेन्नाट्याचार्यो नटैः ऋजुभिः सरलैः ललितजङ्घैः । अत एवायतैरुत्क्षिप्तपातितैः, कुटिलया गत्या आवर्तितैः भ्रमितैः, उन्नतनतैरित्यन्ये पठन्ति, उत्क्षेपणकाले उन्नतैः पातनकाले तु नतैरिति व्याचक्षते । [4]भ्रश्यत इत्यबुद्धिपूर्वकं पतत इत्यर्थः । अपविद्धौ त्वरितडोलाकारपातौ भुजौ यस्याम् ॥ ९२-९५ ॥

अभिनव—'मण्डलावर्त्त' का अर्थ कोई आचार्य परितः वर्त्तुल (गोलाकार) गति करते हैं । किन्तु हमारे उपाध्याय जी तो आकाशीय चारी मण्डलों का बार-बार आवर्तन करना कहते हैं । 'एताम्' का अर्थ है जिस गति को आगे कहेंगे उस गति को नाट्याचार्य नटों से कराये । 'ऋजु' का अर्थ सरल एवं ललित जङ्घाओं से है । इसलिए 'आयतैः' पद से 'पैरों को उठाकर गिराते हुए' तथा 'कुटिलावर्त्तितैः' पद से 'कुटिल (टेढ़ी) गति से घुमाया जाना' अर्थ घोषित होता है । अन्य लोग यहाँ 'उन्नतनतैः' पाठ मानते हैं । तदनुसार उत्क्षेपण के समय उन्नत और पातन (गिराने) के समय नत रखना, इस प्रकार व्याख्या करते हैं । 'भ्रश्यतः' का अर्थ 'अनजाने में गिरते हुए' है और 'अपविद्धभुजा' का अर्थ 'डोला के आकार में जल्दी जल्दी भुजा हो जिसमें' है ॥ ९२-९५ ॥

प्रासादद्रुमपर्वताद्यारोहणावरोहण गति

अनुवाद—प्रासाद, वृक्ष एवं पर्वत पर तथा नदी एवं ऊँचे-नीचे स्थानों पर प्रयोजन के अनुसार आरोहण तथा अवतरण करना चाहिए ॥ ९६ ॥

अनुवाद—प्रासाद पर आरोहण में अतिक्रान्त चारी पादों से शरीर को ऊपर उठाकर पैर को सीढ़ी पर रखे और प्रासाद से अवतरण में शरीर को थोड़ा झुका कर रेचित करे ॥ ९७-९८ ॥

१. क. तथा । २. ख. उद्वाह्य गात्रपादं च सोपाने निक्षिपेन्नरः ।
३. क.ग. तथावतरणं चैव गात्रमस्यैव कारयेत् । ४. क-ख. ह्रस्यतः ।

प्रासादारोहणे[1] यत्तु तदेवाद्रिषु कारयेत् ।
[2]केवलमूर्ध्वनिक्षेपमद्रिष्वङ्गं[3] भवेदथ ॥ ९९ ॥
द्रुमे चारोहणं कार्यमतिक्रान्तैः [4]स्थितैः पदैः ।
सूचीविद्धैरपक्रान्तैः पार्श्वक्रान्तैस्तथैव च ॥ १०० ॥
एतदेवावतरणं सरित्स्वपि नियोजयेत् ।
[5]प्रासादे यन्मया प्रोक्तः प्रतारः केवलो भवेत् ॥ १०१ ॥
जलप्रमाणापेक्षा तु जलमध्ये गतिर्भवेत् ।
तोयेऽल्पे [6]वसनोत्कर्षः प्राज्ये पाणिविकर्षणैः ॥ १०२ ॥
किञ्चिन्नताग्रकाया तु प्रतारे गतिरिष्यते ।

अर्थवशादिति स्फुटयति—अवतरणमिति । तटादवतीर्य ततः शरीरं प्रयोगेन रेचयेत् ॥ ९७-९८ ॥

अभिनव—'अर्थवशात्' को स्पष्ट करते हैं—अर्थ अर्थात् प्रयोजन के अनुसार अवतरण करना चाहिए । नदी के तट से उतर कर शरीर को प्रयोग के द्वारा रेचित करे ॥ ९७ ९८ ॥

अनुवाद—प्रासाद पर आरोहण में जो गति-विधान बताया गया है वही गति पर्वत पर चढ़ने में करे । पर्वतारोहण में केवल पैरों के पञ्जों पर अङ्ग का निक्षेप होना चाहिए अर्थात् समस्त शरीर को ऊपर की ओर उठाकर पर्वत पर आरोहण करे ॥ ९९ ॥

अनुवाद -वृक्ष पर आरोहण में अतिक्रान्त चारी में पैरों को उछालकर क्रमशः सूचीविद्ध, अपक्रान्त और पार्श्वक्रान्त चारियों के द्वारा उठे हुए पैरों से गति प्रदर्शन करे ॥ १०० ॥

---

१. ख. प्रसादारोहणं ।

२ क. केवलं तच्च विक्षेपं । ख. ग. केवलं मूर्धनि क्षेपं ।

३. क. अङ्घ्रिष्वङ्गं भवेदथ ।

४. ख. ग. अतिक्रान्तोत्थितैः पदैः ।

५. ग. प्रसादे यन्मया प्रोक्तं प्रतारः केवलो भवेत् ।
ख. प्रासादे यन्मया प्रोक्ता प्रतारे केवलं भवेत् ।

६. क-न बसनोत्कर्षैः ।

प्रसार्य बाहुमेकैकं [1]मुहुर्बारिविकर्षणैः ॥ १०३ ॥
तिर्यक् प्रसारिता चैव [2]ह्रियमाणा च वारिणा ।
अशेषाङ्गाकुलाधूतवदना[3] गतिरिष्यते ॥ १०४ ॥

प्रतार इति । एतत्प्रकारं व्याचष्टे । जलप्रमाणापेक्षा त्विति । एतत्स्फुटयति—तोयेऽल्प इति । उत्कर्षः उर्ध्वं नयनं, प्राज्ये भूयसि जले यः प्रचारस्तत्र पाणिविचित्रकर्षणेन पताकसर्पशीर्षकाविनोपलक्षितगतिरिति सम्बन्धः ॥ १०१-१०२ ॥

अबुद्धिपूर्वकन्तु जलेन नीयमानस्य गतिमाह—प्रसार्येति ।

अशेषेऽङ्गे आकुलत्वं यस्यां गतौ तथा आधूतमुच्यते तिर्यक् सकृदुद्वाहितं तुलयेत् । अस्वतन्त्रत्वाच्चैवं भवति । कैश्चित्तु पर्यायशः पार्श्वत्वमुक्तं, तदसत् । परिवाहितं ह्येतत् बुद्धिपूर्वके च जलप्रतरणे तत्स्यात्, नत्विह ॥ १०३-१०४ ॥

अनुवाद—नदी में उतरने के समय इसी प्रकार गति का प्रयोग करे । प्रासाद से उतरने में जो गति बताई गई है वही केवल प्रतार अर्थात् जल-संतरण में होनी चाहिए । जल के मध्य में तो जल के प्रमाण की अपेक्षा से गति प्रदर्शित करे । अल्पमात्रा में जल होने पर वस्त्रों को ऊपर उठाते हुए और जल के अधिक होने पर हाथों से विकर्षण करते हुए शरीर को थोड़ा आगे की ओर झुका कर प्रतार (जल-संतरण) का अभिनय करना चाहिए ॥ १०१-१०२ ॥

अभिनव—'प्रतार' का अर्थ है जल-संतरण । 'जलप्रमाणापेक्षा' का अभिप्राय है जल के प्रमाण की अपेक्षा । इसी बात को 'तोयेऽल्पे' इत्यादि के द्वारा स्पष्ट करते हैं । 'उत्कर्ष' का अर्थ है 'ऊपर को जाना' । प्रभूत जल में जब प्रचार हो तो वहाँ हाथों के द्वारा विचित्र रूप से कर्षण करते हुए (हटाते हुए) पताक और सर्पशीर्ष हस्तमुद्राओं से उपलक्षित गति होती है ॥ १०१-१०३ ॥

अभिनव—अज्ञानता के कारण जल बहाकर ले जाने की गति को कहते हैं—प्रसार्येति ।

अनुवाद—भुजाओं को क्रमशः फैलाकर बार-बार जल के विकर्षण (हटाने) तिरछी फैली हुई और जल के द्वारा बहाकर ले जाने वाली, समस्त शरीर के आकुल होने और कम्पित मुखवाली गति का अभिनय करे ॥ १०३-१०४ ॥

---

१. ख-ग. शुद्धबाहुविकर्णैः । २. ख. ग. ह्रियमाणस्य वारिणः ।
३. ख. पूरवदना ।

अतिक्रान्तेन पादेन द्वितीयेनाञ्चितेन च ।
नौस्थस्यापि प्रयोक्तव्या [1]द्रुतैश्चूर्णपदैर्गतिः ॥ १०५ ॥
अनेनैव विधानेन कर्तव्यं गतिचेष्टितम् ।
संज्ञामात्रेण कर्तव्यान्येतानि विधिपूर्वकम् ॥ १०६ ॥
कस्मान्मृत[2] इति प्रोक्ते किं कर्तव्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १०७ ॥
अङ्कुशग्रहणान्नागं खलीनग्रहणाद्धयम् ।
[3]प्रग्रहग्रहणाद्यानमेवमेवापरेष्वपि ॥ १०८ ॥

जलप्रसङ्गात् नौगतिमाह—नौस्थस्येति ।

ननु वृक्षप्रासादादि तत्र किं रङ्गमण्डले रथचित्रपटादिन्यायेन दर्शनीयं, नेत्याह संज्ञामात्रेणेति । संज्ञा उक्तरूपारोहणाद्यभिनयः । प्रसङ्गादन्यत्राप्यभिनयं दर्शयति । अङ्कुशग्रहणादित्यादि । तेन चित्रपटादिवियोगेऽपि रथगमनाद्यभिनयं न युक्तम् । सौकर्यात्तु तत्करणमपि भवत्विति भावः ॥ १०६-१०८ ॥

अभिनव—समस्त अङ्ग में व्याकुलता है जिस गति में यह 'अशेषाङ्गाकुला' का अर्थ है और 'आघृतकदना' का अभिप्राय है मुख को एक बार तिरछा घुमाकर सन्तुलित करे । मनुष्य के स्वतन्त्र न होने से इस प्रकार की स्थिति होती है । कुछ आचार्यों ने जो बारी-बारी से पार्श्व का परिवर्त्तन कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह परिवाहित है । बुद्धिपूर्वक जल के संतरण में वह (पार्श्व परिवर्त्तन) होता है, यहाँ पर नहीं ॥ १०३-१०४ ॥

अभिनव—जल का प्रसङ्ग होने से 'नौस्थस्थ' इत्यादि के द्वारा नौका की गति को कहते है—

अनुवाद—नौका में स्थित पात्र की गति शीघ्रतापूर्वक चूर्णपदों से एक पाद को अतिक्रान्त चारी में और दूसरा पैर अञ्चित स्थिति में प्रयोग करना चाहिए । इसी विधान के अनुसार गति की चेष्टाओं को प्रदर्शित करना चाहिए । इन सभी कर्मों को विधिपूर्वक केवल सङ्केतों (इशारे) के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए । प्रयोक्ताओं के द्वारा प्रयोगकाल में 'यह मर गया' ऐसा कहने पर क्या वह मर जाता है ? नहीं, वह मरने का अभिनय करता है । जिस प्रकार अङ्कुश के ग्रहण से हाथी, लगाम के ग्रहण (खीचने) से घोड़े और रस्सी के ग्रहण से यान आदि का प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार अन्यों में भी वैसा करना चाहिए ॥ १०५-१०८ ॥

---

१. ख. गतिश्चूर्णपदैः । ग. द्रुतैस्तूर्णैः ।
२. ख. ग. कस्मान्मृत इति । ३. क-न. प्रतोदग्रहणाद्यानं ।

अश्वयाने गतिः कार्या वैशाखस्थानकेन तु ।
यथा[1] चूर्णपदैश्चित्रैरुपर्युपरि पातितैः ॥ १०९ ॥
पन्नगानां गतिः कार्या पदैः स्वस्तिकसंयुतैः[2] ।
पार्श्वक्रान्तं पदं कुर्यात् स्वस्तिकं [3]रेचयेदिह ॥ ११० ॥

अभिनव—क्या रथचित्रपटादि न्याय से उस रङ्गमण्डप में वृक्ष, प्रासाद आदि दिखाना चाहिए ? कहते हैं कि नहीं, संज्ञामात्र से अर्थात् सङ्केतों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। 'संज्ञा' का अभिप्राय है उक्त रूप (पूर्व कथित) आरोहण आदि का अभिनय। प्रसङ्गवश 'अङ्कुशग्रहणात्' इत्यादि के द्वारा अन्यत्र भो अभिनय दिखाते है। इससे यह दिखाया गया है कि चित्रपट आदि के बिना रथगमन आदि का अभिनय करना ठीक नहीं है, किन्तु सौकर्य के कारण वह वैसा हो भी सकता है ॥ १०५-१०८ ॥

विमर्श—यहाँ यह बताया गया है कि नाट्य-प्रयोग में रङ्गमण्डप में चित्रपटों पर अङ्कित अनुकृतियों एवं प्रतीकात्मक अभिनयों दोनों का प्रयोग होना चाहिए। अभिनवगुप्त भी चित्रलिखित अनुकृतियों एवं प्रतीकात्मक अभिनयों दोनों का प्रयोग उचित मानते हैं। उनका कहना है कि इससे नाट्यप्रयोग में रमणोयता आती है और प्रत्यक्ष सो आनन्दानुभूति होती है। ये प्रतीकात्मक संकेत प्रयोगकाल में सत्य से प्रतीत होते हैं। यद्यपि वे वहाँ उपस्थित नहीं होते, केवल प्रतीकों के जरिये उपस्थिति रहते हैं। फिर भी उन प्रतीकात्मक सकेतों द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है।

अश्व-गति

अनुवाद—घुड़सवारी में वैशाख स्थान तथा ऊपर-ऊपर गिराये गये चित्र-विचित्र चूर्णपदों के द्वारा गति का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ १०९ ॥

सर्प-गति

अनुवाद—स्वस्तिकयुक्त पादों के द्वारा सर्प की गति का अभिनय करना चाहिए। इसमें पहिले पार्श्वक्रान्ताचारी में पाद को रखकर फिर स्वस्तिक पाद का रेचन करना चाहिए ॥ ११० ॥

---

१. ग. तथा तूर्णपदैः ।
२. ख. ग. स्वस्तिकसंज्ञितैः ।
३. क-न. योजयेदिह ।

विटस्यापि तु कर्तव्या गतिर्ललितविक्रमा[1]।
पादैराकुञ्चितैः किञ्चित् तालाभ्यन्तरपातितैः ॥ १११ ॥
[2]स्वसौष्ठवसमायुक्तौ तथा हस्तौ पदानुगौ।
खटकावर्धमानौ तु कृत्वा विटगतिं व्रजेत् ॥ ११२ ॥
[3]कञ्चुकीयस्य कर्तव्या वयोऽवस्थाविशेषतः।
[4]अवृद्धस्य प्रयोगज्ञो गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥ ११३ ॥
अर्धतालोत्थितैः पादैर्विष्कम्भैः ऋजुभिस्तथा।
[5]समुद्वहन्निवाङ्गानि पङ्कलग्न इव व्रजेत्[6] ॥ ११४ ॥

स्वस्तिकसंयुतैरित्युक्तमेव विभजति—पार्श्वक्रान्तमिति। एवं देशापेक्षया गतिरुक्ता। नागादिप्रसङ्गात्तु सर्पगतिरपि ॥ ११० ॥

अथावस्थाभेदेन गतिं निरूपयन् विटावस्थायां तावदाह—विटस्यापि चेति।

स्वं प्रकृत्युचितं यत्सौष्ठवम् ॥ ११२ ॥

अभिनव—'स्वस्तिकसंयुतैः' यह जो कहा गया हैं, अब उसका विभाजन करते हैं—'पार्श्वक्रान्तमित्यादि'। इस प्रकार देश की अपेक्षा से गति का निरूपण किया गया है। नागादि के प्रसङ्ग से सर्पो की गति को भो कह दिया है ॥ ११० ॥

अभिनव—अब अवस्था भेद से गति का निरूपण करते हुए पहिले विटावस्था की गति को कहते हैं –

अनुवाद—विट की गति ललितविक्रम होनी चाहिए। आकुञ्चित पादों को एक ताल के अन्तर पर रखते हुए सब सौष्ठवयुक्त तथा पैरों का अनुसरण करने वाले दोनों हाथों को खटकावर्धमान स्थिति में करके विट की गति का अभिनय करे ॥ १११-११२ ॥

अभिनव—'स्वसौष्ठव' का अर्थ है स्व अर्थात् प्रकृति के उचित जो सौष्ठव ॥ ११२ ॥

---

१. क. ललितविभ्रमा। २. ख. ससौष्ठवसमायुक्तौ।
३. ग. कञ्चुकीव प्रस्तंव्या। ४. क-ढ. आवृद्धस्य।
५. क. समुद्वहंस्तथाङ्गानि। क-न. समुद्वहंश्च गात्राणि। ६. क. व्रजन्।

अथ वृद्धस्य कर्तव्या गतिः कम्पितदेहिका ।
[1]विष्कम्भनकृतप्राणा मन्दोत्क्षिप्तपदक्रमा[2] ॥ ११५ ॥

कञ्चुकमिति तन्नेपथ्योचिता वृत्तिः तदिच्छत्यात्मन इति "क्यचि च" कञ्चुकीयः । वयोऽवस्थाविशेषात् इति यदुक्तं तद्विभजत्येवमिति वक्ष्यमाण-क्रमेण विष्कम्भः स्थैर्यं तद्येषामिति मत्वर्थीयोऽकारः । समुद्वहन्निति यत्नेनाकर्षन् । एतदेव दृष्टान्तेन शिक्षयति—पङ्कलग्न इवेति । अत एव खञ्जकहेलाविल-म्बितलघुमयस्य कोहलोक्तस्य सङ्ग्रहः । विष्कभने यष्ट्यादिके कृतं समन्वितं प्राणो वलं येन ॥ ११५ ॥

कञ्चुकीय की गति

अनुवाद—कञ्चुकीय की गति उसकी आयु तथा अवस्था स्थिति) विशेष के अनुसार होनी चाहिए। नाट्यप्रयोक्ता युवक कञ्चुकी की गति का प्रयोग इस प्रकार करे। अर्धताल की ऊँचाई पर उठे हुए सरल एवं लम्बे डगों से कीचड़ में सने हुए व्यक्ति के समान अपने अङ्गों को सम्हालते हुए से गति प्रदर्शित करे ॥ ११३-११४ ॥

अनुवाद—वृद्ध कञ्चुकी की गति का अभिनय शरीर को कँपाते हुए धीरे-धीरे (रुक रुक कर), यष्टि (लाठी, डंडा) को प्राणों का आधार बनाये हुए तथा मन्दगति से पैरों को उठाकर रखते हुए करना चाहिए ॥ ११५ ॥

अभिनव—कञ्चुक का अर्थ है नेपथ्य के योग्य वृत्ति। उस वृत्ति को जो अपने लिए इच्छा करता है। 'कञ्चुकं नेपथ्योचिता वृत्तिः तदात्मन इच्छति' इस विग्रह में 'सुप आत्मनः क्यच्' इस सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय और 'क्यचि च' सूत्र से कञ्चुक शब्द के अन्तिम 'क' के 'अ' के स्थान पर 'ई' आदेश होकर 'कञ्चुकीय' शब्द बनता है। वय और अवस्था विशेष से ऐसा जो कहा गया है उसका विभाजन करते हैं। 'एवम्' पद का अर्थ है वक्ष्यमाण प्रकार से। 'विष्कम्भक' का अर्थ है 'स्थैर्य'। वह स्थैर्य' जिसे हो वह भी 'विष्कम्भ' है। यहाँ मत्त्वर्थीय 'अ' प्रत्यय है। 'समुद्वहन्' का अर्थ है प्रयत्न से आकर्षण करते हुए। इसी को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—'पङ्कलग्न इव'। इसलिए कोहलोक्त खञ्जक, हेला, विलम्बित आदि का सङ्ग्रह हो गया। विष्कम्भन अर्थात् यष्टि आदि में बल (शक्ति) समन्वित कर दिया है जिसने ॥ ११३-११५ ॥

---

१. ख. ग. विष्कम्भेन कृतप्राणा । २. ग. मन्दोत्थिप्तपदक्रमात्

विमर्श —'कञ्चुक' का अर्थ है अंगरखा या चोगा। उसे जो धारण करता है वह 'कञ्चुकी' या 'कञ्चुकीय कहलाता है। भरत ने कञ्चुकी का लक्षण निम्नलिखित प्रकार बताया है—

ये विद्यासत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः॥

—[ना० शा० (काव्यमाला) २४।५६]

यहाँ यह बताया गया है कि नाट्यप्रयोग में वृद्ध कञ्चुकी का शरीर कांपता रहता है, यष्टि (लाठी) के सहारे चलता है, दीर्घ सांसे लेता है, गति मन्द होती है। किन्तु अवृद्ध (युवक) कञ्चुकी आधे ताल पर उठे हुए पैरों से शरीर को सम्भालते हुए सरल गति से चलता है। इस प्रकार अवस्था भेद से दोनों की गति में अन्तर आ जाता है॥ ११३-११५॥

---

१०. खञ्जकस्य लक्षणं तुम्बुरुणोक्तं यथा—
प्रथमं कुटिलं कृत्वा घनमेकं द्रुतद्वयम्।
गुर्वन्तं खञ्जकं नाम शम्यातालो निरन्तरः॥
हेलायास्तु तेनैव—
चत्वारोऽथ नखाः पूर्वे द्विचक्रं तदनन्तरम्।
पुनरप्यमेवमेव स्याच्छम्यातालो निरन्तरः॥
पादैर्द्वादशभिर्युक्तः कार्याः शेषाश्चतुर्गुणम्।
चञ्चत्पुटस्य भेदोऽयं हेलाया विधिरुच्यते॥
वेश्याद्विजवधूनः च क्रीड़ारम्भकुटुम्बिनाम्।
भवनप्रतिहाराणां योजयेत्तत्परिक्रमे॥
कोहलमते तु तस्याः —
चत्वारो लघवः पूर्वमन्ते च गुरुणी तथा।
पुनरप्येवमेव स्यान्मात्रा ह्यधमजातिषु॥
प्रयोक्तव्या ध्रुवं हेलातालश्चञ्चत्पुटस्य च।
उद्यानभवनक्रीड़ावीपिकालोकने तथा॥
भविष्यन्नायके चैव कन्यानां ठक्करागतः।
मालववेसरिकाख्यो रागोऽत्र विहितः सदा॥
विलम्बितालक्षणं तु कोहलेन—
"लघुनो गुरुणी चैव लघू आद्यन्तयो गुरू।
विलम्बिता ध्रुवा ज्ञेया षट्पितापुत्रभङ्गकृत्॥
सर्वासामेव नारीणामभिसारपरिक्रमे।
सौम्या तु द्विपदी चात्र ज्ञेया मालवकैशिके॥ इति।

कृशस्याप्यभिनेया वै गतिर्मन्दपदक्रमा[1] ।
[2]व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते च तपःश्रान्ते क्षुधान्विते ॥ ११६ ॥
विष्कम्भनकृतप्राणः कृशः क्षामोदरस्तथा ।
[3]क्षामस्वरकपोलश्च दीननेत्रस्तथैव च ॥ ११७ ॥
शनैरुत्क्षेपणं चैव कर्त्तव्यं हस्तपादयोः ।
कम्पनं चैव गात्राणां क्लेशनं च तथैव च ॥ ११८ ॥
दूराध्वानं गतस्यापि गतिर्मन्दपदक्रमा ।
विकूणनञ्च गात्रस्य जानुनोश्च विमर्दनम् ॥ ११९ ॥

विकूणनं सङ्कोचनं विमर्दनमिति मिश्रपरिहारार्थम् । ११९ ॥

अनुवाद—कृशकाय व्यक्ति की गति मन्द पदक्रम से अभिनीत की जानी चाहिए और व्याधि से ग्रस्त, ज्वर से पीड़ित, तपःश्रान्त (तप से थके हुए) तथा क्षुधा से पीड़ित, यष्टि को प्राणों का आधार बनाये हुए, कृश, क्षीण उदर वाले क्षीण स्वर और क्षीण कपोल वाले तथा दीन नेत्र वाले व्यक्तियों के अभिनय में दोनों हाथों एवं पैरों को उत्क्षेपण, शरीर में कम्पन और शैथिल्य (अथवा क्लेशन) का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ११६-११८ ॥

विमर्श—कृशकाय अर्थात् दुबले-पतले शरीर वाले व्यक्ति के अभिनय में पात्र की गति धीरे-धीरे पैर उठाकर प्रदर्शित करनी चाहिए। इसी प्रकार रोग से पीड़ित, ज्वरग्रस्त, तपस्या से क्षीण एवं थके हुए व्यक्ति और जो भूख से व्याकुल हों, ऐसे पात्रों की गति धीमी-चाल से प्रदर्शित करनी चाहिए। इसी प्रकार लाठी के सहारे चलने वाले क्षीणकाय, क्षीण उदर वाले तथा क्षीण स्वर एवं दीन नेत्र वाले पात्रों की गति हाथ-पैरों को इधर-उधर फेंकते हुए तथा शरीर को कँपाते हुए, प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ ११६-११८ ॥

अनुवाद—दूर (लम्बे) मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति की गति मन्द पदक्रम (चाल) वाली होनी चाहिए। इसमें शरीर का सङ्कोचन तथा जानुओं का विमर्दन करना चाहिए ॥ ११९ ॥

अभिनव—'विकूणन' का अर्थ शरीर का संकोचन (सङ्कुचित होना) है। 'विमर्दन' पद मिश्रित क्रियाओं के परिहार के लिए है ॥ ११९ ॥

---

१. क गतिर्मन्दपरिक्रमा । ग. गतिर्मन्दपरिक्रमात् ।
२. क-द. व्याधिग्रस्तस्य तथा एषा तपःश्रान्तस्य चैव हि ।
३. क-द. क्षामस्वरश्चैव भवेत् ।

स्थूलस्यापि तु कर्तव्या गतिर्देहानुकर्षिणी ।
समुद्वहनभूयिष्ठा मन्दोत्क्षिप्तपदक्रमा ॥ १२० ॥
विष्कम्भगामी च भवेन्निःश्वासबहुलस्तथा ।
श्रमस्वेदाभिभूतश्च व्रजेच्चूर्णपदैस्तथा[1] ॥ १२१ ॥
मत्तानां तु गतिः कार्या मदे तरुणमध्यमे ।
वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णमानापसर्पणैः[2] ॥ १२२ ॥
[3]अवकृष्टे पदे चैव ह्यनवस्थितपादिका ।
विघूर्णितशरीरा च करैः [4]प्रस्खलितैस्तथा ॥ १२३ ॥

स्थूलस्येति महाकायस्य श्रमकृत्स्वेदः ॥ १२० ॥

स्थूल-गति

अनुवाद—स्थूल व्यक्ति की गति शरीर का अनुकर्षण करने वाली, अधिक बोझ (भार) उठाने वाले व्यक्ति के समान चेष्टा वाली, मन्द गति से पैरों को उठाकर चलने वाली होनी चाहिए। स्थूल व्यक्ति को सहारा लेकर चलने वाला, दीर्घ (लम्बी) सांस लेता हुआ, श्रम से उत्पन्न पसीने से अभिभूत होकर चूर्ण पदों से गमन करना चाहिए ॥ १२०-१२१ ॥

अभिनव—'स्थूल' पद का अर्थ है महाकाय। स्थूल व्यक्ति को थोड़े ही परिश्रम से पसीना आ जाता है ॥ १२०-१२१॥

मत्त-गति

अनुवाद—मत्त पुरुषों की गति तरुण एवं मध्यम मद में बायें एवं दाहिने पैरों से घूर्णन लड़खड़ाते हुए) तथा अपसर्पण (विपरीत-सर्पण) के द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए और अधम मद में पैरों को अनवस्थित (अनियमित) रूप से रखते हुए, शरीर को झुकाते हुए (झूमते हुए) तथा हाथों को प्रस्खलित अर्थात् इधर-उधर घुमाते हुए प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १२२-१२३ ॥

१. ग. तूर्णपदैः तथा व्रजेत् ।
२. ख. ग. घूर्णभानोपसर्पणैः ।
३. ख. अपकृष्टे ।
४. ख. ग. पदैः प्रचलितैरथ ।

उन्मत्तस्यापि कर्त्तव्या [1]गतिस्त्वनियतक्रमा ।
बहुचारीसमायुक्ता लोकानुकरणाश्रया ॥ १२४ ॥
[2]रुक्षस्फुटितकेशश्च रजोध्वस्ततनुस्तथा ।
अनिमित्तप्रकथनो बहुभाषी विकारवान् ॥ १२५ ॥
गायत्यकस्माद्धसति सङ्गे चापि न सज्जते ।
नृत्यत्यपि च संहृष्टो वादयत्यपि वा पुनः ॥ १२६ ॥
कदाचिद्धावति जवात् कदाचिदवतिष्ठते[3] ।
[4]कदाचिदुपविष्टस्तु शयानः [5]स्यात् कदाचन ॥ १२७ ॥
नानाचीरधरश्चैव रथ्यास्वनियतालयः ।
उन्मत्तो भवति ह्येवं [6]तस्यैतां कारयेद् गतिम् ॥ १२८ ॥

उन्मत्त-गति

अनुवाद—उन्मत्त पात्रों की गति अनियन्त्रित पादविक्षेप से युक्त, अनेक प्रकार की चारियों से समायुक्त, लोकानुकरण के आश्रित होनी चाहिए। उसके बाल (केश) रूखे और बिखरे हुए और शरीर धूल से धूसरित होता है, वह अकारण बड़बड़ाने वाला और अधिक बोलने वाला तथा विकारवान् होता है। वह अचानक गाता है और अचानक हंसने लगता है। वह किसी के साथ मेल नहीं रखता तथा बार-बार रोता है, वह कभी प्रसन्न होकर नाचता है, फिर बजाने लगता है, फिर कभी वेग से दौड़ने लगता है, कभी खड़ा हो जाता है, कभी बैठ जाता है, कभी लेट जाता है। वह नाना प्रकार के फटे पुराने कपड़े पहने रहता है और अनियत रूप से गलियों में जहाँ चाहे वहाँ पड़ा रहता है। इस प्रकार उन्मत्त पात्र होता है। उसकी गति इस प्रकार प्रदर्शित करे ॥ १२४-१२८ ॥

१. ख. गतिश्च नियतक्रमा। ग. गतिस्त्वभिनयक्रमात् ।
२. क-न. रुक्षस्पन्दितकेशश्च । क-प. रुक्षस्फुरितकेशश्च ।
३. क. म. रुदतीह तथा पुनः ।
४. क-न. कदाचिदवतिष्ठति ।
५. क-प. कदाचिदुपतिष्ठति ।
६. ख. शयितः स्यात् कदाचन । ७. ख. तस्य तां ।

स्थित्वा नूपुरपादेन दण्डपादं प्रसारयेत् ।
[1]बद्धां चारीं तथा चैव कृत्वा स्वस्तिकमेव च ॥ १२९ ॥
अनेन चारीयोगेन [2]परिभ्राम्य तु मण्डलम् ।
बाह्यभ्रमरकं चैव रङ्गकोणे[3] प्रसारयेत् ॥ १३० ॥
त्रिकं सुवलितं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ।
विपर्ययगतैर्हस्तैः पद्भ्यां सह गतिर्भवेत् ॥ १३१ ॥
[4]त्रिविधा तु गतिः कार्या खञ्जपङ्गुकवामनैः ।
[5]विकलाङ्गप्रयोगेण कुहकाभिनयं प्रति ॥ १३२ ॥

पद्भ्यां सह विपर्ययगतैरिति पादचेष्टा तथा करकर्मण्यनुवर्तनीयेति ॥ १३१ ॥

कुहकाः अधमा। लिङ्गिन इति केचित् कुहकशब्देन हास्यरस इत्येतत् ॥ १३२ ॥

अनुवाद—उन्मत्त पात्र की गति के अभिनय में नूपुरपाद चारी में स्थित होकर दण्डपाद चारी में पैर को फैला दे, फिर बद्ध चारी को प्रदर्शित कर स्वस्तिक का प्रयोग करे। इसी प्रकार चारियों के संयोग से मण्डलाकार घुमाकर रङ्गमञ्च के किनारे बाह्यभ्रमरक पाद को फैला दे। फिर त्रिक को अच्छी तरह वलित करके 'लता' नामक हस्त को प्रदर्शित करे। फिर पैरों के साथ विपर्ययगत हाथों को सञ्चालित करते हुए गति प्रदर्शित करे ॥ १२९-१३१ ॥

अभिनव—'पैरों के साथ विपर्ययगत हाथों से' का अभिप्राय है कि पाद चेष्टा का हाथों के कर्म में अनुवर्तन करना चाहिए ॥ १३१ ॥

अनुवाद—हास्याभिनय के लिए विकल अङ्गों के द्वारा लूले, लंगड़े एवं बौने पात्रों की गति तीन प्रकार की प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १३२ ॥

अभिनव—'कुहक' का अर्थ है 'अधम'। कुछ लोग 'कुहक' का अर्थ 'लिङ्गी' करते हैं और कुछ लोग कुहक शब्द से हास्यरस का संकेत मानते हैं ॥ १३२ ॥

१. ख. बध्वा। २. ख. परिक्रम्य चतुर्दिशम्।
३. क-द. रङ्गकोणं तु योजयेत्।
४. क-म. हासे त्वथा गतिः कार्या तथा खञ्जन वामने।
क-ड. त्रिविधानुगतिः।
५. क. द्विकलार्धप्रयोगेषु।

एकः खञ्जगतौ नित्यं स्तब्धो वै चरणो भवेत् ।
तथा द्वितीयः कार्यस्तु पादोऽग्रतलसञ्चरः ॥ १३३ ॥
[1]स्तब्धेनोत्थापनं कार्यमङ्गस्य चरणेन तु ।
गमनेन [2]निषण्णः स्यादन्येन चरणेन तु ॥ १३४ ॥
इतरेण [3]निषीदेच्च क्रमेणानेन वै व्रजेत् ।
एषा खञ्जगतिः कार्या [4]तलशल्यक्षतेषु च ॥ १३५ ॥
[5]पादेनाग्रतलस्थेन ह्यञ्चितेन[6]व्रजेत्तथा ।
निषण्णदेहा पङ्गोस्तु नतजङ्घा तथैव च ॥ १३६ ॥

तले पादतले शल्याविक्षतमस्य तस्मिन् गतिमाह—पादेनाग्रतलस्थेनेति [7]नकुंटः ॥ १३६ ॥

अनुवाद—लंगड़े पुरुष की गति में एक पैर निश्चय स्तब्ध होना चाहिए और दूसरा पैर अग्रतलसञ्चर रखना चाहिए। स्तब्ध हुए पैर से शरीर का उत्थापन करना चाहिए और दूसरे पैर से चलकर बैठ जाय या स्थिर हो जाय। इसी क्रम से एक पैर से ठहर जाय और दूसरे पैर से चले। पादतल अर्थात् पैर के तलवे में काँटा चुभने का भाव होने पर खञ्ज गति का अभिनय करना चाहिए ॥ १३३-१३५ ॥

अभिनव—'तल' का अर्थ है 'पादतल'। यदि उसमें कांटा या कील चुभ जाय या घाव हो जाय तो इस प्रकार के खञ्ज की गति को कहते हैं—'**पादेनाग्रतलस्थेनेति**'।

अनुवाद पङ्गु पात्र की अग्रतलसञ्चर पाद से तथा अञ्चित पाद से निषण्ण शरीर तथा जङ्घा को नत (झुकी हुई) गति से अभिनय करना चाहिए ॥१३६॥

---

१. क-न. स्तब्धेनोत्त्थापनं । २. ख. विषण्णः ।
३. क. विषीदेच्च । ४. ख. तालशल्यक्षतेषु च ।
५. क-न. पुनरग्रतले गम्ये । ६. क. गतिः कार्याञ्चितेन तु ।
७. नकुंटस्य लक्षणं यथा—
गुरुणी लघुनी गद्विद्विरस्यस्ते प्रयोजयेत् ।
तद्ध्रुवा नकुंटं प्रोक्तमेतदर्धेन नकुंटी ॥
शकारेण प्रयोक्तव्यं हास्ये विटविदूषकैः ।
नर्कुटं नर्कुटे वृत्तं हिन्दोलस्य तु भाषया ॥
तुम्बुरुणाऽपि—
"वेश्याचेटविटप्रेष्यस्त्रीविधानां नियोजयेत् ।" इति नर्कुटीनर्कुटयोः विनियोग उक्तः ।

सर्वसङ्कुचिताङ्गा च [1]वामने गतिरिष्यते ।
न तस्य विक्रमः कार्यो विक्षेपश्चरणस्य च ॥ १३७ ॥
सोद्वाहिता चूर्णपदा सा कार्या कुहकात्मिका ।
विदूषकस्यापि गतिर्हास्यत्रयसमन्विता[2] ॥ १३८ ॥
अङ्गवाक्यकृतं हास्यं हास्यं नेपथ्यजं स्मृतम् ।

विमर्श—अभिनवगुप्त की अभिनवभारती में 'नर्कुटः' का उल्लेख है । वहाँ किस उद्देश्य से 'नर्कुटः' का उल्लेख किया गया है, यह स्पष्ट नहीं है । सम्भव है कि कुछ और पाठ भी रहा हो जो छूट गया हो । वैसे सम्पादक महोदय ने यहाँ पाद टिप्पणी में 'नर्कुटः' तथा 'नर्कुटी' का लक्षण लिखकर उसका विनियोग भी लिखा है ।

गुरुणी लघुनी गद्विद्विरभ्यस्ते प्रयोजयेत् ।
तद्ध्रुवा नर्कुटं प्रोक्तमेतवर्धेन नर्कुटी ॥
शकारेण प्रयोक्तव्यं हास्यो विटविदूषकैः ।
नर्कुटं नर्कुटे वृत्ते हिम्बोलस्य तु भाषया ॥

तुम्बुरुणाऽपि

वेश्याचेटविटप्रेष्यस्त्रीविधानां नियोजयेत् ।
इति नर्कुटीनर्कुटयोर्विनियोग उक्तः ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रसङ्ग विदूषक, शकार आदि से सम्बद्ध है । क्योंकि इसके बाद विदूषक, शकार आदि के गति का उल्लेख है । यहाँ पर विदूषक, शकार, विट आदि के हास्यरस में नर्कुटक के प्रयोग का विधान बताया गया है । इसका उल्लेख वहीं होना चाहिए । सम्भव है कि लिपिकर्त्ताओं की भूल से यहाँ लिखा गया हो । क्योंकि इसके बाद ही विदूषक की गति की अभिनवभारती प्रारम्भ हो जाती है ।

अनुवाद—अभिनेता समस्त अङ्गों को सङ्कुचित कर वामन (बौने) की गति का अभिनय करे । बौने की गति में विक्रम एवं पैरों का विश्लेषण नहीं दिखाना चाहिए ॥ १३७ ॥

अनुवाद—विदूषक की तीन प्रकार के हास्यों से समन्वित तथा उद्वाहन से युक्त हास्यात्मिका गति का अभिनय चूर्णपदों से करना चाहिए । अङ्गकृत हास्य, (अङ्गों के विकार से उत्पन्न हास्य), वाक्यकृत हास्य (वाणी के विकार से उत्पन्न हास्य) तथा नेपथ्यजनित हास्य (वेश-भूषा से उत्पन्न हास्य) ये तीन प्रकार के हास्य होते हैं ॥ १३८ ॥

---

१. क. वामेन । २. क. हास्यत्रयविभूषिता ।

दन्तुरः खलतिः कुब्जः खञ्जश्च विकृताननः ।
[1]य ईदृशः प्रवेशः स्यादङ्गहास्यं तु तद्भवेत् ॥ १३९ ॥
यदा तु [2]बकवत् गच्छेदुल्लोकितविलोकितैः ।
[3]अत्यायतपदत्वाच्च अङ्गहास्यो भवेत्स तु ॥ १४० ॥
[4]वाक्यं हास्यं तु विज्ञेयमसम्बद्धप्रभाषणात् ।
[5]अनर्थकैर्विकारैश्च तथा चाश्लीलभाषितैः ॥ १४१ ॥

प्रवेश इति यद्यस्मादीदृशः प्रवेश्यमानः पात्रविशेषः रङ्गे भवति ततोऽङ्गहास्यमिति । प्रवेशपदेन नाट्य एव रसो न लोक इति दर्शयति ॥ १३९ ॥

असंबद्धं निरर्थमनुचितं च, तद्व्याचष्टे अनर्थकैरश्लीलैश्चेति, अश्रियमशोभां रातीति रेफस्य लत्वम् ॥ १४१ ॥

अनुवाद—दन्तुर (भद्दे एवं बड़े-बड़े दांतो वाला), खल्वाट (गंजा), कूबड़ा, लँगड़ा तथा विकृत मुख वाला इस प्रकार के पात्रों का जो प्रवेश होता है तो वह 'अङ्गहास्य' कहलाता है ॥ १३९ ॥

अभिनव—'प्रवेशः' का अभिप्राय है कि यदि इस प्रकार का प्रवेश करने वाला पात्र रङ्गमञ्च पर आता है तो 'अङ्गहास्य' होता है। यहाँ 'प्रवेश' पद से नाट्य में ही रस है, लोक में नहीं, यह दिखलाया गया है ॥ १३९ ॥

अनुवाद—जब वह बगुले की तरह ऊपर-नीचे, अगल-बगल देखते हुए चलता है और लम्बे लम्बे डग भरता है तो 'अङ्गहास्य' कहलाता है ॥ १४० ॥

अनुवाद—असम्बद्ध प्रलाप, निरर्थक एवं विकार युक्त तथा अश्लील (भाषण) बातचीत करने पर उत्पन्न हास्य 'वाक्य-हास्य' कहलाता है ॥ १४१ ॥

अभिनव—यहाँ असम्बद्ध' पद का अभिप्राय है निरर्थक एवं अनुचित। असम्बद्ध पद की व्याख्या करते हैं अनर्थक और अश्लील, जो अश्रिय, अशोभा (शोभारहित) को आदान करता है, लाता है वह 'अश्लील' हैं। यहाँ 'र' को 'ल्' हो गया है। (अश्री-अश्ली-अश्लील) ॥ १४१ ॥

---

१. क. यदीदृशा प्रवेशः स्यात् । क-न. यदीदृशो भवेद्विप्राः अङ्गहास्यं तु तत्स्मृतम् ।
२. ख. खगवत् । ३. क-द. आयतत्वाश्च तत्त्वाच्च ? हास्यं नेपथ्यजं तत् ।
४. क. काव्यहास्यं तु विज्ञेयमसम्बद्धप्रभाषणैः ।
५. ख. अनर्थकैर्बहुविधैः ।

चोरचर्ममषोभस्मगैरिकाद्यैस्तु [1]मण्डितः ।
यस्तादृशो भवेद्विप्राः ? हास्यो नेपथ्यजस्तु सः ॥ १४२ ॥
तस्मात्तु प्रकृतिं ज्ञात्वा भावः कार्यस्तु तत्त्वतः ।
गतिप्रचारं विभजेत् नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ १४३ ॥
स्वभावजायां विन्यस्य कुटिलं वामके करे ।
तदा दक्षिणहस्ते च कुर्याच्चतुरकं पुनः ॥ १४४ ॥
पार्श्वमेकं शिरश्चैव हस्तोऽथ चरणस्तथा ।
[2]पर्यायशः सन्नमयेल्लयतालवशानुगः ॥ १४५ ॥

तस्मादिति त्रिप्रकारं हास्यमाश्रित्य क्वचिदेकः प्रकारः, क्वचित् द्वौ, क्वचित्सर्वं इत्यनेन क्रमेण विदूषकः स्वामिनः प्रकृतिं राजामात्यश्रेष्ठिप्रकृतिभावचित्तवृत्ति करणीयं ज्ञात्वा विभागः कार्यः। न च राजनि संनिवृत्तेऽश्लीलभाषणं समुचितम् । एवं सर्वत्रोह्यम् ॥ १४३ ॥

गत्युपयोगिनं वृत्तान्तमस्याभिधाय गतिमाह—स्वभावजायमिति ।

अनुवाद—हे विप्रो ! फटे-पुराने चिथड़े, चमड़ा, स्याही, भस्म, गेरू आदि से मण्डित विकृत वेश-भूषा देखकर उत्पन्न हास्य 'नेपथ्यज हास्य' कहलाता है ॥१४२॥

अनुवाद—इसलिए तत्त्व रूप में प्रकृति, भाव (चित्तवृत्ति) और कार्य (करणोय) को तत्त्व रूप से जानकर नाना प्रकार के विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार गति प्रचार का विभाजन करना चाहिए ॥ १४३ ॥

अभिनव—इस प्रकार तीन प्रकार के हास्य में से कहीं पर एक प्रकार का, कहीं पर दो प्रकार का और कहीं पर सभी प्रकारों का आश्रय लेकर क्रमशः विदूषक अपने स्वामी की प्रकृति अर्थात् राजा, अमात्य, श्रेष्ठी आदि की प्रकृति और चित्तवृत्ति एवं करणीय कार्य को जानकर विभाग करना चाहिए। राजा के चले जाने पर अश्लील (अशोभनोय) भाषण करना उचित नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए ॥ १४३ ॥

अभिनव—गति के उपयोगी वृत्तान्त को कहकर अब उसकी गति को कहते हैं—'**स्वभावजायामित्यादि**' ।

---

१. क-प. गैरिकादिविभूषणैः ।
२. ब. पर्यायतः सन्नमते ।

[1]स्वभावजा तु तस्यैषा गतिरन्या विकारजा ।
[2]अलाभलाभात् भुक्तस्य स्तब्धा तस्य गतिर्भवेत् ॥ १४६ ॥

कार्या चैव हि नीचानां चेटादीनां परिक्रमात् ।
अधमा इति ये ख्याता नानाशीलाश्च ते पुनः ॥ १४७ ॥

अनावेशे सति [3]बकवद्गमनस्योक्तत्वात् । लयो विलम्बितः, तालः प्लुतलघुगुरुप्राय इह स्वीकृतः । [4]अन्या द्रुतलयत्वेन प्लुतकालमानाद्बाहुल्येन [5]शोकादि स्वभावजा गर्वात्मकोऽपि विकारो भवतीत्याशयेनाह—अलाभलाभादिति । अलाभः लाभ-पूर्वकाल्लाभात् । भक्तं वस्त्राद्युपलक्षयति । भयादौ तु परित एवास्य क्रमः ॥ १४४-१४६ ॥

अनुवाद—स्वाभाविक गति की अवस्था में विदूषक बायें हाथ में टेढ़ा डंडा लेकर तथा दाहिने हाथ से 'चतुर' हस्तमुद्रा प्रदर्शित करे । फिर एक पार्श्व, शिर, हस्त और पाद को क्रमशः ताल एवं लय के अनुसार झुका दे । यह स्वाभाविक गति है, इससे भिन्न गति विकारजा गति कहलाती है । इस गति में अलभ्य भोजन या अलभ्य वस्त्रादि वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रदर्शन होता है । यह अस्वाभाविक गति है ॥ १४४-१४६ ॥

अभिनव—आवेश के अभाव में बक के समान गमन (गति) कहा जा चुका है । लय का अभिप्राय विलम्बित लय है । यहाँ ताल से प्लुत, गुरु, लघु सभी स्वीकृत हैं । अन्यत्र द्रुतलय के न होने से तथा प्लुत के कालमान के बाहुल्य से शोकादि के प्रसङ्ग में स्वभावज गति होती है । गतियों में गर्वात्मक विकार होता है, इस आशय से कहते हैं—अलभ्यलाभादिति । 'अलाभ' का अर्थ है लाभ पूर्वक लाभ से भिन्न । 'भुक्तं' पद वस्त्र आदि को उपलक्षित करता है । भय आदि में तो परितः (चारों ओर) यही इसका क्रम होता है ॥ १४४-१४६ ॥

---

१. क-प. स्वभावजाता ।

२. ख. अलभ्यलाभाद् भक्ष्यस्य तथा तस्य गतिर्भवेत् ।

३. क. वक्रत्वं गमनस्य ।

४. क. न्यायतरं च रत्वेन प्लुतकालः ।

५. क. अवशोकादिः । अन्यशोकादिः ।

पार्श्वमेकं शिरश्चैव करः सचरणस्तथा ।
गतौ नमेत चेटानां दृष्टिश्चार्धनिमेषिणी[1] ॥ १४८ ॥
शकारस्यापि कर्त्तव्या गतिश्चञ्चलदेहिका ।
[2]वस्त्राभरणसंस्पर्शैर्मुहुर्मुहुरवेक्षितैः ॥ १४९ ॥
गात्रैर्विकारविक्षिप्तैर्लम्बवस्त्रस्रजा तथा ।
[3]सगर्विता चूर्णपदा शकारस्य गतिर्भवेत् ॥ १५० ॥

शकारस्यापीति शकारबहुला यस्य भाषा स शकारः। शकारोपलक्षित-शकादिजनपदवासीत्वन्ये, यद्वक्ष्यते 'शकाराभीरचण्डाल' (अध्याय १७-६०) इत्यादि। हीनाशय उत्तमपदेऽभिरोपितः शकार इत्यन्ये।

[4]अध्वहारस्य श्लोकः—

प्राकृतेऽपि शकारस्य विभूतिर्न प्रसिद्धये
तद्विभूतिरपभ्रंशे तापस्येव प्रकाशिता[5] ।

अनुवाद—जो अधम इस नाम से प्रसिद्ध है नीच, चेट आदि जो नाना शीलवाले हैं उनकी गति में एक पार्श्व, शिर, हाथ एवं पैर को झुका दे। चेट की दृष्टि अर्ध निमेष वाली होती है ॥ १४७-१४८ ॥

अनुवाद—शकार की गति का अभिनय चञ्चल शरीर से करना चाहिए। अभिनेता वस्त्र एवं अलङ्कारों के स्पर्श से, बार-बार इधर-उधर अवलोकन से विकार से विक्षिप्त अङ्गों से, लम्बे वस्त्रों एवं मालाओं के धारण करने से गति का अभिनय करे। इस प्रकार शकार की गति गर्वयुक्ता एवं चूर्णपदों वाली होती है ॥ १४९-१५० ॥

अभिनव—जो पात्र शकार का अधिक प्रयोग करता है वह शकार कहलाता है। कुछ लोग कहते हैं शकार से उपलक्षित शकादि जनपद का निवासी शकार कहा जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे—'शकार, आभीर, चण्डाल आदि। हीन (तुच्छ) आशय वाला व्यक्ति यदि उत्तम पद पर बैठा दिया जाय तो शकार कहलाता है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं।

---

१. ख. दृष्टिश्चार्धविचारिणी ।
२. क-न. वस्त्राभरणसंस्पर्शं । ३. ख. गर्विता चूर्णपादस्य ।
४. क. अथ हासस्य । ५. क. प्रकाशिका ।

ममापि चात्रार्थे श्लोकः—

लब्धापशब्दघटना विधुतश्च धर्मः
स्वार्थं प्रतीतिकलनां प्रति का कथैव।
[1]मूर्धन्यतां गमयता भवता शकारः
शक्नोति यत्र न विधे! हृदि किं न्यधायि॥

इस विषय में अब्वहार का यह श्लोक है—

"प्राकृत भाषाओं में शकार की विभूति प्रसिद्धि का हेतु (आधार) नहीं होती। वही विभूति अपभ्रंश भाषा में ताप की तरह प्रकाशित होती है। भाव यह कि शकार की भाषा अपभ्रंश होती है। क्योंकि वह अपभ्रष्ट होता है, अतः शकार अपभ्रंश भाषा के ही योग्य है"।

इस विषय में मेरा (अभिनवगुप्त का) भी श्लोक है—

अभिनव—हे विधे! आपने शकार को मूर्धन्य बनाकर अपशब्दों की रचना कर डाली और वर्णों के धर्म को भी विच्युत कर दिया। शकार शब्द से घटित शकारि शब्द के अर्थ को प्रतीति की कथा ही क्या है? ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् शकार को मूर्धन्य बना देने से वह अर्थ नहीं निकल सकता। आपने मन में क्या रख कर ऐसा किया।"

दूसरे पक्ष में—"हे विधे! आपने शकार को मूर्धन्य बनाकर अर्थात् शिर पर चढ़ाकर (ऊँचे पद पर बिठाकर) अपशब्दों को सुनने का अवसर पा लिया। ऐसा करके आपने वर्णों के धर्म को अर्थात् 'योग्य व्यक्ति अधिकारी बनाया जाना चाहिए' इस सिद्धान्त को भी हिला दिया, च्युत कर दिया। इस विषय में कोई कुछ नहीं जान सकता। आपने क्या मन में रखकर ऐसा किया है?"

विमर्श—शकार एक उच्च अधिकारी होता है। यहाँ कोई अभिनय विधाता (ब्रह्मा) को उपालम्भ (उलाहना) देते हुए कहता है कि हे विधे! आपने शकार को ऊँचे पद बिठाकर (शिर पर चढ़ाकर) अपशब्दों (गालियों) के सुनने के अवसर प्राप्त कर लिया। आपने 'योग्य व्यक्ति को उच्च पद पर बिठाना चाहिए' इस नियम को खण्डित कर दिया, च्युत कर दिया। इस विषय में कोई कुछ नहीं कर सकता। आपने न जाने क्या मन में रखकर ऐसा किया है।

१. क. मूर्धन्यतोऽङ्गमनता।

तथा—

सकलजनतालभ्यः सोऽयं शकार इति स्फुटं
विरचयति यन्मूर्धन्यत्वं विभुर्हतलक्षणा।
हततनुरियं लोके जातापशब्दपरम्परा
परिचयमयी वार्ता कीर्त्ति निकृत्य निकर्तनी ॥ इति

दूसरे पक्ष में—हे विधाता ! आपने तालव्य शकार को मूर्द्धन्य षकार बनाकर अपशब्दों की रचना कर डाली। आपने वर्णों के स्वभाव को जड़ से हिला दिया अर्थात् व्याकरण शास्त्र के नियमों का उल्लंघन कर दुष्ट शब्दों की रचना कर दी है। आपने शकार के निष्पन्न शकारि (विक्रमादित्य) को यदि मूर्द्धन्य षकार के निष्पन्न षकारि बना दें तो इससे उक्त अर्थ की प्रतीति कथमपि नहीं हो सकती। इसी प्रकार आप यदि शकार को षकार कहें तो उक्त अर्थ की प्रतीति कथमपि नहीं होगी। आपने न जाने मन में क्या रखकर ऐसा किया है, यह कोई नहीं जान सकता। भाव यह कि आपको इस प्रकार निष्कृष्ट, अयोग्य को ऊँचे पद पर नहीं बिठाना चाहिए।

अभिनव—और भी साधारण लोगों के द्वारा लभ्य अर्थात् सामान्य लोगों से जिसका सम्पर्क था, उच्च वर्ग के लोगों से सम्पर्क नहीं था, वही यह शकार है, यह स्पष्ट है। लक्षणों के ज्ञान से रहित जिस विधाता ने जिस तालव्य शकार को मूर्धन्य षकार बनाता है उसने लोक में शरीर रहित अपशब्द परम्परा को जन्म दिया और परिचयमयी वार्ता का निराकरण कर कीर्त्ति को कर्त्तित करने वाली अपशब्द परम्परा को जन्म देकर निन्दा के पात्र बन गये।

दूसरे पक्ष में—साधारण जनता जिसका उच्चारण नहीं कर सकती, यह वही शकार हैं, यह स्पष्ट है। और विभु भी हतलक्षण है अर्थात् वह भी 'इचुयशानां तालु' तथा 'ऋटुरषाणां मूर्धा' इस नियम से अनभिज्ञ है जो तालु शकार को मूर्धन्य षकार बनाता है। इससे उसके विद्वान् होने की प्रसिद्धि नष्ट हो गई और परिचयमयी वार्ता विद्वान् होने की प्रसिद्धि का निराकरण करके कीर्त्ति का कर्त्तन करने वाली अपशब्द की परम्परा अर्थात् निन्दा सर्वत्र फैल गई कि वह अर्थात् वह विभु (विधाता) कुछ नहीं जानता, नहीं तो शकार को मूर्द्धन्य नहीं बनाता।

विशेष—भाव यह कि व्याकरणशास्त्र के नियमों के अनुसार जिस प्रकार तालव्य शकार को मूर्धन्य षकार नहीं बनाया जा सकता। उसी प्रकार शकार नामक पात्र को मूर्धन्य (श्रेष्ठ) नहीं बनाया जा सकता। यदि कोई उसे मूर्धन्य पद पर बिठाता है तो वह निन्दा का पात्र होता है।

जात्या नीचेषु योक्तव्या विलोकनपरा गतिः ।
[1]असंस्पर्शाच्च लोकस्य स्वाङ्गानि विनिगूह्य च ॥ १५१ ॥
म्लेच्छानां जातयो यास्तु पुलिन्दशबरादयः[2] ।
तेषां [3]देशानुसारेण कार्यं गतिविचेष्टितम्[4] ॥ १५२ ॥
पक्षिणां श्वापदानां च पशूनां च द्विजोत्तमाः ? ।
स्वस्वजातिसमुत्थेन स्वभावेन गतिर्भवेत्[5] ॥ १५३ ॥

प्रतिज्ञाचाणक्ये तन्महाकविना भीमेन राजापि विन्ध्यकेतुः शकार इति भूयसा व्यवहृतः । वस्त्राभरणसंस्पर्शालोकनगर्वयोगोऽत्र पक्षे क्लिष्टतरः । न चार्यदेशजातिः शकार कश्चित्प्रसिद्धः । म्लेछजातयः पृथगेव निर्वक्ष्यन्ते "म्लेछानां जातयो यास्तु" इत्याबिना, तस्मादिहायमीदृश एव शकार इति युक्तम् ॥ १४८ ॥

अभिनव—प्रतिज्ञा-चाणक्य में उसके रचयिता महाकवि भीम ने महाराज बिन्दुकेतु को बहुत बार शकार कहा है । शकार को अपने वस्त्र एवं आभरणों के स्पर्श एवं अवलीकन में बड़ा गर्व होता है, इस पक्ष में क्लिष्टतर है । आर्यों के देश अर्थात् आर्य जाति का शकार कहीं प्रसिद्ध नहीं है । म्लेच्छ जातियों का 'म्लेच्छानां जातयो यास्तु' इत्यादि के द्वारा अलग से आगे वर्णन किया जायगा । इसलिए यहाँ शकार है' यही उचित प्रतीत होता है ।

अनुवाद—नीच जाति के पात्रों की गति का अभिनय इधर उधर देखते हुए लोक का स्पर्श न करते हुए अपने अङ्गों का विनिगूहन (संकोचन) कर करना चाहिए ॥ १५१ ॥

म्लेच्छ गति

अनुवाद—पुलिन्द, शबर आदि जो म्लेच्छों की जातिया हैं उनकी गति एवं चेष्टाएँ देश-काल के अनुसार करनी चाहिए ॥ १५२ ॥

पशु-पक्ष्यादि गति

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! पक्षियों, हिंसक जन्तुओं एवं पशुओं (चतुष्पदों) की गति अपनी अपनी जाति के स्वभाव के अनुसार प्रदर्शित करनी चाहिए ॥१५३॥

---

१. ख. अत्यस्पर्शाच्च ।
२. क-द. पुलिन्दाद्या द्विजोत्तमाः ।
३. ख. गतिविचारेण ।
४. गतिविचेष्टितैः ।
५. क. प्रतियोजयेत् ।

सिंहर्क्षवानराणां च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ।
या कृता नरसिंहेन विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १५४ ॥
[1]आलीढस्थानकं कृत्वा गात्रं तस्यैव चानुगम् ।
जानूपरि करं [2]ह्येकमपरं वक्षसि[3] स्थितम् ॥ १५५ ॥
[4]अवलोक्य दिशः [5]कृत्वा चिबुकं बाहुमस्तके ।
गन्तव्यं विक्रमैर्विप्राः ? पञ्चतालान्तरोत्थितैः ॥ १५६ ॥

प्रभविष्णुनेति वचनादिदं सूचयत्यसाववतरणप्राधान्येन, ये ऋक्षवानरावयो जाम्बवत्सुग्रीवाङ्गदहनुमत्प्रायाः तेषामेवेयं गतिः । अन्येषां तु स्वजात्यानुरूप्येणैव । तस्यैवेत्यालीढस्यानुगतं गात्रं वामभागगमनमित्यर्थः ॥ १५४ ॥

अनुवाद—सिंह, रीछ, वानर की गति का अभिनय नाट्य-प्रयोक्ताओं को इस प्रकार करना चाहिए । जिसे विष्णु ने नृसिंह अवतार धारण करके की थी । हे विप्रो ! पहिले आलीढ़ स्थानक को करके शरीर को उसी के अनुसार करे । फिर एक हाथ को जानु के ऊपर और दूसरे हाथ को वक्षःस्थल पर रखे, फिर सारी दिशाओं की ओर देखकर और चिबुक (ठुड्डी) को बाहु के अग्रभाग (स्कन्ध) पर रखकर पांच ताल के अन्तर पर उठाये गये पाद-विन्यासों से गमन करे ॥ १५४-१५६ ॥

अभिनव—'प्रभविष्णना' पद से यह सूचित किया गया है कि नृसिंह अवतार को प्रधानता से यह गति करनी चाहिए । जो रीछ, वानर आदि जाम्बवान्, सुग्रीव, अङ्गद और हनुमान् आदि हैं, उनकी भी यही गति होनी चाहिए । अन्य पशुओं को अपनी जाति के अनुसार गति होनी चाहिए । 'तस्यैव' पद से आलोढ़ स्थान के अनुगत शरीर के अवयवों का वाम भाग से गमन किया जाना अर्थ अभिप्रेत है ।

---

१. क. आलीढं स्थानकं ।
२. ख. चैकम् । ग. त्वेकम् ।
३. क-न. चोपरि । क-द. चैव स्वस्थितम् ।
४. क-द. विलोलितं शिरः कृत्वा । क-न. विलोकितं शिरः कृत्वा ।
५. क. ग. सर्वाः ।

नियुद्धसमये चैव रङ्गावतरणे तथा ।
सिंहादीनां प्रयोक्तव्या गतिरेषा प्रयोक्तृभिः ॥ १५७ ॥
शेषाणामर्थयोगेन गतिं स्थाने च [1]योजयेत् ।
वाहनार्थप्रयोगेषु रङ्गावतरणेषु च ॥ १५८ ॥
एवमेताः प्रयोक्तव्या नराणां गतयो बुधैः ।
[2]नोक्ता या या मया ह्यत्र ग्राह्यास्तास्ताश्च[3] लोकतः ॥ १५९ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणां गतिविचेष्टितम् ।
स्त्रीणां स्थानानि कार्याणि गतिष्वाभाषणेषु च[4] ॥ १६० ॥
आयतं चावहित्थं च अश्वक्रान्तमथापि च ।
स्थानान्येतानि नारीणामथ लक्षणमुच्यते ॥ १६१ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को इस गति का प्रयोग रङ्गमञ्च पर नियुद्ध के समय तथा सिंहादि के गति का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए ॥ १५७ ॥

अनुवाद—शेष प्राणियों की गति एवं स्थानों की योजना प्रयोजन के अनुसार रङ्गमञ्च पर अवतरिन होने तथा वाहनों के अर्थों के प्रयोग में प्रयोजन के अनुसार प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १५८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों की मनुष्यों की गति का अभिनय करना चाहिए। जिन प्राणियों की गति यहाँ मैंने नहीं बताई है उनकी गति लोकव्यवहार के अनुसार प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १५९ ॥

अनुवाद—अब इसके बाद स्त्रियों की गति एवं चेष्टाओं का वर्णन करूँगा। स्त्रियों की गतियों एवं आभाषणों के क्रम में आयत, अवहित्थ और अश्वक्रान्त तीन प्रकार के स्थानों का प्रयोग करना चाहिए। ये नारियों के स्थान हैं अब मैं उनके लक्षणों को कहता हूँ ॥ १६०-१६१ ॥

विशेषः—यहाँ पर 'आभाषणेषु' के स्थान पर 'आभरणेषु' पाठ भी मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होगा—स्त्रियों की गति और आभूषणों में आयत, अवहित्थ और अश्वक्रान्त स्थानों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६०-१६१ ॥

---

१. क. गतिं स्थानञ्च योजयेत् ।
२. ख. नोक्ताश्च या मया ह्यत्र ग्राह्यास्ता अपि लोकतः ।
३. ग. ताश्चापि ।　　　४. क. गतिष्वाभारेणेषु च ।

वामः स्वभावतो यत्र पादो विरचितः समः ।
तालमात्रान्तरे न्यस्तस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥ १६२ ॥
प्रसन्नमाननमुरः समं यत्र समुन्नतम् ।
लतानितम्बगौ हस्तौ स्थानं ज्ञेयं तदायतम्[1] ॥ १६३ ॥

दक्षिणस्तु समः पादः त्र्यस्त्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
वामः समुन्नतटकटिश्चायते स्थानके भवेत् ॥ १६४ ॥
आवाहने विसर्गे च तथा निर्वर्णनेषु च ।
चिन्तायां चावहित्थे च स्थानमेतत्प्रयोजयेत् ॥ १६५ ॥

रङ्गावतरणारम्भः पुष्पाञ्जलिविसर्जनम् ।
मन्मथेर्ष्योद्भवं कोपं तर्जन्यङ्गुलिमोटनम् ॥ १६६ ॥
निषेधगर्वगाम्भीर्यमौनं मानावलम्बनम् ।
[2]स्थानेऽस्मिन् संविधातव्यं दिगन्तरनिरूपणम् ॥ १६७ ॥

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ पैर स्वभावतः सम हो और तालमात्र के अन्तर पर न्यस्त हो तथा दूसरा पैर त्र्यस्त्र होकर पक्ष में स्थित हो। मुख प्रसन्न, उर सम और समुन्नत हो तथा लताहस्त नितम्ब पर स्थित हो तो वहाँ आयत नामक स्थान समझना चाहिए ॥ १६२-१६३ ॥

अन्य मतानुसार आयत का लक्षण—

अनुवाद—जहाँ पर दाहिना पैर सम हो और दूसरा अर्थात् बायाँ पैर त्र्यस्त्र होकर पक्ष में स्थित हो तथा कटि समुन्नत हो, वहाँ पर 'आयत' स्थान होता है।

अनुवाद—आवाहन में, विसर्जन में, चिन्ता निर्वर्णन और अवहित्थ में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६५ ॥

अनुवाद—इस स्थान के द्वारा रङ्गावतरण के प्रारम्भ में पुष्पाञ्जलि का विसर्जन, काम और ईर्ष्या से उत्पन्न क्रोध, तर्जनी अङ्गुली का मोटन (मोड़ना), निषेध, गर्व, गाम्भीर्य, मौन, मान का अवलम्बन और दिगन्तर का निरूपण आदि भावों का अभिनय करना चाहिए ॥ १६६-१६७ ॥

---

१. क. आयतं स्त्रीणामेव स्थानकमिति केचित् ।
२. समस्थितो वामपादस्त्र्यस्रस्तालान्तरोऽपरः ।

समो यत्र स्थितो वामस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
समुन्नतकटिर्वामस्त्ववहित्थन्तु तद्भवेत् ॥ १६८ ॥

[1]पुरो विचलितस्त्र्यश्रस्तदन्योपसृतः समः ।
पादस्तालान्तरन्यस्तस्त्रिकमीषत्समुन्नतम् ॥ १६९ ॥

पाणिर्लताख्यो यत्रैकस्तदन्यस्तु नितम्बगः ।
अवहित्थं समाख्यातं स्थानमागमभूषणैः ॥ १७० ॥

स्त्रीणामेतत् स्मृतं स्थानं संलापे तु स्वभावजे ।
निश्चये परितोषे च वितर्के चिन्तने तथा ॥ १७१ ॥

[2]विलासलीलाविब्बोकशृंगारात्मनिरूपणे ।
स्थानमेतत्प्रयोक्तव्यं भर्तृमार्गावलोकने[3] ॥ १७२ ॥

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ पैर सम स्थित हो और दूसरा अर्थात् दाहिना पैर त्र्यस्र (तिरछा) होकर पक्ष (बगल, पार्श्व) में स्थित हो और कटि अर्थात् वाम (बायीं) कटि समुन्नत हो तो 'अवहित्थ' स्थान होता है ॥ १६८ ॥

अवहित्थ स्थान का दूसरा लक्षण इस प्रकार है—

अनुवाद—जहाँ पर आगे त्र्यस्र पाद विचलित हो और दूसरा पाद अपसृत होकर सम हो, एक पाद तालान्तर पर न्यस्त हो तथा त्रिक थोड़ा समुन्नत हो और एक हाथ लताहस्तमुद्रा में हो और दूसरा हाथ नितम्ब पर हो तो आगम को भूषित करने वाले नाट्यशास्त्रवेत्ता विद्वान् उसे 'अवहित्थ' स्थान कहते हैं ॥ १६९-१७० ॥

अनुवाद—इस स्थान का विनियोग स्त्रियों के स्वाभाविक संभाषण में, निश्चय, परितोष, वितर्क और लज्जा में, विलास-लीला, बिब्बोक शृङ्गारादि के निरूपण में तथा पति (भर्ता) के मार्ग अवलोकन में (पति की बाट जोहने में) करना चाहिए ॥ १७१-१७२ ॥

---

१. ख.ग. पुरोऽपि च लितस्त्र्यस्रः । पुराविरचितस्तिस्रः ।
२. ख. विवाहलीलालावण्ये शृंगारादिनिरूपणे ।
३. ख. तथा भार्गवलोकने । क. भर्तृमार्गालोकने ।

पादः [1]समस्थितश्चैक एकश्चाग्रतलाञ्चितः ।
सूचीविद्धमविद्धं वा तदश्वक्रान्तमुच्यते ॥ १७३ ॥

स्खलितं घूर्णितं चैव गलिताम्बरधारणम् ।
कुसुमस्तबकादानं परिरक्षणमेव च ॥ १७४ ॥
वित्रासनं सललितं तरुशाखावलम्बनम् ।
स्थानेऽस्मिन् संविधानीयं स्त्रीणामेतत्प्रयोक्तृभिः ॥ १७५ ॥

शाखावलम्बने कार्यं स्तबकग्रहणे तथा ।
[2]विश्रामेष्वथ देवानां नराणाञ्चार्थयोगतः ॥ १७६ ॥

स्खलितमिति पदम् । तथा विशेषेण च्युत इत्यर्थः ॥ १७३ ॥

अनुवाद—जहाँ पर एक पाद समस्थित हो और दूसरा पाद अग्रतल पर अञ्चित हो और जहाँ पर सूचीविद्ध अथवा आविद्ध मण्डल हो वह 'अश्वक्रान्त' कहा जाता है ॥ १७३ ॥

अनुवाद—स्त्रियों के स्खलन, घूर्णन, गलित (गले हुए, फटे हुए) वस्त्रों के धारण, पुष्पस्तबक के ग्रहण, परिरक्षण, वित्रासन, लालित्य के साथ तरु (वृक्ष) की शाखा के आलम्बन में नाट्यप्रयोक्ता को इस स्थान का विधान करना चाहिए ॥ १७४-१७५ ॥

अभिनव—'स्खलित' का अर्थ पैर का लड़खड़ाना है और विशेष रूप से च्युत होना (फिसलना) है ॥ १७४ ॥

विशेष—नाट्य-प्रयोक्ताओं को स्त्रियों के फिसलने अथवा लड़खड़ाने, घूर्णन (घूमने), फटे-पुराने कपड़े पहनने, फूल के गुच्छे तोड़ने, पेड़ को डालो के अवलम्बन आदि के अभिनय में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए।

अनुवाद—मनुष्यों के प्रयोजन के अनुसार वृक्ष की शाखा के आलम्बन में, फूल के गुच्छों के ग्रहण में और देवताओं के विश्राम में इस स्थान का प्रयोग किया जाता है ॥ १७६ ॥

१. ख.ग. पादः सुस्थितश्चैकः । क-द. समस्थितस्त्वेकः ।
२. क. विश्रामेष्वथ नोचानां नराणां चार्थयोगतः ।
ख-ग. विश्रामेष्वथ देवानां वाराणाञ्चात्रयोगतः ।

स्थानकं तावदेव स्याद्यावच्चेष्टा प्रवर्त्तते ।
[1]भग्नं च स्थानकं नृत्ते चारी चेत्समुपस्थिता ॥ १७७ ॥

एवं स्थानविधिः कार्यः स्त्रीणां नृणामथापि च ।
[2]पुनश्चासां प्रवक्ष्यामि गतिं प्रकृतिसंस्थिताम् ॥ १७८ ॥

कृत्वाऽवहित्थं स्थानन्तु वामञ्चाधोमुखं करम्[3] ।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यञ्च [4]खटकामुखम् ॥ १७९ ॥

ततः सललितं पादं तालमात्रसमुत्थितम्[5] ।
दक्षिणं वामपादस्य बाह्यपार्श्वे विनिक्षिपेत् ॥ १८० ॥

तेनैव समकालञ्च [6]लताख्यं वामकं [7]भुजम् ।
दक्षिणं विनमेत्पार्श्वे न्यसेन्नाभितटे ततः ॥ १८१ ॥

प्रकृतिसंस्थितामित्यविशेषोक्ता । प्राधान्यात्प्राथम्यात् [8]तदस्ति गतिरित्युच्यते । [9]कृत्वावहित्थमित्यादि । वामश्चेति ॥ १७८ ॥

अनुवाद—इन स्थानों का प्रयोग तभी तक किया जाता है जब तक चेष्टा की जाती है । नृत में चारी का प्रयोग यदि उपस्थित हो तो स्थान-भग्न हो जाता है, समाप्त हो जाता हैं ॥ १७७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार स्त्रियों और पुरुषों के स्थान का विधान करना चाहिए । अब मैं स्त्रियों की प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार गतियों का कथन करूँगा ॥ १७८ ॥

अभिनव— प्रकृतिस्थिताम्' यह सामान्य रूप से कहा गया है । प्राधान्यतः यदि कोई गति है तो उसे भी कहना चाहिए । यही बात 'कृत्वावहित्थं' (अवहित्थ को करके) इत्यादि के द्वारा कहा गया है ॥ १७८ ॥

---

१. ख-ग. भग्नावस्थानकं नृत्ये चारी च समुपस्थिता । श्लोकार्धोऽयं ख पुस्तके नास्ति ।
२. ख-ग. पुनश्च सम्प्रवक्ष्यामि ।
३. क. भुजम् ।
४. ख. कटकामुखम् ।
५. क-द. तालमात्रं समुत्क्षिपेद् ।
६. क-द. तालाख्यं ।
७. क-द. वामपादकम् ।
८. तमस्ति ।
९. क. कुलावहित्थामिति । ख. तूलावहित्थमित्यादि ।

नितम्बे दक्षिणं कृत्वा हस्तश्चोद्वेष्टच वामकम् ।
ततो वामपदं दद्याल्लताहस्तं च दक्षिणम् ॥ १८२ ॥
लीलयोद्वाहितेनाथ शिरसाऽनुगतेन च[1] ।
[2]किञ्चिन्नतेन गात्रेण गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १८३ ॥
यो विधिः पुरुषाणां तु रङ्गपीठपरिक्रमे ।
स एव प्रमदानां वै कर्त्तव्यो नाटचयोक्तृभिः ॥ १८४ ॥

---

[3]लताख्यं बाह्यपार्श्वे कनिष्ठाङ्गुलिदेशे ॥ १८० ॥

यो विधिरिति वामवेधं सः कुर्यादिति । अतिदेशेन चेदं दर्शयति यावती काचिद्रसप्रकृतिदेशकालापेक्षा नृणां गतिरुक्ता सा सर्वैवोक्ता विलासरूपप्रकारानुविद्धा[4] स्त्रीणामपि विवक्षिता ॥ १८४ ॥

अनुवाद—पहिले 'अवहित्थ' स्थान करके बायें हाथ को अधोमुख करे, फिर दाहिने हाथ को खटकामुख मुद्रा में नाभिप्रदेश पर रखे, फिर ललित मुद्रा में पैर को ताल मात्र प्रमाण ऊपर उठाये और दाहिने पैर को बायें पैर के वाम पार्श्व में निक्षिप्त करे (रखे), उसी समय 'लता' मुद्रा में बायीं भुजा को नाभितट पर रखे और दाहिने पार्श्व को झुका दे, फिर दाहिने हाथ को नितम्ब पर रखकर और बायें हाथ को उद्वेष्टित करे, फिर बायें पैर और दाहिने हाथ को 'लता' मुद्रा में रखे। फिर लीला से उद्वाहित शिर से अनुगत और थोड़ा झुके हुए शरीर से पांच कदम (पग) चले ॥ १७९-१८३ ॥

अभिनव—'लता' नामक वाम भुजा को बायें पार्श्व में कनिष्ठिका अंगुली के क्षेत्र में रखे ॥ १८० ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ पर चलने में जो विधि पुरुषों के लिए है वही विधि नाटच-प्रयोक्ताओं को स्त्रियों के लिए भी करनी चाहिए ॥ १८४ ॥

अभिनव—'यो विधिः' का अभिप्राय है उसके बाद वामवेध करना चाहिए। अतिदेश विधान से यह दिखाते हैं—जितनी भी कोई रस प्रकृति देश-काल की अपेक्षा से मनुष्यों की गति कही गई है वह सब विलास रूप प्रकार से अनुविद्ध गति स्त्रियों के लिए भी विकसित है ॥ १८४ ॥

---

१. ख-ग. शिरसोऽनुगतेन च ।

२. ख.ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति । क-द. किञ्चिन्नमेत ।

३. क-ख. लतास्यं ।   ४. क-ख. विलासरूपानुविद्धा ।

[1]षट्कलं तु न कर्तव्यं तथाष्टकलमेव च।
पादस्य पतनं तज्ज्ञैः खेदनं तद्धवेत्स्त्रियाः[2] ॥ १८५ ॥
सयौवनानां नारीणामेवं कार्या गतिर्बुधैः।
[3]स्थवीयसीनामेतासां सम्प्रवक्ष्याम्यहं गतिम् ॥ १८६ ॥

[4]दिक्कालपरिमाणत्वं यत्र शोभोदात्तं तत्र विशेषमाह। एतत्प्रागेव व्याख्यातं चतुष्कलादभ्यधिको न स्त्रीणां मानविधिरिति। अष्टकलग्रहणं तदप्यधिकं मानं पुरुषेष्वपि नास्तीति सूचयति। अन्यथा षट्कले निषिद्धे [5]काष्टकलस्य संगतिस्तन्निषेधेन ॥ १८५ ॥

स्थानीया मध्यमवयसः, अत एव मध्यमप्रकृतित्वमनूद्यम् ॥ १८६ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को स्त्रियों को स्थान षट्कल एवं अष्टकल अर्थात् छः कला और आठ कला प्रमाण का पाद का पतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह स्त्रियों के लिए खेदावह होता है ॥ १८५ ॥

विमर्श—उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि स्त्रियों को षट्काल एवं अष्टकल पाद-पतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा प्रदर्शन स्त्रियों के लिए खेद जनक (थका देने वाला) होता है ॥ १८५ ॥

अभिनव—दिक् और काल अर्थात् देश-काल के परिमाण से जहाँ शोभा एवं उदात्तता बढ़ती है वहाँ विशेष को कहते हैं। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि स्त्रियों का पादपात चार कला से अधिक परिमाण का नहीं होना चाहिए। 'अष्टकल' पद का ग्रहण यह सूचित करता है कि उससे अधिक परिमाण पुरुषों के लिए भी नहीं है, क्योंकि जब षट् कलाओं के परिमाण का निषेध किया गया है तो अष्टकल परिमाण के निषेध की क्या संगति है ॥ १८५ ॥

अनुवाद—विद्वानों को युवती नारियों की गति इस प्रकार करनी चाहिए। इसके बाद अब मैं स्थवीयसी (प्रौढ़ा) स्त्रियों की गति को अच्छी तरह वर्णन करूँगा ॥ १८६ ॥

अभिनव—यहाँ 'स्थवीयसी' पद से मध्य अवस्था वाली स्त्रियों की ओर सङ्केत है। इसलिए प्रकृत में मध्यम प्रकृति को लक्ष्य करके यह विधि बतलायी गई है ॥ १८६ ॥

१. क-द. षट्कलं तत्तु कर्त्तव्यं। क-न. षट्कलं न प्रयोक्तम्। २. ख. स्त्रियः।
३. क. स्थानीया याः स्त्रियस्तासां। ४. क-ख. दिक्कालपरिमाणत्वं।
५. क. काष्ठकला स एकाधिकः। ख. काष्ठकलासंकेतिकं तन्निषेधेन।

[1] कृत्वाऽवहित्त्थं स्थानन्तु वामं न्यस्य कटीतटे ।
आद्यश्चारालमुत्तानं[2] कुर्यान्नाभिस्तनान्तरे ॥ १८७ ॥
न निषण्णं न च स्तब्धं न चापि परिवाहितम् ।
कृत्वा गात्रं ततो गच्छेत्तेनैवेह क्रमेण तु ॥ १८८ ॥
प्रेष्याणामपि[3] कर्तव्या गतिरुद्भ्रान्तगामिनी ।
[4]क्वचिदुन्नमितैर्गात्रैराविद्धभुजविक्रमा[5] ॥ १८९ ॥
स्थानं कृत्वाऽवहित्थञ्च वामञ्चाधोमुखं भुजम् ।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यञ्च खटकामुखम्[6] ॥ १९० ॥

आद्यं दक्षिणम् । परिवाहितमिति ॥ १८७ ॥
सविभागमधमानां गतिमाह—प्रेष्याणामित्यादि ।

प्रौढ़ा-गति

अनुवाद—अवहित्त्थ स्थान को करके और बायें हाथ को कटि पर रखकर दाहिने हाथ को 'अराल' मुद्रा से नाभि और स्तनों के मध्य में उत्तान करे। फिर शरीर को न निषण्ण करे, न स्तब्ध (स्थिर) करे और न परिवाहित करे, फिर उसी क्रम से गमन करे ॥ १८७-१८८ ॥

अभिनव—यहाँ 'आद्य' पद का अर्थ है दक्षिण पाद। 'परिवाहितमपि' का अभिप्राय है कि परिवाहित भी न करे ॥ १८७-१८८ ॥

अब इसके बाद अधमों की गति को कहते हैं—

प्रेष्या-गति

अनुवाद—प्रेष्या (दासियों) की गति उद्भ्रान्तगामिनी होनी चाहिए। कहीं ऊपर उठे हुए (उन्नमित) गात्रों से आविद्ध मुद्रा में भुजाओं की सञ्चालन करे। अवहित्त्थ स्थान को करके और वाम भुजा को अधोमुख करके नाभिप्रदेश पर रखकर दाहिने हाथ को 'खटकामुख' मुद्रा में रखे ॥ १८९-१९० ॥

१. ख-ग. कृत्वापविद्धं स्थानं तु ।
२. ख-ग. आद्यञ्चारालमुक्तानां । ३. ग. (टि०) वृक्षाणामपि ।
४. क.ग. किञ्चिदुन्नमितैः । ५. ख.ग. आविद्धगतिविक्रमा ।
६. ख. कटकामुखम् ।

अर्धनारीगतिः कार्या स्त्रीपुंसाभ्यां विमिश्रिता ।
उदात्तललितैर्गात्रै [1]पादैर्लीलासमन्वितैः ॥ १९१ ॥
या [2]पूर्वमेवाभिहिता ह्युत्तमानां गतिर्मया ।
स्त्रीणां कापुरुषाणाञ्च ततोऽर्धार्धन्तु[3] योजयेत् ॥ १९२ ॥
मध्यमोत्तमनीचानां नृणां[4] यद् गतिचेष्टितम् ।
स्त्रीणां तदेव[5] कर्तव्यं ललितैः पदविक्रमैः ॥ १९३ ॥

उद्भ्रान्तगामिनीति समदविकारा आविद्धो वर्तनाबहुलो बाहुजानां[6] विक्रमस्य ॥ १८९ ॥

नार्या अर्धमिति नपुंसकलक्षणा तृतीया प्रकृतिरुच्यते, [7] समप्रविभागविवक्षया चार्धं नपुंसकमिति समासः [8] उदात्तत्वं पुरुषाणां, लालित्यं योषितां गतौ ॥ १९२ ॥

अभिनव—'उद्भ्रान्तगामिनी' का अभिप्राय है मद विकार के साथ । 'आविद्ध-भुजविक्रमा' का अर्थ है आविद्ध अर्थात् भुजाओं का विक्रम वर्तनाबहुल होता है ॥ १८९ ॥

नपुंसक गति

अनुवाद—नपुंसक पात्रों की गति (अर्धनारीगति) में उदात्त एवं ललित गात्रों से तथा लीला से युक्त पैरों से स्त्री और पुरुषों को मिश्रित गति का अभिनय करना चाहिए ॥ १९१ ॥

अभिनव—**अर्धनारी**—'नार्या अर्धम्' (नारी का आधा भाग) । इससे यहाँ नपुंसक लक्षणा (नपुंसक संज्ञक) तृतीया प्रकृति कहा जाता है । यहाँ 'नार्या अर्धम्' इस विग्रह में समान विभाग की विवक्षा होने से **'अर्धं नपुंसकम्'** सूत्र से समास हुआ है । पुरुषों की गति में उदात्तता और स्त्रियों की गति में लालित्य (सौन्दर्य) होता है ॥ १९१ ॥

अनुवाद—मैंने पहिले जो उत्तम पुरुषों की गति बतलायी है उसकी आधी स्त्रियों की और उससे भी आधी का पुरुषों की गति की योजना करे ॥ १९१ ॥

अनुवाद—मध्यम, उत्तम और अधम पुरुषों को जो गति एवं चेष्टाएँ हैं। वही ललित पद विक्रमों के द्वारा स्त्रियों के लिए भी करनी चाहिए ॥ १९२ ॥

१. ग. पदैः । २. क-द. पूर्वमेवविहिता ।
३. ख. ततोऽर्धार्धञ्च योजयेत् । क-द. तदर्धेन तु योजयेत् ।
४. ग. नृपं प्रति विचेष्टितम् । ५. ग. तदर्धा कर्त्तव्या । ६. क. (टि०) विक्रमः स्यात् ।
७. क. (टि०) संप्रति विभागविवक्षया । ८. क. उदारत्वं ।

बालानामपि कर्त्तव्या स्वच्छन्दपदविक्रमा[1] ।
न [2]तस्याः सौष्ठवं कार्यं न [3]प्रमाणं प्रयोक्तृभिः ॥ १९४ ॥

गतिरिति चतुस्ताला चतुष्कला च, अनुत्तमस्त्रीणां द्वितालां द्विकलेति ततऽप्यर्धा कापुरुषाणां, तत्कर्मकराणामेकताला[4] एककला चेति । किमुत्तमानामेवेयं स्थाने दर्शयति मध्यमोत्तमानां [5]नृणामपुंसा यद्गतिचेष्टितं तदेव उदात्तमध्यमोत्तमनीचानां स्त्रीणां तथा तत्कर्मकराणां कुर्यादित्युत्तमग्रहणम् ॥ १९२-१९३ ॥

सर्वग्राहकं दर्शयितुं यत्रोत्तमादिविभागो नोद्भिन्नः तत्र गतिमाह—बालानामपीति ॥ १९४ ॥

अभिनव—'गतिः' से तात्पर्य है कि गति का परिमाण चार ताल और चार कलाओं का है । अनुत्तम स्त्रियों की गति का परिमाण द्विताल (दो ताल का) और द्विकल (दो कला) होता है । उससे भी आधा अर्थात् एक ताल और एक कला परिमाण की पुरुषों की और कर्मकर भृत्यों की गति होती है । क्या उत्तम पुरुषों को यही गति है, उसे दिखाते हैं—मध्यम और उत्तम पुरुषों एवं नपुंसकों की जो गति एवं चेष्टाएँ हैं वही गति-चेष्टाएँ उदात्त, मध्यम, उत्तम एवं नीच स्त्रियों की तथा उनके कर्मकरों भृत्यों को भी होनी चाहिए, इसी बात को संकेतित करने के लिए 'उत्तम' पद का ग्रहण है ॥ १९१-१९३ ॥

अभिनव—सर्वग्राहकत्व को दिखलाने के लिए जहाँ पर उत्तमादि का विभाग उद्भिन्न अर्थात् स्पष्ट नहीं है उस विषय में गति को कहते हैं—'बालानामित्यादि' ।

बाल-गति

अनुवाद—बालकों अथवा बालाओं को गति स्वच्छन्द पद-विन्यास (पदक्रम) वाली होती है । नाट्य-प्रयोक्ताओं को इसमें सौष्ठव का प्रयोग नहीं करना चाहिए और न प्रमाण की अपेक्षा करनी चाहिए ॥ १९४ ॥

---

१. ख.ग. स्वच्छन्दगतिविक्रमा । २. क. तस्यां ।
३. प्रमाणं च ।
४. क-क. द्विकला ।
५. क-ख. अयं सा । नृणामुदारत्वमिति पाठान्तरम् ।

[1]तृतीया प्रकृतिः कार्या नाम्ना चैव नपुंसका ।
नरस्वभावमुत्सृज्य स्त्रीगतिं तत्र योजयेत् ॥ १९५ ॥
विपर्ययः प्रयोक्तव्यः पुरुषस्त्रीनपुंसके[2] ।
स्वभावमात्मनस्त्यक्त्वा तद्भावगमनादिह ॥ १९६ ॥
[3]व्याजेन क्रीडया वाऽपि तथा भूयश्च वञ्चनात् ।
स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात् स्त्रीभावं पुरुषोऽपि च ॥ १९७ ॥

तद्भावगमनादिति। यदेव रूपं यो गृह्णाति तदीयैव तस्य गतिः ॥ १९६ ॥
विपर्ययपरिग्रहे च विशिष्टार्थं कारणमाह—व्याजेनेति।

अनुवाद—तृतीया प्रकृति अर्थात् जो नाम से नपुंसक है उनमें पुरुष स्वभाव को छोड़कर स्त्रीपात्र के गति की योजना करनी चाहिए ॥ १९५ ॥

भूमिका विपर्यय में पात्रों की गति

अनुवाद—स्त्री, पुरुष और नपुंसक अपने स्वभाव का परित्याग कर जिस स्वरूप को धारण किया हो उसी के भाव के अनुसार विपर्यय प्रयोग करे ॥ १९६ ॥

अभिनव—'तद्भावगमनादिह' जो जिस रूप को ग्रहण करता है वही उसकी गति है ॥ १९६ ॥

विमर्श—अभिनय की दृष्टि से भूमिका विपर्यय का बड़ा महत्त्व है । भरत ने संक्षेप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । भरत के अनुसार भूमिका-विपर्यय में स्त्री, पुरुष और नपुंसक पात्र अपने स्वभाव को छोड़कर दूसरे के स्वभाव को ग्रहण कर भूमिका अदा कर रसोदय का वातावरण उपस्थित करते हैं । भरत के अनुसार भूमिका विपर्यय की दो परिस्थितियाँ होती हैं—१. अपने स्वभाव का परित्याग और दूसरा तद्भावगमन अर्थात् पात्र अपये स्वभाव को छोड़कर जिस स्वभाव को ग्रहण करता है उसी के अनुसार गति (गमन) का प्रयोग करे ॥ १९६ ॥

अभिनव—विपर्यय के ग्रहण करने में विशिष्ट कारण को कहते हैं—**व्याजेनेत्यादि** ।

अनुवाद—किसी व्याज से, क्रीड़ा से और बार-बार वञ्चना के द्वारा स्त्री पुरुष की प्रकृति का और पुरुष स्त्री के भाव का अभिनय करे ॥ १९७ ॥

---

१. श्लोकोऽयं केषुचित् पुस्तकेषु नास्ति ।
२. क. पुरुषस्त्रीनपुंसकौ ।
३. ख. व्याजेन सेवया वाऽपि । क-न, व्यायामेन क्रीडयाऽपि ।

[1]धैर्योदार्येण सत्त्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणा ।
स्त्री पुमांसं त्वभिनयेत् वेषवाक्यविचेष्टितैः ॥ १९८ ॥

स्त्रीवेषभाषितैर्युक्तं [2]प्रेक्षिताप्रेक्षितैस्तथा ।
[3]मृदुसन्नगतिश्चैव पुमान् स्त्रीभावमाचरेत् ॥ १९९ ॥

व्याजः कस्यचित्कार्यस्य साधनाय, यथा विदूषकस्य संकेतस्थाने चेटिकावस्त्रधारणम् । क्रीडा यथा इष्टजनस्याकृतौ नायिकानाम् । वञ्चनादिति यथा विदूषकं वञ्चयितुं चेटकस्य स्त्रीवेषकरणम् । अपिचेति ग्रहणात् स्त्रीपुंसयोर्नपुंसकेन सह तस्य च ताभ्यां सह विपर्ययं दर्शयति ॥ १९७ ॥

अत्रैव विपर्यये गतिविपर्यये प्रसङ्गेन व्यभिचारिभावसात्त्विकोपाङ्गाद्यभिनयविपर्ययमप्याह—धैर्यौदार्येणेति ।

अभिनव—व्याज (छल) किसी कार्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। जैसे सङ्केत-स्थान में विदूषक का चेटी का वस्त्र धारण करना। क्रीडा से जैसे, नायिकाओं का प्रियजन (पुरुष) का आकृति का धारण करना। बञ्चना से जैसे, विदूषक की वञ्चना के लिए चेट का स्त्री का वेष धारण कर लेना। 'अपि च' पद के ग्रहण से स्त्री और पुरुष का नपुंसक के साथ और नपुंसक का स्त्री और पुरुष के साथ विपर्यय होता है, यह दिखलाया गया है।

अभिनव—इसो विपर्यय की अवस्था में गति के विपर्यय में प्रसङ्गवश सञ्चारीभाव एवं सात्त्विक भावों तथा उपाङ्गादि के अभिनयों में विपर्यय को कहते हैं—'धैर्येणेत्यादि'।

अनुवाद—धैर्य, औदार्य, सत्त्व, बुद्धि और उसी प्रकार के कर्म से तथा वेषभूषा, वाक्य एवं चेष्टाओं के द्वारा स्त्री पुरुष पात्र का अभिनय करे ॥ १९७ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार स्त्रीपात्रोचित वेष-भूषा एवं भाषण (वाक्य) तथा प्रेक्षिताप्रेक्षित अर्थात् किसो वस्तु के देखने, न देखने के द्वारा मृदु एवं मन्द गति वाला पुरुष स्त्री भाव का आचरण करे, अभिनय करे ॥ १९८ ॥

---

१. ख. धैर्योद्धारेण ।
२. ख. ग. प्रेषिताप्रेषितैस्तथा ।
३. क. मृदुसन्वगतिश्चैव । क-द. मृदुसत्त्वगतिश्चैव ।

[1]जातिहीनाश्च या नार्यः, पुलिन्दशबराङ्गनाः ।
याश्चापि, तासां कर्तव्या तज्जातिसदृशी गतिः ॥ २०० ॥
व्रतस्थानां तपःस्थानां लिङ्गस्थानां तथैव[2] च ।
खस्थानाश्चैव नारीणां समपादं प्रयोजयेत् ॥ २०१ ॥
उद्धता येऽङ्गहाराः स्युर्याश्चार्यो मण्डलानि च ।
तानि नाट्यप्रयोगज्ञैर्न कर्तव्यानि योषिताम्[3] ॥ २०२ ॥

[4]धैर्यौदार्ये सामान्याभिनयोक्ते । ताभ्यां भावा उपलक्ष्यन्ते । बुद्धयेति स्थायित्वम् । सत्त्वेनेति सात्त्विकाः कर्मणेति [5]स्थानकादिविषयः, वेषेति आहार्यप्रकाराः, वाक्येति वाचिकगतसंस्कृतादिप्रयोगः, चेष्टितैरिति अन्तरालस्थाने त्रिपताकादयः ॥ १९८ ॥

[6]यथास्थानकगतानां पूर्वपञ्चाद्भावि तथोपवेशनात्मकमासनमपीति तद्विधमाह—तथासनविधिरिति तथैवेति गतौ[7] हि शयनमपि पूर्वपश्चाद्भावि शयनाश्रय इति शेषः ॥ २०३ ॥

अभिनव—यहाँ सामान्य अभिनय में कथित धैर्य और औदार्य का ग्रहण है । इनसे अन्य भावों का भी उपलक्षण है । जैसे, 'बुद्धया' पद से स्थायीभाव का, 'सत्त्व' से सात्त्विक भाव का, 'कर्म' से स्थानकादि विषयक अनुभावों का, 'वेष' से आहार्य अभिनय (वेष-भूषादि) के प्रकारों का, 'वाक्य' से वाचिक अभिनय से संस्कृत आदि भाषाओं के प्रयोग का, 'चेष्टित' पद से त्रिपताक आदि अभिनयों का उपलक्षण से ग्रहण होता है ॥ १९८ ॥

अनुवाद—जो जाति-भ्रष्ट अथवा हीन जाति की नारियाँ हैं और जो पुलिन्द शबर आदि की स्त्रियाँ हैं उन्हें अपनी जाति के अनुसार (सदृश) उनकी गति का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ १९९ ॥

अनुवाद—व्रतधारिणी, तपस्विनी, लिङ्गिनी और आकाशचारिणी नारियों की गति में 'समपाद' का प्रयोग करना चाहिए ॥ २०० ॥

अनुवाद—जो उद्धत अङ्गहार है, जो चारियाँ और मण्डल हैं, नाट्यप्रयोक्ताओं को उनका प्रयोग स्त्रियों की गति में नहीं करना चाहिए ॥ २०१ ॥

---

१. ख विजातीयास्तु २. क. तथा पुनः । ३. ख-ग. योषिता
४. क-ख. धैर्योदार्या ५. क. सात्त्विकादि ।
६. क. यथास्थानगतैः ७. क. गते । ख. गतो ।

[1]तथासनविधिः कार्यो नृणां स्त्रीणां[2] विशेषतः ।
नानाभावसमायुक्तस्तथा[3] च शयनाश्रयः ॥ २०३ ॥
[4]विष्कम्भिताञ्चितौ पादौ[5] त्रिकं किञ्चित्समुन्नतम् ।
[6]हस्तौ कट्यूरुविन्यस्तौ स्वस्थे स्यादुपवेशने[7] ॥ २०४ ॥

विष्कम्भेन वैशाखस्थानकोचितेन विस्तारेणाञ्चितौ विस्तीर्णान्तरौ सुन्दरौ पादौ, न त्वत्राञ्चितपादलक्षणयोगः । स्वस्थे पुंसि यदुपवेशनमासनपीठिकादौ तत्र त्रिकमुन्नतं स्यादिति सम्बन्धः । "इति शब्देन वाक्यार्थः, स्यादित्यत्र कर्तव्याख्येय" इति स्यादिति । हस्ताविति कर्कटरूपौ समाहारद्वन्द्वे ॥ २०४ ॥

आसन विधान

अभिनव—जिस प्रकार स्थानकगत गमन आगे-पीछे होता है उसी प्रकार उपवेशनात्मक आसन में भी पूर्वपश्चाद्भाविता रहती है, इसलिए उसके प्रकार को कहते हैं—**'तथासनाविधिरिति'** ।

अनुवाद—इस प्रकार स्त्री और पुरुषों के आसन-विधि (बैठने की विधि) नाना प्रकार के भावों से युक्त होनी चाहिए। इसी प्रकार उनकी शयन-विधि का भी विधान करना चाहिए ॥२०३ ॥

अभिनव—'तथैव' पद से अभिप्राय है कि जैसे गति के विषय में पूर्व और पश्चाद्भाविता है उसी प्रकार शयन और शयन के आश्रय में भी पूर्वपश्चाद्भाविता है ॥ २०३ ॥

अनुवाद—स्वस्थ उपवेशन (बैठने) से दोनों को विष्कम्भित एवं अञ्चित करके त्रिक को थोड़ा समुन्नत करे, फिर दोनों हाथों को कटि और जंघा पर (ऊरु) विन्यस्त करे ॥ २०४ ॥

अभिनव—'विष्कम्भक अर्थात् वैशाख स्थानक के उचित विस्तार से अञ्चित अर्थात् विस्तीर्ण अन्तर पद से सुन्दर पादों का ग्रहण है । यहाँ पर अञ्चित पाद का लक्षणानुसारी स्वरूप अभीष्ट नही है । स्वस्थ पुरुष के आसन या पीठ पर उपवेशन

---

१. ख. अथासनविधिः । कार्यो नृणां स्थोणां विशेषतः ।
२. क. तथासनविधिः कार्यः स्त्रीणां नृणामथापि च ।
३. क-ग. तथैव ।
४. ख. ग. विष्कम्भेणाञ्चितौ ।
५. क-ख. कक्षः ।
६. ख. हस्ता। कट्यूरुविन्यस्ता ।
७. ग. बाहुशोर्षाश्रितं शिरः ।

पादः प्रसारितः किञ्चिदेकञ्चैवासनाश्रयः ।
शिरः [1]पार्श्वगतं चैव सचिन्त उपवेशने ॥ २०५ ॥
चिबुकोपाश्रितौ हस्तौ बाहुशीर्षाश्रितं शिरः ।
सम्प्रणष्टेन्द्रियमनाः शोकौत्सुक्योपवेशने[2] ॥ २०६ ॥
प्रसार्य बाहू शिथिलौ तथा चोपाश्रयाश्रितः[3] ।
[4]मोहमूर्च्छामदग्लानिविषादेषूपवेशयेत् ॥ २०७ ॥

[5]सम्प्रणष्टेन्द्रियमात्र इति पाठः। मन इति पाठे (प्रोच्यत्वे ?) कृते त्वध्याहृत्य सङ्गतिः कार्या ॥ २०६ ॥

अपाश्रयतीत्यादिकमाश्रितम् उपवेशयेदिति स्वार्थे णिच् आचार्ये वा कर्तृभूतत्वमात्रम् । आचार्यास्तु बाहू प्रसार्यैवासने उपवेशयेत् विश्रामयेदित्याहुः ॥ २०७ ॥

अर्थात् बैठने पर त्रिक समुन्नत होता है, यह सम्बन्ध है । 'इति' शब्द के वाक्यार्थ और 'स्यात्' से कर्त्तव्य का आख्यान है, यही स्यात् का सम्बन्ध है । वहाँ दोनों हाथ कटि और ऊरु पर कर्कट मुद्रा में रखे जाँय, यह अभिप्रेत है ॥ २०४ ॥

अनुवाद—चिन्तायुक्त पात्र के उपवेशन में एक पैर कुछ फैलाया हुआ और दूसरा पैर आसन पर आश्रित (टिका हुआ) तथा शिर पार्श्व में नत (झुका हुआ) होता है ॥ २०५ ॥

अनुवाद—शोकाकुल (शोकयुक्त) पात्र के उपवेशन में दोनों हाथ चिबुक (ठुड्डी) पर अञ्चित होते हैं और शिर बाहु शीर्ष अर्थात् भुजाओं के सहारे टिका हुआ होता है और मन एवं इन्द्रियाँ आकुल (चेतना शून्य-सी) हो जाती हैं ॥२०६॥

अभिनव—यहाँ 'सम्प्रणष्टेन्द्रियमात्रः' यह पाठ है। अतः 'संप्रणष्ट' शब्द केवल इन्द्रिय से सम्बद्ध है। मन से सम्बन्ध मानकर 'संप्रणष्टेन्द्रियमनाः' इस प्रकार पाठ मानने पर 'विकाल' या 'अकुल' पद का अध्याहार करके अर्थ-सङ्गति करते हैं अर्थात् शोक की दशा में आकुल मन से उपवेशन करे ॥ २०६ ॥

अनुवाद—मोह, मूर्च्छा, मद, श्रम, ग्लानि तथा विषाद की अवस्था में दोनों भुजाओं को फैलाकर शिथिल कर दे और किसी वस्तु के सहारे आसन पर बैठे ॥ २०७ ॥

१. क. पार्श्वानतं । पार्श्वोन्नतं । २. क. ग. भवेच्छोकोपवेशने ।
३. क. तथा चापाश्रयश्रितः । ४. क-ग. मूर्च्छामदश्रमग्लानि ।
५. क. 'संप्रणष्टशब्देनेन्द्रियमात्र' इति पाठः ।
क-क. शब्देन विशेषणेन संप्रणष्टेन्द्रियमात्र इति पाठः ।

सर्वपिण्डीकृताङ्गस्तु [1]संयुक्तः पादजानुभिः ।
[2]व्याधिव्रीडितनिद्रासु ध्याने चोपविशेन्नरः ॥ २०८ ॥

[3]तथा चोत्कटिकं स्थानं स्फिक्पार्ष्णीनां समागमः[4] ।
पित्र्ये [5]निवापे जप्ये च सन्ध्यास्वाचमनेऽपि च[6] ।
विष्कम्भितं पुनश्चैव जानुं भूमौ निपातयेत् ॥ २०९ ॥

पिण्डितत्वमङ्गानां जानुविश्लेषादूर्ध्वकायं कुटिलीकरोतीत्युत्कटं [7]संज्ञायां कटतेः । अत्र च विरलत्वं जानुनोः स्फिग्भ्यां भूमेः [8]परामर्शः पूर्वत्र तु नैतदुभयमपीति विशेषः ॥ २०८ ॥

अभिनव—'उपाश्रयाश्रितः' का अर्थ है अपने आश्रित वस्तु का सहारा लेना । 'उपवेशयेत्' में णिच् प्रत्यय है । अतः यहाँ केवल कर्त्तामात्र विवक्षित है । अन्य आचार्य कहते हैं कि दोनों बाहुओं को फैलाकर आसन पर बैठा दे, विश्राम करा दे ॥ २०७ ॥

अनुवाद - व्याधि, लज्जा, निद्रा एवं ध्यान में मनुष्य मिले हुए पाद एवं जानुओं के साथ शरीर के अङ्गों को पिण्डीकृत अर्थात् सङ्कुचित कर आसन पर उपवेशन करे अर्थात् बैठे ॥ २०८ ॥

अभिनव—अङ्गों के पिण्डीकृतत्व का अभिप्राय है कि जानुओं अर्थात् घुटनों के विश्लेष होने से अर्थात् अङ्गों के पिण्डीकृत होने में जानुओं एवं शरीर के ऊपरी भाग को जो संयोग (मेल) हो गया था उससे विघटन कर देने पर घुटने अलग होकर ऊर्ध्वकाय कुटिल (टेढ़ा) हो जायगा । ऐसी स्थिति उत्कटिक स्थान कहलाती है । यहाँ संज्ञा में 'कन्' प्रत्यय होकर उत्कटिक शब्द बना है। इसमें घुटनों का विरलत्व और स्फिच् अर्थात् कूल्हों का भूमि से स्पर्श होता है । पूर्व पिण्डिताङ्गत्व की अवस्था में दोनों नहीं होते, यही विलक्षणता है ॥ २०८ ॥

अनुवाद—पितरों के तर्पण में, जप करने, सन्ध्या-बन्दन करने और आचमन में भी उत्कटिक स्थानक, स्फिच् (कूल्हें) और पार्ष्णि (एड़ी) को मिलाकर आसन पर उपवेशन करे अर्थात् विस्तृत कर फिर एक जानु को बिष्कम्भित भूमि पर गिरा दे ॥ २०९ ॥

१. ग. सम्पाते । क-ढ. संयुक्तः । २. क. (टि०) व्याधिपीडावहिश्थेषु ।
३. ख. तथा चोत्कटिकास्थानं । ४. ग. समागमम् ।
५. ग. निर्वापसलिले । ६. आचमनेषु च ।
७. क. पुंसंज्ञायां कटेः । ८. क. परस्पर्शः ।

[1]प्रियाप्रसादने कार्यं होमादिकरणेषु च ।
[2]महीगताभ्यां जानुभ्यामधोमुखमवस्थितम् ॥ २१० ॥
देवाभिगमने [3]चैव रुषितानां प्रसादने[4] ।
शोके चाक्रन्दने [5]तीव्रे मृतानां चैव दर्शने ॥ २११ ॥
त्रासने च कुसत्त्वानां [6]नीचानाञ्चैव याचने[7] ।
होमयज्ञक्रियायाञ्च प्रेष्याणाञ्चैव कारयेत्[8] ॥ २१२ ॥
मुनीनां नियमेष्वेष भवेदासनजो विधिः ।

पित्र्य इति श्राद्धादौ निवापसलिल इति पितृतर्पणे, प्रतिग्रहार्थं परस्य सलिलदाने तत्प्रतिग्रहे च । सन्ध्याशब्देन तदवसरोचितं, जपध्यानादि । विष्कम्भितमिति विस्तारितमेकं भूमौ जानु द्वितीयं यथास्थितं यंत्रनिकटे ढौकनं गमनं शङ्क्यं सन्तापादिभयात् । तत्र च कार्यं मन्त्रं तदुपलक्षणम् ॥ २०९ ॥

अभिनव—'पित्र्य' पद का अर्थ है पितरों के उद्देश्य से किया जाने वाला श्राद्धादि कर्म । 'निवाप' का अर्थ है 'पितृ-तर्पण' । 'निवाप सलिले' का अभिप्राय है पितृ-तर्पण में जल लेने के लिए अर्थात् दूसरे को जल देने तथा जल लेने में । 'सन्ध्या' शब्द से सन्ध्या के अवसर के योग्य जप एवं ध्यान आदि का ग्रहण है । 'विष्कम्भित' का अर्थ है एक जानु को विस्तारित कर भूमि पर गिरा दे और दूसरे को यथास्थित रखे । यन्त्र के निकट जाने में सन्तापादि का भय रहता है, अतः इस विषय में मन्त्रणा करनी चाहिए । यह मन्त्रणा उपलक्षण है और भी उपाय करना चाहिए ॥ २०९ ॥

अनुवाद—प्रिया के प्रसादन (प्रसन्न करने) में और होम आदि धार्मिक क्रियाओं में दोनों जानुओं को पृथ्वी पर टिका कर अधोमुख करके बैठे ॥ २१० ॥

अनुवाद—देवताओं की वन्दना में, रुष्ट व्यक्तियों के मनाने में, शोक में, तीव्र आक्रन्दन में, मृतकों (शव, मुर्दों) को देखने में, कुत्सित प्राणियों के डराने में, नीच पुरुषों के याचना में, होम, यज्ञ आदि क्रियाओं में सेवा (या सेवक) के सम्बन्ध में इसी आसन का प्रयोग करना चाहिए और मुनिजनों के नियमों में भी इसी आसन विधि का विनियोग करना चाहिए ॥ २११-२१३ ॥

---

१. क-च.द. प्रियप्रसादने ।　२ क-द. महीमुखाभ्यां ।　३. क. कार्यं ।
४. क-च. रुषितानां च सान्त्वने ।　५. ख. तीव्रमृतानां । ग. तीव्र मृतानां ।
६. ग. दीनानां ।　७. क. (टि०) दर्शने ।　८. ग. योजयेत् ।

¹तथासनविधिः कार्यो विविधो नाटकाश्रयः ॥ २१३ ॥
स्त्रीणाञ्च पुरुषाणाञ्च बाह्यश्चाभ्यन्तरस्तथा ।
आभ्यन्तरस्तु नृपतेर्बाह्यो बाह्यगतस्य च ॥ २१४ ॥

अभिगमनं वन्दनम् । शोके चेति नीचानाञ्चेति सर्वत्रात्र संबध्यते। नीचानां शोकजनितो यस्तीव्राक्रन्दस्तत्रैव, नीचा यदा मृतमवलोकयन्ति । सम्बन्ध—मात्रे षष्ठीत्युभयप्राप्त्यभावान्न नियमः कुसत्त्वा शिवादयः यदा नीचान् त्रासयन्ति तदा । नीचा यदा किञ्चिद्याचन्ते तदा जानुद्वयक्षेपो भूमौ ॥ २११-२१३ (१) ॥

अथासनात्मककालसन्निवेशप्रसङ्गेन तदधिकरणेषु विधिमाह—तथासनविधिरिति ।

बाह्यः सर्वजनविषयः आभ्यन्तरो राजोचितः ॥ २१४ ॥

अभिनव—'अभिगमन' का अर्थ 'अभिवन्दन' (वन्दना करना) है । 'शोके च' और 'नीचानां च' इनका यहाँ सब जगह सम्बन्ध है । नीच पुरुषों का शोकजनित जो तीव्र आक्रन्द है, उसी में (इस आसन का विनियोग होता है) । नीच पुरुष जब मृतक को देखते हैं, (उस समय) । यहाँ सम्बन्ध मात्र में षष्ठी विभक्ति है, क्योंकि यहाँ कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी का नियम न होने से सम्बन्ध मात्र में षष्ठी है । 'कुसत्व' से गीदड़ आदि कुत्सित प्राणियों का ग्रहण है, ये जब नीचों का डराते हैं तब और नीच जब कुछ माँगते हैं तब दोनों जानुओं को भूमि पर पातन (क्षेपण) होता है ॥ २१०-२१३ (१) ॥

अभिनव—इसके बाद आसनात्मक कालसन्निवेश के प्रसङ्ग से आसन के विषय में विधान को कहते हैं—**'तथासनविधिरिति'** ।

अनुवाद—नाट्य के प्रयोग में विविध प्रकार के आसन-विधान करना चाहिए । स्त्री और पुरुषों के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार के आसन-विधान हैं । इनमें आभ्यन्तर आसन-विधि राजा के लिए है और बाह्य आसन-विधि बाह्यगत सामान्य जन के लिए है ॥ २१३-२१४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार बाह्य आसन-विधि सब लोगों के लिए और आभ्यन्तर-विधान राजा के लिए उचित है ॥ २१३-२१४ ॥

---

१. ग. अथासनविधिः ।

देवानां नृपतीनाञ्च दद्यात्सिहासनं द्विजाः ।
पुरोधसामात्यानां [1]भवेद्वेत्रासनं तथा ॥ २१५ ॥
[2]मुण्डासनञ्च दातव्यं सेनानीयुवराजयोः ।
[3]काष्ठासनं द्विजातीनां कुमाराणां[4] कुथासनम् ॥ २१६ ॥
एवं [5]राजसभां प्राप्य [6]कार्यस्त्वासनजो विधिः ।

वेत्रलताकृतं वेत्रासनं वेत्रासनादन्य एव रूढो वर्णकम्बलखण्डः । विस्तारिकेत्यन्ये । [7]मुण्डासनं चातुरी [8]काष्ठासनं पीठकं ॥ २१६ ॥

पुरुषपात्र का आसन विधान

अनुवाद—हे द्विजों ! देवताओं और राजाओं के लिए सिंहासन देना चाहिए और पुरोहित एवं अमात्यों के लिए वेत्रासन देना चाहिए । सेनापति और युवराज के लिए मुण्डासन देना चाहिए । ब्राह्मणों के लिए काष्ठासन (चौकी) और कुमारों के लिए गलीचे या दरी का आसन देना चाहिए । इस प्रकार राजसभा में आसन विधान (आसन की व्यवस्था) करना चाहिए ॥ २१५-२१७ (१) ॥

अभिनव—बेंत रूपी लता का बनाया हुआ आसन 'वेत्रासन' है । इस वेत्रासन से भिन्न प्रसिद्ध रङ्गीन कम्बल खण्ड भी एक आसन है । जिसे अन्य लोग 'विस्तारिका' कहते हैं । अभिनव ने मुण्डासन का अर्थ 'चातुरी' किया है । चातुरी का अर्थ चतुराई या चतुरता है जिसका आसन से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत हाता । कुछ लोग 'चातुरी' का अर्थ चतुराई से निर्मित आसन करते हैं । अन्य लोग 'मुण्डासन' के स्थान पर 'मुञ्जासन' पाठ मानकर 'मुञ्जासन' का अर्थ 'मूँज का आसन' करते हैं । किन्तु यहाँ युवराज के लिए मूँज का आसन देने का औचित्य नहीं प्रतीत होता । अन्य आचार्य 'मुण्ड' का अर्थ शिरस्, शीर्ष या उच्च करते हैं और मुण्डासन का अर्थ 'शीर्ष (मूर्द्धन्य) आसन या उच्च आसन करते हैं ॥ २१५-२१६ ॥

---

१. क-द. भवेदर्घासनं पुनः । २. ग. मुञ्जासनं ।
३. क.ग. काष्ठासनं ब्राह्मणानां ।
ख. कुब्जासनं द्विजातीनां । मुञ्जासनं द्विजातीनां ।
४. ख. कुमारीणां कुथासनम् । क-द. कुमाराणामथाशुभम् ।
५. ग. टि०) एवं राजासनं । ६. क-द. कार्यं आसनजो विधिः ।
७. क-ख. दण्डासनं । ८. क-ख. मयूरकं ।

[1]स्त्रीणाञ्चाप्यासनविधिं सम्प्रवक्ष्याम्यहं पुनः ॥ २१७ ॥
सिंहासनन्तु राज्ञीनां देवीनाम्मुण्डमासनम्[2] ।
[3]पुरोधोऽमात्यपत्नीनां [4]दद्याद्वेत्रासनं तथा ॥ २१८ ॥
भोगिनीनां [5]तथा चैव वस्त्रश्चर्म कुथाऽपि वा ।
[6]ब्राह्मणीतापसीनाञ्च पट्टासनमथापि च ॥ २१९ ॥
[7]वेश्यानाञ्च प्रदातव्यमासनञ्च मसूरकम् ।
शेषाणां प्रमदानान्तु भवेद् [8]भूम्यासनं द्विजाः ॥ २२० ॥

राज्ञी राजवंश्या देवी । सेनापतिपुत्र्यो राज्ञा परिणीताः भोगिन्यः [9]संगृहीतकन्याः मसूरकं वस्तुशून्यं, भूमिरेवासनं भूम्यासनम् ॥ २१८-२२० ॥

नारी-आसन-विधान

अनुवाद—इसके बाद अब मैं स्त्रियों के लिए आसन-विधि को कहूँगा। महारानी के लिए सिंहासन, देवियों के लिए मुण्डासन, पुरोहित एवं अमात्य की पत्नियों के लिए वेत्रासन देना चाहिए ॥ २१७-२१८ ॥

अनुवाद—भोगिनी नारियों के लिए गलीचा या दरी अथवा वस्त्र एवं चर्म का आसन, ब्राह्मणी और तपस्विनियों के लिए पट्टासन (कौशेय आसन) तथा वैश्य एवं श्रेष्ठिजनों को स्त्रियों के लिए (अथवा वेश्याओं के लिए पाठान्तर से) मसूरक नामक आसन अथवा भूम्यासन (भूमि रूप आसन) देना चाहिए। (पाठभेद से 'मसूरकम्' के स्थान पर 'मयूरकम्' पाठ मान कर 'मयूरासन' का ग्रहण है)। इस प्रकार वेश्याओं के लिए 'मयूरासन' होना चाहिए और अन्य नारियों के लिए भूमि का आसन होना चाहिए ॥ २१९-२२० ॥

अभिनव—'राज्ञी' का अर्थ है राजकुल में उत्पन्न देवी (रानी)। सेनापति आदि की पुत्रियाँ, जिनका राजा ने परिणय (विवाह) कर लिया है, इस प्रकार की संगृहीत स्त्रियाँ 'भोगिनी' कहलाती हैं। 'भूम्यासन' का अभिप्राय भूमिरूप आसन है ॥ २१८-२२० ॥

१. क-ग. स्त्रीणां चैवासनविधिं । २. ग. मण्डलासनम् ।
३. क-द. पुरोसवां तपस्वीनां भवेत् । ४. ग. भवेद्वेत्रासनं ।
५. ग. पुनश्चैव । क-द. पुनश्चैव कृत्वा चर्म कुथा तथा ।
६. ग. ब्राह्मणीनां यतीनां च । ७. ख ग. वेश्यानाञ्च ।
क. वैश्यानामपि कार्तव्यमासनं हि मसूरकम् ।
८. ख. दिव्यासनं । ९. क-ख. पीठनं । १०. क-ख. संगीत कन्याः ।

[1]एवमाभ्यन्तरो ज्ञेयो बाह्यश्चासनजो विधिः ।
तथा स्वगृहवार्तासु च्छन्देनासनमिष्यते ॥ २२१ ॥

[2]नियमस्थमुनीनां च भवेदासनजो विधिः ।
[3]लिङ्गिनामासनविधिः कार्यो व्रतसमाश्रयः ॥ २२२ ॥

---

[4]एवमिति नरपतिसन्निधौ । अन्यदात्मस्वेच्छयेति दर्शयति—तथा स्वगृहेति । वार्ताशब्देन सेनापतेरमात्यगृहगमन इत्यादि सूचयति ॥ २२१ ॥

नियमस्थ इति कस्यचिदङ्गविष्टरोऽन्यस्य मृगाजिनम् । लिङ्गिनामिति । यथा शाक्यानां बृसो, शैवानां मुण्डासनं, क्षपणकानां वेत्रवल्कलडिम्बकम् ॥ २२२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर आसन विधियों को जानना चाहिए और अपने घर में बात-चीत के समय स्वच्छन्द (स्वतन्त्रतापूर्वक) आसन विधि करनी चाहिए ॥ २२१ ॥

अभिनव—'एवम्' पद का अभिप्राय है 'राजा की सन्निधि में'। अन्यथा अर्थात् अन्य समय में अपनी इच्छा से आसन-विधान करे, यह 'स्वगृहवार्त्तासु' इत्यादि के द्वारा दिखाते हैं। 'स्वगृहवार्त्ता' शब्द से यहाँ सेनापति अमात्य के घर जाना सूचित होता है ॥ २२१ ॥

अनुवाद—नियमस्थ अर्थात् नियम में स्थित मुनियों का आसन-विधान स्वतन्त्र होना चाहिए अर्थात् किसी का अङ्गविष्टर तो किसी का मृगाजिन आसन होना चाहिए। लिङ्गी सन्यासियों का आसन-विधान उनके व्रत के अनुसार होना चाहिए ॥ २२२ ॥

अभिनव—'नियमस्थ' का अभिप्राय है कि किसी मुनि का आसन अङ्गविष्टर तथा किसी मुनि का आसन मृगछाला होना चाहिए। 'लिङ्गिनाम्' अर्थात् लिङ्गियों का आसन व्रत के अनुसार होना चाहिए। जैसे—शाक्य मुनियों का आसन बृशी या बृषी (कुशासन) होना चाहिए। शैवों का मुण्डासन, क्षपणकों का आसन बेंत, वल्कल तथा डिम्बक का बना हुआ होना चाहिए। इसी बात को 'बृशी' इत्यादि के द्वारा कहते हैं ॥ २२२ ॥

---

१. एवमन्तःपुरे ज्ञेयो बाह्यश्चासने विधिः ।

२. क. नियमस्थो मुनीनां च । क-प. नियमस्थे मुनीनां च ।

३. ग. लिङ्गिनां वासनविधिः । क-द. लिङ्गिनां चासनाविधिः ।

४. क-क. एषविधिः । क-ख. एष्विति ।

[1]ब्रुसीमुण्डासनप्रायं वेत्रासनमथापि च[2] ।
होमे यज्ञक्रियायाञ्च पित्र्येऽर्थे च प्रयोजयेत् ॥ २२३ ॥
स्थानीया ये च पुरुषाः कुलविद्यासमन्विताः ।
तेषामासनसत्कारः कर्तव्य[3] इह पार्थिवैः ॥ २२४ ॥

समे समासनं दद्यात् मध्ये [4]मध्यममासनम् ।
अतिरिक्तेऽतिरिक्तञ्च होने भूम्यासनं भवेत् ॥ २२५ ॥

स्थानाय हिता वृद्धाः ये भवन्ति तन्निकटे व्यवस्था दृष्टादृष्टोपयोगिनी । अत एवाह—कुलविद्ये ति । आसनसत्कार इहास्यतामिति ॥ २२४ ॥

अनुवाद—होम, यज्ञ क्रिया तथा पितरों के उद्देश्य से किये जाने वाले श्राद्ध आदि में बुशी या वृषो (कुशासन) मुण्डासन (मुञ्जासन) तथा वेत्रासन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२३ ॥

सामान्य आसनविधि

अनुवाद—कुल एवं विद्या से समन्वित (कुलीन एवं दिद्वान्) जो स्थानीय पुरुष हैं उनका आसन-सत्कार राजा को 'इह आस्यताम्' अर्थात् 'यहाँ बैठिये' इस प्रकार करना चाहिए ॥ २२४ ॥

अभिनव—'स्थानीयाः' का अभिप्राय है स्थानों अर्थात् आश्रमादि स्थानों के लिए हित करने वाले जो वृद्ध हैं जिनके निकट दृष्ट और अदृष्ट के उपयोगिनी व्यवस्था होती है । इसलिए कहते हैं कि कुल और विद्या से सम्पन्न वृद्धों का आसन-सत्कार 'यहाँ आइये, बैठिये' इस प्रकार कहकर करना चाहिए ॥ २२४ ॥

अभिनव—आसन के विषय में विभाग करते हैं—

अनुवाद—सम अर्थात् बराबर वालों के लिए 'सम' आसन देना चाहिए, मध्यम पात्रों के लिए 'मध्यम' और अतिरिक्त अर्थात् उत्तम पात्रों के लिए विशिष्ट (अतिरिक्त) आसन तथा हीन पात्रों के लिए भूम्यासन अर्थात् भूमि रूप आसन का विधान करना चाहिए ॥ २२५ ॥

---

१. ख. दण्डमुण्डवृषीप्राय । ग. वृषीमुण्डासनप्रायं ।
२. क-ग. वा । ३. क-न. कर्त्तव्यो गुरुपार्थिवैः ।
४. क-ग. मध्यमे मध्यमासनम् ।

उपाध्यायस्य नृपतेर्गुरूणामग्रतो बुधैः ।
भूम्यासनन्तथा[1] कार्यमथवा काष्ठमासनम् ॥ २२६ ॥
नौनागरथयानेषु [2]भूमिकाष्ठासनेषु च ।
सहासनं न दुष्येत गुरूपाध्यायपार्थिवैः[3] ॥ २२७ ॥

तत्र विभागमाह—सम इति तत्तुल्यजातिविद्यः । सममिति त्रित्वाच्चासनापेक्षया मध्य इति किञ्चिदूनेन, मध्यममिति स्वासनात्प्रमाणतोऽप्यूनं हीन इति स्वापेक्षया भूम्या सह भूमिरेव इहास्यतामिति निर्दश्या । स एव तस्यासनसत्कारः ॥ २२५ ॥

काष्ठमिति एकमेव दीर्घं भरसहं पर्यङ्कं दर्शयितुं काष्ठमित्युक्तं न तु काष्ठमयमिति ॥ २२६ ॥

अभिनव—'सम' का अभिप्राय है जो जाति एवं विद्या में तुल्य (समान) हों । आसन चार प्रकार के होते है—सम, मध्य, अतिरिक्त अर्थात् उच्च और भूमि । 'सम' तीनों की अपेक्षा से सम । 'मध्य' आसन उससे कुछ कम अर्थात् अपने आसन के प्रमाण से थोड़ा न्यून (कम) । 'हीन' अर्थात् अपनी अपेक्षा से हीन । भूम्यासन अर्थात् भूमि हो आसन । 'यहाँ बैठिए' इस प्रकार का निर्देश भूमि हो हीन पात्रों का आसन है यह बतलाया गया है । इस प्रकार बैठने के लिए निवेदन करना आसन-सत्कार है ॥ २२५ ॥

अनुवाद—विद्वानों को उपाध्याय, नृपति और गुरुजनों के समक्ष भूमि रूप आसन अथवा काष्ठ के आसन पर बैठना चाहिए ॥ २२६ ॥

अभिनव—एक ही लम्बे भार को सहन करने वाले पर्यङ्क (पलंग) को दिखलाने के लिए 'काष्ठ' यह कहा गया है, न कि काष्ठमय आसन अर्थात् यहाँ काष्ठ का प्रयोग है । काष्ठमय आसन का प्रयोग नहीं है ॥ २२६ ॥

अनुवाद—नौका, हाथो और रथ यान में, भूमि और काष्ठ के आसन पर गुरु, उपाध्याय के साथ बैठने पर आसन-दोष अथवा (कोई दोष) नहीं है ॥२२७॥

---

१. ग. सदा । २. ख. तथा काष्ठासनेषु च ।
३. क-ख. उपाध्याये गुरौ नृपे ।

आकुञ्चितं समञ्चैव प्रसारितविवर्तने[1]।
उद्वाहितं [2]नतञ्चैव शयने कर्म कीर्त्यते ॥ २२८ ॥
[3]सर्वैराकुञ्चितैरङ्गैः शय्याविद्धे तु जानुनी।
स्थानमाकुञ्चितं नाम [4]शीतार्तानां प्रयोजयेत् ॥ २२९ ॥

अथ शयनसन्निवेशनमाह—आकुञ्चितमिति। विक्। या निजशरीरस्य कुटिलीकरणात्सा स्यात्। बाहु (मध्यम ?) प्रसारणे विक्षेपयोगात् पार्श्वे[5] संनिवेशन-वशात्। पूर्वकायस्यापरकायस्योर्ध्वनयनं [6]नान्यशयनसंनिवेशात् ॥ २२८ ॥

शयन-विधि

अभिनव—अब इसके बाद शयन के सन्निवेश को कहते हैं—**'आकुञ्चित-मित्यादि'**।

अनुवाद—आकुञ्चित, सम, प्रसारित, विवर्त्तित, उद्वाहित और नत ये शयन में छः प्रकार के कर्म कहे जाते हैं ॥ २२८ ॥

अभिनव—जो स्थिति (सङ्केत) अपने शरीर के कुटिलीकरण से होती है वह आकुञ्चित है। पूर्व काय अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग के समीप में उपवेशन के कारण बाहुओं के फैलाने में विक्षेप होता है और शयन पर दूसरे के सन्निवेश (बैठ जाने) से अपरकाय अर्थात् शरीर के नीचे के भाग को ऊपर ले जाने में भी विक्षेप होता है। अतः अपने शरीर के कुटिलीकरण से जो निर्देश है वह 'आकुञ्चित' कहलाता है ॥ २२८ ॥

आकुञ्चित स्थान

अनुवाद—जिसमें समस्त अङ्ग सङ्कुचित अर्थात् सिकुड़े हुए हों और दोनों घुटने शय्या (बिछौने) से आविद्ध (सटे हुए) हों, उसे 'आकुञ्चित' स्थान कहते हैं। शीत से पीड़ित पात्रों के लिए उस स्थान का प्रयोग होता है ॥ २२९ ॥

---

१. क-न. प्रसारितविवर्त्तिते।
२. ख. समञ्चैव। ग. तथा चैव।
क-न. नते षोढ़ा शय्यास्थानानि निर्दिशेत्।
३. ख. स्वैरमाकुञ्चितैरङ्गैः शल्यविद्धेषु जानुनी।
४. ख-ग. शीतानान्तु।
५. क-ख. सन्निवेशनात्।
६. क-ख. ऊर्ध्वशयनं।

उत्तानितमुखं चैव [1]स्रस्तमुक्तकरं तथा ।
समं नाम [2]प्रसुप्तस्य स्थानकं संविधीयते ॥ २३० ॥
एकं भुजमुपाधाय सम्प्रसारितजानुकम् ।
स्थानं प्रसारितं नाम [3]सुखसुप्तस्य कारयेत् ॥ २३१ ॥
अधोमुखस्थितञ्चैव [4]विवर्तितमिति स्मृतम् ।
शास्त्रक्षतमृतोत्क्षिप्तमत्तोन्मत्तेषु कारयेत् ॥ २३२ ॥
[5]अंसोपरि शिरः कृत्वा कूर्परक्षोभमेव च ।
उद्वाहितन्तु विज्ञेयं लीलया [6]वेशने प्रभोः ॥ २३३ ॥

सम-स्थान

अनुवाद—जिसमें मुख उत्तानित (ऊपर की ओर) और दोनों हाथ शिथिल एवं मुक्त (खुले हुए) हों वह 'सम-स्थान' कहलाता है। प्रसुप्त अर्थात् नींद में सोये हुए पात्र के लिए इस स्थान का प्रयोग होता है ॥ २३० ॥

प्रसारित स्थान

अनुवाद—जिसमें एक भुजा को तकिया बनाकर जानुओं (घुटनों) को फैलाकर शयन होता है, उसे 'प्रसारित-स्थान' कहते हैं। सुख से सोये हुए व्यक्ति के अभिनय में इस स्थान का प्रयोग किया जाता है ॥ २३१ ॥

विवर्तित-स्थान

अनुवाद—जिसमें अधोमुख अर्थात् मुख को नीचा करके शयन होता है उसे 'विवर्त्तित' कहते हैं। शस्त्रक्षत (शस्त्र-प्रहार), मृत, उत्क्षिप्त, मत्त एवं उन्मत्त व्यक्तियों के लिए इस आसन का प्रयोग होता है ॥ २३२ ॥

उद्वाहित-स्थान

अनुवाद—जिस शयन में शिर को कन्धे पर रखकर (टिकाकर) और केहुनी को मोड़कर शयन किया जाता है उसे 'उद्वाहित' समझना चाहिए। लीला-पूर्वक स्वामी के बैठने में इसका प्रयोग होता है ॥ २३३ ॥

---

१. क. प्रत्यङ्मुक्तकरं तथा । ख. ग. स्रस्तमुत्तरकं तथा ।
२. ख. ग. तु सुप्तस्य ।　　३. ख. ग. खलु सुप्तस्य ।
४. ख. ग. विकर्तनमिति स्मृतम् ।
५. क-ग. हस्तोपरि ।　　६. क. ग. वचने ।

ईषत्प्रसारिते जङ्घे यत्र [1]स्रस्तौ करावुभौ ।
आलस्यश्रमखेदेषु नतं स्थानं विधीयते ॥ २३४ ॥

गतिप्रचारस्तु मयोदितोऽयं
नोक्तश्च यः सोऽर्थवशेन साध्यः[2] ।
अतः परं [3]रङ्गपरिक्रमस्य
वक्ष्यामि कक्षां [4]प्रविभागयुक्ताम् ॥ २३५ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे गतिप्रचारो नाम द्वादशोऽध्यायः[5] ।

अर्थवशेनेति लौकिकेनेत्यर्थः । अथैतदुपसंहृताध्यायानन्तरावकाशं सङ्गति-प्रदर्शनपूर्वकमाह—अतः परमिति । रङ्गे यत्परिक्रमात् परिक्रमणाद् वृत्ते गत्यध्याये निरूपितं तदुपयोगः कक्ष्याविशेषविभाग इति शिवम् ॥ २३५ ॥

नत-स्थान

अनुवाद—जिसमें दोनों जङ्घाएँ थोड़ी फैली हुई हो और दोनों हाथ शिथिल हों, उसे 'नत-स्थान' कहते हैं। आलस्य, थकावट, खेद में इसकी योजना होती हैं ॥ २३४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने इस गति-प्रचार को कहा है और जो बातें मैंने नहीं बतलाई है उसे प्रयोजन के अनुसार सिद्ध कर लेना चाहिए। इसके बाद मैं रङ्गपरिक्रम के विभाग-युक्त कक्ष्याओं का कथन करूँगा अर्थात् इसके बाद मैं रङ्गमञ्च पर परितः क्रमण के कक्ष्या-विभाग का कथन करूँगा ॥ २३५ ॥

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में गति-प्रचार नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

---

१. क. सृष्टौ ।
२. क-द. शास्त्रतः ।
३. ख. ग. रङ्गविधिक्रमस्य ।
४. क. ग. कक्ष्यान्तरसंविधानम् ।
५. ब. नवोदशोऽध्यायः ।

यावद्गतिभेदविधिप्रकटनमध्यायमिह विवृणुते
स्मरमथनचरणसरसिजपरागभूतोऽभिनवगुप्तः ।

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाटचवेदविवृतावभिनव-
भारत्यां गत्यध्यायो [1]द्वादशः समाप्तः

अभिनव—'अर्थवशेन' का अभिप्राय है लौकिक व्यवहार से । इसके बाद इस अध्याय के उपसंहार के बाद अगले अध्याय के अवकाश देने के लिए अर्थात् अगले अध्याय का प्रारम्भ को संगति के लिए कहते हैं—**अतः परिमिति** । रङ्गमञ्च पर परिक्रमण (घूमने) से सम्पन्न होने वाले गत्यध्याय अर्थात् पिछले अध्याय में जिसका निरूपण किया गया है उसका उपयोग कक्ष्याविशेष के विभाग में होता है, ऐसा कहेंगे । यहाँ 'इति शिवम्' अध्याय की समाप्ति का सूचक है ।

अभिनव—स्मर अर्थात् कामदेव का मथन (विनाश) करने वाले भगवान् शिव के चरणकमल के परागभूत आचार्य अभिनवगुप्त ने गति के जितने भेद हैं, उनके प्रकाशन करने वाले अध्याय की व्याख्या पूरी कर दी अथवा गति के समस्त भेदों के प्रकाशन करने की विधि बतलाने वाले बारहवें अध्याय की विवृत्ति (व्याख्या) पूरी कर दी ।

इस प्रकार श्रीमहामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित नाट्यवेदविवृत्ति अभिनवभारती में गत्यध्याय नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

इति डॉ० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनयभारत्याः
मनोरमाख्यायां हिन्दी व्याख्यायां गतिप्रचारो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित
अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में बारहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

●

---

१. ख. त्रयोदशोऽध्यायः ।

अभिनवभारतीस्वीकृतपाठक्रमाद्

भिन्नपाठक्रमवान् द्वादशोऽध्यायः

गतिप्रचारः

एवं व्यायामसंजातं कार्यं मण्डलकल्पनम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गतिस्तु प्रकृतिस्थिताः ॥ १ ॥
तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम् ।
यथा मार्गरसोपेतं प्रकृतीनां प्रवेशनम् ॥ २ ॥
ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते ।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससंभवः ॥ ३ ॥
स्थानं तु वैष्णवं कार्यमुत्तमे मध्यमे तथा ।
समुन्नतं समं चैव चतुरश्रमुरस्तथा ॥ ४ ॥
बाहुशीर्षे प्रसन्ने च नात्युत्क्षिप्ते च कारयेत् ।
ग्रीवाप्रवेशः कर्त्तव्यो मयूराञ्चितमस्तकः ॥ ५ ॥

हिन्दी-अनुवाद

अनुवाद—इस प्रकार पिछले अध्याय में व्यायाम अर्थात् चारियों के संयोग में बनने वाले मण्डलों को कल्पना करनी चाहिए। इसके बाद पात्रों को गतियों का वर्णन करूँगा ॥ १ ॥

अनुवाद—पात्रों के प्रवेश के समय भाण्ड-वाद्यों के साथ मार्ग अर्थात् देश-काल और रसों से समन्वित उपवहन (उपोहन) क्रिया सम्पन्न करके ध्रुवा-गान के सम्यक् प्रयोग किये जाने पर और जवनिका (परदे) हटा दिये जाने पर नानार्थ रस के सर्जक पात्रों का प्रवेश करना चाहिए ॥ २-३ ॥

अनुवाद—प्रवेश के समय उत्तम तथा मध्यम पात्र वैष्णव स्थानक में स्थित रहे फिर वक्षःस्थल को समुन्नत, सम और चतुरस्र तथा बाहु एवं शिर को स्थिर रखे और अत्यन्त उत्क्षिप्त न करे तथा ग्रीवा प्रदेश को मोर के समान अञ्चित करना चाहिए ॥ ४-५ ॥

कर्णाभ्यां बाहुशिरसी स्यातामष्टाङ्गुलस्थिते।
उरसश्चापि चिबुकं चतुरङ्गुलसंस्थितम् ॥ ६ ॥
हस्तौ तथैव कर्तव्यौ कटिनाभितटस्थितौ।
दक्षिणे नाभिसंस्थस्तु वामः कटितटे स्थितः ॥ ७ ॥
पादयोरन्तरं कार्यं द्वौ तालावर्धमेव च।
पादोत्क्षेपश्च कर्तव्यः स्वप्रमाणविनिर्मितः ॥ ८ ॥
चतुस्तालो द्वितालश्चाप्येकतालस्तथैव च।
चतुष्तालस्तु देवानां पार्थिवानां तथैव च ॥ ९ ॥
द्वितालश्चैव मध्यानां तालः स्त्रीनोचलिङ्गिनाम्।
चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथा ह्येककलः पुनः ॥ १० ॥
चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत्।
तथा चैककलः पातो नीचानां संप्रकीर्तितः ॥ ११ ॥
स्थितं मध्यं द्रुतं चैव समवेक्ष्य लयं बुधः।
यथाप्रकृति नाट्यज्ञो गतिमेधं प्रयोजयेत् ॥ १२ ॥

अनुवाद—कान से आठ अङ्गुलि की दूरी पर बाहु और शिर को स्थित करे और चिबुक को उरस् अर्थात् वक्षःस्थल से चार अङ्गुलि की दूरी पर स्थित करे ॥ ६ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार दोनों हाथों को कटि और नाभि तट पर स्थित करे। उसमें दाहिना हाथ नाभि पर और बायां हाथ कटि पर स्थित करे ॥ ७ ॥

अनुवाद—पात्र अपने पैरों को ढाई ताल के अन्तर पर रखे। फिर चार ताल, दो ताल और एक ताल के प्रमाण के अनुसार पैरों का उत्क्षेपण करे। उनमें चार ताल देवताओं और राजाओं के लिए, दो ताल मध्यम पात्रों के लिए और एक ताल स्त्रियों तथा नीच पात्रों के लिए है। इस प्रकार पैरों का उत्क्षेपण चतुष्ताल, द्विताल और एक ताल के प्रमाण के अनुसार करना चाहिए ॥ ८-१० ॥

अनुवाद—उनमें उत्तम पात्रों का चार कला का, मध्यम पात्रों का दो कला का और नीच पात्रों का एक कला का पाद-पात कहा गया है ॥ ११ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ता विद्वान् इस प्रकार स्थित, मध्य और द्रुत लयों को अच्छी तरह समझकर पात्रों के अनुसार गति का प्रयोग करे ॥ १२ ॥

स्वाभाविकोत्तमगतौ जानुं कुर्यात्कटीसमम् ।
युद्धचारीप्रचारेषु जानु स्तनसमं भवेत् ॥ १३ ॥
अयं विधिस्तु कर्तव्यः स्वच्छन्दगमनं प्रति ।
संभ्रमोत्थानरोषेषु प्रमाणं न विधीयते ॥ १४ ॥
दृप्तानां दैत्ययक्षाणां तथा पन्नगरक्षसाम् ।
चतुस्तालप्रमाणेन कर्तव्या तु गतिर्बुधैः ॥ १५ ॥
दिवौकसां तु शेषाणां मध्यमा गतिरुच्यते ।
तत्रापि चोत्तमा ये तु तेषां देवैः समा गतिः ॥ १६ ॥
पुलिन्दाः शबराश्चैव शेषा ये म्लेच्छजातयः ।
तेषां देशानुरूपेण कार्यं गतिविचेष्टितम् ॥ १७ ॥
जलाशयमृगव्यालपशुश्वापदपक्षिणाम् ।
देशजातिसमुत्थेन गतिं भावेन योजयेत् ॥ १८ ॥
स्थितं मध्यं द्रुतं चैव समवेक्ष्य लयं बुधैः ।
पादयोः पतनं सम्यक्प्रकुर्वीत यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की स्वाभाविक गति में जानु को कटि के सम (बराबर) रखे और युद्धचारी के प्रचार में जानु को स्तन (वक्षस्थल) के बराबर रखे ॥ १३ ॥

अनुवाद—यह विधि (विधान) स्वच्छन्द-गमन के लिए करनी चाहिए। सम्भ्रम अर्थात् घबड़ाकर उठने में और रोष (क्रोध) में कोई विधान नहीं है ॥१४॥

अनुवाद—दृप्त, दैत्य, यक्ष, पन्नग और राक्षसों की गति विद्वानों को चार ताल के प्रमाण से करनी चाहिए ॥ १५ ॥

अनुवाद—अन्य द्युलोकवासियों की मध्यमा गति कही गई है। उनमें जो उत्तम पात्र है उनकी गति देवताओं के समान होनी चाहिए ॥ १६ ॥

अनुवाद—पुलिन्द, शबर और शेष जो म्लेच्छ जातियाँ हैं, देश के अनुसार उनकी गति एवं चेष्टाएँ होनी चाहिए ॥ १७ ॥

अनुवाद—जलाशय, मृग, व्याल, पशु, श्वापद और पक्षियों की गति (चाल) देश और जाति के अनुसार संयोजित करे ॥ १८ ॥

अनुवाद—विद्वानों को स्थित, मध्य और द्रुत लय को अच्छी तरह देखकर अच्छी तरह पाद-पातन करना चाहिए ॥ १९ ॥

स्थैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानां मध्या गतिर्मध्यमसंस्थितानाम् ।
द्रुता गतिश्च प्रचुराधमानां लयत्रयं सत्त्ववशेन योज्यम् ॥ २० ॥

चतुष्कलं तूत्तमानां मध्यानां द्विकलं भवेत् ।
तथा चैककलं पातं नीचानां संप्रयोजयेत् ॥ २१ ॥

यः समैः संहितो गच्छेत्तत्र कार्यो लयाश्रयः ।
चतुष्कलश्च द्विकलस्तथा चैककलः पुनः ॥ २२ ॥
अथ मध्यमनीचैस्तु गच्छेत्संपरिवारितः ।
चतुष्कलस्तथार्धं च तथा चैककलो भवेत् ॥ २३ ॥

एवमेव तु विज्ञेयः कलानां गमने विधिः ।
पुनर्गतिप्रचारस्य प्रयोगं शृणुतानघाः ? ॥ २४ ॥
पार्श्वाक्रान्तैः सललितैः पार्श्वाद्यान्वितैरथ ।
रङ्गकोणोन्मुखो गच्छेत्सम्यक्पञ्चपदानि तु ॥ २५ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की गति स्थिरता से युक्त (स्थित) लय में, मध्यम पात्रों की गति मध्य (मध्य लय में) तथा अधम पात्रों की गति द्रुत लय में होनी चाहिए। इस प्रकार सत्त्व के अनुसार तीनों लयों को योजना करनी चाहिए ॥ २० ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों का पाद-पात चतुष्कल, मध्यम पात्रों का द्विकल और नीच पात्रों पाद-पात एक कल का होना चाहिए ॥ २१ ॥

अनुवाद—जहाँ सम स्थिति वाले पात्रों के साथ चलना हो, तो वहाँ गति लय (स्थिर, मध्य, द्रुत) के आधार पर चतुष्कल, द्विकल और एककल के अनुसार होनी चाहिए ॥ २२ ॥

अनुवाद—जब मध्यम और नीच पात्रों के साथ चलना हो तो चतुष्कल, द्विकल और एककल के अनुसार चलना चाहिए ॥ २३ ॥

अनुवाद—हे अनघ ! इस प्रकार कला के विषय में यह विधि समझनी चाहिए। अब गति-प्रचार के प्रयोग को सुनिये ॥ २४ ॥

अनुवाद—वाद्य-ध्वनि से युक्त, पार्श्वक्रान्ता चारी के अनुसार सुन्दर ललित पैरों से रङ्गमञ्च के कोण में उन्मुख होकर पाँच पग चले ॥ २५ ॥

एवं गतागतैर्गत्वा पदानामेव विंशतिम् ।
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणस्य च ॥ २६ ॥

रङ्गे विकृष्टे भरतेन कार्यो गतागतैः पादगतिप्रचारः ।
त्र्यश्रस्त्रिकोणे चतुरश्ररङ्गे गतिप्रचारश्चतुरश्र एव ॥ २७ ॥

द्रुता गतिस्तु कर्तव्या द्विकला पादपातने ।
ज्येष्ठे चतुष्कला कार्या द्विकला तत्र मध्यमे ॥ २८ ॥

द्विकला चोत्तमे यत्र मध्ये त्वेककला भवेत् ।
कलाप्रमाणं मध्ये च नीचे त्वर्धकला ततः ॥ २९ ॥

एवमर्धार्धहानिं तु कलानां संप्रयोजयेत् ।
उत्तमानां गतिर्या तु न तां मध्येषु योजयेत् ॥ ३० ॥

या गतिश्चैव मध्यानां न तां नीचेषु योजयेत् ॥ ३१ ॥

उत्तमानां मयोक्ता तु गतिर्विप्राः यथायथम् ।
मध्यानामधमानां च गतिं वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आने-जाने के प्रकार से पैरों के बीस पग (कदम) चलकर बाये पैर से वेध करे और फिर दक्षिण पाद से विक्षेप करे ॥ २६ ॥

अनुवाद—विकृष्ट रङ्गपञ्च पर अभिनेता के बार-बार आने-जाने के प्रकार से पाद-प्रचार करे। त्रिकोण रङ्गमञ्च पर त्र्यस्र और चतुष्कोण रङ्गमञ्च पर चतुरस्र गति प्रचार करना चाहिए ॥ २७ ॥

अनुवाद—पाद-पातन में द्रुत लय के अनुसार दो कला की गति होनी चाहिए। जब उत्तम पात्रों की गति चार कला प्रमाण की हो तो मध्यम पात्रों की गति दो कला प्रमाग की होनी चाहिए और जहाँ पर उत्तम पात्र की गति दो कला को हो तो मध्यम पात्र की गति एक कला को होनी चाहिए और जब मध्यम पात्रों की गति एक कला की हो तो अधम पात्रों की गति अर्द्धकला प्रमाण की होनी चाहिए ॥२८-२९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कलाओं का प्रमाण आधा-आधा कम करके प्रयोग करना चाहिए। उत्तम पात्रों की जो गति हो, उसे मध्यम पात्र की गति में प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३० ॥

वणिजां मन्त्रिणां चैव गतिः कार्या स्वभावजा ।
अतिक्रान्तपदैः सा तु द्वितालान्तरगामिभिः ॥ ३३ ॥
कृत्वा नाभितटे हस्तमुत्थानं खटकामुखम् ।
आद्यं चारालमुत्तानं कुर्यात्पार्श्वस्तनान्तरे ॥ ३४ ॥
न निषण्णं न च स्तब्धं न चैव परिवाहितम् ।
कृत्वा गात्रं तथा गच्छेत्तेन वाद्यक्रमेण तु ॥ ३५ ॥
हासे त्वथ गतिः कार्या तथा खञ्जनवामने ।
द्विकलार्धप्रयोगेषु (कुहको दाम्भिकः) कुहकाभिनयं प्रति ॥ ३६ ॥
खञ्जे गतिस्तु कर्तव्या स्तब्धैकचरणाश्रया
तथा द्वितीयः कार्यस्तु पादोऽग्रतलसंचरः ॥ ३७ ॥
स्तब्धेनोन्नमनं कार्यमङ्गस्य चरणेन तु ।
गमने च निषण्णः स्यात्तथान्यचरणाश्रये ॥ ३८ ॥

अनुवाद—जो गति मध्यम पात्रों की बताई गई है उसे अधम पात्रों की में प्रयोग न करे। हे विप्रों ! मैंने उत्तम पात्रों की गति बतलाई है। अब मध्यम और अधम पात्रों की गति बतलाता हूँ। वणिक् (बनियों) और मन्त्रियों की गति उनके स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

अनुवाद—बनियों और सचिवों की गति दो ताल के अन्तर पर अतिक्रान्त चारी में होनी चाहिए। इसमें खटकामुख हस्त को उत्तान करके नाभि पर रखकर, फिर अराल मुद्रा में एक हस्त को उत्तान करके दोनों स्तनों के मध्य में पार्श्व में रखे। शरीर को स्थित, स्तब्ध और परिवाहित (हिलाते हुए) न रखकर वादन के क्रम से चले ॥ ३३-३५ ॥

अनुवाद—हास्य उत्पन्न करने के लिए लूले, लंगड़े और बौने की गति से चलनी चाहिए। दम्भी अथवा ईर्ष्यालु व्यक्तियों की गति २½ कला की होनी चाहिए।

अनुवाद—खञ्ज व्यक्ति की गति में एक पैर स्तब्ध रखना चाहिए तथा दूसरा पैर अग्रतलसञ्चर में होना चाहिए। इसमें स्तब्ध पैर से शरीर का उत्थापन करना चाहिए और गमन में दूसरे पैर को निषण्ण रखे। लंगड़े व्यक्ति की गति में यही क्रम रखना चाहिए, पैर के तलवे में चोट, घाव होने, काँटा चुभने में इसी गति का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ३६-३८ ॥

एष खञ्जप्रयोगेषु तलशल्यक्षते तथा ।
पादेनाग्रतलेनाथ गतिः कार्याऽञ्चितेन तु ॥ ३९ ॥
निषण्णदेहा कर्तव्या नतजङ्घा तथैव तु ।
सर्वसंकोचिताङ्गी च वामने गतिरिष्यते ॥ ४० ॥
न तस्यातिक्रमः कार्यो विक्षेपश्चरणस्य तु ।
उद्वाहिता चूर्णपदैः सा कार्या कुहकात्मिका ॥ ४१ ॥
विदूषकस्यापि गतिर्हास्यत्रयविभूषिता ।
अङ्गहास्यं कार्यहास्यं हास्यं नेपथ्यजं तथा ॥ ४२ ॥
कुब्जः खञ्जोऽथ खलतिर्दन्तुरो विकृताननः ।
यत्तादृशो भवेद्विप्राः ! अङ्गहास्यं तु तद्भवेत् ॥ ४३ ॥
यदा तु बकवद् गच्छेदुल्लोकितविलोकितैः ।
अत्यायतपदत्वाच्चाप्यङ्गहास्यो भवेत्तु सः ॥ ४४ ॥
चीरचर्ममषीभस्मगैरिकादिविभूषणैः ।
यत्तादृशो भवेद्विप्राः ! हास्यं नेपथ्यजं तु तत् ॥ ४५ ॥

अनुवाद—अग्रतल सञ्चर तथा अञ्चित पैर से शरीर को स्थित एवं जङ्घा को नत (झुका हुआ) करके पङ्गु-पात्र का अभिनय करना चाहिए ॥ ३९ ॥

अनुवाद—बौने पात्र की गति में सम्पूर्ण अङ्ग को सङ्कुचित रखना चाहिए । उसका अतिक्रमण और पैरों का विक्षेप नहीं करना चाहिए ॥ ४० ॥

अनुवाद—तीन प्रकार के हास्यों से विभूषित चूर्णपदों से उद्वाहित दम्भ अथवा ईर्ष्या से युक्त विदूषक की गति का अभिनय करना चाहिए ॥ ४१ ॥

अनुवाद—अङ्गकृत हास्य, कार्यहास्य और नेपथ्यज हास्य ये तीन प्रकार के हास्य होते हैं। हे मित्रों ! दन्तुर (बड़े-बड़े दाँतों वाला) गञ्जा, कुबड़ा, लंगड़ा और विकृत मुख वाले इस प्रकार के विदूषक का प्रवेश हो तो 'अङ्गहास्य' कहलाता है। यदि वही पात्र बगुले की तरह ऊपर-नीचे देखते हुए और लम्बे-लम्बे डग भरते हुए चले तो भी 'अङ्गहास्य' होता है ॥ ४२-४४ ॥

अनुवाद—चीर (चिथड़े), चर्म, मसी (स्याही) भस्म और गैरिक (गेरु) आदि से विभूषित पात्र जहाँ हों, वह नेपथ्यज हास्य कहलाता है ॥ ४४-४५ ॥

कार्यहास्यं तु विज्ञेयमसंवद्धप्रभाषणैः ।
अनर्थवाक्यैर्विविधैस्तथा चाश्लीलभाषणैः ॥ ४६ ॥
तस्य तु प्रकृतिं ज्ञात्वा तथा भावं विचक्षणः ।
गतिप्रचारं विभजेन्नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ ४७ ॥
स्वभावजायां विन्यस्य कुटिलं वामके करे ।
दक्षिणं चैव हस्तं तु कुर्याच्चतुरकं तथा ॥ ४८ ॥
पार्श्वमेकं शिरश्चापि हस्तं चरणमेव च ।
पर्यायतः सन्नमयेल्लयतालवशानुगम् ॥ ४९ ॥
स्वभावजाता तस्यैषा गतिरन्या विकारजा ।
लाभे तथा च भुक्तस्य तुष्टे चापि गतिर्भवेत् ॥ ५० ॥
शकारस्यापि कर्तव्या गतिश्चञ्चलदेहिका ।
वस्त्राभरणसंस्पर्शं सम्यक् पञ्चपदानि तु ॥ ५१ ॥
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपं दक्षिणेन च ।
परिवृत्य द्वितीयं तु गच्छेत्कोणं ततः परम् ॥ ५२ ॥

अनुवाद—असम्बद्ध भाषण, निरर्थक और विकार युक्त अश्लील भाषण से युक्त हास्य 'कार्यहास्य' कहलाता है ॥ ४६ ॥

अनुवाद—विद्वान् पुरुष उसकी प्रकृति और भाव को जानकर नाना अवस्थाओं के अनुसार गति प्रचार का विभाजन करे ॥ ४७ ॥

अनुवाद—स्वाभाविक गति के अभिनय में बायें हाथ को कुटिल करके दाहिने हाथ को चतुरक हस्तमुद्रा में रखे। उसके बाद एक पार्श्व, शिर, हाथ तथा पैर को क्रम से ताल और लय के अनुसार झुका दे। यह स्वाभाविक गति है, इसके अतिरिक्त विकारजा गति होती है ॥ ४८-५० (१) ॥

अनुवाद—उपभोग किये हुए वस्त्रादि के लाभ में और सन्तुष्ट होने पर इस (विकरजा) गति का प्रयोग करे। शकार को गति चञ्चल शरीर से करनी चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

अनुवाद—इसमें अभिनेता वस्त्र और आभूषणों का स्पर्श करता हुआ पाँच पग चले। उसके बाद बामवेध करे फिर दाहिने पैर से विक्षेप करे ॥५१-५२॥

तत्रापि वामवेधं तु विक्षेपो दक्षिणेन च।
ततो भाण्डोन्मुखो गच्छेदेतान्येव पदानि तु ॥ ५३ ॥
एवं गतागतैर्गत्वा पदानि त्वेकविंशतिम्।
वामवेधं ततः कुर्याद्विक्षेपः दक्षिणेन च ॥ ५४ ॥
एषा स्वभावगमने गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः।
अवस्थान्तरयोगे तु गतिं समनुबोधत ॥ ५५ ॥
अस्वस्थकामिते चैव भयवित्रासयोस्तथा।
आवेगे च तथा हर्षे तथानिष्टश्रुतावपि ॥ ५६ ॥
कालातिक्रमणे चैव क्षेपे चाद्भुतदर्शने।
कार्ये आत्ययिके चैव दुःखिते चारिमार्गणे ॥ ५७ ॥
अवरुद्धानुसरणे श्वापदानुगतौ तथा।
गतिमेतेषु भावेषु द्विकलां संप्रयोजयेत् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—उसके बाद दूसरे पैर को परिवर्त्तित कर दूसरे कोण में रखे। फिर बायें पैर से बेध करे और दाहिने पैर से विशेष करे। फिर भाण्ड-वाद्य की ओर उन्मुख होकर उतने ही पग चले ॥ ५२-५३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आने-जाने से इक्कोस पग चलकर फिर बाये पैर से वेध करे और दाहिने पैर से विक्षेप करे। प्रयोक्ताओं को स्वाभाविक गति में इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

अनुवाद—इसके बाद अन्य अवस्थाओं के योग में गति को समझिये। अस्वस्थकामित (प्रच्छन्न कामुक), भय, वित्रासन (डराये हुए), आवेग, हर्ष, और अनिष्ट बात के श्रवण में, समय के अतिक्रमण में निन्दा, अद्भुत वस्तु के दर्शन कष्टकर कार्य में या उत्पात-सूचक कार्य में, दुःख में, शत्रु के खोजने में, अपराधो के पकड़ने में, व्याघ्रादि हिंसक जानवरों के अनुसरण में इन भावों के प्रदर्शन में द्विकला गति का प्रयोग करे और देवताओं एवं राजाओं की गति का इसी प्रकार का विधान लाना चाहिए ॥ ५५-५८ ॥

दिव्यानां नृपतीनां च गतिरेवं विधीयते ।
अत्रोच्यते कथं देवैः समा राज्ञां गतिर्भवेत् ॥ ५९ ॥
दिव्या तु प्रकृतिर्ज्ञेया तथान्या दिव्यमानुषी ।
मानुषी चैव मन्तव्या नाट्यवृत्तिक्रियां प्रति ॥ ६० ॥
दिव्या तु देवप्रकृती राज्ञां स्याद्दिव्यमानुषी ।
अन्या या लोकसंस्था तु मानुषी सा प्रकीर्तिता ॥ ६१ ॥
तस्माद्देवानुकरणे दोषस्तत्र न विद्यते ।
गतिः शृङ्गारिणी कार्या स्वस्थकामितसंभवा ॥ ६२ ॥
चतुष्कलाप्रमाणेन सविलासा तथैव च ।
दूतीदर्शितमार्गस्तु प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ॥ ६३ ॥
सूच्या चैवाप्यभिनयं प्रकुर्यादर्थसंश्रयम् ।
हृद्यैर्वस्त्रैस्तथागन्धैर्धूपैश्चूर्णैश्च योजितैः ॥ ६४ ॥
सुगन्धिभिश्च मालाभिर्विचित्राभिरलंकृतः ।
गच्छेत्सललितैः पादैरतिक्रान्तोत्थितैरथ ॥ ६५ ॥
सौष्ठवेन समायुक्तैर्लयतालवशानुगैः ।
पादयोरनुगौ चापि हस्तौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—अब कहते हैं कि देवताओं के समान राजाओं को गति क्यों होती है? क्योंकि नाट्य एवं नृत्त क्रिया में प्रकृति तीन प्रकार को होती है—दिव्य प्रकृति, और दिव्यमानुषी तथा मानुषी। उनमें देवताओं की प्रकृति दिव्य, राजाओं की प्रकृति की दिव्य-मानुषी और अन्य लोक प्रसिद्ध पात्रों की प्रकृति मानुषी होती है। इसलिए देवताओं के अनुकरण करने में कोई दोष नहीं है॥ ५९-६२॥

अनुवाद—स्वस्थ अर्थात् अप्रच्छन्न कामुक की गति शृङ्गारिणी, चार कला प्रमाण की और ललित (विलासयुक्त) होती है॥ ६२-६३॥

अनुवाद—स्वस्थ कामुक (शृङ्गारी) दूती के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे और वह किसी अर्थ विशेष का आश्रय लेकर सूचा चारी के द्वारा अभिनय करे॥ ६३-६४॥

प्रच्छन्नकामिते चैव गतिं भूयो निबोधत ।
विसर्जितजनस्तत्र तथा दूतीसमन्वितः ॥ ६७ ॥
निर्वाणदीपो नात्यर्थं भूषणैश्च विभूषितः ।
वेलासदृशवस्त्रश्च निवृत्तस्तु शनैः शनैः ॥ ६८ ॥
शब्दशंक्युत्सुकश्चापि पश्चाल्लोकनतत्परः ।
वेपमानशरीरश्च प्रस्खलंस्तु मुहुर्मुहुः ॥ ६९ ॥
शङ्कितः पुरुषो गच्छेद्दिदृक्षुर्वल्लभं जनम् ।
उत्तमानामियं कार्या पुरुषाणां गतिर्बुधैः ॥ ७० ॥
मध्यमानां गतिं चैव संप्रवक्ष्याम्यहं पुनः ।
ज्वरार्ते च रुजार्ते च तपः श्रान्ते भयान्विते ॥ ७१ ॥
विक्षते छन्नगमने त्ववहित्थे तथैव च ।
चिन्तान्विते तथा स्वस्थ औत्सुक्ये संहते तथा ॥ ७२ ॥
गतिः स्थिरलया कार्या करणाश्रयभाविनी ।

अनुवाद—आकर्षक वस्त्रों से सुसज्जित, गन्ध, धूप और पाउडर से सुवासित, चित्र-विचित्र सुगन्धित मालाओं से अलङ्कृत होकर ललित गति से 'अतिक्रान्त' चारी में और ताल, लय एवं कला के अनुसार सौष्ठव ने युक्त सुन्दर गति से चले। नाट्य-प्रयोक्ताओं को पादों के अनुसार हाथों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६४-६६ ॥

अनुवाद—अब प्रच्छन्न कामुक की गति को समझिये। प्रच्छन्न कामुक अपने सहचरों को लौटाकर दूती के साथ चले। दीपक को बुझाकर अधिक अलङ्कारों से अलङ्कृत न होकर, समय के अनुसार वस्त्रों को धारण कर शब्दों के आहट की शङ्का से पीछे देखते हुए, काँपते हुए शरीर से, बार-बार लड़खड़ाते हुए, सशङ्कित पुरुष अपनी प्रियजन को देखने की इच्छा से मन्द गति से गमन करे। विद्वानों ने इसे उत्तम पात्रों की गति कही है ॥ ६७-७० ॥

अनुवाद—अब पुनः मध्यम पात्रों की गति को कहता हूँ। ज्वर से पीड़ित, रोग से पीड़ित, तप से श्रान्त, भय से युक्त, विस्मय, अवहित्थ, प्रच्छन्न गमन में अथवा स्वच्छन्द गमन में, चिन्ता से युक्त, स्वस्थ और औत्सुक्य से समन्वित अवस्था में करणों के आश्रित स्थिर लय में गति प्रचार करना चाहिए ॥ ७१-७२ ॥

भये वित्रासिते चैव प्रमत्ते शङ्किते तथा ॥ ७३ ॥
व्याधिते हर्षिते क्रोधे कार्यं तु चतुराञ्चितम् ।
संभ्रमाद्‌भुतसंदर्शे मुहुर्मुहुरवेक्षणैः ॥ ७४ ॥
कम्पनेन च गात्राणां वस्त्रस्याकर्षणेन च ।
सुगन्धिता चूर्णपदा शकारस्य गतिर्भवेत् ॥ ७५ ॥
स्थूलस्यापि तु कर्तव्या गतिर्देहानुकर्षिणी ।
समुद्वाहितगात्रा च विलम्बितपदक्रमा ॥ ७६ ॥
विष्कम्भगामिनो चैव निश्वासबहुला तथा ।
अतिक्रान्ता च कर्तव्या तथा चूर्णपदैः सदा ॥ ७७ ॥
कार्या चैव तु होनानां चेट्यादीनां द्विजोत्तमाः ।
अधमा इति ये ख्याता नानाशीला कुवृत्तयः ॥ ७८ ॥
पार्श्वमेकं शिरश्चैव करं चरणमेव च ।
नामयेत्तद्‌गतौ किञ्चित्कुजन्मा चेटसंज्ञितः ॥ ७९ ॥

अनुवाद—भय में, वित्रासन में, प्रमाद में, शङ्कित अवस्था में, व्याधिग्रस्त दशा में, हर्षित अवस्था में और क्रोध में चतुराञ्चित गति का प्र.ोग करना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनुवाद—घबड़ाहट से अद्भुत वस्तु के दर्शन में, बार-बार-इधर-उधर देखने से, शरीर के कम्पन के द्वारा, वस्त्रों के आकर्षण के द्वारा, सुगन्धित चूर्णपदों के द्वारा शकार की गति प्रदर्शित करे ॥ ७४-७५ ॥

अनुवाद—स्थूल पुरुष की गति शरीर का अनुकर्षण करने वाली शरीर को संभालने की चेष्टा से युक्त, विलम्बित पदक्रम वाली, किसी सहारे से चलने वाली तथा अधिक श्वास-प्रश्वास से युक्त अतिक्रान्त च.री में चूर्ण पदों से प्रदर्शित करनी चाहिये ॥ ७५-७७ (१) ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ? चेटी आदि हीन पात्रों की और जो दुराचारी स्वभाव वाले अधम पात्र हैं, उनकी गति में एक पार्श्व, शिर, हाथ और पैर को झुका दे और चेट संज्ञक जो कुजाति पात्र है, उनकी और नीच जातियों की गति इधर-उधर देखने वाली होनी चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

जातिनीचेषु कर्तव्या विलोकनपरा गतिः ।
विकला वकसंचारा गात्रं सर्वं नियम्य च ॥ ८० ॥
स्वजातिसदृशी चैव तथा देहानुकर्षिणी ।
संभ्रमे चैव हर्षे च विक्षिप्तपदविक्रमा ॥ ८१ ॥
आसाद्य हास्यं तु रसमेताश्चान्याश्च योजयेत् ।
पुनश्च करुणे कार्या गतिः स्थिरपदक्रमा ॥ ८२ ॥
सबाष्पः साश्रुनयनः सन्नगात्रस्तथैव च ।
उत्क्षिप्तपातितकरः तथा सस्वनरोदनैः ॥ ८३ ॥
गच्छेदथाध्यर्धिकया प्रत्यग्राप्रियसंश्रयात् ।
एषा स्त्रीषु प्रयोक्तव्या नीचसत्त्वेषु चैव हि ॥ ८४ ॥
उत्तमानां तु कर्तव्या सबाष्पा धैर्यसंयुता ।
निश्वासैरायतोत्सृष्टैस्तथा चोर्ध्वंनिरीक्षणैः ॥ ८५ ॥
न तत्र सौष्ठवं कार्यं न प्रमाणं यथोदितम् ।

अनुवाद—नीच पात्रों की गति विकल, बगुले के समान गति वाली समस्त शरीर नियन्त्रित कर अपनी जाति के समान शरीर को अनुकर्षित करने वाली होनी चाहिये ॥ ८० ॥

अनुवाद—सम्भ्रम एवं हर्ष में पैरों की गति विक्षिप्त गति वाली अर्थात् लड़खड़ाती हुई होनी चाहिये। हास्य रस के अभिनय में ऐसी ही गति और अन्य उचित गति की योजना होनी चाहिये ॥ ८१ ॥

अनुवाद—करुण रस में स्थिर पैरों से उपलक्षित गति होनी चाहिये। आँसुओं से भरे हुए नेत्र, सुन्न शरीर, हाथों को उठाकर फिर नीचे पटकना, चिल्ला-चिल्लाकर रोना आदि का अभिनय नवीन अप्रिय घटना के समय में अध्यर्धिका चारी के द्वारा करना चाहिये। इस गति का प्रयोग स्त्रियों तथा नीच पात्रों के विषय में करना चाहिये ॥ ८२-८३ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों की गति का अभिनय धैर्य से युक्त, आँसुओं से परिप्लुत, लम्बे लम्बे छोड़े गये दीर्घ निःश्वास और ऊर्ध्व-निरीक्षण के द्वारा करना चाहिये। इस अभिनय में न सौष्ठव का विधान है और न पादपात का कोई प्रमाण है ॥ ८४-८६ (१) ॥

नात्युत्क्षिप्तैः पदैर्गच्छेदिष्टबन्धुनिपातने ॥ ८६ ॥
गाढ़े प्रहारे कार्या च शिथिलाङ्गभुजाश्रया ।
विघूर्णितशरीरा च गतिश्चूर्णपदैरथ ॥ ८७ ॥

गतिः कञ्चुकिनी प्रोक्ता वयोऽवस्था विशेषतः ।
वृद्धे वा मध्यमे वापि तथा चैव कनीयसी ॥ ८८ ॥
अर्धतालोत्थितैः पादैर्विष्कम्भैर्ऋजुभिस्तदा ।
उद्वहन्निव गात्राणि पङ्कमग्न इव व्रजेत् ॥ ८९ ॥

अथ वृद्धस्य कर्तव्या गतिः कम्पितदेहिका ।
विष्कम्भितगतिप्राणा मन्दोत्क्षिप्तपदा तथा ॥ ९० ॥

शीतेन चाभिभूतस्य वर्षेणाभिद्रुतस्य च ।
गतिः प्रयोक्तृभिः कार्या स्त्रीनीचप्रकृतौ सदा ॥ ९१ ॥
पिण्डीकृत्य च गात्राणि तेषां चैव प्रकम्पनात् ।
करौ वक्षसि निक्षिप्य कुब्जहा तथैव च ।
दन्तोष्ठस्फुरणाच्चैव चिबुकस्य प्रकम्पनात् ॥ ९२ ॥
शनैः शनैश्च कर्तव्या शीतार्ताभिनये गतिः ।
उष्णे चापि प्रयोक्तव्या गतिर्दाहसमाकुला ॥ ९३ ॥

अनुवाद—इष्ट बन्धुओं अर्थात् प्रियजनों के विनाश होने पर पैरों को बहुत ऊँचे उठाकर नहीं चलना चाहिये। गाढ़ प्रहार के समय अङ्गों को शिथिल कर भुजाओं के आश्रित, शरीर को घुमाते हुए चूर्णपदों से गति का अभिनय करे॥ ८६-८७ (१) ॥

अनुवाद—कञ्चुकी को गति वय और अवस्था (स्थिति) के अनुसार कही गई है। वृद्ध अथवा युवा अथवा कम अवस्था का कञ्चुकी अर्धताल पर उठाये हुए पैरों से, लाठी के सहारे कोमल गति शरीर को कीचड़ में सने हुए के समान धारण किये हुए के समान गति प्रदर्शित करे॥ ८७-८९ (१) ॥

अनुवाद—वृद्ध कञ्चुकी की गति का अभिनय शरीर को कँपाते हुए, लाठी के सहारे धीरे-धीरे पैरों को उठाते हुए करना चाहिये॥ ८९-९० (१)

नेत्रसंकोचनस्वेदगात्रसंहरणान्विता ।
अतिक्रान्तैरपक्रान्तैरेलकाक्रीडितैस्तथा ॥ ९४ ॥

क्रमैरभिनयैर्युता तथा चूर्णपदैरपि ।
एतानन्यांश्च युञ्जीत नाट्यज्ञैः करुणे रसे ॥ ९५ ॥

रौद्रे रसे प्रवक्ष्यामि दैत्यरक्षोगणान् प्रति ।
एक एव रसस्तेषां स्थायी रौद्रौ द्विजोत्तमाः ॥ ९६ ॥

नेपथ्यरौद्रौ विज्ञेयः स्वाङ्गरौद्रस्तथैव च ।
अथ स्वभावजश्चैव त्रिधा रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ९७ ॥

रुधिरक्लिन्नदेहो यो रौद्राभिविकृताननैः ।
तथा पिशितहस्तश्च रौद्रो नेपथ्यजस्तु सः ॥ ९८ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को शीत (ठण्ड) से अभिभूत तथा वर्षा से पीड़ित स्त्री और अधम पात्रों की गति का अभिनय शरीर को सिकोड़कर अङ्गों को कँपाते हुए, दोनों हाथों को वक्षःस्थल पर रखकर, कुबड़े की तरह टेढ़ा होकर, दांत और ओठों को फड़काते हुए, चिबुक (ठुड्डी) के कम्पन के द्वारा धीरे-धीरे करना चाहिये और गर्मी के पीड़ित होने पर दाह (जलन) से व्याकुल गति का प्रयोग करना चाहिये ॥ ९०-९३ ॥

अनुवाद—नेत्र का संकोचन, पसीना आना, शरीर का संहरण, अतिक्रान्त, अनाक्रान्त और एलकाक्रीड़ित चारियों के द्वारा चूर्ण पदों से गर्मी से पीड़न का अभिनय करना चाहिये। नाट्यवेत्ताओं को इसी प्रकार का अभिनय करुण रस में भी करना चाहिये ॥ ९४-९५ ॥

अनुवाद—अब मैं रौद्र रस के विषय में दैत्य, दानव, राक्षसों की गति को कहता हूं। हे ब्राह्मणों? उनके यहाँ रौद्र ही एक मात्र स्थायी रस होता है ॥ ९६ ॥

अनुवाद—रौद्र रस नेपथ्य रौद्र, अङ्ग रौद्र और स्वभाव रौद्र भेद से तीन प्रकार का होता है ॥ ९७ ॥

अनुवाद - रुधिर (खून) से सना हुआ शरीर और रक्त से विकृत मुख तथा हाथ में मांस के टुकड़े लिये रहना 'नेपथ्य रौद्र' कहलाता है ॥ ९८ ॥

बहुबाहुर्बहुमुखो नानाप्रहरणाकुलः ।
स्थूलकायस्त्वतिप्रांशुरङ्गरौद्रस्तु स स्मृतः ॥ ९९ ॥

रक्ताक्षः पिङ्गकेशश्च कृष्णाङ्गो विकृतस्वरः ।
रौद्रनिर्भर्त्सनकथो रौद्रोऽयं स्यात्स्वभावजः ॥ १०० ॥

चतुस्तालान्तरोत्क्षिप्तैः पादैस्त्वन्तरपातितैः ।
गतिरेवं प्रकर्तव्या शेषा ये चापि तद्विधाः ॥ १०१ ॥

एक एव रसस्तेषां स्थायी रौद्रो द्विजोत्तमाः ।
विग्रहः प्रहसश्चैव तथा शृङ्गार इष्यते ॥ १०२ ॥

तथा भयानके चापि गतिः कार्याः विचक्षणैः ।
स्त्रीणां कापुरुषाणां च ये चान्ये सत्त्ववर्जिताः ॥ १०३ ॥

अनुवाद—अनेक भुजाओं एवं अनेक हाथों वाला तथा अनेक प्रकार के आयुधों से युक्त, अत्यन्त लम्बा और स्थूल शरीर वाला होना 'अङ्ग रौद्र' कहलाता है ॥ ९९ ॥

अनुवाद—लाल आँखे, पीले केश, काले रङ्ग, विकृत स्वर, रूखा स्वभाव होना और फटकारने में तत्पर रहना 'स्वभावज रौद्र' कहलाता है ॥ १०० ॥

अनुवाद—रौद्र रस में चार ताल के अन्तर पर पैरों को उठाकर फिर तीन ताल के अन्तर पर गिराया जाता है और जो उनके समान प्रकृति के अन्य पात्र है, उन्हें भी ऐसीं ही गति करनी चाहिए ॥ १०१ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमो ! उनमें रौद्र ही एकमात्र स्थायी रस है। विग्रह, प्रहास और शृङ्गार में इष्ट है ॥ १०२ ॥

अनुवाद—भयानक रस के अभिनय में विद्वानों को स्त्री, कापुरुष (नीच) और अन्य स्त्री सत्त्व से वर्जित (बलहीन, कमजोर) व्यक्तियों की गति उसी प्रकार की सहज गति होनी चाहिए ॥ १०३ ॥

विष्फारितचलन्नेत्रो विधुन्वन् स्वशिरस्तथा ।
भयाकुलितचित्तत्वात्पार्श्वानि च विलोकयन् ॥ १०४ ॥

द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव कृत्वा हस्तं कपोतकम् ।
प्रलेपितशरीरस्तु शुष्कोष्ठश्च स्खलन् व्रजेत् ॥ १०५ ॥

एषानुकरणे कार्या तर्जने कलहे तथा ।
सत्त्वं च विकृतं दृष्ट्वा श्रुत्वा च विकृतस्वरम् ॥ १०६ ॥

एषा स्त्रीणां प्रयोक्तव्या नृणां चाक्षिप्तविक्रमा ।
क्वचिदासन्नपतितैर्विकृष्टपतितैः क्वचित् ॥ १०७ ॥

एलकाक्रीडितैः पादैरुपर्युपरिपातितैः ।
एषामेवानुगैर्हस्तैर्गतिर्भीतेषु योजयेत् ॥ १०८ ॥

अहृद्या तु मही यत्र श्मशानरणकश्मला ।
गतिस्तत्र प्रकुर्वीत बीभत्साभिनयं प्रति ॥ १०९ ॥

क्वचिदासन्नपतितैः विकृष्टपतितैः क्वचित् ।
अतिक्रान्तैः पदैर्गच्छेज्जुगुप्सितगतिं प्रति ॥ ११० ॥

अनुवाद—भयानक रस के अभिनय में नेत्र खुले हुए एवं चञ्चल, शिर कम्पित, भय से व्याकुल चित्त होने से बगल (पार्श्व) में झाँकते हुए, द्रुत तथा चूर्णपद गति से युक्त हाथ को कपोतक मुद्रा में रखकर, कम्पित शरीर और शुष्क (सूखा हुआ) रखते हुए स्खलित गति से चलना चाहिए ॥ १०४-१०५ ॥

अनुवाद—शत्रु के द्वारा पीछा किये जाने पर, फटकारने तथा डराने में इस गति का प्रयोग करना चाहिए। विकृत सत्त्व (प्राणी) को देखकर और विकृत आवाज को सुनकर आक्षिप्त (दबे हुए) पराक्रम वाले स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में इस गति का अभिनय करना चाहिए ॥ १०६-११० ॥

तथा वीरे च कर्तव्या पादविक्षेपसंयुता ।
द्रुतप्रचारणाविद्धा नानाचारीसमाकुला ॥ १११ ॥
पार्श्वाक्रान्तैर्द्रुताविद्धैः सूचीविद्धैस्तथैव च ।
कलातालगतैः पादैरावेगे योजयेद्गतिम् ॥ ११२ ॥
विटस्यापि तु कर्तव्या गतिर्ललितविक्रमा ।
किंचिदाकुञ्चितैः पादैस्तालाभ्यन्तरपातितैः ॥ ११३ ॥
अङ्गसौष्ठवसंयुक्तं तथा हस्तौ कटिस्थितौ ।
खटकावर्धमानौ च कृत्वा कार्या विटे गतिः ॥ ११४ ॥
कृशाङ्गानां तु कर्तव्या गतिर्मन्दपरिक्रमा ।
व्याधिग्रस्तो ज्वरार्तश्च तपश्श्रान्तः क्षुधान्वितः ॥ ११५ ॥
विष्टम्भनगतप्राणस्तथा क्षामोदरः सदा ।
क्षामस्वरकपोलश्च सन्नगात्रस्तथैव च ॥ ११६ ॥
हस्तपादसमुत्क्षेपं शनैस्तत्र प्रयोजयेत् ।
कम्पनं चैव गात्राणां श्लथनं चैव योजयेत् ॥ ११७ ॥

अनुवाद वीर रस में पाद-विक्षेप से युक्त, द्रुत प्रचार (गति) से आविद्ध तथा नाना प्रकार की चारियों से समाकुल पार्श्वक्रान्ता, द्रुताविद्धा और सूची-विद्धाचारियों से उपलक्षित, कला और ताल के अनुसार आवेश को दशा में गति का प्रयोग करे ॥ १११-११२ ॥

अनुवाद—विट पात्र की ललित एवं विलास युक्त गति का अभिनय करना चाहिए। अभिनेता थोड़ा-थोड़ा आकुञ्चित पावों को एक ताल के अन्तर पर रखते हुए सौष्ठव युक्त अङ्गों से युक्त और कटि भाग पर स्थित हाथों को खटकावर्धमानक स्थिति में रखकर करके विट की गति का अभिनय करे ॥ ११३-११४ ॥

अनुवाद—कृश अर्थात् दुबले-पतले शरीर वाले पात्र की गति धीरे-धीरे पैर के प्रक्षेप के द्वारा प्रदर्शित करे। व्याधि-ग्रस्त, ज्वर से पीड़ित, तप से श्रान्त, भूख से व्याकुल, दण्डे के सहारे चलने वाला, क्षीण उदर वाला, क्षीण स्वर और क्षीण कपोलों वाला, सुन्न शरीर वाला, कृशकाय पात्र धीरे-धीरे हाथ और पैरों का उत्क्षेपण करे तथा शरीर का कम्पन और शिथिलता प्रदर्शित करे ॥ ११५-११७ ॥

प्रकर्तव्याध्वगस्यापि गतिर्मन्दपरिक्रमा ।
विकूणनेन वक्त्रस्य जानुनोश्च विमर्शनात् ॥ ११८ ॥

नीचानां मध्यमानां च गतिः कार्या सदा बुधैः ।
तालमात्रोत्थितैः पादैस्तथा व्याकुञ्चिताञ्चितैः ॥ ११९ ॥

व्रतिनश्चाश्रमस्था ये ये चान्ये तपसि स्थिताः ।
ऋषयस्तापसाश्चैव नैष्ठिकं व्रतमास्थिताः ॥ १२० ॥

अलोलचक्षुः स्याच्चैव युगमात्रनिरीक्षणे ।
उपस्थितस्मृतिश्चैव गात्रं सर्वं नियम्य च ॥ १२१ ॥

अचञ्चलमनाश्चैव गच्छेल्लिङ्गसमाश्रितः ।
विनीतवेषश्च तथा काषायवसनोऽपि च ॥ १२२ ॥

प्रथमं समपादेन स्थित्वा स्थानेन नाट्यवित् ।
हस्तं चतुरकं कृत्वा तथा चैतत्प्रसारयेत् ॥ १२३ ॥

प्रसन्नं वदनं कृत्वा प्रयोगस्य वशानुगम् ।
सुनिषण्णेन गात्रेण गतिं कुर्याद्यतेस्तथा ॥ १२४ ॥

अनुवाद—पथिक (राहगीर) की गति मन्द-चाल मुख के सङ्कोचन तथा जङ्घाओं के विमर्शन के द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ ११८ ॥

अनुवाद—विद्वानों को नीच और मध्यम पात्रों की गति आकुञ्चित एवं अञ्चित तथा एक ताल पर उठाये हुए पैरों से प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ११९ ॥

अनुवाद—व्रती, आश्रमी, तपस्वी, ऋषि, तापस, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अचञ्चल (स्थिर) नेत्र, चार हाथ तक सामने दृष्टि डालते हुए, स्मृतिमान् अर्थात् सभी अभिनेय वस्तुओं को स्मृति में रखते हुए, समस्त शरीर को नियन्त्रित करके, स्थिर-चित्त होकर, भस्म, कौपीन आदि को धारण करने वाले लिङ्गी, सन्यासी, विनीत वेष और गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले सन्यासी पहले समपाद स्थान में स्थित होकर, हाथ को 'चतुर' हस्तमुद्रा में रखकर एक हाथ को फैला दे । फिर प्रसन्नमुख होकर तथा प्रयोग के अनुसार अस्थिर शरीर से गति को प्रदर्शित करे ॥१२०-१२४॥

उत्तमानां भवेदेषा लिङ्गिनां ये महाव्रताः ।
एभिरेव विपर्यस्तैर्गुणैरन्येषु लिङ्गिषु ॥ १२५ ॥
तथा व्रतानुगा च स्यादन्येषां लिङ्गिनां गतिः ।
हस्तौ तदनुगौ चापि यथायोगं प्रयोजयेत् ॥ १२६ ॥
विभ्रान्ता वा ह्युदात्ता च विक्रान्ता विहृता तथा ।
शकटास्यस्थितैः पादैरतिक्रान्तैस्तथैव च ॥ १२७ ॥
कार्या पाशुपतानां च गतिरुद्भ्रान्तगामिनी ।
एवं लिङ्गस्थितानां हि प्रयोज्यैव गतिर्बुधैः ॥ १२८ ॥
अन्धस्येव गतिं कुर्यादन्धकारेषु योगवित् ।
भूमौ विसर्पितैः पादैर्हस्तदर्शितमार्गकैः ॥ १२९ ॥
रथस्थस्यापि कर्तव्या गतिश्चूर्णपदक्रमा ।
समपादन्तथा स्थानं कृत्वा रथगतिं व्रजेत् ॥ १३० ॥
धनुरेकेन हस्तेन गृहीत्वान्ये सायकम् ।
सूतश्चास्य भवेदेवं प्रतोदप्रग्रहाकुलः ॥ १३१ ॥

अनुवाद—यह गति उत्तम लिङ्गियों और महाव्रतधारियों तपस्वियों के लिए है और उन्ही गुणों से विपरीत गुणों से अन्य यतियों के गति को योजना करनी चाहिए ।

अनुवाद—अन्य लिङ्गी सन्यासियों की गति व्रत के अनुसार होनी चाहिए । और जो विभ्रान्त (उन्मत्त), उदात्त, विक्रान्त एवं विहृत तथा पाशुपतव्रतधारो सन्यासी हैं, उनको उद्भ्रान्त गामिनी गति का अभिनय शकटास्या चारी तथा अतिक्रान्ताचारी में करनी चाहिए। इस प्रकार विद्वानों को सन्यासियों की गति प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ १२६-१२८ ॥

अनुवाद—नाट्य प्रयोक्ताओं को अन्धकार में अन्धे के गति के समान पैरों को भूमि पर सरकाते हुए और हाथों से मार्ग को टटोलते हुए चलना चाहिए ॥ १२९ ॥

अनुवाद—रथ पर बैठे हुए पात्र की गति की चूर्णपदों द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए और रथारूढ पात्र समपाद स्थानक को करके एक हाथ में धनुष लेकर और दूसरे हाथ में बाण लेकर रथ की गति का अभिनय करे ।

करणानि विचित्राणि कर्तव्यानि विभागतः ।
द्रुतैश्चूर्णपदैश्चैव गन्तव्यं रङ्गमण्डलम् ॥ १३२ ॥

विमानस्थस्य कर्तव्या गती रथगतोपमा ।
आरोढुमुद्वहेद्गात्रं किंचित्स्यादुन्मुखस्तथा ॥ १३३ ॥

अस्यैव वैपरीत्येन कुर्याच्चाप्यवरोहणम् ।
अधोऽवलोकनेनैव मण्डलावर्तनेन च ॥ १३४ ॥

आकाशगमने चैव कर्तव्यं गतिचेष्टितम् ।
स्थानेन समपादेन तथा चूर्णपदैरथ ॥ १३५ ॥

व्योम्नस्त्ववतरेद्यस्तु तस्येमां कारयेद्गतिम् ।
ऋज्वायतोन्नतनतैः कुटिलावर्तितैस्तथा ॥ १३६ ॥

भ्रममाणस्य चाकाशादपरुद्धभुजागतिः ।
विकीर्णवसना चैव तथा भूगतलोचना ॥ १३७ ॥

अनुवाद—और उसका सारथि चाबुक और लगाम को संभालते हुए विचित्र वाहनों का अभिनय करते हुए द्रुत लय के साथ चूर्णपदों से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे ॥ १३०-१३२ ॥

अनुवाद—विमान पर बैठे हुए व्यक्ति को भी रथ की गति की भांति गति करनो चाहिए। विमान की ओर उन्मुख होकर चढ़ने के लिए शरीर को ऊपर उठाये और इसके विपरीत अवस्था में नीचे की ओर देखते हुए मण्डलावर्त्तन के द्वारा विमान से अवतरण करे ॥ १३३-१३४ ॥

नाट्य के हाथों को आकाश-गमन में भी समपाद स्थान और चूर्णपदों के द्वारा इसी प्रकार की चेष्टा करनी चाहिए ॥ १३५ ॥

अनुवाद—और आकाश से अवतरण में इसी प्रकार ऋजु, (सरल, सीधे) आयत (लम्बे) उन्नत (ऊँचे) नत (नीचे) जटिल (तिरछे) और आर्वतित गति को प्रदर्शित करे ॥ १३६ ॥

अनुवाद—आकाश से गिरते समय पात्र को गति दोला के समान हाथों झुलाते हुए, वस्त्रों को बिखराते हुए तथा नेत्रों से पृथ्वी की ओर देखते हुए होनी चाहिए ॥ १३७ ॥

द्रुमप्रासादशैलेषु नदीनिम्नोन्नतेषु च ।
आरोहणावतरणं कार्यमर्थवशाद्बुधैः ॥ १३८ ॥

प्रासादारोहणं कार्यमतिक्रान्तैः पदैरथ ।
उद्वाह्य गात्रं पादं च सोपानं निक्षिपेद् बुधः ॥ १३९ ॥

तथावतरणे चैव गात्रमानम्य रेचयेत् ।
अतिक्रान्तेन पादेन द्वितीयेनाञ्चितेन च ॥ १४० ॥

प्रासादारोहणं यत्तु तदेवाद्रिषु कारयेत् ।
केवलं तूर्ध्वविक्षेपमद्रिष्वङ्गं भवेदथ ॥ १४१ ॥

द्रुमे चारोहणं कार्यमतिक्रान्तोत्थितैः पदैः ।
सूचीविद्धैरपक्रान्तैः पार्श्वक्रान्तैस्तथैव च ॥ १४२ ॥

एवं देवावतरणं प्रयोज्यं सरिदादिषु ।
प्रसादेषु तथा प्रोक्तं तथैवोत्तरणं भवेत् ॥ १४३ ॥

अनुवाद—विद्वानों को प्रासाद (महल), वृक्ष और पर्वतों पर तथा नदी एवं ऊँचे-नीचे स्थानों पर प्रयोजन के अनुसार आरोहण तथा अवतरण करना चाहिए ॥ १३८ ॥

अनुवाद—अतिक्रान्त चारी पैरों से प्रासाद (महल) पर चढ़ना चाहिए। विद्वान् पुरुष शरीर को ऊपर उठाकर पैर को सोपान (सीढ़ी) पर रखे ॥ १३९ ॥

अनुवाद—तथा प्रासाद से अवतरण में शरीर को थोड़ा झुका कर एक पैर को अतिक्रान्त चारी में और दूसरे पैर को अञ्चित करके रेचित करे ॥ १४० ॥

अनुवाद—प्रासाद के आरोहण में जो गति बतलाई गई है, वही पर्वतारोहण में भी करनी चाहिए। केवल पर्वतारोहण में शरीर को ऊपर विक्षेप करे ॥ १४१ ॥

अनुवाद—अतिक्रान्त चारी में पैरों को उछाल कर क्रमशः सूचीविद्ध, अपक्रान्त तथा पार्श्वक्रान्त चारियों द्वारा वृक्षों पर आरोहण करना चाहिए ॥१४२॥

अनुवाद—इसी प्रकार नदी में उतरने के समय भी इसी प्रकार की गति का प्रयोग करे। प्रासाद से उतरने में जो गति बतलायी गई है, उसी गति से नदी आदि में उत्तरण करे ॥ १४३ ॥

द्रुमप्रासादशैलांश्च संज्ञामात्रेण दर्शयेत् ।
जलप्रमाणापेक्षा तु जलमध्ये गतिर्भवेत् ॥ १४४ ॥

तोयेऽल्पे वसनोत्कर्षैः प्राज्ये पाणिविकर्षणैः ।
किंचिन्नताग्रकाया तु प्रतारे गतिरिष्यते ॥ १४५ ॥

प्रसार्य बाहुमेकैकं मुहुर्वारिविकर्षणैः ।
तिर्यक्प्रसारिता चैव ह्रियमाणा स्ववारिणा ॥ १४६ ॥

अशेषाङ्गाकुलाधूतवदना गतिरिष्यते ।
नौस्थस्यापि प्रयोक्तव्या द्रुतैश्चूर्णपदैर्गतिः ॥ १४७ ॥

अनेनैव विधानेन कर्तव्यं गतिचेष्टितम् ।
संज्ञामात्रेण कर्तव्यान्येतानि विधिपूर्वकम् ॥ १४८ ॥

अङ्कुशग्रहणान्नागं प्रग्रहग्रहणाद्रथम् ।
खलीनग्रहणादश्वं नावं चैवावरोहणात् ॥ १४९ ॥

अनुवाद—प्रासाद, वृक्ष और पर्वत आदि का प्रदर्शन सङ्केतों द्वारा करना चाहिए । जल के मध्य में जल के प्रमाण के अनुसार गति होनी चाहिए ॥ १४४ ॥

अनुवाद—कम जल होने पर कपड़े के ऊपर उठाये हुए और अधिक जल होने पर हाथों से जल का विकर्षण करते हुए शरीर को थोड़ा आगे की ओर झुका कर तैरने की गति का अभिनय करे ॥ १४५ ॥

अनुवाद—एक-एक भुजा को फैलाकर बार-बार जल का विकर्षण करते हुए, तिरछा फैलाये हुए हाथों से जल को हटाते हुए सम्पूर्ण शरीर से आकुल एवं कम्पित मुख वाली गति का अभिनय करे । ।१४६-१४७ ॥

अनुवाद—नौका में स्थित पात्र की गति का अभिनय द्रुत लय में चूर्णपदों द्वारा करना चाहिए । इसी विधि के अनुसार विभिन्न गतियों की चेष्टाएँ प्रदर्शित करनी चाहिए । इन सब को विधि पूर्वक इङ्गित (सङ्केत) मात्र से प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १४७-१४८ ॥

अनुवाद—जैसे अङ्कुश के ग्रहण से हाथी की, लगाम लगाने से घोड़े को रास खींचने से रथ की और अधिरोहण से नौका की अभिव्यक्ति होती है ॥ १३९ ॥

अश्वयाने गतिः कार्या वैशाखस्थानकेन तु ।
तथा चूर्णपदैश्चैव ह्य‌ुपर्यपरिपातितैः ॥ १५० ॥
पन्नगानां गतिः कार्या पादैः स्वस्तिकसंस्थितैः ।
पार्श्वाक्रान्तक्रमं कृत्वा स्वस्तिकं योजयेत्तथा ॥ १५१ ॥
मत्तानां तु गतिः कार्या तरुणे मध्यमे मदे ।
वामदक्षिणपादाभ्यां घूर्णनादपसर्पणात् ॥ १५२ ॥
आकाशस्खलितैः प्रायः पादैश्चाप्यनवस्थितैः ।
विघूर्णितशरीरा च करैः प्रचलितैस्तथा ॥ १५३ ॥
उन्मत्तस्यापि कर्तव्या गतिस्त्वनियतक्रमा ।
बहुचारीसमायुक्ता लोकानुकरणाश्रया ॥ १५४ ॥
रुक्षस्फुटितकेशस्तु रेणुध्वस्ततनुस्तथा ।
अनिमित्तप्रकथनो बहुभाषी विकारवाक् ॥ १५५ ॥
प्रगीतहसितश्चापि नानाविकृतभूषणः ।
नृत्ते गीते च वाद्ये च भाषणे च सदा रतः ॥ १५६ ॥

अनुवाद—घोड़े पर चढ़ने में वैशाखस्थानक के द्वारा तथा ऊपर-ऊपर उठाये हुए चूर्णपदों से गति का अभिनय करना चाहिए ॥ १५० ॥

अनुवाद—स्वस्तिक पदों द्वारा सर्पों की गति का अभिनय करना चाहिए । इसमें प्रथम पार्श्वक्रान्ता चारी में पद को रखकर फिर स्वस्तिक की योजना करे ॥ १५१ ॥

अनुवाद—तरुण और मध्यम मद को बाये और दाहिने पैरों को घुमाए हुए अपसर्पण (लड़खड़ाने) के द्वारा मत्तों की गति का अभिनय करना चाहिए ॥१५२॥

अनुवाद—अधम मद में ऊपर से लड़खड़ाते हुए अव्यवस्थित पैरों से, तथा शरीर को घुमाते हुए और हाथों को चलाते हुए अभिनय प्रदर्शित करे ॥ १५३ ॥

अनुवाद—उन्मत्तों की गति का अभिनय अनियन्त्रित पदक्रम के द्वारा लोक के अनुकरण के आश्रित बहुत सी चारियों के संयोग से करना चाहिए । इसमें पात्र के बाल रूखे और बिखरे हुए होते हैं, शरीर धूलि से धूसरित रहता है, बिना कारण के कुछ बोलता रहता है, बड़बड़ाता है, वह कभी गाता है कभी हँसता है और विकृत आभूषणों को धारण किये रहता है । वह सदा नाचने, गाने, बजाने

कदाचिद्धावति जवात्कदाचिदवतिष्ठते ।
कदाचिदुपविष्टस्तु शयानश्च कदाचन ॥ १५७ ॥

नानाचीरधरश्चैव रथ्यास्वनियतालयः ।
उन्मत्ताभिनयस्त्वेवं तस्येमां कारयेद्गतिम् ॥ १५८ ॥

स्थित्वा नूपुरपादेन दण्डपादं प्रसारयेत् ।
कृत्वा चारीं तथोद्बद्धामथ स्वस्तिकमेव च ॥ १५९ ॥

अनेन चारीयोगेन परिभ्राम्य तु मण्डलम् ।
वक्रं तु भ्रमणं चैव रङ्गकोणेषु योजयेत् ॥ १६० ॥

त्रिकं सललितं कृत्वा लताख्यं हस्तमेव च ।
विपर्ययगतैर्हस्तैः पादैर्हंसगतिं व्रजेत् ॥ १६१ ॥

सिंहर्क्षवानराणां च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ।
या कृता नरसिंहेन विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६२ ॥

तथा बोलने में तत्पर रहता है। कभी वेग से दौड़ता है, कभी कभी खड़ा हो जाता है। कभी बैठ जाता है और कभी लेट जाता है। वह अनेक प्रकार के चिथड़े लपेटे रहता है और गलियों में पड़ा रहता है। उन्मत्तों का यही अभिनय है। इस प्रकार उसकी गति का अभिनय करे ॥ १५४-१५८ ॥

अनुवाद—उन्मत्त की गति के अभिनय में नूपुर पादचारी में खड़ा होकर दण्डपाद चारी में पैर को फैला दे, फिर बद्धा चारी को प्रदर्शित कर पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखे। इस प्रकार चारियों के संयोग से पैरों को मण्डलाकार घुमा कर रङ्गकोण में वक्र भ्रमण करे ॥ १५९-१६० ॥

अनुवाद—त्रिक अर्थात् कमर को सुललित स्थिति में रखकर और हाथ को लता हस्तमुद्रा में करके विपर्यय गत हाथों का संचालन करते हुए पैरों से हंस की चाल चले ॥ १६१ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को सिंह, भालू और वानरों की गति का अभिनय उस प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने नरसिंह अवतार धारण करके किया था ॥ १६२ ॥

आलीढ़स्थानकं कृत्वा गात्रं तस्यैव चानुगम् ।
ऊर्ध्वजानु च विक्षिप्य करमेकं च संस्थितम् ॥ १६३ ॥

विलोलितं शिरः कृत्वा चिबुकं बाहुमस्तके ।
गन्तव्यं विक्रमैश्चैव पञ्चतालान्तरस्थितैः ॥ १६४ ॥

नियुद्धे संशये चैव रङ्गावतरणे तथा ।
सिंहादीनां च योक्तव्या गतिरेषा प्रयोक्तृभिः ॥ १६५ ॥

शेषाणामर्थयोगेन स्थानान्यपि तु कारयेत् ।
गजवाजिरथादींस्तु चिह्नमात्रेण कारयेत् ॥ १६६ ॥

वाहनार्थंप्रयोगेषु रङ्गावतरणेषु च ।
एवमेताः प्रयोक्तव्या नृणां तु गतयो बुधैः ॥ १६७ ॥

अत्र नाभिहिता यास्तु विज्ञेयाः शास्त्रलोकतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणां गतिविचेष्टितम् ॥ १६८ ॥

अनुवाद—आलीढ़ स्थानक को करके शरीर को उसी के अनुसार रखे। फिर जानु को ऊपर उठाकर एक हाथ को उस पर स्थित करे। फिर शिर को विलोलित करके चिबुक को भुजाओं के अग्रभाग पर रखकर पैरों को पांच ताल के अन्तर पर रखते हुए चलना चाहिए ॥ १६३-१६४ ॥

अनुवाद—नियुद्ध और संशय में तथा रङ्गमञ्च पर नाट्य-प्रयोक्ताओं को सिंह आदि की गति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६५ ॥

अनुवाद—शेष प्राणियों की गति या स्थान का प्रयोग प्रयोजन के अनुसार करना चाहिए। हाथी, घोड़े, रथ आदि का चिह्न मात्र से प्रदर्शन करना चाहिए ॥ १६६ ॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च पर वाहनों पर चढ़ने-उतरने के अभिनय में विद्वानों को इस प्रकार मनुष्यों की गति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६७ ॥

अनुवाद—जिनकी गतियों का वर्णन मैंने नहीं किया है उन्हें लोक शास्त्र से समझ लेने चाहिए। इसके बाद में नारियों की गति एवं चेष्टाओं का वर्णन करूँगा ॥ १६८ ॥

स्त्रीणां स्थानानि कार्याणि गतिष्वाभाषणेषु च ।
आयतं चावहित्थं च तथाऽश्वक्रान्तमेव च ॥ १६९ ॥
दक्षिणस्तु समः पादस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
वामो नतः कटीपार्श्वमायतस्थानके भवेत् ॥ १७० ॥
वामः स्वाभाविको यत्र पादो विरचितस्ततः ।
तालमात्रान्तरे न्यस्तस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥ १७१ ॥
प्रसन्नमाननमुरस्समं यत्र समुन्नतम् ।
लतानितम्बगौ हस्तौ ज्ञेयं स्थानं तदायतम् ॥ १७२ ॥
रङ्गावतरणां पुष्पाञ्जलिविसर्जनम् ।
मन्मथेर्ष्योद्भवः कोपस्तर्जनाङ्गुलिमोटनम् ॥ १७३ ॥
निषेधगर्वगाम्भीर्यमौनमायावलम्बनम् ।
स्थानेऽस्मिन् सन्निधीयीत दिगन्तरनिरूपणम् ॥ १७४ ॥
आवाहने विसर्गे च तथा निर्वर्णनेषु च ।
चिन्तायामवहित्थे च स्थानमेतत्प्रयोजयेत् ॥ १७५ ॥

अनुवाद—स्त्रियों की गति और भाषण में तीन स्थान होते हैं—आयत, अवहित्थ और अश्वक्रान्त ॥ १६९ ॥

अनुवाद—आयत स्थानक दाहिना पैर सम और दूसरा पैर त्र्यस्र और पक्ष में स्थित होता है और बायीं ओर कटि नत (झुकी हुई) होती है ॥ १७० ॥

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ पैर स्वाभाविक रूप में हो और ताल मात्र के अन्तर पर न्यस्त दूसरा पैर त्र्यस्र और पक्ष में स्थित हो, मुख प्रसन्न हो, वक्षःस्थल सम और समुन्नत हो और दोनों हाथ लता मुद्रा में नितम्ब पर हो, वहाँ 'आयत' स्थानक समझना चाहिए ॥ १७१-१७२ ॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च पर अवतरण (आने का) आरम्भ, पुष्पाञ्जलि का विसर्जन, ईर्ष्या से उत्पन्न प्रणय-कोप, तर्जनी उँगुली का मोटन, निषेध, गर्व, गाम्भीर्य, मौन एवं माया (अथवा) मान के अवलम्बन तथा दिगन्तर के निरूपण में (अथवा अवलोकन में) इस स्थान का संयोजन करना चाहिए ॥ १७३-१७४ ॥

अनुवाद—आवाहन में, विसर्जन में, निर्वर्णन में, चिन्ता और अवहित्थ में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७५ ॥

समो यत्र स्थितो वामस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
वामोन्नतं त्रिकं यस्मिन्नवहित्थं तदुच्यते ॥ १७६ ॥
स्थानमेतत्तु नारीणां संल्लापे तु स्वभावजे ।
निश्चये परितोषे च वितर्के लज्जिते तथा ॥ १७७ ॥
एकः समस्थितः पाद एकस्त्वग्रतलाञ्चितः ।
सूचीविद्धमविद्धं वा तदश्वक्रान्तमुच्यते ॥ १७८ ॥
स्खलिते घूर्णिते चैव स्खलिताम्बरधारणे ।
चित्रासने सललिते स्थानमेतत्तु रक्षणे ॥ १७९ ॥
शाखावलम्बने कार्या स्तबकग्रहणे तथा ।
विश्रान्तिषु तथैव स्यात्पादताडन एव च ॥ १८० ॥
स्थानकं तावदेव स्याद्यावच्चेष्टा प्रवर्तते ।
भग्नं च स्थानकं नृत्ते चारी चेत्समुपस्थिता ॥ १८१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर बायाँ पैर 'सम' स्थित हो और दाहिना पैर त्र्यस्र (तिरछा होकर) पक्ष में स्थित हो और कटि बायी ओर समुन्नत हो, वहाँ 'अवहित्थ' स्थानक होता है ।। १७६ ॥

अनुवाद—स्त्रियों के स्वाभाविक संलाप (बात-चीत), निश्चय, परितोष, वितर्क एवं लज्जा में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७७ ॥

अनुवाद—जहाँ पर एक पाद सम स्थित हो और दूसरा पाद अग्रतल स्थिति में हो तथा सूचीविद्ध हो अथवा अविद्ध हो वहाँ 'अश्वक्रान्त' स्थानक होता है ॥ १७८ ॥

अनुवाद—स्त्रियों के स्खलन में (फिसलने में), घूर्णन में (घूरने में) फटे-पुराने वस्त्रों के धारण में, ललित (सुन्दरता पूर्ण) चित्रासन में और रक्षण में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १७९ ॥

अनुवाद—वृक्ष की शाखा के अवलम्बन में, फूल के गुच्छों के ग्रहण में, विश्रान्ति में और पादताडन में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १८० ॥

अनुवाद—नृत्त में स्थानक तभी तक रहता है जब तक कोई चेष्टा की जाती है। यदि नृत्त में चारी का प्रदर्शन उपस्थित हो जाय तो स्थानभग्न हो जाता है ॥ १८१ ॥

एवं स्थानविधिः कार्यः स्त्रीणां सम्यग्द्विजोत्तमाः ।
पुनरासां प्रवक्ष्यामि गतीस्तु प्रकृतिस्थिताः ॥ १८२ ॥

कृत्वावहित्थं स्थानं वामं चाधोमुखं भुजम् ।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यं च खटकामुखम् ॥ १८३ ॥

ततः सललितं पादं तालमात्रं समुत्थितम् ।
दक्षिणं वामापादस्य बाह्ये पार्श्वे विनिक्षिपेत् ॥ १८४ ॥

तेनैव समकालं च लताख्यं वामकं भुजम् ।
दक्षिणं च नयेत्पार्श्वं न्यसेन्नाभितटे ततः ॥ १८५ ॥

नितम्बे दक्षिणं कृत्वा हस्तं चोद्वेष्ट्य वामकम् ।
ततो वामपदं दद्याल्लताहस्ते च दक्षिणम् ॥ १८६ ॥

लोलयोद्वाहितेनाथ शिरसानुगतेन च ।
किंचिन्नतेन चाङ्गेन गच्छेत्पञ्चपदीं ततः ॥ १८७ ॥

यो विधिः पुरुषाणां तु रङ्गपीठपरिक्रमे ।
स एव प्रमदानां तु कर्तव्यो नाट्ययोक्तृभिः ॥ १८८ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! इस प्रकार स्त्रियों की स्थान-विधि करनी चाहिए । अब उनको प्रकृति के अनुसार गतियों को बतलाता हूँ ॥ १८२ ॥

अनुवाद—पहिले अवहित्थ स्थान को करके बायीं भुजा में अधोमुख करे । फिर उसी बाये हाथ को खटकामुख मुद्रा में नाभिप्रदेश पर रखे । उसके बाद ललित संचार पाद एक ताल प्रमाण ऊपर उठाकर बायें पैर के बगल में रखे, फिर उसी समय बाये हाथ को लता हस्तमुद्रा में नाभितट पर रख कर दक्षिण पार्श्व को झुका दे । फिर दाहिने हाथ को नितम्ब पर रखकर बायें हाथ को उद्वेष्टित कर, फिर बायें पैर को और दाहिने हाथ को लता हस्तमुद्रा में रखे । फिर लीला से उद्वाहित सिर के अनुगत शरीर को कुछ झुकाकर पाँच पग चले ॥ १८३-१८७ ॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च पर परिक्रमण पुरुषों के लिए जो विधान है, नाट्य-प्रयोक्ताओं को वही विधान स्त्रियों के लिए भी करना चाहिए ॥ १८८ ॥

षट्कलं न प्रयोक्तव्यं तथाष्टकलमेव च।
पादस्य पतनं तज्ज्ञैः खेदजं तद्भवेत् स्त्रियाः ॥ १८९ ॥

सयौवनानां नारोणां कार्या त्वेवं गतिर्बुधैः।
स्थानीया या स्त्रियस्तासां संप्रवक्ष्याम्यहं गतीः ॥ १९० ॥

कृत्वाऽवहित्थं स्थानं तु वामं न्यस्त कटीतटे।
आद्यं चारालमुत्तानं कुर्यान्नाभिस्तनान्तरे ॥ १९१ ॥

न निषण्णं न च स्तब्धं न चैव परिवाहितम्।
कृत्वा गात्रं ततो गच्छेत्तेनैवाद्यक्रमेण तु ॥ १९२ ॥

प्रेष्याणामपि कर्तव्या गतिर्विभ्रान्तिगामिनी।
किंचिदुन्नमितैर्गात्रैराविद्धपदविक्रमा ॥ १९३ ॥

स्थानं कृत्वावहित्थं तु वामं चाधोमुखं भुजम्।
नाभिप्रदेशे विन्यस्य सव्यं च खटकामुखम् ॥ १९४ ॥

अनुवाद—स्त्रियों को छः कला और आठ कला प्रमाण का पादपात नहीं करना चाहिए, क्योंकि इतने समय तक पाद का पतन स्त्रियों के लिए खेदजनक होता है ॥ १८९ ॥

अनुवाद—युवती नारियों की गति इसी प्रकार की होनी चाहिए। अब मैं प्रौढ़ा नारियों की गति को बतलाऊँगा ॥ १९० ॥

अनवाद—अवहित्थ स्थानक को करके बायें हाथ को कटितट पर रखकर दाहिने हाथ को 'अराल' मुद्रा में ऊपर की ओर मुख करके (उत्तान) नाभि और स्तनों के मध्य में रखे। फिर शरीर को न निषण्ण करे, न स्थिर करे और न परिवाहित करे, बल्कि उसी क्रम से चले ॥ १९१-१९२ ॥

अनुवाद—दासी नारियों की गति उद्भ्रान्तगामिनी करनी चाहिए। इस स्थिति के अभिनय में शरीर को थोड़ा उन्नमित कर भुजाओं को आविद्ध मुद्रा में रखे और अवहित्थ स्थान को करके बांयी भुजा को अधोमुख करके और दाहिनी भुजा को कटकामुख मुद्रा में नाभिप्रदेश पर रखे ॥ १९३-१९४ ॥

अर्धनारीगतिः कार्या स्त्रीपुंसाभ्यां विमिश्रिता ।
उदात्तललितैर्गात्रैः पादैर्लीलासमन्वितैः ॥ १९५ ॥

या मयाभिहिता पूर्वमुत्तमानां गतिर्बुधाः ।
स्त्रीणां कापुरुषाणां च ततोऽर्धार्धं च कारयेत् ॥ १९६ ॥

उत्तमाधममध्यानां नृणां यद्गतिचेष्टितम् ।
स्त्रीणां तदेवं कर्तव्यं ललितैः पदविक्रमैः ॥ १९७ ॥

बालानामपि कर्तव्या स्वच्छन्दपदविक्रमा ।
न तस्यां सौष्ठवं कार्यं न प्रमाणं तथाविधम् ॥ १९८ ॥

तृतीया प्रकृतिः कार्या नाम्ना चैव नपुंसका ।
नरस्वभावमुत्सृज्य स्त्रीगतिं तत्र योजयेत् ॥ १९९ ॥

विपर्यस्तप्रयोगस्तु पुरुषस्त्रीनपुंसके ।
स्वभावमात्मनस्त्यक्त्वा परभावेन योजयेत् ॥ २०० ॥

अनुवाद—नपुंसक पात्रों की गति का अभिनय स्त्री और पुरुषों की मिश्रित गति उदात्त और ललित गात्रों एवं लीलायुक्त पैरों से करना चाहिए ॥ १९५ ॥

अनुवाद—पहिले जो मैंने उत्तम पुरुषों की गति बतलाई है, उसका आधा स्त्रियों को तथा उसका भी आधा नीच पुरुषों की गति की योजना करनी चाहिए ॥ १९६ ॥

अनुवाद—उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों की जो गति और चेष्टाएँ कही गई हैं वही ललित पद-विक्रमों द्वारा स्त्रियों को भी करनी चाहिए ॥ १९७ ॥

अनुवाद—बालकों की गति में स्वच्छन्द पद-विक्रम होने चाहिए। नाट्यप्रयोक्ताओं को उसमें न सौष्ठव की योजना करनी चाहिए और न प्रमाण की ॥ १९८ ॥

अनुवाद—तृतीया प्रकृति अर्थात् नाम से जो नपुंसक है, उनमें पुरुष के स्वभाव को छोड़कर स्त्री को गति की योजना करनी चाहिए ॥ १९९ ॥

अनुवाद—विपर्यय प्रयोग में पुरुष, स्त्री और नपुंसकों को अपना स्वभाव छोड़कर दूसरे के स्वभाव के अनुसार गति का अभिनय करना चाहिए ॥ २०० ॥

निजां प्रकृतिमुत्सृज्य क्रीडया वञ्चनेन वा ।
स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात्स्त्रीभावं पुरुषोऽपि वा ॥ २०१ ॥

सौष्ठवेनाथ सत्त्वेन बुद्धया तद्वच्च कर्मणा ।
स्त्री पुमांसं ह्यभिनयेद्वेषवाक्यविचेष्टितैः ॥ २०२ ॥

स्त्रीवेषभाषितैर्युक्तं प्रेक्षिताप्रेक्षितस्मितैः ।
मृदुसन्नगतिश्चैव पुमान् स्त्रीभावमाचरेत् ॥ २०३ ॥

जातिहीनास्तु या नार्यः पुलिन्दशबराङ्गनाः ।
याश्चापि तासां कर्तव्या तज्जातिसदृशो गतिः ॥ २०४ ॥

व्रतस्थानां तपःस्थानां लिङ्गस्थानां तथा पुनः ।
खस्थानां चैव नारीणां समपादं प्रयोजयेत् ॥ २०५ ॥

उद्धता येऽङ्गहाराः स्युर्याश्चार्यो मण्डलानि वा ।
तानि नाट्यप्रयोगज्ञैर्न कर्तव्यानि योषिताम् ॥ २०६ ॥

अनुवाद—अपने स्वभाव को छोड़कर क्रीड़ा अथवा वञ्चना के द्वारा स्त्री पुरुष की प्रकृति का और पुरुष स्त्री की प्रकृति का अनुसरण करे ॥ २०१ ॥

अनुवाद—स्त्री पुरुष का अभिनय करते समय सौष्ठव, सत्त्व, बुद्धि और उसी के समान कर्म, वेष, भाषा और चेष्टाओं का अभिनय करे ॥ २०२ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार स्त्री की वेष एवं भाषा से युक्त तथा उसी के समान देखने, न देखने एवं मुस्कराहट के द्वारा कोमल एवं मन्द गति वाला पुरुष भी स्त्री के स्वभाव का आचरण करे ॥ २०३ ॥

अनुवाद—हीन जाति की पुलिन्द, शबर आदि की जो स्त्रियाँ हैं और उनके जो कर्त्तव्य है, अपनी जाति के समान उनकी गति करनी चाहिए ॥ २०४ ॥

अनुवाद—व्रत में संलग्न, तपस्विनी तथा सन्यासिनी और आकाश में विचरण करने वाली स्त्रियों की गति में 'समपाद' चारी की योजना होनी चाहिए ॥ २०५ ॥

अनुवाद—जो अहङ्कार, चारियाँ और मण्डल उद्धत है, नाटचवेत्ताओं को स्त्री-पात्रों में उनकी योजना नहीं करनी चाहिए ॥ २०६ ॥

अथासनविधिः कार्यः स्त्रीणां नृणां तथैव च ।
नानाभावसमायुक्तं तथैव शयनाश्रयः ॥ २०७ ॥

स्वस्थं मन्दालसं क्लान्तं स्रस्तालसमथापि च ।
विष्कम्भकमुत्कटिकं मुक्तजानु तथासनम् ॥ २०८ ॥

जानुगतं विमुक्तं च स्थानकान्युपवेशने ।
लक्षणं पुनरेतेषां विनियोगं च वक्ष्यते ॥ २०९ ॥

विष्कम्भेनाञ्चितौ पादौ किञ्चिद्वक्षः समुन्नतम् ।
हस्तौ कट्यूरुविन्यस्तौ स्वस्थे स्यादुपवेशने ॥ २१० ॥

स्वभावाभिनये चैव तथा स्वस्थोपवेशने ।
आविष्कृतेषु सर्वेषु भावेष्वेतत्प्रयोजयेत् ॥ २११ ॥

एकः प्रसारितः किंचित्पादोऽन्यस्त्वासनाश्रितः ।
शिरः पार्श्वगतं चैव स्थानं मन्दालसं तु तत् ॥ २१२ ॥

अनुवाद—स्त्री और पुरुषों की आसन विधि में (बैठने का विधान) नाना प्रकार के भावों से युक्त करनी चाहिए और शयन-विधि भी इसी प्रकार करनी चाहिए ॥ २०७ ॥

अनुवाद—स्वस्थ, मन्दालस, क्लान्त, स्रस्तालस, विष्कम्भित, उत्कटिक, मुक्तजानु, जानुगत और विमुक्त ये उपवेशन में स्थानक है। अब इनके लक्षण तथा विनियोग को कहता हूँ ॥ २०८-२०९ ॥

अनुवाद—स्वस्थ उपवेशन में पैरों को वैशाख स्थानक में अञ्चित कर और वक्ष को थोड़ा ऊँचा करके दोनों हाथों को कटि और ऊरु पर रखना चाहिए ॥ २१० ॥

अनुवाद—स्वाभाविक अभिनय में और स्वस्थ उपवेशन में तथा आविष्कृत सभी भावों में इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ २११ ॥

अनुवाद—जहाँ एक पैर थोड़ा फैलाकर और दूसरा पैर आसन पर टिका कर शिर को पार्श्व में किया जाता है वहाँ 'मन्दालस' नामक स्थानक होता है ॥ २१२ ॥

चिन्तायां च तदौत्सुक्ये निर्वेदे विरहे तथा ।
विवादादिषु चाधेयं स्थानमेतत्प्रयोक्तृभिः ॥ २१३ ॥

चिबुकापाश्रयौ हस्तौ बाहुशीर्षाश्रयं शिरः ।
संप्रणष्टेन्द्रियमना विज्ञेयं क्लान्तमासनम् ॥ २१४ ॥

चिबुकोपाश्रितौ हस्तौ बाहुशीर्षानतं शिरः ।
सम्प्रणेष्टन्द्रियमना भवेच्छोकोपवेशने ॥ २१५ ॥

बलेन विगृहीतस्य रिपुणा खण्डितस्य च ।
शोकग्लानस्य चौत्सुक्ये स्थानमेतद्विनिर्दिशेत् ॥ २१६ ॥

स्रस्तौ हस्तौ विमुक्तौ च शरीरमलसं तथा ।
खेदालसं तथा चक्षुर्यत्र स्रस्तालसं तु तत् । २१७ ॥

श्रमग्लानौ मदे चैव मूर्छायां व्याधितेषु च ।
मोहे प्राणमये चैव विषादे चैव तद्भवेत् ॥ २१८ ॥

अनुवाद—चिन्ता में, औत्सुक्य में, निर्वेद में, विरह में और विवाद आदि में नाट्य प्रयोक्ताओं को इस आसन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१३ ॥

अनुवाद—जब दोनों हाथों को चिबुक के सहारे रखे और शिर को बाहुशीर्ष अर्थात् भुजाओं के सहारे रखे तथा मन और इन्द्रियाँ संज्ञा शून्य हो जाँय तो वहां 'क्रान्त' आसन समझना चाहिए ॥ २१४ ॥

अनुवाद—पाठ भेद से शोक के उपवेशन में दोनों हाथों को चिबुक के सहारे तथा शिर को भुजाओं के सहारे रखे तथा मन और इन्द्रियाँ क्रिया शून्य की स्थिति में होनो चाहिए ॥ २१५ ॥

अनुवाद--बलपूर्वक निगृहीत और शत्रु के द्वारा खण्डित तथा शोक और ग्लानि में इस स्थानक का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१६ ॥

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ शिथिल और विमुक्त हो, शरीर अलसाया हुआ हो और आँखें खेद से अलसाई हुई हों, वहाँ 'स्रस्तालस' कहलाता है ॥ २१७ ॥

अनुवाद—श्रम, ग्लानि, मद, मूर्च्छा, व्याधि, मोह और विषाद में इस आसन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१८ ॥

प्रसार्यं बाहू शिथिलौ तथा चोपाश्रयाश्रितः ।
मूर्च्छामदश्रमग्लानिविषादेषूपवेशयेत् ॥ २१९ ॥

पाठान्तरम्—

विष्कम्भावञ्चितौ पादावूरू विष्कम्भितौ भुजौ ।
निमीलितं तथा चक्षुः स्थानं विष्कम्भनामनि ॥ २२० ॥

स्ववक्षोगतया दृष्ट्या योगध्याने विलीयते ।
स्वभावसंस्थया चैव नटानामुपगम्यते ॥ २२१ ॥

पाठान्तरम्—

सर्वंपिण्डीकृताङ्गस्तु संयुक्तः पादजानुभिः ।
व्याधिपीडितनिद्रासु ध्याने चोपधिरोन्नरः ॥ २२२ ॥

अनुवाद—मूर्च्छा, मद, श्रम, ग्लानि तथा विषाद की दशा में पात्र दोनों भुजाओं को शिथिलता से फैलाकर किसी वस्तु के दुराश्रित होकर आसन पर बैठे ॥ २१९ ॥

पाठभेद से अर्थ

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैर वैशाखस्थानक में अञ्चित हों, और ऊरु तथा दोनों भुजाएँ विष्कम्भित हों और नेत्र निमीलित हो, वहाँ 'विष्कभ' नामक स्थानक होता है ॥ २२१ ॥

अनुवाद—इस आसन में पुरुष अपने वक्षःस्थल पर दृष्टि गड़ाकर योग और ध्यान में विलीन हो जाता है और नटों के उपवेशन में स्वाभाविक स्थिति में रखा जाता है ॥ २२२ ॥

पाठभेद का अर्थ

अनुवाद—व्याधि, व्रीड़ा, निद्रा और ध्यान की स्थिति में पुरुष सम्पूर्ण अङ्गों को सिकोड़कर पैर और जानुओं को मिलाकर उपवेशन करे ।

समौ पादौ समाधाय समं यदुपविश्यते ।
अपृष्ठभूतलं चैव ज्ञेयमुत्कटिकासनम् ॥ २२४ ॥

पित्र्ये समाधिजप्ये च होमादिकरणेषु च ।
एतत्स्थानं विधातव्यं तथाचमनकर्मणि ॥ २२५ ॥

पाठान्तरम्—

तथा चोत्कटिकं स्थानं स्फिक्पार्ष्णीनां समागमः ।
पित्र्ये निवापे जप्यं च सन्ध्यास्वाचमनेषु च ॥ २२६ ॥

एकं जानु यदास्यैव महीपृष्ठे निधीयते ।
मुक्तजानुकमेतद्धि विज्ञेयं ह्यासनं बुधैः ॥ २२७ ॥

एतत्कृतव्यलीकानां प्रियाणां संप्रसादने ।
मार्जने कुट्टिमानां च तथाभूम्यनुलेपने ॥ २२८ ॥

अनुवाद—दोनों पैरों को सम रखकर भूतल को स्पर्श किये बिना जो बैठा जाता है, उसे 'उत्कटिका' आसन समझना चाहिए। पितरों के तर्पण में, समाधि में जप करने में, होमादि कार्यों में और आचमन करने में इस आसन का विधान करना चाहिए ॥ २२४-२२५ ॥

पाठभेद से अर्थ

अनुवाद—स्फिक् (कूल्हा) और पार्ष्णि (एड़ी) को मिलाकर बैठना 'उत्कटिक' स्थानक कहलाता है। श्राद्ध तथा पितरों के तर्पण, आदि में, जप करने में, सन्ध्या करने में तथा आचमन करने में इस आसन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२६ ॥

अनुवाद—जब इसी के एक जानु (घुटने) को पृथ्वी तल पर रख दिया जाय तो विद्वानों को उसे 'मुक्त जानु' आसन समझना चाहिए। प्रिया के प्रसादन में, फर्श साफ करने में भूमि के लीपने में इस आसन का विधान करना चाहिए ॥ १२७-२२८ ॥

पाठान्तरम्—

विष्कम्भिनं पुनश्चैव जानुं भूमौ निपातयेत् ।
प्रियाप्रसादने कार्यं होमादिकारणेषु च ॥ २२९ ॥

महीगताभ्यां जानुभ्यां स्थानं जानुगतं भवेत् ।
देवाभिवन्दने कार्यं रुष्टानां च प्रसादने ॥ २३० ॥

शोके चाक्रन्दने तीव्रे मृतानां चैव दर्शने ।
संत्रासने कुसत्त्वानां नीचानां चैव याचने ॥ २३१ ॥

भूमौ यदूर्ध्वपतनं तद्विमुक्तमिति स्मृतम् ।
प्रहारे तत्प्रयोक्तव्यमावेगे क्रन्दिते तथा ॥ २३२ ॥

तथासनविधि कार्यो विधिवन्नाटकाश्रयः ।
स्त्रीणां च पुरुषाणां च बाह्योऽथाभ्यन्तरस्तथा ॥ २३३ ॥

पाठान्तर से अर्थ

अनुवाद—प्रियतमा को प्रसन्न करने तथा होम आदि क्रियाओं में पुरुष अपने फैले हुए घुटनों को भूमि पर गिरा दे अथवा रख दे ॥ २२९ ॥

अनुवाद—यदि दोनों जानुओं (घुटनों) को पृथ्वी पर रख दिया जाय तो 'जानुगत' आसन कहलाता है। देवताओं के अभिवादन में, रूठे हुए को प्रसन्न करने में, शोक में, चिल्लाने में, या आक्रन्दन में, मृतकों के देखने में, कुत्सित प्राणियों को डराने में, तथा नीचों के माँगने में इस आसन का विधान बताया गया है ॥ २३०-२३१ ॥

अनुवाद—पैरों का पृथ्वी पर ऊर्ध्वपतन 'विमुक्त' स्थानक कहा गया है। प्रहार में, आवेग में और क्रन्दन में इस आसन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २३२ ॥

अनुवाद—स्त्री एवं पुरुष पात्रों के लिए नाटिकाश्रित विधिपूर्वक आसनों का विधान करना चाहिए। यह आसन-विधान दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर और बाह्य ॥ २३३ ॥

देवानां नृपतीनां च योज्यं सिंहासनं तथा ।
पुरोधः श्रेष्ठ्यमात्यानां भवेद्वेत्रासनं तथा ॥ २३४ ॥

मुण्डासनं तु कर्तव्यं सेनानीयुवराजयोः ।
काष्ठासनं ब्राह्मणानां कुमाराणां कुथासनम् ॥ २३५ ॥

स्थानीया ये तु पुरुषाः कुलविद्याप्रकाशिताः ।
तेषामासनसत्कारः कर्तव्य इह पार्थिवैः ॥ २३६ ॥

समे समासनं चैव मध्ये मध्यं तथासनम् ।
अतिरिक्तेऽतिरिक्तं च हीने भूम्यासनं तथा ॥ २३७ ॥

उपाध्यायस्य नृपतेर्गुरूणां चाग्रतो बुधैः ।
भूम्यासनं तथा कार्यं काष्ठासनमथापि वा ॥ २३८ ॥

नौनागरथयानेषु तथा काष्ठासनेषु च ।
सहासनं न दुष्येत गुरूपाध्यायपार्थिवैः ॥ २३९ ॥

अनुवाद—देवता एवं राजाओं के बैठने के सिंहासन की योजना करनी चाहिए । पुरोहित, श्रेष्ठी और अमात्यों के लिए वेत्रासन देना चाहिए ॥ २३४ ॥

अनुवाद—सेनापति और युवराज के लिए मुण्डासन, ब्राह्मणों के लिए काष्ठासन और राजकुमारों के लिए कुथासन (दरी या गलीचा) देना चाहिए ॥ २३५ ॥

अनुवाद—कुल और विद्या से सम्पन्न (कुलीन और विद्वान्) जो स्थानीय लोग हैं । राजाओं को उनका आसन-सत्कार करना चाहिए ॥ २३६ ॥

अनुवाद—बराबर वालों के लिए बराबर का आसन, मध्यम लोगों के लिए मध्यम आसन, साधारण लोगों के लिए अतिरिक्त आसन और हीन पुरुषों के लिए भूमि ही आसन देना चाहिए ॥ २३७ ॥

अनुवाद—उपाध्याय, राजा और गुरुओं के सामने (सम्मुख) काष्ठासन (चौकी) या भूमि पर बैठना चाहिए ॥ २३८ ॥

अनुवाद—नौका, हाथी, रथ और यान (गाड़ी) में तथा काष्ठासन पर गुरु, उपाध्याय और राजा के साथ बैठने में कोई दोष नहीं होता ॥ २३९ ॥

एवं राजसभां प्राप्य कार्यस्त्वासनजो विधिः।
प्रकृतीनां तु सर्वासां तथा ज्ञानसमुत्थितम् ॥ २४० ॥
पुरुषाणां भवेदेषु विधिरासनसंश्रयः।
स्त्रीणां चैवासनविधिं संप्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥ २४१ ॥
सिंहासनं महादेव्या राज्ञीनां मुण्डमासनम्।
पुरोधोऽमात्यपत्नीनां भवेद्वेत्रासनं तथा ॥ २४२ ॥
भगिनीनां तु कर्तव्यं वस्त्रं चर्म कुथासनम्।
ब्राह्मणीनां तापसीनां पट्टासनमथापि च ॥ २४३ ॥
वेश्यानामपि कर्तव्यमासनं हि मसूरकम्।
शेषाणां प्रमदानां तु भवेद्भूम्यासनं बुधाः ॥ २४४ ॥
एवमन्तःपुरे ज्ञेयो बाह्यश्चासनजो विधिः।
तथा स्वगृहवार्तासु छन्देनासनमिष्यते ॥ २४५ ॥

अनुवाद—राजसभा में इसी प्रकार का आसन विधान करना चाहिए। समस्त प्रकृतियों और ज्ञानवान् पुरुषों के लिए इसी प्रकार का आसन-विधान विहित है। अब मैं स्त्रियों के लिए आसन-विधि को कहूँगा ॥ २४०-२४१ ॥

अनुवाद—महादेवी के लिए सिंहासन, ज्ञानियों के लिए मुण्डासन (मूढ़ा), पुरोहित और मन्त्रियों की पत्नियों के लिए वेत्रासन (बेंत का आसन) देना चाहिए ॥ २४२ ॥

अनुवाद—भोगिनी नारियों के लिए (पाठ भेद से भगिनी के लिए) वस्त्रासन, चर्म का आसन (मृगछाला आदि) तथा कुथासन (गलीचा) होना चाहिए। ब्राह्मणी और तपस्विनी स्त्रियों को पट्टासन देना चाहिए ॥ २४३ ॥

अनुवाद—वेश्याओं के लिए मसूरक आसन (आराम कुर्सी अथवा मसनद वाला आसन) होना चाहिए और शेष सभी प्रमदाओं के लिए भूमि रूप ही आसन होना चाहिए ॥ २४४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आभ्यन्तर और बाह्य आसन-विधि को जानना चाहिए और अपने घर में बात-चीत के समय अपनी इच्छा के अनुसार आसन-विधान करना चाहिए ॥ २४५ ॥

नियमस्थो मुनीनां तु भवेदासनजो विधिः ।
लिङ्गिनां चासनविधिः कार्यो व्रतसमाश्रयः । २४६ ॥
बृसीमुण्डासनप्रायं वेत्रासनमथापि च ।
होमयज्ञक्रियायां च पित्र्येऽर्थे च प्रयोजयेत् ॥ २४७ ॥
आकुञ्चितं समं चैव प्रसारितविवर्तिते ।
उद्वाहितं नतं षोढा शय्यास्थानानि निर्दिशेत् ॥ २४८ ॥
सर्वैराकुञ्चितैरङ्गैः शय्याविद्धे तु जानुनी ।
स्थानमाकुञ्चितं नाम शीतार्तानां प्रयोजयेत् ॥ २४९ ॥
उत्तानितमुखं चैव प्रत्यङ्मुक्तकरं तथा ।
समं नाम प्रसुप्तस्य स्थानकं संविधीयते ॥ २५० ॥
एकं भुजमुपाधाय संप्रसारितजानुकम् ।
स्थानं प्रसारितं नाम सुखसुप्तस्य कारयेत् ॥ २५१ ॥

अनुवाद—मुनियों का आसन-विधान नियमों के अनुसार होना चाहिए और सन्यासियों का आसन-विधान उनके व्रतानुसार होना चाहिए ॥ २४६ ॥

अनुवाद—बृशी (कुशासन), मुण्डासन और वेत्रासन का प्रयोग होम, यज्ञ क्रिया एवं पितरों में श्राद्ध-तर्पण आदि में करना चाहिए ॥ २४७ ॥

अनुवाद—आकुञ्चित, सम, प्रसारित विवर्त्तित, उद्वाहित और नत ये छः शयन के स्थान कहे गये हैं ॥ २४८ ॥

अनुवाद—सभी अङ्गों को सङ्कुचित करके दोनों घुटनों को शय्या पर आविद्ध कर लेटना 'अकुञ्चित' स्थानक कहलाता है। शीत से पीड़ित होने पर इस स्थान की योजना करनी चाहिए ॥ २४९ ॥

अनुवाद—मुख को ऊपर की ओर उत्तानित करके और हाथ को नीचे की ओर मुक्त रखकर शयन करना 'सम' स्थानक होता है, सोये हुए व्यक्ति के लिए इसकी योजना करनी चाहिए ॥ २५० ॥

अनुवाद—एक भुजा को तकिया बनाकर जानुओं (घुटनों) को फैलाकर-शयन करना 'प्रसारित' स्थान कहलाता है। सुख से सोये हुए के लिए इसकी योजना करनी चाहिए ॥ २५१ ॥

अधोमुखस्थितं चैव विर्वाततमिति स्मृतम् ।
शस्त्रक्षतमृतोत्क्षिप्तमत्तोन्मत्तेषु कारयेत् ॥ २५२ ॥

हस्तोपरि शिरः कृत्वा कूर्परक्षोभमेव च ।
उद्वाहितं तु विज्ञेयं लीलया वेशने विभोः ॥ २५३ ॥

ईषत्प्रसारिते जङ्घे यत्र स्रस्तौ करावुभौ ।
आलस्यश्रमखेदेषु नतं स्थानं विधीयते ॥ २५४ ॥

रङ्गे विकृष्टे भरतेन कार्यो गतागतैः पादगतिप्रचारः ।
त्र्यश्रेस्त्रिकोणेश्चतुरश्रके वा समेर्गतैरर्थवशेन नित्यम् ॥ २५५ ॥

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपेण गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥ २५६ ॥

अनुवाद—नीचे मुख करके सोना 'विर्वात्तत' कहलाता है। शस्त्र से घाव होने पर, मृत्यु, ऊपर से गिरने पर, मत्त एवं प्रमत्त होने की दशा में इसका उपयोग करना चाहिए ॥ २५२ ॥

अनुवाद—शिर को हाथ पर रखकर और कोहनी को मोड़कर शयन करना 'उद्वाहित' स्थान समझना चाहिए। लीला के साथ स्वामी के बैठने में इस स्थान की योजना करनी चाहिए ॥ २५३ ॥

अनुवाद—जङ्घाओं को थोड़ा फैलाकर जहाँ पर दोनों हाथों को शिथिल कर दिया जाता है, वहां 'सम' नामक स्थानक होता है। आलस्य, श्रम और खेद की अवस्था में इस स्थान का प्रयोग किया जाता है ॥ ५४ ॥

अनुवाद—विकृष्ट रङ्गमञ्च पर नटों (अभिनेताओं) को आने-जाने के प्रकार से पाद-गति में प्रचरण करना चाहिए। त्रिकोण रङ्गमञ्च पर त्र्यस्त्र और चतुरस्त्र मञ्च रङ्गमञ्च पर चतुरस्त्र प्रकार वाली गति से प्रचरण करना चाहिए ॥ ५५ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रदर्शन में वय (अवस्था) के अनुरूप वेष-भषा और वेष-भूषा के अनुरूप गति-प्रचार होना चाहिए। गति प्रचार के अनुगत पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए ॥ ५६ ॥

गतिप्रचारस्तु मयोदितोऽयं नोक्तस्तु यः सोऽर्थवशेन साध्यः ।
अतः परं रङ्गपरिक्रमस्य वक्ष्यामि कक्ष्यानुगतं विभागम् ॥ २५७ ॥

इति श्रीभरतीये नाट्यशास्त्रे गतिप्रचारो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने गति प्रचार का वर्णन किया है, जिसे मैंने नहीं कहा है उसे लोक-व्यवहार से सिद्ध कर लेना चाहिए। अब इसके बाद रङ्गमञ्च पर परिक्रमण (सञ्चरण) के कक्ष्यानुगत विभाग को कहूँगा ॥ ५७ ॥

॥ इस प्रकार भरतमुनि प्रणोत नाट्यशास्त्र में प्रतिप्रचार
नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

[1]त्रयोदशोऽध्यायः

अभिनवभारती

देशस्य[2] बाह्यान्तरभेदिकक्ष्या
विभागधर्मी विविधां प्रवृत्तिम् ।
आसूत्रयन्दोषविशुद्धिदक्ष-
क्रमोऽर्कदृष्टिर्जयतादृवृषाङ्कः ॥

अभिनव-भारती

अभिनव—देश के बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से बनने वाली कक्ष्या, उसके विभाग, द्विविध धर्मी, चतुर्विध प्रवृत्तियों को सूत्र रूप में निबद्ध करता हुआ तथा दोषों से शुद्ध करने में दक्ष, सूर्य रूपी दृष्टि वाला वृषाङ्क शिव विजयी होवें।

विशेष—रङ्गपीठ पर देशादि की कल्पना करके बाह्य और आभ्यान्तर कक्ष्या की कल्पना करे। रङ्गमञ्च पर जो पहिले प्रवेश कर चुके हैं, वे आभ्यन्तर पात्र हैं और उनसे अधिष्ठित देश विशेष को आभ्यन्तर कक्ष्या कहते हैं। जो पात्र पीछे प्रवेश करते हैं वे बाह्य हैं और उनका स्थान बाह्य कक्ष्या है।

धर्मी—यहाँ धर्मी पद से द्विविध धर्मो का ग्रहण होता है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी।

प्रवृत्ति—यहाँ विविधा प्रवृत्ति से चतुर्विधा प्रवृत्ति का ग्रहण होता है। प्रवृत्तियाँ चार होती हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और ओडमागधी।

क्रमः—क्रम शब्द से पाद और स्थानक भेद सूचित होता है। 'पाद' १६ तत्त्वों में तेरहवाँ तत्त्व है। स्थानक गति प्रधान होने से कक्ष्या में विनियोजित है।

अर्कदृष्टि—अर्क (सूर्य) के समान दृष्टि वाला शिव।

वृषाङ्क—वृष चिह्न है जिसका उसे 'वृषाङ्क' कहते हैं। शिव का चिह्न 'वृष' है अतः शिव को वृषाङ्क कहा जाता है।

---

१. ब. ङ. चतुर्दशोऽध्यायः ; २. देहस्य;

इहाभिनयानन्तरं यद्यपि सर्वा वृत्तिप्रवृत्तस्य उद्दृष्टाः, सर्वान्ते च रङ्गे (३६) सूचिता कक्ष्या,[१] तच्चतुर्विधाभिनयाभिधानानन्तरमेतदध्यायार्थो वक्तव्यः। तथापि प्रत्यभिनयमितीतिकर्तव्यतोपयुज्यते। तदभिधानं विना न आङ्गिकमेवोक्तं [२]स्यादिति वक्तव्यम्। [३]तदुद्देशे तु सामान्यशब्दत्वान्नास्ति प्रत्येकमुद्देशने [४]हृतिः। तद्देशनेऽपि च गौरवं स्यात्। अत एव वादिना [५]कक्ष्यादेरपृथग्भावे यो[६] हेतुरुक्तः क्रमोल्लङ्घनादिति तस्यासिद्धत्वं विरुद्धता च, प्रत्युत प्रत्येकप्रसङ्गस्वलाभात्, क्रमस्यापदार्थत्वान्नार्थप्रमाणकत्वान्मुख्यश्रौतपदार्थबाधकत्वयुक्तं, श्रुत्या वाक्यप्रमाणस्य बाधनाविति तु भट्टलोल्लटोक्तं प्रकृते सिद्धयति विरोधाभावात्, क्रमस्य च मध्यत्वात् गतिरूपप्रयोगहेतुत्वात्, अतस्तदवसरे वाभिधानं युक्तम्। [७]तद्द्वारेणाभिनयेऽङ्गताम-गात्। [८]तद्देशत्रयं [९]वस्तुत्रयं वक्तव्यम्। तत्र प्रथमं कक्ष्याभिधानेऽयमभिप्रायः इह गतिर्गन्तव्यदेशाश्रयात्, देशश्च[१०] जलस्थलादि[११] बहुतरसमविषमादिस्वभेवसहितं काव्यार्थतामात्रेणैवेह संभवन्नपि प्रयोगस्थाने न संभवत्येवेति, तस्य परिहारार्थं [१२]कक्ष्यानिरूपणं कर्तव्यम्। अत एव पूर्वाध्यायान्त उक्तं परिक्रमे गतावुपयोगिनां स्थानविशेषाणां सम्यग्विभागं वक्ष्यामीति। सेयमध्यायसंगतिस्तां[१३] दर्शयितुमाह—ये तु पूर्वमिति।

---

१. ग कक्षा।
२. क. (टि०) उक्ता;
३. क. (टि०) तद्देशे।
४. क. ख. हृति।
५. क. (टि०) एवं वादिना। क-ख. एवोपादिना।
६. क-क. योगेत्युक्तः।
७. क-ख. तद्द्वारेऽभिनयाङ्गतामगात्।
८. क-क. तद्देहत्रयं।
९. क. वक्तृत्रयं।
१०. क-क. देशाश्रयात्मदेशश्च।
११. क-क. जलस्थलानि।
१२. क-क. कक्ष्याविरूपणं।
१३. क-क. सङ्गतिम्।

अभिनव—यहाँ पर यद्यपि अभिनय के बाद सभी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को कह दिया गया है और सबके अन्त में नाट्य के ग्यारहवें अङ्ग रङ्ग (रङ्गभूमि) के प्रसङ्ग में कक्ष्या की सूचना दे दी गई है। इसलिए चतुर्विध अभिनयों के निरूपण के पश्चात् इस अध्याय के अर्थ कक्ष्या का निरूपण अवश्य करना चाहिए था; फिर भी प्रत्येक अभिनय में इसकी इतिकर्त्तव्यता का उपयोग है, उसके कहे बिना आङ्गिक अभिनय का भी कथन नहीं हो सकेगा, अतः इतिकर्त्तव्यता का कथन करना चाहिए। इतिकर्त्तव्यता का कथन होने पर अभिनयों का सामान्य रूप से कथन हो जायगा, तत्पश्चात् प्रत्येक के कहने में कोई क्षति नहीं है अर्थात् लक्ष्य एवं लक्षण के सामान्य कथन के बाद विशेष के कथन में कोई हानि नहीं है। दूसरे प्रत्येक के कहने में गौरव भी है। इसलिए वादी ने कक्ष्या आदि के इतिकर्त्तव्यता से पृथक् न होने में क्रमोल्लंघन रूप जो हेतु कहा है वह असिद्ध है और विरुद्ध भी।

यहाँ हेत्वाभास रूप दोष उपस्थित करते हुए कहते हैं कि 'कक्ष्या इति-कर्त्तव्यताऽपृथग्भाववती क्रमोल्लंघनात्' अर्थात् कक्ष्या इतिकर्त्तव्यता से पृथक् नहीं है, क्रमोल्लंघन होने से। इसका परिहार करते हुए कहते हैं कि यहाँ कक्ष्या में क्रमोल्लंघन रूप हेतु है ही नहीं। क्योंकि कक्षा में तो क्रम रहता ही है। अतः क्रमयुक्त कक्ष्या में क्रमोल्लंघन रूप हेतु स्वतः असिद्ध है।

दूसरे यहाँ विरुद्धत्व रूप हेत्वाभास भी है। क्योंकि क्रमोल्लंघन इतिकर्त्तव्यता अनेकत्व से व्याप्त है अर्थात् इतिकर्त्तव्यता में क्रम बना रहता है, उसका उल्लंघन नहीं होता, प्रत्युत प्रत्येक में प्रसङ्गत्व का लाभ है। इसके अतिरिक्त क्रम नामक कोई पदार्थ भी नहीं है अर्थात् क्रम के पदार्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः मुख्य रूप से शब्द से लाभ पदार्थ का बाधक होना भी अयुक्त है।

श्रुति से वाक्य प्रमाण का बाध होता है, यह भट्टलोल्लट का कथन प्रकृत में सिद्ध होता है, कोई विरोध न होने से और क्रम के मध्यवर्ती होने के कारण गति रूप प्रयोग का हेतु होने से। अतः गतिरूप प्रयोग के अवसर पर ही क्रम का कथन करना युक्त है। गति के द्वारा ही वह अभिनय का अङ्ग बन गया है। अतः देशत्रय और वस्तुत्रय का अवश्य विवेचन करना चाहिए।

ये तु पूर्वं मया प्रोक्तास्त्रयो वै नाट्यमण्डपाः ।
तेषां विभागं विज्ञाय ततः [1]कक्ष्यां प्रयोजयेत् ॥ १ ॥

तु शब्दाद् दूरत्वं पूर्वतायाः सूचयन् द्वितीयाध्यायार्थं स्मारयति । तेषामिति प्रत्येकमित्यभिप्रायः । मण्डपस्य यो विशिष्टो भागोऽन्तरङ्गपीठात्मकस्तं विज्ञाय विभागतो ज्ञात्वा कक्ष्यागत्युपयोगिनं स्थानविशेषं प्रयोजयेत्, विभागेन संबन्धं नयेत् । नाट्यदेशानुसारेण [2]प्रकोष्ठे त्यक्ते यो देशोऽवशिष्यते तत्रैव चातुरश्रीयम् । अत एव वामदक्षिणभागयोः कुतपविन्यासः शिष्टे[3] कक्ष्याविभागः ॥१॥

यहाँ कक्ष्या च कथन में यह अभिप्राय है कि यहाँ गन्तव्य देश के आश्रय से गति होती है और बहुत प्रकार के सम, विषम आदि स्वभेद सहित जो जल, स्थल आदि देश है, काव्य के अर्थ मात्र से यहाँ सम्भव होने पर भी प्रयोग-स्थान पर सम्भव नहीं है, अतः इनके परिहार के लिए कक्ष्या का निरूपण अवश्य करना चाहिए। अत एव पूर्व अध्याय अर्थात् बरहवें अध्याय के अन्त में कहा है कि परिक्रम अर्थात् रङ्गमञ्च पर परिक्रमण के प्रसङ्ग में गति में उपयोगी स्थल-विशेष के विभाग को सम्यग् रूप से कहूँगा। यहाँ अध्याय की संगति को दिखाने के लिए कहते हैं—ये तु इत्यादि।

अनुवाद—जो कि पहिले मैंने तीन प्रकार के नाट्यमण्डपों का विवेचन किया है उनके विशिष्ट विभाग को समझकर तब कक्ष्या का प्रयोग करना चाहिए ॥ १ ॥

अभिनव—यहाँ 'तु' शब्द से पूर्वता की दूरत्व की सूचना देते हुए द्वितीय अध्याय के अर्थ का स्मरण दिलाते हैं। यहाँ 'तेषाम् में' 'प्रत्येकम्' का अध्याहार है। मण्डप का रङ्गपीठात्मक जो विशिष्ट भाग है उसे अलग-अलग जानकर कक्ष्या और गति के उपयोगो स्थान-विशेष का उपयोग करना चाहिए और विभाग करके उनका सम्बन्ध स्थापित करे। नाट्य-प्रदेश के अनुसार प्रकोष्ठ के छोड़ देने पर जो स्थान शेष बचे, उसी में कक्ष्या का विभाग करे। इसलिए बायें और दायें भाग में कुतुप का विन्यास करे और शेष भाग में कक्ष्या का विभाग करे ॥ १ ॥

१. ग. कक्षां ।
२. क-क. च शेषे त्यक्तो वा विशिष्यते ।
३. क-क. क्लिष्टे ।

ये [1]नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते[2] ।
[3]तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ २ ॥
[4]कक्ष्याविभागो निर्देश्यो रङ्गपीठपरिक्रमात् ।
परिक्रमेण रङ्गस्य ह्यन्या[5] कक्ष्या भवेदिह ॥ ३ ॥

रङ्गस्य को [6]विभाग इत्याह—ये नेपथ्यगृहद्वार इत्यादिना । पूर्वमिति द्वितीयाध्याये प्रकीर्तिते भाण्डस्य ततातोद्यसहितस्य त्रिपुष्करस्य ॥ २ ॥

ततः किमित्याह—कक्ष्याविभाग इति । तेन [7]भाण्डेन यत्परित आक्रान्तं [8]तद्विवर्ज्यं शेषे रङ्गपीठदेशे निष्क्रमणप्रवेशगत्याद्युपयोगी स्थानविभागो निर्देश्यः प्रेक्षकावधिः संक्रमयितव्यः । ननु कः[9] स्थानविभाग इत्याह—परिक्रमेणेति ।

अनुवाद—जिन नेपथ्यगृह के दरवाजों को मैंने पहिले (द्वितीय अध्याय में) कहा है उनके बोच में नाटचप्रयोक्ताओं को भाण्ड-बाद्य का विन्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

अभिनव—रङ्ग का कौन विभाग है ? इस पर कहते हैं कि जो नेपथ्यगृह के द्वार इत्यादि अर्थात् जो पहिले द्वितीय अध्याय में कहे गये हैं, वहाँ तत् और आतोद्य वाद्यों के साथ त्रिपुष्कर वाद्यों का विन्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त का कथन है कि पूर्व में अर्थात् द्वितीय अध्याय में नेपथ्यगृह में जिन दो द्वारों का उल्लेख है, जो दो दरवाजे कहे गये हैं, उन दोनों दरवाजों के मध्य में नाटचप्रयोक्ताओं को भाण्ड बाद्यों को रखना चाहिए । इस प्रकार नेपथ्यगृह में दो द्वार होने चाहिए और दोनों दरवाजों के बीच के भाग में भाण्ड-बाद्यों का विन्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ पर परिक्रमण के अनुसार कक्ष्या-विभाग का निर्देश करना चाहिए, क्योंकि परिक्रमण के द्वारा रङ्गपीठ की अन्य कक्ष्या का विधान करना चाहिए ॥ ३ ॥

---

१. क-भ.म. नेपथ्यरङ्गभूमौ तु यौ विभागौ प्रकीर्तितौ ।
२. क-न. प्रकीर्तिताः । ३. क-न. तेषां ।
४. ग. विभागो । क-भ. म. कक्ष्याविभागौ निर्देश्यो रङ्गपीठपरिक्रमैः ।
५. ख. कक्ष्या ह्यन्या विधीयते । क-भ.म. कक्ष्यान्या ह्यभिधीयते । क-द. अन्यकक्ष्या भवेद्यतः ।
६. क. कोऽपि भागः । ७. क. दण्डेन ।
८. क. तद्विभज्य । ९. क. क्रमस्थानविभागः ।

[1]कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च।
[2]उद्यानारामसरितस्त्वाश्रमा अटवी तथा ॥ ४ ॥
[3]पृथिवी सागराश्चैव त्रैलोक्यं सचराचरम्।
[4]वर्षाणि सप्तद्वीपाश्च पर्वता विविधास्तथा[5] ॥ ५ ॥
[6]अलोकश्चैव लोकश्च रसातलमथापि च।
[7]दैत्यनागालयाश्चैव गृहाणि[8] भवनानि च[9] ॥ ६ ॥

परिक्रामन्त्यनेनेति परिक्रामः चार्यादिसंनिवेशः तद्वशादेकस्यापि रङ्गदेशस्य स्थान-भेदेनापरित्यागः, यथा—'आरोढुमुद्वहेद्गात्रं', 'अतिक्रान्तेन पादेन' (१२-१०२) इत्यादिना विशेष तु प्रासादपर्वतादिरूपत्वमस्यैव ॥ ३ ॥

अभिनव—यहाँ अभिनवगुप्त का कथन है कि इससे क्या हुआ ? इस पर कहते हैं कि कक्ष्या विभाग इत्यादि। उस भाण्ड-वाद्य के विन्यास से जो चारों तरफ से आक्रान्त है, उसे छोड़कर शेष बचे हुए रङ्गपीठ पर निष्क्रमण और प्रवेश के लिए गति के उपयोगी स्थान के विभाग का निर्देश करना चाहिए अर्थात् प्रेक्षकों के बैठने की अवधि तक स्थान-विभाग को सङ्क्रान्त कर देना चाहिए। वह स्थान-विभाग क्या है ? इस पर कहते हैं कि जिससे परिक्रमण करते हैं वह परिक्रम है, चारी आदि का सन्निवेश है उसके अनुसार रङ्ग के एक भाग का परित्याग स्थान-भेद से नहीं करना चाहिए। जैसे—'चढ़ने के लिए शरीर को ऊपर उठाये और 'प्रासाद के आरोहण में एक पैर अतिक्रान्त चारो और दूसरे पैर को 'अञ्चित' गति में रखनो चाहिए' इत्यादि के द्वारा विशेष स्थल में तो पर्वत, प्रासाद रूप तो है ही ॥ ३ ॥

अनुवाद—कक्ष्या के विभाग में गृह, नगर, उद्यान, आराम (क्रीड़ा-स्थल), नदी, आश्रम, अटवी (वन), पृथिवी, सागर, चराचर अर्थात् जड़ और चेतन पदार्थों सहित त्रैलोक्य, भारतवर्ष आदि सभी वर्ष, सातों द्वीप, विविध पर्वत, लोक और अलोक, दैत्यों और सर्पों के आलय, आराम-गृह एवं भवन आते हैं ॥ ४-६ ॥

१. ग कक्षाविभागे। २. ख. उद्यानारामसरित आश्रमा वलभीस्तथा।
३. क-भ. म. ससागरा च पृथिवी तथा त्रैलोक्यमेव च।
द्वीपा सप्ताथ वर्षाणि पर्वता विविधास्तथा ॥
४. क-प. द्वीपाश्च सप्तवर्षाणि। ५. क-द. सार्धं श्लोकद्वयं नास्ति।
६. क-इ दैत्यानामालयश्चैव। ७. क-इ. भुवनानि।
८. क-भ.म. परिक्रमेषरङ्गस्य तथैवार्थवशेन च।

[1]नगरे वा वने वापि वर्षे वा पर्वतेऽपि वा।
यत्र [2]वार्ता प्रवर्त्तेत तत्र कक्ष्यां प्रवर्तयेत् ॥ ७ ॥

ननु भाण्डवाद्यविनियुक्ते रङ्गपीठदेशे क्रमविशेषस्थानभेदक्लृप्ति । [3]तन्नेत्याह—कक्ष्याविभाग इत्यादि ।

विशिष्टे शिष्टे देशे स्थानान्तराणि कल्पनीयानि तानि कविजनस्मरणार्थमुपलक्षणत्वेन पठन्ति । [4]गृहादीनि पृथ्वीस्वर्गपातालभेदात्पुनरुदाहृतानि सर्वं संग्रहाय त्रैलोक्यमित्युक्तेऽपि स्मरणार्थं [5]वर्णनोद्देशः ४-५-६ ।

ननु सर्वत्र प्रयोगे सर्वे त्रैलोक्यवर्तिनः स्थानभेदाद् (भिन्नाः गृहाः) किं संभावितः। नेति दर्शयति नगरे वेत्यादि । निपातैरनुक्ता अटव्यादयः[6] साक्षात् ग्राह्या इति वा वीप्सया[7] द्योत्यते । यत्र-यत्र वार्ता वृत्तान्त इतिवृत्तबलायातः प्रकर्षण वर्तते तत्रमध्ये यो देशविभागस्तमेव प्रवर्तयेत् रङ्गपीठे दर्शयेत् न सर्वमित्यर्थः ॥७॥

अभिनव—यहाँ जा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भाण्डवाद्यों से 'विनिर्मुक्त रङ्गपीठ पर क्रम-विशेष एवं स्थान-भेद की कल्पना कर ली जातो है, वह बात नहीं है। इस पर कहते हैं कि कक्ष्याविभाग इत्यादि ।

अभिनव—कक्ष्या-विभाग के विशिष्ट देश में भिन्न-भिन्न स्थानों की कल्पना कर लेनी चाहिए, उन्हें कवि जनों के स्मरणार्थ उपलक्षण द्वारा कहा गया है। यद्यपि पृथ्वी आदि सभो स्थानों का एक साथ संग्रह के लिए एक शब्द 'त्रैलोक्यम्' से कह दिया गया है, फिर भी स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल भेद से ग्रह, प्रासाद आदि का पुनः कथन कवियों के स्मरणार्थ वर्णनोद्देश के लिए पृथक्-पृथक् वर्णन किया है ॥ ४-६ ॥

अनुवाद—नगर में अथवा वन में अथवा वर्ष (भारतवर्षादि) में अथवा पर्वतों पर जहाँ-जहाँ वार्ता अर्थात् वृतान्त फैल सके वहाँ-वहाँ कक्ष्या का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥

---

१. ख. ग. तथा सप्त समुद्राश्च वर्षा वै पर्वतास्तथा ।
२. क-द. यत्र वार्त्ता। प्रवर्त्तन्ते ।
३. क. तानेत्याह ।
४. क. गृह्यादीनि ।
५. क. कथनेनोद्देशः । ख. स्मरणोद्देशः ।
६. क. अटव्यानयसाक्षात् ।
७. क. तथा वीप्साद्योते ।

बाह्यं वा मध्यमं वापि तथैवाभ्यन्तरं पुनः ।
दूरं वा सन्निकृष्टं वा [1]देशं तु परिकल्पयेत्[2] ॥ ८ ॥
पूर्वप्रविष्टा ये रङ्गं ज्ञेयास्तेऽभ्यन्तरा[3] बुधैः ।
पश्चात्प्रविष्टा [4]विज्ञेयाः कक्ष्याभागे तु बाह्यतः[5] ॥ ९ ॥

विशिष्टे देश इत्युक्तं तं रङ्गपीठस्य विशेषं दर्शयति—बाह्यं वेत्यादि ।

भागत्रितये सति कस्मिंश्चिद्भागे देशादि कल्पयित्वा तत्रैव दूरादिभेदं परिकल्पेत, भूयस्त्वाल्पत्वादि भिन्नेन परिक्रमेण कल्पयेदित्यर्थः ॥८॥

बाह्यादिभेदं निरूपयति पूर्वप्रविष्टा इति ।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि सब जगह प्रयोग होने पर सभी त्रैलोक्यवर्त्ती का स्थान भेद से क्या वहाँ प्राप्त होना सम्भव है ? इस पर कहते हैं कि नहीं, इसलिए कहत हैं कि नगर में इत्यादि । यहाँ पर अटवो (जंगल), नदी, उद्यान, आश्रम, आराम आदि का साक्षात् बोध में पदों से कथन नहीं है अतः उनका निपातों से ग्रहण करना चाहिए, यह बात 'वा' शब्द की वोप्सा से घोषित होती है । जहाँ-जहाँ पर वार्त्ता अर्थात् इतिवृत्त के कथन से प्राप्त वृत्तान्त प्रकृष्ट रूप से हो, वहाँ उनके मध्य में स्थित जो देश विशेष हैं, उसी को प्रवर्तित करे अर्थात् रङ्गपीठ पर दिखाये, सभी देशों को नहीं ॥ ७ ॥

अभिनव—विशिष्ट देश, यह जो कहा गया है, अतः उस रङ्गपीठ के विशेष देश को 'बाह्यं वा' इत्यादि से दिखाते हैं—

अनुवाद—बाहर या मध्य में, उसी प्रकार भीतर, अथवा दूर या पास में देश की कल्पना करनी चाहिए ॥ ८ ॥

रङ्गपीठ के तीन भाग होने से किसी भाग में देशादि की कल्पना करके उसी में दूरादि भेदों की कल्पना करे । अभिनय के भूयस्त्व (आधिक्य) और अल्पत्व के कारण भिन्न हुए परिक्रम से ही कल्पना करे, यह इसका भाव है, अर्थ हैं ॥ ८ ॥

अब बाह्यादि भेद का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जो पहिले रङ्गमञ्च पर प्रवेश कर चुके हैं, उन्हें विद्वानों को आभ्यन्तर पात्र समझना चाहिए और जो बाद में प्रविष्ट हुए हैं, उन्हें कक्ष्या भाग में बाह्य समझे ॥ ९ ॥

---

१. ख. देशात् । २. क-द. समुपलक्षयेत् । भ. समुपपारयेत् ।
३. ख ग. अभ्यन्तरे । ४. ग. ते ज्ञेयः ।
५. ग. (टि०) कथाभागे तु मध्यतः ।

तेषान्तु दर्शनेच्छुर्यः[1] प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।
[2]दक्षिणाभिमुखः [3]सोऽथ कुर्यादात्मनिवेदनम् ॥ १० ॥

पूर्वभूताः प्रधानभूता सन्तः पूर्वं ये प्रविष्टास्ते अभ्यन्तरा इति तदधिष्ठितो देशविशेषोऽभ्यन्तरकक्ष्या प्रधानभूतस्तु पूर्वप्रविष्टोऽपि प्रधाने प्रविशति स्वकक्ष्यान्त्य इत्येव । पश्चात्प्रविष्टानां तु स्थानं बाह्यकक्ष्या । ते तु येन स्थानविशेषेण प्राक् प्रविष्टमुपसर्पन्ति स देशो मध्यमा कक्ष्या ॥ ९ ॥

एतदुक्तं भवति पूर्वप्रविष्टस्य स्वस्थान एवेतिवृत्तोचितगृहोद्यानादिविभागः पश्चात्प्रविष्टस्यापि पूर्वप्रविष्टेन सह यावन्न संमिलनं, तावत्प्रेक्षायामेव । मध्यमकक्ष्यायां तु गतिपरिक्रमादिः तत्संमेलनार्थम् । संमिलितानां तु कक्ष्याविभागो विच्छिद्यत इति संमेलन इतिकर्तव्यतामाह—तेषां त्विति ।

अभिनव—यहाँ पूर्व शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है—एक पूर्वभूत अर्थात् प्रधानभूत । अतः प्रधान होने के कारण जो पहिले प्रविष्ट हैं, वे आभ्यन्तर हैं, इसलिए उनसे अधिष्ठित देशविशेष को आभ्यन्तर कक्ष्या कहते हैं । दूसरा पूर्व का अर्थ अप्रधानभूत । अप्रधानभूत पूर्व में प्रविष्ट हुआ भी प्रधान के प्रवेश करने बाद भी अपनी कक्ष्या के अन्त ही में रहेगा । पीछे से प्रवेश करने वालों का स्थान तो बाह्य कक्ष्या है । जो जिस स्थान-विशेष के द्वारा पूर्व प्रविष्ट का उपसर्पण करने वालो का स्थान विशेष मध्यम कक्ष्या है ॥ ९ ॥

अभिनव—यहाँ यह कहा गया है कि पूर्व प्रविष्ट का अपने स्थान में ही इतिवृत्त के योग्य गृह एवं उद्यानादि का विभाग है और पीछे प्रवेश करने वालों का भी जब तक पूर्व प्रविष्ट हुए के साथ सम्मिलन नहीं होता तब तक प्रेक्षागृह में ही वह विभाग है । मध्यम कक्ष्या में तो उनके साथ सम्मेलन के लिए गति, परिक्रम आदि करना चाहिए । सम्मिलित हो जाने पर तो उनका कक्ष्या-विभाग विच्छिन्न जाता है । अतः सम्मेलन के विषय में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—तेषां तु इत्यादि—

अनुवाद—उनमें भी दर्शन के इच्छुक जो प्रेक्षक रङ्गमण्डप में प्रवेश करते हैं उन्हें दक्षिणाभिमुख होकर आत्म निवेदन करना चाहिए ॥ १० ॥

---

१. ग. दर्शनेच्छुः सन् ।
२. ब. दक्षिणाभिमुखं । ३. क-त. सो वै ।

[1]यतो मुखं भवेद्भाण्डं द्वारं नेपथ्यकस्य च ।
[2]सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगेन[3] नित्यशः ॥ ११ ॥

पूर्वप्रविष्टानां कर्मणि षष्ठी पूर्वं प्रविष्टस्य यो दक्षिणो भागस्तं वीक्षमाणः स्थितो यथा प्रेक्षकस्य यः पराङ्मुखो भवतीत्यर्थः । एषां प्रवृत्तये दाक्षिणत्यादिके क्रमः एतद्विपरीतमन्यत्र । प्रवृत्त्यवयवोद्भाविनं क्रममथशब्देन सूचयति तेनेदमाह प्राधान्येनोत्तराभिमुखं दक्षिणस्यामात्मनिवेदनं यथावदितिवृत्तवशात्तादृङ् निबध्यते । पूर्वप्रविष्टैः सह संमिलितस्य सर्वं बाह्यकक्ष्यायामेवेति तुशब्दस्यार्थः ॥ १० ॥

का खल्विह पूर्वा दिगित्याह—यतोमुखमिति समस्त पदम् । यदपेक्षं भाण्डस्य मुखं सा दिक् पूर्वा । ननु भाण्डस्य मुखं दुर्ज्ञानमित्याह द्वारमिति । नेपथ्यग्रहणेन गृहस्य पूर्वमुखं द्वारम् । भाण्डोपादानं तु तस्य प्रतियोजने पूर्वतां प्रकटयति प्राधान्यज्ञापनेन ॥ ११ ॥

अभिनव—यहाँ 'पूर्वं प्रविष्टानां' में कर्म में षष्ठी है । पूर्व प्रविष्ट पात्र का जो दक्षिण भाग है उसको देखता हुआ ऐसा खड़ा हो जिसमें प्रेक्षक से पराङ्मुख हो जाय । पूर्व प्रविष्टों इनकी प्रवृत्ति के लिए दाक्षिणादि में क्रम है । अन्यत्र अर्थात् बाद में प्रविष्ट पात्रों का इसके विपरीत क्रम है । यह क्रम अथ शब्द से सूचित होता है । इसलिए ऐसा कहते हैं कि प्रधानता के कारण उत्तराभिमुख होकर दक्षिण दिशा में आत्म निवेदन करना केवल इतिवृत्त के वश से (यथानत्) उचित है । पूर्व में प्रविष्ट हुए पात्रों के साथ सम्मिलित हुए पात्रों का सब कुछ बाह्य कक्ष्या में ही होता है, यह 'तु' शब्द का अर्थ है ॥ १० ॥

पूर्व दिशा कौन है ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—जिधर अर्थात् जिस ओर भाण्डवाद्य का मुख हो और जिस ओर नेपथ्यगृह का द्वार हो, नाटयप्रयोग में उसे पूर्व दिशा समझनी चाहिए ॥ ११ ॥

१. अयं श्लोकः 'ख' पुस्तके नास्ति ।
२. क-भ. पूर्वादि दिक्षु विज्ञेयं प्रयोगे नाट्यसंश्रये ।
३. क-ड. नाट्ययोगे तु नित्यशः ।

[1]निष्क्रामेद्यश्च तस्माद्वै स तेनैव यथा व्रजेत् ।
यतस्तस्य कृतं तेन पुरुषेण निवेदनम् ॥ १२ ॥
[2]निष्क्रान्तोऽर्थवशाच्चापि प्रविशेद्यदि[3] तद् गृहम् ।
[4]यतः प्राप्तः स पुरुषस्तेन [5]मार्गेण निष्क्रमेत् ॥ १३ ॥
[6]अथवार्थवशाच्चापि तेनैव सह गच्छति ।
तथैव प्रविशेत् [7]गेहमेकाकी सहितोऽपि वा ॥ १४ ॥

तेनैवेति पूर्वंप्रविष्टपात्रान्तरयोगेनेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अभिनव—'यतो मुखम्' यह समस्त पद है। जिसकी अपेक्षा से भाण्डवाद्यों का मुख हो, वही पूर्व दिशा है। अब प्रश्न यह है कि केवल भाण्ड के मुख को प्रमाण मानना कष्टकर है। इस पर कहते हैं कि द्वार को प्रमाण मानकर। क्योंकि द्वार विधिपूर्वक निर्मित होता है। नेपथ्य पद के ग्रहण से ज्ञात होता है कि नेपथ्यगृह का द्वार पूर्वाभिमुख होता है। भाण्ड पद का उपादान तो उसकी प्रतियोजना रहने पर प्रधानता के कारण पूर्व दिशा को सूचित करता है ॥ ११ ॥

अनुवाद—जो व्यक्ति जिस मार्ग से निष्क्रमण करे, वह उसी मार्ग से वैसे ही प्रवेश करे, क्योंकि उस व्यक्ति ने उसी मार्ग का उपयोग किया था ॥ १२ ॥

अभिनव—यहाँ 'तेनैव' पद का अर्थ है पूर्व में प्रविष्ट पात्र के अनन्तर प्रविष्ट दूसरे पात्र के सम्बन्ध से ॥ १२ ॥

अनुवाद—किसी प्रयोजन से बाहर निकल जाने पर यदि वही व्यक्ति पुनः उस गृह में प्रवेश करे तो जिस मार्ग से वह प्रवेश किया था उसी मार्ग से निकल जाय ॥ १३ ॥

अनुवाद—अथवा किसी कार्यवश कोई व्यक्ति किसी के साथ जिस मार्ग से बाहर जाता है तो उसे उसी के साथ अथवा अकेले उसी मार्ग से उसी प्रकार प्रवेश करना चाहिए ॥ १४ ॥

१. ख. ग. पुस्तकयो अयं श्लोकः इत्थं पठ्यते । निष्क्रामेच्चापि यस्तत्र नरः कार्येण केनचित् ।
स निष्क्रमेत्तु तेनैव कृतं येन निवेशनम् ॥
२. इतः परं श्लोकचतुष्टयं क.ख. पुस्तकयोर्नास्ति ।
३. क-द. निवेशेदत्र तद्गृहम् । क-द-न. विशेद्यदि तद्गृहम् ।
४. क-ज. प्राप्तः स पुरुषो येन ।
५. क-न. तेनैव यथा व्रजेत् ।
६. क-ढ. यद्यप्यर्थं वशाच्चैव ।
७. क. तथैव प्रविशेद्गृहम् ।

तयोश्चापि प्रविशतोः [1]कक्ष्यामन्यां विनिर्दिशेत् ।
परिक्रमेण रङ्गस्य त्वन्या कक्ष्या विधीयते ॥ १५ ॥
समैश्च सहितो गच्छेन्नीचैश्च परिवाहितः ।
अथ [2]प्रेक्षणिकाश्चापि विज्ञेया ह्यग्रतो गतौ ॥ १६ ॥
सैव भूमिस्तु बहुभिर्विकृष्टा स्यात्परिक्रमैः[3] ।
मध्या वा सन्निकृष्टा वा तेषामेवं विकल्पयेत् ॥ १७ ॥

---

[4]एवं बाह्यं वा मध्यमं वापि तथैवाभ्यन्तरमिति दूरं वा सन्निकृष्टं वेत्यादि विभजति सैव भूमिरिति ॥ १७ ॥

विकल्पानां मध्यात्पत्वरचनादिश्च न केवलमल्पत्वबहुत्वकृतमेव ? परिक्रम-वैचित्र्यं यावदन्यदपीति दर्शयति नगरे वेत्यादिना प्रयोगत इत्यन्तेन ।

अनुवाद—इस प्रकार दोनों पात्रों के प्रवेश करते समय अन्य कक्ष्या की सूचना दी जाय और रङ्गमञ्च के परिक्रमण से अन्य कक्ष्या का विधान होना चाहिए ॥ १५ ॥

अनुवाद—समान श्रेणी के पात्रों के साथ-साथ चलना चाहिए और अधम पात्रों के साथ परिवारित (घिरे हुए) होकर चलना चाहिए तथा चलने के समय प्रतीहारी को आगे चलना बताया जाय ॥ १६ ॥

अभिनव—अब पूर्वोक्त बाह्य, मध्य एवं आभ्यन्तर तथा दूर, मध्य एवं सन्निकृष्ट के विभाग के कहते हैं—

अनुवाद—रङ्गमण्डप की वही भूमि, यदि बहुत परिक्रमण करने पड़े तो 'विकृष्टा', यदि मध्य परिक्रमण करने पड़े तो 'मध्या' और यदि थोड़ा परिक्रम करने पड़े तो 'सन्निकृष्टा' कहलाती है। परिक्रम के कारण उस भूमि का विकल्प इस प्रकार करना चाहिए ॥ १७ ॥

अभिनव—भूमि की विकृष्टत्वादि का रचना केवल बहुत्व एवं अल्पत्व के कारण ही नहीं, बल्कि परिक्रम-वैचित्र्य के कारण भी होती है, इसी बात को कहते हैं—

---

१. ख.ग. काष्ठामन्यां ।
२. क-द. प्रेषणकाः । क-न. प्रेषणिकाः ।
३. क-भ-म. इदं श्लोकार्धं नास्ति ।
४. क. एवं बाह्ये वा मध्यमे वापि तथैवाभ्यन्तर इति विकृष्टं दूराभित्यादि ।

नगरे वा वने वापि सागरे पर्वतेऽपि वा ।
दिव्यानां गमनं कार्यं [1]द्वीपे वर्षेषु वा पुनः ॥ १८ ॥

आकाशेन विमानेन माययाप्यथ वा पुनः ।
विविधाभिः क्रियाभिर्वा नानार्थाभिः प्रयोगतः ॥ १९ ॥

नाटके च्छन्नवेषाणां दिव्यानां भूमिसञ्चरः ।
मानुषैः[2] कारणादेषां यथा[3] भवति दर्शनम् ॥ २० ॥

प्रयोगो नाट्यम् । दिव्यानां देवयोनीनां पिशाचादिब्रह्मान्तानां यन्नगरादिद्वीपादिविषयाऽऽगमनं तदाकाशेनैव आकाशगामिना विमानेन, मायया वा अदर्शनरूपया, अन्याभिर्वा बलादाहरणादिक्रियाभिर्विविधप्रयोजनाभिः कार्यमिति सम्बन्धः ॥ १९ ॥

न च द्विव्यानामेष एव प्रकारः किं तु अन्योऽप्यस्तीत्याह नाटक इति ।

अनुवाद—दिव्य पात्रों को नगर, वन, पर्वत, समुद्र, भारतवर्षादि वर्ष तथा द्वीप आदि सभी स्थानों में आकाश मार्ग से, विमान से, अथवा माया के द्वारा अथवा विविध क्रियाओं के द्वारा नाना प्रकार के प्रयोगों के द्वारा गमन करना चाहिए ॥ १८-१९ ॥

अभिनव—प्रयोग-जो नाट्य में किया जाता है दिव्य अर्थात् पिशाचादि से लेकर ब्रह्म पर्यन्त सभी देव योनियों का नगर, द्वीप आदि स्थानों में गमन आकाशगामी विमान से अथवा अदर्शन रूप माया से अथवा नाना प्रयोजनवती आहरणादि रूप विविध क्रियाओं के द्वारा करना चाहिए ॥ १८-१९ ॥

अभिनव—दिव्यों के लिए केवल यही उपर्युक्त एक ही प्रकार नहीं है, किन्तु अन्य भी प्रकार है, उसको कहते हैं—

अनुवाद—नाटक में दिव्य पुरुषों का प्रच्छन्न वेष में पृथ्वी पर संचरण होना चाहिए; क्योंकि कारण विशेष से ही मनुष्यों को इस दिव्य विभूतियों का दर्शन होता है ॥ २० ॥

---

१. क-न. द्वीपवर्षेषु वा पुनः । क-प. वर्षाद्वीपेषु वा पुनः ।
२. क-न. मानुषैः कारणैरेषां ।
३. क-न. प्रयोक्तृभिः । क. यदा ।

भारते त्वथ हैमे वा हरिवर्ष इलावृते ।
रम्ये किंपुरुषे वापि कुरुषूत्तरकेषु वा ॥ २१ ॥
दिव्यानां छन्दगमनं [1]सर्ववर्षेषु कीर्त्तितम् ।
भारते मानुषाणाञ्च गमनं संविधीयते ॥ २२ ॥
[2]गच्छेद्यदि विकृष्टस्तु देशकालवशान्नरः ।
[3]अङ्कच्छेदे तमन्यस्मिन् निर्दिशेद्धि प्रवेशके ॥ २३ ॥

वेषशब्देन चापादतलं वपुर्लक्ष्यते । तेन वरप्रदानाद्यनुग्रहनिमित्ताच्छन्नस्वरूपाणां देवानां मानुषे दर्शनं भवति, तदा नाटके प्रयोगे तेषामपि भूमिसञ्चरः, संचरत्यस्मिन्निति सञ्चरः भूमिरेव ॥ २० ॥

अयं तु देवेषु सामान्यकल्प इत्याह—दिव्यानामिति ।

पुराणेषु त्वयं सामान्यविधिरित्याह—भारत इति न त्विलावृतावावित्यर्थः ॥ २२ ॥

अभिनव—वहाँ वेष शब्द से पादतल तक शरीर लक्षित होता है । इससे यह प्रतीत होता है कि वरदान आदि अनुग्रह के कारण ही प्रच्छन्न स्वरूप वाले देवताओं का मनुष्य के रूप में दर्शन होता है, ऐसी अवस्था में नाटक के प्रयोग में दिव्यों का भी भूमि पर सञ्चार होता है, क्योंकि जहाँ घूमते हैं वहाँ भूमि ही होगी ॥ २० ॥

अभिनव—अब देवताओं के सामान्य कल्प (प्रकार) का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—भारतवर्ष और हिमपर्वत पर, हरिवर्ष, इलावृत्तवर्ष, रम्य किंपुरुष वर्ष (किन्नर प्रदेश) अथवा उत्तर कुरु प्रदेश में सभी वर्षों में दिव्य पात्रों का स्वतन्त्र गमन कहा गया है । किन्तु भारतवर्ष में तो मनुष्यों के गमन का संविधान है ही ॥ २१-२२ ॥

अभिनव—पुराणों में तो यह सामान्य-विधान कहा गया है । यह भारतवर्ष में ही, न कि इलावृत्त आदि वर्षों में । यह भावार्थ है ॥ २१-२२ ॥

अनुवाद—यदि कोई मनुष्य कार्यवश दूरदेश में जाय तो अङ्क का विच्छेद होने पर दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में प्रवेशक के द्वारा प्रदर्शित करे ॥ २३ ॥

---

१. ख. वर्षेष्वेतेषु कारयेत् ।

२. विकृष्टं यस्तु गच्छेद्धि देशं कार्यवशान्नरः ।
   क-द. गच्छेद्यदि विकृष्टं तु देशं कालवशान्नरः ।
   म. पुस्तके इतः पञ्च श्लोकाः न सन्ति ।

३. क-ज. अङ्कच्छेदेन चान्यास्मिन् निर्दिशेत्तं प्रवेशके ।

[1]अह्नः प्रमाणं गत्वा तु कार्यलाभं विनिर्दिशेद् ।
[2]तथालाभे तु कार्यस्य अङ्कच्छेदो विधीयते ॥ २४ ॥
क्षणो मुहूर्तो यामो वा दिवसो वापि [3]नाटके ।
[4]एकाङ्के सविधातव्यो बीजस्यार्थवशानुगः ॥ २५ ॥
[5]अङ्कच्छेदे तु निर्वृत्तं मासं वा वर्षमेव वा ।
नोर्ध्वं वर्षात्प्रकर्तव्यं कार्यमङ्कसमाश्रयम् ॥ २६ ॥
एवन्तु भारते वर्षे कक्ष्या[6] कार्या प्रयोगतः ।
[7]मानुषाणां गतिर्या[8] तु दिव्यानान्तु निबोधत ॥ २७ ॥

अनुवाद—दिन के प्रमाण के अनुसार किसी स्थान पर जाकर कार्य-सिद्धि का निर्देश करे। यदि उतने समय में उस प्रकार का लाभ न हो तो अङ्कच्छेद कर देना चाहिए ॥ २४ ॥

अनुवाद—नाटक में क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर अथवा एक दिन का वृत्त बीज के प्रयोजन के अनुसार एक ही अङ्क में समाप्त कर देना चाहिए ॥ २५ ॥

अनुवाद—वर्ष अथवा मास के कार्य को अङ्कच्छेद में (अङ्क की समाप्ति पर) निवर्त्तन (समाप्त) कर देना चाहिए। एक अङ्क में कार्य को एक वर्ष से अधिक के नहीं होने चाहिए ॥ २६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार भारतवर्ष में प्रयोग के अनुसार कक्ष्या का विभाग करना चाहिए। यह मनुष्यों की गति हैं। अब दिव्य पात्रों की गति को समझे ॥२७॥

---

१. ख. ऊर्ध्वप्रमाणं । क-ज. अङ्कप्रमाणं ।
२. क-न. तथालाभेषु कार्यं स्यात् ।
क-भ. तथालाभे तु कार्यं स्यात् ।
३. क-ज. मध्याह्ना दिवसोऽपि वा ।
४. क-ज. अङ्के अङ्के ।
५. ख. अङ्कच्छेदं पुनर्वृत्तं ।
६. क-उ. कक्ष्या कार्या प्रयोक्तृभिः ।
७. ख. मानुषाणां गतौ येषां दिव्यानां तु निबोधत ।
८. क. (टि०) गतिर्ज्ञेया । गतिर्ह्येषां । गतिर्यास्तु ।

हिमवत्पृष्ठसंस्थे तु कैलासे पर्वतोत्तमे ।
यक्षाश्च गुह्यकाश्चैव धनदानुचराश्च ये ॥ २८ ॥
[1]रक्षःपिशाचभूताश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः ।
हेमकूटे च गन्धर्वा विज्ञेयाः [2]साप्सरोगणाः ॥ २९ ॥
सर्वे नागाश्च निषधे शेषवासुकितक्षकाः[3] ।
महामेरौ त्रयस्त्रिंशद् ज्ञेया देवगणा बुधैः[4] ॥ ३० ॥
नीले तु वैडूर्यमये [5]सिद्धा ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दैत्यानां दानवानाञ्च श्वेतपर्वत इष्यते[6] ॥ ३१ ॥

वर्षे प्रचारादाह—हैमतो इति । हिमवति बाहुल्ये नैषां गतिरित्यर्थः । एवं सर्वत्र ॥ २८-२९ ॥

नील इति अद्रिविशेषे, तस्यैव विशेषणं वैडूर्यमये, एतच्च कवेः शिक्षार्थम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—हिमालय पर्वत के पृष्ठभाग पर स्थित पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर रहने वाले जो यक्ष, गुह्यक और कुबेर के अनुचर और राक्षस, भूत, पिशाच हैं, वे सब 'हैमवत' अर्थात् हिमालय पर्वत के वासी हैं और अप्सराओं सहित गन्धर्व हेमकूट पर्वत के निवासी हैं ॥ २८-२९ ॥

अभिनव—वर्ष अर्थात् हरिवर्ष, किंपुरुष वर्ष आदि वर्षों में विचरण करने के कारण ये देवता 'हैमवत' कहे जाते हैं । हिमवान् में इनकी गति (प्रचार) अधिक है । इसी प्रकार सब जगह समझे ॥ २८ २९ ॥

अनुवाद—शेष, वासुकि, तक्षक आदि सभी नाग निषध पर्वत पर रहते हैं । और विद्वान् पुरुष तैंतीस देवताओं को महामेरु (सुमेरु) पर्वत का निवासी समझें ॥ ३० ॥

अनुवाद—वैदूर्यमणि वाले नीलगिरि पर सिद्ध और ब्रह्मर्षि निवास करते हैं और दैत्य एवं दानवों का निवास-स्थान श्वेत पर्वत पर है ॥ ३१ ॥

अभिनव—नील यह पर्वत विशेष का नाम है । उसी का विशेषण वैदूर्यमणिमय है । यह कवि की शिक्षा के लिए कहा गया है ॥ ३१ ॥

१. क.ग. रक्षोभूतापिशाचाश्च ।
क-ट. रक्षः पिशाचा भूताश्च ।
२. क-ट. विज्ञेयाप्सरसां गणाः । ३. क-म. शेषप्रभृतयः स्मृताः ।
४ ख. तथा । क.(टि.) द्विजाः । ५. ख. सिद्धब्रह्मर्षयस्तथा । ६. क. ग. उच्यते ।

पितरश्चापि विज्ञेया शृङ्गवन्तं [1]समाश्रिताः ।
इत्येते पर्वताः श्रेष्ठा दिव्यावासाः प्रकीर्तिताः[2] ॥ ३२ ॥
तेषां [3]कक्ष्याविभागश्च जम्बूद्वीपे भवेदयम् ।
[4]तेषां न चेष्टितं कार्यं स्वैः स्वैः कर्मपराक्रमैः ॥ ३३ ॥

दिव्यानां पिशाचादिब्रह्मान्तानामावासः ॥ ३२ ॥

ननु वर्षान्तरेषु[5] दिव्यपर्वतेषु यदुचितं गमनं तत्कर्तुं शक्यमित्याह तेषामिति ।

चकार इवार्थे । जम्बूद्वीप इव दिव्यपर्वतेष्वपि । दिव्यानामपि कक्ष्याविभागः स्थानविशेषोपलक्षिता गतिरित्यर्थः । एतत् स्फुटयति न तेषामिति ॥ ३३ ॥

अनुवाद—पितरों को शृङ्गवान् पर्वत का निवासी समझना चाहिए। ये पर्वतश्रेष्ठ दिव्यों (दिव्यपात्रों) के आवास-स्थान कहे गये है ॥ ३२ ॥

अभिनव—दिव्यों का अर्थात् पिशाच आदि से लेकर ब्रह्म पर्यन्त दिव्यों आवास दिव्यावास है ॥ ३२ ॥

अनुवाद—उन दिव्यों का कक्ष्या-विभाग जम्बू द्वीप में होता है। इन देवताओं की चेष्टाएँ अपने-अपने कर्म और पराक्रम के अनुसार नहीं होनी चाहिए ॥ ३३ ॥

अभिनव—'तेषाम्' इत्यादि के द्वारा वर्षान्तरों में होने वाले दिव्य पर्वतों पर जो गमन उचित है, उसे करना चाहिए, यह द्योतित होता है। यहाँ पर 'कक्ष्या-विभागश्च' में 'चकार' इव के अर्थ में उपात्त है। जम्बू द्वीप के समान दिव्य पर्वतों पर भी कक्ष्या-विभाग है। अतः दिव्यों की भी स्थान-विशेष में उपलक्षित गति होती है। इसी बात को 'तेषाम्' इत्यादि के द्वारा स्फुटित करते हैं ॥ ३३ ॥

---

१. क-म. शृङ्गवद्भिरिवासिनः ।
२. क. ग. दिव्यवासा भवन्ति हि ।
३. ग. कथाविभागस्तु ।
४. ख.ग. तेषां तु ।
५. क-क. द्वीपान्तरेषु ।

[1]परिच्छेदविशेषस्तु तेषां मानुषलोकवत् ।
[2]सर्वे भावाश्च दिव्यानां कार्या मानुषसंश्रयाः ॥ ३४ ॥

[3]तेषां त्वनिमिषत्वं यत्तन्न कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
इह भावा रसाश्चैव [4]दृष्टावेव प्रतिष्ठिताः ॥ ३५ ॥

परिच्छेदविशेषश्च तदीयः परिवारः स्वाभितो न कार्य इत्यर्थः परिच्छेदो वा ज्ञानं तद् दूरव्यवहिताविविषयं न प्रदर्शनीयम् । कथं तर्हि, इत्याह मानुषेति मानुषगत एवैषां सर्वो भावः कार्यः, कथं, मानुषलोकवत् यथा मानुषे लोके अंशावतरणे नायकानां रामादीनां किंचिदुत्कृष्टं सातिशयं मनुष्योचितमेव चरितं तथैव दिव्यभावबहुवृत्तीनामपीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—उन दिव्यों के परिच्छेद-विशेष का अभिनय मनुष्य-लोक की तरह करना चाहिए । क्योंकि दिव्यों के सभी भाव मनुष्यों के समान दिखाना चाहिए ॥ ३४ ॥

अभिनव—परिच्छेद-विशेष का अभिप्राय है कि उन दिव्यों के परिवार (उपकरणों) को अपने चारों ओर नहीं रखना चाहिए । अथवा परिच्छेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् दूरस्थ पदार्थ को जान लेना और व्यवधान रखे हुए (व्यवहित) पदार्थ को जान लेना आदि विषय नहीं दिखाना चाहिए । क्यों नहीं दिखाना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि इनके अर्थात् दिव्यों के सभी भाव मनुष्यों के समान दिखाना चाहिए । कैसे ? कहते हैं मनुष्यों के समान दिखाना चाहिए । जैसे मनुष्य लोक में अंशावतार नायक रामादि का थोड़ा उत्कृष्ट एवं अतिशय विशिष्ट चरित मानवोचित ही है । उसी प्रकार दिव्य भावों की बाहुल्येन स्थिति भी मानुषोचित ही है अर्थात् उनका चरित मनुष्यों के समान दिखाना चाहिए ॥ ३४ ॥

अनुवाद—दिव्यों अर्थात् देवताओं के निर्निमेषत्व का अभिनय नाट्यप्रयोक्ताओं को नहीं करना चातिए । क्योंकि अभिनय में सभी भाव एवं दृष्टि पर ही अधिष्ठित है ॥ ३५ ॥

---

१. ख. परिच्छेदाविशेषस्तु ।
२. क.ग. सर्वे भावास्तु ।
   क.भ. सर्वो भावश्च कार्यो मानुषसंश्रयः ।
३. ग. तेषामनिमिषं यत्तु ।		४. दृष्ट्यामेव ।

वृष्ट्या हि सूचितो भावः [1]पुनरङ्गैर्विभाव्यते ।
एवं कक्ष्याविभागस्तु मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः ॥
पुनश्चैव प्रवक्ष्यामि प्रवृत्तीनान्तु लक्षणम् ॥ ३६ ॥

न निमषतीत्यनिमिषं रूपं तेषां नैव कार्यम् । तुरवधारणे अथ हेतुरिहेति । भावा व्यभिचारिणो, रसाः स्थायिनो वृष्टावेवेति वृष्ट्यामिति स्पष्टयति ।

दृष्ट्येति सूचितः सूचाभिनय एव विभाव्यते विभावादिशेषयुक्तत्वे स्फुटीभवतीत्यर्थः । अत एव न तेषां चेष्टितमित्यनेन साध्योऽप्ययमर्थः पुनरुपात्तः प्राधान्यात् ॥ ३६ ॥

एवं सर्वोपकारित्वादुद्देशस्य संग्रहे सर्वं पश्चादभिधानं तेनैवं न यद्यपि कक्ष्याविभागः सूचितस्तथापि चारीपरिक्रमसङ्गेन गत्यध्यायानन्तरं वर्णितः । इदानीं त्वाङ्गिकोपयोगिधर्म्यादित्रयमुद्दिष्टं, तत्र वृत्तीनामग्रतो निरूपणं भविष्यति, तत्र च हेतुं वृत्त्यध्याय (अ-२०) एव वक्ष्यामः । यद्यपि धर्मौ पूर्वमुद्दिष्टा तथापि यत्र वार्ता प्रवर्तेत' (१३-७) इत्यनेन कक्ष्याविभागकल्पितदेशभेदाभिधानप्रसङ्गेन च देश-

अभिनव—जिसमें आँखों का स्पन्दन नहीं होता वह अनिमिष रूप है । उस अनिमिष रूप को यहाँ नहीं दिखाना चाहिए । क्यों नहीं दिखाना चाहिए ? कहते हैं कि इस लोक में भाव व्यभिचारी भाव है, रस स्थायी हैं, ये सभी भाव दृष्टि में ही हैं अर्थात् दृष्टि के द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं, इसी को 'दृष्ट्याम्' के द्वारा स्पष्ट करते हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—क्योंकि पहिले वृष्टि के द्वारा भावों को सूचित किया जाता है, फिर अङ्गों के द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । हे द्विजश्रेष्ठों ! इस प्रकार मैंने कक्ष्या-विभाग का वर्णन किया है । अब प्रवृत्तियों का लक्षण कहूँगा ॥ ३६ ॥

अभिनव—'दृष्ट्या सूचितः' से सूची चारी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय अभिप्रेत है । क्योंकि सूचा चारो का अभिनय ही भाव-विशेष के योग में स्फुट होता है । अत एव 'न तेषां चेष्टितं कार्यम्' अर्थात् 'उनके चेष्टित को नहीं करना चाहिए । इस कारिका से साध्य अर्थ का यहाँ पुनः उपादान किया गया है । यह उनकी प्रधानता के कारण ॥ ३६ ॥

१. ब. पुनरङ्गैः । ग. पश्चावङ्गैः ।

चतुर्विधा प्रवृतिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः[1] ।
आवन्तो दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधो[2] ॥ ३७ ॥

विभागप्रतिपन्नाः प्रवृत्तय आक्षिप्ताः । किं च पात्रस्य सति प्रवेशे कक्ष्याविभाग उत्तरद्वारेण दक्षिणात्यावन्त्योः प्रवेशः, अन्ययोस्तु सव्येनेत्येवं प्रवृत्तिविभागः प्रवेशक-भेदमाक्षिपति । सोऽपि तत्स्थानेनेदमिति तदुपयोगित्वेनापि समनन्तरं प्रवृत्तयो वक्तव्या इति मनसि कृत्वाह चतुर्विधेति ।

प्र वृत्ति-निरूपण

अभिनव—इस प्रकार सर्वोपकारी होने के कारण उद्देश के सङ्ग्रह में जो अभिधान किया गया है, उस अभिधान से यद्यपि कक्ष्या-विभाग की सूचना नहीं मिलती, तथापि चारी और परिक्रम के प्रसङ्ग से गत्यध्याय नामक बारहवें अध्याय के अनन्तर कक्ष्या-विभाग दिखा दिया है। इस सभय तो आङ्गिक अभिनय के उपयोगी धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति तीनों का उद्देश्य क्रम से जो कथन किया था, उनमें वृत्तियों का निरूपण पहिले होगा, उसका हेतु वृत्यध्याय नामक बीसवें अध्याय में किया जायगा। उद्देश संग्रह में यद्यपि धर्मी का पहिले कथन है तथापि 'यत्र वार्त्ता प्रवर्त्तत' इसके द्वारा कक्ष्या-विभाग के लिए कल्पित देश-भेद के अभिधान के प्रसङ्ग से देश-विभाग प्रतिपन्न है और प्रवृत्तियाँ आक्षिप्त हैं और भी पात्र के प्रवेश करने पर जो कक्ष्या-विभाग होता है, वह दाक्षिणात्य और आवन्ती में उत्तर द्वार से प्रवेश करना चाहिए और अन्य पाञ्चाली और औड्रमागधी में वामद्वार से प्रवेश करना चाहिए, इस प्रकार प्रवृत्ति-विभाग प्रवेशक भेद का आक्षेप करता है। वह प्रवेशक भेद भी उस स्थान से 'यह करना, ऐसा करना' इस प्रकार वृत्ति के उपयोगी होने पर भी वृत्तियों के समनन्तर प्रवृत्तियों को कहना चाहिए, इस बात को मन में रखकर कहते हैं—

अनुवाद—नाटच-प्रयोक्ताओं ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों को कहा है—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी ॥ ३७ ॥

---

१. क.ग. प्रोक्ता नाटचप्रयोक्तृभिः । क-न. प्रयोज्या नाटचप्रोक्तृभिः ।
क-म. विज्ञेया नाटचकोविदैः । क-द. प्रयोगतः नालसंश्रया ।
२. क-प. चाण्ड्रमागधी । क-ब. चैव मागधी ।

अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते पृथिव्यां [1]नानादेशवेष-भाषाचारवार्ताः प्रख्यापयतीति[2] वृत्तिः । [3]प्रवृत्तिश्च निवेदने । अत्राह-यथा पृथिव्यां बहवो [4]देशाः सन्ति, कथमासाञ्चतुर्विधत्वमुपपन्नं, समानलक्षणश्चासां प्रयोग [5]उच्यते, सत्यमेतत् । समानलक्षण आसां प्रयोगः । किन्तु नानादेशवेषभाषाचारो लोक इति कृत्वा लोकानुमतेन वृत्तिसंश्रितस्य[6] नाट्यस्य वृत्तीनां मया चतुर्विधत्वमभिहितं भारती[7] सात्त्वतीकैशिक्यारभटी चेति ।

अनुवाद—इस विषय में भरतमुनि कहते हैं कि इन्हें प्रवृत्ति क्यों कहते ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि पृथ्वी पर विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित नाना वेष-भूषा, भाषा, आचार और वार्त्ता को ख्यापन करने वाली वृत्ति हो 'प्रवृत्ति' है और निःशेष ज्ञान रूप अर्थ में प्रवृत्ति शब्द है। इस विषय में पुनः प्रश्न उठता है कि जब पृथ्वी पर अनेक देश हैं तो इन प्रवृत्तियों का चतुर्विधत्व कैसे संगत होगा ? क्योंकि इनके प्रयोग का लक्षण समान है। इस पर कहते हैं कि यह सत्य है कि इनके प्रयोग (अभिनय) में लक्षण की समानता है। किन्तु नाना देशों में विभिन्न वेष, भाषा, आचार वाले लोग हैं, इसलिए लोक के अनुमत लोक के रुचि के अनुसार वृत्तियों पर आश्रित नाट्य की चार प्रकार की वृत्तियों को मैंने कहा है—भारती, आरभटी, सात्त्वती और कैशिकी।

---

१. क-न. नानादेशकृतान् वेषकृतान् ।

२. क-ङ. प्रख्यापयन्तीति । क-म. आख्यापयतीति ।

३. ख. वृत्तिश्च ।

४. क-ग. नानादेशाः ।

५. क-म. अत्रोच्यते एवमेतत् ।

६. ग. लोकानुमतेऽनुवृत्तिसंश्रितमस्य । ख. संश्रितस्य नाटयस्य ।
क-म. वृत्तिसमाश्रितस्य प्रयोगस्य ।

७. ख. ग. भारत्यारभटीसात्त्वतीकैशिकी चेति । वृत्तिसंश्रितेष्वमीषु प्रयोगेष्वभिरता ।

वृत्तिसंश्रितैश्च प्रयोगैरभिहिता देशाः । यतः [1]प्रवृत्तिचतुष्टयमभिनिर्वृत्तं प्रयोगश्चोत्पादितः[2] ।

प्रवृत्तिः कस्मादिति प्रश्नाः । कस्मादिति चतुष्कप्रश्नः ।

अर्थं तावदाह पृथिव्यामिति । प्रवृत्तिः देशविशेषगता वेषभाषासमाचारवैचित्र्यप्रसिद्धिरुच्यते । तत्रैवं योजना देशे देशे येष्वेव वेषादयो नेपथ्यं, भाषा वा, आचारो लोकशास्त्रव्यवहारः, वार्ता कृषिपाशुपाल्यादिजीविका इति तान् प्रख्यापयति पृथिव्यादिसर्वलोकविद्याप्रसिद्धिं करोति । प्रवृत्तिर्बाह्यार्थे यस्मान्निवेदने निःशेषेण वेदने ज्ञाने प्रवृत्तिशब्दः । 'अस्त्येषा[3] भुवने प्रवृत्तिरभवद्रामेण रामस्य यत्'' इत्यादौ ।

अनुवाद—वृत्तियों के आधार पर किये जाने वाले प्रयोगों के आधार पर चार देश कहे गये हैं । क्योंकि इन्हीं चार देशों के आधार पर प्रवृत्तियों के चार प्रकार उपपन्न हुए और प्रयोग भी किया जाने लगा ।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि इन्हें प्रवृत्ति क्यों कहते हैं ? इनको प्रवृत्ति मानने में क्या हेतु है ? किस आधार पर ये प्रवृत्तियाँ है ? और किससे ये प्रवृत्तियाँ उद्भूत हुई हैं ? ये चार प्रश्न यहाँ उपस्थित होते हैं ? इन्हीं चार प्रश्नों को लक्ष्य कर आचार्य कहते हैं—'कस्मादिति' ।

अभिनव—इनमें पहिले अर्थ को कहते हैं अर्थात् प्रवृत्ति के विषय को कहते हैं—पृथिव्यामिति । देश विशेष के वेष, भाषा, आचार-विचार और वार्ता के वैचित्र्य की प्रसिद्धि को 'प्रवृत्ति' कहते हैं । इसमें योजना इस प्रकार है—जिन-जिन देशों में जो वेष-भूषा, एवं भाषा प्रचलित है, जो आचार-विचार, लोक-व्यवहार एवं शास्त्रीय व्यवहार हैं, जो वार्त्ता अर्थात् कृषि, पशु पालन एवं वाणिज्य आदि जीविका है, उनका प्रख्यापन करने वाली वृत्ति 'प्रवृत्ति' है । वह पृथिवी आदि सब लोकों की को विद्या की प्रसिद्धि करता है, इसलिए उसे प्रवृत्ति कहते हैं । क्योंकि प्रवृत्ति बाह्य अर्थ के विषय में निवेदन अर्थात् निःशेष वेदन ज्ञान रूप अर्थ में प्रवृत्ति शब्द प्रयुक्त है । 'लोक में यह एक प्रवृत्ति है जो राम के द्वारा राम को है' इत्यादि में ।

---

१. क-म. यतस्ततः प्रवृत्तेश्चतुष्टयमिति निर्वृतम् ।

२. क. (टिप्पण्यां) द-भ. पुस्तकयोः दाक्षिणात्यालक्षणात्पूर्वमेवावन्तीलक्षणमुक्तं यथा—

आनर्मदाया आसिन्धोरापूर्वावर्तिनस्तथा ।
आपश्चिमात्समुद्राच्च तथा सौवीरराष्ट्रतः ॥
आहिमाद्रेस्तथा देशा विदेशाश्चान्तरेण ते ।
सात्वती कौशिकी युक्ता तेषामावन्तिकी स्मृता ॥

३. क-क. अस्यैषा ।

अथ संख्याप्रश्ने स्वाभिप्रायमाह यथेति देशा इति। तत्कृत्वापि चतुष्टयी प्रवृत्तिरित्युक्तं न चत्वार एव देशाः। स्यादेतदेव तावत्यस्तावदुक्ता अभ्यधिकास्तु त्यक्ता इत्याशङ्क्याह समानलक्षणश्चासां प्रयोग इत्युच्यते महद्भिरिति शेषः। प्रयोग इति नाट्यम्। चतसृणामेवासां समानलक्षणानामेतत्साधारणस्वभावः सर्वप्रयोग इत्येव व्यवहारः, युष्मन्मते न त्वन्यो व्यवहारः कश्चिद्दर्शितः। [1]यथा च कामक्रोधलोभमोहैस्तु सावरणीकृतजगच्चिन्तादिः प्रदेशः आशु पराक्रियते तथा प्रकृतेऽपि।

ननु चतुस्साधारणप्रयोग इत्येव नत्वन्योऽत्र प्रविशति व्यवहार इत्येतदुक्तम्। विस्मरणशीलो भवान् न स्मर्यते। उक्तं पूर्वरङ्गान्ते (अध्याय ५वाँ) इत्येवाऽवन्ति-पाञ्चालदाक्षिणात्यौड्रमागधो। कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु।१८१। इति पूर्वरङ्गस्य प्रयोगस्य गर्भाधानीयस्थानीय इत्युक्तम्। तत्रैवाभ्युपगमपूर्वकमुत्तरमाह—तत्तु सत्य-मित्यादिना नानादेशवेषेत्यन्तेन अभ्युपगमोक्तदेशादिशब्देन प्रवृत्तिमभिदधता। आसामिति व्याख्यानम्। किंत्वित्यादिनोत्तरे[2] एतदुक्तं भवति वृत्तिसंश्रितं वृत्तीरा-श्रितमेतच्चतुर्विधम्।

अभिनव—अब इन प्रवृत्तियों के संख्या के विषय में ग्रन्थकार अपना अभिप्राय कहते हैं—'यथा' इत्यादि से लेकर 'देशाः' तक। देश के नानात्व को मानकर भी प्रवृत्तियाँ चार हैं, ऐसा कहा है देश भी चार हैं, ऐसा नहीं कहा है। कदाचित् इतनी हो कही गई है, और जो अधिक है, उन्हें छोड़ दिया हो, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं कि 'नाट्य-प्रयोग में लक्षणों की समानता है' ऐसा महान् लाग कहते हैं। 'प्रयोग' का अर्थ है नाट्य। इन चारों के लक्षण समान है, अतः समान (साधारण) स्वभाव वाला प्रयोग सर्वत्र होता है, यही व्यवहार हैं। तुम्हारे मत में भी अन्य कोई व्यवहार नहीं दिखाया है। जैसे, काम, क्रोध, लोभ, मोह के कारण जगत् की चिन्ता आदि साधारण करके मनुष्य उस प्रदेश को शीघ्र छोड़ देता है उसी प्रकार प्रकृत में चार हो प्रवृत्तियों को कहा है, अन्यों को छोड़ दिया है।

---

१. क. तथा च।

२. क. किंत्वित्यादिनोत्तरमाह।

क-क. किंचिदादिना।

नतु का प्रवृत्तिः किं तथैवाभ्युपगमः प्रवृत्तिः। नेत्याह लोकानुगुणानुसारेण। लोकस्य हि दक्षिणापथः पूर्वदेशः पश्चिमदेशः उत्तरभूमिरिति चतुर्धा विभागोऽस्ति, न चैष निर्निबन्धनः (चित्तवृत्तिभेद) सादृश्यसंभवात्। तथाहि दाक्षिणात्येषु शृङ्गारप्रचुरतया कैशिक्याः संभवः। पश्चिमेष्वावन्त्येव संगृहीता एषु सापि, सति धर्मप्राधान्ये सात्त्वत्यस्ति। प्राच्येषु तु घटाटोपवाक्याडम्बरप्राधान्याद् भारत्यारभट्योः योगः। उत्तरभूम्यां यद्यपि प्राधान्याद् भारत्यारभटीयोगस्तथापि कैशिकीलेशात्तु शृङ्गारमयप्रयोगसहिष्णवो जनाः। यद्वक्ष्यते "प्रयोगस्त्वल्पगीतार्थं" (१३-५१) इति। अर्थशब्देन तत्प्रयोजनं नृत्तवाद्यादि। इत्येवं चित्तवृत्तिभेदसादृश्याल्लोकस्य यश्चतुर्धाविभागः स एवास्मिन्नुक्तः।

अब प्रश्न होता है कि चारों प्रवृत्तियों के प्रयोग साधारण हैं, यही व्यवहार यहाँ प्रवेश करता है, अन्य व्यवहार यहाँ प्रवेश नहीं करता, यही तो आपने कहा है। इस पर कहते हैं—आप बहुत भुलक्कड़ हैं, बहुत भूलते हैं, अतः मैं याद दिलाता हूँ, सुनिये, पाँचवें अध्याय में पूर्वरङ्ग के निरूपण के अन्त में 'इत्येवावन्तिकापाञ्चालीदाक्षिणात्यौड्रमागधो। कर्त्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु' अर्थात् 'इस प्रकार आवन्ती, दाक्षिणात्यापाञ्चाली और औड्रमागधी लोगों द्वारा पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए' यह कहना पूर्वरङ्ग के प्रयोग के लिए गर्भाधान स्थानीय है, ऐसा कहा है। इस विषय में अभ्युपगम पूर्वक अर्थात् स्वीकृति पूर्वक उत्तर देते हैं—'तत्तु सत्यमित्यादिना'–'नानादेशवेषेत्यन्तेन' अर्थात् आपने जो कहा 'वह सत्य है', यहाँ से लेकर 'नाना देश-वेष' यहाँ तक के अभ्युपगम में उक्त देशादि शब्द से प्रवृत्ति को कहते हुए उतर देते हैं—'आसाम्' इत्यादि को व्याख्या कर दो गई है, किन्तु 'इत्यादि' के द्वारा उत्तर में यह कहा गया है कि वृत्तियों के आश्रित ये प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं।

अभिनव—अब पुनः प्रश्न उठता है कि प्रवृत्ति क्या है? क्या जैसा कहा गया है, उसी प्रकार मान लेना प्रवृत्ति है? इस पर कहते हैं—नहीं। लोक के अनुकूल अनुसरण को ही प्रवृत्ति कहा जाता है। क्योंकि लोक के दक्षिणापथ पूर्वदेश, पश्चिम देश और उत्तरभूमि—ये चार विभाग हैं। ये विभाग बिना किसी कारण के नहीं है; क्योंकि चित्तवृत्तियों के सादृश्य को सम्भावना है। जैसा कि दाक्षिणात्यों में शृङ्गार रस की प्रचुरता होने से कैशिको वृत्ति सम्भव है। पश्चिम देश में आवन्ती का संग्रह तो है ही, किन्तु कैशिको भो है, इसके अतिरिक्त धर्म को प्रधानता होने से सात्त्वती वृत्ति भी है। पूर्व प्रदेश में घटाटोप वाक्याडम्बर होने की प्रधानता होने से

ननु किमित्ययं संक्षेप आदृतः। आह। यस्माल्लोको बहुविधवेषभाषाचारादियुक्तः कस्ते प्रतिपदं शक्तुं शक्नुयात् शिक्षितुमभ्यसितुं वा प्रयोक्तुं द्रष्टुं वा, चित्तवृत्तिप्रधानं चेदं नाट्यमिति तदेव वक्तुं न्याय्यम्। एतदेव स्पष्टीकुर्वन्नाह भारतीत्यादिना।

प्रयोगे वागङ्गचेष्टासु अभिनिर्वृत्तं लोकप्रसिद्धमित्यर्थः। चकारेण तत इत्याकृष्यते। तल्लोकप्रसिद्धचतुष्टयमवलम्ब्य ब्रह्मणा प्रयोग उत्पादितः। अयं ग्रन्थश्चिरन्तनैर्वृत्तीनां चतुर्ष्वेव दृष्टान्ततामाश्रित्य व्याख्यातः, तत्र च वैषम्येण दूषणमुक्तम्, वृत्तीनां हि सनिमित्तं चतुर्धात्वं प्रवृत्तीनां तस्माच्चतुष्ट्वमात्रेण दृष्टान्तोऽयमिति व्याख्यानेषु गजस्नानीयताया आनयनेनालूनविशीर्णः वृत इत्यास्तां तावत्।

भारती और आरभटी का योग रहता है। उत्तर प्रदेश में यद्यपि प्रमुख रूप से भारती एवं आरभटी वृत्तियों का ही योग है तथापि कैशिकी के अंशतः सम्बन्ध होने से लोग शृङ्गारमय प्रयोग के सहिष्णु होते हैं। जैसा कि आगे कहेंगे—'अल्प गीतार्थ वाला प्रयोग यहाँ होता है' (१३।५०)। यहाँ अर्थ शब्द से उसके (गीत के) प्रयोजनभूत नृत्य, वाद्य आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार चित्तवृत्तियों के सादृश्य से लोक का जो चार विभाग किया गया है वही यहाँ चार प्रवृत्ति के रूप में कहा गया है।

अभिनव—अब पुनः प्रश्न होता है कि यह संक्षेप क्यों किया गया ? इस पर कहते हैं—क्योंकि यह लोक अनेक प्रकार के वेष, भाषा, आचार आदि से युक्त है तो कौन उनका प्रतिपद कहने, शिक्षा देने, अभ्यास कराने अथवा प्रयोग करने या दिखाने के लिए समर्थ होगा ? क्योंकि यह नाट्य चित्तवृत्ति प्रधान है, अतः तदनुकूल ही उसको कहना न्याय-संगत है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'भारती इत्यादि'।

अभिनव—प्रयोग अर्थात् वाचिक एवं आङ्गिक चेष्टाओं में अभिनिर्वृत्त अर्थात् लोकप्रसिद्ध है। 'प्रयोगश्च' में उपात्त चकार से 'ततः' का आकर्षण करते हैं। लोक प्रसिद्ध वृत्तिचतुष्टय एवं प्रवृत्तिचतुष्टय का अवलम्बन करके ब्रह्मा ने इस प्रयोग का उत्पादन किया। यह ग्रन्थ चिरन्तनों द्वारा वृत्तियों की चतुरस्रता में दृष्टान्त का आश्रय बनकर व्याख्यात है; किन्तु वहाँ विषमता के कारण दोष कहा गया है, क्योंकि वृत्तियों में सनिमित्त चतुर्धात्व प्रवृत्तियों में भी चतुर्धात्व है। इसी से प्रवृत्तियों को चार मानने में दृष्टान्त है। इस प्रकार व्याख्यानों में गजस्थानीयता के आनयन से यह ग्रन्थ आलून अर्थात् नोच लेने से विशीर्ण हो गया, इसलिए रहने दया जाय ॥ ३७॥

तत्र दक्षिणात्यास्तावत् [1]बहुनृत्तगीतवाद्या कैशिकीप्रायाः चतुरमधुरललिताङ्गाभिनयाश्च । तद्यथा[2] —

महेन्द्रो मलयः सह्यो मेकलः पालमञ्जरः[3] ।
एतेषु ये श्रिता देशाः स ज्ञेयो दक्षिणापथः ॥ ३८ ॥
[4]कोसलस्तोशलाश्चैव कलिङ्गा [5]यवनाः खसाः ।
[6]द्रविडान्ध्रमहाराष्ट्रा वैष्णा[7] वै वानवासजा[8] ॥ ३९ ॥
दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे[9] ।
[10]ये देशास्तेषु युञ्जीत दाक्षिणात्यां तु नित्यशः ॥ ४० ॥

---

१. दाक्षिणात्या प्रवृत्ति

अनुवाद—उनमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति अनेक प्रकार के नृत्य, गीत, वाद्य से युक्त, कैशिकी वृत्ति से सम्पन्न और चतुर, मधुर, ललित आङ्गिक अभिनयों से पूर्ण होती है । वह जैसे—

अनुवाद—महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल और कालपंजर नामक पर्वतों के मध्य स्थित प्रदेश 'दक्षिणापथ' कहलाता है ॥ ३८ ॥

अनुवाद—कोसल, तोसल, कलिङ्ग, यवन, खस, द्रविड़, आन्ध्र, महाराष्ट्र, वैण्ण (कृष्णा और पिनाकी नदी के तटवासी), वानवासिक तथा दक्षिण समुद्र और विन्ध्य पर्वत के मध्यवर्त्ती जो प्रदेश है उनमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की योजना करनी चाहिए ॥ ३९-४० ॥

---

१. ग. बहुगीतनृत्यवाद्या ।
२. ग. पुस्तके 'तद्यथा' नास्ति ।
३. ग. मेखक कालपञ्जरः । ख. मेखकः कालपञ्जरः ।
क-प. मेहकः पलङ्गरः ।
४. ख. कौसला तोशलाश्चैव ।
५. क-ख. कालिङ्गा एव मोसलाः । ६. क-ग. द्रमिडाः । प्रमिलाः ।
७. क-द. भिल्ला । वैणा इति कृष्णापिनादिकी तीरवासिनः ।
८. ख. ग. वानवासिजाः । क-प. वानवासिकाः । ९. क-द. चोत्तरे ।
१०. ख. ये देशाः संश्रितास्तेषु दाक्षिणात्यास्तु नित्यशः ।
क-ड. ये देशा दाक्षिणात्यास्तु वृत्तिभारभटी श्रिताः ।

कैशिकी प्रायेण एषु इति बहुव्रीहिः। असामानाधिकरण्यात्सामानाधिकरण्येऽपि वा सामानायामाकृतौ भाषितपुंस्त्वाभावान्न पुंवद्भावः । केशैर्निवृत्तास्तेषु भवा वेत्याविव्युत्पत्तिर्निमित्तमात्रम् । एतच्च वक्ष्यामः संक्षेपेण (अध्याय २०) ।

दक्षिणसमुद्रस्य विंध्यपर्वतस्य च मध्ये ये देशास्तेषु दाक्षिणात्या । एतेनैव सिद्धे सति देशभेदानां प्रतिपदपाठस्तदन्तरालानां पर्वतकच्छादिम्लेच्छानां निषेधेन, प्रसिद्धया देशोपसंग्रहणार्थः कवीनाम् । एवमुत्तरत्र ॥ ४१ ॥

अभिनव—'कैशिकीप्रायाः' में बहुव्रीहि समास है। 'कैशिकी प्रायेण एषु' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर 'कैशिकीप्रायाः' शब्द बनता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि बहुव्रीहि समास होने पर 'कैशिकी' में पुंवद्भाव होना चाहिए था। इस पर आचार्य कहते हैं—'असामानाधिकरण्यात्' अर्थात् समानाधिकरण न होने से। भाव यह है कि यहाँ पर 'कैशिकी प्रायेण एषु' में सामानाधिकरण नहीं है, क्योंकि प्रकृत में कैशिकी स्त्रीलिङ्ग है, किन्तु प्रायेण स्त्रीलिङ्ग नहीं है, अतः यहाँ समानाधिकरण नहीं है और समानाधिकरण होने पर ही पुंवद्भाव होता है दूसरे समानाधिकरण होने पर भी कैशिकी शब्द के भाषितपुंस्त्व न होने से पुंवद्भाव नहीं हुआ। 'केशैः निवृत्ता कैशिकी' अथवा 'केशेषु भवा कैशिकी' इत्यादि व्युत्पत्तियाँ साधुत्व बोधन में निमित्त मात्र हैं। इसे हम बीसवें अध्याय में संक्षेप में कहेंगे।

दक्षिण समुद्र और विन्ध्य पर्वत के मध्य का जो देश है उनमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है, इतने कथन मात्र से ही विन्ध्य और दक्षिणी समुद्र के मध्य के प्रदेशों का ग्रहण हो जाता है, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों का प्रतिपद पाठ विन्ध्य पर्वत और दक्षिणी समुद्र के मध्यवर्त्ती पर्वत, कच्छ-खाड़ी और म्लेच्छों के देश के निषेध और प्रसिद्ध होने से कवियों के देशविषयक ज्ञान कराने के लिए किया गया है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

विशेष—दक्षिणी समुद्र और विन्ध्य पर्वत के मध्य में बसे जितने प्रदेश हैं, उनमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति का प्रयोग करना चाहिए । वेष-भूषा, भाषा, आचार-विचार में इन प्रदेशवासियों में बहुत कुछ समानता है, अतः इन प्रदेश-वासियों के लिए दाक्षिणात्या प्रवृत्ति का विधान बताया गया है। इस प्रवृत्ति में शृङ्गार रस की प्रधानता होती है ॥ ३९-४० ॥

आवन्तिका वैदिशिका सौराष्ट्रा मालवास्तथा ।
सैन्धवास्त्वथ सौवीरा 'आनर्ताः सार्बुदेयकाः'[1] ॥ ४१ ॥

दाशार्णास्त्रैपुराश्चैव तथा वै मार्तिकावताः[2] ।
कुर्वन्त्यावन्तिकीमेते प्रवृत्तिं नित्यमेव तु ॥ ४२ ॥

सात्वतीं कैशिकीं चैव वृत्तिमेषां[3] समाश्रिताः ।
भवेत् प्रयोगो नाट्येऽत्र[4] स तु कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ ४३ ॥

नित्यमेव त्विति—अनादिरयं देशभेदेन चित्तवृत्तिक्रमः । दृष्टो हि वस्त्राभरणात्मना देशभेदोचितः स्वभावभेदः ॥ ४२ ॥

---

२. आवन्ती प्रवृत्ति

अनुवाद—आवन्ती, विदिशा, सोराष्ट्र, मालव, सैन्धव, सौवीर, आनर्त्त, आर्बुदेय, दशार्ण, त्रिपुर तथा मृत्तिकावत देशवासी नियमतः आवन्ती प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं ॥ ४१-४२ ॥

अभिनव—नित्यमेवत्विति–देशभेद से होने वाली चित्तवृत्तियों का क्रम अनादि है, क्योंकि देश-भेद के औचित्य से प्राप्त स्वभाव-भेद वेष-भूषा पर स्पष्ट परिलक्षित होता है ॥ ४२ ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को नाट्य में सात्वती और कैशिकी वृत्ति के समाश्रित नाट्य-प्रयोग करना चाहिए ॥ ४३ ॥

---

१. ग. आवर्ता । क-ब. आवर्त्तकाः ।

२. ख. सार्बुदेशकाः । क-द. सार्वदेशकाः ।

३. ख. तथा वैवर्त्तिकावताः । ग. तथा वैवर्त्तिकावता ।
क-ञ. तथा वैमानिकावताः । क. मार्त्तिकावताः मृत्तिकावतीपुरवासिनः ।

४. ख.म. वृत्तिमेषा समाश्रिता । क-म. वृत्तिमेते समाश्रिताः ।
क-द. वृत्तिमेषां समाश्रया ।

५. क.ख.ग. नाम्यत्र ।

अङ्गा बङ्गाः कालिङ्गाश्च वत्साश्चैवोढ्रमागधाः ।
'पौण्ड्रा नेपालकाश्चैव अन्तर्गिरिबहिर्गिराः[2] ॥ ४४ ॥
तथा [3]प्लवङ्गमा ज्ञेया मलदा मल्लवर्तकाः ।
ब्रह्मोत्तरप्रभृतयो भार्गवा [4]मार्गवास्तथा ॥ ४५ ॥
प्राग्ज्योतिषाः पुलिन्दाश्च वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः[5] ।
[6]प्राङ्गा प्रावृतयश्चैव युञ्जन्तीहोढ्रमागधीम् ॥ ४६ ॥

तत्र प्राग्देशानां सीमात्वेन दक्षिणत ऊढ्राः समुद्रनिकटे उत्तरतो मागधाः तदुभयमध्यवर्तित्वादूढ्रमागधा[7], अत[8] एवोढ्रकलिङ्गानामुभयोपजीवित्वाभिप्रायेण वृत्तिद्वयमध्ये गणनम् । गिरीणामन्तर्यं भवास्तेऽन्तर्गिराः गिरीणां बहिर्भवा बहिर्गिरा 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्ते अचि रूपम् ॥ ४४-४६ ॥

अनुवाद—अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, वत्स, उड्र, मगध, पौण्ड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, प्लवङ्गम, मालवा, मल्लवर्जक, ब्रह्मोत्तर, प्राग्ज्यातिष, भार्गव, मार्गव, पुलिन्द, वैदेह, ताम्रलिप्त और पूर्व दिशा के अन्य प्रदेशवासी लोग ओड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं ॥ ४४-४६ ॥

अभिनव—प्राच्य देश की सीमा होने से दक्षिण में समुद्र तटवर्ती उड्र है और उत्तर में मगध है। दोनों के मध्यवर्ती प्रदेश में औड्रमागधी प्रवृत्ति होती है। इसलिए उड्र (आन्ध्र) और कलिङ्ग दोनों के लिए उपजीव्य होने के कारण इनका दो दो वृत्तियों के मध्य में परिगणन किया गया है। पर्वतों के अन्दर होने वाले देश अन्तर्गिर और पर्वतों के बाहर होने वाले देश बहिर्गिर हैं। यहाँ पर 'गिरेश्च सेनकस्य' सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय होने पर यह रूप बनता है ॥ ४४-४६ ॥

---

१. क. पौण्ड्रनेपालकाश्चैव
२. ख ग. अन्तर्गिरिबहिर्दुराः ।
३. ख. ग. प्लवङ्गमाहेन्द्रमलदामलवर्त्तकाः ।
४. ख. मार्गवस्तथा ।
५. क. ताम्रलिप्तकाः ।
६. ख. ग. प्रांशु प्रवृत्तयश्चैव युञ्यन्तो चौड्र मागधी ।
७. क. ओड्रमागधी । क-क. आन्ध्रमागधी ।
८. क-क. (टि०) अतएवान्ध्रकलिङ्गानां ।

[1]अन्येऽपि देशाः प्राच्यां ये पुराणे सम्प्रकीर्तिताः ।
तेषु प्रयुज्यते ह्येषा [2]प्रवृत्तिश्चोढ्रमागधी ॥ ४७ ॥

पाञ्चाला सौरसेनाश्च[3] काश्मीरा हस्तिनापुराः ।
बाह्लीका [4]शल्यकाश्चैव मद्रकौशीनरास्तथाः ॥ ४८ ॥

हिमवतसंश्रिता ये तु गङ्गायाश्चोत्तरां दिशम् ।
ये श्रिता वै जनपदास्तेषु पाञ्चालमध्यमाः ॥ ४९ ॥

पुराण इत्यागमपूर्वकत्वमाह । एषेति आवन्तिकी प्राग्ज्योतिषकामरूपोया ॥ ४८ ॥

तुरुष्काश्चारट्टकखसदरदप्रभृतयः मध्यमायामेव ये प्रविष्टाः, ते तु व्यवहार-बहिष्कृतत्वात् स्वकण्ठेन न पठिताः ॥ ५० ॥

अनुवाद—इसी प्रकार पुराण आदि में पूर्व के जो अन्य प्रदेश कहे गये हैं उनमें भी इस ओड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रयोग होता है ॥ ४७ ॥

अभिनव—'पुराणे' इस कथन से सिद्ध होता है कि यह विषय आगम सिद्ध है। यह ओड्रमागधी प्रवृत्ति कामरूप और प्राग्ज्योतिष में भी होती है ॥ ४७ ॥

अनुवाद—पाञ्चाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, बाह्लीक, शाकल, मद्र, उशीनर प्रदेश तथा हिमालय पर्वत पर स्थित और गङ्गा नदी के उत्तरदिशा में आश्रित जनपदों में (प्रदेशों में) पाञ्चाल-मध्यमा प्रवृत्ति का प्रयोग होता है ॥ ४८-४९ ॥

अभिनव—तुरुष्क, आरट्टक, खस और दरद प्रभृति देश मध्यमा में ही प्रविष्ट हैं। वे व्यवहार से बहिष्कृत होने के कारण भरतमुनि ने अपने कण्ठ से, अपने मुख से उनका पाठ नहीं किया है ॥ ४८-४९ ॥

---

१. अयं श्लोकः क-भमयोर्नास्ति ।
२. ख. प्रवृत्तिश्चोड्रमागधी । ग. प्रवृत्तिश्चौड्रमागधी ।
३. क. ग. शौरसेनाः ।
४. भ. बह्लिकाः शल्यकश्चैव ।

[1]पाञ्चालमध्यमायान्तु सात्त्वत्यारभटी स्मृता।
प्रयोगस्त्वल्पगीतार्थं आविद्धगतिविक्रमः ॥ ५० ॥

द्विधा क्रिया भवत्यासां रङ्गपीठपरिक्रमे।
प्रदक्षिणप्रदेशा च तथा चाप्यप्रदक्षिणा ॥ ५१ ॥

आवन्ती दाक्षिणात्या च प्रदक्षिणपरिक्रमे।
अपसव्यप्रदेशास्तु पाञ्चाली चोढ्रमागधी ॥ ५२ ॥

आवन्त्यां दाक्षिणात्यायां[2] पार्श्वद्वारमथोत्तरम्।
[3]पाञ्चाल्यामोढ्रमागध्यां योज्यं द्वारन्तु दक्षिणम् ॥ ५३ ॥

अल्पगीतार्थं इति लेशतः कैशिकीमनुजानाति ॥ ५१ ॥

अनुवाद—पाञ्चाल-मध्यमा प्रवृत्ति में सात्त्वती और आरभटी वृत्ति होती है। इसमें गीत प्रयोग की अल्पता और आविद्ध गति एवं विक्रम (पादसंचालन) होता है ॥ ५० ॥

अभिनव—'अल्पगीतार्थं' यह कथन लेशतः कैशिकी वृत्ति की अनुज्ञा देता है ॥ ५० ॥

अनुवाद—रङ्गपीठ के परिक्रम में (रङ्गपीठ पर चलने में) इन प्रवृत्तियों की दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं एक दक्षिण की ओर से और दूसरी वाम भाग से प्रवेश किया जाता है ॥ ५१ ॥

अनुवाद—प्रदक्षिण परिक्रम में आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्ति होनी चाहिए और अपसव्य अर्थात् अप्रदक्षिण परिक्रम में (बायीं ओर से प्रवेश करने में) पाञ्चाली और औड्रमागधी प्रवृत्ति होनी चाहिए ॥ ५२ ॥

अनुवाद—आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्ति में द्वार की योजना उत्तर की और पाञ्चाली एवं औड्रमागधी में द्वार की योजना दक्षिण की ओर करनी चाहिए ॥ ५३ ॥

---

१. अयं श्लोकः 'ग' पुस्तके नास्ति।
२. ख, ग. योज्यं। ३. क-प. पाञ्चालमध्यामागध्योः।

एकीभूताः पुनश्चैताः प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ।
[1]पार्षदं देशकालौ चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य[2] च ॥ ५४ ॥

दक्षिणोत्तरव्यतिरेकेण परिक्रमणस्थानाभावात् नैकट्याद् द्वे प्रवृत्ती एकीकृत्य प्रयोगाभिधानम्। तत्र दक्षिणात्य उत्तरेण द्वारेण प्रविश्य पश्चिमायां दिशि परिक्रम्य ततोऽपि दक्षिणस्यां ततः पूर्वस्यां तत उत्तरस्यां परिक्रमेत। परिक्रम्य च तस्यामेव दिश्यात्मनिवेदनं कुर्यात्। [3]तदुक्तं दक्षिणाभिमुख इति। तत उत्तरस्याः पूर्वां ततोऽपि दक्षिणां ततः पश्चिमां प्राप्योत्तरद्वारेणैव निष्क्रामेत्। एवं सात्त्वत्यादौ तद्विपर्ययेण पाञ्चाल्यां। तदस्यां दक्षिणद्वारेण प्रवेशो निष्क्रमणं च प्रदक्षिणेन दक्षिणदिशा प्रवेशोऽभ्यन्तरकक्ष्याव्यवस्थितपात्रनिकट एवेति स्यात्। एवमपसव्यप्रवेश इति ॥ ५४ ॥

अभिनव—उत्तर और दक्षिण को छोड़कर अन्य तरफ से परिक्रमण नहीं करना चाहिए। इसलिए निकट की दो वृत्तियों को मिलाकर प्रयोग करने का विधान बताया गया है। इस प्रयाग के समय दाक्षिणात्य उत्तर द्वार से प्रवेश कर पश्चिम दिशा में परिक्रमण करके फिर दक्षिण दिशा में पुनः पूर्व में फिर उत्तर में परिक्रमण करे। इस प्रकार घूमकर उसी दिशा में आत्मनिवेदन करे। जैसा कि कहा गया है कि 'दक्षिणाभिमुख होकर आत्मनिवेदन करे, फिर उत्तर दिशा से पूर्व को, पूर्व दिशा से दक्षिण को तथा दक्षिण दिशा से पश्चिम की ओर जाकर फिर उत्तर द्वार से निष्क्रमण करे। इसी प्रकार सात्त्वती आदि वृत्तियों से विपरीत क्रम से पाञ्चाली में प्रयोग होना चाहिए। इसीलिए दक्षिण द्वार से किया जाने वाला प्रवेश भी आभ्यन्तर कक्ष्या में स्थित पात्र के निकट ही होना चाहिए। यही प्रक्रिया अपसव्य प्रवेश में भी करनी चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार पार्षद (सभा), देश, काल और अर्थयुक्ति (अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति) को देखकर नाट्य-प्रयोक्ताओं को इनका एकीकरण करके (सम्मिलित) प्रयोग करना चाहिए ॥ ५४ ॥

१. ख. एकभूता। ख. ग. देशञ्चाप्यर्थयुक्ति कालमवेक्ष्य च।
क-म. देशं कालमवस्थां च काव्ययुक्तिमवेक्ष्य च।
२. क-द अवेक्षते।
३. क-ख. तदुत्तरम्।

येषु देशेषु या [1]कार्या प्रवृत्तिः परिकीर्तिता ।
तद्वृत्तिकानि रूपाणि तेषु तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

विशेषान्तरमाह—एकीभूता इति । पार्षदमिति । परिषदि स्वामित्वकृतं वा प्राधान्यं देशकृतं कालकृतं प्रयोजनकृतं बहुतरपात्रपरीक्षायातोचितं यद्वैचित्र्यं तत्कृत-मिदमवेक्ष्य सङ्करोऽपि कर्तव्यः, तदाह एकीभूता इति प्रधानानुयायिन्य एवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

एवं प्रयोक्तरि परिक्रमोपयोगः । प्रवृत्तीनां प्रत्येकविषयेऽपि तं दर्शयन्नाह येषु देशेष्वित्यादि ।

या प्रवृत्तिरित्यर्थः, सा वृत्तिर्येषु रूपकेषु तेषु । तेन काश्मीर देशगत नायक नाटिकानुचिता तस्यां कैशिकीप्राधान्ये दाक्षिणात्यौचितत्वात् । देशादौचित्ये तच्चे-ष्टितव्यावर्तनेन प्रतीतिविघाताद्रसमयत्वाभावः । रसाश्च नाट्यस्य प्राणाः व्युत्पत्ति-रपि वा परैव भवेत् असत्यताशङ्का च समूलघातं विहन्यादेव प्रयोगमित्यनेनाभि-प्रायेणाह तद्वृत्तिकानीति । येषु देशेषु यो वृत्तिप्रकार उक्तः स येषु रूपकेषु नाटका-दीनामन्यतमेषु भवति, तानि रूपकाणि तेष्विति तद्देशगतनायकप्राधान्येन कर्तव्यानि कविना नटेन च ॥ ५५ ॥

अभिनव—पार्षदमिति - परिषद् (सभा) में स्वामित्व के कारण या अध्यक्ष बनने के कारण अथवा देश के कारण या काल के कारण अथवा किसी प्रयोजन से अथवा बहुत से पात्रों की परीक्षा करने से प्राप्त वैचित्र्यकृत प्रधानता को देखकर उसी के अनुसार नियम में सांकर्य किया जा सकता है । इसी कारण 'एकीभूता' कहा गया है अर्थात् प्रधान का सर्वत्र अनुयायी रहे ॥ ५५ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रयोक्ता में परिक्रम का उपयोग दिखाया गया है, अब प्रत्येक प्रवृत्तियों के विषय में भी उपयोग को दिखलाते हुए कहते हैं—

अनुवाद—जिन देशों में जो प्रवृत्ति पहिले कही गई है । उन देशों में उन वृत्तियों से युक्त अभिनय नाट्य-विशेषज्ञ करें ॥ ५५ ॥

---

१. ख. ग. पूर्व ।

[1]एकीभूताः पुनस्त्वेता[2] नाटकादौ[3] भवन्ति हि ।
अवेक्ष्य वृत्तिबाहुल्यं तत्तत्कर्म समाचरेत्[4] ॥ ५६ ॥

सार्थं बाहुल्यमेकस्य शेषाणामथ बुद्धिमान् ।
येषामन्यस्य बाहुल्यं प्रवृत्तिं पूरयेत्तदा ॥ ५७ ॥

अभिनव—जिन देशों में जिन प्रवृत्तियों का विधान है उसी के अनुसार रूपकों में भी यही वृत्ति होनी चाहिए । इससे कश्मीर देशगत नायक को प्रधानता होने पर नाटिका का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि नाटिका में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से दाक्षिणात्य नायक का होना अधिक उचित है । दूसरे देश काल आदि के औचित्य में उसके चेष्टित के व्यावर्त्तन से प्रतीति का विघात होने से रसमयत्व का अभाव हो जायगा, क्योंकि रस ही नाट्य के प्राण हैं और व्युत्पत्ति भी । अन्यथा सामञ्जस्य न होने पर असत्यता की आशङ्का का समूल नाश कर देगी । इस अभिप्राय से कहते हैं—तद्वृत्तिकामिति । जिन देशों में जो वृत्ति-प्रकार कहा गया है वह प्रकार जिन रूपकों के नाटकादि प्रकारों में किसी एक रूपक में होता है । वे ही रूपक उस देश के नायक की प्रधानता से कवि और नट को करने चाहिए अर्थात् उस देश की नाटक को प्रधानता से ही रूपक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५५ ॥

अनुवाद—ये प्रवृत्तियाँ एकीभूत होकर नाटक आदि में प्रयुक्त होती हैं । अतः वृत्तियों की बहुलता को देखकर (पर्यवेक्षण कर) उन-उन कार्यों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५६ ॥

अनुवाद—जहाँ समुदाय में किसी एक की प्रधानता (या अधिकता) होती है और शेष की अङ्गता तथा जहाँ पर दूसरे की बहुलता होती है, वहाँ प्रवृत्ति को पूर्ण करना चाहिए ॥ ५७ ॥

---

१. इतः परं श्लोकद्वयं क. ख. पुस्तकयोर्नास्ति ।

२. क-म. यथास्त्वेताः ।

३. ख.ग. नाटकादौ भवन्ति च ।

४. ख. ग. तत्तत्कर्माचरेत् सदा । क-म. तद्धर्मीमाचरेत्तथा ।

प्रयोगो द्विविधश्चैव[1] विज्ञेयो नाटकाश्रयः[2] ।
सुकुमारस्तथाऽऽविद्धो नाट्ययुक्तिसमाश्रयः ॥ ५८ ॥

नाट्यशब्दवाच्यस्य प्रयोगस्याश्रयो नाटकशब्दोऽत्र न रूपकविशेषे, अपि तु नाट्य एव। यथा—

"हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके" (अ २२) इत्यत्र नाटकमुन्नयति प्रेक्षकान् (स्वावेशेन) संवेशेन ? व्युत्पत्त्या च तथा तद्भावानुप्रवेशेन प्रयोक्तृनिति। नाटके कृताविति पाठे गात्राणि विक्षिप्यन्ते अभिनयप्रयोगायाऽस्मादिति संज्ञाकाले। अन्ये तु नटशब्दात् काठकादिवच्चरणार्थे वुञ् इच्छन्तो नटानां कर्म श्लाध्यमिति गोत्रचरणयोश्च श्लाधादिविशेषणत्वाद् वुञित्याहुः (पा—१-१-१३४) लौकिकं च लिङ्गमिति नैवं शङ्कितव्यमेतस्यैकान्तिकं स्त्रीत्वमिति ॥ ५८ ॥

अनुवाद—नाट्य-युक्ति (नाट्य-नियम) की योजना के अनुसार नाटककारों को नाटकाश्रित प्रयोग दो प्रकार का समझना चाहिए—सुकुमार और आविद्ध ॥ ५८ ॥

अभिनव—नाट्य शब्द के वाच्य-प्रयोग के आश्रय नाटक शब्द यहाँ पर रूपक-विशेष के अर्थ में नहीं, अपितु नाट्य के अर्थ में है।

जैसे—"हास्य के जो स्थान है वे नाटक में कार्योत्पन्न हैं" यहाँ पर नाटक स्वावेश से या व्युत्पत्ति से प्रेक्षकों का उन्नयन करता है और भावानुप्रवेश से प्रयोक्ताओं का उन्नयन करता है। यहाँ 'नाटकादौ' के स्थान पर 'नाटके कृतौ' ऐसा पाठ मानने पर अभिनय के प्रयोग के लिए जिससे पात्रों का बिक्षेप करते हैं वे संज्ञाकाल में कर्त्तव्य हैं। अन्य लोग तो नट शब्द से पाठक की तरह चरण अर्थ में वुञ् (अक) प्रत्यय मानते हुए 'नटों का कर्म श्लाघ्य है' तथा गोत्र और चरण के श्लाघा आदि का विशेषण होने के वुञ् (अक) प्रत्यय होता है, ऐसा कहते हैं। वहाँ पर एकान्तिक स्त्रीत्व ही वुञ् प्रत्यय का द्योत्य है ऐसो शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लिङ्ग प्रयोग तो लोक को इच्छा के अधीन होता है ॥ ५६ ॥

---

१. ग. (टि०) विविधश्चैव ।
२. ख. नाट्यकाश्रय । क-म. नाटकाश्रितः ।

[1]यत्त्वाविद्धाङ्गहारन्तु च्छेद्यभेद्याहवात्मकम् ।
मायेन्द्रजालबहुलं [2]पुस्तनेपथ्यसंयुतम्[3] ॥ ५९ ॥
[4]पुरुषैर्बहुभिर्युक्तमल्पस्त्रीकं तथैव च ।
[5]सात्त्वत्यारभटीयुक्तं नाट्यमाविद्धसंज्ञितम् ॥ ६० ॥
डिमः समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा ।
[6]एतान्याविद्धसंज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ ६१ ॥

आविद्ध उत्कटः, अङ्गानां हारो हरणं यत्र । छेदेन भेदेन प्रधानः आहवः संग्रामः, आह्वयन्ते परस्परं वीरा यत्रेति । माया मंत्रौषधादिकृतं रूपपरिवर्तनादि, इन्द्रजालं हस्तलाघवसादृश्यादिकृतं पुस्तं द्रुमृण्मयमाकृत्यादि आविद्धं स्त्रीकर्मरूपाणां स्वरूपं स्वक्षेत्रे एव वक्ष्यामः ॥ ५९-६० ॥

अनुवाद—जो आविद्ध अङ्गहारों से युक्त, छेदन, भेदन एवं युद्धमय, माया एवं इन्द्रजाल की बहुलता से परिपूर्ण, पुस्त एवं नेपथ्य से युक्त, अनेक पुरुषों (पात्रों) से युक्त एवं अल्प स्त्रीपात्र वाला, तथा सात्त्वती एवं आरभटी वृत्तियों से युक्त नाट्य है, उसे 'आविद्ध' संज्ञक नाट्य समझना चाहिए ॥५९-६०॥

अभिनव—आविद्ध का अर्थ है उत्कट । जहाँ पर अङ्गों का हरण हो वह अङ्गहार है । छेदन-भेदन-प्रधान आहव सङ्ग्राम (युद्ध) है । जहाँ पर वीर लोग परस्पर एक दूसरे को ललकारते हैं । मन्त्र, औषधि के प्रयोग से रूप का परिवर्त्तन माया है । हस्तलाघव अर्थात् हाथ की सफाई से किया गया परिवर्त्तन 'इन्द्रजाल' है । लकड़ी और मिट्टी से निर्मित आकृति युस्त है । आविद्ध का अर्थ है स्त्रियों के कर्म एवं रूपों का स्वरूप, जिसका निरूपण आगे अपने क्षेत्र में करेंगे ॥ ५९-६० ॥

अनुवाद—डिम, समवकार, व्यायोग और ईहामृग रूपकों को नाट्य-प्रयोक्ताओं को 'आविद्ध' संज्ञक नाट्य मानना चाहिए ॥ ६१ ॥

---

१. क-म. यत्त्वाविद्धाङ्गहारन्तु । क-ब. तत्राविद्धाङ्गहारं तु ।
२. ख. ग. पुंसो नेपथ्यसंयुतम् । ३. क-म. संयुतः ।
४. क-म. प्रयोगः पुरुषप्रायस्तथाल्पस्त्रीक एव च ।
५. क. ग. सात्त्वत्यारभटीप्रायं नाट्यमाविद्धमेव तत् ।
क-(म.) सात्त्वत्यारभटीयुक्तो ज्ञेय आविद्धसंज्ञितः ।
६. क-म. आविद्धसंज्ञा विज्ञेयाः प्रयोगस्य वशानुगाः ।

'एषां प्रयोगः कर्तव्यो दैत्यदानवराक्षसैः[2] ।
उद्धता ये च पुरुषाः शौर्यवीर्यबलान्विताः[3] ॥ ६२ ॥

नाटकं सप्रकरणं भाणो वीथ्यङ्क[4] एव च ।
सुकुमारप्रयोगाणि मानुषेष्वाश्रितानि[5] तु ॥ ६३ ॥
[6]यतो मुखं भवेद्भाण्डं द्वारनेपथ्यकस्य तु ।
सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाटचयोगेषु नित्यशः ॥ ६४ ॥

शौर्यमभीरुत्वं वीर्यमुत्साहः, बलं कायधर्मः पराक्रमः ॥ ६२ ॥

मानुषेष्विति बाहुल्यापेक्षमेतत्। एवं चत्वारि भिन्नानि डिमादीति उद्धतानि, वर्गसुकुमाराणि नाटकादीनि ॥ ६३ ॥

अनुवाद—इनका प्रयोग दैत्य, दानव, राक्षस तथा शौर्य, वीर्य एवं बल से युक्त उद्धत पुरुषों द्वारा करना चाहिए ॥ ६२ ॥

अभिनव—शौर्य का अर्थ है डरपोक न होना। वीर्य का अर्थ है उत्साह। बल शरीर का धर्म पराक्रम है ॥ ६२ ॥

अनुवाद—नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी, अङ्क ये सुकुमार नाट्यप्रयोग है और ये मनुष्यों के आश्रित होते हैं ॥ ६३ ॥

अभिनव—'मानुषेषु' में बहुवचन का प्रयोग मनुष्यों की अपेक्षा से है। इस प्रकार डिमादि चार रूपक आविद्ध अर्थात् उद्धत हैं और नाटकादि रूपक सुकुमार है ॥ ६३ ॥

अनुवाद—प्रेक्षागृह से रहित बाह्य प्रयोग में कदाचित् स्वामी की आज्ञा से विविशाओं में भी प्रेक्षागृह हो सकता है ॥ ६४ ॥

१. ख. एष प्रयोगः ।
२. क. देवदानवराक्षसैः ।
३. क-भ. शौर्यधैर्यवयान्विताः ।
४. ख. ग. वीथ्यङ्क नाटिके ।
५. ठ॰ मानुषेष्वाश्रितास्तु ये । क-भ. योज्यान्येतानि मानुषैः ।
६. एष श्लोकः क. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।

अथ बाह्यप्रयोगेषु प्रेक्षागृहविवर्जिते ।
विदिक्ष्वपि भवेद्रङ्गः कदाचिद् भर्त्तुराज्ञया ॥ ६५ ॥

पृष्ठे कृत्वा कुतपं नाट्ये युक्ता यतो मुखं भरताः ।
सा पूर्वा मन्तव्या प्रयोगकाले तु नाट्यज्ञैः ॥ ६६ ॥

द्वाराणि षट् चैव भवन्ति चास्य रङ्गस्य दिग्भागविनिश्चितानि ।
नाट्यप्रयोगेन खलु प्रवेशे प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि प्रवेशः ॥ ६७ ॥

विधानमुत्क्रम्य यथा च रङ्गे विनाप्रमाणाद्विदिशः प्रयोगे[1] ।
द्वारन्तु यस्मात्समृदङ्गभाण्डं प्राची दिशं तां मनसाऽध्यवस्येत् ॥ ६८ ॥

वयोऽनुरूपः प्रथमन्तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतश्च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥ ६९ ॥

अनुवाद—नाट्य-पृष्ठ पर कुतप अर्थात् भाण्ड-वाद्यादि रखकर नट लोग जिधर मुख करके नाट्य का प्रयोग करते हैं। प्रयोग-काल के अनुसार नाट्यवेत्ताओं को उसे पूर्व दिशा समझनी चाहिए ॥ ६५ ॥

अनुवाद—रङ्गमण्डप के दिशा (मार्ग) एवं भाण्डवाद्यों के विन्यास के अनुसार छः द्वार होते हैं किन्तु नाट्यप्रयोग के अनुसार रङ्गमण्डप में केवल पूर्व एव पश्चिम दिशा से प्रवेश करना चाहिए ॥ ६६ ॥

अनुवाद—विधान (नियम) का उल्लंघन करके जिस प्रकार रङ्गमण्डप में बिना प्रमाण के विदिशाओं में भी द्वार होता है वहाँ मृदङ्ग आदि भाण्डवाद्यों के विन्यास को देखकर मन से उसे पूर्व दिशा समझनी चाहिए ॥ ६७ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोग में अवस्था (आयु) के अनुसार वेष-भूषा और वेष-भूषा के अनुसार गति-प्रचार, गति-प्रचार के अनुकूल पाठ्य (संवादादि) और पाठ्य के अनुकूल अभिनय करना चाहिए ॥ ६८ ॥

---

१. क-म. कृतः कथंचिद्विदिश प्रयोगः ।

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः ? ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ७० ॥

एवमन्तरङ्गोपकारित्वात्कक्ष्यामाधारमुक्त्वा तदाक्षिप्तं च वृत्तिभेदमभिधाय धर्म्यो निरूप्यन्ते। तथा हि लोकस्वभावमेवानुवर्तमानं धर्मीद्वयम्। लोको नाम जनपदवासो जनः, जनपदश्च देश एव, स च प्रवृत्तिक्रमेण प्रपञ्चितः, तत्प्रसङ्गेनैव तावद्धर्म्यायाता। सा चाङ्गिकशेषतया वक्तव्या। प्रसङ्गाच्च वाचिकाहार्यादि विषयाप्युच्यते तुल्यलक्षणत्वादिति। सा च द्वेधा। यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि स यत्र लोकागतप्रक्रियाक्रमो रञ्जनाधिक्य-प्राधान्यमधिरोहयितुं कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मीत्युच्यते।

तदेतदाह धर्मी या द्विविधेति। प्रोक्ता उद्दिष्टेत्यर्थः। पूर्वमिति 'रसा भावा' इत्यादिसंग्रहविभागावसरे (अ ६-१०) ॥ ७० ॥

अभिनव—इस प्रकार नाट्य का अन्तरङ्ग उपकारी होने के कारण कक्ष्याओं के आधार पर उद्धत एवं सुकुमार प्रयोगों को कहकर और उनसे आक्षिप्त वृत्तियों के भेद कहकर अब धर्मी का निरूपण करते हैं। लोक के स्वभाव का अनुवर्त्तन करने वाली दो धर्मियाँ हैं। लोक का अर्थ है जनपदवासी लोग और जनपद का अर्थ है देश। देश ही प्रवृत्ति के क्रम से प्रपञ्चित है। उनके प्रसङ्ग से ही धर्मी प्राप्त हो गई। उसी का आङ्गिक अभिनय के अङ्ग रूप में प्रतिपादन करना चाहिए। और उसी के प्रसङ्ग से समान लक्षण होने के कारण वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक विषयक धर्मी को भी कहते हैं। वह धर्मी दो प्रकार का होता है। यद्यपि लौकिक धर्म के अतिरिक्त नाट्य में कोई दूसरा धर्म नहीं है, तथापि जहाँ पर वह लौकिक प्रक्रिया का क्रम रञ्जनाधिक्य की प्रधानता के आधार पर आरोहण करने के लिए कवि और नट के व्यापार में विचित्रता लाता है, स्वीकार करता है वह 'नाट्यधर्मी' कहलाता है। इसी बात को कहते हैं—

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ! मैंने पहिले जो दो प्रकार की धर्मी का निरूपण किया था—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। अब मैं उनका लक्षण कहूँगा ॥ ६९ ॥

अभिनव—प्रोक्ता का अर्थ है उद्देश क्रम से कहा है अर्थात् पहिले छठे अध्याय में 'रसा भावाः' इत्यादि सङ्ग्रह के विभाग करने के अवसर पर उद्देशक्रम से कहा है ॥ ६९ ॥

[1]स्वभावभावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं[2] तथा ।
लोकवार्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम्[3] ॥ ७१ ॥
[4]स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७२ ॥

लौकिकस्य धर्मस्य मूलभूतत्वान्नाट्यधर्म वैचित्र्योल्लेख्यभित्तिस्थानीयत्वेन लोकधर्मीमेव लक्षयति स्वभावभावोपगतमित्यादि ।

काचित्तद्विषया धर्मी, काचिन्नाट्यविषया । यो यस्य स्वभावतो भावः स्यात् स्थायिव्यभिचार्यादिः तेनोपेतम् कथमधिकृतत्वादित्याह शुद्धमिति । शुद्धत्वात् स्वविकल्पतेनाव्यामिश्रत्वात् । तथा, इति कृत्वा । लोकवार्ता लोकप्रसिद्धिः तस्यां या क्रिया व्यवहारो वृत्तान्तस्तया शुद्धमेव कृत्वा युक्तं यन्नाट्यं नटनीयं कार्यं सा लोकधर्मी धर्म्यास्तद्वतश्चाभेदोपचारात्सामानाधिकरणम् । अङ्गलीलया वर्तनादिकया वर्जितं कृत्वा ।

अभिनव—लोकधर्म के मूलभूत होने से तथा नाट्यधर्म सम्बन्धी विचित्रता के उल्लेख के योग्य भित्ति-स्थानीय होने से पहिले लाकधर्मी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—स्वाभाविक भावों से युक्त, शुद्ध और अविकृत, लोक-व्यवहार की क्रियाओं से उपेत (युक्त), अङ्ग लीलाओं के अभिनय रहित, अपने भावों के अभिनयों से युक्त, अनेक पुरुष एवं पात्रों से समाश्रित ऐसा जो नाट्य है उसे 'लोकधर्मी' नाट्य कहा गया है ॥ ७०-७१ ॥

अभिनव--अभिनवगुप्त का कथन है कि कोई धर्मी लोकविषया होती है और कोई धर्मी नाट्यविषया । जिसका जो स्वाभाविक भाव है स्थायी और व्यभिचारी भाव आदि, उनसे युक्त । उनसे युक्त कैसे हैं ? कहते हैं—अधिकृत हाने से, इसलिए कहते हैं कि शुद्ध होने से अर्थात् स्वगत विकल्पों के व्यामिश्रण से रहित होने से शुद्ध है, अविकृत है । लोकवार्त्ता का अर्थ है लोकप्रसिद्धि । उसमें जो क्रिया, व्यवहार या वृत्तान्त है उससे शुद्ध युक्ति-सम्पन्न जो नाट्य है, नटनीय कर्म है वह लोकधर्मी है । यहाँ धर्मी और धर्मवान् में अभेदोपचार करके समानाधिकरण है । वर्तनादि रूप अङ्गलोला से वर्जित करके ।

१. क-भ. स्वभावकर्मोपगतं ।
२. क. शुद्धं तु विकृतं यथा । क-न. शुद्धं च विकृतं च यत् ।
३. क-म. नानाभावरसान्वितम् ।
४. क-म. स्वभावाभिनयस्थानम् ।

स्वभावबलपतनप्रहारनादावसरविवादादिव पताकादिना योऽभिनय-स्तेनोपेतम्। नानात्वेन च स्त्रीपुंसादेः स्त्रियां प्रयोज्यायां योषिदेव प्रयोक्त्री पुरुषे पुरुष इत्येवंभूतं यत्राभ्यस्तचेष्टितं सा लोकधर्मी तद्धर्मव्यपदेशात्। यदि वा समुदाय-रूपं काव्यं तदा मनस एकदेशभूता धर्मी।

एतदुक्तं भवति—यदा कविर्यथावृत्तं वस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुङ्क्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रञ्जनावैचित्र्यं, तत्रानुप्रवेशयंस्तदा तावान् स काव्यभागः प्रयोग-भागश्च लोकधर्माश्रयः अतोऽत्र धर्मी। अर्थाभिनये सहकारिरूपा इतिकर्तव्यतारूपा वेति दशशततमादितरत्र प्रवेशानाह शून्यतायाम्। काव्यनाट्ययोर्हि लोकानुसारित्वं वा वैचित्र्ययोगित्वं वा धर्मः। तत्र किमेतद्भावमुद्भावमुच्यते तदास्तामेतत् ॥७२॥

स्वाभाविक वलन, पतन, प्रहार, नाद (गर्जन) और सामयिक विवाद आदि के समान पताका आदि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उससे युक्त। स्त्री और पुरुष पात्रों के प्राचुर्य (प्रचुरता) होने पर भी स्त्री के प्रयोज्या होने पर स्त्री ही प्रयोक्त्री (प्रयोजिका) होती है और पुरुष के प्रयोज्य होने पर पुरुष ही प्रयोजक होता है, इस प्रकार का अभ्यास और चेष्टाएँ जहाँ हों, लोकधर्म का व्यपदेश होने से उसे 'लोकधर्मी' कहते हैं। यदि वह समुदाय रूप काव्य है तो उनके मन को एकदेश रूप धर्मी है।

यह कहा जाता है कि कवि तो जैसा हुआ यथावत् वस्तुमात्र का वर्णन करता है और नट उसका प्रयोग करता है, किन्तु स्वबुद्धि के द्वारा किये गये रञ्जना-वैचित्र्य का उसमें प्रवेश नहीं करता, तब तो उतना काव्यभाग और प्रयोग-भाग लोकधर्म के आश्रित होता है, इसलिए यह धर्मी है। इस प्रकार किसी अर्थ-विशेष के अभिनय में सहकारी रूप अथवा इतिकर्त्तव्यता रूप जो इतर स्थानों में प्रवेश कहते हैं, वह शून्यता में है। क्योंकि काव्य और नाट्य दोनों में ही लोकानु-सारी अथवा रञ्जन-वैचित्र्य का योग है वही धर्म है, लोकधर्म है। क्या यह भाव उद्भाव कहा जाता है? बस यह रहने दिया जाय ॥ ७२ ॥

[1]अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभावकम्[2] ।
लीलाङ्गहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्[3] ॥ ७३ ॥
स्वरालङ्कारसंयुक्त[4]मस्वस्थपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७४ ॥

अथ नाट्यधर्मी लक्षयति अतिवाक्यक्रियोपेतमिति ।

इतिहासादिवाक्यमतिक्रम्य या उचितरञ्जकेतिवृत्तकल्पनात्मिका क्रिया। यथा राजशेखरेण रामनिर्वासनार्थं दशरथवेषराक्षसविरचिततत्त्वकल्पना, तथा यदुपेतम्। भावं सत्त्वं स्वभावं चित्तवृत्तिञ्चातिक्रम्य यत्स्थितं कविकल्पित-चित्तवृत्त्यन्तरयुक्तमित्यर्थः । यथा स्वभावचपलविदूषकचित्तवृत्त्यतिक्रमात् वत्सराजेन मन्त्रिसमुचितगाम्भीर्यावहित्थयोजनं वसन्तकस्य तथा स्वभावभा-षितमतिक्रम्य यत्स्थितं यथा राज्ञ्याः संस्कृतम्। एवंभूतमभिनेयं तद्गत-नाट्यधर्मी नटगता तु नाट्यलक्षणलक्षितं कृत्वा लीलायाः शोभाप्रधानतया मनोहरा ये अङ्गहारा तत्प्रधानैरभिनयैः उपेतं तथा पाठे ॥ ७३ ॥

अब नाट्यधर्मी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—इतिहासादि के वाक्यों का अतिक्रमण करने वाली कल्पनात्मक क्रिया से युक्त, प्राणियों एवं भावों का अतिक्रमण करने वाले, लीला से युक्त अङ्गहारों के अभिनयों से उपेत, नाट्य लक्षण से लक्षित, स्वर एवं अलङ्कारों से संयुक्त, अस्वस्थ पुरुषों से आश्रित—ऐसा जो नाट्य है, उसे नाट्यधर्मी कहते हैं ॥ ७३-७४ ॥

---

१. ख. अतिसत्त्वक्रियोपेतम् । क-ट. गीतवाद्यक्रियोपेतम् ।
२. ख. ग. अतिभाषितम् । क-द. अतिभाषिकम् ।
क-ट. सत्त्वभावसमान्वितम् ।
३. नाट्यताळलयान्वितम् ।
४. क. सर्वालङ्कार संयुक्तम् ।

स्वरालङ्कारसंयोजनया युक्तं यत्र च पुरुषो न स्वरूपे तिष्ठति, अपि तु स्त्रीबलमाश्रयति प्रयोज्यः पुरुषो यत्र न स्वरूपस्थः अपितु स्त्रिया प्रयुज्यते तन्नाट्यधर्मी। भवेदित्यनेन संभावनामाचक्षाण इदमाह नैवेदं समयमात्रनिष्ठमिति वक्तव्यं अपि तु संभाव्यमानमेव सद्रञ्जनोपयोगि वस्तूपयोगि च ॥ ७४ ॥

अभिनव—इतिहास-पुराण आदि के प्राचीन वृत्तों का अतिक्रमण कर अर्थात् यथावत् प्रस्तुत न कर जन-रञ्जन के लिए उचित अनुरञ्जक इतिवृत्त को कल्पनात्मक क्रिया है, उस क्रिया से उपेत (युक्त)। जैसे राजशेखर के द्वारा की गई राम के निर्वासन हेतु दशरथ-वेषधारी राक्षस की कल्पना, उस कल्पनात्मक क्रिया से उपेत। सत्त्व का अर्थ है स्वभाव और भाव का अर्थ है चित्तवृत्ति। इनका अतिक्रमण करके स्थित कवि-कल्पित चित्तवृत्तियों से युक्त। जैसे—स्वभाव चपल विदूषक की चित्तवृत्ति का अतिक्रमण कर अर्थात् उसकी चंचल मनोवृत्ति के वत्सराज के द्वारा प्रतिकूल वसन्तक में मन्त्री पद के योग्य गाम्भीर्य एवं अवहित्थ की योजना और भी जैसे—स्त्री स्वभाव के अनुरूप प्राकृत-भाषा का अतिक्रमण करके महारानी द्वारा संस्कृत में भाषण करना। इस प्रकार का जो अभिनेय है, उसमें नाट्यधर्मी है। अभिनय तो नटगत होता है। लीला के शोभा-प्रधान होने से जो अङ्गहार हैं, उन उन अङ्गहार-प्रधान अभिनयों से युक्त एवं नाट्य लक्षणों से लक्षित नाट्यधर्मी होता है।

अभिनव—स्वरालङ्कार की योजना से युक्त। जहाँ पर पुरुष अपने सहज रूप में नहीं रहता, बल्कि स्त्री-भाव का आश्रय ले लेता है। अतः प्रयोज्य पुरुष जहाँ अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहता, अपितु स्त्री के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है वहाँ नाट्यधर्मी होता है। यहाँ पर 'भवेत्' क्रिया के द्वारा सम्भावना में लिङ् लकार का प्रयोग होने से ग्रन्थकार यह कहते हैं कि इसलिए यह समयनिष्ठ मात्र है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, अपितु सम्भाव्यमान होते हुए रञ्जन के उपयोगी और कथावस्तु के लिए उपयोगी है ॥ ७४ ॥

न ह्यासन्नवचनस्यापि। अश्रवणमन्यैरप्यश्रूयमाणस्य च श्रवणं लोकेऽपि कदाचन न भवति। केवलं तन्त्रे तत्सौन्दर्यार्थमानीयते यथोक्तमुपाध्यायैः—

तदत्रास्ति न तत्रास्य कवेर्वर्णनमर्हति।
यन्नासंभवि यत्र स्यात्सम्भव्यत्र तु धर्मतः॥

यत्र नियमहेतुः सौमनस्यं तत्र नाट्यधर्मो व्यापकत्वमिति बहुतरोदाहरण-निदर्शनदिशा दर्शयितुमाह—लोकेति।

विशेष—'अतिवाक्यक्रियोपेतम्' का अभिप्राय है कि इतिहास-पुराण आदि में वर्णित प्राचीन कथानकों को यथावत् प्रस्तुत न कर जन-रञ्जन के लिए उपयुक्त इतिवृत्त की कल्पना-त्मक क्रिया का प्रयोग होता है अर्थात् इतिहास-पुराण की प्राचीन घटनाओं में रञ्जक, रोचक एवं रमणीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 'अतिसत्त्वातिभावकम्' का अभिप्राय है कि पात्रों के स्वभाव और चित्तवृत्ति का अतिक्रमण करके इसमें नवीन कवि-कल्पित चित्तवृत्ति भिन्न रूप में प्रस्तुत होती है। जैसे तापसवत्सराज में वत्सराज की पत्नी स्त्री-स्वभावोचित प्रयोज्य प्राकृत भाषा का प्रयोग न कर संस्कृत भाषा का प्रयोग करती है।

नाट्यधर्मी में नाट्य के समस्त लक्षण विद्यमान रहते हैं। उन लक्षणों से लक्षित आङ्गिकादि अभिनय लीला के शोभा प्रधान होने से मनोहर अङ्गहारों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार नाट्यधर्मी में शास्त्रीय विधियों से सम्पन्न अभिनय, अतिरञ्जक, हृदय-ग्राही, रोचक एवं रमणीय होता है।

अभिनव—आसन्न वचन का अश्रवण नहीं हो सकता और दूसरों के अश्रूयमाण पद का श्रवण लोक में कभी भी सम्भव नहीं है। केवल तन्त्र में सौन्दर्य के लिए उसका आनयन होता है। जैसा कि उपाध्याय ने कहा है—

"वह यहाँ है, वहाँ नहीं, अतः वह कवि के वर्णन के योग्य है। जो जहाँ सम्भव नहीं, वह यहाँ धर्मतः सम्भव है।"

जहाँ नियम का हेतु सौमनस्य है वहाँ नाट्यधर्मी की व्यापकता है। इसे अनेक उदाहरण निदर्शन के द्वारा दिखाने के लिए कहते हैं—

[1]लोकप्रसिद्धं द्रव्यन्तु यदा नाट्ये प्रयुज्यते ।
[2]मूर्तिमत् साभिलाषञ्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७५ ॥

आसन्नोक्तन्तु यद्वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम् ।
अनुक्तं श्रूयते वाक्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता[3] ॥ ७६ ॥

अभियोज्यं क्रियासु पदं मूर्तत्वात् केवलं नाभिलाषं लोकेऽपि कलाशिल्पिकल्पनाकलितमतस्तदपि मूर्तिसंपादनेन प्रयुज्यते प्रयोगः क्रियते। यथा मायापुष्पके "ततः प्रविशति ब्रह्मशाप" इति ॥ ७५ ॥

न शृण्वन्ति जनान्तिकापवारितकयोः। अनुक्तं श्रूयते, आकाशभाषितं, गतादावाकाशादौ ॥ ७६ ॥

अनुवाद—लोक में जो अभियोज्य, अभिलाष-युक्त एवं मूर्त्तिमत् पद यहाँ प्रयुक्त किया जाता है उसे भी नाट्यधर्मी कहते हैं ॥ ७५ ॥

अनुवाद—जहाँ पर समीप में कहे हुए वचन परस्पर सुनाई नहीं देते और अनुक्त (बिना कहे हुए) वचन सुनाई देते हैं वहाँ भी नाट्यधर्मी होता है ॥ ७६ ॥

अभिनव—लोक में क्रियाओं में अभियोज्य पद है, जो प्रयोग के योग्य हैं और मूर्त्तिमान् साकार होने से साभिलाष हैं अर्थात् लोक में भी जो कला-शिल्पी की कल्पना से आकलित हैं उनका भी मूर्त्ति बनाकर प्रयोग किया जाता है जिसमें नायक-नायिकाओं की अभिलाषाएँ साकार प्रतीत होती है। जैसे 'मायापुष्पक' में 'ततः प्रविशति ब्रह्मशापः' अर्थात् उसके बाद ब्रह्मशाप प्रवेश करता है। जनान्तिक और अपवारित रूप नियतश्राव्य में प्रेक्षक नहीं सुनते, वह कुछ ही व्यक्तियों के लिए श्राव्य होता है। अनुक्त वचन को आकाशभाषित के द्वारा केवल अभिनेता श्रवण करते हैं। ये जनान्तिक, अपवारित और आकाशभाषित विधियाँ नाट्यधर्मी विधियाँ हैं ॥ ७५-७६ ॥

---

१. क. लोके यदभियोज्यं च पदमत्रोपयुज्यते ।
क-म. लोकेऽप्रयुज्यं यद् द्रव्यं समं नाट्ये प्रयुज्यते ।
२. ख. ग. वृत्तिमत् ।
३. क. (ट०) नाट्यधर्मी कृतं तु तत् ।

शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः ।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७७ ॥
य एकां भूमिकां कृत्वा कुर्वीतैकान्तरेऽपराम्[1] ।
[2]कौशल्यादेककत्वाद्वा नाट्यधर्मीति सा स्मृता ॥ ७८ ॥
यागम्या प्रमदा भूत्वा गम्या भूमिषु युज्यते[3] ।
गम्या भूमिष्वगम्या च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७९ ॥

मूर्तिमन्त इति प्रक्रिया तु कर्म कायवत्प्रयुज्यन्त इत्यर्थः । तद्यथा—'अग्रे पर्वत एष कथमत्र गन्तव्यम्'' इत्यादि । चर्म खेटकं वसुनन्दादि अपूर्ण रूपं दारुवस्त्र-चित्रादिरूपतया प्रयुज्यते ॥ ७७ ॥

अनुवाद—शैल, यान, विमान, ढाल, कवच, आयुध, ध्वज आदि का जहाँ पर मूर्त्त रूप में (साकार रूप में) प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी नाट्य-धर्मी होता है ॥ ७७ ॥

अभिनव—प्रक्रियाओं में शैल आदि पदार्थों का मूर्त (साकार) रूप में प्रयोग किया जाता है । जैसे—आगे यहाँ पर्वत है, कैसे यहाँ जाँय ? इत्यादि । यहाँ चर्म, खेटक आदि का अपूर्ण रूप दारु (लकड़ी) वस्त्र, चित्र आदि के रूप में प्रयोग किया जाता है ॥ ७७ ॥

अनुवाद—जहाँ अभिनेता एक भूमिका का निर्वहन करने के पश्चात् अपनी कार्य-कुशलता से अथवा एकाकी (अकेला) होने के कारण बीच में दूसरी भूमिका को धारण करता है उसे भी 'नाट्यधर्मी' कहते हैं ॥ ७८ ॥

अनुवाद—जो अभिनेत्री अगम्या नारी की भूमिका करके फिर गम्या नारी की भूमिका करती है अथवा गम्या नारी की भूमिका में अगम्या नारी की भूमिका ग्रहण करती है, उसे भी 'नाट्यधर्मी' कहते हैं ॥ ७९ ॥

१. म. (द०) पुनरन्यां प्रयोजयेत् ।
२. म. (ट०) कोशलादेककृत्यत्वात् ।
३. म. (न०) योज्यते ।

"ललितैरङ्गविन्यासैस्तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः ।
नृत्यते गम्यते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ८० ॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः ।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी तु सा स्मृता" ॥ ८१ ॥

ललितैरिति आवेष्टितादिचतुर्विधकरणोपगूहीतवर्तनाप्रवर्तितैः । उत्क्षिप्तानि यानि पदानि तेषां चतुस्तालादिना (अ ९-२७३-१८९) क्रमात्कालविभागाश्चतुष्कलत्वादयः । च शब्द इवशब्दार्थः । नृत्यत इव यद् गम्यते नृत्तसदृशी या विशाखा सा गतिरित्यर्थः । तद्भावे लटौ ॥ ८० ॥

एतत्प्राणितमेव नाट्यमित्याह योऽयं स्वभाव इति । अङ्गैरातोद्यादिभिरभिनयैश्च संयुक्तत्वं लोकस्वभावानुभावविलासोपेतत्वं विधायकस्य नाट्यधर्मीत्वं विधानमिति प्रथमाध्याये (१-११८) श्लोकाद्भिन्नार्थ एवायं तत्र नाट्यलक्षणपरो वाक्यार्थ इति विवृतं चैतत्तत्रैवाध्याये ॥ ८१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर ललित अङ्गों के विन्यास तथा उत्क्षिप्त पद क्रमों से नाचते हुए के समान चलते हैं, उसे भी नाट्यधर्मी कहा गया है ॥ ८० ॥

अभिनव—'ललितैः' अर्थात् आवेष्टित आदि चतुर्विध करणों से गृहीत वर्तनाओं से प्रवर्तित तथा उत्क्षिप्त जो पद हैं उनका चतुष्तालादि के द्वारा क्रमशः जो काल-विभाग है वह चतुष्कल रूप है । यहाँ 'नृत्यते गम्यते च' में उपात्त 'च' शब्द 'इव' अर्थ में है । अतः इसका अर्थ होगा—'नाचते हुए की तरह चलता है' अर्थात् नृत्य के समान जो विशाखा है, वही गति है । यहाँ भाव अर्थ में लट्लकार का प्रयोग है ॥ ८० ॥

अनुवाद—यह जो लोक का सुख-दुःख रूप स्वभाव है वह आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त है, उसे 'नाट्यधर्मी कहते हैं ॥ ८१ ॥

अभिनव—'योऽयं स्वभावः' इत्यादि । अङ्ग अर्थात् आतोद्य, गीत आदि तथा अभिनयों से संयुक्त हैं अर्थात् लोक-स्वभाव तथा अनुभव रूप विलास से युक्त विधायक का नाट्यधर्मीत्व का विधान है, ऐसा नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में उल्लेख (श्लोक संख्या १।१२७, श्लोकार्थ) की अपेक्षा भिन्नार्थक है । यह तो नाट्यलक्षणवाक्यार्थ है । यह विवरण वहीं प्रथम अध्याय में दिया गया है ॥ ८१ ॥

---

१. क. (ट०) यश्चाङ्गहारविन्यासैः ।
२. ग. नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता ।

[1]यश्चेतिहासवेदार्थो ब्रह्मणा समुदाहृतः ।
[2]दिव्यमानुषरत्यर्थं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ ८२ ॥
यश्च कक्ष्याविभागोऽयं नानाविधिसमाश्रितः[3] ।
रङ्गपीठगतः प्रोक्तो नाट्यधर्मी तु सा भवेत् ॥ ८३ ॥
नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत् ।
न [4]ह्यङ्गाभिनयात्किञ्चिद्दृते[5] रागः[6] प्रवर्तते ॥ ८४ ॥

प्रसङ्गोपयोगेन सर्वाभिनयप्रकारसारा नाट्यधर्म्यभिहिता, तां दर्शयति यश्चेति ।

चकारः प्रसङ्गं द्योतयति । प्रोक्त इति समनन्तरमेव ॥ ८२ ॥

व्यापकत्वमेव नाट्यधर्म्या उपसंहरति—नाट्यधर्मीत्याविना ।

उपदेशद्वारेण नाट्यधर्मीप्रवृत्ता गतिः । हेतुः न ह्यङ्गाभिनयादिति । अङ्गानि च गीतातोद्यादोन्यभिनयश्चेति द्वन्द्वः समाहारः । राग इति सामाजिकप्रीतिः ॥ ८४ ॥

अभिनव—प्रसङ्गगत उपयोग के द्वारा समस्त अभिनय प्रकारों का सारभूत नाट्यधर्मी को जो कहा है, उसे दिखाते हैं—

अनुवाद—ब्रह्मा जी ने देवता और मनुष्यों के रत्यर्थ अर्थात् मनोरञ्जन के लिए इतिहास-पुराण एवं वेद के अर्थ को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, उसे नाट्यधर्मी कहा गया है ॥ ८२ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'चकार' प्रसङ्ग को द्योतित करता है। 'प्रोक्तः' का अभिप्राय है—इसके बाद ही कहा है ॥ ८२ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के विधानों के समाश्रित रङ्गपीठगत अर्थात् रङ्ग-पीठ पर जिस कक्ष्या विभाग को कहा गया है वह नाटचधर्मी कहा गया है ॥ ८३ ॥

अभिनव—अब नाट्यधर्मी की व्यापकता का उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—नाट्यधर्मी के द्वारा प्रवृत्त अर्थात् सम्पन्न होने वाले नाट्य का सदा प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि आङ्गिक अभिनय के बिना कोई राग प्रवृत्त नहीं होता ॥ ८४ ॥

---

१. क-म यत्सेतिहासो ।　२. क. (टि०) देवमानुषरत्यर्थं ।
३. क-न. नानादेशसमाश्रयः ।　४ ख. ह्यभिनयार्थजः ।
५. क-म. किञ्चिद्विना ।　६. क. नाटचं ।

सर्वस्य सहजो भावः सर्वो ह्यभिनयोऽर्थतः ।
अङ्गालङ्कारचेष्टाभिर्नाट्यधर्मी[1] प्रकीर्तिता ॥ ८५ ॥

नाट्यधर्म्या यदि व्यापकत्वाल्लोकस्वभावभाविन्या न प्रयोजनमुक्तयेत्याशंक्याह—सर्वस्य सहज इति ।

हि शब्दो हेतुमद्भावं द्योतयति । तदयमर्थं यस्मात्कविगता नाट्यगता वागङ्गालङ्कारचेष्टा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती । अर्थत इति अर्थमपेक्ष्य प्रवर्तते अभिनयश्च सर्वाभिनेयमर्थमपेक्ष्य प्रवर्तते, तस्मात्सर्वस्य संबन्धी सहजो भावो लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्या सहजसंवादिकर्मणः । अङ्गं गुणाः लक्षणानि च चेष्टा वर्तनारूपा अलङ्कार उपमादिः ॥ ८४ ॥

अभिनव—'अङ्गानि च गीतातोद्यानि च अभिनायाश्च' में समाहार में द्वन्द्व समास है । अङ्ग का अर्थ है गीत, आतोद्य आदि और अभिनय में समाहार द्वन्द्व समास होने से एकवचन है । 'राग' का अर्थ है सामाजिक प्रीति ॥ ८४ ॥

अभिनव—अब इसके बाद नाट्यधर्मी यदि व्यापक है तो लोकस्वभाव युक्त लोकधर्मो से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—सभी प्राणियों का सहज भाव, आङ्गिक आदि अभिनय, अलङ्कार और चेष्टाएँ जब अर्थ की अपेक्षा से प्रवृत्त होती है । तो उसे 'नाट्यधर्मी कहते हैं ॥ ८५ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'हि' शब्द हेतुहेतुमद्भाव को सूचित करता है । इसलिए इसका यह अर्थ है कि जिससे कविगत और नाट्यगत सर्व प्राणवती नाट्यधर्मी रूप शब्द, अङ्ग, अलङ्कार और चेष्टाएँ हैं वे अर्थ की अपेक्षा से प्रवृत्त होती हैं और अभिनय भी समस्त अभिनेय अर्थ की अपेक्षा से प्रवृत्त होते हैं । इसलिए सहज भाव अर्थात् सहज संवादादि कर्म से नाट्यधर्मी के भित्तिस्थानीय होने से लोकधर्मी का कथन किया गया है अर्थात् लोकधर्मी सबका सहज भाव है । यहाँ अङ्ग गुण है, लक्षण है, अलङ्कार उपमादि हैं और चेष्टा वर्तना रूप है ॥ ८५ ॥

१. ग. कक्षाविभागस्तु ।

एवं [1]कक्ष्याविभागस्तु धर्मी युक्तय एव च[2] ।
[3]विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः प्रयोक्तव्याश्च तत्त्वतः[4] ॥ ८६ ॥

उक्तो मयेहाभिनयो यथावत् शाखाकृतो यश्च कृतोऽङ्गहारैः[5] ।
पुनश्च वाक्याभिनयं यथावद्वक्ष्ये स्वरव्यञ्जनवर्णयुक्तम् ॥८७॥

[6]इति भरतीये नाट्यशास्त्रे करयुक्तिधर्मीव्यञ्जको नाम
त्रयोदशोऽध्यायः अङ्गाभिनयः समाप्तः ।

अध्यायार्थमुपसंहरति एवं कक्ष्याविभागस्त्विति ।

धर्मी ह्येकवचनं नाट्यधर्म्या अत्र प्राधान्यादन्यस्यास्तत्रैव मग्नत्वात् । युक्तय इति प्रवृत्तयः ॥ ८६ ॥

अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार कक्ष्या-विभाग, धर्मी और प्रवृत्तियों को नाट्यतत्त्व-वेत्ताओं को समझना चाहिए और तात्त्विक रूप से (यथार्थरूप से) प्रयोग करना चाहिए ॥ ८६ ॥

अभिनव—धर्मी दो हैं, किन्तु यहाँ आचार्य ने द्विवचन का प्रयोग न करके एकवचन जा प्रयोग किया है। उनका एकवचन कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य-धर्मी का ही यहाँ नाट्य में प्रधानता होने से लोकधर्मी उसी में समाविष्ट हो जाता है। यहाँ 'युक्तयः' का अर्थ प्रवृत्तियाँ है ॥ ८५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने यहाँ पर शाखीकृत (आङ्गिक अभिनय) तथा अङ्गहारों से निर्मित अभिनय का यथावत् वर्णन किया है। अब मैं स्वर-व्यञ्जन वर्णों से युक्त वाक्यार्थाभिनय का यथावत् वर्णन करूँगा ॥ ८६ ॥

---

१. ख. नाट्यधर्मी प्रकीर्तिताः ।
२. ख. धर्मीयुक्ता प्रकीर्तिता ।
३. विज्ञेयो नाट्यतत्त्वज्ञैः प्रयोक्तव्यश्च तत्त्वतः ।
४. ग. यत्नतः ।
५. म. अङ्गहारः ।
६. ख. इति भारतीयनाट्यशास्त्रे कक्ष्याप्रवृत्तिधर्मव्यञ्जको नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथोपसंहारे च प्रयोजनं धर्म्यादयो उपकरणभूताः, तेषामल्पबाहुल्यविरचित-क्रमाभिधानं योजयित्वा प्रतिपादनमित्यध्यायार्थो प्रकरणप्रस्तावे च प्रथमेन योजयति अन्येन च भाविप्रकरणार्थमासूत्रयति—उक्तो मयेहाभिनय इति।

स मयेत्यात्मज्ञानोत्कर्षणीं व्युत्पत्तिं शिष्याणामुपपादयति। यद्यप्यस्य शाखानृत्तं (करवर्तना) चाङ्गहारश्च वस्तुनीत्युक्तं, तथापि, भावाध्याये सात्त्विकप्रसङ्गेन (७-१४३) अङ्कुरस्याभिहितत्वात्, सामान्याभिनये च (अ २२-४१) तदुक्तम्। वक्तव्यशेषस्य वक्ष्यमाणत्वादाङ्गिकाभिनयोपसंहारादेवोपसंहरति। वाक्यमेवाभिनयः तत्त्वतश्च धर्मी, अभिनयो वाक्यं हास्यादौ। एवं यद्यपि वाक्याभिनय उक्तस्तथापि सति उक्तस्वरूपमभिनेयैर्मति तदाह यथावदिति, अत एव पुनरुक्तम्। स्वराः अचः। व्यञ्जनानि हलः। वर्णा अज्झल्समुदाया इति शिवम् ॥ ८७ ॥

अभिनव—यहाँ उपसंहार में उपकरणभूत धर्मी आदि प्रयोजन हैं। उनका अल्पत्व एवं बहुत्व से रचित क्रमाभिधान (क्रम के प्रतिपादन) की योजना करके प्रतिपादन करना, इस अध्याय का अर्थ प्रकरण के प्रस्ताव का पहले योजना करते हैं और अन्य के द्वारा भावी प्रकरण का अर्थ आसूत्रित करते हैं—'उक्तो मयेहाभिनय इति'।

अभिनव—'स मया' इस कथन से आत्मज्ञान का उत्कर्ष करने वाली व्युत्पत्ति शिष्यों के लिए उपपादन करते हैं। यद्यपि इसे शाखानृत्त (करवर्तना) और अङ्गहार रूप वस्तु के विषय में कहा है तथापि भावाध्याय में सात्त्विक भावों के निरूपण के प्रसङ्ग में अङ्कुर का भी कथन है और सामान्याभिनय में उसे भी कहा गया है। अब जो कुछ कहना शेष है उसको आगें कहेंगे। आङ्गिक अभिनय के उपसंहार से ही उपसंहार करते हैं। वाक्य ही अभिनय है, तत्त्वतः धर्मी भी है। हास्यादि रसों में अभिनय वाक्यरूप है। इस प्रकार यद्यपि वाक्याभिनय कह दिया गया है तथापि जैसा मैंने कहा है—उक्त स्वरूप ही अभिनय है। इसलिए कहते हैं—'यथावदिति'। अर्थात् यथावत् कहेगे, इसलिए पुनरुक्त नहीं है। स्वर का अर्थ है अच् और व्यञ्जन हल् हैं तथा स्वर एवं हलों का समुदाय वर्ण हैं ॥ इति शिवम्।

शीतांशुमण्डलकशेखरपादपद्मकिञ्जल्कपूगपरिपूतशिरोरुहेण ।
वृत्तिः कृताभिनवगुप्तपदाभिधेन कक्ष्याङ्कचित्रतललक्षणवर्णनेऽस्मिन् ॥१३॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां नाटचवेदविवृतावभिनव[1]-
भारत्यां कक्ष्याप्रवृत्तिधर्म्यभिधानं (धर्मीव्यञ्जको) नाम
त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १३ ॥

अभिनव—शीतांशु अर्थात् चन्द्रमण्डल रूप शिरोभूषण वाले चन्द्रशेखर शिव के चरणकमल के किंजल्क (पराग) से परिपूत केश से सुशोभित अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने इस कक्ष्या, अङ्क, चित्र के वर्णन में व्याख्या लिखी है ॥ १३ ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा विरचित नाट्यवेद-विवृति अभिनवभारती में कक्ष्या, प्रवृत्ति एवं धर्मी का अभिधान करने वाला तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

इति डॉ० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्याः मनोरमाख्यायां
हिन्दी व्याख्यायां कक्ष्याप्रवृत्तिधर्म्यभिधानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित
अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में तेरहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

●

---

१. इति भारतीयनाटघशास्त्रे कक्ष्याप्रवृत्तिधर्मीव्यञ्जको नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः[1]

अभिनवभारती

द्विधास्थितं सद्य (कर्म) सदाविभक्तं [2]विश्वात्पदार्थान् समुपाददानम्।
पाणीन्द्रियं [3]संव्यवहारहेतुं यस्येश्वरं तं वरदं नमामः ॥ १४ ॥

आङ्गिकाभिनयानन्तरं वाचिकस्य[4] भेदं नाट्यानुप्राणकतया पूर्वोद्दिष्टाङ्गिकस्य विषयसमर्पणत्वाच्च वाचिको लक्षणीय इत्येवंभूतामध्यायसङ्गतिं करोति यो वागभिनय इति ।

हिन्दी व्याख्या

आङ्गिक अभिनय के निरूपण करने के पश्चात् अब वाचिक अभिनय का विशेष निरूपण करते हैं—

अभिनव—जिस परमेश्वर को पाणि अर्थात् हस्तेन्द्रिय दक्षिण और वाम दो रूपों में स्थित, सदा अविभक्त, विश्व के समस्त पदार्थों का आदान करने वाली तथा समस्त व्यवहार का हेतु है, उस वरद (वरदान देने वाले) ईश्वर को हम प्रणाम करते हैं ॥ १४ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त चतुर्दश अध्याय की अभिनव-भारती के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए कहते है कि हम महेश्वर शिव को प्रणाम करते हैं। जिस शिव की पाणीन्द्रिय अर्थात् दोनों हाथ दायें-बायें दो रूपों में विभक्त हैं और वह कर्म करने वाली पाणीन्द्रिय दो रूपों में विभक्त होते हुए भी सदा अविभक्त रहती है अर्थात् अलग-अलग होते हुए भी दोनों हाथ मिलकर काम करते हैं तथा पदार्थों का मिलकर आदान करते हैं। ये ही दोनों हाथ विश्व के समस्त व्यवहार के हेतु है, अतः उस शिव की हम वन्दना करते हैं।

अभिनव—आङ्गिक अभिनय के निरूपण करने के बाद नाट्य के अनुप्राणक तत्त्व तथा पूर्व में उद्दिष्ट आङ्गिक अभिनय के विषयों को प्रस्तुत करने में आधारभूत वाचिक अभिनय का लक्षण निरूपणीय है, इस प्रकार अध्याय की संगति दिखाते हुए कहते हैं—

१. ग. पञ्चदशाध्यायः ।
२. क-(ख) विश्वात्पदार्थात् ।
३. क- (टि० ख०) सव्यवहारहेतु ।
४. क. (टि० ख०) वाचिकस्येदं ।

यो वागभिनयः [1]पूर्वं मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥ १ ॥

वाचि यत्नस्तु[2] कर्तव्यो नाट्यस्येयं[3] तनुः स्मृता ।
[4]अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि [5]वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ २ ॥

वागेवाभिनयः वाचिकाभिनयः । पूर्वमिति षष्ठेऽध्याये स[6] निरूप्यते तत्त्वेन[7] चास्याभिधानप्राधान्यात् ॥ १ ॥

अत्र हेतुमाह—वाचि यत्नस्तु कर्तव्य इति कविना निर्माणकाले नटेन प्रयोगकाले । कुत इत्याह—नाट्यस्यैषेति । एषा हि तनुर्नाट्यस्य सकलप्रयोगभित्तिभूतत्वेनातोद्यगीताभिनयानुग्राहकत्वात् स्वयमभिनयरूपत्वाच्च । प्रदर्शितं चैतदस्माभिरुपाङ्गाभिनयारम्भ एव (अध्या—८) ।

अनुवाद—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! पहिले जो मैंने वाणी के अभिनय (वाचिक अभिनय) को कहा है अब स्वर और व्यञ्जन से सम्भूत उसके लक्षण को कहूँगा ॥ १ ॥

अभिनव—वाणी ही अभिनय है, अतः कर्मधारय समास है (वागेवाभिनयः वाचिकाभिनयः) । पहिले छठे अध्याय में जिसका नाम मात्र से कथन किया गया है अब यहाँ तत्त्वतः अभिधान में प्रधानता के कारण उसका लक्षण निरूपण करते हैं, प्रस्तुत करते हैं ॥ १ ॥

अनुवाद—वाक् अर्थात् वाणी के विषय में प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि वाणी ही नाट्य (अभिनय) शरीर है और अङ्ग (आङ्गिक अभिनय), नेपथ्य (आहार्य अभिनय) तथा सत्त्वाभिनय वाक्यार्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं ॥ २ ॥

---

१. ख. प्रोक्तो मया पूर्वं ।
२. क. (टि॰ ख॰) तन्निरूप्यते ।
३. क-क. तव ।
४. क-भ. वाचि यत्नो विधावतः ।
५. क-प. नाट्यस्येय ।
६. क. ज. अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि ।
७. क-भ. वागर्थम् ।

[1]यत्तु कैश्चिदभिधीयते चित्तवृत्तिं प्रति शब्दानां बहिरङ्गत्वम्[2]। तदसत्। तथा हि यदुच्यते व्यतिरेकाभावान्न रसादयः शब्दवाच्या इति, सर्वैः शब्दैर्व्यतिरेकाभावोऽसिद्धः[3] अभिनयचतुष्टयसामान्यं बहिः सर्वत्र प्रतीतिस्फुटतायां व्याप्रियत इत्यवोचाम सप्तमेऽध्याये।

अथ शृङ्गारादिशब्दानां वाचकानामभावेऽपि तत्प्रतिपत्तिः।

परिणतशरकाण्डापाण्डुरा गण्डपाली
हिमसमयनिमीलत्पुण्डरीकायमाणम्[4]।
नयनमधरबिम्बं श्वासविश्रान्तिताम्रं
तव सुतनु! तनोति प्राणितं मन्मथस्य॥

अभिनव—वाचिक अभिनय के लक्षण में हेतु को कहते हैं कि कवि को काव्य निर्माण के समय तथा नट को नाटच-प्रयोग के समय वाणी के विषय में यत्न करना चाहिए, क्योंकि यह वाणी (वाचिक अभिनय) नाटच का शरीर है। समस्त प्रयोगों का भित्ति-स्थान (आधारभूत) होने से, गीत, वाद्य का अनुग्राहक होने से और वाणी के स्वयं अभिनय रूप होने से वाणी को नाटच का तनू (शरीर) कहा गया है। हमने उपाङ्गों के अभिनय के प्रारम्भ में (अष्टम अध्याय में) दिखा दिया है।

जैसा कि कोई कहते हैं कि चित्तवृत्ति के प्रति शब्दों की बहिरङ्गता है। अर्थात् चित्तवृत्तियाँ अन्तःपदार्थ हैं और तद्बोधक शब्द बहिरङ्ग, किन्तु आपका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि आप जो कहते हैं कि व्यतिरेक का अभाव होने के कारण रसादि शब्दों के वाच्य नहीं है। वहाँ सभी शब्दों से व्यतिरेकाभाव सिद्ध नहीं है। क्योंकि सामान्यतः चारों अभिनय बहिरङ्ग होते हुए भी सब जगह रसप्रतीति में व्यापृत होते हैं। यह बात सप्तम अध्याय में कह चुके हैं।

और जो कहते हैं कि रसादि के वाचक शृङ्गारादि शब्दों के अभाव में भी रस की प्रतीति होती है। जैसे—

१. क-क. यत्तु।
२. क-ख. बहिरङ्गत्वं धर्मः।
३. क-क. व्यतिरेकभावः सिद्धः।
४. क-क. पण्डरीकायमाणः।

इत्यावाक्यमेव च व्यतिरेकाभावः। तदप्यसत्। एतावतापि हि वृश्चिकादिवत् निमित्तान्तरमपि तत्प्रतीतौ सुवचम्। वृश्चिकोऽन्यो गोमयजोऽन्य एव वृश्चिकप्रभव इति चेदिहापि तत्समानम्। न हि शृङ्गारशब्दात् यादृशो प्रतीतिस्तादृश्येवान्यतः[1], न च न भवति शृङ्गारशब्दात्तत्प्रतोतिः शृङ्गारहास्येति (६-१६) श्लोकस्य काकवाशितदेशीयतापत्तेः। यथासंकेतं हि शब्दात्प्रवर्तमानासिद्धं साध्यं चाभिधातुं केन प्रतिहन्यत इति साध्यमानता[2] कापि विभीषिका।

परिणतशरकाण्डापाण्डुरा गण्डपाली
हिमसमयनिमीलत्पुण्डरीकायमाणम्।
नयनमधरबिम्बं श्वासविश्रान्तितान्तं
तव सुतनु! तनोति प्राणितं मन्मथस्य॥

अर्थात् 'हे सुतनु! पके हुए सरकण्डो के समान पाण्डुर वर्ण की तुम्हारे कपोलस्थल, हेमन्त ऋतु में संकुचित होने वाले कमल के समान संकुचित तुम्हारे ये नेत्र और श्वास की विश्रान्ति से मुरझाए हुए तुम्हारे अधरबिम्ब कामदेव के जीवित होने को सूचित कर रहे हैं अर्थात् कामदेव जोवित है, इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं।

यहाँ पर यही व्यतिरेकाभाव है अर्थात् यहाँ पर रसादि अथवा रसादि के वाचक शृङ्गारादि शब्दों के अभाव में भी शृङ्गार रस को प्रतोति हो रही है। उनका यह कहना भी ठीक नहीं है। बल्कि इससे भी यही कहना उचित है कि वृश्चिकादि के समान रसप्रतीति में अन्य कारण भी है। जैसे गोबर से पैदा होने वाला वृश्चिक (बिच्छू) दूसरा है और बिच्छू से उत्पन्न बिच्छू अन्य है। उसो प्रकार यहाँ भी शृङ्गारादि शब्दों के प्रयोग से होने वाली रसप्रतीति भिन्न है और विभावादि के प्रयोग से होने वाली रस प्रतीति भिन्न हैं। क्योंकि शृङ्गारादि शब्दों के कथन से जैसी प्रतीति होती है वैसी अन्य से नहीं होती। हम यह नहीं कह सकते कि शृङ्गार शब्द के प्रयोग से शृङ्गार रस को प्रतीति नहीं होतो है। क्योंकि यदि हम ऐसा कहते हैं तो षष्ठ अध्याय में "शृङ्गारहास्यकरुणा-६।१६" इत्यादि श्लोक में कौओं के काँव-काँव के समान निरर्थक आपत्ति लग जायगी। क्योंकि संकेत के अनुसार शब्द से सिद्ध साध्य का अभिधान को कौन रोक सकता है, इस प्रकार शब्द से रस की साध्यमानता कोई विभीषिका है।

१. क-क. तादृश्येवाद्यना च न भवति।
२. क. साध्यनामकादि।

किंचेदमपि शृङ्गारायते हसति करुणायते इत्यादि साध्यशब्दनीयत्वं प्रति किं वक्तव्यं स्यात्, अवश्यं चैतत्, अन्यथा—

याते द्वारवती तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुबाष्पगद्गदं गलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम्॥

इत्यादौ सोत्कण्ठयेति, उत्कमिति चानुवादो विफल एव स्यात्, तद्रूपास्पर्शे तदनुभावसमाकर्षणस्याप्ययोगात्।

और यह भी है कि 'शृङ्गारायते' (शृङ्गार की तरह मालूम पड़ता है), हसति (हंसता है); करुणायते' (करुणा की तरह आचरण करता है) इत्यादि में साध्य शब्द से शब्दनीय शृङ्गारादि रसों के सम्बन्ध में क्या कहना चाहिए ? आप ही बतायें ? यह बतलाना आवश्यक है, अन्यथा—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तकम्पानतां
कालीन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्गतवारिभिर्जलचरैरत्युत्कमुत्कूजितम्॥

अर्थात् 'मधुरिपु श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने पर राधा के द्वारा दी गई उछाल से झुकी हुई, कालिन्दी यमुना के तट पर उत्पन्न वञ्जुल लता का आलिङ्गन करके उत्कण्ठा से युक्त राधा ने महान् आँसुओं से रुधे हुए कण्ठ से ऊँचे स्वर से वह गाना गाया जिससे जल के भीतर रहने वाले जलचरों ने भी भारी उत्कण्ठा से कूजन किया।"

यहाँ पर 'सोत्कण्ठया' और 'उत्कम्' इस प्रकार अनुवाद विफल हो जायगा। क्योंकि तद्रूप का स्पर्श न होने पर अर्थात् व्यभिचारिभावों के शब्दतः उपात्त न होने पर उनके अनुभावों के समाकर्षण का आक्षेप का अयोग होने से अर्थात् तदनुकूल अनुभावों का आक्षेप नहीं हो सकेगा।

विशेष—यहाँ पर आलम्बन विभाव मधुरिपु श्रीकृष्ण हैं, उद्दीपन विभाव कालिन्दी तट आदि है, अनुभाव लता-आलिङ्गन आदि हैं। इस प्रकार यहाँ पर विभाव और अनुभाव वाच्य है और लता-आलिङ्गन आदि अनुभावों से उत्कण्ठा व्यक्त होती हैं, तथापि 'सोत्कण्ठा' शब्द का उपादान सिद्ध का साधक होने से अनुवादक है, निरर्थक है, किन्तु यह अनुवाद निरर्थक नहीं है, क्योंकि यह 'उत्कम्' शब्द अनुभावों का आक्षेप करता है।

स्थायिव्यभिचारिणां च भेदाप्रतीतौ—

यान्त्या तया वलितकन्धरमाननं तद्–
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥
(मालतीमाधवे १।३२)

इत्यादावनुभावप्रत्ययोऽपि[1] दुर्लभीभवेत् का कथा रसस्य, वलितावृत्तदिग्ध-निखातादीनां कटाक्षशब्दे जीवभूतानां क्रियासु प्रतिपत्तेरभावात्।

एवम्—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि—
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया॥
(मालविकाग्निमित्रे ५।४)।

इत्यादावेषैव वार्ता।

अभिनव—स्थायीभाव और व्यभिचारीभावों के भेद की प्रतीति न होने पर—जैसे,

यान्त्या तया वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या-
गाढनिखात इव मे हृदये कटाक्षः॥
(मालती माधव १।३२)

अर्थात् 'जाती हुई, झुके हुए वलित कन्धे और आवृत्त वृन्त वाले कमल के समान मुख को धारण करती हुई तथा अमृत और विष से दिग्ध अर्थात् सने हुए नेत्रों वाली उस नायिका ने कटाक्ष को मानो मेरे हृदय में गहराई से गड़ा दिया है।"

इस उदाहरण में अनुभावों की प्रतीति ही दुर्लभ है तो रस की प्रतीति के विषय में क्या कहना है। क्योंकि अनुभाव क्रियात्मक होते हैं किन्तु कटाक्ष के जीव-भूत वलित, आवृत्त, दिग्ध, निखात आदि के विशेषण रूप से प्रतीति होने से क्रिया-रूप में प्रतिपत्ति नहीं हो रही हैं। अतः अनुभवों की प्रतीति दुर्लभ है।

१. क. अनुभावपह्नोपप्रत्ययोऽपि।

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहः ॥
(अमरुकशतके, २३)

और भी—

लीनेव प्रतिबिम्बितेन लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥
(मालविकाग्निमित्र ५।४)

"वह प्रिया मेरे हृदय में मानों लीन हो गई है, मानो प्रतिबिम्बित हो गई है, मानो लिख दी गई है, मानो उत्कीर्ण कर दी गई है, मानो हृदय में बो दी गई है, मानो वज्रलेप से जड़ दी गई है, मानो अन्तःकरण में गाड़ दी गई है, अर्थात् मेरी प्रिया मानो मेरे चित्त ने कामदेव के पाँच बाणों से कील दी गई है और मानों चिन्ता-सन्तति रूप तन्तुजाल से निबिड़ रूप में सो दो गई है।"

उसी प्रकार यहाँ भी—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यता-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषोः-
भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहः ॥
(अमरूशतक २३)

"एक ही शय्या पर पराङ्मुख होकर लेटे हुए बात-चीत बन्द हो जाने से भीतर ही भीतर संतप्त होते हुए, परस्पर हृदय में अनुराग होने पर भी गौरव (शान) की रक्षा करते हुए दम्पति के धीरे से कटाक्षपात (टेढ़ी चितवन) से दोनों की आँखे परस्पर मिल जाने पर हँसते-हँसते जल्दी से मुख मोड़कर गले से लग गये और मान-कलह टूट गया।"

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्या ।
भूयस्तत्कालकान्तिर्द्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसद्बाहुलक्ष्म्याः पुनातु ॥
(वेणीसंहारे)

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।
कतिचिदहानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥
(विक्रमोर्वशीये ५।७) ।

इसी प्रकार यहाँ भी—

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः ।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहुलक्ष्म्याः पुनातु ॥
(वेणीसंहार)

"रति के अन्त में अपने भार को एक हाथ से उरगपति शेष नाग के ऊपर रखकर और दूसरे हाथ से वस्त्र को पकड़कर, खुले हुए केशपाश को कन्धे पर वहन करती हुई, उठती हुई लक्ष्मी के उस समय की कान्ति (शोभा) से द्विगुणित सुरत प्रीति वाले श्रीकृष्ण के द्वारा आलिङ्गन करके पुनः शय्या पर ले जाया गया शिथिलता से सुशोभित लक्ष्मी का शरीर तुम सबको पवित्र करे।"

इसी प्रकार यहाँ भी—

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।
कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥
(विक्रमोर्वशीय)

"उस नायिका का शरीर कुछ दिनों के लिए कुचों का अग्रभाग आबिल हो गया, लवली के पत्ते के समान मुख की शोभा पीली पड़ गई और आँखें अलसाई हुई हो गई।"

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
[1]पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तले)

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थरायाः ।
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ॥
अद्यापि मे मृगदृशोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥
(चौरपञ्चाशिका ३६)

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ सुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥
(कुमारसम्भवे ३।३७) ।

इसी प्रकार—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तले)

"रमणीय वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी जीव-जन्तु भी जब नितान्त उत्सुक हो जाता है तब तो भाव से स्थिर जन्म-जन्मान्तर के सौहार्द अबोधपूर्वक चित्त से स्मरण करता है ।

इसी प्रकार—

निद्रानिमीलितदृशोर्मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशोर्मधुराणि तस्या—
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥
(चौरपञ्चाशिका ३६)

"निद्रा से निमीलित नेत्रों वाली और मद से (यौवनमद या मद्यमद) अलसाई हुई उस मृगनयनी नायिका के जो न सार्थक है, न निरर्थक है वे मधुर अक्षर मेरे हृदय में कुछ ध्वनित कर रहे हैं ।"

१. क. पर्युत्सुको ।

इत्यादिकाव्येषु सहृदयहृदयसागरसमुच्छलच्चन्द्रमृगाङ्कप्रतिबिम्बेषु[1] जीवितभूतानां हासालास्यौत्सुक्यनिद्रामदागमाभिलाषागमादीनां [2]शब्दस्पृष्टत्वेन विभावाद्यनुत्साध्यस्वभावेषु वीतरागतेव[3] बककाकक्रीडाकल्पनैव स्यात्।

सिद्धस्वभावानामेव पदैरभिधानम्। तत्र भवनमिति तदनुभवतीतिवत्साध्यस्वभावेति चेत्, अन्यतरधर्ममुखेन क्रियाख्यस्य धर्मिणो [4]द्वाभ्यामपि यथासङ्केतस्पर्शाद् [5]द्वितीयधर्मास्पर्शस्योभयोरपि तुल्यत्वात्। साध्यतार्थं क्रियाया जीवितमिति चेत्, धर्मद्वयवति धर्मिणि क एषोऽन्यतरधर्मपक्षपातः।

इसी प्रकार

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥

(कुमारसम्भव ३।६८)

"पार्वती भी खिले हुए नवीन कदम्ब के समान अङ्गों से रत्यादि भावों को प्रकट करती हुई पर्यस्त नेत्रों वाले सुन्दर मुख को थोड़ा तिरछा करके खड़ी हो गई।"

इत्यादि काव्यों में सहृदयों के हृदय रूपी सागर में तैरते हुए पूर्ण चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में जीवितभूत हास, आलस्य, औत्सुक्य, निद्रा मदागम और अभिलाषागम आदि का शब्द स्पर्श अर्थात् शब्द से वाच्य कर देने से और विभावादि के साध्य न होने से बगुले और कौए की क्रीड़ा की कल्पना के समान सहृदय की वीतरागता ही होगी अर्थात् सहृदय भी वीतराग हो जायगा।

सिद्ध स्वभाव वाले पदार्थों का ही पदों से कथन होता है। जैसे 'भवनम्' यह 'अनुभवति' की तरह साध्य स्वभाव वाला भी है, यदि ऐसी बात है तो एक क्रिया रूप धर्मी में दो धर्म हैं। उनमें से किसी एक धर्म के द्वारा सङ्केत के अनुसार स्पर्श करने से द्वितीय धर्म का स्पर्श न होना दोनों में समान है, ऐसी बात नहीं है। यदि साध्यता क्रिया का जीवन है तो दो धर्म वाले धर्मी में किसी एक धर्म में पक्षपात क्यों?

---

१. क. (टि०) प्रतिमेषु।
२. क. शब्दास्पृष्टत्वेन। क-ख. शब्दस्पृष्टत्वे तान् विभावान्।
३. क. (टि०) चवीतरगतेव।
४. क. (टि०) बाह्यानामपि।
५ क. द्वितीयधर्मस्पर्शस्य।

न च सिद्धताधर्मोऽस्या नास्ति, तथात्वे वा कदाचिदपि कूलदर्शनं न स्यात् । भवनमिति [1]चारोपितगौणोप्रतिपत्तिः स्यात् । सापि [2]बलाबारोपस्थानस्य चानीतस्यैव केनापि शब्देनास्पृष्टत्वात् तस्मात्सिद्धाभिधायिना वा शृंगारादिशब्देन स्पृश्यत एव तदर्थः । [3]न तु सर्वो वक्ता कविरित्यतिप्रसङ्गिलक्षणप्रबन्धबन्धुरकाव्यनिर्मातृत्वं[4] हि कवित्वं, न चित्तवृत्ति प्रतिपादकत्वम् ।

यहाँ सिद्धता धर्म नहीं हैं, ऐसो बात भी नहीं है । क्योंकि वैसा मानने पर कभी भी कूल (किनारे) का दर्शन नहीं होगा अर्थात् कभी भी तीर पर नहीं पहुँच सकेंगे अथवा 'भवनम्' में आरोपित क्रिया को गौणो प्रतिपत्ति होगी और गौणो प्रतिपत्ति भी बलात् आरोप स्थान और आरोपित अर्थ की होती है । क्योंकि आरोप्यमाण अर्थ का किसी शब्द से स्पर्श नहीं है । अतः सिद्धाभिधायो शृङ्गारादि से उसके अर्थ का स्पर्श होता हो है और सभी वक्ता कवि हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि अतिव्याप्ति लक्षणों से रहित काव्यों के निर्माता ही कवि होता है, चित्तवृत्तियों का प्रतिपादन करने वाला कवि नहीं होता ।

विशेष—यहाँ 'भवनम्' में भू धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय हुआ है, जो भाव (साध्यता) का प्रकाशन करता है और वह भाव द्रव्य के समान होने से सिद्धता का भो प्रकाशन करता है । इस प्रकार 'भवनम्' क्रिया साध्य एवं सिद्ध दो धर्मों से युक्त है अर्थात् यह साध्य भो है और सिद्ध भी । दूसरे यह कि 'भवनम्' में आरोपित क्रिया की गौणी प्रतिपत्ति होती है, और गौणी प्रतिपत्ति भो आरोपस्थान और आरोप्यमाण की होती है क्योंकि आरोप्यमाण का शब्द से स्पर्श नहीं होता है । अतः शृङ्गारादि अथवा रसादि शब्दों से उस अर्थ का स्पर्श होता ही है, अब प्रश्न यह उठता है कि यदि रसादि सामान्य शब्दों तथा शृङ्गारादि विशेष शब्दों के अभिधान से रस की प्रतीति होने लगेगी तो 'त्वामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षि । रसो नः कोऽप्यजायत' अथवा 'तां निभाल्य सरोजाक्षीं शृङ्गारे मग्नमन्तरम्' इत्यादि वाक्यों में 'रस' तथा 'शृङ्गार' शब्दों के अभिधान से रस की प्रतीति होने लगेगी और ऐसी स्थिति में सभी वक्ता कवि हो जायेंगे, जबकि विभावादि के द्वारा रस-व्यञ्जक वाक्यों के निर्माता ही कवि होते हैं । उपरिनिर्दिष्ट 'तां निभाल्य सरोजाक्षीं शृङ्गारे मग्नमन्तरम्' इत्यादि में चित्तवृत्तियों का अभिधान है किन्तु वे विभावादि के द्वारा रस-व्यञ्जक नहीं है । अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने से रस लक्षण के लक्ष्य नहीं होते हैं । अतः सभी वक्ता कवि नहीं हो सकते, जो अतिव्याप्ति दोषों से रहित काव्यों का निर्माण कराता है वही कवि है । चितवृत्तियों को अभिधान करने वाला कवि नहीं होता ।

१. क. (टि०) वारोपिता । २. क. (टि०) बालाभावे बारोप ।
३. क. (टि०) न त्वसर्वो । ४. क. (टि०) निर्माणत्वं ।

यत्तु श्रृङ्गारादिशब्दाद्यवधिनं [1]प्रतीतिरित्युच्यते, तत्र सङ्केतस्मृतिं [2]मुक्त्वा नान्यद्व्यवधानं विघ्नः । विततलक्षणपौर्वापर्यविपाकोऽयमिति सङ्केतग्रहणे किं तथा-प्रतीतिः । एतेनान्वयाभावः प्रत्युक्तः । विभावादिभ्योऽपि [3]पूर्वकाव्यप्रक्रियापरिगत-मन्तरेण न रसादयः ।

अभिनव—और जो कहते हैं कि श्रृगारादि शब्दों के अभिधान में रस की प्रतीति नहीं होतो है, इसमें हम समझते हैं कि सङ्केत-स्मृति को छोड़कर अन्य कोई व्यवधान नहीं है, सङ्केत-स्मृति ही उस अर्थ की प्रतीति में व्यवधायक है। यह सब प्रसिद्ध रस लक्षण के पौर्वापर्य का परिणाम है। क्या सङ्केत-स्मृति (संकेतग्रह) के होने पर उस प्रकार रस की प्रतीति होगी ? इस कथन से अन्यथा का प्रत्याख्यान हो गया। विभावादि के द्वारा भी जहाँ रस की प्रतीति होती है वहाँ पर काव्य की पूर्ण प्रक्रिया जाने बिना विभावादि के द्वारा रस की प्रतीति नहीं होगी।

विशेष—अभिनवगुप्तवादाचार्य का कथन है कि जो लोग ऐसा कहते है कि श्रृङ्गारादि अथवा रसादि का शब्दतः उपात्त होने पर रस की प्रतीति नहीं होती है। हम तो समझते हैं कि सङ्केत-स्मृति को छोड़कर और कोई व्यवधान नहीं है। भाव है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में सङ्केत होता है वह शब्द उसी अर्थ को कहता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'तो निभाल्य सरोजाक्षीं श्रृङ्गारे मग्नमन्तरम्' में प्रथम श्रृङ्गार शब्द फिर श्रृङ्गार रूप अर्थ दोनों की स्मृति फिर उससे अर्थ की उपस्थिति होती है, तदनन्तर श्रृङ्गार रस का बोध होता है। ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि श्रृङ्गारादि शब्दों के उपादान में मध्य में श्रृङ्गारादि विषय सङ्केत स्मृति आवश्यक है किन्तु जहाँ पर विभावादि के द्वारा श्रृङ्गारादि रसों की प्रतीति होती है वहाँ श्रृङ्गारादि की स्मृति आवश्यक नहीं है।

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि श्रृङ्गारादि अथवा रसादि पदों का प्रयोग होने पर भी विभावादि-वर्णन के अभाव में रस की प्रतीति नहीं होती और विभावादि का वर्णन होने पर रसादि अथवा श्रृङ्गारादि पदों का प्रयोग न होने पर भी रस की प्रतीति होती है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः' (उसके रहने पर वह रहे) यह अन्वय है। यहाँ पर 'जहाँ जहाँ श्रृङ्गार शब्द है वहाँ वहाँ श्रृङ्गार रस की प्रतीति होती है, इस अन्वय का अभाव है। क्योंकि जहाँ विभावादि के संयोग से रस की प्रतीति होती है वहाँ श्रृङ्गारादि

१. क. (टि०) नाप्रतीतिः ।
२. क. (टि०) सङ्केतस्मृतिमुक्त्वा । ३. क. (टि०) परगमं ।

यथा—

उद्याने तु स्थितावेतावन्योन्यं ददतौ दृशम्।
मध्ये भुवं लिखन्तौ च प्राप्य सङ्गमसङ्गतौ ॥ इति।

तस्मादपूर्णत्वे[1] तुल्योऽन्वयाभावः।

यत्तूपाध्यायैः काव्यकौतुके रसोद्देशपरश्लोके—"तासां तु परिपूर्णत्वे सिद्ध एव रसो मतः" इत्यादिनिरूपितं तदुक्तान्यार्थतयैव न गृहीतव्यम् ॥ २ ॥

शब्दों के अभाव में भी रस को प्रतीति होती है, अतः यहाँ व्यभिचार दोष है। इस कथन का प्रत्याख्यान हो गया। क्योंकि विभावादि के संयोग-स्थल में शृङ्गारादि शब्दों का उपादान न होने पर भी रस की प्रतीति होती है, किन्तु शृङ्गारादि शब्दों के उपादान होने पर भी विभावादि के अभाव में रस की प्रतीति नहीं होती, यह अर्थ कहाँ से निकलता है। हमतो कहते हैं कि विभावादि के संयोग से भी जहाँ पर रस की प्रतीति होती है वहाँ पर भी काव्य की पूर्ण प्रक्रिया जाने बिना विभावादि के संयोग से रसादि को प्रतीति नहीं होगी।

जैसे—

अभिनव—"उद्यान में स्थित वे दोनों नायक और नायिका परस्पर एक दूसरे पर दृष्टि (आँखें) गड़ा दी है और दोनों के बीच की भूमि पर लिखते हुए दोनों सङ्ग (नाथ) को पाकर भी सङ्गत नहीं हुए अर्थात् मिल नहीं सके।"

यहाँ पर नायक-नायिका दोनों आलम्बन विभाव है एकान्त-स्थान, उद्यान उद्दीपन विभाव है, परस्पर एक दूसरे के ऊपर आँखें गड़ाना आदि अनुभाव है, तथा भू-लेखन, चिन्ता का विषय होने से चिन्ता व्यभिचारीभाव है। यहाँ पर विभावादि के रहते हुए भी रस की प्रतीति में प्राधान्य नहीं है। प्रस्तुत प्रकरण में सङ्कल्प कारणों के होते हुए भी मिलन रूप कार्य नहीं होता है, अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है। अतः काव्य की पूर्ण प्रक्रिया के अभाव में विभावादि के रहने पर भी रस की प्रतीति नहीं हो रही है, अतः अन्वय का अभाव दोनों जगह समान है।

अभिनव—और जो उपाध्याय जी ने अपने काव्य-कौतुक ग्रन्थ में रसोद्देश-परक श्लोक में—'**तासां तु परिपूर्णत्वे सिद्ध एव रसो मतः**' अर्थात् 'उन प्रक्रियाओं की परिपूर्णता में रस तो सिद्ध ही है, इत्यादि को भिन्न अर्थ के रूप में ग्रहण नही करना चाहिए ॥ २ ॥

१. क. (हि०) तस्मादपर्यन्ते।

नन्वेवं रससूत्रे शब्दोऽप्युपादातव्यः ? तदिदमायातं—उत्सङ्गसङ्गिनि बालके तदन्वेषणमिति । अत्र भावोपादाने हि किं न संगृहीतम् । यदयमाह—अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वकृतः" इति (७-४) । आवृत्त्या चान्वयः वागित्यादिष्वेव छेदः । तद्यदि [1]वाग्भवति तदैताम्यर्थं व्यञ्जयन्ति, वाक्यहतानि [2]स्वार्थं व्यञ्जयन्ति एकतस्त्र्यात्मकतश्च वागिति समासयोगेनाह । सैवेयमुपायोगिनी किन्तु चतुर्थगोपायभूता परमपुरुषार्थस्वभावा विश्वकारणभूता भगवती भारतीत्याह वाङ्मयानीति ।

अभिनव—इस प्रकार शृङ्गारादि एवं रसादि शब्दों का उपादान करने पर भी यदि रस की प्रतीति हो सकती है तो रससूत्र में शब्द का भी उपादान करना चाहिए था । इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि 'बालक की गोद में स्थित होने पर भी उसका खोज करना, यही उसका अर्थ है । क्या भावों का उपादान करने पर उसका संग्रह नहीं हुआ ? जो यह कहते हैं कि—"वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों का जिससे अनुभावन होता है, उसे 'अनुभाव' कहते हैं ।" यहाँ वाक्, अङ्ग सत्त्व ये तीन खण्ड है, फिर आवृति करके इनका अन्वय होता है । इसलिए यदि वाणी से (वाचिक) अभिनय होता है तो ये अङ्गादि भी अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् वाणी के साथ ये अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं अर्थात् एक साथ मिलकर अर्थ को व्यक्त करते हैं और तीनों अलग-अलग अर्थ को भी अभिव्यक्त करते हैं, वागङ्गसत्त्व में समास का योग होने से ऐसा कहा है कि ये एकतः और त्र्यात्मक रूप से अर्थात् ये वाणी ने साथ मिलकर अपने अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं । यह भगवती वाणी उपयोगिनी है किन्तु यह भगवती चतुर्थगोपायभूत अर्थात् चतुर्थ मोक्ष को उपायभूत, परमपुरुषार्थ मोक्ष के स्वभावरूपा और विश्व के कारणभूता है, इसा बात को 'वाङ्मयानीह' इत्यादि के द्वारा कहते हैं—

---

१. क. (टि॰) वा भवति ।
२. क. (टि॰) सार्थं ।

[1]वाङ्मयानीह शस्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च ।
तस्माद्वाचः परं नास्ति [2]वाग् हि सर्वस्य कारणम् ॥ ३ ॥

इह भावानां सत्तासंबन्धनिजलक्षणार्थक्रियाकारित्वाविकृतं यत्सत्त्वं तत्प्रधानकबोधत्वभूतं शपथशरणं, तस्य बोधस्य पारमैश्वर्यं स्वातन्त्र्यं प्रत्यवमर्शात्मकमेव जडवैलक्षण्यदायीति विभक्तमस्मत्परमगुरुपादैः प्रत्यभिज्ञादौ, अस्माभिश्च तद्विवरणे भेदवादविदारणादौ च । एवं वागेवावभासिका । सैव च निर्वाहिकी अवभासनैव हि परमार्थतो निर्वाणम् । तदाह वाग्घि सर्वस्येति ।

अनुवाद—इस संसार में सभी शास्त्र वाङ्मय है और वाङ्निष्ठ अर्थात् वाणी पर ही आधारित है । अतः वाणी से बढ़कर विश्व में कुछ भी नहीं है, क्योंकि वाणी ही समस्त विश्व का कारण है ॥ ३ ॥

विशेष—वाणी की महत्ता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि इस संसार में समस्त शास्त्र समस्त वाङ्मय वाङ्निष्ठ है अर्थात् वाणी पर ही आधारित हैं । यह वाणी ही समस्त विश्व की अधिष्ठात्री देवी है, यही वाणी समस्त लोकों की उत्पादिका, शासिका और मोक्ष की उपायभूता ज्ञानमयी सर्वज्ञा है, यह वाक् समस्त, लोकों में सर्वत्र अनेक रूपों से व्याप्त है और समस्त जगत् का कारण है । सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया इसी वाक् (वाणी) का स्फुरण है । यह समस्त ज्ञान, समस्त विद्याओं को अवभासिका है, समस्त विश्व वाणी का ही विवर्त्त है, यह कारणरूप है और समस्त विश्व, समस्त शास्त्र, समस्त वाङ्मय इसके कार्यरूप में अवभासित होते हैं ॥ ३ ॥

अभिनव—यह वाक् भावों की सत्ता से सम्बन्धित, निजलक्षण-स्वरूप अर्थक्रियाकारित्व आदि से जन्य जो सत्त्व, तत्प्रधान अर्थात् सत्त्व प्रधान बोध (ज्ञान) रूप शतपथ शरण अर्थात् सैकड़ों मार्ग वाला बोध है, उस बोध (ज्ञान) का पारमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य प्रत्यवमर्शात्मक है, यह जड़ पदार्थो में बिलक्षणता को प्रदान करने वाला है, इसलिए हमारे परम गुरुजी ने इसे प्रत्यभिज्ञा का एक विभाग माना है और हमने भी उसके विवरण में तथा भेदभाव के खण्डन में बतलाया है । इस प्रकार वाणी ही समस्त विश्व को अवभासिका है, और वही निर्वाहिका भी हैं, वस्तुतः वह अवभासना ही निर्वाण है, इतीलिए कहते हैं कि वाणी ही समस्त विश्व का कारण है ।

१. क-भ. वाङ्मयानि तु ।   २. क. वाग्घि । क-न. वाग्भिः ।

वागेव विश्वाभुवनानीति श्रुतेः शब्दविवर्ताविरूपत्वं च प्रसाधितं तत्र भवद्भिर्भर्तृहरिप्रभृतिभिरिति [1]तदिहानुसरणीयम्। सर्वाकरत्वे च वाचः 'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितमिति' (अ १९।१) यद्वक्ष्यते तन्न विरुद्धं, तस्यापि वाङ्मयत्वादिति तत्रैव निर्णेष्यते ॥ ३ ॥

श्रुति भी कहती है कि वाणी ही समस्त विश्व, समस्त लोकों का कारण है (**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे**) इस श्रुति के अनुसार समस्त विश्व शब्द (वाणी) का ही विवर्त्तरूप है। श्रीमान् भर्तृहरि प्रभृति आचार्यों ने इसी सिद्धान्त को मान्य किया है, उसी का यहाँ अनुसरण करना चाहिए। जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं प्रवर्त्तितम् ॥ १ ॥

इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो कालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनम् ॥ ३ ॥

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ ४ ॥

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ ५ ॥

सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ ६ ॥

यह वाणी सर्वाकार है, विश्वरूप है, इसीलिए इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया है (**इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्त्तितम्—१९।१**), ऐसा जो कहा जायगा, उसके विरुद्ध नहीं है। क्योंकि इतिवृत्त भी वाङ्मय ही है। इसका निर्णय आगे वहीं पर करेंगे ॥ ३ ॥

१. वाक्यदीय आगमकाण्डे 'शब्दस्य परिणामोऽयं' इत्यस्य षट्कारिकासु वाचः सर्वस्वकारणत्वं प्रतिपादितं भर्तृहरिणा स्ववृत्तौ प्रपञ्चितं च।

तत्र शास्त्रान्तरप्रसिद्धानपि रसाङ्गत्वेन कविशिक्षार्थं नटस्य च तत्र तत्राभिनेये विश्रान्तिकरानितिकर्तव्यतयोपदेशार्थमागमान् निर्दिशति आगमेत्यादि ।

विमर्श—अभिनवगुप्त के अनुसार वाणी की सत्ता का स्व-स्वरूप-लक्षण अर्थक्रिया-कारित्व रूप सत्त्व-प्रधान बोध (परामर्श, ज्ञान) का पारमैश्वर्य अर्थात् परमतत्त्व का ऐश्वर्य स्वातन्त्र्य प्रत्यवमर्शात्मक है । भाव यह कि परमतत्त्व परमेश्वर अपने ऐश्वर्य से अनेक रूपों में स्फुरित होता हुआ भी स्वयं अखण्ड रहता है । उस परमेश्वर की इच्छा का प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है और स्वातन्त्र्य ही परमेश्वर की पराशक्ति है । वह पराशक्ति वाग्रूपा है जो परमेश्वर से विलग नहीं है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः)। वह वाग्रूपा शक्ति ही स्वेच्छा से समस्त विश्व एवं समस्त लोकों का सृजन करती है । वह वाक् समस्त विश्व की अधीश्वरी ज्ञानरूपा है, वह विविध रूपों में विचरण करती हुई सर्वत्र व्याप्त है । परमशिव जब विश्वविकास की ओर प्रस्फुरित होता है तो उसे सर्वप्रथम 'अहं' का बोध होता है । इसके 'अहं' में 'अ' समस्त वर्णों में अग्रच प्रकाशरूप अनुत्तर शिव का बोधक है और 'ह' विमर्श शक्ति का उद्बोधक है। यह विमर्श-शक्ति 'अहं' के रूप में 'परावाग्' कहलाती है । यह विन्दु युक्त 'अहं' ही समस्त विश्व का आधार है । इसी से समस्त जगत् प्रसूत होता है और इसका प्रसार ही जगत् के रूप में अवभासित होता है। इस प्रकार यह वाग् ही समस्त विश्व को अवभासिका एवं निर्वाहिका है । और यह अवभासना ही वस्तुतः निर्वाण है । यह विश्व उस वाक् का विवर्त्त है । वस्तु का पूर्वावस्था छोड़े बिना अर्थात् अपने स्वरुप को त्याग किये बिना दूसरे रूप में अवभासित होना विवर्त्त है (**अतत्त्वतोऽन्यथा विवर्त्त इत्युदीरितः**) । इस प्रकार यह वाक् ही विश्व के रूप में अवभासित होती है, इसलिए इसे समस्त विश्व की अवभासिका कहा गया है । भर्तृहरि ने भी कहा हैं कि यह विश्व शब्द का ही परिणाम है । शब्द से ही यह विश्व विवर्त्तित है, यह विश्व शब्द का ही विलास है । इसी को शब्द ब्रह्म कहा गया है । इसीलिए शब्दरूप इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया हैं। अतः वाणी के विषय में यत्न करना चाहिए (**वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यः**) । इसी तथ्य को भर्तृहरि ने वाक्यदीय में विस्तार से वर्णन किया है ॥ १ ॥

अभिनव—विभिन्न शास्त्रों में प्रसिद्ध आगमशास्त्र का रस का अङ्ग होने के कारण कवियों की शिक्षा के लिए और नटों को अभिनय में विश्रान्ति देने वाले इतिकर्त्तव्यता के रूप में उपदेश के लिए निर्देश देते हैं—

[1]आगमनामाख्यातनिपातोपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः ।
[2]सन्धिवचनविभक्त्युपग्रहनियुक्तो वाचिकाभिनयः[3] ॥ ४ ॥

अर्थद्वारेण रूपसौन्दर्येण चैषामुभयथा च योगः, क्षुभितं मह्यमिदं मे, क्षुब्धमिति मन्थेः प्रतीतिः स्यात् । अर्थभेदेऽपि स्वरूपसौन्दर्यं सार्वत्रिकं, विषयभेदेन च 'अस्यन्दिष्यन्त सिन्धवः' इति हि कर्तव्ये 'अस्यन्दिष्यन् सर्वे सिन्धवः' इति दुर्भणम्, अश्रवम् च, 'भक्ष्यं भक्षति वक्षसः क्षतमहो यद् वेपते क्लीबितम्' इति—अत्र रौद्रे भोक्ष्यतीति हृद्यम् । अत्र 'लोचने कदा संमार्जिष्यति' इति, न तु कदा संमार्क्ष्यतीति । एवं वैकल्पिकेऽपि आगमे सौन्दर्यात् ।

अनुवाद—यह वाचिक अभिनय आगम, नाम (संज्ञा शब्द), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग, निपात, समास, तद्धित, सन्धि, वचन, विभक्ति तथा उपग्रह (लिङ्ग-ज्ञान) से युक्त होता है ॥ ४ ॥

अभिनव—अर्थों के द्वारा और रूपसौन्दर्य के द्वारा इनका दोनों प्रकारों से योग हैं। 'मेरे लिए यह क्षुभित है, अथवा 'क्षुब्ध' है। इस प्रकार यहाँ क्षुभित और क्षुब्ध दोनों प्रयोग देखे जाते हैं किन्तु क्षुब्ध कहने पर मन्थन की प्रतीति होती है। यहाँ दोनों में अर्थभेद होने पर भी स्वरूप-सौन्दर्य सर्वाधिक है। अतः विषय-भेद से 'अस्यन्दिष्यन्त सिन्धवः' इसके स्थान पर 'अस्यन्दिष्यन् सिन्धवः' ऐसा कहना कठिन है और अश्रव भी है अर्थात् सुनने योग्य नहीं है। और 'भक्ष्य भक्षति वक्षसः क्षतमहो यद् वेपते क्लीबितम्' अर्थात् 'वक्षःस्थल के क्षत भक्ष्य को खाता है, किन्तु जो कांपता है, वह नपुंसकता है'। यहाँ रौद्र रस में 'भक्षति' के स्थान पर 'भक्ष्यति' प्रयोग ही है, और 'लोचने कदा संमार्जिष्यति' अर्थात् 'आँखों का सम्मार्जन कब करेंगे' यहां पर 'संमार्जिष्यति' यह प्रयोग तो हृद्य है। 'कदा संमार्क्ष्यति' यह प्रयोग तो कभी भी ठीक नहीं है, यहाँ इडागम वैकल्पिक है, फिर भी सौन्दर्य के अनुसार प्रयोग हाना चाहिए।

---

१. क. नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमासनिर्वर्त्यः ।
   ख. ग. नामाख्यातनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः ।
   क. (टि०) आममनामाख्यातोपसर्गतद्धितनिपातसन्धिव्रतः ।

२. क. सन्धिविभक्तिनियुक्तो विज्ञेयो वाचिकाभिनयः ।
   ख. ग. सन्धिविभक्तिषु युक्तो विज्ञेयो वाचिकाभिनयः ।
   क. (टि०) सवचनविभक्त्युपग्रहनिर्वर्त्यो वाचिकाभिनयः ।

३. क. (टि०) वाचिकोऽभिनयः ।

[1]अभावपक्षे वा ।

आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवम्
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत् ।
हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम् ॥

इति सुव्यक्तमेव । एकान्त्संप्रतीतिनश्चेति धुटोऽसत्त्वपक्ष एव । आगमेनादेशोऽप्युपलक्ष्यते । मुग्धाशब्दस्थाने न मूढाशब्दः प्रयोगार्हः ।

नाम यथा मदनरिपुरिति भगवत्पर्यायश्चेति तदीयश्रृङ्गारवर्णने न प्रयोज्यम् ।

अथवा अभाव पक्ष में—

आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत् ।
हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम् ॥

यहाँ पर सब सुस्पष्ट है । और 'एकान्त्सप्रतीतिनः' इस प्रयोग में 'एकान्' और 'प्रतीतिनः' को मिलाकर जब प्रयोग करेंगे तो यहाँ 'धुट्' का आगम होकर 'एकान्त्सप्रतीतिनः' प्रयोग बनता है । किन्तु यह पक्ष सुवाच्य नहीं है । यहाँ 'धुट्' का असत्त्व पक्ष ही हृद्य है । आगम शब्द आदेश का उपलक्षण है, अतः मुग्ध शब्द के स्थान पर मूढ़ शब्द का प्रयोग उचित नहीं है ।

नाम इति—जैसे 'मदनरिपु' यह नाम अर्थात् संज्ञा वाचक शब्द है और कामारि शिव का पर्याय भी है । अतः श्रृङ्गार के वर्णन में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । क्योंकि जो काम का अरि (शत्रु) है वह श्रृङ्गारी कैसे हो सकता है ? इस प्रकार यहाँ अनौचित्य दोष है और अनौचित्य से बढ़कर रस-भङ्ग का और दूसरा कारण नहीं है ।

नानौचित्यादृते कश्चिद् रसभङ्गस्य कारणम्

अतः श्रृङ्गार रस के वर्णन में 'मदनरिपु' इस नाम का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

१. क. अभावपक्षो । क. (टि०) अभावलक्षो ।

आख्यातमपि किन्तु यद्वैचित्र्यमावहति (तत्प्रयोज्यम् यथा)—

[1]"स्मरसि स्मर मेखलागुणै:' इति वर्तमानप्रत्ययेन [2]तत्साक्षात्करणमुपालम्भ-विषयता, त्वमेवात्र साक्षी अनृतं न प्रकटितं, अन्यथा स्मृतवानिति मेखलागुणैरिति स्यात् ।

उपसर्गोऽपि प्रकृतार्थयोगी यथा—विधिना तव निर्मितिः कृता इत्यर्थे न मितिः ।

अधिकद्योतको यथा—मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते[3] इति ।

आख्यात इति—वैचित्र्य के आधान में ही क्रिया पद (आख्यात) प्रयोज्य है, प्रयोग इष्ट है । यथा—

स्मरसि स्मर ! मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
च्युतकेसरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताड़नानि वा ॥

(कुमारसम्भव ४।८)

यहाँ पर 'स्मरति' यह क्रिया वैचित्र्य का आधान करती है । भाव यह कि नायिका नायक से कहती है कि याद है कि गोत्रस्खलन करने पर मैंने तुम्हे करधनी से बाँधा था, केसर के पराग से तुम्हारी आँखों को दूषित किया था और कर्णावतंस से ताड़ित किया था, क्या उसे तुम याद कर रहे हो ? यहाँ पर वर्तमानकालिक लट् लकार के प्रयोग से बन्धन का साक्षात्करण अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो, इस प्रकार उपालम्भ की विषयता प्रतीत होती है । तुम्ही साक्षी हो, मैंने कोई झूठ तो नहीं कहा ! अन्यथा 'स्मृतवानसि मेखलागुणै:' इस प्रकार का पाठ होता ।

उपसर्ग इति—उपसर्ग भी प्रकृत अर्थ से योग सम्बन्ध रखने पर प्रयोज्य होता है, अन्यथा नहीं । जैसे—**'विधिना तव निर्मितिः कृता'** (ब्रह्मा जी ने इस काम के लिए तुम्हारी निर्मिति की है) । यहाँ पर 'निर्' उपसर्ग ब्रह्मा की सृष्टि से सम्बन्ध रखता है, अतः 'निर्मितिः' पद उपयोगी है । इस अर्थ में 'मितिः' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त है ।

१. स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्वम् ।
च्युतकेसरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताड़नानि वा ॥ (कुमारसम्भवे ४१८ ।

२. तत्साक्षात्कारेणोपालम्भविषयता ।

३. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे-
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमे नौ कृतान्तः ॥ (मेघदूत उत्तरार्द्ध–४४)

उपसर्गैः कर्मप्रवचनीया अप्युपलक्ष्यते (यथा) "कः स्यादर्जुनात् प्रति", विचितो नास्तीति पुनरेव स्यात्। अर्जुनकृते विचितमिति।

मीमांसते हृदयमात्मन एव बाला।
नाम्नापि मानकलनां सहते न जातु॥

न तु चित्तं विचारयत्यामान एवेति। एवं सुब्धातुप्रत्ययपदं न तत्सुकृत्सु वाच्यं गौरवभयात्तु नोदाहृतम्।

स्त्रीप्रत्ययो यथा—'अध्यासीनः स वैदग्धी कृतीति न तु वैदग्ध्यं कृतीति; स्त्रीप्रत्ययेन सौभाग्यातिशयप्रतीतेः।

अधिक अर्थ के द्योतक उपसर्ग का उदाहरण है। जैसे—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे-
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥
(मेघदूत उत्तरार्द्ध ४५)

यहाँ 'उपचितैः' में 'उप' उपसर्ग का प्रयोग अधिक अर्थ द्योतित करता है।

अभिनव—उपसर्ग पदों के द्वारा कर्मप्रवचनीय का भी उपलक्षण हो जाता है। जैसे—"**कः स्यादर्जुनात्प्रति**" (अर्जुन का प्रतिनिधि कौन है?)। यहाँ पर "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः" सूत्र से प्रतिनिधि अर्थ में प्रति के योग में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। इसलिए 'अर्जुनात्' ये पञ्चमी विभक्ति हुई है।

"बाला अपने हृदय से मीमांसा करती है, क्योंकि मान करने अर्थात् रूठने का तो नाम ही नहीं ले रही है।"

यहाँ पर बाला हृदय में ही मीमांसा करती है, अपने चित्त की नहीं। इस प्रकार सुब्धातु से प्रत्यय करने पर निष्पन्न शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। गौरव के भय से उन प्रत्ययों का उदाहरण नहीं दिया है।

स्त्रीप्रत्यय का उदाहरण—जैसे, "**अध्यासीनः न वैदग्धीं कृती**" अर्थात् वह व्यक्ति पद पर आसीन होकर वैदग्धी क्रिया को करके कृती हैं। यहाँ पर इस प्रकार के प्रयोग से सौन्दर्यातिशय द्योतित होता है। उसके स्थान पर 'वैदग्ध्यं कृती' प्रयोग करने में सौन्दर्य नहीं है। स्त्रीप्रत्यय (वैदग्धी कृती) के प्रयोग से सौन्दर्यातिशय की प्रतीति होती है।

तद्धितपदं तद्धितप्रत्ययोपलक्षणम् तद् यथा—"[1]शात्रवं व पपुर्यशः" इति न तु शत्रूणां वेति; तद्धितवृत्त्या ह्येकार्थीभावान्वयात् तद्ग्रासीकृतमपि यशस्ते स्वयं-ग्राहीचक्रुरित्यर्थः।

निपातो यथा—"[2]हा हा हा देवि घोरा भव"।

तद्धितपद यहाँ तद्धितपद तद्धित प्रत्यय का उपलक्षण है। तद्धित प्रत्यय का उदाहरण-जैसे—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिता पानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं व पपुर्यशः॥ (रघुवश ४।४२)

"पर्वत पर मद्यपान के लिए स्थान बनाकर योद्धाओं ने शत्रुओं के यश के समान नारियल के आसव(मद्य) को नागवल्ली के पत्तों में पिया।"

वहाँ पर 'शात्रवं व' पाठ ही ठीक है 'शत्रूणां व' यह पाठ उचित नहीं है। क्योंकि 'शत्रूणामिदम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होकर 'शात्रवं' प्रयोग बनता है। क्योंकि तद्धितवृत्ति के द्वारा एकार्थीभाव होकर पदार्थों के साथ उसका अन्वय होता है। तद्धित वृत्ति के द्वारा ग्रासीकृत यश को स्वयं ग्रहण कर लिया।

निपात इति, जैसे—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि! धीरा भव॥
(उत्तररामचरित)

यहाँ पर 'ह हा हा' ये निपात तीव्र खेद को प्रकट करते हैं।

१. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं व पपुर्यशः॥ (रघु० ४।४२)

२. स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः।
वाता शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः॥
कामं सन्तु कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हा हा हा देवि घोरा भव॥ (उत्तरामचरिते)

सूचकः—आः ? किमत्र किरातैर्यत्र वान्ति वर्षानिला विशेषेण निरङ्कुशा इति।

समासेन एकार्थीभावे यत्र सति वृत्तम्'''यथा—मध्येगङ्गायमुनमनु (नेति ?) न तु मध्ये गङ्गायमुनयोरिति। [1]एवं समासान्तरेषु वाच्यम्। शुद्धेषु संकीर्णेषु चागमावयो निवृत्यन्ता[2] विद्यन्ते यत्रेति मत्वर्थीये च।

सन्धिर्द्विधा नैरन्तर्यरूपः श्लेषश्च—भवतोयेति। विपर्ययेण [3]नैरन्तर्यं असिद्धता[4] तत्रास्थिरा इति श्लेषे बीभत्साश्लीलने। सूत्रं ब्राह्ममिति पृथगपि द्विश्रुतिः, सङ्ग पवयोः, नैकपदवत्ता, ब्रह्मसूत्रमित्यनुस्वानस्योत्तरसंक्रान्तिव्यतिरेकेण [5]चात्मनि विश्रावयितुमशक्यत्वादेकपदवद्भावः।

सूचक कहता है—आः यहाँ किरातों से क्या प्रयोजन ? जहाँ वर्षा ऋतु की हवा निरङ्कुश होकर विशेष रूप से बह रही है।

समास के द्वारा एकार्थीभाव में—जैसे—'मध्ये गङ्गायमुनमनु'। यहाँ 'मध्ये गङ्गायमुनयोः' यह प्रयोग ठीक नहीं है। इसो प्रकार अन्य समासों में भो समझना चाहिए। इसो प्रकार शुद्ध और सङ्कीर्ण वृत्तियों में जहाँ आगम आदि निवृत्ति पर्यन्त रहते हैं और मत्त्वर्थीय प्रत्ययों में भो समझना चाहिए।

सन्धिरिति—सन्धि दो प्रकार की होती है—नैरन्तर्यरूप और श्लेषरूप। जैसे—भवतोया' में विपर्यय करने पर 'या भवतः' नैरन्तर्य में असिद्धता है। श्लेषरूप सन्धि में जैसे—तत्र+अस्थिरा=तत्रास्थिरा। बीभत्स+अश्लीलने=बीभत्साश्लीलने। 'ब्रह्मसूत्रम्' इसमें दो पदो का सङ्ग है। यहाँ एकश्रुति है। अतः एकपदवत्ता है। 'सूत्रं ब्राह्मं' ऐसा अलग-अलग कहने पर दो पदों का सङ्ग है, द्विश्रति है, अतः एकपदवद्भाव नहीं है। इसी को आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं—'ब्रह्मसूत्रम्' में अनुस्वान अर्थात् उच्चारण किये गये ब्रह्म पद को सूत्र में सङ्क्रान्त किये बिना आत्मा के विषय में प्रख्याति करना अशक्य है, इसलिए यहाँ एकवद्भाव है। भाव यह कि आत्मविषयक सिद्धान्तों के प्रतिपादक सूत्र को 'ब्रह्मसूत्र' कहते हैं।

१. क. (टि०) गङ्गारचितनयनयोरिति।
२. क. (टि०) अनिच्छन्ना।
३. क. (टि०) विपर्ययौ।
४. क. (टि०) असिलता।
५. क. (टि०) भस्मनि।

विभक्तयः सुप्तिङः, तैः कारकशक्तयो लिङ्गाद्युपग्रहाश्चोपलक्ष्यन्ते । यथा—

दाहोऽम्भः प्रसृतिंपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः कम्पितदीपवर्तिलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्त्तते ॥

(विशालसिद्धभञ्जिका)

इति वपुष्येव मज्जनकर्तृकत्वं तदायत्तां पाण्डिम्नश्चाधारतां द्योतयन्नतीव रञ्जयति, न तु पाण्डुस्वभावं वपुरिति । एवं कारकान्तरेषु वाच्यम् ।

वचनं यथा—"पाण्डवा यस्य दासाः" सर्वे च पृथक् चेत्यर्थः ।

विभक्तियां सुप् और तिङ् हैं। इनसे कारकशक्ति और लिङ्गादि का उपग्रह उपलक्षित होता है। जैसे—

दाहोऽम्भः प्रसृतिंपचः, प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः कम्पितदीपवर्त्तिलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रानिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥

(विशालसिद्धभञ्जिका ६।२१)

यहाँ पर 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' में शरीर पाण्डिमा 'पाण्डुरता' में डूब गया है। यहाँ पर शरीर मज्जन (डूबना) क्रिया का कर्त्ता बताया गया है। उसके अधीन पाण्डिमा (पाण्डु) का आधार द्योतित करता हुआ वह अत्यन्त रञ्जक हो गया है। यहाँ शरीर की पीलिमा (पीलापन) नहीं कहा है। इसी प्रकार अन्य कारकों में भी करना चाहिए।

वचन का उदाहरण जैसे—

कर्त्ता धूतच्छलानां जतुमयशरणोद्योतनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य भिन्नं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥ (वेणीसंहार)

यहाँ पर 'पाण्डवाः' में उपात्त बहुवचन से यह सिद्ध होता है कि सभी पाण्डव पृथक् पृथक् भी दास हैं।

१. कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥ (वेणीसंहारे)

तथा वैचित्र्येण "त्वं हि रामस्य द्वारा किम्" "मैथिली तस्य द्वारा:"
लिङ्गाद्य्‌पग्रहः, यथा—
कीर्तिस्तव श्वेतेति न तु श्वेतं यशस्तवेति ।
कुरुते भुजशालिनः श्रेयम् । न तु कुर्वते भुजशालिनि पुंस्वं लिङ्गम् ।
[1]परिमृदितमृणालीकोमलान्यङ्गकानि ।

वैचित्र्य के द्वारा जैसे—

"त्वं हि रामस्य दाराः किम् ?" "मैथिली तस्य दाराः ।

अर्थात् 'तुम राम की दारा हो, क्या ?' 'मैथिली (जानकी) उसकी दारा है ।' यहाँ पर 'त्वं' (तुम) और मैथिली' एकवचन और 'दाराः' बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त वैचित्र्य है, वैचित्र्यकारक है ।

लिङ्गादि उपग्रह का उदाहरण-जैसे—

"कीर्तिस्तव श्वेतेति न तु श्वेतं यशस्तव ।
दानादिप्रभवा कीर्त्तिः शौर्यादिप्रभवं यशः ॥

"तुम्हारी कीर्त्ति श्वेत है, तुम्हारा यश श्वेत नहीं है । क्योंकि कीर्त्ति दानादि के प्रभव है और यश शौर्यादि प्रभव होता है" । यहाँ पर दानादिप्रभवा श्वेता कीर्त्ति स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया है, 'तुम्हारा यश श्वेत है' (यशः श्वेतं) नपुंसकलिङ्ग का उपादान ठीक नहीं है । यहाँ 'कीर्त्ति' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग ही उचित है ।

उपग्रह का अन्य उदाहरण—जैसे 'कुरुते भुजशालिनः श्रेयम्' यहाँ पर 'कुरुते' का प्रयोग है 'कुर्वते' का नहीं । यहाँ 'भुजशालित्व' पुरुष का लिङ्ग है। अन्य उदाहरण-जैसे—

अलसवलितमुग्धान्यध्वसंपातखेदा-
न्यशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणाली कोमलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ (उत्तररामचरित १।२४)

यहाँ पर नपुंसक लिङ्ग का उपन्यास यह सूचित करता है कि तुम्हारे अङ्ग न तो उपमर्दक्षम हैं न उपभोगक्षम । अपितु कृश एवं कोमल हैं ।

१. अलसललितमुग्धान्यध्वसंपातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीकोमलान्यङ्गकानि-
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ (उत्तर १।२४)

आसमन्ताद् वैचित्र्यं यथा—

[1]'आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्माऽऽसवः ।

नियुज्यते क्रियायामिति नियुक्तो धातुः तस्य वैचित्र्यं यथा—

"ग्रस्तं कुलान्तं जगत्" न तु भुक्तम् । ग्रसतेरदनमात्रे परिभाषितेऽपि ग्रासातिशयसंरम्भः कुलान्तेऽत्र वर्त्तते । पूर्ववदत्रापि द्वन्द्वान्मत्वर्थीयः । एतदेवोपजीव्यानन्दवर्धनाचार्येणोक्तं "सुप्तिङ्वचने" त्यादि । अन्यत्रापि सुबादिवक्रतेति ॥ ४ ॥

आसमन्तात् वैचित्र्य का उदाहरण जैसे—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुयं वपुस्ते दृशौ
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः ।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि ! वेधसस्त्रिजगतीसारं त्वमेकाकृतिः ॥

यहाँ पर नायिका हर प्रकार की विचित्रताओं से सम्पन्न है, अतः यह आसमन्तात् वैचित्र्य का उदाहरण है ।

क्रिया में जिसका नियोग किया जाता है वह धातु है उसका वैचित्र्य जैसे—

'ग्रस्तं कुलान्तं जगत्' यहाँ पर 'ग्रस्त' पद का उपन्यास है, 'भुक्त' पद को नहीं यहाँ 'ग्रसति' पद से यद्यपि भक्षण मात्र को परिभाषित किया है तथापि यहाँ 'कुलान्त' के विषय में ग्रासातिशय है । यहाँ भी कुलान्त में पहिले द्वन्द्व समास है (कुलं च अन्तश्च = कुलान्तम्), फिर द्वन्द्व के बाद मत्वर्थीय अच् प्रत्यय है । (कुलान्तमस्मिन्नस्तीति' इस विग्रह में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय होता है । इसी को उपजीव्य बनाकर आनन्दवर्धनाचार्यने कहा है —

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथाकारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसामसैश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥

(ध्वन्यालोक ३।१६)

इस प्रकार अन्य स्थलों पर भी सुबादिवक्रता कहनी चाहिए ॥ ४ ॥

---

१. केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुर्यं वपुस्ते दृशौ-
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः ।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः-
सव्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारं त्वमेकैकाकृतिः ।

द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा[1]।
[2]तयोर्विभागं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ५ ॥
व्यञ्जनानि स्वराश्चैव सन्धयोऽथ विभक्तयः।
नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा ॥ ६ ॥
[3]एतैरङ्गैः समासैश्च नानाधातुसमाश्रयम्[4]।
विज्ञेयं संस्कृतं पाठ्यं प्रयोगञ्च [5]निबोधत ॥ ७ ॥

इत्येवं दशभिरङ्गैर्विभज्य कवितावाचकशब्दनिष्ठो व्यवहार उक्तः। [6]स्थान-प्रयत्नादिज्ञानञ्च कवेर्गाढशिथिलमसृणपरुषादिगुम्फविशेषविभागायोपदिष्टं न च तस्य सम्यगुच्चारणोपदेशाय। वर्गश उपादानं सावर्ण्येन प्रबन्धसौन्दर्यज्ञानार्थं यथा—

दत्तानन्दं धनिनमनुसरन् वृतिधनः।

इस प्रकार आगमादि दस अङ्गों के द्वारा कविता के वाचक शब्दनिष्ठ व्यवहार को विभक्त करके कहा है। स्थान (कण्ठादि स्थान) और प्रयत्न आदि के ज्ञान का उपादान कवियों के गाढ़, शिथिल, कोमल और कठोर आदि गुम्फ विशेष के विभाग के लिए उपदेश दिया है, उसके सम्यग् उच्चारण के उपदेश के लिए उसकी उपादान नहीं किया है। वर्गशः उपादान सवर्णता अर्थात् वर्णों की समान वर्णता से होने वाले प्रबन्ध के सौन्दर्य ज्ञान के लिए है। जैसे—

'दत्तानन्दं धनिनमनुसरन् वृत्तिधनः'।

इत्यादि में न की सवर्णता है।

अनुवाद—पाठ्य दो प्रकार का कहा गया है—संस्कृत और प्राकृत। अब मैं क्रमशः उन दोनों के विभाग को विधिपूर्वक कहूँगा ॥ ५ ॥

अनुवाद—व्यञ्जन, स्वर, सन्धि, विभक्ति, नाम (संज्ञा शब्द), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग, निपात और तद्धित, समास और नामधातु—इन अङ्गों से सम्पन्न संस्कृत पाठ्य को समझना चाहिए, अब उनके प्रयोग को समझिये ॥६-७॥

१. क. (टि०) यथा।
२. क. (टि०) अङ्गानिकक्ष्याम्यनयोः।
३. ख. ग. एतैरङ्गविधानैस्तु।
४. क. नानाधातुगवेक्षितम्। क-न (टि०) नानाधातुगवक्षितम्। क. (टि०) नानाधातुसमन्वितम्।
५. ख. ग. तद्वक्ष्यामि समासतः।
६. क. स्थानकरणादिज्ञानं च।

[1]अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश।
[2]हकारान्तानि कादीनि व्यञ्जनानि विदुर्बुधा ॥ ८ ॥

तत्र स्वराश्चतुर्दश—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ इति स्वरा ज्ञेयाः ॥

कादीनि व्यञ्जनानि यथा—क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह इति व्यञ्जनवर्गः।

वर्गे वर्गे समाख्यातौ द्वौ वर्णौ प्रागवस्थितौ।
अघोषा इति ये त्वन्ये सघोषाः संप्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलश्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ १० ॥

अनुवाद—अकार से लेकर औकार पर्यन्त चौदह स्वर होते हैं और कादि से हकारान्त तक तैंतीस व्यञ्जन समझने चाहिए ॥ ८ ॥

अनुवाद—स्वर चौदह हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ—ये चौदह स्वर हैं।

क से लेकर ह तक—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह—ये तैंतीस व्यञ्जन वर्ण हैं।

अनुवाद—प्रत्येक वर्ग के प्रथम दो वर्ण अघोष कहे जाते हैं शेष वर्ण सघोष कहलाते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय अक्षर अर्थात् क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ और श, ष, स—ये अघोष वर्ण हैं और शेष वर्ण अर्थात् वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम अर्थात् ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म तथा य, र, ल, व, ह—ये वर्ण सघोष कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

वर्णों के आठ स्थान हैं—उर (उरस्), कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओठ और तालु ॥ १० ॥

---

१. क (टि०) अकारादि। २. क-भ (टि०) ककादीनि ह्रान्तानि।

अ कु ह विसर्जनीयाः कण्ठ्याः। इ चु य शास्तालव्याः। ऋ टु र षा मूर्धन्याः। लृ तु ल सा दन्त्याः। उ पूपध्मानीया ओष्ठ्या। ⌣प⌣ फ इति प फा भ्यां प्राक् अर्धविसर्गसदृशः उपध्मानीयः। ⌣क ⌣ख इति कखाभ्यां प्राक् अर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ए ऐ कण्ठ्यतालव्यौ। ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ। वकारो दन्त्योष्ठ्यः। ङ ञ ण न मा अनुनासिकाः।

विसर्जनीय औरस्य इत्येके।

सर्ववर्णानां मुखं स्थानमित्यपरे।

अनुवाद—अब वर्णो के स्थान का निरूपण करते हैं—

१. अकार, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) ह और विसर्ग का कण्ठ स्थान है।

२. इकार, चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) य और श का तालु स्थान है।

३. ऋ, टवर्ग (ट, ठ, ड, ड, ण) र और ष का मूर्धास्थान है।

४. लृकार, तवर्ग (त, थ, द, ध, न) लकार और सकार का दन्त स्थान है।

५. उ कार, पवर्ग, (प, फ, ब, भ, म) और ऊपध्मानीय (⌣प⌣) का ओष्ठ स्थान है।

६. क और ख के पूर्व जो अर्धविसर्ग सदृश चिह्न (⌣क ⌣ख) का जिह्वामूल स्थान है।

७. ए, ऐ का कण्ठ और तालु स्थान है।

८. ओ, औ का कण्ठ और ओष्ठ स्थान है।

९. वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान है।

१०. ङ, ञ, ण, न और म का नासिका स्थान भी होता है।

११. विसर्जनीय (विसर्ग) का औरस्य स्थान है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

१२. सभी वर्णो का मुख स्थान है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं।

द्वौ द्वौ वर्णौ तु वर्गाद्यौ शषसाश्च त्रयोऽपरे ।
[1]अघोषा घोषवन्तस्तु ततोऽन्ये परिकीर्तिताः ॥ ११ ॥
एते घोषाघोषा कण्ठ्योष्ठ्या दन्त्यजिह्वयानुनासिक्या ।
ऊष्माणस्तालव्याः विसर्जनीयाश्च बोद्धव्याः ॥ १२ ॥

घोष इति अनुप्रदानविशेषः । नासिका तद्व्यापारोऽन्ते यस्य तथाभूतो धर्मोऽनुस्वारः । तत्र घोषबाहुल्याद् गाढता यथा—

"अङ्गं दधन्निबिडचन्दनमङ्गनानां ।
नैदाघवातसदनं न तु मन्मथस्य ॥"

अत्र चकारतकारावेव अघोषौ । एतदर्थस्य च स्थानादिविभाग उपन्यस्तः । एतद् (भाषा) स्वर ? लक्षणाध्याये (१७) स्फुटयिष्यामः । ⌒क⌒ खयोरुच्चारणाय ककारखकारौ । जिह्वाशब्देन (जिह्वमूलं) स्थानम् । करणञ्च ।

अनुवाद—प्रत्येक वर्ग के आदि के दो-दो वर्ण (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ) और श, ष, स ये तीन वर्ण अघोष कहलाते हैं और शेष वर्ण अर्थात् प्रत्येक वर्ग के अन्तिम तीन वर्ण (ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, त) और य, र, ल, व, ह ये सघोष हैं ॥ ११ ॥

अनुवाद—ये घोष और अघोष वर्ण कण्ठ्य, ओष्ठ्य, दन्त्य, जिह्वा, नासिका, ऊष्माण, तालव्य, विसर्जनीय, स्थानों से उच्चारित होते हैं ॥ १२ ॥

अभिनव—घोष यह वर्णो का प्रयत्न विशेष है । नासिका और उसका व्यापार जिसके अन्त में हो वह धर्म अनुस्वार संज्ञक है। इनकी गाढ़ता घोष वर्णों के आधिक्य से होती है । जैसे—

अङ्गं दधान्निबिड़चन्दनमङ्गनानां ।
नैदाघवातसदनं न तु मन्मथस्य ॥

अर्थात् 'सघन चन्दन' (चन्दन का लेप) को धारण करने वाला अङ्गनाओं का अङ्ग ग्रीष्म ऋतु के वायु का सदन नहीं है, अपितु कामदेव का सदन है ।" यहाँ पर नकार और तकार ही अघोष हैं । इसीलिए ही स्थान आदि का विभाग उपन्यस्त किया गया है । इसे हम स्वर-लक्षण के अध्याय में सत्तरहवें श्लोक में स्पष्ट रूप में कहेंगे । ⌒क⌒ख के उच्चारण के लिए जिह्वामूल स्थान है ।

१. क (टि०) अघोषाविति ये स्वन्ये सघोषाः सम्प्रकीर्तिता ।
क-म. अघोषवन्तो ये चान्ये सघोषाः परिकीर्तिताः ।

गघङ जझञ डढण दधन बभम तथैव यरलवा मता घोषाः ।
कख चछ टठ तथ पफ श, ष, सा इति वर्गेष्वघोषाः स्युः ॥१३॥
कखगघञाः कण्ठस्थास्तालुस्थानास्तु चछजझञाः ।
टठडढणा मूर्धन्यास्तथदधनाश्चैव दन्तस्थाः ॥ १४ ॥
पफबभमास्त्वोष्ठ्याः स्युः दन्त्या लृलसा अहौ च कण्ठस्थौ[1] ।
तालव्या इचुयशा स्युर्ऋटुरषा [2]मूर्धस्थिताः ज्ञेयाः ॥१५॥
लृलॄ दन्त्यौ ओऔ कण्ठोष्ठ्यो एऐकारौ च कण्ठतालव्यौ ।
[3]कण्ठ्यो विसर्जनीयो जिह्वामूलोद्भवः कखयोः[4] ॥ १६ ॥
पफयोरोष्ठस्थानं भवेदुकारः स्वरो विवृतः ।
स्पृष्टाः काद्या मान्ताः शषसहकारास्तथा विवृताः ॥ १७ ॥

अनुवाद—ग, घ,ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व—ये घोष वर्ण हैं और क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स—ये अघोष वर्ण हैं ॥ १३ ॥

अनुवाद—क, ख, ग, घ, ङ का कण्ठस्थान च, छ, ज, झ, ञ का तालुस्थान, ट, ट, ड, ढ, ण का मूर्धास्थान त, थ, द, ध, न का दन्तस्थान, प, फ, ब भ, म का ओष्ठ स्थान होते हैं और लृ, ल, स को दन्त्य, अ, ह को कण्ठ्य कहते हैं ॥ १४-१५ (१) ।

अनुवाद—इ, चु (चवर्ग—च, छ, ज, झ, ञ) य, श का तालव्य स्थान है (इचुयशानां तालु) । ऋ, टु (टवर्ग ट, ठ, ड, ढ, ण), र और ष का मूर्धा स्थान है (ऋटुरषाणां मूर्धा) ऌ लृ को दन्त्य, ओ, औ को कण्ठोष्ठ्य, ए, ऐ को कण्ठतालव्य, विसर्ग का कण्ठ्य और ≍क ≍ख का जिह्वामूल स्थान है ॥ १५-१६ ॥

अनुवाद—उकार पवर्ग और ≍प ≍फ का ओष्ठ स्थान है । स्वर का विवृत स्थान है । क से म पर्यन्त वर्ण (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म) स्पर्श संज्ञक कहे जाते हैं । श ष स ह को विवृत कहते हैं ॥ १७ ॥

१. क-प (टि०) कण्ठोष्ठ्यौ ।
२ क. मूर्ध्नि स्थिता ज्ञेयाः ।
३. क. कण्ठ्यौ विसर्जनीयौ जिह्वाम् ।
४. ख. जिह्वामूलोद्भवः कपयोः ।
५. ख. ग. कण्ठेन रसान् विद्यात् ।

अन्तस्थाः संवृतजाः ङञणनमा नासिकोद्भवा ज्ञेयाः ।
ऊष्माणश्च शषसहाः यरलववर्णास्तथैव चान्तःस्थाः ॥ १८ ॥
जिह्वामूलीयः ≍कः ≍प उपध्मानीयसञ्ज्ञया ज्ञेयः ।
कचटतपा स्वरिताः स्युः खछठथफा स्युः सदा क्रम्याः ॥ १९ ॥
[1]कण्ठयोरस्यान् विद्यात् गजडदबान् पाठ्यसंप्रयोगे[2] तु ।
वेद्यो विसर्जनीयो [3]जिह्वास्थाने स्थितो वर्णः ॥ २० ॥
एते व्यञ्जनवर्णाः समासतः सञ्ज्ञया मया कथिता ।
[4]शब्दविषयप्रयोगे स्वरांस्तु भूयः प्रवक्ष्यामि ॥ २१ ॥

अनुवाद—अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्ण संवृत कहलाते हैं। ङ, ण, ञ, न, म का नासिका स्थान भी होता है। श, ष, स, ह, ऊष्मा संज्ञक वर्ण है और य, र, ल, व को अन्तःस्थ वर्ण कहते हैं ॥ १८ ॥

अनुवाद—जिह्वामूलीय (≍ क ≍ ख) का जिह्वामूल स्थान है और ≍ प ≍ फ को ऊपध्मानीय कहते हैं। क, च, ट, त, प, वे स्वरित हैं और ख, छ, ठ, थ, फ—ये क्रम्य वर्ण हैं। पाठभेद के अनुसार ये कण्ठ्य कहे जाते हैं ॥ १९ ॥

अनुवाद—ग, ज, ड, द, ब वर्णों का और पाठभेद के अनुसार घ, झ, ढ, थ, भ वर्णों का कण्ठोरस्य स्थान है और विसर्जनीय का जिह्वामूल स्थान है, ऐसा समझना चाहिए ॥ २० ॥

अनुवाद—इन व्यञ्जन वर्णों का मैंने संक्षेप में वर्णन किया है। अब शब्द प्रयोग के विषय में स्वरों का वर्णन करूँगा ॥ २१ ॥

---

१. ख. म. पाठ्ययोगे तु ।

२. ख. ग. घझढधभान् ।

३. ख. ग. विद्यास्थानस्थितो वर्णः ।
क (टि०) जिह्वामूले स्थितो वर्णः ।

४. क. शब्दप्रयोगविषये ।

[1]यस्मिन् स्थाने स समो विज्ञेयो यः सवर्णसंज्ञोऽसौ ।
[2]य इमे स्वराश्चतुर्दश निर्दिष्टास्तत्र वै दश समानाः ।
पूर्वो ह्रस्वस्तेषां परश्च दीर्घोऽवगतव्यः[3] ॥ २२ ॥

सवर्णसंज्ञ इति । ये येन तुल्यास्ते तत्सवर्णभूतयः ॥ २२ ॥

अनुवाद—जिस स्थान में जो वर्ण सम (समानस्थानीय) होता है, उसे सवर्ण संज्ञक समझना चाहिए। जो ये चौदह स्वर कहे गये हैं उनमें दस स्वर समान हैं। इन समान स्वरों में क्रमशः पहिले को ह्रस्व और दूसरे को दीर्घ समझना चाहिए ॥ २२ ॥

अभिनव—सवर्ण संज्ञा कहने का अभिप्राय है कि जो वर्ण जिस वर्ण के साथ समान हो वे सवर्ण संज्ञक होते हैं ॥ २२ ॥

विशेष—पाणिनि ने भी समान स्थान और प्रयत्न वाले वर्णों को सवर्ण कहा है। (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) आचार्यों ने जो चौदह स्वर बताये हैं उनमें प्रारम्भ के दस स्वर सवर्ण संज्ञक है। वे दस स्वर हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ । इनमें प्रथम अ इ उ ऋ ऌ ये पाँच स्वर ह्रस्व और आ ई ऊ ॠ ॡ वे पाच दीर्घ स्वर है। इस पर ये ह्रस्व दीर्घ भेद से भिन्न होते हुए भी एकवद्भाव होने से अभिन्न हैं। पाणिनि ने आ, ई, ऊ, ॠ के दीर्घ रूप तो माने हैं किन्तु 'ॡ' का दीर्घरूप नहीं मानते। (ऌवर्णस्य दीर्घाभावः) ॥ २२ ॥

---

१. ख-ग. पुस्तकयोर्नास्ति श्लोकार्धोऽयम् ।

२. क (टि० भ-म. पुस्तकयोः)—

य इमे स्वराश्चतुर्दश तत्रादौ दश समानसंज्ञास्तु ।
पूर्वो ह्रस्वस्तेषां परश्च दीर्घोऽवगन्तव्यः ।
पूर्वाचार्यैरुक्तं विस्तरतो लक्षणं तु शब्दानाम् ।
संक्षेपादहमेषां लक्षणमर्थं च लक्षयामि ।
अर्थप्रधानं नाम स्यादाख्यातं तु क्रियाकृतम् ।
द्योतयन्त्युपसर्गास्तु विशेषं भावसंश्रयम् ।
नामाख्यातार्थविषयं विशेषं द्योतयन्ति ते ।
पृथक् तत्रोपसर्गेभ्यो निपाता नियमे च्युते ।

३. ख. विधातव्यः ।

[1]इत्थं व्यञ्जनयोगैः स्वरैश्च साख्यातनामपदविहितैः ।
काव्यनिबन्धाश्च स्युर्धातुनिपातोपसर्गास्तु ॥ २३ ॥
एभिर्व्यञ्जनवर्गैर्नामाख्यातोपसर्गनिपातैः ।
तद्धितसन्धिविभक्तिभिरधिष्ठितः शब्द इत्युक्तः ॥ २४ ॥
[2]पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां लक्षणं समासयोगेन ।
विस्तरशः पुनरेव प्रकरणवशात् संप्रवक्ष्यामि ॥ २५ ॥

पूर्वापरीभूतह्रस्वदीर्घरूपतया स्वरा भिन्ना अपि अभिन्ना, एकवद्भावात् ।

करिष्यमाणं क्रियमाणं कृतमिति भूतादिकालयुक्तं गमनागमनाभ्यामध्यक्ष-परोक्षभूताभ्यां क्रियाभ्यां युक्तमाख्यातम् । एकत्वाविवचनलिङ्गयुक्तं नाम ॥ २३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार स्वर और व्यञ्जनों के योग से आख्यात सहित नाम (संज्ञा शब्द) पद, निपात और उपसर्गों के योग से काव्यों का निबन्धन होता है ॥ २३ ॥

अभिनव—पूर्व के ह्रस्व स्वर और बाद के दीर्घ स्वर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, एकवद्भाव होने से ।

अभिनव—करिष्यमाण और क्रियमाण रूप भूतकाल से युक्त तथा गमन रूप प्रत्यक्षभूत और अगमन रूप परोक्ष भूत क्रियाओं से युक्त आख्यात है । एकत्व वचन और पुंस्त्वादि लिङ्गों से युक्त नाम है ॥ २३ ॥

अनुवाद—इन व्यञ्जन वर्गों तथा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धित, सन्धि, तथा विभक्तियों से अधिष्ठित शब्द कहा गया है ॥ २४ ॥

अनुवाद—प्राचीन आचार्यों ने शब्दों का लक्षण संक्षेप में कहा है, अब प्रकरण के अनुसार विस्तार से लक्षण कहूँगा ॥ २५ ॥

---

१. क. ग. उद्दिष्टं शब्दानां लक्षणमेतत्समासयोगेन ।
प्रकारणवशाद्धि तदहं विस्तरशः संप्रवक्ष्यामि ॥
ख. पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां लक्षणं तु विस्तरशः ।
पुनरेव संहृतार्थं लक्षणतः संप्रवक्ष्यामि ।

२. ख. ग. पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां लक्षणं तु विस्तरतः ।
पुनरेव संहृतार्थं लक्षणतः सप्रवक्ष्यामि ॥

[1]अर्थप्रधानं नाम स्यादाख्यातं तु क्रियाकृतम् ।
द्योतयन्त्युपसर्गास्तु विशेषं भावसंश्रयम् ॥ २६ ॥
तत्प्राहुः सप्तबिधं षट्कारकसंयुतं प्रथितसाध्यम् ।
निर्देशसम्प्रदानापादानप्रभृतिसञ्ज्ञाभिः ॥ २७ ॥
नामाख्यातार्थविषय विशेषं द्योतयन्ति ते ।
पृथक्तत्रोपसर्गेभ्यो निपाता नियमेऽच्युते ॥ २८ ॥
[2]संप्रत्यतीतकालक्रियादिसंयोजितं प्रथितसाध्यम् ।
वचनं नागतयुक्तं सुसदृशसंयोजनविभक्तम् ॥ २९ ॥

प्रथितः साध्योऽर्थो वाच्यत्वेन यस्य ॥ २७ ॥

अनवाद—नाम (संज्ञा शब्द) अर्थप्रधान होता है और आख्यात क्रिया होतो है और उपसर्ग क्रिया के विषय में विशेषताओं को द्योतित करते हैं ॥ २६ ॥

विशेष—नाम (संज्ञा शब्द) पाँच प्रकार के होते हैं—उणाद्यन्त, कृदन्त, तद्धितान्त, समासान्त और शब्दानुकरण । जेसा कि कहा है —

उणाद्यन्तं कृदन्तञ्च तद्धितान्तं समासान्तम् ।
शब्दानुकरणं चैव नाम पञ्चविधं स्मृतम् ॥

अनुवाद—नाम शब्द सात प्रकार का होता है और छः कारकों से संयुक्त होता है तथा प्रथित साध्य होता है । यह करण, सम्प्रदान, अपादान आदि संज्ञाओं से युक्त होता है ॥ २७ ॥

अभिनव—रूप से प्रसिद्ध है साध्य अर्थ जिसका ॥ २७ ॥

अनुवाद—नाम और आख्यातार्थ के विषय को विशेषताओं को जो द्योतित करते हैं, वे उपसर्गों से पृथक् निपात है यह नियम अच्युत है ॥ २८ ॥

अनुवाद—वर्तमान एवं भूतकाल की क्रियाओं से संयोजित प्रथित साध्य होतो है । वचन विभक्तियों से युक्त तथा सुसदृश संयोजन से सम्पन्न होते हैं ॥२९॥

१. अयं श्लोकः ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
२. ख. संप्रत्यतीतकालयोजितः क्रियादिसंयोगः ।
प्रथित. साध्ये वचनानां यतियुक्तं संदृशसंयोजनविभक्तम् ।
ग. संप्रत्यतीतकाल सम्प्रयोजितः क्रियादिसंयोगः प्रथितः ।
साध्ये वचनानां यतियुक्तं सदृश संयोजकविभक्तम ।

[1]पञ्चशतधातुयुक्तं पञ्चगुणं पञ्चविधमिदं वापि ।
[2]स्वाद्यधिकारगुणैरर्थविशेषैर्विभूषितन्यासम्[3] ॥
प्रातिपदिकार्थलिङ्गैर्युक्तं[4] पञ्चविधमिदं ज्ञेयम् ॥ ३० ॥
आख्यातं [5]पाठ्यकृतं ज्ञेयं नानार्थाश्रयविशेषम्[6] ।
[7]वचनं नामसमेतं पुरुषविभक्तं तदाख्यातम् ॥ ३१ ॥
[8]प्रातिपदिकार्थयुक्तान्धात्वर्थानुपसृजन्ति ये स्वार्थैः[9] ।
उपसर्गा ह्युपदिष्टास्तस्मात् संस्कारशास्त्रेऽस्मिन्[10] ॥ ३२ ॥

अनुवाद—पाँच सौ धातुओं से युक्त वह पञ्चगुणित पञ्चविध है । सु आदि विभक्तियों तथा अर्थविशेष से युक्त तथा प्रातिपदिकार्थ एवं लिङ्ग से युक्त पाँच प्रकार के होते हैं ॥ ३० ॥

विशेष—भरत के अनुसार ५०० × ५ = २५०० धातुएँ हैं । और वे पाँच वर्गों में विभाजित हैं । भट्टाजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में लगभग २१०० धातुओं का उल्लेख किया है और उन्हें दस गणों में विभाजित किया है ॥ ३० ॥

अनुवाद पाठ्य में नाना प्रकार अर्थ विशेष के आश्रयीभूत क्रिया को आख्यात समझना चाहिए । वह आख्यात नाम (संज्ञा शब्द, प्रातिपदिक) के साथ वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) तथा पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष) में विभक्त है ॥ ३१ ॥

अनुवाद—इस व्याकरण शास्त्र में जो अपने अर्थों के द्वारा प्रातिपदिक अर्थ से युक्त धातु के अर्थ को विशिष्ट बना देते हैं वे उपसर्ग कहलाते हैं ॥ ३२ ॥

---

१. ख ग. पुस्तकयोः श्लोकार्धोऽयं न वर्तते ।
२. अयं श्लोकः कासुचिन्मातृकासु नोपलभ्यते ।
३ क. (ड.) विभूषिता न्यासाः ।
४. ख. ग. प्रातिपादिकार्थलिङ्गयुक्तं । ५ क-ड. पाठ्यमिदं ।
६. क नानार्थविशेषम् । क-द नामाश्रयविशेषम् । क-प. नानार्थाश्रयविशेष ।
७ श्लोकार्धोऽये न दृश्यते ।
८. क. प्रातिपदिकार्थयुक्त्या ।
९. क. ये स्वार्थे । १० क. संस्कारतस्तस्मिन् ।

प्रातिपदिकार्थयोगाद्धातुच्छन्दोनिरुक्तयुक्त्या च ।
यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात्प्रोक्ता निपातास्तु ॥ ३३ ॥

धात्वर्थानुपसृजन्ति उपरागेण अन्यादृशान् कुर्वन्ति तेनोपकारेण प्रादिपादिकार्थस्य युक्तसम्बन्धेन प्रकरीतोति। हि शब्दः प्रकर्षे। प्रातिपदिकार्थोपरागेण वा धात्वर्थं विचित्रं करोति। यद्वा तु स्वार्थैः धात्वर्थानुपसृजन्ति। अतः उपसर्जनात् प्रातिपदिकार्थं च युक्ता उपसर्गाः यथा प्राचार्यः प्रान्तेवासी ॥ ३२ ॥

अभिनव—धात्वर्थ का उपसृजन करते हैं, उपराग से अन्य के सदृश करते हैं, उस उपकार से प्रातिपदिकार्थ को उक्त सम्बन्ध से प्रकृष्ट करते है। यहाँ हि शब्द का अर्थ प्रकृष्ट है। प्रातिपदिकार्थ के उपराग से धात्वर्थ को विचित्र बनाते हैं। अथवा अर्थ से धातु के अर्थ को उपसृष्ट विशिष्ट करते हैं। अतः उपसर्जन करने के कारण प्रातिपदिकार्थ भो उपसर्ग युक्त होते हैं। जैसे—'प्राचार्य' में तथा प्रान्तेवासी में उपसर्ग है ॥ ३२ ॥

विशेष—धातु [क्रिया] के साथ उपसर्ग लगाने से तीन प्रकार के अर्थ को द्योतित करते हैं—१. कोई उपसर्ग धातु के अर्थ को बाधित (नष्ट) कर देता है। जैसे जि (जय) धातु का अर्थ जीतना है किन्तु परा उपसर्ग लगने पराजय अर्थ हो जाता है। कुछ उपसर्ग धातु के अर्थ का ही अनुमरण करते हैं। जैसे—जय का अर्थ जीतना है वि उपसर्ग लगाने से वही (विजय) अर्थ द्योतित होता है। कुछ उपसर्ग धात्वर्थ को बिशिष्ट बनाते हैं। जैसे—

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

अनुवाद—प्रातिपदिकार्थ के योग से धातु, छन्द, निरुक्त और युक्ति से पद में जो निपतन करते हैं, इसलिए वे निपात कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

[1]प्रत्ययविभागजनिताः प्रकर्षसंयोगसत्त्ववचनैश्च ।
[2]यस्मात्पूरयतेऽर्थान् प्रत्यय उक्तस्ततस्तस्मात् ।। ३४ ।।
लोके प्रकृतिप्रत्ययविभागसंयोगसत्त्ववचनैश्च[3] ।
तांस्तात् पूरयतेऽर्थास्तेषु यत्तद्धितस्तस्मात् ।। ३५ ।।

प्रातिपदिकार्थयोगात् वृद्धश्च वटुश्च, धातुयुक्त्या पचति पठति च पाकपाठयोरेव हि समुच्चयार्थकौ चशब्दौ युक्तौ। अयुक्त्याश्रयात्तु पादपूरणार्थमुच्यते। यत्र द्योतनेन विना न मण्डना, द्योतने च सति वाक्यमलंकृतं भवति। तद्यथा— "मिलति न खलु यस्या" इति खलुशब्दः प्रयासस्याकृतार्थत्वं द्योतयति। तच्च येनापि विना स्फुटमेव वाक्यार्थत एव लाभात्। "अहरहरनुरागात्" इति निर्भज्य वचनं द्योतितस्यापि स्फुटीकरणम्, तद्युक्त्या। "अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः" इत्यत्र प्रातिपदिकार्थानेतैरथैरुपनिपतितैर्ज्ञापयति ।। ३३ ।।

अभिनव—प्रातिपदिकार्थ के योग से 'वृद्धश्च बटुश्च' अर्थात् वृद्ध और बटु का धातु के साथ योग होने पर 'पचति' और 'पठति' में पकाना और पढ़ना अर्थ में 'च' शब्द समुच्चय अर्थ को युक्त करता है और अयुक्ति के आश्रय से तु केवल पादपूरण के लिए होता है अर्थात् जहाँ युक्ति का आश्रय नहीं है वहाँ 'च' शब्द पादपूर्ति के लिए होता है। जहाँ द्योतन (अर्थप्रकाशन) के विना कोई मण्डना (शोभा) नहीं हैं और द्योतन होने पर वाक्य अलंकृत हो जाता है। जैसे— 'मिलति न खलु यस्याः' इसमें 'खलु' शब्द प्रयास के अकृतार्थ को द्योतित करता है और वह खलु के विना भी वाक्यार्थ से ही स्पष्ट मिल जाता है। 'अहरहरनुरागात्' यहाँ पर द्योतित का भी स्फुटीकरण किया है। यहाँ प्रातिपदिक और धातु से युक्ति है। 'अहो बतासि स्पृहणीयशोभः' में अहो और बत शब्द प्रातिपदिकाथ को द्योतित करते हैं।

अनुवाद—जो प्रकर्ष, संयोग एवं सत्त्व के कथन से प्रत्यय के विभाग से जनित प्रत्यय द्वारा अर्थ को पूरित करते हैं। इस लिए वे प्रत्यय कहे जाते हैं ।। ३४ ।।

अनुवाद—लोक में प्रकृति और प्रत्यय के विभाग एवं संयोग तथा सत्त्व के कथन के द्वारा उन-उन अर्थों का पूरण करते हैं, इसलिए वे तद्धित कहे जाते हैं ।। ३५ ।।

---

१. क. (टि०) अयं श्लोकः केषुचित् पुस्तकेषु नोपलभ्यते ।
२. क-प. तांस्तान् । ३. क. सत्त्ववचनेषु ।

एकस्य बहूनां वा धातोर्लिङ्गस्य वा पदानां वा ।
[1]विभजन्त्यर्थं यस्मात् विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः ॥ ३६ ॥

तद्धितः—तस्मै प्रातिपदिकार्थाय हितस्सः प्रातिपदिकार्थं यश्च वा स्वात्मीकुरुते । प्रकृतिप्रत्ययोर्विभागोऽवयवः काव्ये तन्मतं सम्प्रयोगप्रयोजनमैन्द्रेऽभिहितं संयोगः संबन्धः । चान्द्री ज्योत्स्ना । सत्त्वं तद्भावः यथा सूक्तस्य स्वभावः सौक्त्यं वचनं प्रवचनं काठकमादित्यश्रुत्या, तुर्यपञ्चमाध्यायविहिता निर्देक्ष्यन्ते ॥३५॥

एकस्य पदस्य बहूनां वा पदानां समाप्ति प्राप्तानाम् । वाशब्दाद् द्वयोरपि । येनार्थो विभज्यते विभक्त्याख्यः प्रत्ययः, तेषां च पदानां द्वैविध्यं धातोर्वा संबन्धि यदुत्पन्नं लिङ्गस्य वा सम्बन्धि अर्थवल्लिङ्गमिति संज्ञायां अव्युत्पन्नम् । यदि वा लिङ्गस्य संबन्धिन्यो विभक्तयः प्रतिपादिकात् सुपः, धातोस्तिङः ॥ ३६ ॥

अभिनव—'तस्मै हितः तद्धितः' अर्थात् उसके प्रातिपदिकार्थ के हित के लिए जो प्रत्यय है, वे 'तद्धित' हैं । भाव यह है कि प्रातिपदिकार्थ (नाम) शब्दों से जो प्रत्यय होते हैं वे 'तद्धित' प्रत्यय कहलाते हैं । प्रातिपदिकार्थ का जा आत्मसात् कर लेता है वह तद्धित है । प्रकृति और प्रत्यय का विभाग (अवयव) काव्य में और प्रकृति-प्रत्यय के संयोग का प्रयोजन ऐन्द्र व्याकरण में बताया गया है । यहाँ संयोग का अर्थ सम्बन्ध है, जैसे चन्द्र से सम्बन्धित चान्द्री ज्योत्स्ना । सत्त्व का अर्थ सत् का भाव है, सूक्त का भाव सौक्त्य है । कठ का वचन (कठ में प्रोक्त) काठक है, इत्यादि युक्ति से जैसा चतुर्थ पञ्चम अध्याय में निर्देश करेंगे ॥ ३५ ॥

अनुवाद—एक या अनेक धातु के लिङ्ग अथवा पदों के अर्थों का विभाजन करते हैं, इसलिए वह विभक्ति कही जाती हैं ॥ ३६ ॥

अभिनव—एक पद अथवा वाक्य के समाप्ति पर्यन्त अनेक पदों के । 'वा' पद से दोनों का ग्रहण होता है । जिससे अर्थ का विभाग होता है वह प्रत्यय विभक्ति है । वे पद (विभक्त्यन्त पद) दो प्रकार के होते हैं—एक धातु से उत्पन्न होने वाला तत्सम्बन्धी व्युत्पन्न पद और लिङ्ग से सम्बन्धित अर्थवान् शब्द । लिङ्ग शब्द संज्ञा में अव्युत्पन्न हैं । लिङ्ग से सम्बन्धित विभक्तियाँ सुप् आदि हैं और धातु से सम्बन्धित विभक्तियाँ तिप् आदि हैं । सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं ॥ ३६ ॥

---

१. क. यस्माद्विभजन्त्यर्थान् विभक्तयः कीर्तितास्तस्मात् ।

[1]विशिष्टास्तु स्वरा यत्र व्यञ्जनं वापि योगतः ।
सन्धीयते पदे यस्मात्तस्मात्सन्धिः प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥
वर्णपदक्रमसिद्धः[2] पदैकयोगाच्च[3] वर्णयोगाच्च ।
सन्धीयते च यस्मात्तस्मात् सन्धिः समुद्दिष्टः[4] ॥ ३८ ॥
लुप्तविभक्तिर्नाम्नामेकार्थं संहरत्समासोऽपि ।
तत्पुरुषादिसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधो विप्राः[5] ॥ ३९ ॥
एभिः शब्दविधानैर्विस्तारव्यञ्जनार्थसंयुक्तैः[6] ।
पदबन्धाः कर्तव्या निबद्धबन्धास्तु[7] चूर्णा वा ॥ ४० ॥

पद इत्येकपदे नित्या संहितेत्याह ॥ ३७ ॥

अनुवाद--जहाँ पर विशिष्ट स्वर अथवा व्यञ्जन का योग होने के कारण वर्णों का सन्धान होता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अभिनव—पद अर्थात् एक पद में संहिता (सन्धि) नित्य होती है ॥ ३७ ॥

विशेष—सन्धि के विषय में नियम है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अनुवाद--वर्ण एवं पदों के योग से वर्ण एवं पदों का सन्धान होने के कारण उसे सन्धि कहते हैं ॥ ३८ ॥

अनुवाद--नाम (प्रातिपदिक) शब्दों के विभक्तियों का लोप करके संक्षेप में एकार्थक पद को प्रस्तुत करता है । हे विप्रो ! तत्पुरुष आदि नामों से निर्दिष्ट वह एकार्थीभाव रुप समास छः प्रकार का होता है ॥ ३९ ॥

अनुवाद--इन विस्तृत व्यञ्जन तथा अर्थों से युक्त शब्दविधान (व्याकरण शास्त्र) के द्वारा पदबन्ध काव्य की रचना करनी चाहिए अथवा चूर्ण आदि गद्य की रचना करनी चाहिए ॥ ४० ॥

---

१. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।
२. क. (टि०) वर्णक्रमसांसिद्धः । वर्णक्रमसम्बन्धः ।
३. क. (टि०) पदैकयोगान्यः । पदैकयोगोऽन्यः ।
४. क तस्मादुपदिश्यते सन्धिः ।
५. ख. ग षड्विधः सोऽपि ।
६ ख. ग. विस्तारव्यञ्जनात्वसंयुक्तैः ।
७ ख. ग. वृत्तनिबद्धास्तु चूर्णं वा ।

[1]विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं निबद्धं चूर्णमेव च।
तत्र चूर्णपदस्येह सन्निबोधत[2] लक्षणम् ॥ ४१ ॥
[3]अनिबद्धपदं छन्दोविधानानियताक्षरम्।
[4]अर्थापेक्ष्यक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ॥ ४२ ॥

निबद्धो भाविछन्दोविधिना बद्धः संघट्टनायुतः। पदबन्धा इत्युक्तम् ॥ ४० ॥

पदं निरूपयति तत्रेति परिमितवक्तव्यत्वादित्यत्राशयः ॥ ४१ ॥

च्छन्दोनियताक्षरम्। अक्षरसंख्यानियमः अक्षरनियमो गुरुलघुनिवेशनियमः (संख्यानियमः एकाक्षरः पादो द्व्यक्षरः पाद इत्यादिः) एतद्विहीनं चूर्णपदम्। अर्थः शृङ्गारवीरादिस्तदपेक्ष्यक्षराणि परमितानि भूयांसि वा स्यूतानि यत्रेति असमास-संघट्टनात्मकमुक्तमिति। इयं तु केवलं पठनकर्मत्वाद् गद्यमित्युच्यते ॥ ४२ ॥

अभिनव—निबद्ध का अर्थ है छन्दोबद्ध रचना, (संघटना) पदों का बन्ध पहिले बताया जा चुका है ॥ ४० ॥

अनुवाद—विभक्त्यन्त अर्थात् सुबन्त-तिङन्त शब्दों को पद कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है--निबद्ध और चूर्णपद। उनमें चूर्णपद के लक्षण को कहता हूँ, उसे समझिये ॥ ४१ ॥

अभिनव—पद का निरूपण करते हैं तत्रेति। परमित वक्तव्य यह आशय है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—छन्दोविधान के अनुसार पद निबद्ध न हो अर्थात् छन्दोविधान के अनुसार नियत अक्षरों के नियमन से रहित अर्थ की अपेक्षा करने वाले अक्षरों से अनुस्यूत पदों को विद्वानों को चूर्णपद समझना चाहिए ॥ ४२ ॥

अभिनव—छन्द नियत अक्षरों वाला होता है। अक्षरों की संख्या का नियम होना अर्थात् गुरु, लघु अक्षरों के निवेश का नियम से रहित चूर्णपद होता है। अर्थ का भाव है शृङ्गार, वीर आदि उसकी अपेक्षा करने वाले अल्प (थोड़े) अथवा बहुत अक्षर जहाँ स्यूत हों, निबद्ध हों, वहाँ समासरहित संघटनात्मक पद चूर्ण है। यह तो केवल पठन का कर्म होने से गद्य कहलाता है ॥ ४२ ॥

---

१. ख. ग. विभज्यैकं पदं ज्ञेयं निबन्धं चूर्णमेव च।
२. ख. ग. बहिर्बोधत। क. संबिबोधत।
३. क. अनिबद्धपदं छन्दस्तथा चानियताक्षरम्।
ख. ग. अनिबद्धं पदवृन्दं तथा चानियताक्षरम्।
४. ख. ग. अर्थापेक्षाक्षरयुतं।

निबद्धाक्षरसंयुक्तं यतिच्छेदसमन्वितम्[1] ।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियतात्मकम्[2] ॥ ४३ ॥
एवं नानार्थसंयुक्तैः [3]पदैर्वर्णविभूषितैः ।
चतुर्भिस्तु [4]भवेद्युक्तं छान्दोवृताभिधानवत्[5] ॥ ४४ ॥

यतिर्विरामः । (छेदस्तत्कृतः पदविभागः) पादसंख्यया सामान्यलक्षणमाह—प्रमाणेन श्रोत्रेन्द्रियेण नियत आत्मा यत्र श्रव्यमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अथ छन्दोलक्षणं कर्त्तुं तस्य स्वरूपं तावदाह—एवमित्यादि ।

वर्णा गुरुत्वलघुत्वाद्यवच्छिन्नाः । विविधैर्भूषणैः सालंकारैः पादैश्चतुभिरिति संबन्धः । इदं तत्पद्यपादेषु भवति गद्यमिति निगदनीयत्वेऽपि विशेषसंज्ञया व्यपदेशः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—निबद्ध अक्षरों से युक्त, पदच्छेद से समन्वित नियत अक्षरों के प्रमाण से युक्त निबद्ध पद समझना चाहिए ॥ ४३ ॥

अभिनव—यति का अर्थ विराम है और छेद का अर्थ यतिकृत पद विभाग है । पाद की संख्या के अनुसार उसका सामान्य लक्षण कहते हैं । प्रमाण से अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा नियत है स्वरूप जिसमें उसे निबद्ध पद कहते हैं अर्थात् श्रव्य हैं ॥ ४३ ॥

अभिनव—अब छन्दों का लक्षण बताने के लिए उसके स्वरूप को कहते हैं—एवमित्यादि ।

अनुवाद—इस प्रकार नाना प्रकार के अर्थों से युक्त तथा वर्णों के विभूषित चार पादों से युक्त छन्द होता है उसे वृत्त भी कहते हैं ॥ ४४ ॥

अभिनव—वर्ण का अभिप्राय है गुरुत्व और लघुत्व से युक्त, अनेक प्रकार के अलङ्कारों से अलंकृत, चार पदों से युक्त पद होता है । वह पद्य पादों में रचित होता है । पद्य और गद्य दोनों उचारणीय होने से इसे गद्य इस बिशेष संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. ख. ग. पदच्छेदसमन्वितम् ।
२. ख. ग. प्रमाणनियताक्षरम् ।
३. क. पादै। । ४. ख. ग. भवेद्युक्तं ।
५. क-भ. छदन्दोवृत्तसमाश्रयम् । क-न. छन्दोवृत्यभिधानवत् ।

षड्विंशतिः [1]स्मृतान्येभिः पादैश्छन्दांसि संख्यया।
समञ्चार्धसमञ्चैव तथा विषममेव च ॥ ४५ ॥

छन्दोयुक्तं समासेन [2]त्रिविधं वृत्तमिष्यते।
नानावृत्तिविनिष्पन्ना शब्दस्यैषा तनूस्स्मृता ॥ ४६ ॥

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दश्शब्दवर्जितम्।
[3]तस्मात्तूभयसंयोगो नाट्यस्योद्योतकः स्मृतः[4] ॥ ४७ ॥

षड्विंशतिरिति तावत्परिमाणान्येकाक्षरात्प्रभृति षड्विंशत्यक्षराणि यावदुक्तादीन्युत्कृत्यन्तानि छन्दांसीत्यर्थः। पादचतुष्टये तुल्यलक्षणं समं, अतुल्यलक्षणं विषमम् अर्धसमं प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोः। संज्ञाभिश्छन्दोभेदा आश्रिता ॥४५॥

अनुवाद—इस प्रकार पादों की संख्या के अनुसार छन्द २६ प्रकार के कहे गये हैं। सम, अर्धसम और विषम इसके तीन भेद हैं॥ ४५ ॥

अभिनव—उतने परिमाण वाले एकाक्षर से लेकर छब्बीस अक्षरों तक उत्का से लेकर उत्कृति पर्यन्त छन्द है। उनमें चारों पादों में समान लक्षण (समान अक्षर) होने पर 'सम' छन्द होता है और विषम अक्षर होने पर 'विषम' छन्द होता है तथा प्रथम एवं तृतीय अथवा द्वितोय एवं चतुर्थ पादों में सम अक्षर हो तो अर्धसम होता है ॥ ४५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार छन्दों से युक्त वृत्त संक्षेप में तीन प्रकार का होता है। नाना प्रकार के वृत्तों से निष्पन्न इसे शब्द का तनू (शरीर) कहा गया है ॥ ४६ ॥

अनुवाद—छन्दों से रहित कोई शब्द नहीं होता और न शब्दों से रहित कोई छन्द होता है। इसलिए दोनों का संयोग नाट्य का उद्योतक माना गया है ॥ ४७ ॥

---

१. ख. ग. स्मृतानीह।

२. ख. ग. निबद्धं।

३. क. एवं तूभयसंयोगो। ख. ग. तस्मात्तूभयसंयुक्ते।

४. ख. ग. नाट्यस्योद्योतके स्मृते।

[1]एकाक्षरं भवेदुक्तमत्युक्तं द्व्यक्षरं भवेत् ।
[2]मध्यं त्र्यक्षरमित्याहुः प्रतिष्ठा चतुरक्षरा ॥ ४८ ॥

सुप्रतिष्ठा भवेत् पञ्च गायत्रो षड् भवेदिह[3] ।
[4]सप्ताक्षरा भवेदुष्णिगष्टाक्षरानुष्टुबुच्यते[5] ॥ ४९ ॥

नवाक्षरा तु बृहती पङ्क्तिश्चैव दशाक्षरा ।
एकादशाक्षरा त्रिष्टुब् जगती द्वादशाक्षरा ॥ ५० ॥

त्रयोदशाऽतिजगती शक्वरी तु चतुर्दशा ।
[6]अतिशक्वरी पञ्चदशा षोडशाष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ५१ ॥

अनुवाद—एक अक्षर वाले छन्द को उक्ता, दो अक्षर वाले छन्द को अत्युक्ता, तीन अक्षर वाले छन्द को मध्या और चार अक्षर वाले छन्द को प्रतिष्ठा कहते हैं ॥ ४८ ॥

अनुवाद—पांच अक्षरों वाला प्रतिष्ठा, छः अक्षरों वाला गायत्री, सात अक्षरों वाला उष्णिक् और आठ अक्षरों वाला छन्द अनुष्टुप् कहा जाता है ॥ ४९ ॥

अनुवाद—नव (नौ) अक्षरों वाला छन्द बृहती, दश अक्षरों वाला पंक्ति, ग्यारह अक्षरों वाला 'त्रिष्टुप्' और बारह वाला छन्द 'जगती' कहलाता है ॥ ५० ॥

अनुवाद—तेरह अक्षरों वाले छन्द को 'अतिजगती' चौदह अक्षरों वाले छन्द को 'शङ्करी', पन्द्रह अक्षरों वाले छन्द को 'अतिशक्वरी' और सोलह अक्षरों के छन्द को 'अष्टि' कहते हैं ॥ ५१ ॥

---

१. क. एकाक्षरा भवेदुक्ता ह्यत्युक्ता द्व्यक्षरा भवेत् ।
मध्या तु त्र्यक्षरेत्याहुः प्रतिष्ठा चतुरक्षरा ।
२. क. म. मध्यम त्र्यक्षरं प्रोक्तं ।
३. क-म. तथैव च ।
४. क-म. उष्णिक् सप्ताक्षरकृतात्वष्टाऽनुष्टुप् प्रकीर्त्तिता ।
५. क. इष्यते ।
६. क. दशपञ्चातिशक्वर्याः अाष्टः स्यात् षोडशाक्षरा ।

[1]अत्यष्टिः स्यात्सप्तदशा धृतिरष्टादशाक्षरा ।
[2]एकोनविंशतिर्धृतिः कृतिर्विंशतिरेव च ॥ ५२ ॥

[3]प्रकृतिश्चैकविंशत्या द्वाविंशत्याकृतिस्तथा ।
विकृतिः स्यात् त्रयोविंशा चतुर्विशा च संकृतिः ॥ ५३ ॥

पञ्चविंशत्यतिकृतिः षड्विंशत्युत्कृतिर्भवेत् ।
अतोऽधिकाक्षरं छन्दो[4] मालावृत्तं तदिष्यते ॥ ५४ ॥

[5]छन्दसां तु तथा ह्येते भेदाः प्रस्तारयोगतः ।
[6]असंख्येप्रमाणानि वृत्तान्याहुरतो बुधाः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—सत्तरह अक्षरों वाला वृत्त 'अत्यष्टि', अठारह अक्षरों वाला 'धृति' उन्नीस अक्षरों वाला 'अतिधृति' और बीस अक्षरों वाला छन्द 'कृति' कहलाता है ॥ ५२ ॥

अनुवाद—इक्कीस अक्षरों वाले छन्द को 'प्रकृति', बाइस अक्षरों वाले छन्द को 'आकृति' तेइस अक्षरों वाले छन्द को 'विकृति' और चौबीस अक्षरों वाले छन्द को 'संकृति' कहते हैं ॥ ५३ ॥

अनुवाद—पचीस अक्षरों का 'अभिकृति' और छब्बीस अक्षरों का 'उत्कृति' वृत्त कहलाता है, इससे अधिक अक्षरों के पाद वाले छन्द को 'मालावृत्त' कहलाते हैं ॥ ५४ ॥

अनुवाद—छन्दों के इतने भेद प्रस्तार के योग से बनते है । इसलिए बुधजन वृत्तो के प्रमाण (संख्या) असंख्येय मानते हैं ॥ ५५ ॥

---

१. क. तथा सप्तदशात्यष्टिः ।
२. क. एकोनविंशातिधृतिः ।
३. क-ब. प्रकृतिस्त्वेकविंशतिः ।
४. ख. ग. यत्तु । क-ब. यत्स्यात् ।
५. क-उ. छन्दसां च भवेदेषां भेदो नैकविधः पृथक् ।
६. क-च. असंख्येयप्रमाणानि परिमाणा वृत्तसंख्या समाश्रिता ।

गायत्रीप्रभृतित्वेषां प्रमाणं संविधीयते[1] ।
प्रयोगजानि सर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि ॥ ५६ ॥
[2]वृत्तानि च चतुष्षष्टिर्गायत्र्यां कीर्तितानि तु । (६४)
शतं विंशतिरष्टौ च वृत्तान्युष्णिगथोच्यते ॥ ५७ ॥ (१२८)

तथा ह्येते भेदा इत्याह—प्रस्तारयोगत इति। प्रस्तारे योगो युक्तिः तेन तत्र युक्तिर्वक्ष्यते—

"प्रकीर्य सर्वं गुरु, तत्र पूर्वंगुरोरधो लं परिपूर्य तत्त्वम् ।
स्यात्पूर्वंपूर्वं गुरुणेति यावत्सर्वत्र लं प्रस्तरणे तदेव" ॥

एते यथा भेदाः ॥ ५५ ॥

षडक्षराणि गायत्र्यां तत एवारभ्य प्रयोगार्हतेति सूचयति उक्त्यादीनामश्रवत्वात् । तदाह प्रयोगजानीति लक्ष्यतो न स्थितानि, अपि तु वेदवद् दृश्यन्त—इति भावः ॥ ५६ ॥

वृत्तानि च चतुःषष्टिरित्यादिना स्वकण्ठेन संख्यां पठति यावत् ॥ ५७ ॥

अभिनव—प्रस्तार के योग से छन्दों के इतने भेद होते हैं। प्रस्तार में जो योग युक्ति है उससे इतने भेद होते हैं। उनमें युक्ति को आगे कहेंगे—

"प्रथम सभी वर्ण गुरु हो, फिर आदि अक्षर गुरु और उसके नीचे लघु हो, इस प्रकार पूर्व पूर्व को गुरु से पूर्ण करे और तब तक करे जब तक सर्व लघु आ जाय।"

ये प्रस्तार के भेद हैं ॥ ५५ ॥

अनुवाद—इनमें गायत्री प्रभृति छन्दों के प्रमाण को हम बतलाते हैं, क्योंकि छन्दों के सभी भेद प्रयोग में नहीं आते ॥ ५६ ॥

अभिनव—भरत मुनि षडक्षरा गायत्री से प्रारम्भ करके छन्दों का विवेचन करते हैं, क्योंकि उक्त्यादि पाँच छन्दों के प्रयोग कहीं दिखलाई नहीं देते। अपितु वेद के समान इनका अध्ययन होता है ॥ ५६ ॥

अनुवाद—गायत्री में ६४ प्रकार के वृत्त होते हैं और उष्णिक् छन्दों में १२८ भेद कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

अभिनव—भरत मुनि अपने मुख से संख्या को पढ़ते हैं ॥ ५७ ॥

---

१. क. संप्रवक्ष्यते । २. क. (टि०) वृत्तानां तु चतुष्षष्टिर्गायित्री परिकीर्त्तिता ।

षट्पञ्चाशच्छते द्वे च वृत्तानामप्यनुष्टुभि । (२५६)
शतानि पञ्च वृत्तानां बृहत्यां द्वादशैव च ॥ ५८ ॥ (५१२)
[1]पङ्क्त्यां सहस्रं वृत्तानां चतुर्विशतिरेव च । (१०२४)
[2]त्रैष्टुभे द्वे सहस्रे च चत्वारिंशत्तथाष्ट च ॥ ५९ ॥ (२०४८)

सहस्राण्यपि चत्वारि नवतिश्च षडुत्तरा ।
जगत्या [3]समवर्णानां वृत्तानामिह सर्वशः ॥ ६० ॥ (४०९६)

अष्टौ सहस्राणि शतं द्व्यधिका नवतिः पुनः ।
जगत्यामतिपूर्वायां वृत्तानां परिमाणतः[4] ॥ ६१ ॥ (८१९२)

शतानि त्रीण्यशीतिश्च सहस्राण्यपि षोडश ।
वृत्तानि चैव चत्वारि शक्वर्याः परिसंख्यया ॥ ६२ ॥ (१६३८४)

अनुवाद—अनुष्टुप् छन्द के दो सौ छप्पन (२५६) भेद और बृहती के पांच सौ बारह (५१२) भेद होते हैं ॥ ५८ ॥

अनुवाद—पंक्ति छन्द के एक हजार चौबीस (१०२४) भेद और त्रिष्टुप् छन्द के दो हजार अड़ताली (२०४८) भेद होते हैं ॥ ५९ ॥

अनुवाद—सम वर्ण जगती छन्द के चार हजार छानवे (४०९६) भेद होते हैं ॥ ६० ॥

अनुवाद—अतिजगती नामक छन्द से आठ हजार एक सौ बानवे (८१९२) भेद होते हैं ॥ ६१ ॥

अनुवाद—शक्वरी नामक वृत्त को संख्या सोलह हजार तीन सौ चौरासी (१६३८४) होती हैं ॥ ६२ ॥

---

१. क. पंक्ते ।
२. क. त्रैष्टुभो द्विसहस्रे ।
३. क. (टि०) समपादानां ।
४. क. वृत्तानां सर्वशो भवेत् ।

[1]द्वात्रिंशच्च सहस्राणि सप्त चैव शतानि च ।
[2]अष्टौ षष्टिश्च वृत्तानि ह्याश्रयन्त्यतिशक्वरीम् ॥ ६३ ॥ (३२७६८)
पञ्चषष्टिसहस्राणि सहस्रार्धञ्च संख्यया ।
[3]षट्त्रिंशच्चैव वृत्तानि ह्यष्टयां निगदितानि च ॥ ६४ ॥ (६५५३६)
एकत्रिंशत्सहस्राणि वृत्तानाञ्च द्विसप्ततिः ।
तथा शतसहस्रञ्च छन्दांस्यत्यष्टिसंज्ञिते ॥ ६५ ॥ (१३१०७२)
धृत्यामपि हि पिण्डेन वृत्तान्याकल्पितानि तु ।
तज्ज्ञैः शतसहस्रे द्वे शतमेकं तथैव च ॥ ६६ ॥
द्विषष्टिश्च सहस्राणि चत्वारिंशच्च योगतः[4] ।
चत्वारि चैव वृत्तानि समसंख्याश्रयाणि तु ॥ ६७ ॥ (२६२१४४)
अतिधृत्यां सहस्राणि चतुर्विशतिरेव च ।
तथा शतसहस्राणि पञ्च वृत्तशतद्वयम् ॥ ६८ ॥
अष्टाशीतिश्च वृत्तानि वृत्तज्ञैः कथितानि च। (५२४२८८)

अनुवाद—अतिशक्वरी छन्द के बत्तीस हजार सात सौ अड़सठ (३२७६८) भेद होते हैं ॥ ६३ ॥

अनुवाद—अष्टि नामक छन्द के पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस (६५५३६) भेद होते हैं ॥ ६४ ॥

अनुवाद—अत्यष्टि छन्द एक लाख इकतीस हजार बहत्तर (१३१०७२) प्रकार का होता है ॥ ६५ ॥

अनुवाद—धृति नामक वृत्त के दो लाख बासठ हजार एक सौ चौवालीस (२६२१४४) भेद होते हैं ॥ ६६-६७ ॥

---

१. क. द्वात्रिंशत्तु ।
२. क-म. अष्टो षष्टिश्च वृत्तानां संश्रयन्त्यतिशक्वरीम् ।
३. षड्विंशच्चैव वृत्तानि यथाष्ट्यां गदितानि तु ।
४. क. चत्वारिंशत् प्रयोगतः ।

कृतौ शतसहस्राणि दश प्रोक्तानि संख्यया ॥ ६९ ॥
चत्वारिंशत्तथा चाष्टौ सहस्राणि शतानि च।
पञ्चषट्सप्ततिश्चैव वृत्तानां परिमाणतः[1] ॥ ७० ॥ (१०४८५७६)
तथा शतसहस्राणां प्रकृतौ विंशतिर्भवेत् ।
सप्त वै गदितास्त्वत्र नवतिश्चैव संख्यया ॥ ७१ ॥
सहस्राणि शतं चैकं द्विपञ्चाशत्तथैव च ।
वृत्तानि परिमाणेन[2] वृत्तज्ञैर्गदितानि तु ॥ ७२ ॥ (२०९७१५२)
[3]चत्वारिंशत्तथैकश्च लक्षाणामथ संख्यया ।
तथा चेह सहस्राणि नवतिश्चतुरुत्तरा ॥ ७३ ॥
शतत्रयं समाख्यातं ह्याकृत्यां चतुरुत्तरम् । (४१९४३०४)

अनुवाद—अतिधृति नामक छन्द पांच लाख चौबोस हजार दो सौ अठासी (५२४२८८) प्रकार का होता है ॥ ६८-६९ ॥

अनुवाद—कृति छन्द दस लाख अड़तालीस हजार पांच सौ छिहत्तर (१०४८५७६) प्रकार का होता है ॥ ६९-७० ॥

अनुवाद—प्रकृति नामक छन्द के बीस लाख सत्तानवे हजार एक सौ बावन (२०९७१५२) भेद होते है ॥ ७१-७२ ॥

अनुवाद—आकृति नामक छन्द एकतालोस लाख चौरानबे हजार तीन सौ चार (४१९४३०४) प्रकार का होता है ॥ ७३-७४ ॥

---

१. क. (टि०) प्रतिभागशः ।

२. क. (टि०) प्रविभागेन ।

३. क-म. बुधैः शतसहस्राणि चत्वारिंशत्तथापरम् ।
नवतिश्चैव चत्वारि सहस्राणि शतत्रयम् ।
चत्वारि चैव वृत्तानि कथितान्याकृतौ बुधैः ॥

[1]ज्ञेया शतसहस्राणामशीतिस्त्र्यधिका बुधैः ॥ ७४ ॥
अष्टाशीति सहस्राणि वृत्तानां षट्छतानि च।
अष्टौ चैव तु वृत्तानि विकृत्यां गदितानि तु ॥ ७५ ॥ (८३८८६०८)
[2]तथा शतसहस्राणि सप्तषष्टिश्च सप्ततिः।
सप्त चैव सहस्राणि षोडश द्वे शते तथा ॥ ७६ ॥
कोटिश्चैवेह वृत्तानि संकृतौ कथितानि वै। (१६७७७२१६)
[3]कोटित्रयञ्चाभिकृत्यां पञ्चत्रिंशद्भिरन्वितम् ॥ ७७ ॥
पञ्चाशद्भिः सहस्रैश्च चतुर्भिरधिकैस्तथा।
चतुष्टयं शतानाञ्च द्वात्रिंशद्भिः समन्वितम् ॥७८॥ (३३५५४४३२)

अनुवाद—विकृति नामक छन्द के तिरासी लाख अठासी हजार छः सौ चार (८३८८६०४) भेद होते हैं ॥ ७४-७५ ॥

अनुवाद—संकृति नामक छन्द एक करोड़ सड़सठ लाख सतहत्तर हजार दो सौ सोलह (१६७७७२१६) प्रकार का होता है ॥ ७६-७७ ॥

अनुवाद—अभिकृति नामक छन्द के तीन करोड़ पैंतीस लाख चौवन हजार चार सौ बत्तीस (३३५५४४३२) प्रकार होते हैं ॥ ७७-७८ ॥

---

१. क-म. तथा शतसहस्राणामशीतिस्त्रिकसंयुता।
अष्टाशीतिसहस्राणि षडष्टौ च शतानि च ॥
वृत्तानि विकृतौ छन्दस्युद्दिष्टानीह संख्यया ॥

२. क-न. कोटिष्षडधिका नित्यं सप्तसप्ताधिका पुनः।
सप्त चैव सहस्राणि वृत्तानां च शतद्वयम् ॥
षोडशोत्तरमाख्यातं संकृत्यां परिमाणतः ॥

३. क. तथा शतसहस्राणि पञ्चत्रिंशच्च संख्यया।
तिस्रः कोट्यः सहस्राणि चतुष्पञ्चाशदेव च ॥
शतानि चत्वारि तथा द्वात्रिंशत्प्रविभागतः।
वृत्तान्यभिकृतौ चैव छन्दोज्ञैः कथितानि वै ॥

[1]षट् कोटयस्तथोत्कृत्यां लक्षाणामेकसप्ततिः ।
चतुष्टषष्टिशतान्यष्टौ सहस्राण्यष्ट चैव हि ॥७९॥ (६७१०८८६४)
[2]उक्ताद्युत्कृतिपर्यन्तवृत्तसंख्यां विचक्षणः ।
एतेन च विकल्पेन वृत्तेष्वेतेषु निर्दिशेत् ॥ ८० ॥
[3]सर्वेषां छन्दसामेवं[4] वृत्तानि कथितानि वै ।

षट्कोट्यस्तु सहस्राणां शतानि ह्येकसप्ततिः ।
अष्टौ चैव सहस्राणि शतान्यष्टौ तथैव च ॥
चतुःषष्टिस्तु वृत्तानि ह्युत्कृतावपि संख्यया ।

इति प्रमाणम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद—उत्कृति नामक छन्द छः करोड़ इकत्तर लाख आठ हजार आठ सौ चौंसठ (६७१०८८६४) प्रकार का होता है ॥ ७९ ॥

अभिनव—अभिनवभारतो में भी उत्कृति के छः करोड़ इकहत्तर लाख आठ हजार आठ सौ चोंसठ भेद बताये गये हैं ॥ ७९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार उक्ति से लेकर उत्कृति पर्यन्त वृत्तों की प्रस्तारगत संख्या बतलायी गई है। विद्वानों को इसी के अनुसार छन्दों की योजना करनी चाहिए ॥ ८० ॥

---

१. क. षट्कोटचस्तु सहस्राणि शतानि ह्येकसप्तति: ।
अष्टौ चैव सहस्राणि शतान्यष्टौ तथैव च ।
चतुष्षष्टिस्तु वृत्तानि ह्युत्कृतावपि संख्यया ॥

२. क. उत्काद्युत्कृति जातानि वृत्तसंख्याविचक्षणैः ।

३. क. (टि०) सर्वेषां छन्दसां पिण्डं कोटयोऽत्र त्रयोदश ।
शतानि सप्तसप्तैव सहस्राणि दशैव ।
तथा शतसहस्राणां द्विचत्वारिंशदत्र हि ॥
षड्विंशतिश्च वृत्तानामित्थं चानन्त्यमुच्यते ॥

४. क. (टि०) वृत्तांश कथितं मया । वृत्तान्तं कथितं मया ।

[1]तिस्रः कोटयो दश तथा सहस्राणां शतानि तु ॥ ८१ ॥
चत्वारिंशत्तथा द्वे च सहस्राणि दशैव तु ।
सप्तभिः सहितान्येव सप्त चैव शतानि च ॥ ८२ ॥
षड्विंशतिरिहान्यानि व्याख्यातानि समासतः (१३४२१७७२६)
समानि गणनायुक्तिमाश्रित्य कथितानि वै ॥ ८३ ॥
[2]सर्वेषां छन्दसामेवं त्रिकैर्वृत्तं प्रयोजयेत् ।
ज्ञेयाश्चाष्टौ त्रिकास्तत्र संज्ञाभिः स्थानमक्षरम् ॥ ८४ ॥

उत्कृत्यन्तानां संख्यां प्रमाणोकृत्याह—तिस्रः कोट्य इत्यादिना ॥ ८१-८२ ॥

अभिनव—उत्कृति पर्यन्त छन्दों को संख्या एकत्रित कर कहते हैं—'तिस्रः कोटयः' इत्यादि ।

अनुवाद—इस प्रकार सभी छन्दों की संख्या तेरह करोड़ बयालीस लाख सत्तरह हजार सात सौ छब्बीस (१३४२१७७२६) संख्या संक्षेप में मैंने बताई है ॥ ८१-८२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार गणना के प्रमाण के द्वारा छब्बीस अक्षर पर्यन्त सभी छन्दों की संख्या (भेद) मैंने संक्षेप में कहा है ॥ ८३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सभी छन्दों का त्रिकों के द्वारा गठन किया जाता है। ये त्रिक आठ है, जिनका अपने स्वरूपानुसार संज्ञा, स्थान और अक्षरो को समझना चाहिए ॥ ८४ ॥

---

१. क-म. काटयस्त्रयादश तथा चत्वारिंशद्द्वयं तथा ।
ज्ञेयं शतसहस्राणां ततो दश च सप्त च ॥
सहस्राणि ततः सप्तशतानि प्रविभागशः ।
षड्विंशतिः च वृत्तानि वृत्तसंख्याविचक्षणैः ॥

२. क-न. एतेषां तु पुनर्ज्ञेयं त्रिकैर्वृत्तप्रवर्त्तनम् ।
एकं वा विंशतिं वापि सहस्रं कोटिरेव वा ॥
सर्वेषां छन्दसामेवं वृत्तान्तं वा द्विजोत्तमाः ।
ज्ञेयाश्चाष्टौ त्रिकास्तत्र स्वसंज्ञाभिः पृथक्-पृथक् ॥

त्रीण्यक्षराणि विज्ञेयस्त्रिकोंऽशः परिकल्पितः ।
गुरुलघ्वक्षरकृतः सर्ववृत्तेषु नित्यशः ॥ ८५ ॥

गुरुपूर्वो भकारः स्यान्मकारे तु गुरुत्रयम्[1] ।
जकारो गुरुमध्यस्थः सकारोऽन्त्यगुरुस्तथा ॥ ८६ ॥

[2]लघुमध्यस्थितो रेफस्तकारोऽन्त्यलघुः परः ।
लघुपूर्वो यकारस्तु नकारे तु लघुत्रयम् ॥ ८७ ॥

एते ह्यष्टौ त्रिकाः प्राज्ञैर्विज्ञेया ब्रह्मसम्भवाः ।
लाघवार्थं पुनरमी छन्दोज्ञानमवेक्ष्य च ॥ ८८ ॥

एभिर्विनिर्गताश्चान्या जातयोऽथ समादयः ।
अस्वराः सस्वराश्चैव प्रोच्यन्ते वृत्तलक्षणैः ॥ ८९ ॥

अनुवाद—प्रथम तीन अक्षरों को समझना चाहिए जिनसे सभी छन्दों में नियमतः गुरु एवं लघु लक्षरों के द्वारा त्रिक अंश की परिकल्पना की गई है ॥ ८५ ॥

अनुवाद पूर्व गुरु अर्थात् जिसमें आदि वर्ण गुरु हो और शेष लघु हो (ऽ।।) तो उसे भगण कहते हैं। इसी प्रकार तीन गुरु वाला मगण (ऽऽऽ), मध्य में गुरु हो तो जगण (।ऽ।) अन्त्य गुरु वाला सगण (।।ऽ) मध्य लघु रगण, (ऽ।ऽ), अन्त्य लघु तगण (ऽऽ।), आदि लघु यगण (।ऽऽ) और तीनों वर्ण लघु होने से नगण (।।।) कहलाते हैं। ये आठ त्रिक हैं ॥ ८६-८७ ॥

अनुवाद—ये आठ त्रिक माने जाते हैं। ब्रह्मा से उत्पन्न हुए लाघव के लिए ये गण छन्द के प्रमाण को देखकर बतलाये गये हैं ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इन्हीं त्रिकों से सम, अर्धसम, विषम जातियाँ उद्भूत हुई है। वृत्त-लक्षण-वेत्ता विद्वानों ने इन्हें अस्वर और सस्वर भी कहा है ॥ ८९ ॥

---

१. क. (टि॰) मकारो गुरुकत्रयम् । मकारः स्याद् गुरुत्रयम् ।

२ क. गुरुमध्यस्तु रेफः स्यात् ।

गुर्वंकं गिति विज्ञेयं तथा लघु लिति स्मृतम् ।
नियतः पदविच्छेदो यतिरित्यभिधीयते ॥ ९० ॥
गुरु दीर्घं प्लुतञ्चैव संयोगपरमेव च ।
सानुस्वारविसर्गं च तथान्त्यञ्च लघु क्वचित् ॥ ९१ ॥
[1]गायत्र्यां द्वौ त्रिकौ ज्ञेयौ उष्णिक् चैकाधिकाक्षरा ।
अनुष्टुप् द्व्यधिका चैव बृहत्यां च त्रिकास्त्रयः ॥ ९२ ॥
एकाक्षराधिका पङ्क्तिस्त्रिष्टुप् च द्व्यधिकाक्षरा ।
चतुस्त्रिका तु जगती सैवातिजगती पुनः ॥ ९३ ॥
शक्वरी द्व्यधिका पञ्च त्रिका ज्ञेयातिशक्वरी ।
एकाधिकाक्षराष्टिश्च द्व्यधिकात्यष्टिरुच्यते ॥ ९४ ॥

अनुवाद—एक गुरु वर्ण को 'ग्' और एक लघु को ल् समझना चाहिए। नियत स्थान पर किये गये पदविच्छेद को 'यति' कहा जाता है ॥ ९० ॥

अनुवाद—दीर्घ, प्लुत, संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण, अनुसार एवं विसर्ग से युक्त वर्ण और कभी-कभी पाद के अन्त का लघु वर्ण भी गुरु होता है ॥ ९१ ॥

अनुवाद्—वर्णों के प्रमाणानुसार गायत्री छन्द में दो त्रिक, उष्णिक् छन्द एकाक्षर अधिक दो त्रिक, अनुष्टुप् में दो अधिक दो त्रिक तथा बृहती में तीन त्रिक होते हैं ॥ ९२ ॥

अनुवाद—पंक्ति छन्द में एकाक्षर अधिक तीन त्रिक, त्रिष्टुप् छन्द में द्व्यक्षर अधिक तीन त्रिक, जगती वृत्त में चार त्रिक और अतिजगती वृत्त में एकाक्षर अधिक चार त्रिक समझने चाहिए ॥ ९३ ॥

अनुवाद—शक्वरी छन्द में द्व्यक्षर अधिक चार त्रिक, अतिशक्वरी में पाँच त्रिक, अष्टि वृत्त में एकाक्षराधिक पांच त्रिक और अत्यष्टि वृत्त में द्व्यक्षर अधिक पांच त्रिक होते हैं ॥ ९४ ॥

---

१. क. गायत्रीप्रभृति त्वेषां प्रमाणं सम्प्रवर्तते ।
प्रयोगजानि पूर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि ॥

[1]षट्त्रिकास्तु धृतिः प्रोक्ता सैका चातिधृतिस्तथा ।
कृतिश्च द्व्यधिका प्रोक्ता प्रकृत्यां सप्त वै त्रिकाः ॥ ९५ ॥
आकृतिस्त्वधिकैकेन द्व्यधिका विकृतिस्तथा ।
[2]अष्टत्रिकाः संकृतौ स्यात् सैका चाभिकृतिः पुनः ।
उत्कृतिर्द्व्यधिका चैव विज्ञेया गणमानतः ॥ ९६ ॥
गुर्वेकं ग इति प्रोक्तं गुरुणो गाविति स्मृतौ ।
लघ्वेकं ल इति ज्ञेयं लघुनो लाविति स्मृतौ ॥ ९७ ॥

एकादिकक्रमवशाद् द्विगुणाविपिण्ड्या ।
च्छन्दः प्रमाणकलितानथ पिण्डयेत्तान् ।
एकं क्षिपेत्तदुपरीति समस्तवृत्त-
संख्याप्रकाशनविधौ लघुरभ्युपायः ॥

अनुवाद—धृति छन्द छः त्रिकों वाला, अतिधृति छन्द एकाक्षर अधिक छः त्रिकों वाला, कृति छन्द द्व्यक्षर अधिक छः त्रिकों वाला तथा प्रकृति छन्द सात त्रिकों वाला होता है ॥ ९५ ॥

अनुवाद—आकृति वृत्त में एकाक्षर अधिक सात त्रिक, विकृति वृत्त में द्व्यधिकाक्षर सात त्रिक, संकृति छन्द में आठ त्रिक और अभिकृति छन्द में एकाक्षराधिक आठ त्रिक होते हैं। उत्कृति छंद में दो अधिक त्रिक समझने चाहिए ॥ ९६ ॥

अनुवाद—एक गुरु का चिह्न 'ग' (ऽ) दो गुरु का गौ,' (ऽऽ), एक लघु का चिह्न ल (।) तथा दो लघु का चिह्न 'लौ' (॥) माना जाता है ॥ ९७ ॥

अभिनव—एक से लेकर छब्बीस अक्षर पर्यन्त छन्द क्रमशः द्विगुण पिण्ड बनाकर, फिर छन्दों के प्रमाण से कलित उन पिण्डों को जोड़ दे, फिर उसमें एक अङ्क और जोड़ दे, समस्त छन्दों के प्रकाशन की यह एकलघु उपाय है।

---

१. क. षट्त्रिका धृतिरुद्दिष्टा ह्यतिपूर्वास्त्रिकाक्षरा ।
२. क. संकृत्यां तु त्रिका ह्यष्टौ सैका त्वभिकृतिर्भवेत् ।

यथा त्र्यक्षरे[1] तत्पिण्डयित्वा एकाक्षरक्षेपात् (पूर्तिः) एकसंख्याकाक्षरावन्याक्षरक्षेपः षड्विंशत्यक्षरं यावत् "द्व्यंश उक्तक्रमेणेह द्वैगुण्यं यावदुत्कृतेः" इति एकाक्षरे द्वौ, द्व्यक्षरे चत्वारः, त्र्यक्षरेऽष्टौ, चतुरक्षरे षोडशेत्यादिसंक्षेपः। अनेनैवोपायेन विचार्य ग्रन्थे पाठो निश्चेयः ॥ ९६ ॥

सर्वेषां छन्दसां वृत्तानामित्यादावर्थः समासेन जयदेवोऽभ्यधात्—"सर्वादिमध्यान्त ग्लौ त्रिकौ म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ" इति (अ. १-२) त्रिकैरुपलक्षितेऽपि वृत्ते त्रिकसंख्यानेन यत्र छन्दो न पूर्यते यथोष्णिक्, अत्रैकमधिकमक्षरमधिकत्वेनोक्तं अनुष्टुभि द्वे। अत्र त्रिकबीजानि गुरुलघुरूपाण्येव कर्तव्यानि ॥

जैसे सात अक्षर वाले उष्णिक् छन्द में त्रिकों के जोड़ने के बाद एकाक्षर का क्षेपण करने पर छन्द की पूर्त्ति हो गई। इसी प्रकार अन्य एक अक्षर का और क्षेपण करे अर्थात् द्व्यक्षर का क्षेपण करे। इसी प्रकार छब्बीस अक्षरों तक यही प्रक्रिया करनी चाहिए। जैसे कि छन्दों में पढ़े गये क्रमानुसार उत्कृति पर्यन्त छन्दों की संख्या दुगुनी कर देनी चाहिए। जैसे—एक अक्षर वाले छन्द के प्रस्तार में दो भेद, दो अक्षर वाले छन्द के प्रस्तार में उससे द्विगुणित चार भेद, तीन अक्षर वाले छन्दों के प्रस्तार में उससे द्विगुणित अर्थात् आठ भेद, चार अक्षर वाले छन्दों के प्रस्तार में उससे भी दुगुना अर्थात् सोलह भेद होते हैं इत्यादि संक्षेप में कथित है। इसी उपाय से विचार करके ग्रन्थ में पाठ का निश्चय करना चाहिए।

'सर्वेषां छन्दसां वृत्तानामित्यादि' में जयदेव ने संक्षेप में जो कहा है कि सभी छन्दों में आदि, मध्य और अन्त में गुरु एवं लघु के बने हुए त्रिक—जैसे भगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण और तगण—इन त्रिकों वृत्त (छन्द) के उपलक्षित होने पर त्रिक में संख्यान के द्वारा छन्द की पूर्ति नहीं होती, जैसे—उष्णिक् छन्द। यहाँ पर एक अक्षर अधिक का कथन है, अनुष्टुप् में दो अक्षर अधिक का कथन है। इसमें त्रिक बनाने के बीज रूप गुरु-लघु रूप अक्षर ही अधिक करने चाहिए ॥

१. क. सप्ताक्षरे।

[1]संपद्विरामपादाश्च दैवतस्थानमक्षरम् ।
[2]वर्णः स्वरो विधिर्वृत्तमिति छन्दोगतो विधिः ॥ ९८ ॥
[3]नैवातिरिक्तं होनं वा यत्र संपद्यते क्रमः[4] ।
[5]विधाने च्छन्दसामेष संपदित्यभिसंज्ञितः[6] ॥ ९९ ॥

अत्रैकमधिकमिति । तथा चैकं गुरु लघु वा द्वे गुरुणी द्वे लघूनी द्वे लघुगुरुणी गुरुलघूनी वा तदाह द्विकौ ग्लावित्यादि वक्ष्यमाणश्लोकेन व्याचष्टे नैवातिरिक्तमिति ।

अनुवाद—अब इन छन्दों के सम्पदादि को कहते हैं—सम्पत्, विराम, पाद, दैवत, स्थान, अक्षर, वर्ण, स्वर, विधि और वृत्त ये छंदोगत विधि है ॥ ९८ ॥

अभिनव—जैसा कि कहा है कि एक गुरु एक लघु (ग्लौ), दो गुरु तथा दो लघु (गौ लौ) अथवा लघु-गुरु (लगौ) गुरु लघु (गलौ) । इसलिए कहते हैं कि 'द्विकौ ग्लौ' इत्यादि वक्ष्यमाण श्लाक के अनुसार व्याख्या करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर वर्णो की संख्या न अधिक हो, न कम । छंदोविधान में उसे 'सम्पत्' कहते हैं ॥ ९९ ॥

---

१. क. द्व्यक्षरादधिको पादावन्यो हीनाक्षरावपि ।
स्वराडिति समाख्याता विराडिति हि सूरिभिः ॥
पादौ यस्या ऋचश्चैव भवेदेकाधिकाक्षरः ।
समास्त्वन्ये त्रयः पादाः सा भूरुक् सम्प्रकीर्तिता ॥
एकाक्षरो नः पादश्चेदेको यस्या ऋचो भवेत् ।
समा पादस्त्रयश्चान्ये सा निवृत्सम्प्रकीर्तिताः ॥
सम्पदाद्यधुना चैषा छन्दसा सम्यगुच्यते ।

२. क. वर्णः स्वरा विधिर्वृत्तामिति ।

३. क. (टि०) होनं नैवातिरिक्तं च यत्तु स्यात्पादयोगतः ।
विधानं छन्दसामस्मिन् सा हि संपदुदाहृता ॥

४. क. संपद्यतेऽक्षरम् ।

५. क. (टि०) विविधा ।

६. क. (टि०) संपदित्यभिधीयते ।

यथार्थस्य समाप्तिः स्यात् स विराम इति स्मृतः ।
[1]पादश्च पद्यतेर्धातोश्चतुर्भाग[2] इति स्मृतः ॥ १०० ॥

सम्पदिति स्वराट् विराट् भूरिक् निचृत् इत्येषां श्रुतावेव संभवो न काव्य इति तात्पर्यम्[3] । एतन्निरूपणं तु उपयुज्यते यत्र वेदवाक्यसदृशं वाक्यं निर्णीयते, अभिज्ञानशाकुन्तले ॥ ९९ ॥

अभिनव—सम्पदिति—स्वराट्, विराट्, भूरिक्, निचृत् ये छन्द वेद में ही सम्भव हैं काव्य में नहीं, यह तात्पर्य है। इसके निरूपण का वहीं उपयोग है जहाँ वेद-वाक्य के सदृश वाक्य का निर्णय करना होता है। जैसे—अभिज्ञान-शाकुन्तल के पञ्चम अङ्क में नेपथ्य-वचन ऋचा के समान प्रतीत हो रहा है ॥ ९९ ॥

अनुवाद—जहाँ पर अर्थ की समाप्ति हो, वह विराम है। 'पाद' शब्द पद् धातु से बनता है, वह छन्द का चतुर्थ भाग कहलाता है ॥ १०० ॥

---

१. क. (टि०) पादस्य ।
२. क. (टि०) गत्यर्थात्सम्प्रकीर्त्तितः ।
क. चतुर्भागः प्रकीर्त्तितः ।
३. क. स्वरादयः काव्येष्वपि दृश्यन्त इति जयश्रीकारः । यथा विराट्—
शूरः सुमुखः सदयः शान्तो वीरस्त्यागी गुणवान् भक्तः ।
कुलजोऽस्माकं नित्यं मित्रं भवतु श्लाघ्यम् ॥
यथा निवृत्—
अम्भोदानमसितानां श्रुत्वा शब्दं सन्ततबर्हः ।
अम्भोभारान् मन्दगतीनामुद्ग्रीवोऽपि रौति मयूरः ॥
स्वराट् यथा—
अथ तत्र शुचौ लतागृहे कुसुमोद्गारिणि तौ निषीदतुः ।
मृदुभिर्मृदुमारुतेरितैरुपगूढाविव बालपल्लवैः ॥
भूरिक् यथा—
मनोज्ञमपि सिन्दुरवारतः कुन्दकुसुमाग्रचं च षट्पदः ।
न सर्पति तुषारशङ्कितश्चन्द्रालोकविशेषशीतलम् ॥

अर्थस्यावान्तररूपस्य समाप्तिर्लक्षणतो यतिः। "यथा मीलति सति राज्ञि" यथा "आयान्त्या तुल्यकालं" इति न तु "[2]जम्भारातीभकुम्भोद्भवं" इति उच्छब्दोऽर्थसमाप्त्यभावात्। चतुर्भाग इति पादान्ते छेदः कर्तव्यः, न तु "[3]ताम्बूल-वल्लीपरिणद्धपूगासु, ऐला" इति। प्रयोगा प्रतिपादमङ्कुरीकृत्य पठन्मध्ये विश्राम्यति। विश्रान्तौ चात्र वृत्तभङ्गोऽर्थभङ्गोऽभिनेयस्याश्रव्यत्वाद्भट्टशङ्करादिभि-रुपगमेतत् "क्वचिदुपान्त्यो वा" इति॥ १००॥

अभिनव—अवान्तर रूप अर्थ को लक्षणतः जहाँ समाप्ति हो, उसे 'यति' (विराम) कहते हैं। जैसे—'मीलति सति राज्ञि' में और जैसे 'आयान्त्या तुल्यकालम्' में यति है।

'जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणु-
रक्ता सिक्ता इवौघैरुदयगिरितटीधातुधाराद्रवस्य॥
आयान्त्या तुल्यकालं कमलवनरुचेवारुणा वो विभूत्यै-
भूषासुर्भासयन्तो भुवनमभिनवा भानवो भानवीयम्॥

यहाँ पर जम्भारातीभकुम्भो पर यति होती है किन्तु अवान्तर अर्थ की समाप्ति नहीं है। अर्थ की समाप्ति तो 'कुम्भोद्भव' पर होती है। अर्थ समाप्ति न होने के कारण वह उच्छन्द है। 'चतुर्थ भाग' अर्थात् छन्द का चतुर्भाग करना आवश्यक है और उसमें भी पाद की समाप्ति होनी चाहिए। किन्तु 'ताम्बूलवल्ली परिणद्धपूगासु, ऐला' में जैसा पदच्छेद किया है वैसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'पूगासु ऐला' पर विश्रान्ति करने पर छन्दोभङ्ग, अर्थभङ्ग और अभिनेय का अश्रव्यत्व दोष हैं। इस तथ्य को भट्टशंकर आदि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है॥ १००॥

---

१. गायत्रीप्रभृतिजगतीपर्यन्तानां दैवतानि—अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणौ शक्रो विश्वदेवाः।

२ क. जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणु—
रक्ता सिक्ता इवौघैरुदयिगिरितटीधातुधाराद्रवस्य।
आयान्त्या तुल्यकालं कमलवनरुचेवारुणा वो विभूत्यै
भूयासुर्भासयन्तो भुवनमभिनवा भानवो भानवीयाः॥

३. क. ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु॥ (रघुवंश ६।६४)

[1]अग्न्यादिदैवतं प्रोक्तं स्थानं द्विविधमुच्यते।
शरीराश्रयसंभूतं [2]दिगाश्रयमथापि च ॥ १०१ ॥
[3]शारीरं मन्त्रसंभूतं छन्दो गायत्रसंज्ञितम्।
क्रुष्टे मध्यं दिनं प्रोक्तं त्रैष्टुभं परिकीर्त्यते ॥ १०२ ॥

अधिष्ठात्री देवता वह्न्यादयः। शरीराश्रयेत्यादि। तथोक्तं कात्यायनेन—

वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम् ॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे। इत्यादि।

प्लुतस्याप्यत्र प्रयोगो भवत्येव। यथा—"यतोऽभिमानेन स एष मूढो द्रोणारिरे याति पदे विलग्नः" स तु पाठो दीर्घवत्पठितव्यः प्रयोक्त्रा त्रिमात्र एव।

अनुवाद—अग्नि आदि इनके देवता हैं और इनके आश्रय स्थान दो हैं—शरीर के आश्रय से सम्भूत और दिशाओं के आश्रय से सम्भूत ॥ १०१ ॥

अभिनव—अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति मित्रावरुण, इन्द्र एवं विश्वदेव इन गणों अथवा छन्दों के अधिष्ठातृ देव हैं। जैसाकि कात्यायन ने कहा है—

"वीर पुरुषों के भुजदण्डों के वर्णन में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग होना चाहिए और नायिका के वर्णन में वसन्ततिलका आदि छन्दों का प्रयोग करना चाहिए। प्राच्य प्रदेशों में शार्दूलविक्रीडित छन्द का और दक्षिण देश में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग करना चाहिए" इत्यादि।

यहाँ पर प्लुत का प्रयोग होता ही है। जैसे—

'यतोऽभिमानेन स एष मूढो द्रोणारिरे याति पदे विलग्नः।

यहाँ पर 'ए सम्बोधन प्लुत है। अतः प्रयोक्ताओं को इसे दीर्घ के समान पढ़ना चाहिये, किन्तु यह त्रिमात्र प्लुत ही है।

अनुवाद—मन्त्र से सम्भूत गायत्री नामक छन्द शरीर का अवयव है (छन्दः पादौ तु)। क्रुष्ट अर्थात् उच्च स्वर में दोपहर में गाया जाने वाला छन्द त्रिष्टुप् कहलाता है ॥ १०२ ॥

---

१. क. देवा ह्यग्नादयः प्रोक्ताः। २. क. (टि०) ऋक्सामाश्रयमेव च। जिह्वाश्रयमथापि च।
३. ख ग. सार्द्धश्लोको नास्ति।

तृतीयसवनञ्चापि शीर्षण्यं जागृतं हि यत् ।
[1]ह्रस्वं दीर्घं प्लुतञ्चैव त्रिविधञ्चाक्षरं[2] स्मृतम् ॥ १०३ ॥
[3]श्वेतादयस्तथा सर्वा विज्ञेयाश्छन्दसामिह ।
तारश्चैव हि मन्द्रश्च [4]मध्यमस्त्रिविधः स्वरः ॥ १०४ ॥
ध्रुवाविधाने चैवास्य[5] संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
[6]विधिर्गणकृतश्चैव तथैवार्थकृतो भवेत् ॥ १०५ ॥

श्वेतादय इति छन्दसि प्रातिशाख्यादौ विविधो वर्णः [7]कृतः तदनुप्रयोगान्नास्माभिर्लिखितम् । भगवते कृत इति श्लोके केषाञ्चिद्दोधकतोटकादीनां गीयमानतया शोभातिशयो भवति । स्रग्धरादीनां तु पाटेन ।

अनुवाद—तृतीय सवन की बेला में उच्चारण किये जाने वाला जगती छन्द शीर्षण्य है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन प्रकार के अक्षर (स्वर) होते हैं ॥ १०३ ॥

अनुवाद—यहाँ छन्दों के श्वेत आदि वर्ण समझने चाहिए। इस प्रकार तार, मन्द्र और मध्य तीन प्रकार के स्वर हैं ॥ १०४ ॥

अभिनव—छन्दःशास्त्र तथा प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में उनके (छन्दों में) विविध वर्ण बताये गये हैं। उनका उपयोग न होने के कारण मैंने यहाँ उल्लेख नहीं किया है। 'भगवते कृतः' इत्यादि श्लोक में दोधक एवं तोटक छन्दों में गाने से शोभातिशय होता है। स्रग्धरा आदि छन्दों के पाठ (पढ़ने) से सौन्दर्य होता है ॥ १०४ ॥

अनुवाद—ध्रुवा विधान में मैं इनका लक्षण कहूँगा विधि दो प्रकार की होती है—गणकृत और अर्थकृत ॥ १०५ ॥

---

१. क. म. प्लुतं दीर्घं च ह्रस्वं च । २. क-म. द्व्यक्षरं स्मृतम् ।
३. क. गायत्रीप्रभृतिजगतीपर्यन्तानां छन्दसां सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः ।
४. क. (टि०) मध्यश्च त्रिविधः स्वरः । क-भ. द्विविधः स्वर उच्यते ।
५. क-म. चैतेषां ।
६. क-म. विधिर्कालकृतश्चापि तथा चैवार्थतो भवेत् ।

वृत्तमर्धसमं चैव समं विषममेव च[1]।
[2]छन्दसो यस्य पादे स्याद्धोनं वाऽधिकमेव वा।
अक्षरं निचृदिति प्रोक्तं भूरिक् चेति द्विजोत्तमा ॥ १०६ ॥
अक्षराभ्यां सदा द्वाभ्यामधिकं होनमेव वा।
तच्छन्दो नामतो ज्ञेयं स्वराडिति[3] विराडपि ॥ १०७ ॥

अनुवाद—वृत्त तीन प्रकार के होते हैं—सम, अर्धसम और विषम ॥ १०६ ॥

अनुवाद—जिस छन्द के एक अक्षर हीन (कम हो) वह निचृत् छन्द और एक अक्षर अधिक होने पर 'भूरिक्' छन्द कहलाता है ॥ १०६ ॥

विशेष आचार्य पिङ्गल के अनुसार जिम छन्द में निर्धारित सख्या से एक अक्षर कम हो 'निचृत्' छन्द और एक अक्षर अधिक हो तो 'भूरिक्' छन्द कहलाते हैं। जैसे—गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं। यदि इसमें एक अक्षर कम अर्थात् २३ अक्षर हो तो 'निचुत्' गायत्री कहलाती है। इसी प्रकार एक अक्षर अधिक अर्थात् २५ अक्षर हों तो 'भूरिक्' गायत्री कहलाती हैं ॥ १०६ ॥

अनुवाद—जिस छन्द में दो अक्षर न्यून हों तो उसे 'विराट्' तथा दो अक्षर अधिक हों तो वह 'स्वराष्ट्' छन्द कहलाता है ॥ १०७ ॥

विशेष—भाव यह कि जिस छन्द में निर्धारित संख्या से दो अक्षर कम हो तु 'विराट्' छन्द और दो अक्षर अधिक हो तो 'स्वराट्' छन्द कहलाते हैं। जैसे गायत्री छन्द २४ अक्षरों का होता है। यदि गायत्री में दो अक्षर कम अर्थात् २२ अक्षर हों तो 'विराट्' गायत्री और दो अक्षर अधिक अर्थात् २६ अक्षर हो तो 'स्वराष्ट्' गायत्री होती है। इसो प्रकार अन्य छन्दों में भी समझना चाहिए ॥ १०७ ॥

---

१. क. विषमं सममेव वा।
२. क. छन्दसो यस्य पादे स्याद्धीनं वाधिकमेव।
अक्षरं तन्निवृत् प्रोक्तं भूरिक् चेति द्विजातिभिः ॥
३. क. स्वराडथ विराडपि।

सर्वेषामेव वृत्तानां तज्ज्ञैर्ज्ञेया गणास्त्रयः ।
दिव्यो दिव्येतरश्चैव दिव्यमानुष एव च ॥ १०८ ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुप् च जगती चैव दिव्योऽयं प्रथमो गणः ॥ १०९ ॥

[1]तथातिजगती चैव शक्वरी चातिशक्वरी ।
अष्टिरत्यष्टिरपि च धृतिश्चातिधृतिर्गणः ॥ ११० ॥

च शब्देन प्रकारार्थेन व्याचष्टे दिव्य इति ।

प्रथम इति स्तोत्रशास्त्रेषु सप्तानामेव छन्दसां बाहुल्येन दर्शनात् । देवस्तुत्यादौ देवेषु वक्तृष्वयं गण इत्यर्थः । गण इति द्वितीयो दिव्यानिवृत्तौ गण इत्यर्थः । तेन मानुषेषु वक्तव्ये प्रायेण । तृतीयस्तु दिव्यमानुषेषु च रामादिषु नरपतिषु च ॥ १०८-१०९ ॥

अभिनव—प्रकारार्थ 'च' शब्द से कहते हैं—दिव्येति—

अनुवाद--विद्वानों को सभी वृत्तों के तीन गण (त्रिक) मानना चाहिए । वृत्तों के तीन गण होते हैं—दिव्य, दिव्येतर और दिव्यमानुष ॥ १०८ ॥

अनुवाद—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द दिव्य वर्ग में आते हैं । यह प्रथम गण हैं ॥ १०९ ॥

अभिनव—स्तोत्र शास्त्र में इन सात छन्दों का प्रयोग अधिकतर देखा जाता है । देवताओं को स्तुति आदि में या देवताओं के वक्तृत्व में यह गण होता है । 'गणः' पद का अभिप्राय प्रतीत होता है—दिव्यों की निवृत्ति बतलाने के लिए द्वितीय गण कहा है । जब मानुष वक्ता हो तो उस समय यही गण प्रायः होता है जौर दिव्य मानुष रामादि तथा राजा में तृतीय गण प्रयुक्त होता है ।

अनुवाद—और अतिजगती, शक्वरी अतिशक्वरी अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति—ये सात छन्द दिव्येतर द्वितीय गण के अन्तर्गत आते है ॥ ११० ॥

---

१. क. (टि०) मानुषश्चातिजगती शक्वरी चातिशक्वरी ।

कृतिश्च प्रकृतिश्चैव ह्याकृतिर्विकृतिस्तथा ।
संकृत्यभिकृती चैव उत्कृतिर्दिव्यमानुषा ॥ १११ ॥
[1]एतेषां छन्दसां भूयः प्रस्तारविधिसंश्रयम् ।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि नष्टमुद्दिष्टमेव[2] च ॥ ११२ ॥
प्रस्तारोऽक्षरनिर्दिष्टो मात्रोक्तश्च[3] तथैव हि ।
द्विकौ ग्लाविति वर्णोक्तौ मिश्रौ चेत्यपि मात्रिकौ ॥ ११३ ॥

प्रस्तारस्तत्र संख्यादि सर्वमिति संश्रयशब्देनाह, तद्‌गुणसंविज्ञानाच्च प्रस्तारोऽप्युच्यते। प्रस्तरणं वितानन लक्षणमङ्कसंख्येत्यर्थः । नष्टमिति स्वरूपेणैव न ज्ञातं संख्यया तु ज्ञातम्, उद्‌दिष्टं तु स्वरूपेण ज्ञातं न संख्यया। तज्ज्ञानोपायेन नष्टादयः सिद्धाः[4] ।

अनुवाद—दिव्य-मानुष तृतीय गण के अन्तर्गत कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति ये सात छन्द होते हैं ॥ १११ ॥

अनुवाद—अब मैं इन छन्दों के प्रस्तार-विधि का अनुसरण करते हुए नष्ट और उद्दिष्ट के लक्षणों का वर्णन करूँगा ॥ ११२ ॥

अभिनव—प्रस्तार में वृत्तों की संख्या, गुरु, लघु आदि सभी कुछ आते हैं, यह संश्रय शब्द से कहते हैं। 'प्रस्तारविधि संश्रयम्' में तद्‌गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास होने से इसे प्रस्तार भी कहते हैं। प्रस्तार का अर्थ है प्रस्तरण, वितानन, फैलाव और लक्षण का अर्थ है अङ्कसंख्या । 'नष्ट' पद का अर्थ है जो स्वरूप से ज्ञात न हो, संख्या से ज्ञात हो और उद्दिष्ट का अर्थ है जो स्वरूप से जान लिया जाय किन्तु संख्या से ज्ञात न हो सके। उसके ज्ञान के उपाय से (जानने से) नष्ट, उद्दिष्ट सिद्ध हैं ॥ ११२ ॥

अनुवाद—प्रस्तार दो प्रकार का होता है— अक्षरनिर्दिष्ट अर्थात् वर्णिक् छंद प्रस्तार और दूसरा मात्रोक्त अर्थात् मात्रिक प्रस्तार। इनमें जो द्वित्व संख्या के परिमाण वाले गुरु-लघु और मिश्रीभूत हैं वे वर्णिक् भी हैं और मात्रिक भी हैं ॥ ११३ ॥

---

१. क. एवं तु छन्दसामेषां । २. क. (टि०) नष्टोद्दिष्टं तथैव च ।
३. क. (टि०) समानोक्तं तथैव च । समाः प्रोक्तास्तथैव च ।
समात्रोक्तस्तथैव च ।
४. क. सिद्धाः । क-ख. शब्दाः ।

[1]गुरोरधस्तादाद्यस्य प्रसारे लघु विन्यसेत् ।
अग्रतस्तु समादेया गुरवः पृष्ठतस्तथा ॥ ११४ ॥
प्रथमं गुरुभिर्वर्णैर्लघुभिस्त्ववसानजम् ।
वृत्तन्तु सर्वछन्दस्सु[2] प्रस्तारविधिरेव तु ॥ ११५ ॥

तत्र वर्णगतो मात्रागतश्चेति प्रस्तारो द्विधा, तमुदाहरति । द्विकौ ग्लाविति वर्णसंख्यादिनियमेन यौ गुरु-लघू । द्विकौ संख्यापरिमाणौ तौ मात्रिकौ मात्रागणेषूक्तौ । अन्येनाधिकृतत्वादेकेन भेदेन मिश्रौ भवतः ॥ ११३ ॥

अभिनव—इस प्रकार वर्णगत (वर्णिक) और मात्रागत (मात्रिक) भेद से दो प्रकार का प्रस्तार होता है, उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—द्विकौ ग्लौ इत्यादि। वर्णो की संख्या आदि के नियम से जो द्वित्व संख्या के परिमाण वाले गुरु और लघु हैं, वे ही मात्रिक है। एक दूसरा एक दूसरे से अधिकृत होने के कारण एक भेद से वे मिश्र हो जाते हैं ॥ ११३ ॥

विशेष—प्रस्तार का विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि एकाक्षर प्रस्तार में गुरु का उल्लेख करे, फिर उसके नीचे लघु लिखे । जैसे—

गुरु ऽ

लघु ।

आचार्य ने 'द्विकौ' का अर्थ 'द्वे आवृती प्रमाणमयोरिति' अर्थात् दो आवृत्ति प्रमाण हैं जिसका, वह द्विक है। दो अक्षर के प्रस्तार से प्रथम दो गुरु स्थापित करे (ऽऽ), फिर लघु गुरु का विन्यास करे (।ऽ) तदनन्तर गुरु-लघु का विन्यास करे। (ऽ।) फिर अन्त में दो लघु लिखे (।।) इस प्रकार चार भेद होते हैं। यह दो अक्षर का प्रस्तार है। (गौ, ल्गौ, ग्लौ, लौ) जैसे

ऽऽ — गौ

।ऽ — ल्गौ

ऽ। — ग्लौ

।। — लौ

---

1. क. इतः प्रारभ्य श्लोकद्वयं नास्ति 'च भ' योरिति ।

2. क. (टि०) छन्दस्य ।

गुर्वधस्ताल्लघुं न्यस्य तथा द्विर्द्वि यथोदितम् ।
न्यस्येत् प्रस्तारमार्गोऽयमक्षरोक्तस्तु नित्यशः ॥ ११६ ॥
मात्रासंख्याविनिर्दिष्टौ गणौ मात्राविकल्पितः ।
मिश्रौ ग्लाविति विज्ञेयौ पृथक् लक्ष्यविभागतः[1] ॥ ११७ ॥
[2]मात्रागणो गुरुश्चैव लघुनी[3] चैव लक्षिते[4] ।
[5]आर्याणां तु चतुर्मात्राप्रस्तारः परिकल्पितः ॥ ११८ ॥

अत्र प्रस्तारेऽप्युपायमाह—गुर्वधस्तादिति । आद्यस्यैव गुरोरधो लघुः सर्वो न्यसनीयः । यत्र द्वौ भागौ मिश्रौ विषमसंख्यायां तदा द्विरिति भूयो भूयः ।

अनुवाद—प्रस्तार के समय आद्य गुरु के नीचे लघु का विन्यास करे, फिर उसके आगे गुरु रखे (। S S), इसी प्रकार आगे द्वितीय प्रस्तार में आदि गुरु के नीचे लघु रखें और उसके आगे-पीछे गुरु रखे (S । S), इस प्रकार प्रथम भेद सर्व गुरु (S S S) और अन्तिम भेद सर्व लघु (। । ।) । सभी छन्दों में यही प्रस्तार विधि है ॥ ११४-११५ ॥

अनुवाद—गुरु वर्ण के नीचे लघु वर्ण रखकर दो दो वर्णों का विन्यास करे । यह प्रस्तार मार्ग अक्षर निर्दिष्ट प्रस्तार का भेद है ॥ ११६ ॥

अभिनव—यहाँ प्रस्तार के विषय में उपाय को कहते हैं—पाद में आदि गुरु के नीचे सर्वत्र लघु का न्यास करना चाहिए । जहाँ विषम संख्या में दो भाग मिले हुए हों, वहाँ दो लघुओं का विन्यास करे ।

अनुवाद—मात्रिक छन्दों में मात्राओं को संख्या के अनुसार गण का निर्देश होता है । अतः इनमें मात्राओं को कल्पना करके अलग-अलग लक्ष्यों के विभाग के अनुसार 'ग्लौ मिश्रौ' का प्रयोग करना चाहिए । क्योंकि मात्रा गण एक गुरु या दो लघु से लक्षित होता है ॥ ११७-११८ ॥

---

१. क. (टि०) लक्ष्यविभागशः ।
२. क-भ. मात्रे द्वे गुरु विज्ञेयं लघ्वेका तु प्रकीर्त्तिता ।
३. क. (टि०) लघुनीति च ।
४. क. लक्षितः । क-प. बिलक्षितैः ।
५. क आर्याणां स चतुर्मात्रे प्रस्तारे परिकल्पितः ।
म. आर्याणां स चतुर्मात्रः प्रस्तारे गण इष्यते ॥

मात्राप्रस्तारो निरूप्यते। मात्रापरिकल्पितो यस्त्रिमात्रचतुर्मात्रादिः समूहो गणमात्रसंख्याया लध्वक्षरसंख्यायाः तत्र प्रथम प्रस्तार इत्याह पृथग्लक्षणीयोऽपि भागोऽत्र संख्यायास्तत्र गुरुः सर्वतो न्यसनीयः। यत्र तु द्वौ भागौ मिश्रौ, विषम-संख्यायां तत्राद्यो लघुरन्यो गुरुः शेषं वर्णप्रस्तारेण तुल्यम्। केवलं मात्रासंख्येति वचनाद् गणन्यासे पूर्वत्र मात्रा देया। यत्र वर्णप्रस्तारः तत्र विषयप्रस्तारेऽपि मात्रे-त्युदाहृता एव ॥ ११७ ॥

द्वितीयस्तु तदाह गुरुरिति जातावेकवचनं गुरु इत्यर्थः। लघुनी चकाराद् गुरु, तथा शब्दादन्यद्भेदत्रयम् ॥ ११८ ॥

अभिनव—अब मात्रा प्रस्तार का निरूपण करते हैं—मात्राओं के द्वारा परिकल्पित जो त्रिमात्रिक तथा चतुर्मात्रिक गणों का समूह है वहाँ लघु अक्षर की संख्या की अपेक्षा से प्रथम प्रस्तार है और जहाँ संख्या के भाग का पृथक् विन्यास करना है वहाँ सर्वप्रथम गुरु का विन्यास करे, जहाँ पर दो भाग मिश्रित हो, विषम संख्या में प्रथम लघु और अन्य गुरु शेष वर्ण प्रस्तार के अनुसार रखना चाहिए। केवल यात्रा संख्या कहने से गणों के न्यास में पहले मात्रा को देना चाहिए। जहाँ पर वर्ण प्रस्तार है वहाँ मात्रा प्रस्तार में भी मात्रा देनी चाहिए यह बता दिया गया है ॥ ११७ ॥

अभिनव—यहाँ 'गुरु' में जाति में एकवचन है। अतः इसका अर्थ हुआ दो गुरु और लघुनी का अर्थ है दो लघु। चकार से दो गुरु का ग्रहण है। तथा शब्द से अन्य तीन भेदों का ग्रहण होता है ॥ ११८ ॥

विशेष—त्र्यक्षर प्रस्तार में प्रथम सर्वगुरु को रखना चाहिए (ऽ ऽ ऽ), फिर आदि गुरु के स्थान पर लघु अक्षर विन्यस्त करे (। ऽ ऽ) यह द्वितीय भेद है। फिर मध्य गुरु के स्थान पर लघु अक्षर रखे (ऽ । ऽ) यह तृतीय भेद हुआ। पुनः आदि गुरु के स्थान पर लघु विन्यस्त करे (। । ऽ) यह चतुर्थ भेद हुआ। तदनन्तर अन्तिम गुरु के स्थान पर लघु वर्ण रखे और लघु के स्थान पर गुरु रखे (ऽ ऽ ।)। यह पञ्चम भेद हुआ, तदनन्तर आदि गुरु

गीतकप्रभृतीनान्तु पञ्चमात्रो गणः[1] स्मृतः ।
[2]वैतालीयं पुरस्कृत्य षण्मात्राद्यास्तथैव च ।। ११९ ।।

चतुर्मात्रा आर्याणां प्रस्तारे गणभेदः पञ्चदश इत्यर्थः । पञ्चमात्रोऽष्टधा, एवं षष्ठोऽत्र प्रस्तार्यातीत इति वर्णवृत्तेष्वेव च कृत इत्यर्थः । अन्यत्र तु मात्राकृतो गणविभागः तदपेक्षया गुरुलघुव्यवस्थानान्न स्वातन्त्र्येण ।। ११८-११९।।

के स्थान पर लघु वर्ण विन्यस्त करे (। ऽ ।) । यह षष्ठ भेद हुआ । फिर मध्य गुरु के स्थान पर लघु रखे और आदि में गुरु रखे (ऽ । ।) यह सप्तम भेद है और अन्त में सर्व लघु विन्यस्त करे (। । ।) । इस प्रकार यह प्रस्तार हुआ । जैसे—

प्रथम भेद — ऽ ऽ ऽ मगण
द्वितीय भेद — । ऽ ऽ यगण
तृतीय भेद — ऽ । ऽ रगण
चतुर्थ भेद — । । ऽ सगण
पञ्चम भेद — ऽ ऽ । तगण
षष्ठ भेद — । ऽ । जगण
सप्तम भेद — ऽ । । भगण
अष्टम भेद — । । । नगण

वृत्तरत्नाकरे यथा –

यदि सर्वगुरावाद्याल्लघुं न्यस्य गुरोरधः ।
यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमुं विधिम् ।।
ऊने दद्याद् गुरूनेवं यावत्सर्वं लघुर्भवेत् ।
प्रस्तारोऽयं समाख्यातश्छन्दोविचितिवेदिभिः ।।

अनुवाद—आर्या नामक वृत्त में चार मात्राओं का प्रस्तार होता है । तथा गीतक आदि में पांच मात्राओं का प्रस्तार होता है और वैतालीय आदि छन्दों में छः मात्राओं का प्रस्तार होता है ।। ११८-११९ ।।

---

१. क. पञ्चमात्रस्तथेष्यते ।
२. यं पुरस्कृत्य षण्मात्राः स्युस्तथैव च त्र्यक्षराः ।
उक्ताद्यास्तु त्रिका ज्ञेया गुरुलघ्वक्षराश्रयाः ।।
इति 'ग' पुस्तके दृश्यते ।

[1]त्र्यक्षरास्तु त्रिका ज्ञेया लघुगुर्वक्षरान्विताः ।
मात्रागणविभागस्तु गुरुलध्वक्षराश्रयः ॥ १२० ॥
[2]अन्त्याद् द्विगुणिताद्रूपाद् द्विद्विरेकं गुरोर्भवेत् ।
द्विगुणश्च लघोः कृत्वा संख्यां पिण्डेन योजयेत्[3] ॥ १२१ ॥

तत्रोद्दिष्टमाह द्विगुणितादिति वर्णवृत्तेष्वेव चेदं सर्वं मन्तव्यम् । (कमपि) भेदं पश्य; एकमङ्कं द्विगुणितं च दत्वा द्विद्विरिति भूयो द्विगुणितम् कृत्वान्त्यं परिसमाप्य गुरुसंबन्धिनोऽङ्कान् हरेत् पुंसयेत् । लघोः सं बन्धिनोऽङ्कान् पिण्डीकृत्य तेन पिण्डेनातिक्रान्तेनैतावानयं भेद इति संख्यां निर्दिशेत्, यथा चतुरक्षरस्येदृशीं क्रियां कृत्वा भेदं वदेत् यत्र लध्वङ्कगणनातिक्रान्ता ॥ १२१ ॥

अभिनव—आर्या नामक छन्द के प्रस्तार में चतुर्मात्रिक गण होता है, इसके १५ भेद हैं । पञ्च मात्रा के गणों में आठ भेद होते हैं । इस प्रकार छः मात्रा के गणों में प्रस्तार-भेद नहीं होता, किन्तु यह प्रस्तार भेद वर्णिक छन्दों में होता है । अन्यत्र तो मात्राकृत गणों का विभाग होता है और उसकी अपेक्षा से गुरु-लघु की व्यवस्था होने से स्वतन्त्र रूप से नहीं होता ।

अनुवाद—गुरु-लघु अक्षरों के आश्रित तीन अक्षरों के वर्ग को त्रिक समझना चाहिए और मात्रागण भी गुरु-लघु अक्षरों के आधार पर होता है अर्थात् गुरु-लघु के आधार पर मात्रिक छन्दों का गण विभाग होता है ॥ १२० ॥

अनुवाद—संख्या को द्विगुणित करे, फिर द्विगुणित करने के बाद उस संख्या के अन्तिम द्विगुणित रूप वाले गुरु से एक निकाल दे, फिर लघुस्थ द्विगुणित संख्या को पिण्ड के रूप में जोड़ दे ॥ १२१ ॥

अभिनव—अब उद्दिष्ट का निरूपण करते हैं—वर्णवृत्तों में ही इन सब को मानना चाहिए । किसी एक भेद को देखिये । एक अङ्क को द्विगुणित करके रखे, फिर दुगुने से भी दुगुना करके अन्तिम अङ्क पर समाप्त करके गुरु सम्बन्धी अङ्कों को हटा दे, फिर लघु सम्बन्धी अङ्कों को पिण्ड बनाकर, उस पिण्ड से अतिक्रान्त (अतिक्रमण) करके यह अमुक संख्या वाला भेद है, ऐसा निर्देश करे । जैसे चार अक्षरों के उद्दिष्ट में इस प्रकार की क्रिया करके भेद को कहे । जहाँ लघु अक्षरों के अङ्कों की गणना अतिक्रान्त कर जाती है ॥ १२१ ॥

---

१. ग उक्ताद्यास्तु ।
२. क. (टि०) आद्यात् ।
३. क. गुरुर्भवेत् ।

आद्यं सर्वगुरु ज्ञेयं वृत्तन्तु समसंज्ञितम् ।
[1]कोशं तु सर्वलघ्वन्त्यं मिश्ररूपाणि सर्वतः ॥ १२२ ॥

[2]वृत्तानान्तु समानानां संख्यां संयोज्य तावतीम् ।
राश्यूनामर्धविषमां समासादभिनिर्दिशेत्[3] ॥ १२३ ॥

अथैकादिलघुज्ञानार्थं पीठं रचयति आद्यं सर्वगुर्वित्यादि ।

कोश इत्याद्यन्तयोर्मध्यगो भेदगणः । सोऽस्य लघोः संख्यया निश्चयः कुर्यात् । तद्यथा चतुरक्षरौ प्रथमान्तौ सर्वगुरुः सर्वलघुश्च, एकद्वित्रिलघवस्तु चतुःषट् चतुःप्रकाराः संक्षेपत इति । तदङ्क्यामिश्रणेन संख्या लभ्यते षोडशभेदाश्चतुरक्षरस्येति ॥ १२२ ॥

अभिनव—अब एकादि लघु के समझने के लिए पृष्ठभूमि की रचना करते हैं-

अनुवाद—सम संज्ञक वृत्त के आदि पाद को सर्व गुरु समझना चाहिए और अन्तिम पाद में सर्वलघु समझना चाहिए तथा बीच के पादों में मिश्ररूप में होने चाहिए ॥ १२२ ॥

अभिनव—'कोश' पद का अर्थ है प्रथम और अन्त के बीच का गण । वह कौन भेद है ! यह लघुओं की संख्या से निश्चय करे । जैसे, चार अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम पाद में सभी अक्षर गुरु होते हैं और अन्तिम पाद के सभी अक्षर लघु है । बीच का कोई पाद एक लघु का कोई दो लघु का और कोई तीन लघु का होता है । इस प्रकार एक लघु के चार भेद, दो लघु के छः भेद और तीन लघु के चार भेद होते हैं । इन अङ्कों के मिला देने से यह संख्या ज्ञात होती है कि चतुरक्षर वृत्त के सोलह भेद होते हैं ॥ १२२ ॥

अनुवाद—समान संख्या वाले वृत्तों की संख्या को उतने प्रकार से जोड़ दे । इसी प्रकार समान जोड़ी हुई संख्या में अर्द्धविषम संख्या वाले छन्दों मे एक राशि घटाकर निर्देश करे ॥ १२३ ॥

---

६. क. निर्दिशेत् ।

१ क ख. ग. कोशे तु सर्वलघ्वन्त मिश्रैः शेषाणि सर्वतः ।

क-भ. लघ्वन्तमपि चैवं तु कोशस्थस्य हि संख्यया ।

२. ग. पुस्तके श्लोकोऽयं नास्ति ।

३. ख. समासादिति निर्दिशेत् ।

[1]एकादिकां तथा संख्यां छन्दसो विनिवेश्य तु ।
[2]यावत् पूर्वन्तु पूर्वेण पूरयेदुत्तरं[3] गणम् ॥ १२४ ॥
समानां विषमाणां च संगुणय्य तथा [4]स्फुटम् ।
राश्यूनामभिजानीयाद्विषमाणां समासतः ॥ १२५ ॥

संख्यास्थान उपायान्तरमाह एकादिकामिति ।

छन्दोऽक्षरोपरि एकद्विचत्वारीत्यदीनि निक्षिपेत् । तत्र पूर्वेणोत्तरस्य मिश्रणं कुर्यात् यावत्पर्यन्तं गणपिण्डस्तां चैकादिकामेकेन मिश्रितं कुर्यादित्येवं समवृत्तानां संख्या । लघूनामित्थं षोडशभिर्गणयेत् । ततो गुणराशेः षोडशसंख्यामवपातयेत् । तेन चतुरक्षरे विंशत्यधिकं शतमर्धसमवृत्तानां तामपि संख्यां गुणयित्वा गुणराशिं पातयेत् । तेन च सहस्राणीति शतान्यशीतिश्चेति चतुरक्षरे विषमवृत्तानि ॥ १२४-१२६ ॥

अभिनव—संख्या के ज्ञान के लिए उपायान्तर को बतलाते हैं—एकादिकामिति ।

अनुवाद—छन्द की एकादिक संख्या का क्रमशः निवेश करके जब तक पूरा न हो जाय तब तक पूर्व पूर्व गण से उत्तर-उत्तर गण की पूर्त्ति करे ॥ १२४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सम और विषम मात्राओं की संख्या को स्फुट रूप से गुणन करके समास करने के बाद विषम छन्दो की राशि को घटा दे तब राशि संख्या ज्ञात हो जायगी ॥ १२५ ॥

अभिनव—छन्द के अक्षरों के ऊपर एक, दो, चार इत्यादि क्रम से लिखे । उनमें पूर्व से उत्तर का मिश्रण करे, जहाँ तक गण पिण्ड है वहाँ तक एक से मिश्रित करे । इस प्रकार सम वृत्तों की संख्या होती है । लघुओं को इस प्रकार सोलह से गुणा करे । फिर गुणित राशि से सोलह घटा दे । उससे चार अक्षर के छन्द में १२० (एक सौ बीस) अर्धसमवृत्तों की होती है । उस संख्या को भो गुणा करके गुणित राशि को घटा दे । उससे १०००८० (एक लाख अस्सी) चार अक्षर के विषमवृत्त होते हैं ॥ १२६ ॥

---

१. ग. एकादिकां । ख. एकाद्या च । २. ग. यावच्चरणं ।

३. ख. उत्तरस्तथा ।

४. क. (टि०) संख्यां कृत्वा तु तावतीम् संख्यां । संयोज्य तावतीम् ।

एवं[1] कृत्वा तु सर्वेषां परेषां [2]पूर्वपूरणम् ।
[3]क्रमान्नैधनमेकैकं प्रतिलोमं विसर्जयेत् ॥ १२६ ॥
सर्वेषां[4] छन्दसामेवं लघ्वक्षरविनिश्चयम् ।
जानीत समवृत्तानां संख्यां संक्षेपतस्तथा ॥ १२७ ॥
वृत्तस्य परिमाणन्तु छित्वाऽर्धेन यथाक्रमम् ।
न्यसेल्लघु तथा सैकमक्षरं गुरु [5]चाप्यथ ॥ १२८ ॥
एवं विन्यस्य वृत्तानां नष्टोद्दिष्टविभागतः ।
[6]गुरुलघ्वक्षराणीह सर्वछन्दस्सु दर्शयेत् ॥ १२९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सभी स्थानों पर उत्तरवर्ती संख्या को पूर्ववर्ती संख्या से पूरण करके क्रमशः अन्तिम संख्या में एक-एक को विपरीत प्रक्रिया से विसर्जित कर हटा दे ॥ १२६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार समवृत्त सभी छन्दों के लघु अक्षरों तथा उनकी संख्या संक्षेप में समझें ॥ १२७ ॥

अब नष्ट को कहते हैं—

अनुवाद—वृत्त के परिमाण अर्थात् समस्त भेदों को आधे पर छिन्न करके (आधा करके) क्रमशः एक लघु तथा एक गुरु को विन्यस्त करे। इस प्रकार विन्यास करके नष्ट एवं उद्दिष्ट की प्रक्रिया से सभी छन्दों के गुरु एवं लघु अक्षरों को दिखा दे ॥ १२८-१२९ ॥

---

१. एवं कुर्यात्तु सर्वेषां ।
२. पूर्वं पूर्वस्य पूरणम् ।
३. क. नैधनादेकमेकं तु प्रातिलोम्यक्रियात्मकम् ।
४. क. सर्वेषां छन्दसां न्यस्य लघ्वक्षरविनिश्चयम् ॥
५. क (टि) गुरुं न्यसेत् ।
६. क. गुरुलघ्वक्षरानिह सर्वं छन्दःसु दर्शयेत् ।

[1]इति छन्दांसि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः ! ।
वृत्तान्येतेषु[2] नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत ॥ १३० ॥

[3]इति भरतीये नाट्यशास्त्रे वाचिकाभिनये छन्दोविधानं नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ नष्टमाह वृत्तस्य परिमाणं त्विति संख्यामर्धेन छिन्द्यात् । यत्र विषमाङ्कं न पूर्यते, तत्र पूरणार्थमेकमधिकं कुर्यात् । तदाह यथाक्रममिति । तत्र गुरु । सैककरणात्प्रयत्नगौरवात् लघुरन्यथा च्छेदनात्[4] । एवं पुनः पुनर्यावदक्षराणि पूर्णानि तावत् । चतुरक्षरे पञ्चमो भेदः कीदृगिति—पूर्वं पञ्चाङ्कस्य सैकच्छेदात् गुरु, पुनरपि त्र्यङ्कस्य सैकच्छेदात् गुरु, द्वयोश्च समच्छेदाल्लघु एकस्य सैकच्छेदाद् गुरु, एतेनेदृशः पञ्चमो भेदः ॥ १२९ ॥

अभिनव—वृत्त के परिमाण संख्या के आधे से काट दे । जहाँ पर विषम अङ्क पूरा नहीं होता वहाँ एक पूरण के लिए एक और जोड़ दे, और यह प्रक्रिया क्रमानुसार करे उस क्रम को विषम संख्या में एक और जोड़ दे । इस पर कहते हैं कि इस प्रक्रिया के करने पर प्रयत्न में गौरव होता है अत जहाँ पर विषम संख्या में एक मिलाकर आधा करने की स्थिति हो वहाँ गुरु लेना चाहिए । अन्यथा ऐसी स्थिति न हो वहाँ आधा करने को स्थिति में लघु लेना चाहिए । इस प्रक्रिया को बार-बार तक करे जब तक वृत्त के अक्षर पूरे न हो जाँय ।

अब प्रश्न होता है कि चतुरक्षर वृत्त में पाँचवा भेद कैसा है ? इस पर कहते हैं—पाँच की विषम संख्या को आधा करने के लिए एक मिलाकर आधा करने से गुरु प्राप्त हुआ । पुनः पाँच अङ्क में एक मिलाने से आधा करने पर तोन विषम अङ्क प्राप्त होते है, इसमें भी आधा करने के लिए एक अङ्क मिलाना पड़ता है । इस प्रकार तीन अङ्क में एक मिलाकर आधा करने पर दो अङ्क प्राप्त होता है । यह सम संख्या है । उसका आधा करने पर एक प्राप्त होता है । इस प्रकार दो गुरु और एक लघु प्राप्त हुआ । पुनः विषम संख्या में एक मिलाकर आधा किया तो एक गुरु मिला । यह 'ऽऽ।ऽ' यह चार अक्षर का पांचवा भेद है ।

---

१. क-म. छन्दांस्येतान्यथोक्तानि मयैव तु द्विजोत्तमाः । २. क. वृत्तान्येतानि ।

३. इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वाचिकाभिनयच्छन्दोविभागो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

४. छेदाद् ।

एतदुपसंहरन्नध्यायान्तरमासूत्रयति—

एवमिति व्याकृतेन विभागेन लघुप्रधानानि वा गुरुप्रधानानि वा लक्ष्ये निवेशयेत् कविरुपबध्नीयादिति शिवम् ॥ १३० ॥

पार्वतीवदनाम्भोजभृङ्गनेत्रत्रयीभुवः ।
दासोऽभिनवगुप्ताख्यश्छन्दोऽध्यायमपप्रथत् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायामभिनवभारत्यां
विवृत्तौ[1] छन्दोऽध्यायश्चतुर्दशः समाप्तिमगमत् ॥

अभिनव—इस प्रकार अध्याय का उपसंहार करते हुए अध्यायान्त का आसूत्रण करते हैं—

अनुवाद—हे ब्राह्मणों ! इस प्रकार मैं आप लोगों के लिए मैंने समस्त छन्दों का कथन किया है। इस नाट्य में इन वृत्तों का प्रयोग करना चाहिए, यह समझें ॥ १३० ॥

इस प्रकार भारतोय नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय में छन्दो विधान नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अभिनव—इस प्रकार किये गये विभाग के अनुसार लघु प्रधान अथवा गुरु प्रधान अक्षरों को लक्ष्य में निवेश करे अर्थात् कवि अपने प्रवन्ध में निबन्धन करे ॥ १२९ ॥

अभिनव—पार्वती के मुख रूपी कमल का भ्रमर रूप नेत्र त्रय अर्थात् त्रिनेत्र भगवान् शिव के दास अभिनवगुप्त ने इस छन्दोऽध्याय को प्रख्यात किया ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित अभिनव भारती व्याख्या में छन्दो विचिति नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

इस प्रकार डॉ॰ पारसनाथद्विवेदीकृत
नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारतो की
व्याख्या में चौदहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

●

---

१. क. ख. वृत्तौ ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः[1]

[2]छन्दांस्येवं हि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः ।
[3]वृतानि तेषु नाट्येऽस्मिन्प्रयोज्यानि निबोधत ॥ १ ॥

अभिनवभारती

समस्तवृत्तानि विना न येन पद्मद्भवश्रोत्ररसायनेन ।
छन्दांसि यस्मात्प्रभवन्ति वन्दे तं वाङ्मयं रूपमिहाष्टमूर्तेः ॥ १५ ॥

यदुक्तमक्षराणि निवेशयेदिति (१४-१३३) तत्र श्रव्यताकृतं प्रविभागमाख्यातुमुपचक्रमे छन्दांस्येवमिति ।

एषां छन्दसां नाट्यप्रयोगयोग्यानि वृत्तानि निबोधतेति सम्बन्धः । गुरुलघुनियमेन श्रव्यता वतते येषु तानि वृत्तानि, श्रव्यार्थत्वात्, अधिकरणे क्तः ॥ १ ॥

अभिनव—सुन्दरता से उद्‌भूत कानों को रसायन की तरह आप्यायित करने वाले जिस वाङ्मय के विना छन्द (वृत) उत्पन्न नहीं हो सकते, उस अष्टमूर्ति भगवान् शिव के वाङ्मय रूप की मैं वन्दना करता है ।

अभिनव -जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि 'अक्षराणि निवेशयेत्' अर्थात् काव्यों में अक्षरों का निवेश करना चाहिए, उस अक्षर निवेश की श्रव्यता के लिए रसायन बनाने के उद्देश्य से शब्दो के विभाग को कहने के लिए उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—हे द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणों ! इस अध्याय में मैंने जिन छन्दों को बतलाया है, उनमें इस नाट्यशास्त्र में प्रयोज्य वृत्तों को समझिये ॥ १ ॥

अभिनव—नाट्य-प्रयोग के योग्य इन छन्दों से निर्मित वृत्तों को समझना चाहिए। किन वृत्तों को ? गुरु-लघु के नियम के कारण जिनमें श्रव्यता का आधान हो- ऐसे वृत्तों को समझना चाहिए । यहाँ अधिकरण अर्थ में क्त प्रत्यय है ॥ १ ॥

---

१. ग. पुस्तके षोडशोध्यायः ।

२ ख ग. इति छन्दांसि ।

३. ग. वृत्तान्येषु । क-न. वृतान्येतानि ।

आद्ये पुनरन्त्ये द्वे द्वे[1] गुरुणी चेत् ।
[2]सा स्यात्तनुमध्या गायत्रसमुत्था ॥ २ ॥

यथा—

संत्यक्तविभूषा[3] भ्रष्टाञ्जननेत्रा ।
[4]हस्तार्पितगण्डा किं ? त्वं तनुमध्या ॥ ३ ॥

गायत्रीत आरभ्य प्रयोगार्हतेति पूर्वाध्याये निरूपितत्वात् तदुपक्रममेवाह—आद्ये पुनरिति, मध्ये तु लघुनो अर्थात् गायत्र्यैव गायत्रम् । तत्रेहाध्याये भरतमुनि-कृतमिति त्रिकैर्मकारादिभिः कैश्चित्किञ्चिल्लक्षणं स्वीकृतमिति द्विविधः पुस्तकपाठो दृश्यते मध्ये च चिन्तनाय पुस्तकेषूभयमपि पठ्यत इति ॥ २ ॥

अभिनव—गायत्री से आरम्भ करके ही छन्द प्रयोग के योग्य है, यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, अब उसी का उपक्रम करते हैं—

१. तनुमध्या (षडक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जिसमें प्रत्येक पाद में आदि में दो गुरु और फिर अन्त में दो गुरु हों तथा शेष लघु हों, गायत्री छन्द से समुत्थ उसे 'तनुमध्या' कहते हैं (ऽऽ।।ऽऽ) ॥ २ ॥

अभिनव—लक्षण में आदि और अन्त में दो-दो गुरुओं का विधान बताया गया है, इससे यह सिद्ध है कि मध्य में दो लघु होने चाहिए । गायत्री से जो सम्पन्न है वह गायत्र है । इस अध्याय में भरत मुनि कृत कुछ लक्षण है और कुछ आचार्यों ने मगण आदि त्रिकों के आधार पर कुछ लक्षण कहे हैं, इस प्रकार पुस्तक में दो तरह का पाठ दिखाई देता है और चिन्तन करने के लिए पुस्तकों के मध्य में दोनों पाठ मिलते हैं ॥ २ ॥

जैसे—

अनुवाद—आभूषणों का परित्याग करने वाली अञ्जन रहित नेत्रों वाली और कपोलों को हथेली पर रखे हुए तुम क्या तनुमध्या कृशोदरी हो ॥ ३ ॥

---

१. क-भ. पादे ।

२. ख. वृत्तं तनुमध्या । क-प. मध्ये लघुनी चेद्वृत्तं तनुमध्या ।

३. ख. संत्यक्त भूषणा ।

४. ख. ग. हस्तार्पितवक्त्रा ।

लघुगण [1]आदौ भवति चतुष्कः[2] ।
[3]गुरुयुगमन्त्ये [4]मकरकशीर्षा ॥ ४ ॥

यथा—

[5]स्वयमुपयान्तं भजसि न कान्तं ।
[6]भयकरि किं च त्वं मकरकशीर्षा ॥ ५ ॥

विशेष—तनुमध्या का उदाहरण—

SS। ।SS SS ।। SS
संत्यक्त विभूषा भ्रष्टाञ्जननेत्रा ।
SS।। SS S S ।।SS
हस्तार्पित गण्डा किं त्वं तनुमध्या ।

यहाँ पर प्रत्येक चरण में आदि और अन्त में दो-दो गुरु और मध्य में दो लघु हैं, अतः यहाँ 'तनुमध्या' छन्द है ॥ ३ ॥

२. मकरकशीर्षा

अनुवाद—जिसके प्रारम्भ में चार अक्षर लघु और अन्त में दो गुरु हों, उसे 'मकरकशीर्षा' छन्द कहते हैं ॥ ४ ॥

उदाहरण जैसे—

।।।। SS ।।। । SS
स्वयमुप यान्तं भजसि न कान्तम् ।
।।।। S S ।।।। SS
भयकरि किं त्वं मकरक शीर्षा ॥ ५ ॥

यहाँ पर प्रत्येक चरण में आदि के चार अक्षर लघु और अन्त के दो गुरु हैं। अतः यहाँ 'मकरकशीर्षा' छन्द हैं।

---

१. ख. ग. आद्यो । २. ख. चतुष्के ।
३. ख. गुरुयुगमन्त्ये ४. क-प. मकरकशीर्षा ।
५. क. (टि०) कमलनिभास्ये परिजनमध्ये वरतन्तु किं त्वं मकरकशीर्षा ।
६. ख. भयकारि किं त्वं ।

एकमात्रं षट्के स्याद् द्वितीयं पादे ।
ख्यातरूपा वृत्ते मालिनी सा नाम्ना ॥ ६ ॥
षडक्षरकृते पादे लघु यत्र द्वितीयकम् ।
शेषाणि तु गुरूणि स्युर्मालिनी सा मता यथा ॥ ७ ॥
[1]स्नानगन्धाधिक्यैर्वस्त्रभूषायोगैः[2] ।
व्यक्तमेवासौ त्वं मालिनी प्रख्याता ॥ ८ ॥

एतन्नाम्ना प्रसिद्धा ख्यातरूपा श्लाघनीयेत्यर्थः ॥ ६ ॥

---

३. मालिनी

अनुवाद—जिसके छः अक्षरों के पाद में दूसरा अक्षर लघु हो और शेष अक्षर गुरु हो तो वह छन्दों में प्रसिद्ध 'मालिनी' छन्द कहलाता है ॥ ६ ॥

अभिनव—मालिनी नामक छन्द ख्यातरूपा है अर्थात् प्रसिद्ध, श्लाघनीया है ॥ ६ ॥

मालिनी का दूसरा लक्षण—

अनुवाद—जिसके छः अक्षर वाले पाद में दूसरा अक्षर लघु हो और शेष अक्षर गुरु हो तो उसे 'मालिनी' छन्द कहते हैं ॥ ७ ॥

उदाहरण जैसे—

S I S S S S S I S S S S
स्नान गन्धाधिक्यैर्वस्त्रभूषायोगै ।
S I S S S S S I S S S S
व्यक्तमेवासौ त्वं मालिनी प्रख्याता ॥

स्नान, गन्ध (सुन्धित द्रव्य, इत्र आदि), वस्त्र और आभूषणों से युक्त तुम सचमुच मालिनी लग रही हो ॥ ८ ॥

यहाँ पर प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर लघु है और शेष अक्षर गुरु है, अतः यहाँ मालिनी छन्द है ।

---

१. ग. स्नानगन्धस्रग्भिः । २. क-न. व्यक्तभूषायोगैः ।

द्वितीयं पञ्चमं चैव लघु यत्र प्रतिष्ठितम् ।
शेषाणि च गुरूणि स्युर्मालती नाम सा यथा ॥ ९ ॥

शोभते बद्धया षट्पदाविद्धया[1] ।
मालतीमालया मानिनी[2] लीलया ॥ १० ॥

द्वितीयं च चतुर्थं च पञ्चमं च यदा लघु ।
यस्याः सप्ताक्षरे पादे ज्ञेया सा तूद्धता यथा[3] ॥ ११ ॥

---

४. मालती

अनुवाद—जिसके प्रत्येक पाद में दूसरा और पांचवां अक्षर लघु हो तथा शेष अक्षर गुरु हो उसे 'मालती' छन्द कहते हैं ॥ ९ ॥

जैसे— S I S S I S S I S S I S
शोभते बद्धया षट्पदाविद्धया ।
मालतीमालया मालिनी लीलया ॥

मालिनी नायिका सुबद्ध, भौरों से आक्रान्त लीला पूर्वक धारण की हुई मालती माला से सुशोभित है ॥ १० ॥

यहाँ पर छः अक्षर वाले पाद का द्वितीय और पञ्चम अक्षर लघु है और शेष प्रथम, तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ अक्षर गुरु हैं, अतः मालती छन्द है ।

५. उद्धता (सप्ताक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जिस सात अक्षरों वाले पाद का दूसरा, चौथा, पांचवाँ वर्ण लघु हो और शेष वर्ण गुरु हो, उसे 'उद्धता' छन्द समझना चाहिए ॥ ११ ॥

---

१. क. (टि०) षट्पदाबद्धया ।   २. क. (टि०) मालिनी ।

३. इतः परं 'क' पुस्तके—

सौं त्रिकौ यदि पादे ह्यन्तिमश्च गकारः ।
उष्णिगुत्थितपादा उद्धता खलु नाम्ना ॥
इत्यधिकं लक्षणं दृश्यते ।

[6]दन्तघातकृताङ्कं व्याकुलालकशोभम् ।
शंशतीव तवास्यं निर्दयं[7] रतयुद्धम् ॥ १२ ॥
आदौ द्वे निधने चैव गुरुणी यत्र वै सदा ।
पादे सप्ताक्षरे ज्ञेया नाम्ना भ्रमरमालिका[8] ॥ १३ ॥
यथा—
नानाकुसुमचित्रे प्राप्ते सुरभिमासे ।
एषा भ्रमति मत्ता कान्ते भ्रमरमाला ॥ १४ ॥

उदाहरण जैसे—

S I S I I S S S I S I I S S

दन्त घातकृताङ्कं व्याकुलालकशोभम् ।
शंसतीव तवास्यं निर्दयं रतयुद्धम् ॥ १२ ॥

अनुवाद--दन्तघात के निशान से युक्त, बिखरे हुए बालों से सुशोभित तुम्हारा मुख निर्दय प्रणय-युद्ध को मानो कह रहा है ।

यहाँ पर सप्तोक्षर श्लोक के प्रत्येक पाद में द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण लघु और शेष वर्ण गुरु हैं अतः यहाँ 'उद्धता' छन्द है ।

६. भ्रमरमालिका

अनुवाद—सात अक्षरों के पाद वाले श्लोक में प्रथम दो तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु हों और शेष वर्ण लघु हों तो 'भ्रमरमालिका' वृत्त होता है ॥ १३ ॥

उदाहरण जैसे—

S S I I I S S S S I I I S S

नानाकुसुमचित्रे प्राप्ते सुरभिमासे
एषा भवति मत्ता कान्ते भ्रमरमाला ॥

'हे कान्ते ! नाना प्रकार के पुष्पों से चित्रित चैत्र मास (सुरभिमास) के आने पर यह मस्त भ्रमरमाला भ्रमण कर रही है ।' ॥ १४ ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में आदि और अन्त के दो वर्ण गुरु तथा शेष लघु हैं, अतः यहाँ भ्रमरमाला है ।

६. क-प. दन्तघातकृताङ्कं ।   ७. ख. ग. निर्भरं ।

८. इतः पर 'क' पुस्तके—
पादे यदि निर्दिष्टौ सम्यग्विरचितौ तसौ ।
अन्त्ये यदि गकारः सा तु भ्रमरमाला ॥
इति भ्रमरमाला लक्षणमधिकं दृश्यते ॥

आद्यं तृतीयमन्त्यं च पञ्चमं सप्तमं यथा ।
गुरूण्यष्टाक्षरे पादे सिंहलेखेति [1]सा स्मृता ॥ १५ ॥
यत्त्वया ह्यनेकभावैश्चेष्टितं रहः सुगात्रि ! ।
तन्मनो मम [2]प्रविष्टं वृत्तमत्रं सिंहलेखम्[3] ॥ १६ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में भ्रमरमाला का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

पादे यस्य निविष्टौ सम्यग्विरचितौ त्सौ ।
अन्त्ये यदि गकारः सा तु भ्रमरमाला ॥

यदि सप्ताक्षर पाद वाले श्लोक के प्रत्येक पाद में तगण (ऽऽ।) सगण (।।ऽ) हो और अन्त में एक गुरु हो तो 'भ्रमरमाला' वृत्त होता है ।

७. सिंहलेखा (अष्टाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि आठ अक्षर वाले छन्द के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, पञ्चम, सप्तम एवं अष्टम वर्ण गुरु हों तो 'सिंहलेखा' नामक वृत्त कहलाता है ॥ १५ ॥

उदाहरण जैसे—

S IS I SI SS SIS ISI SS
यत्त्वया ह्यनेक भावैश्चेष्टितं रहः सुगात्रि ।
तन्मनो मम प्रविष्टं वृत्तमत्र सिंहलेखम् ॥

"हे सुगात्रि ! जो तू ने एकान्त में अनेक भावों से पूर्ण चेष्टाएँ की हैं वह मेरे मन में प्रविष्ट सिंह की नखलेखा के समान कुरेद रहा है ।"

यहाँ पर प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, पञ्चम, सप्तम एवं अष्टम अक्षर गुरु है, शेष लघु हैं, अतः यहाँ 'सिंहलेखा' छन्द है ।

---

१. इतः परं 'क' पुस्तके—
जातं यस्य गौ च पादे संस्थितौ समस्तरूपौ ।
तामनुष्टुभाश्रयस्थां वा वदन्ति सिंहलेखाम् ॥
इति सिंहलेखालक्षणमाधिकं दृश्यते ।

२. क-प. प्रविष्ट । ३. ख. ग. सिंहलीलम् ।

चतुर्थं च द्वितीयं च षष्ठमष्टममेव च।
गुरूण्यष्टाक्षरे पादे यत्र तन्मत्तचेष्टितम्[1] ॥ १७ ॥
यथा—

[2]मदावघूर्णितेक्षणं विलम्बिताकुलालकम्[3] ।
असंस्थितैः पदैः प्रिया करोत्ति मत्तवेष्टितम् ॥ १८ ॥

त्वया यन्मदीयं मनः प्रविष्टं व्याप्तमाक्रान्तं तत्सिंहनखविलेखनसदृशं । तादृशं वृत्तं तद्यथाक्रान्तम् ॥ १६ ॥

अभिनव—तुम जो मेरे मन में प्रवेश कर गई, व्याप्त हो गई हो वह सिंह के नखविलेखन के समान हो गया। उसी प्रकार यह वृत्त भी मेरे चित्त को आक्रान्त कर दिया है।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में सिंहलेखा का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

जातु यस्य गौ च पादे संस्थितौ समस्तरूपौ।
तामनुष्टुभाश्रयस्थां वावदन्ति सिंहलेखाम् ॥

अर्थात् जिसके प्रत्येक पाद में समस्थान में गुरु वर्ण न हो अर्थात् सम में लघु और विषम वर्ण दीर्घ हो, वहाँ 'सिंहलेखा' छन्द होता है । १५ ॥

उदाहरण उपर्युक्त है।

८. मत्तचेष्टितम्

अनुवाद—जिसके आठ अक्षर वाले पाद में द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम अक्षर गुरु हों, शेष लघु हों तो 'मत्तचेष्टित' वृत्त होता है ॥ १७ ॥

---

१. इतः परं 'क' पुस्तके तन्मत्तचेष्टितलक्षणम्—
यदा तु जात्परौ रलनौ गकार एव च स्थितः।
अनुष्टुबुद्भवं तद् वदन्ति मत्तचेष्टितन् ॥
इत्यधिकं दृश्यते।

२. क. ड. चरावघूर्णितेक्षणं । विघूर्णितं क्षणा सदा ।

३. क-भ. प्रलम्बिलोहिताम्बरा ।

अष्टाक्षरकृते पादे सर्वाण्येव भवन्ति हि ।
गुरूणि यस्मिन्सा नाम्ना[1] विद्युन्मालेति कीर्तिता[2] ॥ १९ ॥

उदाहरण जैसे—

। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ
मदाव घूर्णितेक्षणं विलम्बिताकुलालकम् ।
असंस्थितैः पदैः प्रिया करोति मत्तचेष्टितम् ॥

अर्थात् प्रिया बार-बार आँखों से घूरती हुई, अटके हुए बालों को बखेरती हुई और असंस्थित लड़खड़ाते हुए पैरों से मत्तता की चेष्टाएँ कर रही है ॥ १८ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ एवं अष्टम अक्षर गुरु हैं शेष लघु । अतः यहाँ मत्तचेष्टित वृत्त है ।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में मत्तचेष्टित का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदा तु जात्परौ रलौ गकार एव च स्थितः ।
अनुष्टुबुद्भवं तथा वदन्ति मत्तचेष्टितम् ॥

अर्थात् यदि प्रत्येक पाद में जगण के बाद रगण हों और अन्त में लघु और गुरु हो तो अनुष्टुप् से उद्भूत छन्द को मत्तचेष्टित कहते हैं ।

उदाहरण उपर्युक्त है ।

९. विद्युन्माला

अनुवाद—जहाँ पर आठ अक्षर वाले पाद के सभी अक्षर गुरु हों वहाँ 'विद्युन्माला' वृत्त होता है ॥ १९ ॥

---

१. ख. विद्युल्लेखेति संज्ञिता ।

२. इतः परं 'क' पुस्तके विद्युन्मालायाः अधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—

"मौ गौ चान्त्यौ यस्याः पादे पादस्यान्ते विच्छेदश्च ।
सा चानुष्टुप् छन्दस्युक्ता नित्यं सद्भिर्विद्युन्माला" ॥

[1]साम्भोभारैरानदद्भिः श्यामाम्भौदैर्व्याप्ते व्योम्नि।
आदित्यांशुस्पर्धिन्येषा दिक्षु भ्रान्ता विद्युन्माला[2] ॥ २० ॥
[3]पञ्चमं सप्तमं चान्त्यं गुरु पादेष्टके तथा।
छन्दोज्ञैर्ज्ञेयमेतत्तु वृत्तं चित्तविलासितम् ॥ २१ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽऽऽऽ ऽऽ ऽऽ
साम्भोनादैरानर्दद्भिः, श्यामाम्भोदैर्व्याप्ते व्योम्नि।
आदित्यांशुस्पर्द्धिन्येषा दिक्षु भ्रान्ता विद्युन्माला।

अर्थात् जल से भरे हुए गरजते हुए काले बादलों से व्याप्त आकाश में सूर्य की किरणों से स्पर्द्धा करने वाली यह विद्युन्माला (बिजली) दिशाओं में घूम रही है ॥ २० ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद के सभी अक्षर गुरु है, अतः विद्युन्माला छन्द है।

विशेष—गायकवाड़ संस्कारण में विद्युन्माला का दूसरा लक्षण भी दिया गया है—

मौ गौ चान्त्यौ यस्याः पादे पादस्यान्ते विच्छेदश्च।
सानुष्टुप्छन्दस्युक्ता नित्यं सद्भिर्विद्युन्माला ॥

जिसके प्रत्येक पाद में दो मगण और अन्त में दो गुरु हों तथा अन्त में विराम हो, उसे विद्वानों ने अनुष्टुप् छन्द के भेदों में 'विद्युन्माला' कहते हैं। कुछ विद्वान् इसी को विद्युल्लेखा भी कहत हैं। इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है ॥ २० ॥

१०. चित्तविलसितम् (अष्टाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—आठ अक्षर के पाद वाले जिस श्लोक के प्रत्येक पाद में पञ्चम, सप्तम और अन्तिम अर्थात् आठवाँ अक्षर गुरु हो शेष वर्ण लघु हों उसे 'चित्तविलासितम्' छन्द कहते हैं ॥ २१ ॥

---

१. ख. सान्द्राम्भोभिर्नानाम्भोदैः श्यामाकारैर्व्याप्ते व्योम्नि। 'ग'—अम्भोभारैरानर्दद्भिः।
क. (टि॰ भ.) साम्भोदैर्व्याप्तैर्व्योम्ना गम्भीरोघैर्नातानादैः।
आदित्यांशुप्रख्या ह्येषा दिक्षु भ्रान्ता विद्युन्माला ॥
२. ख. विद्युलखा।
३. इतः प्रारभ्य श्लोकद्वयं ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति।

स्मितवशविप्रकाशैर्दशनपदैरमीभिः ।
वरतनु ! पूर्णचन्द्रं तव मुखमावृणोति ॥ २२ ॥
नवाक्षरकृते पादे त्रीणि स्युर्नैधनानि च ।
गुरूणि यस्याः सा नाम्ना ज्ञेया मधुकरी यथा[1] ॥ २३ ॥
कुसुमितमभिपश्यन्ती[2] विविधतरुगणैश्छन्नम् ।
[3]वनमतिशयगन्धाढ्यं भ्रमति मधुकरी हृष्टा ॥ २४ ॥

उदाहरण जैसे—

।।।। ऽ।ऽऽ। ।।।ऽ। ऽऽ
स्थितवशविप्रकाशैर्दशनपदैरमीभिः ।
वरतनु ! पूर्णचन्द्रं तव मुखमावृणोति ॥ २२ ॥

'हे वरतनु ! मुसकान के कारण चमकने वाले उन दशनों (दांतों) के द्वारा तुम्हारा मुख मानो पूर्णचन्द्र को आच्छादित कर रहा है ॥ २२ ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद का पांचवां, सातवां और आठवां अक्षर गुरु है और शेष अक्षर लघु है, अतः यहाँ 'चित्तविलासितम्' छन्द है ॥ २२ ॥

११. मधुकरी (नवाक्षरा वृत्त)

अनुवाद—जिस छन्द के नौ अक्षर वाले पाद में अन्तिम तीन अक्षर गुरु हों और शेष लघु हों उसे 'मधुकरी' छन्द कहते हैं ॥ २३ ॥

---

१. इतः परं 'क' पुस्तकेऽत्रोल्लिखितं मधुकरीलक्षणमधिकं दृश्यते —
षडिह यदि लघूनि स्युर्निधनगतमकारश्चेत् ।
बुधजनबृहतीसंस्था भवति मधुकरी नाम्ना ॥

२. ख. कुसुमितमभिपश्यन्ती ।
क-भ. कुसुमितमपि पश्यन्ती शुभविहगगणैश्छन्नम् ।

३. ख. ग. नवनलितसुगन्धाढ्यं ।

दशाक्षरकृते पादे त्रीण्यादौ त्रीणि नैधने[1] ।
यस्या गुरूणि सा ज्ञेया पङ्क्तिरुत्पलमालिका[2] ॥ २५ ॥

उदाहरण जैसे—

।। ।।।। ऽऽऽ ।।।।।।। ऽ ऽऽ
कुसुमितमभिपश्यन्ती विविधतरुगणैश्छिन्नम् ।
वनमतिशयगन्धाढ्यं भ्रमति मधुकरी हृष्टा ॥ २४ ॥

अनेक प्रकार के वृक्षों से आच्छन्न, अत्यन्त सुगन्ध से परिपूर्ण कुसुमित वन को देखकर मधुकरी (भ्रमरी) झूम रही है ॥ २४ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद के अन्तिम तीन वर्ण गुरु शेष लघु है। अतः यह 'मधुकरी' नामक छन्द हैं ।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में मधुकरी छन्द का निम्नलिखित लक्षण अधिक दिया गया है—

षडिह यदि लघूनि स्युर्निधनगतमकारश्चेत् ।
बुधजनबृहतींसंस्था भवति मधुकरी नाम्ना ॥

'जहाँ पर आदि के छः अक्षर लघु और अन्त में मगण (ऽऽऽ) तीन वर्ण गुरु हों, वहाँ बृहती जाति का मधुकरी नामक छन्द होता है ।

इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है ॥ २४ ॥

१२. पंक्ति (दशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि दश अक्षर वाले पाद में आदि के तीन वर्ण और अन्त के तीन वर्ण गुरु हों और मध्य के चार अक्षर लघु हों तो 'उत्पलमालिका' (उत्पलमाला) पंक्तिच्छन्द कहते हैं ॥ २६ ॥

---

१. क. (टि०) नैधनानि तु ।

२. क. (टि०) उत्पलमालिनी ।

'क' पुस्तकेऽधोलिखितं कुवलयमालालक्षणमधिकं दृश्यते—

त्रीण्यादौ यदि हि गुरूणि स्युश्चत्वारो यदि लघवो मध्ये ।
पञ्चावन्तर्गतमकारः स्याद्विज्ञेया कुवलयमालाख्या ॥

यथा—

अस्मिंस्ते शिरसि तदा कान्ते वैडूर्यस्फटिकसुवर्णाढ्ये।
शोभां स्वां न वहति तां बद्धा सुश्लिष्टा कुवलयमालेयम्[1] ॥ २६ ॥

शं भां स्वाम् (स्वभाववर्तने ये भेदाः ?) वैडूर्यच्छायानि यानि दलानि तत्तत्स्फुरत्सुवर्णतुल्यानि वर्णानि तदभ्यन्तरकेसराणि ॥ २६ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽऽ ।।।। ऽ ऽ ऽ ऽऽऽ।।।।ऽ ऽऽ
अस्मिंस्ते शिरसि तदा कान्ते वैडूर्यस्फटिकसुवर्णाढ्ये।
शोभां स्वां न वहति तां बद्धा सुश्लिष्टा कुवलयमालेयम् ॥ २६ ॥

"हे कान्ते ! वैदूर्यमणि, स्फटिक एवं सुवर्ण के अलङ्कारों से अलङ्कृत इस तुम्हारे शिर पर गुथी हुई (धारण की हुई) यह कुवलयमाला अपनी शोभा को धारण नहीं करती है ॥ २६ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में आदि के तीन अक्षर गुरु और अन्त के तीन अक्षर गुरु तथा मध्य के चार अक्षर लघु है, अतः यहाँ उत्पलमाला कुवलयमाला छन्द कहते हैं ॥ २६ ॥

अभिनव—स्वभाव के वर्त्तने में जितने भेद हैं, उस शोभा को नहीं धारण करते। वैदूर्य मणि के समान कान्ति वाले जो दल हैं उनके सुवर्ण के समान चमकते हुए किंजल्क (केशर) हैं ॥ २६ ॥

विशेष—गायकयाड़ संस्करण में उत्पलमाला या कुवलयमाला का निम्नलिखित लक्षण अधिक दिया गया है—

त्रीण्यादौ यदि हि गुरूणि स्युश्चत्वारो यदि लघवो मध्ये।
पंक्तावन्तर्गतमकारः स्याद्विज्ञेया कुवलयमालाख्या ॥

"यदि पाद के आदि के तीन अक्षर गुरु हों और मध्य के चार अक्षर लघु हो तथा अन्त के तीन अक्षर गुरु हों तो कुवलयमाला 'उत्पलमालिका' नामक पंक्तिच्छन्द होता है।'

इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है।

---

१. ख. ग. पुस्तकयोः इत्युदाहरणम् अस्मिंस्ते भ्रमरनिभे कान्ते नानारत्नरचितभूषाढ्ये।
शोभामावहति शुभां मूर्ध्नि प्रोत्फुल्ला कुवलयमालेयम् ॥

द्वितीयं च चतुर्थं च षष्ठमष्टममेव च ।
ह्रस्वं दशाक्षरे पादे यत्र सा शिखिसारिणी[1] ॥ २७ ॥

यथा—

नैव तेऽस्ति सङ्गमो मनुष्यैर्नापि कामभोगचिह्नमन्यत् ।
[2]गर्भिणीव दृश्यसे ह्यनार्ये ! किं मयूरसारिणी त्वमेवम्[3] ॥ २८ ॥

मयूरवद् व्याकोचमस्याः मयूरीभिर्वा (सारी) गतिविशेषो भवतीत्याहुः ॥ २८ ॥

---

१३. शिखिसारिणी (दशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—जिस वृत्त के दश अक्षर वाले पाद में द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ एवं अष्टम अक्षर ह्रस्व हो शेष गुरु हो उसे 'शिखिसारिणी' वृत्त कहते हैं ॥ २७ ॥

उदाहरण जैसे—

S I S I S I S I S S S I S I S I S I S S
नैव तेऽस्ति सङ्गमो मनुष्यैर्नापि कामभोगचिह्नमन्यत् ।
गर्भिणीव दृश्यसे ह्यनार्ये ! किं मयूरसारिणी त्वमेवम् ॥ २८ ॥

'हे अनार्ये ! तुम्हारा मनुष्यों से सङ्गम नहीं है और न कामभोग के कोई चिह्न है, किन्तु गर्भिणी के समान दिखाई दे रही हो, क्या तुम मयूरसारिणी (मयूर के समान आचरण करने वाली) हो ? ॥ २८ ॥

यहाँ पर पाद में द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम अक्षर लघु है और शेष गुरु हैं, अतः यहाँ 'शिखिसारिणी' या 'मयूसारिणी' छन्द है ।

अभिनव—मयूर के समान विकसित (फैले हुए) स्वरूप है जिसका अथवा मयूरी की तरह गति विशेष हैं जिसको इसे 'मयूरसारिणी कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. इत परं 'क' पुस्तके शिखिसारिण्या अधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—

जौ त्रिकौ हि पादगौ तु यस्या गौ च संश्रितौ तथा समौ तौ ।
पंक्तियोग सु प्रतिक्षिताङ्गो सा मयूरसारिणीति नाम्ना ॥

२. क. गर्भिणी च जायसे ।   ३. ख. त्वमेव ।

[1]आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं तथा ।
गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र स्युर्दोधकं तु तत्[2] ॥ २९ ॥

यथा—

[3]प्रस्खलिता प्रपदप्रविचारं मत्तविघूर्णितगात्रविलासम्[4] ।
पश्य विलासिनि ! [5]कुञ्जरमेतं दोधकवृत्तमयं [6]प्रकरोति ॥ ३० ॥

मन्दं मन्दं दोधकेन गीयमानं वृत्तं दोधकवृत्तम् ॥ २८ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में शिखिसारिणी का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

जौं त्रिकौ हि पादगौ तु यस्य गौं च संश्रितौ तथा समौ स्तौ ।
पंक्तियोग सुप्रतिष्ठिताङ्गी सा मयूरसारिणीति नाम्ना ॥

'जिस छन्द के दशाक्षर पाद में रगण, जगण और रगण तथा अन्त में गुरु हो वह पंक्ति के योग से सुप्रतिष्ठित 'शिखिसारिणी' या 'मयूरसारिणी' नामक वृत्त होता है ।

इसका उदाहरण उपर्युक्त उदाहरण है ।

१४. दोधक (त्रिष्टुप् एकादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जिस वृत्त के एकादशाक्षर पाद में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अन्तिम (ग्यारहवाँ) वर्ण गुरु हो वह 'दोधक' छन्द कहलाता है ॥ २९ ॥

अभिनव—जो वृत्त दूध दुहने को तरह मन्द-मन्द हो गाया जाता है वह दोधक वृत्त कहलाता है ॥ ३० ॥

---

१ ख. ग. प्रथमं च चतुर्थं च सप्तमं दशमं गुरु ।
अन्त्यं च त्रैष्टुभे पादे यत्र स्याद् दोधकं तु तत् ॥

२. इतः परं 'क' पुस्तकेऽयोलिखितं दोधकलक्षणमधिकं दृश्यते—

भौ तु भगाविति यस्य गणाः स्युः स्याच्च यतिस्त्रिचतुर्भिरथोक्ता ।
त्रैष्टुभमेव तु तत्खलु नाम्ना दोधकवृत्तमिति प्रवदन्ति ॥

३. क. प्रस्खलमानगति प्रविचारो ।

४. ख. गात्रविनामम् । ५. कुञ्जर एषो ।

६. ख. दोधकवृत्तगतिं प्रकरोति ।

[1]आदौ द्वौ पञ्चमं चैवाप्यष्टमं नैधनं तथा[2] ।
गुरूण्येकादशे पादे यत्र तन्मोटकं यथा ॥ ३१ ॥

उदाहरण जैसे—

S I I S I I S I I S S
प्रस्खलिताग्रपदप्रविचारं
मत्तविघूर्णितगात्रविलासम् ।
पश्य, विलासिनि ! कुञ्जरमेतं
दोधकवृत्तमयं प्रकरोति ॥ ३० ॥

"अरी विलासिनि ! इस हाथी को देखो, जो लड़खड़ाते हुए पैरों के अग्रभाग से विचरण कर रहा है और मतवाले की तरह झूमते हुए शरीर से विलास कर रहा है, छोटे बछड़े जैसी हरकतें कर रहा है।"

यहाँ पर प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अन्तिम अक्षर गुरु है और शेष लघु हैं। अतः यह 'दोधक' वृत्त का उदाहरण है ॥३० ॥

विशेष—गायकगण संस्करण में दोधक वृत्त का लक्षण निम्नलिखित रूप में अधिक पाया जाता है—

भौ तु भगाविति यस्य गणाः स्युः
स्याच्च यतिस्त्रिचतुर्भिरथास्मिन् ।
त्रैष्टुभमेव हि तत्खलु नाम्ना
दोधकवृत्तमिति प्रवदन्ति ॥ ३० ॥

"जिस एकादशाक्षर पादवाले छन्द के प्रत्येक पाद में भगण, भगण, भगण और अन्त में दो गुरु हो तथा तीन एवं चार अक्षरों पर यति हो वहाँ 'दोधक' नामक वृत्त होता है। यह त्रिष्टुप् जाति का छन्द है।

इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है।

१५. मोटक वृत्त (एकादशाक्षरावृत्ति)

अनुवाद—एकादशाक्षर पाद वाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में आदि के दो अक्षर, पांचवां, आठवाँ एवं अन्तिम अक्षर गुरु हो तथा शेष अक्षर लघु हो, उसे 'मोटक' वृत्त कहते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. क. (भ.) द्वे आद्ये। २. क. गुरु एकादशाक्षरे।

एषोऽम्बुदनिस्वनतुल्यरवः [1]क्षीबः स्खलमानविलम्बगतिः ।
श्रुत्वा [2]घनगर्जितमद्रितटे वृक्षान् [3]प्रतिमोटयति द्विरदः ॥ ३२ ॥
नवमं सप्तमं षष्ठं तृतीयं च भवेल्लघुः[4] ।
[5]एकादशाक्षरे पादे इन्द्रवज्रेति सा यथा[6] ॥ ३३ ॥
त्वं [7]दुर्निरीक्ष्या दुरतिप्रसादा दुःखैकसाध्या [8]कठिनस्वभावा ।
सर्वास्ववस्थासु च कामतन्त्रे योग्यासि किं वा बहुनेन्द्रवज्रा ॥ ३४ ॥

एष इति यावन्मुरजघाततुल्यं गर्जितं श्रुत्वा ॥ ३२ ॥

उदाहरण जैसे—

S S I I S I I S I I S
एषोऽम्बुदनिस्वनतुल्यरवः
क्षीबः स्खलमानविलम्बगतिः ।
श्रुत्वा घनगर्जितमद्रितटे
वृक्षात् प्रतिमोटयति द्विरदः ॥ ३२ ॥

"यह मेघ के गर्जन के समान ध्वनि करने वाला, मत्त स्खलन एवं मन्द गति वाला हाथी पर्वत के तट पर बादलों के गर्जन को सुनकर वृक्षों को ठोकर दे रहा है।"

यहाँ पर प्रत्येक पाद में आदि के दो अक्षर पञ्चम, अष्टम एवं अन्तिम अक्षर गुरु हैं और शेष अक्षर लघु हैं, अतः यहाँ 'मोटक' छन्द है ॥ ३२ ॥

अभिनव—नगाड़े पर आघात हुए के समान गर्जन को सुनकर ॥ ३२ ॥

१६. इन्द्रवज्रा (एकादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—एकादशाक्षर पाद वाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में तृतीय, षष्ठ सप्तम, नवम अक्षर लघु हों, शेष गुरु हों, वह 'इन्द्रवज्रा' छन्द कहलाता है ॥३३॥

---

१. ख. क्षणस्खलमानविलम्बगतिः । २. क. (टि०) घननिस्वन ।
३. क. (टि०) प्रतितोटयते । मोटयते । ४. ख. ग लघुन्यथ ।
५. ख. ग. यत्रैकादेशके ६. क. (टि०) स्मृता ।
७. ख. ग. चन्द्रं निरीक्ष्य दुरितस्वभावा ।
क (भ.) दुष्प्रेक्षणीया विगतप्रसादा दुःखेन साध्या कठिनाभिघाता ।
८. क. (टि०) दुःखेन साध्या कठिनस्वभावा ।

एभिरेव तु संयुक्ता लघुभिस्त्रैष्टुभी यथा ।
उपेन्द्रवज्रा विज्ञेया [1]लघ्वादाविह केवलम् ॥ ३५ ॥

यथा—

[2]प्रिये ! श्रिया वर्णविशेषणेन स्मितेन[3] कान्त्या सुकुमारभावैः ।
अमी गुणा [4]रूपगुणानुरूपा भवन्ति ते किं ? त्वमुपेन्द्रवज्रा[5] ॥३६॥

उदाहरण जैसे—

S S I S S I I S I S S
त्वं दुर्निरीक्ष्या दुरतिप्रसादा
दुःखैकसाध्या कठिनैकभावा ।
सर्वास्ववस्थासु च कामतन्त्रे
योग्यासि किं ? वा बहुनेन्द्रवज्रा ॥ ३४ ॥

"हे कामतन्त्रे ! तुम सभी अवस्थाओं में दुर्निरीक्ष्या, कठिनाई से प्रसन्न होने वाली, दुःख से साध्य, और कठोर स्वभाव वाली हो, अतः तुम्हारा इन्द्रवज्रा (इन्द्र के वज्र की तरह कठोर) नाम योग्य है, उचित है' ॥ ३४ ॥

प्रस्तुत छन्द का तृतीय, षष्ठ, सप्तम एवं नवम अक्षर लघु है और शेष गुरु हैं अतः यहाँ इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३४ ॥

१७. उपेन्द्रवज्रा (एकादशाक्षरावृत्तिः)

अनुवाद—जिस एकादशाक्षर वाले त्रिष्टुप् जाति के पाद में यदि इन्द्रवज्रा के लक्षण में प्रथम लघु हो जाय अर्थात् प्रथम, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, तथा नवम अक्षर लघु हों, शेष गुरु हो तो 'उपेन्द्रवज्रा' छन्द हो जाता है ॥ ३५ ॥

---

१. ग. लघ्वाढ्यमिह ।

२ ख. श्रिया च वर्णेन विशेषणेन । ग. प्रेम्णा श्रिया वर्णविशेषणेन ।

३. क-भ. यथा च कान्त्या सुकुमारयुक्त्या ।

४. ख रूपगणा ।

५. इतोऽग्रे ग्रन्थान्तरेषु ''षष्ठं च नवम'' मेत्यादिश्लोकद्वयमधिकं वर्तते ।

आद्यं तृतीयमन्त्यं च सप्तमं नवमं तथा।
[1]गुरूण्येकादशे पादे यत्र सा तु रथोद्धता ॥ ३७ ॥

उपेन्द्रवज्रा अस्या उपमानत्वेन सा तथा। मत्वर्थीय उपेन्द्रवज्रन्तु इन्द्रधनुष उपमितमुपेन्द्रवज्रमित्युपमितसमासः द्विगुप्राप्ते परवल्लिङ्गनिषेधः। स्मितेन कान्त्या च। इन्द्रधनुषोऽपि वर्णवैचित्र्यं भवति ॥ ४५ ॥

उदाहरण जैसे—

I S I S S I I S I S S
प्रिये ! श्रिया वर्णविशेषणेन
स्मितेन कान्त्या सुकुमारभावात्।
अमी गुणा रूपगुणानुरूपा
भवन्ति ते किं त्वमुपेन्द्रवज्रा ॥ ३६ ॥

'हे प्रिये ! शोभा (कान्ति), वर्ण-विशेष (गौर वर्ण), मुस्कुराहट, कान्ति एवं सुकुमार भावों से युक्त तुम्हारे ये गुण तुम्हारे रूप के अनुरूप है। अतः क्या तुम उपेन्द्रवज्रा (इन्द्र की वज्र की तरह कठोर) हो ॥ ३६ ॥

इस छन्द के ग्यारह अक्षर के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, षष्ठ, सप्तम एवं नवम अक्षर लघु हैं और शेष वर्ण गुरु हैं, अतः यहाँ उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३६ ॥

अभिनव—उपेन्द्र का वज्र जहाँ पर उपमान के रूप में हो वह उपेन्द्रवज्रा है। मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर 'उपेन्द्रवज्रम्' बनता है। इसमें इन्द्रधनुष से उपमा दी गई है, इसलिए उपेन्द्रवज्रम् में उपमित समास है। द्विगु समास होने पर परवत् (परपद) लिङ्ग का निषेध होता है। स्मितेन अर्थात् मुस्कुराहट कान्ति से इन्द्र धनुष का भी वर्ण वैचित्र होता है ॥ ३६ ॥

१८. रथोद्धता (एकादशाक्षरावृत्तिः)

अनुवाद—'ग्यारह अक्षर के पाद वाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, सप्तम, नवम तथा अन्तिम अर्थात् एकादश वर्ण गुरु हो और शेष लघु हो तो 'रथोद्धता' छन्द कहलाता है ॥ ३७ ॥

---

१. क. गुर्वेकादशके ।

यथा—

किं ? त्वया [1]सुभट ! [2]दूरवर्जितं नात्मनो न [3]सुहृदां प्रियं कृतम् ।
यत्पलायनपराणस्य ते याति धूलिरधुना रथोद्धता ॥ ३८ ॥

यथा—

[4]किं ? त्वया कुमतिसङ्गया सदा नाज्ञयेव सुहृदां प्रियं कृतम् ।
यद् गृहाद्वचनरोषकम्पिता याति तूर्णमबला रथोद्धता ॥

दूरवर्जितं प्रियं न कृतम् । हे सुभट, किं त्वया कृतम् (दूरत्यक्तमित्यर्थः ?) कुत इत्याह यत्पलायनेति ॥ ३८ ॥

उदाहरण जैसे—

S IS III SISIS
किं त्वया सुभट ! दूरवर्जितं
नात्मनो न सुहृदां प्रियं कृतम् ।
यत्पलायनपरायणस्य ते
याति धूलिरधुना रथोद्धता ॥ ३८ ॥

'हे सुभट ! तुमने दूर से ही युद्धभूमि को छोड़ कर क्या किया ? युद्धभूमि छोड़कर तुमने न अपना भला किया और न मित्रों का हित किया। क्योंकि युद्धभूमि से पलायन करने वाले तुम्हारे रथ से उद्धत धूलि उड़ रही है'' ॥ ६८ ॥

यहाँ प्रत्येक पाद का प्रथम, तृतीय, सप्तम, नवम तथा अन्तिम वर्ण गुरु है, शेष लघु है। अतः यहाँ पर 'रथोद्धता' छन्द है।

अभिनव—हे सुभट ! तुमने युद्ध को दूर से ही छोड़कर अच्छा नहीं किया। तुमने दूर से ही युद्ध को त्यागकर, यह क्या किया ? कैसे, जो कि डरकर युद्ध से भाग गये ॥ ३८ ॥

---

१. क. (टि०) सुभग ।
२. क. (टि०) दरवर्जितात्मना ।
३. क. (टि०) सुहृदः ।
४. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।

आद्यं तृतीयमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु।
[1]यस्यास्तु त्रैष्टुभे पादे विज्ञेया स्वागता हि सा ॥ ३९ ॥

यथा—

अद्य मे सफलमायतनेत्रे ! जीवितं मदनसंश्रयभावम्[2]।
आगतासि भवनं मम यस्मात्स्वागतं तव वरोरु ! निषीद ॥ ४० ॥

मदनसंश्रयो भावो यस्य कामफलमिति यावत् ॥ ४० ॥

दूसरा उदाहरण जैसे—

S I S I I I S I S I S
किं त्वया कुमति सङ्गया सदा
नाज्ञयेव सुहृदां प्रियं कृतम्।
यद् गृहाद्वचनरोषकम्पिता
याति तूर्णमबला रथोद्धता ॥ ३९ ॥

'हे अबले ! अज्ञा (मूर्खा) के समान सदा कुमति का सङ्ग करने वाली तुमसे क्या लाभ ? तुमने कभी भी मित्रों का हित नहीं किया। जो अबला होकर भी थोड़े से वचन कहने पर क्रोध से काँपती हुई रथ से उद्धत धूलि की तरह घर से बाहर जा रही हो।'

यहाँ रथोद्धता छन्द है।

१९. स्वागता (एकादशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—त्रिष्टुप् जाति के जिस छन्द के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, सप्तम, दशम तथा एकादश अक्षर गुरु हो, शेष लघु हों तो 'स्वागता' वृत्त होता है ॥ ३९ ॥

उदाहरण जैसे—

S I S I I I S I I S S
अद्य मे सफलमायतनेत्रे
जीवितं मदनसंश्रयभावम्।
आगतासि भवनं मम यस्मात्
स्वागतं ते वरोरु निषीद ॥ ४० ॥

---

१. ग. गुरूणि त्रैष्टुभे पादे। क (टि०) तथा गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र सा स्वागता यथा।

२. क. (टि०) मदनसंश्रितभावम्।

[1]षष्ठं च नवमं चैव लघुनी त्रैष्टुभे यदि ।
गुरूण्यन्यानि पादे तु सा ज्ञेया शालिनी, यथा ॥ ४१ ॥
दुःशीलं वा निर्गुणं वापरं वा लोके धैर्यादप्रियं न ब्रवीषि ।
तस्माच्छीलं साधुहेतोः सुवृत्तं माधुर्यात्स्यात्सर्वथा शालिनी त्वम् ॥४२॥

' हे आयतलोचने ! कामदेव के आश्रित (अधीन) मेरा जीवन आज सफल हो गया । क्योंकि आप मेरे घर पधारी हैं । हे वरोरु ! आपका स्वागत है, बैठिये ।

यहाँ पर एकादशाक्षर पाद वाले छन्द में प्रत्येक पाद में पहला, तीसरा, सातवाँ दसवां ग्यारहवां अक्षर गुरु है । अतः यहाँ 'स्वागता' छन्द है ॥ ४० ॥

अभिनव—जिसका भाव कामदेव के संश्रित (अधीन) है, अर्थात् काम फल है ॥ ४० ॥

२०. शालिनी (एकादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—त्रिष्टुप् जाति के जिस छन्द के प्रत्येक पाद में छठा, नौवां अक्षर लघु हो, शेष दीर्घ हो तो वहाँ 'शालिनी' वृत्त होता है ॥ ४१ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
दुःशीलं वा निर्गुणं वापरं वा
लोके धैर्यादप्रियं न ब्रवीषि ।
तस्माच्छीलं साधुहेतोः सुवृत्तं
माधुर्यात् स्यात् सर्वथा शालिनी त्वम् ॥ ४१ ॥

"हे देवि ! धैर्यशालिनी होने के कारण तुमने कभी किसी को दुःशील अथवा गुणहीन अथवा अन्य कोई अप्रिय शब्द नहीं कहती हो, इसलिए साधुता के कारण तुम्हारा शील (स्वभाव) सुवृत्त है, और मधुरता के कारण तुम सर्वथा शालिनी हो ॥ ४२ ॥

यहाँ प्रत्येक पाद में छठा, नौवाँ अक्षर लघु और शेष गुरु है, अतः यहाँ 'शालिनी' वृत्त है ।

१. ग. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

तृतीयं चैव षष्ठं च नवमं द्वादशं तथा ।
गुरूणि जागते पादे यत्र तत्तोटकं भवेत्[1] ॥ ४३ ॥

यथा—

किमिदं कपटाश्रयदुर्विषहं [2]बहुशाठ्यमथोल्वणरूक्षकथम् ।
स्वजनप्रियसज्जनभेदकरं ननु तोटकवृत्तमिदं कुरुषे[3] ॥ ४४ ॥

किमिदमिति तोटकस्य छेदकस्य वृत्तं चेष्टितम् ॥ ५५ ॥

---

२१. तोटक वृत्त (जगती जाति, द्वादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जगती जाति के द्वादशाक्षर पाद के जिस छन्द के प्रत्येक पाद में तीसरा, छठां, नौवाँ तथा बारहवां अक्षर गुरु हो, शेष ह्रस्व हों तो वहाँ 'तोटक' वृत्त होता है ॥ ४३ ॥

उदाहरण जैसे—

।। ऽ ।।ऽ।।ऽ।।ऽ
किमिदं कपटाश्रयदुर्विषहं
बहुशाठ्यमथोल्वणरूक्षमथम् ।
स्वजनप्रियसज्जनभेदकरं
ननु तोटकवृत्तमिदं कुरुषे ॥ ४४ ॥

"धोखेबाजी के आश्रय से असह्य, धूर्तता से पूर्ण, अत्यन्त रूखे वचन से युक्त, स्वजन और प्रिय सज्जनों में भेद करने वाले इस तोड़ने वाले आचरण को क्यों कर रहे हो।"

यहाँ पर प्रत्येक पाद में तीसरा, छठा, नौवां तथा बारहवां अक्षर गुरु हैं, शेष लघु। अतः 'तोटक' छन्द है ॥ ४४ ॥

अभिनव—तोटक अर्थात् छेदक का वृत्त आचरण ॥ ४४ ॥

---

१. इतः परं क. पुस्तकेऽयं अधिकं दृश्यते —
यदि सोऽत्र भवेत्तु समुद्रसमस्त्रिषु चापि तथा नियमेन यतिः ।
सततं जगतीविहितं हि ततं गदितं खलु तोटकवृत्तमिदम् ॥

२. ख. बहुगर्जमिवोद्गणरूक्षकथम् । ग. बहुगण्डमिवोल्वणरूक्षपथम् ।

३. ग. प्रकुरु ।

[1]आद्यं तृतीयमन्त्यं च पञ्चमं षष्ठमेव च।
तथोपान्त्यं जगत्यां च गुरु चेत्कुमुदप्रभा[2] ॥ ४५ ॥

यथा—

[3]मन्मथेन विद्धा सललितभावा नृत्तगीतयोगा प्रविकसिताक्षी।
निन्द्यमद्य किं ? त्वं विगलितशोभा चन्द्रपादयुक्ता कुमुदवती च ॥४६॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में तोटक का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदि सोऽत्र भवेत्तु समुद्रसमस्त्रिषु चापि तथा नियमेन यतिः।
सततं जगती विहितं हि ततो गदितं खलु तोटकवृत्तमिदम् ॥

"यदि जगती जाति के द्वादशाक्षर पाद वाले वृत्त के प्रत्येक चरण में चार सगण हो और नियमानुसार तीन अक्षरों पर 'यति' हो तो 'तोटक' नामक वृत्त होता है"

जैसे—रगण सगण स।ण सगण
।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ
किमिदं कपटा श्रयदुर्विषहं

२२. कुमुदप्रभा (द्वादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जगती जाति के जिस छन्द के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, पञ्चम, षष्ठ, एकादश, और द्वादश अक्षर गुरु हों और शेष वर्ण लघु हों तो 'कुमुदप्रभा' नामक छन्द कहलाता है ॥ ४५ ॥

---

१. 'ग' पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति।

२. इतः परं क. पुस्तकेऽयं अधिकं दृश्यते—

यौ त्रिकौ तथा न्यौ यदि खलु पादे षड्भिरेव वर्णैर्यदि च यदि स्यात्।
नित्यसंनिविष्टा जगतिविधाने नामतः प्रसिद्धा कुमुदनिभा सा ॥

३. क. (टि०) कामबाणविद्धा किमसि नतभ्रू।
शीतवातदग्धा नवनलिनीव।
पाण्डुवक्त्रशोभा कथमसि जाता ॥
अग्रतः सखीनां कुमुदनिभा त्वम्।

मतान्तरे—

यदि लघु पादे न्यौ द्विकौ यथा यौ यतिरपि वर्णैः षड्भिरेव चेत्स्यात् ।
जगति विधाने नित्यसंनिविष्टा कुमुदनिभा सा नामतः प्रसिद्धा ॥४७॥

यथा—

कुमुदनिभा त्वं कामबाणविद्धा किमिति ? नतभ्रूः शीतवातदग्धा ।
मृदुनलिनीवापाण्डुवक्त्रशोभा कथमपि जाता ह्यग्रतः सखीनाम् ॥ ४८ ॥

मन्मथेनेति नृत्तगीतयुक्ता भवतीति सम्बन्धः ॥ ४६ ॥

उदाहरण जैसे—

SISI SS IIII SS
मन्मथेन विद्धा, सललित भाषा
नृत्यगीतयोगा, प्रविकसिताक्षी ।
निन्द्यमद्य किं त्वं, विगलितशोभा
चन्द्रपादयुक्ता कुमुदवती च ॥ ४६ ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में प्रथम, तृतीय, पञ्चम षष्ठ, सप्तम, एकादश और द्वादश अक्षर गुरु हैं, शेष वर्ण लघु हैं। अतः यहाँ कुमुदप्रभा छन्द है ॥ ४६ ॥

अभिनव—मन्मथ अर्थात् कामदेव के उद्रेक से नृत्य एवं गीत से युक्त नहीं हो सकती ॥ ४६ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में कुमुदवती का निम्नलिखित लक्षण अधिक दिया गया है—

यौं त्रिकौ तथा न्यौ यदि खलु पादे
षड्भिरेव वर्णैर्यदि च यतिः स्यात् ।
नित्यसंनिविष्टा जगतिविधाने
नामतः प्रसिद्धा कुमुदनिभा सा ॥

"जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में रगण, यगण, नगण, यगण त्रिक हों और छः वर्णों पर यति हो तो जगती छन्द अर्थात् द्वादशाक्षरा छन्द के विधान में 'कुमुदनिभा' वृत्त होता है।"

द्वादशाक्षरके पादे सप्तमं दशमं लघु ।
[1]आदौ पञ्चाक्षरच्छेदश्चन्द्रलेखा सा यथा ॥ ४९ ॥

यथा—

वक्त्रं सौम्यं ते पद्मपत्रायताक्षं कामस्यावासं सुनासोच्चप्रहासम् ।
[2]कामस्यापीदं काममाहर्तुकामं कान्ते ! कान्त्या त्वं चन्द्रलेखेव भासि ॥५०॥

जैसे—रगण यगण नगण यगण
SISI SS IIII SS
मन्मथेन विद्धा, सललितभाषा

यहाँ पर रगण, यगण, नगण, यगण है, और छ अक्षरों पर यति है अतः कुमुदनिभा छन्द है।

अन्यमतानुसार कुमुदनिभा का लक्षण—

अनुवाद—यदि जगती वृत्त के द्वादशाक्षर पाद में नगण, यगण, रगण, यगण का त्रिक हो और छ अक्षरों पर यति हो तो 'कुमुदनिभा' वृत्त होता है ॥४७॥

उदाहरण जैसे—

नगण यगण रगण यगण
III ISS SIS ISS
कुमुदनिभात्वं कामबाणविद्धा ।
किमिति ! नतभ्रूः शीतवातदग्धा ।
मृदुनलिनीव पाण्डुवक्त्रशोभा
कथमपि जाता ह्यग्रतः सखीनम् ॥ ४८ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में नगण, यगण, रगण, यगण और छः अक्षरों पर यति है। अतः यहाँ 'कुमुदनिभा' छन्द है ॥ ४८ ॥

२३. चन्द्रलेखा (द्वादशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—द्वादशाक्षर पाद वाले छन्द में यदि सातवाँ दसवाँ अक्षर लघु हो और शेष गुरु हो तथा पाँच अक्षरों पर यति हो तो 'चन्द्रलेखा' नामक वृत्त होता है ॥ ४९ ॥

---

१. क. (टि॰) यत्रान्यानि दीर्घाणि ।
२. क. कामस्यावासं ।

तृतीयमन्त्यं नवमं पञ्चमं च यदा गुरु।
द्वादशाक्षरके पादे यत्र सा प्रमिताक्षरा ॥ ५१ ॥

यथा—

स्मितभाषिणो[1] ह्यचपलापरुषा निभृतापवादविमुखी[2] सततम्।
अपि कस्यचिद्युवतिरस्ति सुखा प्रमिताक्षरा स हि पुमाञ्जयति[3] ॥५२॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽ ऽऽऽ ऽ।ऽऽ। ऽ ऽ
वक्त्रं सौम्यन्ते पद्मपत्रायताक्षं
कामस्यावासं सुनासोच्चप्रहासम्
कामस्यापीदं कामाहर्त्तृकामं
कान्ते ! कान्त्या त्वं चन्द्रलेखेव भासि ॥ ५० ॥

"हे कान्ते ! तुम्हारा सौम्य मुख कमलदल के समान विशाल नेत्रों वाला, कामदेव का आवास, उच्च नासिका और प्रहास युक्त, कामदेव को भी कामना को आहरण करने वाला है। हे देवि ! तुम अपनी कान्ति से चन्द्रलेखा के समान लग रहो हो" ॥ ५० ॥

यहाँ पर पाद का सातवाँ और दसवाँ अक्षर लघु और शेष अक्षर गुरु हैं, अतः यहाँ 'चन्द्रलेखा' छन्द है ॥ ५० ॥

२४. प्रमिताक्षरा (द्वादशाक्षर वृत्ति)

अनुवाद—जिस द्वादशाक्षर पद वाले छन्द के प्रत्येक पाद में तृतीय, पञ्चम, नवम तथा अन्तिम (बरहवाँ) अक्षर गुरु हो, शेष लघु हो तो 'प्रमिताक्षरा' नामक वृत्त होता है ॥ ५१ ॥

उदाहरण जैसे—

। । ऽ । ऽ ।।।ऽ।।ऽ
स्मितभाषिणी ह्यचपलापरुषा
निभृतापवादविमुखी सततम्।
अपि कस्यचिद्युवतिरस्ति सुखा
प्रमिताक्षरा स हि पुमान् जयति ॥ ५२ ॥

---

१. ख. ग. स्थितहासिनी। भ. स्मितभासिनी।
२. ग. विमुखा। क. (टि०) वशवर्तिनी मधुरवाङ्निभृता।
३. ग. जगति।

द्वितीयमन्त्यं दशमं चतुर्थं पञ्चमाष्टमे ।
गुरुणि द्वादशे पादे वंशस्था जगती[1] तु [2]सा ॥ ५३ ॥
न मे प्रिया त्वं बहुमानवर्जितां प्रियं प्रिया ते परुषाभिभाषिणी ।
तथा च पश्याम्यहमद्य विग्रहं ध्रुवं हि [3]वंशस्थगतिं करिष्यति ॥५४॥

स्मितेति । प्रमिताक्षरा भण्यते, सा स्मितभाषित्वादिगुणयुक्ता सा तादृशी सुमुखी युवतिरपि कस्यचिद्भवेदिति शेषः ॥ ६४ ॥

"मुसुकरा कर बात करने वाली चञ्चलता और कठोरता से रहित, शान्त तथा निरन्तर अपवाद से रहित सुख देने वाली तथा कम बोलने वाली जिस किसी की युवति नारी है वह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है" ॥ ५२ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद का तृतीय, पञ्चम, नवम और द्वादश अक्षर गुरु है, शेष लघु । अतः यहाँ 'प्रमिताक्षरा' छन्द है ।

अभिनव—स्मितभाषित्व आदि गुणों से युक्त वह नारी प्रमिताक्षरा कही जाती है, ऐसी सुमुखी युवति जिस किसी को हो, वह सर्वोत्कृष्ट है ॥ ५२ ॥

२५. वंशस्थ (द्वादशाक्षरावृत्तिः)

अनुवाद—जगती जाति के द्वादशाक्षर वाले पाद में यदि द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, अष्टम, दशम एवं द्वादश अक्षर गुरु हो, शेष लघु हो तो वहाँ 'वंशस्थ' वृत्त होता है ॥ ५३ ॥

उदाहरण जैसे—

I S I S S I I S I S I S
न मे प्रिया त्वं बहुमानवर्जिता
प्रियं प्रिया ते परुषाभिभाषिणी ।
तथा च पश्याम्यहमद्य विग्रहं
ध्रुवं हि वंशस्थगतिं करिष्यति ॥ ५४ ॥

---

१. क. (टि०) गदिता तु सा ।
२. क. इतः परं पुस्तकेऽधिकं दृश्यते—
यदि त्रिकौ ज्तौ भवतस्तु पादतस्तथैव च ज्रावसानसंस्थितौ ।
तदा हि वृत्तं जगतीप्रतिष्ठितं वदन्ति वंशस्थमितीह नामतः ॥
३. ख. ग. न मे प्रियं यद्बहुमानवर्जिता,
कृता प्रिये ते परुषाभिभाषणैः ।
तथा च पश्याम्यहमद्य विक्रमं
ध्रुवं स वंशस्थगतिः करिष्यति ।

चतुर्थमन्त्यं दशमं सप्तमं च यदा गुरु।
[1]भवेद्धि जागते पादे तदा स्याद्धरिणप्लुता[2]॥ ५५ ॥
परुषवाक्यकशाभिहता[3] त्वया [4]भयविलोकनपार्श्वनिरीक्षणा।
वरतनुः प्रततप्लुतसर्पणैरनुकरोति[5] गतैर्हरिणप्लुतम्[6] ॥ ५६ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में बारह अक्षर हैं और प्रत्येक पाद का द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, अष्टम, दशम, एवं द्वादश वर्ण गुरु है, शेष लघु है, अतः यहाँ 'वंशस्थ' छन्द है ॥ ५४ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में वंशस्थ का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया पाया जाता है—

यदि त्रिकौ ज्तौ भवतस्तु पावत-
स्तथैव च ज्रावसानसंस्थितौ।
तथा हि वृत्तं जगतीप्रतिष्ठितं
वदन्ति वंशस्थमितीह नामतः॥

"जगती जाति के जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में जगण, तगण, जगण और रगण त्रिक हों उसे 'वंशस्थ' नामक वत्त समझना चाहिए।" जैसे—

जगण	तगण	जगण	रगण
। ऽ ।	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ऽ
न मे प्रि	या त्वं ब	हु मान	वर्जिता

२६. हरिणप्लुता (द्वादशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—जिस जगती जाति के द्वादशाक्षर पाद वाले वृत्त के प्रत्येक पाद में चतुर्थ, सप्तम, दशम एवं द्वादश वर्ण गुरु हो, शेष वर्ण लघु हो, उसे 'हरिणप्लुता' छन्द कहते हैं ॥ ५५ ॥

---

१. क (भ.) यस्यास्तु जागते पादे सा ज्ञेया हरिणप्लुता।
२. ग. हरिणीप्लुता।
३. ग. परुषवाचककथाभिहिता।
४. क (भ.) भयनिरीक्षणपार्श्वविलोकनैः।
५. क (भ.) प्रकुरुते प्रगतं हरिणप्लुता।
६. म. हरिणीप्लुतम्।

[1]सप्तमं नवमं चान्त्यमुपान्त्यं च यदा गुरु ।
द्वादशाक्षरके पादे कामदत्तेति सा यथा[2] ॥ ५७ ॥

परुषेत्यादि । भवत्परुषवाक्यरूपया कशया अभिहता वरतनुर्हरिणप्लुतमिव करोति ॥ ५६ ॥

उदाहरण जैसे—

नगण भगण भगण रगण
।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ
परुष वाक्यक शाभिह ता त्वया
भयविलोकनपार्श्वनिरीक्षणैः ।
वरतनुः प्रततप्लुतसर्पणै-
रनुकरोति गतैर्हरिणप्लुतम् ॥ ५६ ॥

"तुम्हारे कठोर वचन रूपी कशा (कोड़े) से ताड़ित वह सुन्दरी अपनी चाल से भय से चकित अगल-बगल देखते हुए, सतत उछल-उछल कर भागते हुए हरिण की गति का अनुसरण कर रही है ॥ ५६ ॥

यहाँ पर द्वादशाक्षरपाद में चतुर्थ, सप्तम, दशम एवं द्वादश अक्षर गुरु है, और शेष लघु । अतः यहाँ पर 'हरिणप्लुता' वृत्त है ।

अभिनव—परुषवचनेति—आपके कठोर वचन रूपी कशा (कोड़े) से अभिहत (ताड़ित) हुई वह वरतनु हरिण की उछाल को तरह उछल रही है ॥ ५५-५६ ॥

विशेष—पिङ्गल तथा अन्य आचार्यों ने इसे 'द्रुतबिलम्बित' नाम से अभिहित किया है ॥ ५५ ॥

२७. कामदत्ता

अनुवाद—जिसके बारह अक्षर के पाद में सातवाँ, नौवां, ग्यारहवाँ तथा बारहवाँ अक्षर गुरु हो और शेष अक्षर लघु हो तो 'कामदत्ता' नामक वृत्त कहलाता है ॥ ५७ ॥

---

१. क-भ. सप्तमं नवमं चैव ह्यन्तोपान्ते गुरूण्यथ ।
यत्र स्युर्जागते पादे कामदत्ता तु सा मता ॥
२. ख. स्मृता ।

करजपदविभूषिता यथा त्वं
[1]सुदति ! दशनविक्षताधरा च ।
गतिरपि [2]चरणावलग्नमन्दा
त्वमसि [3]मृगनिभाक्षि ! कामदत्ता ॥५८॥

आद्यं चतुर्थं दशमं सप्तमं च यदा [4]लघु ।
[5]पादे तु जागते यस्या अप्रमेया तु सा यथा ॥ ५९ ॥

उदाहरण जेसे—

नगण नगण रगण रगण
। । । ।।। ऽ।ऽ ।ऽऽ
करज पदवि भूषिता यथा त्वं
सुदति ? दशानाविक्षताधरा च ।
गतिरपि चरणावलग्नमन्दा
त्वमसि मृगानिभाक्षि ! कामदता ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हे सुदति ! तुम जिस प्रकार नखक्षत से विभूषित हो और अधर दन्तक्षत से युक्त हैं, तथा तुम्हारी गति भी पैरों के लड़खड़ाने से मन्द है, इससे प्रतीत होता है कि हे मृगनयनो ! तुम कामदत्ता हो, अर्थात् काम के लिए प्रदान की गई हो ॥ ५८ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में सातवाँ, नौवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ अक्षर गुरु है, शेष लघु है और अतः यहाँ 'कामदत्ता' छन्द है ॥ ५८ ॥

२८. अप्रमेया (भुजङ्गप्रयात)

अनुवाद—जिस जगती जाति के बारह अक्षर के पाद में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम एवं दशम अक्षर लघु हों, शेष गुरु हों तो 'अप्रमेया' नामक वृत्त होता है ॥ ५९ ॥

१. क. (भ) सुतनु । २. ग. चरणारविन्दमन्दा ।
३. ख. त्वमसि मृगसमाक्षि काममत्ता । ४. क. (भ.) लघून्यथ ।
५. ख. द्वादशाक्षरके पादे ।

न ते काचिदन्या समा दृश्यते स्त्री
[1]नृलोके विशिष्टा गुणैरद्वितीयैः ।
[2]त्रिलोक्यां गुणज्यान् समाहृत्य सर्वान्
जगत्यप्रमेयाऽसि सृष्टा[3] विधात्रा ॥ ६० ॥

उदाहरण जैसे—

। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
न ते का चिदन्या समा दृ श्यते स्त्री
नृलोके विशिष्टा गुणैरद्वितीयैः ।
त्रिलोक्यां गुणाग्रधान् समाहृत्य सर्वान्
जगत्यप्रमेयाऽसि सृष्टा विधात्रा ॥ ६० ॥

इस मानव लोक में अद्वितीय गुणों से विशिष्ट तुम्हारे समान अन्य कोई स्त्री दिखाई नहीं देती, क्योंकि विधाता ने त्रिलोको में सभी श्रेष्ठ गुणों को इकट्ठा करके जगत् में अप्रमेय तुम्हें बनाया है ॥ ६० ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम एवं दशम अक्षर लघु है और शेष गुरु हैं, अतः यहाँ 'अप्रमेया' छन्द है ॥ ६० ॥

विशेष—इसे ही पिङ्गल तथा अन्य आचार्यों ने 'भुजङ्गप्रयात' नामक छन्द कहा है। 'भुजङ्गप्रयात' छन्द का लक्षण अन्य आचार्यों ने **"भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः"** लिखा है अर्थात् जिस जगती छन्द के प्रत्येक पाद में चार यगण (। ऽ ऽ) हों उसे भुजङ्गप्रयात छन्द कहते हैं। जैसे—

यगण यगण यगण यगण
। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
न ते का चि द न्या स मा दृ श्य ते स्त्री

इस पाद में चार यगण हैं अतः यह भुजङ्गप्रयात छन्द है।

---

१. ख. ग गुणैर्वाद्वितीया तृतीयापि चास्मिन् ।
२. ख. ग. ममेयं मतिर्लोकमालोक्य सर्व ।
३. क. दृष्टा ।

द्वितीयं पञ्चमं चैव ह्यष्टमैकादशे[1] तथा ।
पादे यत्र लघूनि स्युः पद्मिनी नाम सा यथा[2] ॥ ६१ ॥

देहतोयाशया वक्त्रपद्मोज्ज्वला
नेत्रभृङ्गाकुला दन्तहंसस्मिता ।
केशपाशच्छदा चक्रवाकस्तनी
पद्मिनीव प्रिये भासि मे सर्वदा ॥ ६२ ॥

२९. पद्मिनी

अनुवाद—बारह अक्षर के पाद वाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में द्वितीय, पञ्चम, अष्टम तथा एकादश अक्षर लघु हों और शेष वर्ण गुरु हों, उसे 'पद्मिनी' नामक वृत्त कहते हैं ॥ ६१ ॥

विशेष—अन्य आचार्यों ने 'पद्मिनी' को ही 'स्रग्विणी' नामक छन्द कहा है ॥ ६१ ॥

उदाहरण जैसे—

रगण	रगण	रगण	रगण
ऽ।ऽ	ऽ।ऽ	ऽ।ऽ	ऽ।ऽ

देहतो याशया वक्त्रप द्मोज्ज्वला
नेत्रभृङ्गाकुला दन्तहंसस्मिता ।
केशपाशच्छदा चक्रवाकस्तनी
पद्मिनीव प्रिये भासि मे सर्वदा ॥ ६२ ॥

"हे प्रिये ! तुम्हारा शरीर जलाशय है, मुख विकसित कमल है, नेत्र आकुल भौंरे हैं, मुस्कराहट युक्त तुम्हारे दन्त हंस है, केशपाश छद (सेवार) हैं और स्तन चक्रवाक हैं, इस प्रकार पद्मसर को भाँति शोभित हो रही हो ॥ ६२ ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में द्वितीय, पञ्चम, अष्टम, एवं एकादश अक्षर लधु हैं और शेष गुरु है । अतः यह 'पद्मिनी' नामक वृत्त का उदाहरण है ।

---

१. ख अष्टमैकादशं यथा ।
२. इतः परं 'क' पुस्तकेऽधोलिखितं पद्मिनीलक्षणमधिकं दृश्यते—
रास्त्रिकाः सागराख्या निविष्टा यदा स्यात् त्रिके च त्रिके युक्तरूपा यतिः ।
सन्निविष्टा जगत्यास्ततस्सा बुधैर्नामतश्चापि संकीर्त्यते पद्मिनी ॥

उदाहरणान्तरं यथा—

[1]फुल्लपद्मानना त्वं द्विरेफेक्षणा
केशपत्रच्छदा चक्रवाकस्तनी ।
पीततोयावली बद्धकाञ्चीगुणा
पद्मिनीव प्रिये ! भासि नोरे स्थिता ॥ ६३ ॥

अन्य उदाहरण—

रगण	रगण	रगण	रगण
S I S	S I S	S I S	S I S
फु ल्ल प	द्मानना	त्वं द्वि रे	फे क्ष णा

केशपत्रच्छदा चक्रवाकस्तनी ।
पीततोयावली बद्धकाञ्चीगुणा
पद्मिनीव प्रिये ! भासि नोरे स्थिता ॥ ६३ ॥

"हे प्रिये! जल में स्थित तुम खिले हुए कमल रूपी मुखवाली, भ्रमर रूप नेत्र वाली, पीत जल रूप बाँधी हुई करधनी वाली पद्मिनी (पद्मसर) के समान लग रही हो ॥ ६३ ॥

यहाँ पर प्रत्येक चरण में द्वितीय, पञ्चम, अष्टम एवं एकादश अक्षर लघु हैं, शेष गुरु है। अतः यहाँ 'पद्मिनी' का 'स्रग्विणी' छन्द हैं।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में 'पद्मिनी' वृत का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

रास्त्रिकाः सागराख्या निविष्टा यदा
स्यात् त्रिके च त्रिके युक्तरूपा यतिः ।
सन्निविष्टा जगत्यास्ततस्सा बुधै—
र्नामतश्चापि संकीर्त्यते पद्मिनी ॥

अनुवाद—जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में चार रगण सन्निविष्ट हों और तीन-तीन अक्षरों पर यति हो, विद्वान् लोग उसे जगती जाति का 'पद्मिनी' या 'स्रग्विणी' नामक वृत्त कहते हैं। जैसे—

१. ख. पुस्तके इतः परं श्लोकद्वयं नास्ति ।

आदौ षट्दशमं चैव पादे यत्र लघून्यथ ।
शेषाणि तु गुरूणि स्युर्जागते पुटसंज्ञिता ॥ ६४ ॥
[1]उपवनसलिलानां [2]बालपद्मैर्भ्रमरपरभृतानां कण्ठनादैः[3] ।
[4]मदनमदविलासैः कामिनोनां कथयति [5]पुटवृत्तं पुष्पमासः ॥ ६५ ॥

रगण	रगण	रगण	रगण
S I S	S I S	S I S	S I S
देहतो	याशया	पद्मव	वत्रोज्ज्वला

यहाँ पर पाद में चार रगण हैं, अतः 'पद्मिनी' नामक छन्द है।

३०. पुट

अनुवाद—जिस बारह अक्षरों वाले पाद में प्रत्येक पाद का प्रथम छः वर्ण एवं दशम अक्षर लघु हों और शेष गुरु हों, तो 'पुट संज्ञक' वृत्त होता है ॥ ६४॥

उदाहरण जैसे—

I I I I I I S S S I S S
उ प व न स लि ला नां बा ल प द्मै-
भ्रंमरपरभृतानां कण्ठनादैः ।
मदनमदविलासैः कामिनीनां
कथयति पुटवृत्तं पुष्पमासः ॥ ६५ ॥

---

१. ख. पुस्तकेऽधोलिखितं पुष्पवृत्तलक्षणमधिकं दृश्यते—
यदि चरणनिविष्टौ नौ तथा म्यौ यतिविधिरपि युक्त्याष्टाभिरिष्टः ।
भवति च जगतीस्थः सर्वदा स इह हि पुटवृत्तं नामतस्तु ॥

२. क. (टि०) बालपद्मे ।

३. क. (टि०) कण्ठनादे ।

४. क. (टि०) समदगतिविलासे ।

५. क. (टि०) कथयति पट्टलवृत्तं ।

[1]द्वितीयान्त्ये चतुर्थं च नवमैकादशे गुरु।
[2]विच्छेदोऽतिजगत्यां तु चतुर्भिः सा प्रभावतो ॥ ६६ ॥

उपवनेति। पुटस्य युगलस्य वृत्तं तथा चोपवनं सलिलं चेति युग्मम्, एवमन्यत् ॥ ६५ ॥

अनुवाद—यह पुष्पमास उपवन के जलाशय में उत्पन्न नूतन कमलों से, भौंरे और कोयल के कण्ठनादों से, कामिनी नारियों के काम मद से उत्पन्न विलासों के द्वारा यह पुष्पमास पुटवृत्त (युगल वृत्त) को कह रहा है ॥ ६५ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद आदि के छः अक्षर और दशम वर्ण लघु हैं और शेष गुरु हैं। अतः यहाँ 'पुटवृत्त' छन्द है।

अभिनव—उपवनेति—पुटवृत्त का अर्थ है युगल का वृत्त और यहाँ उपवन तथा सलिल युगल हैं। इसी प्रकार अन्य भो भ्रमर-कोयल आदि युग्म हैं ॥ ६५ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में पुटवृत्त का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है।

यदि चरणनिविष्टौ नौ तथा म्यौ
यतिविधिरपि युक्त्याऽष्टाभिरिष्टः।
भवति च जगतीस्थः सर्वदासौ
य इह हि पुटवृत्तं नामतस्तु ॥

अनुवाद—यदि जगती जाति के छन्द के प्रत्येक पाद में दो नगण, मगण यगण हों और आठ अक्षरों पर यति हो तो 'पुटवृत्त' नामक छन्द होता है। जैसे—

नगण	नगण	मगण	यगण
। । ।	। । ।	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ
उ प व	न स लि	ला नां बा	ल प द्मै—

भ्रमरपरभृतानां कण्ठनादैः।

यहाँ पर पाद में दो नगण, मगण और यगण हैं। अतः यहाँ 'पुटवृत्त' नामक छन्द हैं ॥

---

१. ख. ग. द्वितीयं च चतुर्थं च।
२. क. भ. पादे तु जगतीसंस्थे यत्र सा तु प्रभावती।

[1]कथं न्विदं कमलविशाललोचने !
गृहं [2]घनैः पिहितकरे दिवाकरे[3] ।
[4]अचिन्तयन्त्यभिनववर्षविद्युत-
स्त्वमागता[5] सुतनु ! यथा प्रभावती ॥ ६७ ॥

---

३१. प्रभावती (अतिजगती जाति, त्रयोदशाक्षरावृत्ति)

अनुवाद—यदि अतिजगती जाति के वृत्त के प्रत्येक पाद का द्वितीय, चतुर्थ, नवम, एकादश तथा द्वादश अक्षर गुरु हों, शेष लघु हों तथा चार-चार अक्षरों पर यति हो तो 'प्रभावती' नामक वृत्त होता है ॥ ६६ ॥

जैसे—

I S I S I I I I S I S I S
कथं न्वि दं क म ल वि शा ल लो च ने
गृहं घनैः पिहितकरे दिवाकरे ।
अचिन्तयन्त्यभिनववर्षविद्युत—
स्त्वमागता सुतनु यथा प्रभावती ॥ ६७ ॥

अनुवाद—हे कमल के समान विशाल नेत्रों वाली सुन्दरि ! बादलों के द्वारा सूर्य के ढक जाने पर अर्थात् अंधेरा हो जाने पर, नूतन वर्षा तथा बिजली की परवाह न करती हुई तुम प्रभावती के समान मेरे घर कैसे चली आई ? ॥ ६७ ॥

इस श्लोक में प्रत्येक पाद का द्वितीय, चतुर्थ, नवम, एकादश तथा द्वादश वर्ण गुरु है, शेष वर्ण लघु है । अतः 'प्रभावती' नामक वृत्त है ॥ ६७ ॥

---

१. क. (भ.) अदः कथं ।
२. क. (भ.) गृहं गता ।
३. ख. ग. निशाकरे ।
४. क. (भ.) न मानसे भयमतिवृष्टिसम्भवं पराक्रमैस्त्वमसि ।
५. क. (प.) समागता ।

त्रीण्यादावष्टमं चैव दशमं नैधनद्वयम्[1] ।
[2]गुरूण्यतिजगत्यां तु त्रिभिश्छेदैः प्रहर्षिणी ॥ ६८ ॥

भावस्थैर्मधुरकथैः[3] सुभाषितैस्त्वं
साटोपस्खलितविलम्बितैर्गतैश्च ।
[4]शोभाढ्यैर्हरसि मनांसि [5]कामुकानां
सुव्यक्तं ह्यतिजगती प्रहर्षिणी च[6] ॥ ६९ ॥

३२. प्रहर्षिणी (त्रयोदशाक्षरावृत्ति)

अनुवाद—अतिजगती जाति के जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में आदि के तीन वर्ण तथा अष्टम, दशम एवं अन्त के दो वर्ण अर्थात् बारहवाँ और तेरहवाँ अक्षर गुरु हों, शेष लघु हो तथा तीन-तीन अक्षरों पर यति हो तो, प्रहर्षिणी' नामक वृत्त होता है ॥ ६८ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽ ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ
भा व स्थै मं धु र क थैः सु भा षि तै स्त्वं
साटोपस्खलितविलम्बितैर्गतैश्च ।
शोभाढ्यैर्हरसि मनांसि कामुकानां
सुव्यक्तं ह्यसि जगति प्रहर्षिणी ॥ ६९ ॥

अनुवाद—हे युवति ! तुम भावपूर्ण मधुर कथाओं वाले सुभाषितों से और गर्व के साथ लड़खड़ाती हुई विलम्बित (मन्द) गति से कामुकों के मन को हर लेती हो, अतः इस संसार में तुम प्रहर्षिणी (हर्षित करने वाली) हो, यह स्पष्ट है ॥ ६९ ॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद का आदि के तीन अक्षर तथा अष्टम, दशम, द्वादश एवं त्रयोदश वर्ण गुरु हैं, शेष लघु हैं, और तीन-तीन अक्षरों पर यति है, अतः 'प्रहर्षिणी' नायक वृत्त है ॥ ६९ ॥

---

१. ख. ग. नैधनं तथा ।
२. क. (भ.) गुरूणि पादे ह्यत्रैव यस्याः सा प्रहर्षिणी ।
३. क. (टि०) मधुरसकैः । मधुरतरैः ।
४. क. (टि०) नानाङ्गैः । ५. क. (टि०) मानवानां । ६. क. (टि०) त्वम् ।

षष्ठं च सप्तमं चैव दशमैकादशे लघु[1] ।
[2]त्रयोदशाक्षरे पादे ज्ञेयं मत्तमयूरकम् ॥ ७० ॥
विद्युन्नद्धाः [3]सेन्द्रधनूरञ्जितदेहा
वातोद्धूताः श्वेतबलाकाकृतशोभाः[4] ।
एते मेघा गर्जितनादोज्ज्वलचिह्नाः[5]
प्रावृट्कालं मत्तमयूराः[6] कथयन्ति ॥ ७१ ॥

---

३३. मत्तमयूरक

अनुवाद—त्रयोदशाक्षर पाद वाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में छठां, सातवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ अक्षर लघु हों और शेष वर्ण दीर्घ हों तो 'मत्तमयूर' नामक वृत्त कहलाता है ॥ ७० ॥

उदारण जैसे—

S S S S S । । S S । । S S
विद्युन्नद्धाः से न्द्र ध नू र ञ्जि त दे हा—
वातोद्धूताः श्वेतबलाकाकृतशोभाः ।
एते मेघा गर्जितनादोज्वलचिह्नाः
प्रावृट्कालं मत्तमयूरं कथयन्ति ॥ ७१ ॥

"बिजली की चमक से युक्त, इन्द्रधनुष से रञ्जित देह वाले, वायु के द्वारा उड़ाये जाते हुए, सफेद बगुलों की कतार से सुशोभित और गरजते हुए नाद से उज्ज्वल ये मेघ मतवाले मयूरों को वर्षाकाल की सूचना दे रहे हैं" ॥ ७१ ॥

इस श्लोक के पाद में षष्ठ, सप्तम, दशम एवं एकादश अक्षर लघु और शेष गुरु है । अतः यहाँ 'मत्तमयूर' वृत्त है ॥ ७१ ॥

---

१. क. (टि०) तथा ।
२. क. (भ.) लघूनि यस्य पादे तु गच्छेन्मत्तमयूरताम् ।
३. ख. सेन्द्रधनुर्द्योतितदेहा ।
४. क. (टि०) कृतचिह्नाः ।
५. क. (भ.) गर्जितगम्भीरनिनादैः ।
६. क. मत्तमयूरं ।

आदौ द्वे चतुर्थं चाष्टमैकादशे गुरु ।
अन्त्योपान्त्ये च शक्वर्या वसन्ततिलका[1] यथा ॥ ७२ ॥

चित्रैर्वसन्तकुसुमैः कृतकेशहस्ता
स्रग्दाममाल्यरचनासुविभूषिताङ्गी ।
नानावतंसकविभूषितकर्णपाशा[2]
साक्षाद्वसन्ततिलकेव विभाति नारी ॥ ७३ ॥

चित्रैरिति । वसन्तस्य यस्तिलकस्तस्यास्ति उपमानं त्वनेनेति । साक्षादिति । छन्दानुवर्तिनीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

---

३४. वसन्ततिलका (शक्वरी जाति, चतुर्दशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—चतुर्दशाक्षरा शक्वरी जाति के वृत्त के प्रत्येक चरण में यदि प्रारम्भ के दो तथा चौथा, आठवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ तथा चौदहवाँ वर्ण गुरु हों, शेष लघु हों तो 'वसन्ततिलका' नामक वृत्त कहलाता है ॥ ७२ ॥

उदाहरण जैसे—

S S ।S।।।S ।।S।SS
चित्रैः वसन्तकुसुमैः कृतकेशहस्ता—
स्रग्दाममाल्यरचनासुविभूषिताङ्गी ।
नागावतंसकविभूषितकर्णपाशा
साक्षाद्वसन्ततिलकेव विभाति नारी ॥ ७३ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के वासन्तिक फूलों से केशपाश को सजाये हुए, फूलों से गुथी हुई मालाओं से शरीर को विभूषित किये हुए, नाना प्रकार के कर्णाभूषणों से (अथवा नागकेसर के फूलों से) विभूषित कर्णपाश वाली नारी साक्षात् वसन्ततिलका के समान सुशोभित हो रही है ॥ ७३ ॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण में आदि के दो अक्षर तथा चौथा, आठवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ एवं चौदहवाँ वर्ण गुरु हैं, और शेष लघु हैं । अतः यहाँ 'वसन्ततिलका' छन्द है ॥ ७३ ॥

अभिनव—वसन्त का जो तिलक है, उसका इसके साथ उपमानत्व है । 'साक्षात्' का अर्थ है, अभिप्राय का अनुसरण करने वाली ।

---

१. क. (टि०) वसन्ततिलका, उद्धर्षिणीति सैतवाचार्येण, सिंहोन्नतेति काश्यपेन, मधुमाधवीति गोमानसेन, चेतोहितेति रामकीर्त्तिना लक्षिता "इन्दुमुखो सैतवस्य" जनाश्रय्यामुक्तम् । "उद्धर्षिणी सैतवस्य" इति पिङ्गलः ।

२. ख.ग. विभूषितगण्डपाली ।

[1]पञ्चादौ शक्वरी पादे गुरूणि त्रीणि नैधने[2] ।
पञ्चाक्षरादौ च यतिरसंबाधा तु सा यथा[3] ॥ ७४ ॥

यथा—

मानी लोकज्ञः सुतबलकुलशीलाढ्यो
[4]यस्मिन्सम्मानं न सदृशमनु पश्येद्धि[5] ।
गच्छेत्तं त्यक्त्वात्तं द्रुतगतिरपरं देशं
कीर्णा नानार्थैरवनिरियमसंबाधा ॥ ७५ ॥

---

३५. असम्बाधा (चतुर्दशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—चौदह अक्षर वाले शक्वरी जाति के प्रत्येक पाद में यदि आदि के पांच अक्षर और अन्त के तीन अक्षर गुरु हों, शेष लघु हों, और पांच अक्षरों पर यति हो तो 'असम्बाधा' नामक वृत्त होता है ॥ ७४ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽ ऽऽऽ ।।।।।। ऽऽऽ
मानी लोकज्ञः श्रुतबलकुलशीलाढ्यो
यस्मिन् सम्मानं न सदृशमनु पश्येद्धि ।
गच्छेत्तं त्यक्त्वा तं द्रुतगतिरपर देशं
कीर्णा नानार्थैरवनिरियमसम्बाधा ॥ ७५ ॥

अनुवाद—लोकवृत्त को जानने वाला, शास्त्र, बल, कुल और शील से सम्पन्न मानी पुरुष जहाँ पर अपने अनुकूल सम्मान को नहीं पाये, उसे उस स्थान को छोड़कर शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चला जाना चाहिए। क्योंकि नाना अर्थों से पूर्ण यह पृथ्वी सङ्कीर्ण नहीं है ॥ ७५ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद के आदि के पांच और अन्त के तीन वर्ण गुरु हैं और शेष लघु है। अतः यहाँ 'असम्बाधा' नामक वृत्त है ॥ ७५ ॥

---

१. क. (भ) चतुर्दशाक्षरे पादे पञ्चादौ त्रीणि नैधने ।
यस्या गुरूण्यसम्बाधा नाम्ना ज्ञेया तु सा बुधैः ॥

२. ख. ग. चान्ततः   ३. ख. ग. स्मृता ।

४. क. (भ) यस्मिन्सामान्यं ।   ५. क. (भ.) पश्येत्तं ।

[1]चत्वार्यादौ गुरूणि स्युर्दशमैकादशे तथा ।
अन्त्योपान्त्ये च शक्वर्याः पादे तु शरभा यथा ।। ७६ ।।

यथा—

एषा कान्ता व्रजति ललिता वेपमाना
[2]गुल्मैश्छन्नं वनमभिनवैः संप्रविद्धम् ।
[3]हा हा कष्टं किमिदमिति नो वेद्मि मूढो
[4]व्यक्तं कान्ते ! शरभललितात्वं करोषि ।। ७७ ।।

---

३६. शरभा (चतुर्दशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—यदि चौदह अक्षर वाले शक्वरी जाति के प्रत्येक पाद में आदि के चार वर्ण तथा दशवाँ, ग्यारहवा, तेरहवाँ और चौदहवाँ अक्षर गुरु हों और शेष लघु हों तो 'शरभा' नामक वृत्त होता है ।। ७६ ।।

उदाहरण जैसे—

S S S S　I I I　I I S S I S S
एषा कान्ता व्रजति ललितं वेपमाना
गुल्मैश्छन्नं वनमभिनवैः संप्रविद्धम् ।
हा हा कष्टं किमिदमिति नो वेद्मि मूढ़ो
व्यक्तं कान्ते शरभललिता त्वं करोषि ।। ७७ ।।

अनुवाद—यह कान्ता अभिनव गुल्मों से आच्छन्न वन में ललित गति से कांपती हुई जा रही है । हा हा बड़ कष्ट की बात है कि मूर्ख मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि यह क्या है ? हे कान्ते ! स्पष्ट है कि तुम हाथी के बच्चे की तरह चेष्टाएँ कर रही हो ।। ७७ ।।

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में आदि के चार तथा दशम, एकादश, त्रयोदश तथा चतुर्दश वर्ण गुरु हैं और शेष लघु है, अतः यहाँ 'शरभ' नामक वृत्त है ।। ७७ ।।

१　ख. आदौ चतुर्गुरूणि स्युर्दशमैकादशे तथा ।
　　क. (भ) चत्वार्यादौ हि दशमं ततोऽन्यच्च भवेद्गुरु ।
२. क. (टि०) गुल्मच्छन्नं वनमुरुनागैः प्रवृद्धम् ।
३. क. (टि०) अहो कष्टं किमिदमिति संविग्नचेष्टा ।
४. ख. ग. व्यक्तं क्रोधाच्छरभललितं कर्तुकामा ।
　　क. (टि०) व्यक्तं क्रोडाच्छरभललितं हतु'कामा ।

आदौ षट् दशमं चैव लघु चैव त्रयोदशम्[1] ।
[2]यत्रातिशक्वरे पादे ज्ञेया नान्दीमुखी तु सा ॥ ७८ ॥

यथा—

न खलु तव[3] कदाचित्क्रोधताम्रायताक्षं
[4]भ्रुकुटिवलितभङ्गं दृष्टपूर्वं मयास्यम्[5] ।
किमिह बहुभिरुक्तैर्या ममेच्छा हृदिस्था
त्वमसि मधुरवाक्या देवि ! [6]नान्दीमुखीव ॥ ७९ ॥

३७. नान्दीमुखी (अतिशक्वरी जाति, पञ्चदशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि अतिशक्वरी जाति के पञ्चदश अक्षरों वाले पाद में आदि के छः वर्ण और दसवाँ एवं ग्यारहवाँ अक्षर लघु हो और शेष वर्ण गुरु हों तो वहाँ 'नान्दीमुखी' नामक जाति होती है ॥ ७८ ॥

उदाहरण जैसे—

। ।। ।। । ऽऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
न खलु तव कदाचित् क्रोधताम्रायताक्षं
भृकुटिवलितभङ्गं दृष्टपूर्वं मयास्यम् ।
किमिह बहुभिरुक्तैर्या ममेच्छा हृदिस्था
त्वमसि मधुरवाक्या देवि नान्दीमुखीव ॥ ७९ ॥

अनुवाद—हे देवि ! मैंने कभी भी तुम्हारे मुख को क्रोध से लाल नेत्रों वाला तथा भृकुटियों के वक्र विलास से युक्त नहीं देखा था। अब और अधिक कहने से क्या लाभ ? हे देवि ! तुम हृदय में बसने वाली मेरी अभिलाषा नान्दीमुखी की तरह मधुरभाषिणी हो ॥ ७९ ॥

---

१. ख. लघूनि स्युस्त्रयोदश ।
२. ख. यत्र पञ्चदशे पादे ज्ञेया नान्दीमुखीति सा ।
३. क. (टि०) वद । ४. क. (टि०) भ्रुकुटिपुटतरङ्ग ।
५. क. (टि०) तवास्यम् ।
६. क. (टि०) वेद्मि नान्दीमुखा त्वम् ।

आद्यं चतुर्थं षष्ठं च नैधनं च यदा गुरु[1] ।
षोडशाक्षरके पादे [2]'यत्रेभललितं तु तत्'[3] ॥ ८० ॥
यथा—
तोयधरैः[4] सुघोरघनपटुपटहरवैः[5]
सर्जकदम्बनीपकुटजकुसुमसुरभिः ।
कन्दलसेन्द्रगोपकरचितमवनितलं[6]
वीक्ष्य करोत्यसौ वृषभगजविलसितम्[7] ॥ ८१ ॥

नान्दीमुखीति नान्द्यां मङ्गलदुन्दुभेरिव मुखं यस्याः ॥ ७८ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में आदि के छः वर्ण तथा दशम एवं त्रयोदश वर्ण लघु हैं, शेष गुरु हैं, अतः यहाँ 'मान्दीमुखी' नामक वृत्त है ॥ ७९ ॥

अभिनव—नान्दीमुखीति—नान्दी पाठ के समय बजाये जाने वाले दुन्दुभि की तरह जिसका मुख हो, वह नान्दीमुखी है ॥ ७८ ॥

विशेष—अन्य आचार्यों ने 'नान्दीमुखी' को 'मालिनी' वृत्त कहा है ।

३८. गजविलसितम् (शोडशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि सोलह अक्षर वाले पाद में पहला, चौथा, छठाँ और अन्तिम वर्ण गुरु हो और शेष लघु हों तो 'गजविलसितम्' वृत्त कहलाता हैं ॥ ८० ॥

---

१. क. (टि०) गुरूण्यथ ।
२. ख. गज विलसितं तु तत् ।
३. इतः परं 'क' पुस्तकेऽधिकमिदं दृश्यते—
अो यदि नाश्च नित्यमिह विरचितचरणा
गश्च तथा च वै भवति निधनमुपगतः ।
स्यादपि चाष्टिमेव यदि सततमनुगतं
तत्खलु वृत्तमग्रवृषभगजविलसितम् ॥
४. ग. वरः ।
५. ख. पटुपटहरवः । क. (टि०) पटुविशदनिनदितैः ।
६. क-भ. मत्तगजविलसितकम् ।
७. ग. अन्त्ये द्वे यत्र दीर्घाणि प्रवरं ललितं हि तत् ।

तोयधरैरिति गज एव, वा गजोचितं विलासं करोति । इदमिदं वीक्ष्य ॥८१॥

उदाहरण जैसे—

S I I S I S I I I I I II I S

तो य ध रैः धु धो र घ न प ट ह र वैः

सर्जकदम्बनीपकुटजकुसुमसुरभिः ।

कन्दलसेन्द्रगोपकरचितमवनितलं

वीक्ष्य करोत्यसौ वृषभगजविलसितम् ॥ ८१ ॥

अनुवाद—घन नगाड़े की आवाज के समान गम्भीर ध्वनि वाले मेघों से व्याप्त, सर्ज कदम्ब, नीप एवं कुटज के फूलों से सुगन्धित, कन्द (कन्दली) एवं इन्द्रगोप (लाल रङ्ग की कीड़े) से रञ्जित पृथ्वी तल को देख कर वह वृषभगज की तरह चेष्टाएँ कर रहा है ॥ ८१ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद का प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ एवं अन्तिम वर्ण गुरु है और शेष वर्ण लघु हैं । अतः यहाँ 'गजविलसितम्' छन्द है ॥ ८१ ॥

अभिनव—तोयधरैरिति—गज ही, अथवा गज के सदृश विलास करता है । इसको देखकर ऐसा करता है ॥ ८१ ॥

विशेष—गायकवाड़ (बड़ौदा) संस्करण में इसे 'वृषभगजविलसितम्' कहा गया है । वहाँ इसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

भ्रौ यदि नाश्च नित्यमिह विरचितचरणः

गश्च तथा च वै भवति निधनमुपगतः ।

स्यादपि चाष्टिमेव यदि सततमनुगतं

तत्खलु वृत्तमग्रवृषभगजचेष्टितम् ॥

"जिसके प्रत्येक पाद में भगण, रगण और तीन नगण हो और अन्त में एक गुरु हो तो 'अष्टि' का निरन्तर अनुगमन करने वाला 'वृषभगजचेष्टित' नामक वृत्त होता है ॥"

इसका उदाहरण उपर्युक्त है ॥

आद्यात्पराणि वै पञ्च द्वादशं सत्रयोदशः ।
[1]अन्त्योपान्त्ये च दीर्घाणि ललितप्रवरं हि तत्[2] ॥ ८२ ॥

यथा—

नखालीढं गात्रं [3]दशनखचित्तं चोष्ठगण्डं
शिरः पुष्पोन्मिश्रं प्रविलुलितकेशालकान्तम्[4] ।
गतिः खिन्ना[5] चेयं वदनमपि संभ्रान्तनेत्रं[6]
अहो श्लाघ्यं वृत्तं प्रवरललितं कामचेष्टम्[7] ॥ ८३ ॥

---

३९. प्रवरललित (षोडशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जिस वृत्त के प्रत्येक पाद का प्रथम अक्षर के बाद पांच अक्षर तथा बारहवाँ, तेरहवाँ, पन्द्रहवाँ एवं सोलहवाँ अक्षर दीर्घ हों और शेष लघु हों तो 'प्रवरललित' वृत्त होता है ॥ ८२ ॥

---

१. ग. अन्त्ये हि यत्र दीर्घाणि प्रवरं ललितं हि तत् ।

२. इतः परं 'क' पुस्तके प्रवरललितलक्षणमित्थमधिकं दृश्यते—
यदा य्मौ पादस्थौ भवत इह चेत्स्तौ तथा गौ ।
तथा षड्भिश्चान्त्यैर्यतिरपि च वर्णैर्यथा स्यात् ॥
तदप्यष्टौ नित्यं समनुगतमेवोक्तमन्यैः ।
प्रयोगज्ञैर्वृत्तं प्रवरललितं नामतस्तु ॥

३. ख. दशननिहितं । क. (टि०) दशनविहतं । विकचवशनं ।

४. क. (टि०) केशाग्रकान्तं ।

५. क. (टि०) गतिर्मन्दा चेयं । गतिः मन्दायामा ।

६. क. (टि०) यद् भ्रान्तनेत्रं ।

७. क. (टि०) कामवेषम् ।

उदाहरण जैसे—

ıs s s ss ıııııss ıss

न खा ली ढ़ं गात्रं दशन खचित ञ्चो ष्ठ गण्डं
शिरः पुष्पोन्मिश्रं प्रविलुलितकेशालकान्तम् ।
गतिः छिन्ना चेयं वदनमपि सम्भ्रान्तनेत्रं
अहो श्लाध्यं वृत्तं प्रवरललितं कामचेष्टम् ॥ ८३ ॥

"नायिका का शरीर नखक्षत से युक्त है, ओष्ठ तथा कपोलों पर दन्तक्षत हैं, शिर पर फूल मिश्रित हैं, मस्तक पर केश इतस्ततः बिखरे हुए हैं, गति (चाल) मन्द है अर्थात् लड़खड़ा रहो है, और मुख भ्रान्त नेत्रों से युक्त है, अहो ! उसका काम चेष्टाएँ ललित एवं श्लाधनीय है ।" ॥ ८३ ॥

इस छन्द के प्रत्येक पाद में द्वितोय, तृतोय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, द्वादश, त्रयोदश, पञ्चदश एवं सोलहवाँ अक्षर गुरु है और शेष लघु । अतः यहाँ 'प्रवरललित' वृत्त है ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में प्रवरललित का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदा य्मौ वादस्यौ भवत इह चेत् स्तौ गौं
तथा षड्भिश्चान्यैर्यतिरपि च वर्णैर्यथा स्यात् ।
तदप्यष्टौ नित्यं समनुगतमेवोक्तमन्यैः
प्रयोगज्ञैर्वृत्तं प्रवरललितं नामतस्तु ॥

"जहाँ अष्टि जाति के वृत्त के प्रत्येक पाद में यगण, भगण, नगण, सगण, रगण और अन्त में एक गुरु हो तथा छः छः अक्षरों पर यति हो, तो उसे आचार्यो ने 'प्रवरललित' नामक वृत्त है ।"

जैसे—

यगण	मगण	नगण	सगण	रगण	गुरु
ı s s	s s s	ı ı ı	ı ı s	s ı s	s
नखाली	ढ़ं गात्रं	दशन	ख चित	ञ्चोष्ठ	गण्डं

आद्यात्पराणि पञ्चाथ द्वादशं सत्रयोदशम् ।
अन्त्यं सप्तदशे पादे शिखरिण्यां गुरूणि[1] च ॥ ८४ ॥

यथा—

[2]महानद्या भोगं पुलिनमिव ते भाति जघनं
तथास्यं [3]नेत्राढ्यं भ्रमरसहितं पङ्कजमिव ।
[4]तनुस्पर्शच्छायं सुतनु सुकुमारो न पुरुषः
स्तनाभ्यां ताभ्यां त्वं शिखरिणि [5]सुपोनासि वनिते ॥ ८५ ॥

---

४०. शिखरिणी (सप्तदशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जहाँ पर सत्तरह अक्षर के पाद में पहिले के बाद के पांच अक्षर अर्थात् द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ तथा द्वादश, त्रयोदश और अन्तिम वर्ण गुरु हों, शेष लघु हों तो 'शिखरिणी' नामक छन्द होता है ॥ ८४ ॥

उदाहरण जैसे—

ISSS SS IIIII S SI IIS
महानद्या भोगं पुलिनमिव ते भाति जघनं
तथास्यं नेत्राढ्यं भ्रमरसहितं पङ्कजमिव ।
गतिर्मन्दा चेयं सुतनु ! तव चेष्टा सुललिता-
स्तनाभ्यां ताभ्यां त्वं शिखरिणि सुपोनासि वनिते ॥ ८५ ॥

---

१. क. (भ.) गुरुस्मृतम् ।
इतः परं 'क' पुस्तकेऽधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—
चतुर्भिस्तस्यैव प्रवरललितस्य त्रिकगणै—
यदा लौ गश्चान्ते भवति चरणेऽत्यष्टिगदिते ।
यदा षड्भिश्छेदो भवति यदि मार्गेण विहित—
स्तदा वृत्तेष्वेषा खलु शिखरिणी नाम गदिता ॥
२. ख. ग. महानद्या भोगे । ३. क. (टि०) नेत्रास्यं ।
४. क. (भ.) गतिर्मन्दा चेयं सुतनु ! तव चेष्टा सुललिता ।
५. क. ख. निभाभासि दयिते । ममाभासि दयिते ।

यत्र पञ्च लघून्यादौ त्रयोदशचतुर्दशे ।
षोडशैकादशे चैव तत्स्याद् वृषभचेष्टितम्[1] ॥ ८६ ॥

अनुवाद—हे सुतनु ! तुम्हारी जङ्घाएँ महानदी के पुलिन के समान दीर्घ है, और नेत्रों के सहित तुम्हारा मुख भ्रमरयुक्त कमल के समान है, तुम्हारी गति मन्द है और चेष्टाएँ सुललित है। हे वनिते ! तुम पीन स्तनों से युक्त शिखरिणी (पहाड़ी) जैसी सुशोभित हो रही हो ॥ ८५ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, द्वादश, त्रयोदश तथा अन्तिम वर्ण गुरु है और शेष लघु है। अतः यहाँ शिखरिणी नामक वृत्त है ॥८५॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में शिखरिणी का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

चतुर्भिस्तस्यैव प्रवरललितस्य त्रिकगणै-
र्यदा लौ गश्चान्ते भवति चरणेऽत्यष्टिगदिते ।
यदा षड्भिश्छेदो भवति यदि मार्गेण विहित-
स्तदा वृत्तेष्वेषा खलु शिखरिणी नाम गदिता ।

"यदि अत्यष्टि जाति के प्रत्येक पाद में उसी प्रवरललित चार त्रिक गण अर्थात् यगण, मगण, नगण, सगण और एक भगण, एक लघु एवं अन्त में गुरु हों तो 'शिखरिणी' नामक वृत्त होता है।"

यगण	मगण	नगण	सगण	भगण		
ISS	SSS	III	IIS	SII	I	S

महान द्या भोगं पुलिन मिव ते भाति ज घनं

---

१. इतः परं 'क' पुस्तकेऽधोलिखितं दृश्यते—

यदि हि चरणे न्सौ स्लौ गः क्रमाद्विनिवेशिताः
यदि खलु यतिः षड्भिर्वर्णैस्तथा दशभिः पुनः ।
यदि विहितं स्यादत्यष्टि प्रयोगसुखाश्रयं
वृषभललितं वृत्तं ज्ञेयं तथा हरिणीति वा ॥

यथा—

[1]जलधररवं श्रुत्वा श्रुत्वा मदोच्छ्रयदर्पितो[2] ।
विलिखितमही शृङ्गाक्षेपैर्वृषः प्रतिनद्यं च ॥
स्वयुवतिवृतो [3]गोष्ठाद्गोष्ठं प्रयाति च निर्भयो ।
वृषभललितं चित्रं वृत्तं करोति च शाद्वले ॥ ८७ ॥

४१. वृषभचेष्टितम् (सप्तदशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—जिस वृत्त के पाद के आदि के पांच अक्षर तथा ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ एवं सोलहवाँ अक्षर लघु हो और शेष अक्षर गुरु हों, उसे 'वृषभ चेष्टित' वृत्त कहते हैं ॥ ८६ ॥

उदाहरण जैसे—

। । । । । S S S S S । S । । S । S
ज ल ध र र वं श्रुत्वा श्रुत्वा मदोच्छ्रय दर्पितो
विलिखति महीं शृङ्गाक्षेपैर्वृषः प्रतिनद्यं च ।
स्वयुवतिवृतो गोष्ठाद्गोष्ठं प्रयाति च निर्भयो
वृषभललितं चित्रं वृत्तं करोति च शाद्वले ॥ ८७ ॥

"मेघ के गर्जन को सुन-सुन कर मद के उद्रेक से गर्वित यह वृषभ (सांड़) प्रतिगर्जन करके सीगों के टक्कर से पृथ्वी को खोद रहा है और अपनी युवति गायों के साथ एक गोष्ठ से दूसरे गोष्ठ में निर्भय होकर विचरण करता है तथा हरी घास पर वृषभ की ललित एवं चित्र-विचित्र चेष्टाओं को कर रहा है ॥ ८७ ॥

इस पद्य के प्रत्येक चरण में आदि के पांच अक्षर तथा ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ एवं सोलहवाँ अक्षर लघु हैं और शेष गुरु है। अतः यहाँ 'वृषभचेष्टित' वृत्त है ॥ ८७ ॥

१. ख. जलदनिनदं श्रुत्वा गर्जन् मदोच्चयदर्पितो ।
२. ग. दोप्तस्मरोत्सवलालितो ।
३. ख. गोष्ठोपगोष्ठं ।

चत्वार्यादौ च दशमं गुरु यत्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं तथान्त्ये द्वे चैकादशमथापि च ॥ ८८ ॥
यदा सप्तदशे पादे शेषाणि च लघून्यथ ।
भवन्ति [1]यस्मिन्सा ज्ञेया श्रीधरो नामतो यथा ॥ ८९ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में 'वृषभचेष्टित' का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदि हि चरणे न्लौ स्लौ स्लौ गः क्रमाद्विनिवेशिताः
यदि खलु यतिः षड्भिर्वर्णैस्तथा दशभि पुनः ।
यदि च विहितं स्यादत्यष्टिप्रयोगसुखाश्रयं
वृषभललितं वृत्तं ज्ञेयं तथा हरिणीति वा ।।

"यदि सप्तदशाक्षर वृत्त के प्रत्येक पाद में नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु और गुरु हों, और पहिले छः अक्षरों पर फिर दस अक्षरों पर यति हो तो अत्यष्टि जाति का 'वृषभललित' वृत्त होता है अथवा 'हरिणी' नामक वृत्त कहा जाता है।"

इसका उदाहरण है—

नगण	सगण	मगण	रगण	सगण	ल०	गु०
।।।	।।ऽ	ऽऽऽ	ऽ।ऽ	।।ऽ	।	ऽ
जलध	र र वं	श्रुत्वाश्रु	त्यामदो	च्छ्रयद	पि	तो

यहाँ पर पाद में नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु एवं गुरु हैं, अतः 'वृषभललित' अथवा 'हरिणी' वृत्त है ।

नोट—पिंगल आदि आचार्यों ने इसे 'हरिणी' कहा है ।

४२. श्रीधरा (मन्दाक्रान्ता) (सप्तदशाक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—यदि सप्तदश अक्षर के पाद में प्रारम्भ के चार अक्षर तथा दशम, एकादश, त्रयोदश, चतुर्दश और अन्त के दो वर्ण अर्थात् सोलहवाँ, सत्तरहवाँ वर्ण गुरु हों और शेष अक्षर लघु हों तो 'श्रीधरा' नामक वृत्त होता है ॥ ८८ ॥

विशेष—पिङ्गलादि आचार्यों ने 'श्रीधरा' को ही 'मन्दाक्रान्ता' कहते हैं ।

---

१. यत्र-यत्र ।

स्नानैश्चूर्णैः सुखसुरभिगंन्धवासैश्च धूपैः[1]
पुष्पैश्चान्यैः[2] शिरसि रचितैर्वस्त्रयोगैश्च तैस्तैः ।
नानारत्नैः कनकखचितैरङ्गसंभोगसंस्थै—
र्व्यक्तं कान्ते! कमलनिलया[3] श्रीधरीवातिभाति[4] ॥ ९० ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
स्नानैश्चूर्णैः सुख सु र भि भि गं न्ध वासै श्च धूपैः
पुष्पैश्चान्यैः शिरसि रचितैर्वस्त्रयोगैश्च तैस्तैः ।
नानारत्नैः कनकखचितैरङ्गसम्भोगसंस्थै-
र्व्यक्तं कान्ते कमलनिलया श्रीधरेवातिभासि ॥ ८९ ॥

"सुखद एवं सुरभित चूर्णों से स्नान, सुगन्धित धूप, शिर में गुथे हुए पुष्प, विविध रङ्ग-विरङ्गे वस्त्र और नाना प्रकार रत्नों से जड़े हुए स्वर्णभूषणों से स्पष्ट हो रहा है कि हे कान्ते ! तुम कमल में निवास करने वाली लक्ष्मी (सौन्दर्य की देवी) सी लग रही हो ॥ ८९ ॥

इस पद्य के प्रत्येक पाद में आदि के चार वर्ण तथा दशम, एकादश, त्रयोदश, चतुर्दश और अन्तिम दो वर्ण गुरु हैं और शेष लघु हैं। अतः यहाँ 'श्रीधरा' या 'श्रीधरी' नामक वृत्त है ॥ ८९ ॥

---

१. ख. पुस्तके श्रीधरीलक्षणमित्थं वर्तते—

मो म्नो च स्युश्चरणरचितास्तौ गुरू च प्रविष्टा
छेदः श्लिष्टो यदि च दशभिः स्यात्तथान्यैश्चतुर्भिः ।
अत्यष्टौ च प्रतिनियमिता वर्णतः स्पष्टरूपा
सा विज्ञेया द्विजमुनिगणैः श्रीधरी नामतस्तु ॥
'क' पुस्तके इदं लक्षणमधिकं दृश्यते ।

२. ख. गण्डुलेपैः सुधूपैः । ग. गन्धसारैश्च धूपैः । क. (टि०) गन्धवासैः सुधूपैः ।

३. ख. पुष्पैः माल्यैः । ४. ग. निलये ।

५. क. (टि०) श्रीधरा त्वं विभासि । श्रीधरेवावभासि ।

आद्यं चतुर्थं षष्ठं च दशमं नैधनं गुरु।
[1]तद्वंशपत्रपतितं दशभिः सप्तभिर्यतिः ॥ ९१ ॥

यथा—

एष गजोऽद्रिमस्तकतटे कलभपरिवृतः[2]
क्रीडति वृक्षगुल्मगहने कुसुमभरनते।
मेघरवं निशम्य मुदितः पवनजवसमः[3]
सुन्दरि ! वंशपत्रपतितं पुनरपि कुरुते ॥ ९२ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में श्रीधरी वृत्त का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

मो भ्नौ च स्युश्चरणरचितास्तौ गुरु च प्रविष्टा-
श्छेदः श्लिष्टो यदि च दशभिः स्यात्तथान्यैश्चतुर्भिः।
अत्यष्टौ च प्रतिनियमिता वर्णतः स्पष्टरूपा
सा विज्ञेया द्विजमुनिगणैः श्रीधरी नामतस्तु ॥

"जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में मगण, भगण, नगण, दो तगण और अन्त में दो गुरु हो तथा दश एवं चार अक्षरों पर यति हो तो अत्यष्टि जाति का 'श्रीधरी' नामक वृत्त होता है।

उदाहरण जैसे—

मगण भगण नगण तगण तगण गु० गु०
S S S S I I I I I S I I S S I S S
स्नानैश्चू र्णैः सुख सुरभि भिर्गन्ध वासैश्च धू पैः

यहाँ पर पाद में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और अन्त में दो गुरु हैं, अतः यहाँ 'श्रीधरी' छन्द है ॥ ८९ ॥

४३. वंशपत्रपतितम्

अनुवाद—जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम और अन्तिम वर्ण गुरु हो तथा दस और सात अक्षरों पर यति हो, उसे 'वंशपत्रपतित' वृत्त कहते हैं ॥ ९१ ॥

१. क. (भ०) यत्र सप्तदशे पादे वंशपत्राह्वयं तु तत्।
२. क. (भ.) युवतिपरिवृतः।
३. ख. मुदितपवनजववशात्। क. (टि०) पवनजवशात्।

द्वितीयमन्त्यं षष्ठं चाप्यष्टमं द्वादशं तथा ।
चतुर्दशं पञ्चदशं पादे सप्तदशाक्षरे ॥ ९३ ॥
भवन्ति यत्र दीर्घाणि शेषाणि च लघून्यथ ।
विलम्बितगतिः सा तु विज्ञेया नामतो यथा[1] ॥ ९४ ॥

उदाहरण जैसे—

S। ।S।S ।।।S ।।।।।। S
एष गजोऽद्रि म स्त क त टे क ल भ प रि कृ तः-
क्रीड़ति वृक्षगुल्मगहने कुसुमभरनते ।
मेघरवं निशम्य मुदितः पवनजवसमः
सुन्दरि ! वंशपत्रपतितं पुनरपि कुरुते ।। ९२ ॥

"हे सुन्दरि ! यह हाथी हस्ति-शावकों से घिरकर, फूलों के भार से झुके हुए वृक्ष और लताओं से घने पर्वत को चोटो पर क्रोड़ा कर रहा है। अब यह मेघ के गर्जन को सुनकर प्रसन्न होकर वायु के वेग के समान बांस के पत्तों को बार-बार गिर रहा है ॥ ९१ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशक और अन्तिम वर्ण गुरु हैं और शेष वर्ण लघु हैं, अतः 'वंशपत्रपतित' नामक वृत्त है ।। ९१ ॥

४४. विलम्बितगतिः (सप्तदशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि सत्तरह अक्षरों के पाद में द्वितीय, षष्ठ, अष्टम, द्वादश, चतुर्दश, पञ्चदश और अन्तिम वर्ण गुरु हों और शेष वर्ण लघु हों तो 'विलम्बित-गति' नामक वृत्त होता है ॥ ९३-९४ ॥

विशेष—विलम्बितगति को पिङ्गलादि आचार्यों ने 'पृथ्वी' कहा है ।

---

१. इतः परं क पुस्तकेऽधोलिखितं विलम्बितगतिलक्षणमधिकं दृश्यते—

यदा द्विरुदितौ हि पादमभिसंश्रितौ ज्सौ त्रिकौ
तथैव च पुनस्तयोर्निधनमाश्रितो यो लगौ ।
तदाष्टिरतिपूर्विका यतिरपि स्वभावाद्यथा
विलम्बितगतिस्तदा निगदिता द्विजैर्नामतः ।।

यथा—

विघूर्णितविलोचना [4]पृथुविकीर्णहारा पुनः
[5]प्रलम्बरशना चलत्स्खलितपादमन्दवलना।
[6]न मे प्रियमिदं जनस्य बहुमानरागेण य
[7]न्मदेन विवशा विलम्बितगतिः कृता त्वं प्रिये! ॥ ९५ ॥

उदाहरण जैसे—

।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽऽ ।ऽ
विघूर्णि ता वि लोचना पृ थु वि को र्ण हारा पुनः
प्रलम्बरशना चलत्स्खलितपादमन्दवलमा।
न मे प्रियमिदं जनस्य बहुमानरागेण य-
न्मन्देन विवशा विलम्बगतिः कृता त्वं प्रिये ॥ ९५ ॥

'हे प्रिये! तुम्हारे नेत्र विघूर्णित हो गये हैं, विशाल हार इधर-उधर बिखर गया है, करधनी शिथिल होकर लटक रही है, चलने में लड़खड़ाते हुए पैर मन्दगति से क्लान्त है, यह मुझे पसन्द नहीं है जो तुमने बहुत अधिक मान और राग मद से विवश होकर मन्दगति को भी विलम्बित कर दिया ॥ ९५ ॥

यहाँ प्रत्येक पाद में दूसरा, छठाँ, आठवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ और सत्रहवाँ अक्षर गुरु है और शेष लघु। अतः यहाँ 'विलम्बितगति' वृत्त है।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में 'विलम्बिगति' का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदा द्विरुदितौ हि पादमभिसंश्रितौ ज्सौ त्रिकौ
तथैव च पुनस्तयोर्निधनमाश्रितौ यो लगौ।
तदाष्टिरिति पूर्विका यतिरपि स्वभावाद्यथा-
विलम्बितगतिस्तदा निगदिता द्विजैर्नामतः ॥

---

४. ख. पथुविघूर्णहारा। क-भ. प्रसृतहारमालाधरा।
५. क-भ. प्रलम्बवसना चलत्स्खलितगात्रपादक्रमा।
ग. स्खलत्स्खलितपादमन्दक्रमा।
६. क-भ. न मे प्रियमसज्जनोति बहुमानरागेण ते।
७. क-भ. मदेन तु बिलम्बितगति कृता कदाचित्प्रिये।

पञ्चादौ पञ्चदशकं द्वादशैकादशे गुरु[1]।
चतुर्दशं [2]तथान्त्ये द्वे चित्रलेखा धृतौ [3]स्मृता ॥ ९६ ॥

यथा—

नानारत्नाढ्यैर्बहुभिरधिकं भूषणैरङ्गसंस्थै
र्नानागन्धाढ्यैर्मदनजनकैरङ्गरागैर्विचित्रैः[4]।
[5]केशैः स्नानाढ्यैः कुसुमभरितैर्वस्त्ररागैश्च तैस्तैः
कान्ते! [6]संक्षेपात् किमिह बहुना चित्रलेखेव[7] भाति ॥ ९७ ॥

"जहाँ पर (जब) दो बार कहे हुए जगण और सगण त्रिक एक पाद में संश्रित हों और फिर उसके अन्त में यगण, एक लघु और एक गुरु हों तथा स्वभावानुसार यति हो तो अष्टि जाति का 'विलम्बितगति' छन्द कहलाता है।"

जैसे—

जगण सगण जगण सगण यगण ल० गु०
।ऽ। ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽऽ ।ऽ
विघूर्णि तविलो चना पृ थुविको र्णहारा पुनः

यहाँ पर पाद में जगण, सगण, जगण, सगण, यगण और अन्त में एक लघु तथा एक गुरु है। अतः 'विलम्बितगति' वृत्त है।

४५. चित्रलेखा (धृतिः जातिः, अष्टादशाक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—धृति जाति के अष्टादशाक्षरात्मक वृत्त के प्रत्येक पाद में यदि आदि के पांच अक्षर तथा ग्यारहवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सत्रहवाँ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों, और शेष वर्ण लघु हो तो 'चित्रलेखा' नामक वृत्त होता है ॥ ९६ ॥

१. ग. द्वादशं सानगं गुरु। २. ग. तथा पञ्च।
३. क. (भ.) चित्रमाला गुरूणि तु। क. (ड) बुधैः स्मृता।
४. क. अङ्गरागैश्च हृद्यैः। ख. अङ्गहारैर्विचित्रैः।
५. ख. केशैः स्नानाढ्यैः कुसुमरचितैर्वस्त्ररागैश्च तैस्तैः।
६. ग. संक्षेपः किमिति। ७. क. (टि०) चित्रमालेव।

अन्त्यं सप्तदशं चैव षोडशं सचतुर्दशम् ।
[1]त्रयोदशं द्वादशं च षष्ठमष्टममेव च ॥ ९८ ॥
त्रीण्यादौ च गुरूणि स्युर्यस्मिंस्त्वेकोनविंशके ।
पादे लघूनि शेषाणि शार्दूलक्रीडितं तु तत्[2] ॥ ९९ ॥

उदाहरण जैसे—

S S S S S I I I I I S S I S S I S S
नाना र त्ना ढ्यै र्ब हु भिरधिकं भू ष णै र ङ्ग संस्थै-
र्नानागन्धाढ्यैर्मदनजनकैरङ्गरागैश्च हृद्यैः ॥
केशैः स्नानाढ्यैः कुसुमभरितैर्वस्त्ररागैश्च तैस्तैः
कान्ते ! संक्षेपात् किमिह बहुना चित्रलेखेव भासि ॥ ९७ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के रत्नों से जड़े हुए, शरीर में धारण किये हुए अत्यधिक आभूषणों से, अनेक प्रकार के गन्ध से पूर्ण, कामबर्द्धक मनोहर अङ्गरागों से तथा स्नान करने से स्वच्छ विविध फूलों से सुसज्जित केशों से और रङ्ग-बिरङ्गें वस्त्रों के परिधान से हे कान्ते ! अधिक क्या क्या कहें ? तुम चित्रलेखा सी सुशोभित हो रही हो ॥ ९७ ॥

इस वृत्त के पाद में आदि के पाँच वर्ण तथा ग्यारहवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु है, शेष लघु हैं, अतः यहाँ 'चित्रलेखा' वृत्त है ॥ ९७ ॥

४६. शार्दूलविक्रीडित (अतिधृति जाति, एकोनविंशत्यक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि अतिधृति जाति के उन्नीस अक्षर वाले पाद के प्रथम तीन वर्ण तथा छठाँ, आठवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ, सोलहवाँ, सत्रहवाँ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो और शेष लघु हो तो 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द होता है ॥९१-९९॥

---

१. क. (टि०) द्वादशं सानुगं चैव ।
२. इतः परं 'क' पुस्तकेऽधोलिखितं शार्दूलविक्रीडितलक्षणमधिकं दृश्यते—
म्मो ज्सौ तौ गुरु च प्रयोगनियता यस्मिन्निविष्टास्त्रिका
आद्या चान्त्ययतिश्चतुस्त्रिकयुता ज्ञेया परा सप्तभिः ।
नित्यं यत्पदमाश्रिता ह्यतिधृतिर्नित्यं कवीनां प्रियं
तज्ज्ञेयं खलु वृत्तजातिनिपुणः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

यथा—

नानाशस्त्रशतघ्नितोमरहताः प्रभ्रष्टसर्वायुधाः
निर्भिन्नोदरपादबाहुवदना[1] निर्णाशिताः शत्रवः।
धैर्योत्साहपराक्रमप्रभृतिभिस्तैर्विचित्रैर्गुणै
र्वृत्तं ते रिपुघाति भाति समरे शार्दूलविक्रीडितम्[2] ॥ १०० ॥

उदाहरण जैसे—

S S S I I S I S I I I S S S I S S I S
ना ना श स्त्र श त घ्नि तो म र ह ता, प्र भ्र ष्ट स र्वा यु धाः
निर्भिन्नोदरपादबाहुवदना निर्णाशिताः शत्रवः।
धैर्योत्साहपराक्रमप्रभृतिभिस्तैस्तैर्विचित्रैः गुणै-
र्वृत्तं ते रिपुघाति भाति समरे शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ९९ ॥

अनुवाद—हे राजन्! आपके शत्रुगण अनेक शस्त्र, शतघ्नी (तोप), तोमर आदि से आहत होकर समस्त अस्त्र-शस्त्रों को छोड़कर हाथ, पैर, उदर एवं शिर के कट जाने से नष्ट हो गये। हे नृप! धैर्य, उत्साह, पराक्रम आदि विचित्र गुणों के कारण रिपुघाती आपका चरित्र सिंह की क्रीड़ा के समान शोभित हो रहा है ॥ १०० ॥

इस श्लोक के पाद के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, अष्टम, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, षोडश, सप्तदश एवं उन्नीसवाँ वर्ण दीर्घ हैं, शेष लघु। अतः यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

---

१. ख. निर्भिन्नोदरबाहुवक्त्रनयना निर्भर्त्सिता शत्रवः।

२. 'क' पुस्तकेऽधोलिखितं शार्दूलविक्रीडितस्योदाहरणान्तरमप्युपलभ्यते यथा—
तावत्त्वं विजितेन्द्रियः शुभमते सर्वात्मना प्रत्यहं
दाने शीलविधौ च योजय मनः स्वर्गापवर्गावहम्।
यावद् व्याधिजराप्रचण्डनखरो व्यायत्तदंष्ट्राभिभूः शं
मृत्युस्ते न करोति जीवितमृगैः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में शार्दूलविक्रीडित का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

> म्सौ ज्सौ तौ गुरुश्च प्रयोगनियता यस्मिन्निविष्टास्त्रिकाः
> आद्या चान्त्ययतिश्चतुस्त्रिकयुता ज्ञेया परा सप्तभिः ।
> नित्यं यत्पदमाश्रिता ह्यतिधृतिर्नित्यं कवीनां प्रियं
> तज्ज्ञेयं खलु वृत्तजातिनिपुणैः शार्दूलविक्रीड़ितम् ॥

अनुवाद—अतिधृति जाति के जिस वृत्त के पाद में प्रयोग के नियमानुसार मगण, सगण, जगण, सगण, दो नगण और अन्त में गुरु हो तथा बारह एवं सात अक्षरों पर यति हो तो छन्दःशास्त्र के विद्वान् उसे 'शार्दूलविक्रीडित' कहते हैं ॥

उदाहरण जैसे—

मगण	सगण	जगण	सगण	तगण	तगण	गु०
SSS	IIS	ISI	IIS	SSI	SSI	S
नानाश	स्त्रशत	ध्निताम	रहताः	प्रभ्रष्ट	सर्वायु	धाः

इस छन्द के पाद में मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और अन्त में एक गुरु है। अतः यहाँ 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में शार्दूलविक्रीडित का निम्नलिखित उदाहरण अधिक पाया जाता है—

> तावत्त्वं विजितेन्द्रियः शुभमते सर्वात्मना प्रत्यहं
> दाने शीलविधौ च योजय मनः स्वर्गापवर्गावहम् ।
> यावत् व्याधिजराप्रचण्डनखरो व्यायत्सटाभिर्भृशं
> मृत्युस्ते न करोति जीवितमृगैः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

अनुवाद—हे शुभमते ! तब तक तुम जितेन्द्रिय होकर सर्वात्मना प्रतिदिन दान और शील में स्वर्ग और अपवर्ग का वहन करने वाले मन को लगाओ। जब तक व्याधि और जरा रूप प्रचण्ड नखों वाला व्यायत विकीर्ण जटाओं से युक्त मृत्यु तुम्हारे जीवन रूपी मृगों से व्याघ्र-क्रीड़ा नहीं करता ।

चत्वार्यादौ च षष्ठं च सप्तमं सचतुर्दशम् ।
तथा पञ्चदशं चैव षोडशं नैधनं तथा ॥ १०१ ॥
एतानि च गुरूणि स्युः शेषाणि तु लघून्यथ ।
पादे यत्र [1]कृतौ ज्ञेया नाम्ना सुवदना तु सा[2] ॥ १०२ ॥

यथा—

नेत्रे [3]लीलालसान्ते कमलदलनिभे भ्रूचापविनते[4]
[5]रक्तोष्ठं पीनमध्यं समसहितघनाः स्निग्धाश्च दशनाः ।
[6]कर्णावंसप्रलम्बौ चिबुकमपि नतं घोणा सुरुचिरा
[7]व्यक्तं त्वं मर्त्यलोके वरतनु ! [8]विहितास्येका सुवदना ॥१०३॥

---

४७. सुवदना (कृति जाति, विंशत्यक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—कृति जाति के बीस अक्षरों वाले पाद में यदि आदि के चार वर्ण और छठा, सातवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो और शेष वर्ण लघु हो तो 'सुवदना' नामक वृत्त होता है ॥ १०१-१०२ ॥

उदाहरण जैसे—

SS SSISS IIIIIIS SSIIIS
नेत्रे लीलालसान्ते कमलदलनिभे भ्रूचापविनते
रक्तोष्ठं पीनमध्यं समरहितछत्राः स्निग्धाश्च दशनाः ।
कर्णावतंसप्रलम्बो चिबुकमपि नतं घोणा सुरुचिरा
व्यक्तं त्वं मर्त्यलोके वरतनु ! विहितास्येका सुवदना ॥ १०३ ॥

---

१. क. (भ.) पादे यत्र तु सा ज्ञेया नाम्ना सुवदना यथा ।
२. 'क' पुस्तके सुवदनाया अधोलिखितं लक्षणमधिकमुपलभ्यते—
म्रौ म्नौ भ्यौ ग्लौ च सम्यग्यदि च विरचिताः पादे क्रमवशात्
विच्छेदः सप्तभिः स्यात्पुनरपि च यतिः सप्ताक्षरकृता ।
यद्येषा संश्रिता स्यात्कृतिमपि च पुनः श्लिष्टाक्षरपदा
विद्वद्भिर्वृत्तजातौ तत इह गदिता नाम्ना सुवदना ॥
३. क. (भ.) नेत्रे नीलालकान्ते । क. (टि०) नेत्रे पर्यन्तताम्रे ।
४. ख. ग. भ्रूचापनिहिते । क. (टि०) भ्रूचापरुचिरे ।
५. ख. ग. गण्डोष्ठं । ६. ख. ग. कर्णौ पार्श्वावलम्बौ ।
७. ख. सर्वस्मिन् । ८. ख. विदितास्येका ।

"हे सुन्दरि ! कमलदल के समान तथा भौंह रूपी धनुष के समान विनत तुम्हारी आँखे लीला से अलसाई हुई है, ओठ लाल हैं, कमर स्थूल हैं, वक्षःस्थ पोन है, दांत सम, घने और चिकने हैं, कर्णावतंस लटके हुए हैं, चिबुक भो नत है, नाक अत्यन्त सुन्दर है। हे वरतनु ! इससे स्पष्ट है कि विधाता ने तुझे सुवदना बनाया है ॥ १०३ ॥

यहाँ पर सुवदना नामक वृत्त है।

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में सुवदना का निम्नलिखित लक्षण अधिक दिया गया है—

म्रौ भ्नौ य्भौ ल्गौ च सम्यग्यदि च विरचिता पादे क्रमवशात्
विच्छेदः सप्तभिः स्यात् पुनरपि च यतिः सप्ताक्षरकृता।
यथेमां संश्रिता स्यात् कृतिमपि च पुनः श्लिष्टाक्षरपदा
विद्वद्भिर्वृत्तजातौ तत इह गदिता नाम्ना सुवदना ॥

"जिस वृत्त के प्रत्येक पाद में मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण, लघु और गुरु हों तथा सात-सात अक्षरों पर यति हों, विद्वानों ने उसे कृति जाति में 'सुवदना' वृत्त कहा है।"

उदाहरण जैसे—

मगण	रगण	भगण	नगण	यगण	भगण	ल०गु०
SSS	SIS	SII	III	ISS	III	IS

नेत्रेली लालसान्ते कमलदलनिभे भ्रूचापरुचिरे।
रक्तोष्ठं पीनमध्यं समरहितक्षत्राः स्निग्धाश्च दशनाः।
कर्णावतंसप्रलम्बो चिबुकमपि नतं घोणा सुरुचिता
व्यक्तं त्वं मर्त्यलोके वरतनु विहितास्येका सुवदना ॥

यहाँ पर पाद में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, भगण और अन्त में एक लघु तथा एक गुरु है। अतः यहाँ 'सुवदना' वृत्त है।

चत्वार्यादौ तथा षष्ठं सप्तमं च चतुर्दशम् ।
अष्टादशं सप्तदशं तथा पञ्चदशं पुनः ॥ १०४ ॥
[1]अन्त्योपान्त्ये गुरूण्यत्र लघून्यन्यानि सर्वदा ।
एकविंशतिके पादे स्रग्धरा नाम सा यथा[2] ॥ १०५ ॥

यथा—

चूताशोकारविन्दैः कुरवकतिलकैः कर्णिकारैः शिरीषैः
पुन्नागैः पारिजातैर्वकुलकुवलयैः किंशुकैः सातिमुक्तैः ।
एतैर्नानाप्रकारैः बहुलसुरभिविप्रकीर्णैश्च तैस्तै—
र्वासन्तैः पुष्पवृन्दैर्नरवर ! वसुधा स्रग्धरेवाद्य[3] भाति ॥ ०६ ॥

---

४८. स्रग्धरा (अतिकृति जाति, एकोविंशत्यक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि इक्कीस अक्षर वाले अतिकृति जाति के पाद में प्रथम चार अक्षर तथा छठा, सातवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सत्तरहवाँ, अठरहवाँ, बीसवाँ, एवं इक्कीसवाँ वर्ण गुरु हों, शेष लघु हों तो 'स्रग्धरा' वृत्त होता है ॥ १०४-१०५ ॥

उदाहरण जैसे—

S S S S I S S I I I I I I S S I S S I S S
चू ता शो का र वि न्दैः कु र वकति लकैः क र्णिकारैः शिरीषैः-
पुन्नागैः पारिजातैर्वकुलकुवलयैः किंशुकैः सातिमुक्तैः ।
एतैर्नानाप्रकारैः बहुलसुरभिभिर्विप्रकीर्णैश्च तैस्तै-
र्वासन्तैः पुष्पवृन्दैर्नरवर वसुधा स्रग्धरेवातिभाति ॥ १०६ ॥

---

१. क. (भ.) अन्त्यं च विंशकं चैव गुरुसंज्ञानि यत्र तु ।
२. 'क' पुस्तके स्रग्धराया अधोलिखितं लक्षणमधिकं लभ्यते—
म्रौ म्नौ यौ यश्च सम्यग्यदि हि विरचिताः स्युस्त्रिका पादयोगे
वर्णैः पूर्वोपदिष्टैर्यतिमनुगतं तत्त्वविद्भिः प्रदिष्टं
विज्ञेयं वृत्तजातौ कविजनदयिता स्रग्धरा नामतस्तु
३. क. (न.) स्रग्धरेवावभाति ।

अनुवाद—हे नरेन्द्र ! चूत (आम्र), अशोक, अरविन्द, कुरवक, तिलक, कर्णिकार शिरीष, पुन्नाग, पारिजात, वकुल, कुवलय, किंशुक, अतिमुक्त फूलों आदि नाना प्रकार के बहुत सुगन्ध वाले बिखरे हुए वासन्तिक फूलों से यह वसुन्धरा माला को धारण करने वाली नायिका के समान प्रतीत हो रही है ॥ १०६ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में आदि के चार अक्षर तथा छठाँ, आठवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सत्तरहवाँ, अठरहवाँ, बीसवाँ, और इक्कीसवाँ अक्षर गुरु हैं, शेष लघु हैं। अतः यहाँ 'स्रग्धरा' छन्द है ॥ १०६ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में स्रग्धरा का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

म्रौ भ्नौ यौ यश्च सम्यग्यदि हि विरचिताः स्युस्त्रिका पादयोगे
वर्णैः पूर्वोपदिष्टैर्यतिरपि च पुनः सप्तभिः सप्तभिः स्यात् ।
वृत्तं सभ्यग्यदि स्यात् प्रकृतिमनुगतं तत्त्वविद्भिः प्रदिष्टं
विज्ञेयं वृत्तजातौ कविजनदयिता स्रग्धरा नामतस्तु ॥

अनुवाद—यदि इक्कीस अक्षर वाले पाद में नगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण हो और सात-सात अक्षरों पर यति हो तो तत्त्व के जानकार लोग उसे 'स्रग्धरा' वृत्त कहते हैं ॥

उदाहरण जैसे—

मगण	रगण	भगण	नगण	यगण	यगण	यगण
ऽऽऽ	ऽ।ऽ	ऽ।।	।।।	।ऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ
चूताशो	कार वि न्दैः	कु र व	क ति ल	कैः क र्णि	का रैः शि	री षैः

इस श्लोक पाद में मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण हैं तथा सात-सात अक्षरों पर यति है। अतः यहाँ 'स्रग्धरा' वृत्त है। वृत्त रत्नाकार में इसका लक्षण इस प्रकार है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम् ।

चतुर्थमाद्यं षष्ठं च दशमं द्वादशं तथा ।
षोडशाष्टादशे चैव नैधनं च गुरूण्यथ ॥ १०७ ॥
द्वाविंशत्यक्षरे पादे शेषाणि च लघून्यथ ।
भवन्ति यत्र तज्ज्ञेयं मद्रकं नामतो यथा[1] ॥ १०८ ॥
[2]उत्प्लुतमेकहस्तचरणं द्वितीयकररेचितं[3] सुविनतं
वंशमृदङ्गवाद्यमधुरं विचित्रकरणानुगं[4] बहुविधम्[5] ।
[6]मद्रकमेतदद्य सुभगे ! विदग्धगतिचेष्टितैः सुललितै
[7]र्नृत्यसि विभ्रमाकुलपदं विविक्तरसभावितं शशिमुखि ! ॥१०९॥

---

४९. मद्रक (द्वाविंशत्यक्षरा वृत्ति)

अनुवाद—यदि बाइस अक्षर वाले पाद में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम, द्वादश, षोडश, अष्टादश एवं द्वाविंश अक्षर गुरु हो और शेष वर्ण लघु हों तो 'मद्रक' नामक वृत्त होता है ॥ १०७-१०८ ॥

उदारण जैसे—

S I I S I S I I I S I S I I I S I S I I I S
उत्प्लुत मेक हस्तचरणं द्वितीय कर रेचितं सुविनतं
वंशमृदङ्गवाद्यमधुरं विचित्रकरणानुगं बहुविधम् ।
मद्रकमेतदद्य सुभगे ! विदग्धगतिचेष्टितैः सुललितै-
र्नृत्यसि विभ्रमाकुलपदं विविक्त रसभावितं शशिमुखि ! ॥ १०९ ॥

---

१. इतः परं 'क' पुस्तके मद्रकस्याधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—
भ्रौ चरणे यदा विनियतौ त्रिको क्रमवशादथाकृतिविधौ
नौ च ततः परं च रुचिरावनन्तरकृतौ नगावपि पुनः ।
तच्च दशाष्टवर्णरचिता चतुर्ष्वपि तथा यतिश्च सततं
मद्रकवृत्तमेव खलु नाट्ययोगकुशलैर्बुधैर्निगदितम् ॥
२. ख. उद्यतमेकं हस्तचरणं । ग. उन्नतमेकहस्तचरणं ।
३. ख. ग. द्वितीयकररेचकं सललितं । ४. ख विचित्रकरणान्वितं ।
५. क. (भ.) सुचरितं । ६. क. (टि०) मद्रकमेवमद्यसुभगैः ।
७. ख. नृत्यसि विभ्रमाकुलपदं वरोरु ललितक्रियं समरसम् ।
.क. (टि०) नित्यसुविभ्रमाकुलपदं वरोरु ललिताङ्गचेष्टितयुतम् ।

"हे सुभगे ! तुम आज एक हाथ और एक पैर को ऊपर उठाये हुए, द्वितीय हाथ को रेचित कर विनत किये हुए, वंशी, मृदङ्ग आदि वाद्यों से मधुर, अनेक प्रकार के विचित्र करणों के अनुगत, विदग्ध गति, एवं सुललित चेष्टाओं के साथ, बिभिन्न रस एवं भावों से परिपूर्ण एवं विलासपूर्ण गति से नृत्य कर रही हो ॥ १०९ ॥

यहाँ पर प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम, द्वादश, षोडश, अष्टादश एवं द्वाविंशति वर्ण गुरु हैं, शेष लघु । अतः यहाँ 'मद्रक' वृत्त है ॥ १०९ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में मद्रक का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

भ्रौ चरणे यदा विनियतौ त्रिकौ क्रमवशादथाकृतिविधौ
न्रौ च ततः परं च रुचिरावनन्तरकृतौ नगावपि पुनः ।
तच्च दशाष्टवर्णरचिता चतुर्ष्वपि तथा यतिश्च सततं
मद्रक वृत्तमेव खलु नाट्यप्रयोगकुशलैर्बुधैर्निगादितम् ॥

"बाइस अक्षर वाले पाद में यदि भगण, रगण, नगण, रगण, फिर नगण, उसके बाद फिर रगण एवं नगण और अन्त में गुरु हो, तथा दश एवं आठ वर्णों पर यति हो तो नाट्य प्रयोग के कुशल विद्वान् उसे 'मद्रक' वृत्त कहते हैं ।"

उदाहरण जैसे—

भगण	रगण	नगण	रगण	नगण	रगण	नगण	गु०
S । ।	S । S	। । ।	S । S	। । ।	S । S	। । ।	S

उत्प्लुत मे कह स्त चर णं द्वितो यकर रेचितं सुविन तं

काशो संस्करण में मद्रक का लक्षण निम्न प्रकार है—

भ्रौ चरणे यदा विनियतौ त्रिकौ क्रमवशादथाकृतिविधौ
न्रौ च ततः परश्च नियतौ तथा तदनु चार्पिता नरनगवः ।
स्याच्च दशाष्टवर्णरचिता यति पुनरित प्रिया च विदुषां
श्रुतिसुखसमर्थसुभगं मद्रकवृत्तमेतदुदितं खलु ॥

अन्त्यमेकोनविंशं च सप्तमं सत्रयोदशम् ।
एकादशं सप्तदशं पञ्चमं च गुरूण्यथ ।। ११० ।।
शेषाणि च लघूनि स्युर्विकृत्याश्चरणे[1] बुधैः ।
वृत्तं तदश्वललितं विज्ञेयं नामतो यथा[2] ।। १११ ।।
[3]विविधतुरङ्गनागरथयौघसंकुलमलं बलं समुदितं
शरशतशक्तिकुन्तपरिघासियष्टिविततं[4] बहुप्रहरणम् ।
[5]रिपुशतमुक्तशस्त्ररवभीतशङ्कितभटं भयाकुलदिशं
कृतमभिवीक्ष्य संयुगमुखे [6]समर्पितगुणं त्वयाश्वललितम्[7] ।।११२।।

---

५०. अश्वललित (त्रयोविंशत्यक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—यदि तेइस अक्षर वाले विकृति छन्द के प्रत्येक पाद में पांचवाँ, सातवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, सतरहवाँ, उन्नीसवाँ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों और शेष वर्ण लघु हों तो 'अश्वललित' वृत्त कहलाता है ।। ११०-१११ ।।

---

१. क. (टि०) विकृतौ चरणेषु च ।
२. इतः परं 'क' पुस्तकेऽश्वललितस्याधोलिखितं लक्षणमधिकमुपलभ्यते—
यदि च नकार आदिरचितः पदे विरचितोन्त्य एव च लगौ
यदि च जभौ त्रिधा च निहितौ क्रमेण खलु मध्यावपि तथा
यदि च समाश्रितं हि विकृतिं यतिश्च दशभिस्तथैकसहितै—
स्तत इह कीर्तितं मुनिगणैर्विशुद्धचरितैस्तदश्वललितम् ।
३. क. (टि०) रथहयनागयोधपुरुषैः सुसङ्कुलमलं समुद्रितशरा—
सनशरपङ्क्तिकुन्तपरिघासियष्टिविवृत बहुप्रकरणम् ।
वसुगणमस्यभिन्नहतशत्रुनाशितशिरः प्रमथ्य तरसा ।।
कृतमभिवीक्ष्य संयुगमुखे समीक्षितगुणं त्वयाश्वललितम् ।
रथहयनागयोधपुरुषैः ।
४. ख. निवृत्तं ।
५. ख. रिपुशतमुक्तशास्त्ररवशङ्कितभटं भयाकुलमिटं ।
६. ख. समीप्सितगुणं ।
७. ख. तदश्वललितं ।

उदाहरण जैसे—

। ।। ।S। S।।। S। S। । ।S ।S ।। ।S
विविध तुरङ्ग नागर थ योध सङ्कुल मलं बलं समु दितं
शरशतशक्तिकुन्तपरिघासि यष्टिविततं बहुप्रहरणम् ।
रिपुशतमुक्तशस्त्ररवभीतशङ्कितभटं भयाकुलदिशं
कृतमभिवीक्ष्य संयुगमुखे समर्पितगुणं त्वयाश्वललितम् ॥ ११२ ॥

"विविध तुरङ्ग, गज, रथ तथा योद्धाओं से परिपूर्ण तथा सैकड़ों बाण शक्ति, भाले, परिघ, असि (तलवार) तथा यष्टि आदि शस्त्रों से विस्तृत सैन्य के बहुत से प्रहरणो से युक्त, शत्रुओं द्वारा छोड़े गये सैकड़ों शस्त्रों के ध्वनि के भय से शङ्कित योद्धाओं एवं भय से व्याकुल दिशाओं को देखकर युद्ध में तुमने जो अश्व क्रीड़ा की है ॥ ११२ ॥

यहाँ पर पांचवाँ, सातवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, सत्तरहवाँ, उन्तीसवाँ एवं अन्तिम अक्षर गुरु है, शेष लघु हैं, अतः यहाँ 'अश्वललित' वृत्त है ॥ ११२ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में अश्वललित वृत्त का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यदि च नकार आदिरचितः पदे विरचितोऽन्त एव च लगौ
यदि च जभौ त्रिधा च निहितौ क्रमेण खलु मध्यमावपि तथा ।
यदि च समाश्रितं हि विकृतिं यतिश्च दशभिस्तथैक सहितै-
स्तत इह कीर्तितं मुनिगणैर्विशुद्धचरितैस्तवशाललितम् ॥

"यदि तेइस अक्षर वाले पाद में आदि में नगण और अन्त में एक लघु एवं गुरु हो तथा मध्य में तीन जगण और भगण हों और ग्यारह अक्षर पर यति हो तो मुनियों ने उसे 'अश्वललित' वृत्त कहा है।"

जैसे—

नगण जगण भगण जगण भगण जगण भगण ल० गु०
। । । । S । S।। । S। S।। ।S। S। । । S
विविध रङ्गना गरथ योधस ङ्कुलम लंबलं समुरितं

यहाँ पाद में नगण, जगण, भगण, जगण, भगण, जगण, भगण और अन्त में एक लघु एक गुरु है, अतः 'अश्वललित' वृत्त है ॥

षडादावष्टमं चैव ह्ये्कादशचतुर्दशे ।
विंशं सप्तदशं चैव त्रयोविंशं तथैव च ॥ ११३ ॥
एतानि च लघूनि स्युः शेषाण्यथ गुरूणि च ।
[1]चतुर्विंशतिके पादे मेघमालेति सा यथा[2] ॥ ११४ ॥
[3]पवनबलसमाहृता [4]तीव्रगम्भीरनादा बलाकावलीमेखला
क्षितिधरसदृशोच्चरूपा महानीलधूमाञ्जनाभाम्बुगर्भोद्भवा[5] ।
सुरपतिधनुरुज्ज्वलाबद्धकक्ष्या[6] तडिद्द्योतसन्नाहपट्टोज्वला[7]
[8]गगनतलविसारिणी प्रावृषेण्या दृढं मेघमालाधिकं शोभते ॥११५॥

---

५१. मेघमाला (चतुर्विंशत्यक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—यदि चौबीस अक्षर वाले वृत्त के प्रत्येक पाद में आदि के छः अक्षर और आठवां, ग्यारहवां, चौदहवां, सत्तरहवां, बीसवाँ, तेइसवाँ अक्षर लघु हों और शेष गुरु हों तो 'मेघमाला' वृत्त होता है ॥ ११३-११४ ॥

उदाहरण जैसे—

।।। ।।। S ।S S।S S।S S । S S।S S।S
पवन बल स मा हृता तीव्र गम्भीर नादा ब ला काव लीमे खला
क्षितिधरसदृशोच्चरूपा महानीलधूमाञ्जनाभाम्बुगर्भोद्भवा ।
सुरपतिधनुरुज्ज्वलाबद्धकक्ष्या तड़ितद्योतसन्नाहपट्टोज्ज्वला
गगनतलविसारिणी प्रावृषेण्या दृढं मेघांमालाधिकं शोभते ॥ ११५ ॥

---

१. क. (टि॰) चतुर्विंशाक्षरे पादे ।
२. क. पुस्तके मेघमालालक्षणमधिकं दृश्यते ।
यदि खलु चरणस्थितौ नौ त्रिकौ कृतिकारव्यास्तथा राः स्यु क्रमाद् ।
भवति यदि यतिस्तथा सप्तभिः सप्तभिस्त्रिष्वतोऽन्या यतिः पञ्च विद्यात्तथा ॥
सततमभिनिविष्टदेहा संस्कृतौ सूरिभिः सर्वदा दृश्यते ।
तत हि परिभाषिता शास्त्रविद्भिस्त्वियं मेघमाला यथा दण्डकः ॥
३. पवनजव ।
४. ख. तीव्रमादा बालाकावली मेखला शोभिता ।
५. ग. क्षितिघरसदृशोर्ध्वरूपा महाघूपपुञ्जायमानाम्बुगर्भोद्भवा ।
६. ग. शोभा ।   ७. ग. बन्धोज्वला ।
८. ग. गगनतलविचारिणी प्रावृषि प्रोन्नता । ख. प्रावृषेण्योन्नता ।

"हवा के वेग से एकत्रित की गई, तीव्र और गम्भीर नाद से युक्त, वक पंक्ति रूप मेखला वाली, पर्वत के समान उच्च, अत्यन्त नीले धुएँ एव काजल के समान जल से भरे बादल, इन्द्रधनुष से उज्ज्वल कमरबन्ध कसे हुए बिजली की चमक से कवच के समान उज्ज्वल, गगन तल में फैली हुई वर्षा ऋतु की मेघमाला अधिक सुशोभित हो रही है।"

इस श्लोक पाद में आदि के छः अक्षर और आठवाँ, ग्यारहवाँ, चौदहवाँ, सत्तरहवां, बीसवां, तेइसवाँ अक्षर लघु हैं और शेष गुरु हैं, अतः यहां 'मेघमाला' वृत्त है ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में मेघमाला का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है।

यदि खलु चरणस्थितौ नौ त्रिकौ कृत्तिकाख्यास्तथा राः स्युः क्रमात्
भवति यदि यतिस्तथा सप्तभिस्त्रिध्वतोऽन्या यतिः पञ्च विद्याक्षया।
सततमभिनिविष्टदेहा तथा संकृतौ सूरिभिः सर्वदा दृश्यते-
तत इह परिभाषिता शास्त्रविद्भिस्त्वियं मेघमाला यथा दण्डकः ॥

"यदि चौबीस अक्षर वाले संस्कृति जाति के वृत्त के प्रत्येक पाद में दो नगण त्रिक हो, और क्रमशः छः रगण हो तथा सात-सात अक्षर पर तदनन्तर पांच-पांच अक्षरों पर यति हो तो विद्वान् लोग इसे 'मेघमाला' वृत्त कहते हैं।

जैसे—

नगण नगण रगण रगण रगण रगण रगण रगण

। । । । । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ

पवन बल समाहृता तीव्र गम्भोरनादा बलाकावली मेखला

इसमें दो नगण और छः रगण हैं तथा सात-सात एवं पांच-पांच अक्षरों पर यति है। अतः यहां मेघमाला वृत्त है।

आद्यं चैव चतुर्थं च पञ्चमं षष्ठमेव च ।
नवमं दशमं चैव नैधनं च भवेद् गुरु[1] ॥ ११६ ॥
[2]लघून्यन्यानि शेषाणि पादे स्युः पञ्चविंशके ।
[3]वृत्तज्ञैः सा तु विज्ञेया क्रौञ्चपादीति नामतः[4] ॥ ११७ ॥

यः किल [5]दाक्षं विद्रुतसोमं
क्रतुवरमचमसमपगतकलशं ।
पातितयूपं क्षिप्तचषालं
विचयनमसमिधमसमयशुकचरुकम्[6] ॥
कार्मुकमुक्तेनाशु चकार
व्यपगतसुरगणपितृगणमिषुणा ।
[7]नित्यमसौ ते दैत्यगणारिः प्रदहतु
मखमिव रिपुगणमखिलम् ॥ ११८ ॥

---

५२. क्रौञ्चपदी (पञ्चविंशत्यक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—यदि पचीस अक्षर वाले वृत्त के पाद में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, नवम, दशम एवं अन्तिम वर्ण गुरु हो और शेष वर्ण लघु हों तो विद्वान् लोग उसे 'क्रौञ्चपदी' वृत्त कहते हैं ॥ ११६-११७ ॥

---

१. ख. ग. अन्त्यं चैव गुरूण्यथ ।
२. क. घ. पञ्चविंशातिके पादे शेषाणि च लघून्यथ ।
३. क. (भा) भवन्ति तज्ज्ञैः सा ज्ञेया क्रौञ्चमालेति नामतः ।
४. इतः परं 'क' पुस्तके क्रौञ्चपदाया अधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—
म्भौ यदि पादे स्भावपि चेष्टावभिकृतिरपि च हि यदि खलु विहिता
नाश्च समुद्राः स्युर्विनिविष्टा यदि च खलु गुरु भवति निधनगतम् ।
पञ्चभिरादौ छेदमुपेता पुनरपि यतिरिह यदि खलु दशभिः
क्रौञ्चपदेयं वृत्तविधाने सुरगणपितृगणमुनिगणविहिता
५. क. (टि०) दाक्ष्यं विद्रुमसोमं ।
६. क. (टि०) अपशुकमहिताम् ।
७. क. (भ). स स्वतिमायो दैत्यगणारिस्तव नृप ! मखमिव दहतु रिपुगणम् ।

उदाहरण जैसे—

S । । S S S । । SS ।।। ।।। ।।। ।।। ।।S

यः किल दाक्ष्यं विद्रुत सोमं क्रतुव रमच मसम पगत कलशं
पातितयूपं क्षिप्तचषालं विचयनमसमिधमपशुक चरुकम् ।
कार्मुकमुक्तेनाशु चकार व्यगतसुरगणपितृगणमिषुणा
नित्यमसौ ते दैत्यगणादिः प्रदहतु मखमिव रिपुगणमखिलम् ॥ ११८ ॥

अनुवाद—दैत्य गणों के शत्रु जिस भगवान् शिव ने दक्ष के यज्ञ में धनुष से छोड़े गये बाण से सोम को गिरा दिया (नष्ट कर दिया), कलस को फोड़ दिया, यूप को उखाड़ दिया, चमस को फेंक दिया, चषाल (पान पात्र) को फेंक दिया, समिधाओं को नष्ट कर दिया, चरु को फेंक दिया, पशु को भगा दिया, देवता और पितरो को नष्ट कर दिया, इस प्रकार शिव ने यज्ञ की तरह अपने सारे शत्रुओं को दहन कर दिया ॥ ११८ ॥

इस पद्य में प्रत्येक पाद में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, नवम, दशम एवं अन्तिम वर्ण गुरु हैं, शेष लघु । अतः यहाँ 'क्रौञ्चपदो' वृत्त है ॥ ११८ ॥

विशेष—गायकवाड़ संस्करण में कोञ्चपदा का निम्नलिखित लक्षण अधिक दिया गया है—

भ्मौ यदि पादे स्भावपि चेष्टावभिकृतिरपि च हि यदि खलु विहिता
नाश्च समुद्राः स्युर्विनिविष्टा यदि च खलु गुरु भवति निधानगतम् ।
पञ्चभिरादौ छेदमुपेता पुमरपि गतिरिह यदि खलु दशभिः
क्रौञ्चपदेयं वृत्तविधाने सुरगणपितृगणमुनिगणविहिता ॥

"अर्थात् जिस वृत्त के पाद में भगण, मगण, सगण, भगण हो तदनन्तर चार नगण हों और अन्तिम वर्ण गुरु हो तथा आदि से पाँच अक्षर पर, फिर १० अक्षर पर यति हो तो अभिकृति जाति में 'क्रौञ्चपदा' वृत्त होता है।"

जैसे—

भगण	मगण	सगण	भगण	नगण	नगण	नगण	नगण	गु०
S । ।	S S	S । ।	S S	।।।	।।	।।।।।।।।।		S
यः किल	दाक्ष्यं	विद्रुत	सोमं	क्रतुव	रम	चमसमपगतकल		सं

इस श्लोक पाद में भगण, मगण, सगण, भगण और चार नगण अन्तिम वर्ण गुरु है तथा पांच एवं दस अक्षरों पर यति है, अतः यहाँ 'क्रौञ्चपदा' वृत्त है। गायकवाड़ संस्करण में निम्नलिखित उदाहरण अधिक पाया जाता है।

अष्टावादौ गुरूणि स्युस्तथा चैकोनविंशकम् ।
एकविंशं च विज्ञेयं चतुर्विंशं शनैधनम् ॥ ११९ ॥
[1]एतानि गुरु संख्यानि शेषाणि च लघून्यथ[2] ।
[3]षड्विंशत्यक्षरे पादे तद्भुजङ्गविजृम्भितम्[4] ॥ १२० ॥

रूपोपेतामिति । भुजङ्गविजृम्भितं कृत्वा भगवतो हस्ते न्यस्तम् ॥१५०।१५२॥

भगण मगण सगण मगण नगण नगण नगण नगण

ऽ ।। ऽ ऽ ऽ।। ऽ ऽ ।। । ।।।। । ।।।।। । ऽ गु०

या कपि लाक्षी पिङ्गल केशो कलिरुचिरनुदिन मनुनयकठिना ।
दीर्घताराभि स्थूलासि राभिः परिवृतवपुरति शयकुटिलगतिः
आयतजङ्घा निम्नकपोला लघुतरकुचयुग परिगत हृदया ।
सा परिहार्या क्रौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधि सुखमभिलषता ॥

जो कपिल नेत्रों वाली है, पिङ्गल (भूरे) रंग के बालों वाली है, जो नित्य लड़ाई-झगड़े में रुचि रखती हो, और अनुनय-विनय नहीं मानती हो, जो लम्बी और स्थूल नाड़ियों से परिवृत शरीर बलि, हो, जो अत्यन्त कुटिल गति वाली हो, जङ्घा आयत हो, कपोल गड्ढे युक्त हो, जो अत्यन्त छोटे कुचयुगल से परिवृत हृदय वाली हो उस क्रौञ्चपदा स्त्री को सतत सुख चाहने वाले व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए ॥

---

१. 'क' पुस्तकेऽधोलिखितमुदाहरणमधिकं दृश्यते—
या कपिलाक्षी पिङ्गलकेशी कलिरुचिरनुदिनमनुनयकठिना ।
दीर्घतराभिः स्थूलसिराभिः परिवृत्तवपुरतिशयकुटिलगतिः ॥
आयतजङ्घा निम्नकपोला लघुतरकुचयुगपरिगतहृदया ।
सा परिहार्या कौञ्चपदा स्त्री ध्रुवमिह निरवधि सुखमभिलषता ॥

२. क. (टि०) एतानि गुरुसंज्ञानि पादे षड्विंशकाक्षरे ।
यत्र नाम्ना तथा ज्ञेयं तद्भुजङ्गविजृम्भितम् ॥

३. ख. ग. पादे षड्विंशकाक्षरे ।

४. इतः पर 'क' पुस्तके भुजङ्गविजृम्भितस्य अधोलिखितं लक्षणमधिकं दृश्यते—
यस्यां मौ तो नाः स्रो नित्यं प्रतिचरणमथ गदितकास्त्रिका ह्यनुपूर्वशः ।
षड्विंशत्यामेकोनायां च यदि हि खलु यतिरभिधा चतुर्भिरथाष्टभिः ॥
पश्चादन्त्यौ लगौ संयोज्यौ यदि भवति मनुजदयिता समाश्रितमुत्कृति ।
नाम्ना वृत्तं लोके ख्यातं कविवदनविकसनपरं भुजङ्गविजृम्भितम् ॥

यथा—

रूपोपेतां[1] देवैः सृष्टां समदगज-
विलसितगतिं निरीक्ष्य तिलोत्तमां
[2]प्रादक्षिण्यात्प्राप्तां द्रष्टुं बहुवदन—
मचलनयनं शिरः कृतवान् हरिः ।
दीर्घं विश्वस्यान्तर्गूढं स्तनवदन-
जघनरुचिरां निरीक्ष्य तथा पुनः
[3]पृष्ठे न्यस्तं देवेन्द्रेण प्रवरमणि-
कनकवलयं भृजङ्गविजृम्भितम् ॥ १२१ ॥

---

५३. भुजङ्गविजृम्भित (षड्विंशत्यक्षरा वृत्तिः)

अनुवाद—छब्बीस अक्षर के पाद वाले जिस वृत्त के पाद में आदि के आठ अक्षर गुरु हो तथा उन्नीसवाँ, इक्कीसवाँ, चौबीसवाँ और छब्बीसवाँ वर्ण गुरु हो और शेष वर्ण लघु हों, उसे 'भुजङ्गविजृम्भित' वृत्त कहते हैं ॥ ११९ ११९ ॥

उदाहरण जैसे—

SSSS SS SS IIIIIIIIIS ISI ISIS
रूपोपेता देवैः सृष्टां समदगजविलसगतिं निरीक्ष्य तिलो त्तमां
प्रावाक्षिष्यात्प्राप्तां द्रष्टुं बहुवदनमचलनयनं शिरः कृतवान् हरिः ।
दीर्घं निःश्लस्यान्तगूंढं स्तनवदन जघनरुचिरां निरीक्ष्य तथा पुनः
पृष्ठे न्यस्तं देवेन्द्रेण प्रवरमणिकनकवलयं भुजङ्गविजृम्भितम् ॥ १२१ ॥

---

१. क. (भ.) रूपेऽनिन्द्यां ।

२. ख. प्राप्तां द्रष्टुं बहुवदननयनसहितं ।
ग प्रादाक्षिण्यात् प्राप्तां ।

३. एतौ श्लोकौ प्रक्षिप्तौ । उदाहरणं तु जनाश्रय्या विद्यते । तद् ग्रन्थकारेण रुद्रस्वाभिना कृत उद्धारितमिति निर्णेतुं न शक्यते । अयं दण्डकश्चित्तवृत्तिप्रयोग इति नाम्ना भासते ।

अनुवाद—देवताओं के द्वारा निर्मित, मतवाले हाथी के समान गति वाली प्रदक्षिणा करने के लिए आई हुई उस परम सुन्दरी तिलोत्तमा को देखकर देवेन्द्र ने उसे देखने के लिए सभी भृभों एवं नेत्रों को अचल करके शिर को स्थिर कर दिया। फिर देवेन्द्र ने अन्तर्गूढ़ भाव से दीर्घ श्वास लेकर सुन्दर मुख, स्तन और जघनों वाली उस तिलोत्तमा को पुनः देखकर सर्प के मस्तक से विजृम्भित (निःसृत) प्रवर मणि एवं कनक-वलय से युक्त हाथ को उसके पीठ पर रख दिया ॥ १२१ ॥

इस उदाहरण के प्रत्येक पाद में आदि के आठ अक्षर तथा उन्नीसवाँ, इक्कीसवाँ, चौबीसवाँ एवं छब्बीसवाँ अक्षर गुरु है और शेष लघु हैं। अतः यहाँ 'भुजङ्गविजृम्भित' वृत्त है ॥ १२१ ॥

अभिनव—'भुजङ्ग' के समान विजृम्भण करके आपके हाथ में रख दिया है।

विशेष—काव्यमाला संस्करण में भुजङ्गविजृम्भित का निम्नलिखित लक्षण अधिक पाया जाता है—

यस्या मौ तौ नाः त्रौ नित्यं प्रतिचरणमथ गदितकास्त्रिका ह्यनुपूर्वशः
षड्विंशत्यामेकोनायां च यदि हि खलु यतिरभिधा चतुर्भिरथाष्टाभिः।
पश्चादन्त्यौ लगौ संयोज्यौ यदि भवति मनुजदयितां समाश्रितमुत्कृतिं
नाम्ना वृत्तं लोके ख्यातं कविवदनविकसनपरं भुजङ्गविजृम्भितम् ॥

अनुवाद—जिस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो मगण एक तगण तीन नगण, रगण और सगण तथा अन्त में लघु एवं गुरु हों चार और आठ अक्षरों पर यति हो तो 'भुजङ्गविजृम्भित वृत्त होता है। जैसे—

मगण	मगण	तगण	नगण	नगण	नगण	रगण	सगण	ल० गु०
SSS	SSS	SSI	III	III	III	SIS	IIS	IS

रूपोपे तां देवैः सृष्टां स मदग जविल सितग तिंनिरी क्ष्यतिलो त्तमां

दण्डकं नामविज्ञेयमुत्कृतेरधिकाक्षरम् ।
मेघमालादिकं तत्स्यान्नौ चादौ कागुहा त्रिकाः ॥ १२२ ॥

यथा—

मुदितजनपदाकुला स्फीतसस्याकरा
भूतधात्री भवन्तं समभ्यर्चति
द्विरदकरविलुप्ताहिन्तालतालीवनास्त्वां
नमस्यन्ति विन्ध्यादयः पर्वताः ।
स्फुटितकलशशुक्तिनिर्गीर्णमुक्ता
फलैरूर्मिहस्तैर्नमस्यन्ति वः सागराः
मुदितजलचराकुलाः संप्रकीर्णामलाः
कीर्तयन्तीव[1] कीर्तिं महानिम्नगाः ॥ १२३ ॥

५४. दण्डक वृत्त

अनुवाद—जिस वृत्त के पाद में उत्कृति जाति के पाद में अधिक अक्षर हों, उसे 'दण्डक' वृत्त समझना चाहिए। इसके माला आदि प्रभेद होते हैं, अतः गुह आदि आचार्यों ने प्रारम्भ में नहीं बतलाया है ॥ १२२ ॥

जैसे—

मुदितजनपदाकुला स्फीतसस्याकरा भूतधात्री भवन्तं समभ्यर्चति ।
द्विरदकरविलुप्तहिन्तालताली वनास्त्वां नमस्यन्ति विन्ध्यादयः पर्वताः ।
स्फुटितकलत्राशुक्तिनिर्गीर्णमुक्ताफलैरूर्मिहस्तैर्नमस्यन्ति वः सागराः,
मुदितजलचराकुलाः सम्प्रकीर्णामलाः कीर्त्तयन्तीव कीर्ति महानिम्नगाः ॥१२३॥

"प्रसन्न जनपद के लोगों से व्याप्त हैं, समृद्ध धान्य से परिपूर्ण यह पृथ्वी आप की अर्चना कर रही है, हाथियों के सूड़ों से विलुप्त हिन्ताल और ताली वनों से युक्त विन्ध्यादि पर्वत तुम्हें नमस्कार करपे हैं, स्फुटित कलश-सदृश सूक्तियों से निकले हुए मुक्ताफलों वाले तरङ्ग रूपी हाथों से समुद्र भी आपको नमस्कार करते हैं, प्रसन्न जलचरों से आकुल फैले हुए निर्मल जलों वाली ये महानदियाँ आपके यश का मानो गान कर रही हैं ॥ १२३ ॥

इस श्लोक-पाद में छब्बीस से अधिक अक्षर है, अतः यह 'दण्डक' छन्द है ॥

1. क. (हि०) कीर्त्तयिष्यन्ति वर्णं ।

एतानि समवृत्तानि मयोक्तानि द्विजोत्तमाः !
[1]विषमार्धसमानां तु पुनर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १२४ ॥
यत्र पादास्तु विषमा नानावृत्तसमुद्भवाः ।
ग्रथिताः पादयोगेन तद् वृत्तं विषमं स्मृतम् ॥ १२५ ॥
[2]द्वौ समौ द्वौ च विषमौ वृत्तेऽर्धविषमे तथा ।
सर्वपादैश्च विषमैर्वृत्तं विषममुच्यते ॥ १२६ ॥

नानावत्तसमुद्भवा इत्यनेन तुल्यच्छन्दसां वृत्तानां लक्षणं पृथक् पृथक् पादे विरचय्य स्वयं विषमता उह्या इत्याह ॥ १२५ ॥

द्वौ समाविति प्रथमतृतीयौ द्वितीयचतुर्थौ । द्वौ विषमाविति प्रथमद्वितीयौ तृतीयचतुर्थौ, वीप्सागर्भमेतत् द्वाविति ॥ १२६ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! ये समवृत्त के लक्षण मैंने आपको बतलाए हैं । अब विषम और अर्धसम वृत्तों के लक्षण को बतलाऊँगा ॥ १२४ ॥

अनुवाद—जहाँ पर अनेक वृत्तों से समुद्भूत पाद विषम हों और पाद के योग्य से रचे गये हों वहाँ विषम वृत्त होता है ॥ ११५ ॥

अभिनव—नानावृत्तसमुद्भवा का अभिप्राय है कि समान छन्दों वाले वृत्तों के लक्षण अलग-अलग पादों में रचना करके स्वयं विषमता का ऊहा (तर्क) करनी चाहिए ।

अनुवाद—जहाँ पर दो पाद (प्रथम और तृतीय) सम हों, और दो पाद विषम हों, उसे 'अर्धसम' वृत्त कहते हैं । तथा जहाँ पर चारों पद विषम हों उसे 'विषम' वृत्त कहते हैं ॥ १२६ ॥

---

१. युग्मौनविषमाणां च संप्रवक्ष्यामि लक्षणम ।

२. क. (टि०) समावेकान्तरौ पादौ द्वौ द्वावर्धसमौ स्मृतौ ।

[1]ह्रस्वाद्यमथ दीर्घाद्यं दीर्घं ह्रस्वमथापि वा ।
युग्मौजविषमैः पादैर्वृत्तमर्धसमं[2] भवेत् ॥ १२७ ॥
पादे सिद्धे समं सिद्धं विषमं सार्वपादिकम् ।
[3]द्वयोरर्धसमं विद्यादेष छेदस्तु पादशः ॥ १२८ ॥

सिद्ध इति लक्षिते । सार्वपादिकमिति लक्षणीयमिति शेषः द्वयोरित्यत्रापि । छेद इति पादेषु विभाग इत्यर्थं ॥ १२८ ॥

अभिनव—'द्वौ समौ' का अभिप्राय है कि प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद सम हैं, तथा प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ ये दोनों पाद विषम हैं। यहाँ द्वौ पद वीप्सा अर्थ में है अर्थात् दो-दो बार कहना अभीष्ट है।

अनुवाद—जहाँ पर आदि पाद लघु (छोटा) या दीर्घ (बड़ा) हो और दूसरा पाद दीर्घ या ह्रस्व हो तो युग्म, ओज और विषम पदों से निर्मित वृत्त 'अर्धसम' कहलाता है ॥ १२७ ॥

अनुवाद—पादों के लक्षण करने में सभी पादों में समानता होने पर समवृत्त होता है और सभी पादों में विषमता होने पर विषम वृत्त होता है। और दो पादों में समानता या विषमता होने पर अर्द्धसम वृत्त होता है तथा पादों के अनुसार यति होती है ॥ १२८ ॥

अभिनव—सिद्ध इति—सिद्ध का अर्थ है लक्षित अर्थात् जिसका लक्षण कर दिया गया है। सभी पादों में यह लक्षण करना चाहिए। दो पादों में भी यह लक्षण करना चाहिए। छेद का अर्थ है, पादों में विभाग करना ॥ १२८ ॥

---

१. क-(भ) ह्रस्वाद्यं नैधनाद्यं वा ।
२. ख. ग. तद्वृत्तमसमं स्मृतम् ।
३. क (भ.) द्वयोश्च पादयोरोज एष च्छेदस्तु वृत्तजः ।
क. (ब.) पादद्वयस्य संसिद्धो सिद्धमर्द्धसमं पुनः ।

[1]छेदास्तु ये मया प्रोक्ताः समवृत्तविकल्पिताः ।
त्रिकैर्विषमवृत्तानां संप्रवक्ष्यामि लक्षणम्[2] ॥ १२९ ॥
सौ गौ तु प्रथमे पादे स्रौ ल्गौ चापि द्वितीयके ।
[3]युग्मेऽर्धविषमे पादे ज्ञेया पथ्या तु सा त्रिकैः ॥ १३० ॥
प्रियदैवतमित्राऽसि प्रियसंबन्धिबान्धवा ।
[4]प्रियदानरता पथ्या [5]दयिते ! त्वं प्रियासि मे ॥ १३१ ॥

समवृत्तविकल्पनं समवृत्तेषु विकल्पिता ये चित्राश्छेदाः ते प्रोक्ताः ॥ १२९ ॥

अनुवाद—मैंने यति के आधार पर समवृत्तों का लक्षण कहा है। अब त्रिकों के द्वारा विषम वृत्तों का लक्षण कहूँगा ॥ १२९ ॥

अभिनव—समवृत्त विकल्पन का अर्थ है समवृत्तों में जो विभाग किये गये हैं, वे यति कहे गये हैं ॥ १२९ ॥

१. पथ्या लक्षणम्—

अनुवाद यदि प्रथम पाद में दो सगण और दो गुरु हो और द्वितीय पाद में सगण, रगण लघु और गुरु हों। यही स्थिति तृतीय और चतुर्थ पाद में हो तो 'पथ्या' छन्द कहलाता है ॥ १३० ॥

---

१. क. छेदतस्तु मया प्रोक्तं समवृत्तविकल्पनम् ।
ख. छेदास्तु ये मया प्रोक्ताः समवृत्तिविकल्पिताः ॥
क. (टि०) छेदकोऽयं मया प्रोक्तः ।

२. 'क' पुस्तके इत्यधिकं दृश्यते—
नैधनेऽन्यतरस्यां वै प्रथमे पाद इष्यते ।
द्वितीये चरणे च स्यादित्यनुष्टुप् समासतः ॥

३. क. ख. ग. एवं युग्मौजकौ ज्ञेयौ पथ्यावृत्ते त्रिकौ यथा ।
क. (टि०) एवं युग्मौजयोर्ज्ञेयं पथ्यावृत्ते त्रिकौ यथा ।

४. ख. प्रियदानवारा । ५. ख. यद्यपि । ग दयिता ।

[1]त्रौ गौ तु प्रथमे पादे रसौ लगौ च द्वितीयके।
पादे भौ लगौ तृतीये च चतुर्थे तु तसौ लगौ ॥ १३२ ॥
नैवाचारो न ते मित्रं न संबन्धिगुणप्रिया।
सर्वथा सर्वविषमा पथ्या न भवसि प्रिये! ॥ १३३ ॥

उदाहरण जैसे—

सगण सगण गु०गु० सगण रगण ल०गु०
। । S । । S S S । । S S । S । S
प्रियदे वतमि त्रासि, प्रियस म्बन्धिबा न्धवा
सगण सगण गु० गु० सगण रगण ल०गु०
। । S । । S S S । । S S । S । S
प्रियदा नरता पथ्या, दयिते त्वं प्रिया सि मे ॥ १३१ ॥

"हे दयिते! तुम देवता और मित्रों से प्रेम कराती हो, सम्बन्धी और बान्धव तुम्हें प्रिय है, तुम प्रिय बहुत देने में रत हो अतः तुम मेरी प्रिय हो ॥ १३१ ॥

२. सर्वविषमपथ्या

अनुवाद—यदि प्रथम पाद में मगण, रगण और दो गुरु हों, द्वितीय पाद यगण, सगण, लघु और गुरु हों, तृतीय पाद में रगण, भगण, लघु और गुरु हों और चतुर्थ पाद में तगण, सगण, लघु और गुरु हों तो 'सर्वविषमचरण' पथ्या वृत्त होता है ॥ १३२ ॥

उदाहरण जैसे—

मगण रगण गु० गु० यगण सगण ल० गु०
S S S S । S S S । S S । । S
नै वा चारो न ते मित्रं न सम्ब न्धिगुण प्रि या।
रगण भगण ल० गु० तगण सगण ल० गु०
S । S S । । । S S S । । । S । S
सर्वथा सर्ववि षमा पथ्या न भवसि प्रि ये ॥ १३३ ॥

---

१. इत आरभ्य श्लोकद्वयं ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति।

[1]अयुजोर्लक्षणं ह्येतद्विपरीतं तु यत्र च ।
पथ्या हि विपरीता सा विज्ञेया नामतो यथा[2] ॥ १३४ ॥
[3]कृतेन रमणस्य किं सखि ! रोषेण तेऽप्यर्थम् ।
[4]विपरीता न पथ्यासि त्वं जडे ! केन मोहिता ॥ १३५ ॥

अनुवाद—हे प्रिये ! तुझमें न आचार है, न कोई तुम्हारा मित्र है, और न सम्बन्धियों एवं गुणों से प्रेम करती हो । तुम सब प्रकार से सब के लिए विषम हो । अतः हे प्रिये । तुम पथ्या (प्रिया) नहीं हो ॥ १३३ ॥

३. विपरीतपथ्या

अनुवाद—जिसके विषम अर्थात् प्रथम, तृतीय पाद में उपर्युक्त पथ्या के लक्षण से विपरीत लक्षण हों, उसे 'विपरीत पथ्या' वृत्त समझना चाहिए ॥ १३४ ॥

उदाहरण जैसे—

जगण सगण ल० गु० सगण रगण ल० गु०
। ऽ । । । ऽ । ऽ । । ऽ ऽ । ऽ । ऽ
कृते न रमण स्य किं सखि शेषेण तेऽप्यर्थम् ।

सगण रगण गु० ल० रगण रगण ल० गु०
। । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ
विपरीता न प थ्यासि, त्वं जड़े के न मो हिता ॥ १३५ ॥

अनुवाद—हे सखि ! प्रिय के प्रति रोष (क्रोध) करने से तुम्हें क्या मिला ? इस प्रकार विपरीत आचरण करने से प्रिय नहीं हो, हे जड़ ? तुम किसके द्वारा मोहित हो रही हो ॥ १३५ ॥

---

१. ख. युग्मयोः । २. ख बुधैः ।
३. ख. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
४. क. त्वं जड़े केन मोहिता विपरीता न पश्यासि ।

चतुर्थादक्षराद्यत्र त्रिलघु स्याद्युक्ततः ।
[1]अनुष्टुप्चपला सा तु विज्ञेया नामतो यथा ॥ १३६ ॥

यथा—

न खल्वस्याः प्रियतमः श्रोतव्यं व्याहृतं सख्या ।
नारदस्य प्रतिकृतिः कथ्यते चपला[2] हीयम् ॥ १३७ ॥

---

४. चपला

अनुवाद—यदि अनुष्टुप् छन्द के विषम पाद में चतुर्थ अक्षर के बाद पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम वर्ण लघु हो तो उसे 'अनुष्टुप्-चपला' नामक वृत्त समझना चाहिए ॥ १३६ ॥

---

१. ख. ग अनुष्टुप् विपुला ।

क. (टि०) पिङ्गलादयस्तु 'चपलायुजोन्' इत्याहुः ।

रुद्रस्वामी 'चपला' इति सूत्रयित्वा—

'अस्मिन्नेव वक्रनियमे अयुजोः पादयोरन्त्यात् पूर्वं ककारो भवति चेत् चपलानाम भवति ।

यथा—

'भात्यशोकः किसलय कुसुमस्तबकैः रम्यैः ।

श्रियं हस्तावरगतां लज्जयन्निव च स्त्रीणाम् ॥''

इत्युदाहरणेन विवृतान् ।

ईशानदेवोऽपि छन्दः स्तुतौ चपलावक्त्रस्य—

"रौक्ममैन्द्रमभिनवं मण्डपं हृद्गतं ध्यायेत् ।

हैमवप्रं तु परितश्चपलावक्त्रशोभाढ्यम् ॥''

इत्याह ।

सैतवाचार्यमते-इयं नकारविपुला ।

''चपलावक्त्रमयुजोः समुद्रान्नगणो'' ।

इति मन्दारमरन्दे च ।

२. क. (टि०) श्रूयते विपुला ह्येयम् ।

विपुला तु युजि ज्ञेया लघुत्वात्सप्तमस्य तु ।
[1]सर्वत्र सप्तमस्यैव[2] केषांचिद्विपुला यथा ॥ १३८ ॥
संक्षिप्ता वज्रमध्ये हि हेमकुम्भनिभस्तनी ।
विपुलाऽसि प्रिये ! श्रोण्यां [3]पूर्णचन्द्रनिभानने ! ॥ १३९ ॥

उदाहरण जैसे—

I SSS I II S SSS SIS SS
न खल्वस्याः प्रियतमा श्रोतव्यं व्याहृतं सख्या ।
SISS I I I S SIS IIS SS
नारदस्य प्रति कृतिः कथ्यते चपला हीयम् ॥ १३७ ॥

अनुवाद—इस कन्या का कोई प्रियतम नहीं है, यह मैंने सखियों के बात-चीत से सुनली थी । वह चपला नारद की प्रतिकृति (झगड़ालू) कही जाती है ॥ १३७ ॥

५. विपुला

अनुवाद—यदि अनुष्टुप् वृत्त के सम अर्थात् द्वितोय एवं चतुर्थ पाद से सप्तम वर्ण लघु हो तो 'विपुला' वृत्त होता है, कुछ विद्वानों का मत है कि यदि सभी पादों में सप्तम लघु हो विपुला वृत्त होता है ॥ १३८ ॥

उदाहरण जैसे—

S S S S I SSS SIS IIS IS
संक्षिप्ता वज्र वन्मध्ये हेमकुम्भनिभस्तनि ।
I I SS SS S S ISS I ISIS
विपुलासि प्रिये कटयां शरच्चन्द्रनिभानने ॥ १३९ ॥

अनुवाद—हे प्रिये ! तुम कटिभाग में वज्र के समान क्षीण हो अर्थात् तुम्हारी कमर पतली है, स्तन सुवर्ण घट के समान है, नितम्ब विपुल (गुरु) है और तुम्हारा मुख शरद् के चन्द्र के समान सुन्दर है ॥ १३९ ॥

यहाँ पर द्वितीय और चतुर्थ पाद में सप्तम वर्ण लघु है अतः यहाँ 'विपुला' वृत्त है ॥ १३९ ॥

---

१. ख. सप्तमस्यैव केषांचित् विपुलैव तु सा यथा ।
२. सैतवाचार्यादीनां मते ।
रकारतकारभकारमकार मकारविपुलाः प्रसिद्धाः ।
३. ख ग. कस्यां शरच्चन्द्र निभानने ।

गङ्गेव मेघोपगमे आप्लावितवसुन्धरा ।
कूलवृक्षानारुजन्ती स्रवन्ती विपुला बलात्[1] ॥ १४० ॥
[2]आगता मेघसमये भीरु भीरुकुलोद्गते ! ।
एकरात्रौ परिगृहं चोरि बन्धनमर्हसि ॥ १४१ ॥

विपुला का द्वितीय उदाहरण—

S S I SSI I S SSI I I S I S
गङ्गेव मेघोपगमे आप्लावितवसुन्धरा ।
S I SS S I S S I I S I I S I S
कूलवृक्षाना रुजन्ती स्रवन्ती विपुलाचलात् ॥ १४० ॥

अनुवाद—हे प्रिये ! तुम मेघों के आने पर वर्षा ऋतु में पृथ्वी को आप्लावित करके किनारे के वृक्षों को तोड़ती हुई, विशाल पर्वतों से नीचे की ओर बहने वाली गङ्गा के समान हो ॥ १४० ॥

तृतीय उदाहरण—

S I S SI I I S S I SI I S I S
आगता मेघसमये भीरु भीरुकुलोद्गमे ।
SI SS I I I S S S SI I SIS
एक रात्रं परगृहं चोरो बन्धनमर्हसि ॥ १४१ ॥

अनुवाद—भीरु कुल में उत्पन्न हे भीरु ! (डरपोक !) मेघ के समय अर्थात् वर्षा के समय एक रात के लिए पराये घर में आई हो, अतः चारी में बाधने योग्य हो ॥ १४१ ॥

यहाँ चारों पादों में सातवाँ वर्ण लघु है अतः यह तृतीय प्रकार का विपुला का उदाहरण है ।

---

१. ख. ग. विपुलान् बलान् ।
२. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।

एवं विविधयोगास्तु[1] पथ्यापादा भवन्ति हि ।
युग्मोजविषमैः पादैः शेषैरन्यैस्त्रिकैरथ ॥ १४२ ॥
गुर्वन्तकः[2] सर्वलघुस्त्रिको नित्यं हि नेष्यते ।
प्रथमादक्षराद्यत्र चतुर्थात्प्राग्लघुः[3] स्मृतः ॥ १४३ ॥
पथ्यापादं समास्थाप्य त्रीण्यन्ते तु गुरूण्यथ ।
भवन्ति पादे सततं बुधैस्तद्वक्त्रमिष्यते[4] ॥ १४४ ॥

सगुर्वन्त इति गुर्वन्तः स सर्वलघुः नः, त्रिकौ नेष्येते । प्रथमादक्षरादनन्तरः चतुर्थादक्षरादूर्ध्वं तु प्राक्लघुः यकारस्तु नेष्यते । एतानि न प्रयोज्यानि इत्यर्थः ॥ १७५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार पथ्या वृत्त के पाद अनेक योग (रूप) वाले होते हैं। सम पाद एवं विषम (अयुग्म) पाद तथा शेष अन्य त्रिकों से बनते हैं । इस वृत्त के अन्त गुरु वाला त्रिक (सगण) अथवा सर्व लघु वाला त्रिक (नगण) इष्ट नहीं है । प्रथम अक्षर के बाद तथा चतुर्थ अक्षर के पूर्व एक लघु वर्ण होना अभीष्ट है ॥ १४२-१४३ ॥

अभिनव—'सगुर्वन्तः' का अर्थ है गुरु जिसके अन्त में हो वह त्रिक अर्थात् सगण (।।ऽ), सर्व लघु अर्थात् नगण (।।।) त्रिक इष्ट नहीं है। प्रथम अक्षर के बाद और चतुर्थ अक्षर से पूर्व ऊर्ध्व (बाद) या पहिले लघु यकार इष्ट नहीं है इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ १४२-१४३ ॥

६. पथ्यावक्त्र

अनुवाद—यदि पथ्या वृत्त के पाद के अन्त में तीन गुरु हों तो विद्वान् लोग उसे 'पथ्यावक्त्र' वृत्त कहते हैं ॥ १४४ ॥

उदाहरण जैसे—

ऽ ऽ ।ऽ। ऽ ऽऽ ऽ । ऽ ऽ। ऽ ऽ ऽ
वक्त्र क्षताधरं सुभ्रु, जागरग्लान नेत्रान्तम् ।
।। ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ।ऽ।।ऽ ऽ ऽ
रति सम्भोग खिन्नं ते दर्शनीयतमं वक्त्रम् ॥ १४५ ॥

---

१. ग. एवं विविधयोगैस्तु । २. क. सगुर्वन्तः ।
३. ख. लघु स्मृतम् । ४. क० तद्वक्त्रमुच्यते ।

यथा—

दन्तक्षताधरं सुभ्रु ! जागरग्लाननेत्रं[1] च ।
[2]रतिसंभोगखिन्नं ते दर्शनीयतरं वक्त्रम् ॥ १४५ ॥

[3]इत्येषा सर्वविषमा नामतोऽनुष्टुबुच्यते ।
तद्विदां मतवैषम्यं त्रिकादक्षरतस्तथा ॥ १४६ ॥

पादे षोडमात्रास्तु [4]गाथांशकविकल्पिताः ।
चतुर्भिरंशकैर्ज्ञेया वृत्तज्ञैर्वानवासिका ॥ १४७ ॥

असंस्थितपदा सुविह्वलाङ्गी
मदस्खलितचेष्टितैर्मनोज्ञा ।
क्व यास्यसि वरोरु ! सुरतकाले
विषमा किं ? वानवासिका त्वम् ॥ १४८ ॥

जैसे—

अनुवाद—हे सुभ्रु ! तुम्हारे अधर दन्तक्षत से युक्त है, जागने से नेत्रप्रान्त अलसाये हुए हैं, और रति-सम्भोग से खिन्न तुम्हारा मुख दर्शनीय हो गया है ॥ १४५ ॥

इस उदाहरण में सभी पादों के अन्त के तीन वर्ण गुरु हैं, अतः यहाँ 'पथ्यावक्त्र' वृत्त है ॥

अनुवाद—इस प्रकार ये सर्वविषम वृत्त अनुष्टुप् नाम से कहे जाते हैं। छन्दोवेत्ता विद्वान् एक मत नहीं है कि ये त्रिकों या अक्षरों से लक्षित किये जाते हैं ॥ १४६ ॥

७. वानवासिका

अनुवाद—वृत्तवेत्ता लोगों को गाथा के अंश से कल्पित सोलह मात्राओं के पाद में चार भागों में विभक्त त्रिकों के द्वारा निरूपित 'वानवासिका' वृत्त समझना चाहिए ॥ १४७ ॥

---

१. क. नेत्रान्तं ।
२. ख. प्रातः सम्भोगखिन्नं ते दर्शनीयतमं वक्त्रम् ।
३. ख.ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।
४. ख. त्रिकांशकविकल्पिताः । क-म. यस्यां नित्यं भवन्ति हि ।

[1]स्जौ स्गौ च प्रथमे पादे तथा चैव तृतीयके ।
केतुमत्यां गणाः प्रोक्ताः भ्रौ न्गौ गश्च सदा बुधैः ॥ १४९ ॥
स्फुरिताधरं [2]चकितनेत्रं रक्तकपोलमम्बुजदलाक्षम् ।
किमिदं रुषापहृतशोभं [3]केतुमतीसमं वद मुखं ते ॥ १५० ॥

जैसे—

IS I I IS I S I S S I S I I I S I S I S S
व्रसं स्थितपदा सुविह्वलाङ्गी, मदस्खलित चेष्टितै र्मनोज्ञा
I S I I I S I I I I S S I I S S S I S I S S
क्व यास्यसि वरोरु ! सुरतकाले विषमा किं ! वा न वा सि का त्वम् ॥१४८॥

यहाँ प्रत्येक पाद में सोलह मात्राएँ हैं अतः यह 'वानवासिका' वृत्त का उदाहरण है ।

अनुवाद—हे वरोरु ! तुम्हारे पैर लड़खड़ा रहे हैं, अङ्ग विह्वल हैं, मद से स्खलित चेष्टाओं में सुन्दर लग रही हो, हे वरोरु ! इस सुरत के समय तुम कहाँ जा रही हो ? क्या तुम विषमा (विराग युक्त) वनवासिनी तो नहीं हो ॥ १४८ ॥

८. केतुमती

अनुवाद—यदि प्रथम और तृतीय पाद में सगण, जगण, सगण तथा एक गुरु हों और द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में भगण, रगण, नगण, तथा दो गुरु हों तो 'केतुमती' वृत्त होता है ॥ १४९ ॥

जैसे—

सगण	जगण	सगण गु०
I I S	I S I	I I S S
स्फुरिता	ध रं च	कितने त्रं
भगण	रगण	नगण गु० गु०
S I I	S I S	I I I S S
रक्त क	पोल म	म्बुज द ला क्षम् ।

---

१. अतः परमेकादशपद्यानि ग्रन्थान्तरेषु न सन्ति ।
२. ख. कल्पितनेत्रं । ३. ख. केतुमतिमुखाकृति मुखं ते ।

[1]वक्त्रस्यापरपूर्वस्य चादौ नौ रो लगौ त्रिकाः ।
नजौ जरौ द्वितीये च शेषाग्रं पुनरेव [2]तु ॥ १५१ ॥
[3]प्रथमे च तृतीये नौ रलौ गश्च प्रकीर्तितः ।
गणाश्चापरवक्त्रे तु नजौ ज्रौ द्विचतुर्थयोः ॥ १५२ ॥

सगण	जगण	सगण	गु०	
।।ऽ	।ऽ।	।।ऽ	ऽ	
किमिदं	रुषाप	हृत शो	भं	
भगण	रगण	नगण	गु०	गु०
ऽ।।	ऽ।ऽ	।।।		
केतु म	तीस मं	व द मु	खं	ते ॥१५०॥

यहाँ प्रथम और द्वितीय पाद में सगण, जगण, सगण और एक गुरु है तथा द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में भगण, रगण, नगण और दो गुरु हैं अतः 'केतुमती' वृत्त है।

अनुवाद—हे देवि ! तुम्हारे अधर फड़क रहे हैं: नेत्र चकित (चञ्चल) हैं, कपोल लाल हैं, नेत्र कमलदल के समान बिखरे हुए हैं, क्रोध के कारण शोभा नष्ट हो गई है, कहिये, यह सब क्या है ? तुम्हारा मुख अग्नि की ज्वाला की तरह हो रहा है ॥ १५० ॥

९. अपरवक्त्रा

अनुवाद—अपरवक्त्र वृत्त के प्रथम और तृतीय पाद में नगण, नगण, रगण त्रिक और लघु एवं गुरु हों, और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में नगण, जगण, जगण और रगण त्रिक होता है ॥ १५१ ॥

---

१. क. (टि०) अपरवक्त्रस्यादौ तु म्लौगिति त्रिकं त्रिकम् ।
   नजौ जरौ द्वितीये तु चतुर्थे पुनरेव तु ।

२. क. (भ.) प्राग्वदेव तु ।

३. अयं श्लोकः 'ग' पुस्तके नास्ति ।

सुतनु ! जलपरीतलोचनं जलदनिरुद्धमिवेन्दुमण्डलम् ।
किमिदमपरवक्त्रमेव ते शशिवदनेऽद्य मुखं पराङ्मुखम् ॥ १५३ ॥
नौ यौं तु प्रथमे पादे न्जौ ज्रौ गश्च तथापरे ।
यत्र तत्पुष्पिताग्रा स्याद्यदि ज्ञेयं तु पूर्ववत्[1] ॥ १५४ ॥

जैसे—

नगण	नगण	रगण	ल० गु०
।।।	।।।	ऽ।ऽ	। ऽ
सुतनु !	जलप	रीत लो	च नं
नगण	जगण	जगण	रगण
।।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
जलद	निरु द्ध	मिवेन्दु	मण्डलम्
नगण	नगण	रगण	ल० गु०
।।।	।।।	ऽ।ऽ	।ऽ
किमिद	म प र	व वक्त्र मे	व ते
नगण	जगण	जगण	रगण
।।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
शशिव	द नेऽद्य	मुखं प	राङ्मुखम् ॥ १५२ ॥

यहाँ पर प्रथम और द्वितीय पाद में दो नगण, रगण त्रिक और लघु एवं गुरु है तथा तृतीय और चतुर्थ पाद में नगण, दो जगण और रगण है, अतः 'अपरवक्त्र' वृत्त है ॥ १५२ ॥

अनुवाद—हे सुतनु ! तुम्हारे नेत्र आंसुओं से भरे हैं, तुम्हारा मुख मेघों से ढके हुए चन्द्र मण्डल के समान लग रहा है, हे शशिवदने ! आज तुम्हारा पराङ्मुख मुख दूसरे जैसा लग रहा है ॥ १५२ ॥

१०. पुष्पिताग्रा

अनुवाद—जहाँ पर प्रथम पाद में दो नगण, रगण, और यगण हों तथा द्वितीय पाद में नगण, दो जगण रगण और गुरु हो, तथा शेष तृतीय और चतुर्थ पाद में यदि पहिले की तरह हो तो 'पुष्पिताग्रा' वृत्त होता है ॥ १५३-१५४ ॥

१. क. (टि०) यथैतावपरौ तथा ।

[1]पवनबलविधूतचारुशाखं
प्रमुदितकोकिलकण्ठनादरम्यम्
मधुकरपरिगीयमानशब्दं
वरतनु ! पश्य वनं सुपुष्पिताग्रम् ॥ १५५ ॥

स्जौ स्लौ चादौ यथा न्सौ ज्गौ भ्नौ ज्लौ गश्च तथा पुनः ।
स्जौ स्जौ गश्च त्रिका ह्येते उद्गतायाः प्रकीर्तिताः ॥ १५६ ॥

जैसे—

नगण	नगण	रगण	यगण
।।।	।।।	ऽ।ऽ	।ऽऽ
पवन	रय वि	धूतचा	रु शाखं

नगण	जगण	जगण	रगण गु०
।।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ ऽ
प्रमुदि	त कोकि	ल कण्ठ	नादरम्यम् ।

नगण	नगण	रगण	यगण
।।।	।।।	ऽ।ऽ	।ऽऽ
मधुक	र परि	गीयमा	न शब्दं

नगण	जगण	जगण	रगण गु०
।।।	।ऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ ऽ
वरत	नु ! पश्य	वनं सु	पुष्पिता ग्रम् ॥ १५४ ॥

अनुवाद—हे वरतनु ! तुम इस पुष्पों से अलङ्कृत वन को देखो ! इसमें पवन के वेग से वृक्षों की सुन्दर शाखाएँ हिल रही है, प्रसन्न कोयलों के मधुर कण्ठनाद से रमणीय है, भौंरों के गुञ्जार से शब्दायमान है ॥ १५५ ॥

११. उद्गता

अनुवाद—जिसके प्रथम पाद में सगण, जगण, सगण और लघु वर्ण हों, द्वितीय पाद में नगण, सगण, जगण और गुरु हों, तृतीय पाद में भगण, नगण, जगण लघु एवं गुरु हों, पुनः चतुर्थ पाद में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु हों, वहाँ 'उद्गता' वृत्त होता है ॥ १५६ ॥

१. क. (टि०) पवनरथविधूत० ।

तव रोमराजिरतिभाति सुतनु ! मदनस्य मञ्जरी ।
नाभिकमलविवरोत्पतिता भ्रमरावलीव कुसुमात्समुद्गता ॥१५७॥
स्जौ स्लौ च ततो न्सौ ज्गौ नौ सौ चेति तृतीयके ।
स्जौ स्जौ गश्च चतुर्थे तु ललिताया गणाः स्मृता ॥ १५८ ॥

जैसे—

सगण जगण सगण ल०
। । ऽ । ऽ । । । ऽ ।
तव रो मरा जि रति भा ति
नगण सगण जगण गु०
। । । । । ऽ । ऽ । ऽ
सुतनु ! म द न स्य मञ्ज री ।
भगण नगण जगण ल० गु०
ऽ । । । । । । ऽ । । ऽ
नाभिक मल वि वरोत्प ति ता
सगण जगण सगण जगण गु०
। । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । ऽ
भ्रमरा वलीव कुसुमा त्समुद्ग ता ॥ १५६ ॥

अनुवाद—हे सुतनु ! नाभिकमल रूपी विवर से ऊपर उठी हुई, पुष्पों से उद्गत भौरों की कतार के समान, कामदेव की कुसुम मञ्जरी रूप तुम्हारी रोमावली अत्यन्त सुशोभित हो रही है ॥ १५७ ॥

१२. ललिता

अनुवाद—जिसके प्रथम पाद में सगण, जगण, सगण तथा लघु हों, द्वितीय पाद में नगण, सगण, जगण और गुरु हो, तृतीय पाद में दो नगण और दो सगण हों तथा चतुर्थ पाद में सगण, जगण, सगण, जगण और एक गुरु हो तो 'ललिता' नामक वृत्त होता है ॥ १५८ ॥

[1]ललिताकुलभ्रमितचारुवसनकरचारुपल्लवा।
प्रविकसितकमलकान्तिमुखी प्रविभासि देवी सुरतश्रमातुरा ॥१५९॥
एवमेतानि वृत्तानि समानि विषमाणि च।
[2]नाटकाद्येषु काव्येषु प्रयोक्तव्यानि सूरिभिः ॥ १६० ॥

जैसे—

सगण	जगण	सगण	ल०
I I S	I S I	I I S	I
ललिता	कुल भ्र	मित चा	रु

नगण	सगण	जगण	गु०
I I I	I I S	I S I	S
वसन	कर चा	रु पल्ल	वा।

नगण	नगण	सगण	सगण
I I I	I I I	I I S	I I S
प्रविक	सित क	मल का	न्ति मुखी

सगण	जगण	सगण	जगण	गु०
I I S	I S I	I I S	I S I	S
प्रतिभा	सि देवि !	सुरत	श्र मा तु	रा ॥ १५९ ॥

अनुवाद—हे देवि ! ललित एवं आकुल हिलते हुए सुन्दर वस्त्र और सुन्दर करपल्लवों वाली खिले हुए कमल के समान कान्त (सुन्दर) मुख वाली तुम सुरतश्रम से थकी हुई मालूम पड़ रही हो ॥ १५९ ॥

अनुवाद इस प्रकार ये सम और विषम वृत्त विद्वानों को काव्य और नाटकों में प्रयोग करने चाहिए ॥ १६० ॥

१. ब. ललिताकुलभ्रमिबाहुवसमकरपल्लवा हि मे।
क-भ. ललितावलिभ्रमरजासु वदनकरचारुपल्लवा।

२. ब. नाटकादिषु।

सन्त्यन्यान्यपि वृत्तानि यान्युक्तानीह पिण्डशः[1]।
न च तानि [2]प्रयोज्यानि न [3]शोभां जनयन्ति हि ॥ १६१ ॥

यान्यत्र प्रतिषिद्धानि गीतके तानि योजयेत् ।
[4]ध्रुवायोगे तु वक्ष्यामि तेषां चैव विकल्पनम् ॥ १६२ ॥

वृत्तलक्षणमेव[5] तु समासेन मयोदितम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ह्यार्याणामपि लक्षणम् ॥ १६३ ॥

ननु हतशोभानीति चेत् कथं प्रयोज्यानीत्याह—यान्यत्र प्रतिषिद्धानीति।

गीतं पठ्यमानत्वाभावात् न वृत्तगता श्रव्यतापेक्ष्येते केवलं तालयोजनार्थं साम्यमवश्यं कर्तव्यमिति मात्राणां वर्णानां नियमस्तत्राश्रीयते ॥ १६२ ॥

अनुवाद—अन्य भी वृत्त होते हैं जिन्हे समूह रूप में बतलाया गया है। किन्तु उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे (काव्य में) सौन्दर्य (शोभा) को नष्ट कर देते हैं ॥ १६१ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह होता है कि यदि वे काव्य में शोभा को नष्ट कर देते हैं तो उनका प्रयोग कहाँ करना चाहिए ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—जो वृत्त यहाँ (काव्य-नाट्य में) प्रतिषिद्ध हैं उनका प्रयोग गीत आदि में करना चाहिए। ध्रुवाओं के प्रयोग के समय उनका सभेद वर्णन करूंगा ॥ १६२ ॥

अभिनव—गीतों में पाठ्यमानता का अभाव होने के कारण वृत्तों में श्रव्यता की अपेक्षा नहीं होती, केवल तालों की योजना के लिए अर्थ-साम्य को अवश्य करना चाहिए, इसलिए गीतों में मात्रा और वर्णों के नियम का आश्रयण किया जाता है ॥ १६२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार संक्षेप में मैंने वृत्तों का लक्षण कहा है। उसके बाद मैं आर्या का लक्षण बतलाऊँगा ॥ १६३ ॥

---

१. क. (टि०) पण्डितैः ।
२. ग. मयोक्तानि । ३. क. हतशोभानि तानि हि ।
४. ख. ग. ध्रुवाविधाने व्याख्यास्ये तेषां चैव विकल्पनम् ।
५. ख. ग. एतत्तु ।

पथ्या च विपुला चैव चपला मुखतोऽपरा ।
जघने चपला चैव आर्याः पञ्च प्रकीर्तिताः[1] ॥ १६४ ॥
आसां तु [2]संप्रवक्ष्यामि यतिमात्राविकल्पनम् ।
[3]लक्षणं नियमं चैव विकल्पगुणसंश्रयम् ॥ १६५ ॥
यतिश्छेदस्तु विज्ञेयश्चतुर्मात्रो गणः स्मृतः ।
द्वितीयान्त्यौ युजौ पादावयुजौ त्वपरौ स्मृतौ[4] ॥ १६६ ॥
गुरुमध्यविहीनस्तु चतुर्गणसमन्वितः ।
अयुग्गणो विधातव्यो युग्गणस्तु[5] यथेप्सितः ॥ १६७ ॥

आर्यावृत्त

अनुवाद—पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला, और जघनचपला—ये पांच आर्याएँ कही गई हैं ॥ १६४ ॥

अनुवाद—अब मैं इन आर्याओं के लक्षण, यति एवं मात्राएँ, उनके भेद तथा विकल्प के गुण के आश्रित नियमों को कहूँगा ॥ १६५ ॥

अनुवाद—पाद के विभाग को यति कहते हैं। गण चार मात्राओं का होता है। द्वितीय और चतुर्थ पाद को युज् (सम-पाद) कहते हैं तथा प्रथम और तृतीय पाद को अयुज् अर्थात् विषम पाद कहते हैं ॥ १-६ ॥

अनुवाद—मध्य गुरु अर्थात् जगण से रहित चार गणों वाले अयुज् गणों का विधान करना चाहिए और युज् गण का इच्छानुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ १६७ ॥

---

१. ख. पञ्चविधाः स्मृताः । २. क. (टि०) चैव प्रवक्ष्यामि ।
३. क. (टि० लक्षणे नियतांश्चैव विकल्पान् गुणसंश्रितान ।
४. क. (टि०) शेषौ चैव युजौ स्मृतौ ।
५. क. (टि०) युग्गणः पञ्च चैव तु ।

[1]षष्ठो वै द्विविकल्पस्तु नैधनो ह्येकसंस्थितः ।
[2]पाश्चादर्धे तु षष्ठः स्यादेकमात्रस्तु केवलः ॥ १६८ ॥
द्विविकल्पस्तु षष्ठो[3] यो गुरुमध्यो भवेत्तु सः ।
[4]तथा सर्वलघुश्चैव यतिसंज्ञासमाश्रिता ॥ १६९ ॥
[5]द्वितीयादिलघुर्ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमे यतिः[6] ।
[7]प्रथमादिरथान्त्ये च पञ्चमे वा विधीयते ॥ १७० ॥
गणेषु त्रिषु पादस्य यस्याः पथ्या तु सा भवेत् ।
[8]अतश्च विपुलान्या तु विज्ञेया यतिलक्षणा ॥ १७१ ॥

अनुवाद—षष्ठ गण के दो विकल्प (भेद) हैं और अन्तिम अर्थात् अष्टम गण एक भेद वाला होता है। उत्तरार्द्ध में षष्ठ गण केवल एक मात्रा से निर्मित होता है ॥ १६८ ॥

अनुवाद—जो षष्ठ गण दो विकल्पों वाला होता है। वह मध्य गुरु वाला होता है तथा वह सर्व लघु भी होता है। वे यति संज्ञा के आश्रित होते हैं ॥ १६९ ॥

अनुवाद—जब द्वितीय चतुर्थ आदि अलघु (गुरु) हो तो पञ्चम-सप्तम अक्षर पर यति होती है और यदि प्रथम, तृतीय अक्षर लघु हो तो पञ्चम एवं अन्तिम अक्षर पर यति होती है ॥ १७० ॥

अनुवाद--जिस वृत्त में तीन गणों के पर यति होती है वहाँ 'पथ्या' आर्या होती है। इससे भिन्न 'विपुला' आर्या होती है, विपुला में कोई यति नहीं होती ॥ १७१ ॥

---

१. ख. षष्ठस्य । ग. षष्ठश्च ।
२. क-प. पश्चार्धे यो गणः षष्ठः एकमात्रः स उच्यते ।
३. क. (टि०) षष्ठोऽत्र ।
४. क. (टि०) सर्वयतिश्चैव यदि संज्ञां समाश्रितः ।
५. क. (टि०) सद्वितीया द्विलघुनी सप्तमे सप्तमाद्यदि ।
६. क-भ. सप्तमे वा यतिस्तथा । ७. ख. प्रथमादि तथान्ते च ।
८. क. (टि०) प्रथमे द्वितीये च सा त्वन्या विपुला मता ।
द्वितीयश्च चतुर्थश्च जकारो गुरुमध्यगौ ॥

अयुजः सर्वगुरवो गुरुमध्या गणा युजः ।
यस्याः स्युः पादयोगे तु विज्ञेया चपला[1] हि सा ॥ १७२ ॥
[2]त्रिंशदाद्ये तु विज्ञेयाः सप्तविंशतिः चापरे ।
उभयोरर्धयोर्ज्ञेयो मात्रापिण्डो विभागशः ॥ १७३ ॥
[3]त्रिंशत्तस्याश्च यदि स्युरेतानि द्विगुणानि तु ।
[4]त्रीण्यक्षराणि चान्यानि न्यस्य संख्याविभागशः ॥ १७४ ॥
एतानि लघुसंज्ञानि निर्दिष्टानि समासतः ।
[5]सर्वेषां चैवमार्याणामक्षराणां यथाक्रमम् ॥ १७५ ॥

अनुवाद—जिसके विषम (प्रथम एवं तृतीय) पाद सर्व गुरु हों और सम पाद (द्वितीय-चतुर्थ) मध्य गुरु वाले गणों से युक्त हो तो उसे 'चपला' आर्या वृत्त समझना चाहिए ।। १७२ ।।

अनुवाद—जिसके आदि में तीस मात्राएँ हो और अन्य सत्ताइस मात्राओं वाला हो। दोनो अर्धों के विभाग के अनुसार मात्राओं के पिण्ड को समझना चाहिए ।। १७३ ।।

अनुवाद—उसके पाद में यदि तीस अक्षर हों तो उसे द्विगुणित कर दे और संख्या के विभाग के अनुसार तीन अक्षर और जोड़ दे। संक्षेप में इसे लघु संज्ञक समझना चाहिए। इसी क्रम के अनुसार आर्याओं के सभी अक्षरों को समझने चाहिए ।। १७५-१७६ ।।

---

१. ख. विपुला च सा ।

२. ख. त्रिंशन्मात्रास्तु पूर्वार्द्धे विंशतिः सप्त चापरे ।

३. ख. अधिकानि यानि त्रिंशद्भ्यस्तानि द्विगुणितानि तु ।

४. ख. अक्षरत्रययुक्तानि ज्ञेयान्यत्र लघूनि तु ।

५. ख. सर्वासामेव चार्याणामक्षराणि यथाक्रमम् ।

अर्धाष्टमगणार्धा च सर्वैवार्या प्रकीर्तिता ।
षष्ठश्च द्विविकल्पस्तु नैधने ह्येकसंस्थितः ॥ १७६ ॥
पश्चाद्वा यो गणः षष्ठ एकमात्रः स उच्यते ।
द्विविकल्पस्तु यः षष्ठो गुरुमध्यो भवेत्तु सः ॥ १७७ ॥
यथा सर्वलघुश्चैव यतिः संख्यासमाश्रिता ।
सा द्वितीया द्विलघुका सप्तमे प्रथमे यतिः ॥ १७८ ॥

अर्धोऽष्टमो गणः । अतः सार्धाः सप्त गणाश्च । चतुर्मात्रा यस्मात्तावृगर्धः यः स्यात् । षष्ठो गणो द्विभेदः । तस्य एकभेदमाह पाश्चात्यर्धौ यः षष्ठो गणस्तस्मिन् कर्तव्ये लघुरेकः कर्तव्यस्तस्य स्थाने गुरुमध्यो ज इत्यर्थः । सर्वलघुः चतुर्लघुस्तत्र च द्वितीयाद्वारभ्य लघोर्यतिरर्धे तदनन्तरं पादारम्भः कर्तव्यः, अन्ते च प्रथमाद्विर्यतिः, पञ्चमे च गणे समाप्ते यतिः १७७-१७९ ॥

अनुवाद—सभी आर्याएँ प्रारम्भ में साढ़े सात गणों वाली होती है । षष्ठ गण दो विकल्पों वाला होता है अर्थात् उसके दो भेद होते हैं । तथा अष्ठम गण एक भेद वाला होता है । उत्तरार्द्ध में षष्ठ गण एक मात्रा वाला कहा जाता है । दो भेदों वाला जो षष्ठ गण है वह गुरुमध्य अर्थात् जगण होता है । और दूसरा रूप सर्व लघु वर्ण वाला होता है । ये यति संख्या पर आश्रित रहते हैं । वह द्वितीय दो लघु वाला होता है तो सप्तम और प्रथम पर यति होती है ॥ १७७-१७९ ॥

अभिनव—आठवाँ गण आधा होता है अतः आर्या में साढ़े सात गण होते हैं । आर्या में चार मात्राओं का एक गण होता है अतः उसका आधा गण । षष्ठ गण के दो भेद होते हैं । उसके एक भेद को कहते हैं । आधा जो षष्ठ गण है उसके करने के समय एक लघु करना चाहिए । उसके स्थान में मध्य गुरु जगण होना चाहिए । सर्व लघु अर्थात् चार लघु जहाँ हों, वहाँ द्वितीय लघु से आरम्भ करके आधे में यति करे उसके बाद का आरम्भ करना चाहिए । अन्त में प्रथम लघु पर यति करनी चाहिए और पञ्चम गण की सम्प्राप्ति पर यति करनी चाहिए ॥ १७७-१७८ ॥

गुरुमध्यविहीनस्तु चतुर्गणसमन्वितः ।
अयुग्गणो विधातव्यः युग्गणस्तु[1] स एव च ॥ १७९ ॥
प्रथमतृतीयौ पादौ द्वादशमात्रौ भवेत्तु सा पथ्या ।
विपुलान्या खलु गदिता पूर्वोदितलक्षणोपेता ॥ १८० ॥

अयुग्गण इति विषमः प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमरूपः । युग्गणः समः । स एव चेति जगणस्तत्र न वर्ज्यं इति यावत् ॥ १७९ ॥

अर्धद्वयेऽपि गणत्रये छेदः कर्तव्यः सैव पाद उच्यते तदाह—प्रथमतृतीयौ पादौ द्वादशमात्राविति ।

प्रथमेऽर्धे गणत्रयं प्रथमः पादः । द्वितीयेऽर्धे चान्यद् गणत्रयं तृतीयपादः ॥१८०॥

अनुवाद—मध्य गुरु अर्थात् जगण से रहित चार गणों से युक्त विषम (प्रथम तृतीय) गण का विधान करना चाहिए और उसी प्रकार सम गण वाले पाद भी होना चाहिए ॥ १७९ ॥

अभिनव—अयुग्गण का अर्थ होता है विषम गण अर्थात् प्रथम, तृतीय, पञ्चम, सप्तम गण । युग्गण का अर्थ है सम गण अर्थात् द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम गण । स एव का अभिप्राय है जहाँ जगण वर्जित नहीं है ॥ १७९ ॥

अभिनव—दोनों आधों अर्थात् पूवार्ध और उत्तरार्द्ध में तीन गणों पर छेद (यति) करना चाहिए । उसे पाद कहते हैं ।—इसी को कहते—

अनुवाद—यदि प्रथम और तृतीय पाद में बारह मात्राएँ हों तो उसे 'पथ्या' वृत्त कहते हैं और पूर्व-कथित लक्षणों से युक्त विपुला आर्या भिन्न होती है ॥ १८० ॥

अभिनव—प्रथमार्ध में तीन गणों का प्रथम पाद होता है । द्वितीयार्ध में तीन गणों का तृतीय पाद है ॥ १८० ॥

---

१. ख. ग. प्रमाणश्चैव पञ्चमः ।

पथ्या यथा—

रक्तमृदुपद्मनेत्रा सितदीर्घबहुलमृदुकेशी ।

कस्य तु पृथुमृदुजघना तनुबाह्वंसोदरी पथ्या ॥ १८१ ॥

विपुला यथा—

विपुलजघनवदनस्तननयनैस्ताम्राऽधरोष्ठकरचरणैः ।

आयतनासागण्डैर्ललाटकर्णैः शुभा कन्या ॥ १८२ ॥

पथ्येति पथिसाध्वित्यर्थः ॥ १८१ ॥

पथ्या का उदाहरण जैसे—

S I I I S I S S I I S I I I I I I S S

रक्त मृ दु प द्म ने त्रा, सितदीर्घबहुलमृदुकेशी ।

S I I I I I I I I S I I S S S I S S S

कस्य तु पृ थु मृ दु ज घ ना, तनुबाह्वंसोदरी पथ्या ॥ १८१ ॥

अनुवाद—रक्त एवं कोमल कमल के समान नेत्र वाली, काले, लम्बे और अत्यन्त कोमल बालों वाली, विशाल एवं कोमल जांघों वाली और पतले बांह, अंस और उदर वाली कन्या किसे प्रिय नहीं होती ॥ १८१ ॥

अभिनव—पथ्या अर्थात् मार्ग में साधु (पथि साधु पथ्या)। अर्थात् व्यवहार में साधु (सुन्दर) पथ्या है ॥ १८१ ॥

विपुला का उदाहरण जैसे—

I I I I I I I I I S I I I I S S S I S I I I I I S

वि पु ल ज घ न व द न स्तन न य नै स्ताम्राधरोष्ठकरचरणैः ।

S I I S S S S I S S S S I S S S

आ यत ना सा गण्डैर्ल लाटकर्णैः शुभा कन्या ॥ १८२ ॥

अनुवाद—जिसके नितम्ब, बदन, स्तन, नेत्र विशाल हों, तथा अधरोष्ठ, हाथ और पैर ताम्रवर्ण के हो, नासिका, कपोल, ललाट और कान आयत हो वह कन्या शुभ होती है ॥ १८२ ॥

द्वितोयश्च चतुर्थश्च गुरुमध्यगतो भवेत् ।
उभयोरर्धयोर्यत्र विज्ञेया चपला यथा ॥ १८३ ॥

यथा—

उद्भटगामिनी परुषभाषिणी कामचिह्नकृतवेषा ।
जानाति मांसयुक्ता सुराप्रिया सर्वतश्चपला ॥ १८४ ॥

पूर्वार्धे लक्षणं ह्येतदस्याः[1] स च मुखेन तु ।
[2]पश्चिमार्धे तु चपला यस्याः सा जघनेन तु ॥ १८५ ॥

मुखचपला यथा—

आर्यामुखे तु चपला तथापि चार्या न मे यतः सा किम् ।
दक्षा गृहकृत्येषु तथा दुःखे भवति दुःखार्ता ॥ १८६ ॥

चपला आर्या

अनुवाद—जहाँ दोनों अर्धभाग में द्वितीय और चतुर्थ गण मध्य गुरु (जगण) हों, उसे 'चपला' आर्या कहते हैं ॥ १८३ ॥

उदाहरण जैसे—

S I I S I S I I I S I S S I S I I I S S
उद्भट गामिनी परुष भाषिणी कामचिह्नकृत वेषा ।
S S I S I S S I S I S S I S I I S
जानाति मांस युक्ता सुराप्रिया सर्वतश्चपला ॥ १८४ ॥

अनुवाद—उद्धत चाल वाली, कठोर वचन बोलने वाली उपभोग के चिह्न से युक्त वेष वाली, अधिक मांस युक्ता, मदिरा-प्रिया नायिका सब प्रकार से 'चपला' होती है ॥ १८४ ॥

अनुवाद—यदि चपला का यह लक्षण पूर्वार्द्ध में हो तो 'मुखचपला' और यदि उत्तरार्द्ध में लक्षण दिखाई दे तो जघनचपला होती है ॥ १८५ ॥

---

१. क. (न) यस्याः सा चपलामुखे ।
२. क. (न) पश्चिमार्द्धे भवेद्यत्र जघने चपला तु सा ।

जघनचपला यथा—

वरमृगनयने ! चपलासि वरोरु ! शशाङ्कदर्पणनिभास्ये ! ।
कामस्य [1]सारभूते ! न पूर्वमदचारुजघनेन ॥ १८७ ॥

सर्वचपला यथा—

[2]उभयोरर्धयोरेतल्लक्षणं दृश्यते[3] यदि ।
वृत्तज्ञैः सा तु विज्ञेया सर्वतश्चपला सखि ! ॥ १८८ ॥

मुखचपला का उदाहरण जैसे—

S S I S I I I S I S I S S I S I S S S
आर्या मुखे तु चपला तथापि चार्या न मे यतः सा किम् ।
S S I I S S I I S S S I I I S S S
दक्षा गृह कृत्येषु तथा दुःखे भवति दुःखार्त्ता ॥ १८६ ॥

अनुवाद—मेरी स्त्री मुख से चपला (वाचाल) है, फिर भी वह चपला नहीं है, क्योंकि वह गृह कार्य में दक्ष है और मेरे दुःख में दुःखित हो जाती है ॥ १८७ ॥

जघनचपला का उदाहरण जैसे—

I I I I I I S I I S I I S I I S I S I S I I I S S
वरमृगनयने ! चपलासि वरोरु ! शशाङ्क दर्पण निभास्ये ।
S S I S I S S I S I I I S I I I S S
कामस्य सारभूते ! न पूर्वं मद चारुजघनेन ॥ १८८ ॥

अनुवाद—हे वरोरु ! हे मृगाक्षि ! हे चन्द्रमा एवं दर्पण के समान मुख वाली, सुन्दरि ! काम के सारभूत पूर्ण मदमस्त सुन्दर जङ्घाओं से तुम चपला हो ॥ १८८ ॥

अनुवाद—यदि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में चपला का लक्षण दिखाई दे तो हे सखि ! वृत्त वेत्ता लोग उसे 'सर्वचपला' कहते हैं ॥ १८९ ॥

---

१. अतः परं काशीमुद्रितपुस्तके सार्धचतुष्टयपद्यमधिकम् ।
२. ख. ग. सारभूतेन ।
३. क-भ. यत्रैव लक्षणं भवेत् ।

कार्यौ द्वादशमात्रौ च पादावाद्यौ तृतीयकौ ।
अष्टादश द्वितीयं च तथा पञ्चदशोत्तमा ॥ १८९ ॥

चतुःपञ्चप्रकाराणां चतुष्काणां विशेषतः ।
प्रस्तारयोगमासाद्य बाहुल्यं संप्रदर्शयेत् ॥ १९० ॥

पञ्चपञ्चाशदाद्या तु त्रिंशदाद्या तथैव च ।
आर्या त्वक्षरपिण्डेन विज्ञेयात्र प्रयोक्तृभिः ॥ १९१ ॥

आर्याणां भेदं दर्शयितुं तत्प्रस्तारमाह—

चतुः पञ्चप्रकाराणां चतुष्काणां विशेषतः ।
प्रस्तारयोगमासाद्य बाहुल्यं संप्रदर्शयेत् ॥ इति ॥

अयुक्स्थानगतानां चतुष्प्रकाराश्चतुर्गणाः । समस्थानगताः पञ्चप्रकारास्तेषां यो विशेषः परस्परसंकीर्णता तत्कृतमार्याणां प्रस्तारबाहुल्यं निरूपयेत् ॥ १९० ॥

अनुवाद—यदि प्रथम और तृतीय पाद में बारह मात्राएँ हों और द्वितीय पाद में अठारह तथा चतुर्थ पाद में पन्द्रह मात्राएँ हों तो इसे 'उत्तमा' आर्या कहते हैं ॥ १९० ॥

विशेष—श्रुतबोध में कालिदास ने आर्या का लक्षण इस प्रकार बताया है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥

अभिनव—आर्याओं का भेद दिखलाने के लिए उनके प्रस्तार को कहते हैं—

अनुवाद—विषम स्थान में स्थित चार प्रकार के चार गण हैं और सम स्थान में स्थित पाच प्रकार के होते हैं। प्रस्तार के योग से इसकी बाहुल्य संख्या का निर्देश करे ॥ १९० ॥

अभिनव –विषम स्थान (पाद) में स्थित चार प्रकार के चार गण हों और सम स्थानगत पांच प्रकार के गण होते हैं। उनके परस्पर सङ्कीर्णतारूप जो विशेषता है, उनके कारण आर्या के प्रस्तार-बाहुल्य का निर्देश करे ॥ १९० ॥

अनुवाद—अन्तिम आर्या के पचपन प्रकार है और प्रथम आर्या तीस प्रकार की है। इस प्रकार छन्दप्रयोक्ता विद्वानों को आर्या के अक्षरपिण्ड को समझना चाहिए ॥ १९१ ॥

त्रिंशतस्त्वथ वर्णेभ्यो लघुवर्णत्रयं भवेत् ।
शेषाणि गुरुसंख्यानि ह्येवं सर्वत्र [1]निर्दिशेत् ॥ १९२ ॥

अन्त्या सर्वलघुः कार्या तत्र पञ्चपञ्चाशदक्षराणि, प्रथमार्धे एकात्रिंशत्, द्वितीये षड्विंशतिः ।

शिशिरतरकिरणपरिकरसकलकलविरचितकपिशकचनिचय ! ।
समहृदयतनुविनिहितधरणिधरवरसुत ! जय जय शिव ! ॥ १९१ ॥

लघुद्वयं द्वितीये षष्ठे स्थाने, चतुर्थेऽपि च लघुः तथा च लघुवर्णत्रयमिति ॥ १९२ ॥

अभिनव—अन्तिम आर्या को सर्वलघु करना चाहिए, उसमें पचपन अक्षर होने चाहिए, उनमें प्रथमार्ध में उनतीस और द्वितीयार्ध में छब्बीस अक्षर होने चाहिए । जैसे—

। ।
शिशिरतरकिरणपरिकरसकलकलविरचितकपिशकचनियचय ।
। ।
समहृदयतनुविनिहितधरणिधरवरसुत ! जय जय शिव ॥

"अत्यन्त शीतल किरण वाले चन्द्रमा के परिकर रूप सकल कलाओं से जिसके कपिश केशसमूह विरचित हैं, सुशोभित हैं और सम हृदय वाले शरीर में धरणिधर हिमालय का श्रेष्ठ सन्नाम पार्वती को धारण कर रखा है । उस शिव की जय जय हो" ।

अनुवाद—इन तीस प्रस्तारगत भेदों में तीन लघु वर्ण होने चाहिए और शेष गुरु होने चाहिए । इस प्रकार सर्वत्र निर्देश करना चाहिए ॥ १९२ ॥

अभिनव—द्वितीय और षष्ठ स्थान में दो लघु और चतुर्थ स्थान में भी लघु होने चाहिए । इस प्रकार तीन लघु वर्ण होने चाहिए ॥ १९२ ॥

---

१. इत—परं 'क' पुस्तके सर्वेषामेव चार्याणामक्षराणां यथाकृतम् । इत्यधिकं दृश्यते ।

सर्वेषां जातिवृत्तानां पूर्वमुत्तरसंख्यया ।
[1]विकल्पगणनां कृत्वा संख्यापिण्डेन निर्दिशेत्[2] ॥ १९३ ॥

आर्यागीतिरथार्यैव केवलं त्वष्टभिर्गणैः ।
इतरार्धे तुः षष्ठस्तु न लघुर्गण इष्यते[3] ॥ १९४ ॥

अत्र मात्रावृत्तानां संख्याज्ञानार्थमाह—सर्वेषामेवेति ।

पूर्वं कृत्यो यो विकल्पसंख्याभेदः तस्योत्तरसंख्यया सह गुणसंहननं कृत्वा यो भवति पिण्डस्तेन संख्यां वदेत् ॥ १९३ ॥

तत्र समस्तासां पञ्चभेदः विषमश्चतुर्भेदः षष्ठो द्विभेदः द्वितीयेऽर्धे त्वेकभेदः, अष्टममेकभेदम् । तदत्र पूर्वाङ्केनोत्तराङ्कस्य गुणनं तेनान्याङ्कस्य षोडश स्थानानि । संख्यालाभः तत्र चतुर्भिः पञ्चानां गुणने विंशतिस्तया चतुर्णां गुणने अशीतिस्तया च चतुर्णां गुणने विंशत्युत्तरत्रिंशदित्यादि मन्तव्यम् । तदाह—

आर्याः शतसहस्राणि ज्ञेया ह्येकान्नविंशतिः ।
अष्टौ कोट्यः सहस्राणि विंशतिश्च प्रमाणतः ॥

न लघुरिति । अपि तु प्रथमार्धवदपरार्धेऽपि षष्ठो द्विभेदो गणः आर्यागीतावित्यर्थः ॥ १९४ ॥

अभिनव ·अब मात्रिक वृत्तों के संख्या ज्ञान के लिए कहते हैं—

अनुवाद—सभी जातियों वृत्तों के पूर्व में विकल्प-भेदों की गणना उत्तर संख्या से करके पिण्ड बनाकर संख्या का निर्देश करे ॥ १९४ ॥

अनुवाद—आर्या गीति के इस पूर्व अर्धभाग में केवल आठ गण होते हैं। और उत्तरार्द्ध में षष्ठ गण में एक लघु नगण इष्ट है ॥ १९५ ॥

अभिनव—पूर्व में विकल्प के द्वारा जो संख्या-भेद किया गया है उसका उत्तर संख्या के द्वारा गुणन करके जो पिण्ड बनता है, उससे संख्या का निर्देश करे। इनमें जो सम संख्या है, उसके पाँच भेद हैं और विषम के चार भेद होते हैं। षष्ठ के दो भेद और द्वितीय अर्ध में एक भेद होता है तथा अष्टम में भी एक भेद होता है। इस प्रकार यहाँ पूर्ण अङ्क से उत्तर अङ्क का गुणन करे तथा उससे अन्य अङ्क का। इस प्रकार सोलह स्थान होते हैं। इससे संख्या-लाभ होता है।

१. ख. ग. विकल्पं गणयित्वा तु (च)
२. ग. दर्शयेत् ।
३. ख. ग. विकल्पो भवेद्गणः ।

[1]वृत्तैरेवं तु विविधैर्नानाछन्दस्समुद्भवैः ।
काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः ॥ १९५ ॥

इति भरतीये नाट्यशास्त्रे [2]छन्दोविचितिर्नाम पञ्चदशोऽध्यायः[3] ।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनं विषयमासूत्रयति वृत्तैरित्यादि । काव्यबन्धा इत्यनेनेदमाह यथा प्रासादकुड्यादिके कर्तव्ये प्रथमं भूमिः, तद्वत्काव्ये निर्मातव्ये भूमिकल्पः शब्दच्छन्दोविधिः क्षेत्रपरिग्रहं वृत्तसमाश्रयमित्यादि विरचयन् भित्तिस्थानीयं लक्षणयोजनं चित्रकर्मप्रतिममलङ्कारगुणनिवेशनं गवाक्षवातायनादिदेशीयो दशरूपकविभागः उपयोगनिरूपणाप्रख्या काक्वादिप्लुतिः, एवंभूतवाचिकाभिनयस्वरूपं चतुर्दशादिभिः षड्भिरध्यायैरुच्यते । तत्राध्यायद्वयं वृत्तलक्षणविधानं तु भविष्यति ।

उनमें चार से पांच का गुणन करने पर बीस और फिर बीस को चार से गुणा करने पर अस्सी (८०) भेद होते हैं। फिर अस्सी को चार से गुणा करने पर तीन सौ बीस (३२०) भेद होते हैं। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। उसी को कहते हैं—

"आर्या शतसहस्राणि ज्ञेया ह्येकान्नविंशतिः ।
अष्टौ कोट्यः सहस्राणि विंशतिश्च प्रमाणतः ॥"

आर्या गीति में प्रथमार्द्ध के समान उत्तरार्द्ध में भी षष्ठ गण के दो भेद होते हैं ॥ १९५ ॥

अब अध्याय का उपसंहार करते हुए भावी विषय को आसूत्रित करते हैं -

अनुवाद—इस प्रकार नाना छन्दों से समुद्भूत विभिन्न वृत्तों के द्वारा काव्यबन्धों को छत्तीस लक्षणों से युक्त करना चाहिए ॥ १९६ ॥

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में 'छन्दो विचिति' नामक पन्द्रहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

इस पर डा० पारसनाथद्विवेदीकृत हिन्दी व्याख्या में पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

१. ग. एवं चतुर्विधंवृत्तैः ।   २. ग. छन्दोवृत्तविधिः ।

३. ख. षोडशोऽध्यायः ।

यद्यपि रूपकविरचनकाले परिपक्वप्रज्ञस्य न क्रमप्रतिभासस्तथाप्यपोद्धारधिया कल्प्यत इत्याहुः। प्रबन्धस्य यो युक्तोऽभ्यासः तन्निष्पत्तिः प्रबन्धाभ्यासः तत्संपत्तिः अभिनेयार्थनिर्वर्तनं तदभिनयोपारोहणमिति स एव क्रम इत्युपाध्यायः यदाहुः—

> महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम् ।
> नासंस्मृत्य पदस्पर्शान्संपत्सोपानपद्धतिः ॥ इत्यादि ॥

अभिनव—'काव्यबन्ध' कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रासाद (महल) के दीवाल आदि के निर्माण में पहले भूमि की अपेक्षा होती है उसी प्रकार काव्य के निर्माण में भूमि-कल्प छन्दों की विधि होती है। इस प्रकार क्षेत्र के परिग्रह के रूप में वृत्तों का समाश्रयण करते हुए भित्ति-स्थानीय लक्षण की योजना, चित्रकर्म के समान अलङ्कार एवं गुणों का निवेश, गवाक्ष, वातायन के समान दशरूपक का विभाग, प्रयोग के निरूपण के सदृश काकु, स्वर आदि की प्लुति—इस प्रकार के वाचिक अभिनय के स्वरूप को चौदहवें अध्याय से लेकर छः अध्यायों में कहते हैं। उनमें दो अध्यायों में वृत्त-लक्षण का विधान होगा।

यद्यपि रूपक के रचना-काल में परिपक्व बुद्धि वाले सहृदय को क्रम का प्रतिभास नहीं होता, तथापि अपोद्धार बुद्धि से उसकी कल्पना को जाती है, ऐसा कहा जाता है। प्रबन्ध-निर्माण के समय उचित अभ्यास की निष्पत्ति प्रबन्धाभ्यास है। उसकी सम्पत्ति का अभिप्राय है अभिनेय अर्थ का निवर्त्तन अर्थात् अभिनय के लिए आधार तैयार करना। इसी को 'क्रम' कहते हैं, यह उपाध्याय जी का मत है, जैसा कि कहा गया है—

"काव्य-निर्माण में प्राप्त महाकवियों की पदवी पर आरोहण करने की इच्छा रखने वाले विद्वान् जब तक पदों का स्पर्श नहीं करेंगे तब तक सोपान-मार्ग पर आरोहण का क्रम कैसे सम्पन्न होगा ?"

क्रमोल्लङ्घने हि सति नाटकादिविरचयतां महान्तः प्रमादापभ्रंशा भवन्ति। न हि सर्वो वाल्मीकिर्व्यास: कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा, तेषामपि प्राग्जन्मार्जितेन क्रमाभ्याससमुदितसंस्कारपाटवोत्पादितः कुलप्रतिभङ्गज्ञानातिशय इति शिवम् ॥ १९५ ॥

इति पञ्चदशाध्याये ध्यायिना परमेश्वरम्।
कृताभिनवगुप्तेन गुप्तार्थं—प्रकटीक्रिया ॥
इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेद-
विवृतावभिनवभारत्यां वृत्तविधिर्नाम
पञ्चदशोऽध्यायः।

●

क्रम का उल्लंघन होने पर नाटक आदि का निर्माण करने वालों का महान् प्रमाद एव क्षति हो सकती है; क्योंकि सभी बाल्मीकि, व्यास, कालिदास अथवा भट्टेन्दुराज की तरह नहीं होते। उनके भी पूर्व जन्म में अर्जित किये गये क्रम पूर्वक अभ्यास से उत्पन्न संस्कार के पाटव से उत्पन्न कुल परम्परागत प्रतिभा के अङ्गभूत ज्ञान को अतिशय रहता है।

"इस प्रकार पन्द्रहवें अध्याय में परमेश्वर का ध्यान करने नाले अभिनवगुप्तपादाचार्य ने गूढ़ अर्थ को प्रकट करने वाली क्रिया को कर दिया।" ॥ १५ ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्या हिन्दी व्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः समाप्त ॥ १५ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथद्विवेदीकृत अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

●

[1]षोडशोऽध्यायः

अभिनवभारती

विचित्रं रूपकभुवां लक्षणं भूषणं भुवः।
भास्यते येन तं वन्दे प्राच्यधीसाधितं शिवम् ॥

ननु काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः इत्युक्तं, तत्र गुणालङ्कारादिरिति वृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गो, लक्षणानि तु प्रसिद्धानि। किं च पुरुषस्येव काव्यस्य लक्षणगुणालङ्कारव्यवहारो न युक्तः, पुरुषस्य शरीरचैतन्यभेदात् कटकादीनां ततोऽपि भेदात्। काव्यस्य पुर्नाविरचनकाले प्रतिपत्तिकाले प्रापकसत्तायां तेषामगणितत्वाच्च। दण्डिनापि—

अभिनव-भारती

इस अध्याय में छत्तीस लक्षणों के निदर्शक अंश के दो पाठ मिलते हैं। उनमें एक पाठ को टीकाकारों ने स्वीकार किया है जिसका अनुसरण कीर्तिधर, धनञ्जय, सर्वेश्वर प्रभृति आचार्यों ने किया है। दूसरा पाठ प्राचीन व्याख्याकारों ने ग्रहण किया है जिसका अनुसरण विश्वनाथ, सिंहभूपाल आदि आचार्यों ने किया है। भोजराज ने दोनों पाठों में समानता और विषमता को ग्रहण कर अन्य बारह को और मिलाकर चौसठ लक्षणों का विवेचन किया है। शारदातनय ने उन्हीं के मत का अनुसरण किया है। अतः वृत्तिकार के प्रथम पाठ के अनुसार अध्याय को समाप्त कर द्वितीय पाठ को निर्वचन और उदाहरण के साथ अध्याय के अन्त में अनुबन्ध में दिया गया है।

अभिनव—रूपकादि अलङ्कारों के स्थान काव्य रूपी नायिका के अलङ्कार सदृश विचित्र लक्षण जिसके द्वारा भासित होते हैं उस प्राच्य विद्वानों की बुद्धि से साधित शिव को वन्दना करता हूँ॥

अभिनव—पिछले अध्याय के अन्त में छत्तीस लक्षणों से समन्वित काव्य-रचना करनी चाहिए' यह कहा गया है। अब प्रश्न होता है कि गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि काव्य में प्रसिद्ध मार्ग हैं, किन्तु लक्षण प्रसिद्ध नहीं हैं। व्यवहार में तो पुरुष को लक्षण, गुण, एवं अलङ्कारों से सम्पन्न होना उपयुक्त माना गया है,

१. ख, अथ सप्तदशोऽध्यायः।

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते"

इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालङ्कारविभागोऽप्यसंभवीति सूचितं भवति। सत्यमेतत्, किं तु कवीनां काव्यविरचनविवेचनसामर्थ्यसमर्थनायावश्यं काल्पनिकोऽपि विभाग आश्रयणीयः। तत्र कल्पनायां विप्रतिपत्तयः केचिदाहुः—इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृङ्गारादौ वर्तन्ते शृङ्गारे चावश्यं लक्ष्यत इति पृथक्सिद्धत्वालङ्कारः, शरीरनिष्ठमेव यत्पदं पृथक्सिद्धं तल्लक्षणम्, येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा यथा श्यामेति, 'मदमन्थरगामिनी' इति च। एतदेव लक्षणं, तच्चालंक्रियते। अलङ्कारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते। उपमानोपमेयगतक्रियाक्रियरूपधर्मभेदेन तदेतल्लक्षणं द्विधेति—यथा 'श्यामा विशालाक्षी', मत्तमातङ्गगामिनी इति च।

किन्तु पुरुष के समान काव्य में लक्षण, गुण एवं अलङ्कारों का व्यवहार युक्त नही है। किन्तु पुरुष का शरीर चेतन आत्मा से भिन्न होने के कारण कटक, कुण्डल आदि का इससे भेद है। किन्तु काव्य के निर्माण काल में या अनुभूति-काल में प्रापक-सत्ता में उसकी गणना नहीं की जाती। दण्डी ने भी—

"काव्य में शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलङ्कार कहा है"

इस प्रकार कहते हुए गुणों का मध्य में प्रसाद आदि का अभिधान करते हुए यह सूचित किया है कि गुण एवं अलङ्कारों का विभाग करना असंभव है। यह बात सत्य है किन्तु कवियों के काव्य-रचना करने और सहृदयों के विवेचन सामर्थ्य के समर्थन के लिए काल्पनिक विभाग का आश्रयण करना चाहिए। किन्तु उस कल्पना में कुछ आचार्य विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि गुण तो चिन्मय आत्म-स्वरूप शृङ्गारादि रसों में रहते हैं, अतः शृङ्गारादि में उन्हें अवश्य लक्षित करना चाहिए। इससे अलङ्कारों का पार्थक्य सिद्ध होता है और शब्दार्थ रूप शरीर में जो पद पृथक् सिद्ध हैं वह लक्षण है जिससे शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है और वह सिद्ध रूप भी होता हैं और साध्य रूप भी। जैसे—'श्यामा षोडश वार्षिकी' यह सिद्ध रूप है और 'मदमन्थरगामिनी' अर्थात् 'मद से मन्थर-गति वाली' यह क्रियारूप होने से साध्य है। यही लक्षण है। फिर भी वह अलङ्कारों को धारण करती है। प्रकृत में अलङ्कारों से युक्त होने पर भी काव्य लक्षणों के बिना सुशोभित

अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्ड [ल] कान्येव सन्ध्यङ्गकानि वृत्त्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते । निमित्तभेदात् पूर्वापरसंबन्धेन बीजरूपेणो पक्षिप्तेऽर्थे निर्वहणे फलतां गते परस्परसन्धायकत्वात् सन्ध्यङ्गतया व्यपदेशः, रस-विशेषोपयोगितया वृत्त्यङ्गवाचोयुक्तिः, काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महा-पुरुषगतपाशध्वजादिपादरेखावल्लक्षणशब्दवाच्यता । तदुक्तं तत्रैव—

लक्षणान्येव बीजार्थक्रमनिर्वाहकानि च ॥ इति ।
प्रतिसन्धितदङ्गानि फलसिद्ध्युपपत्तितः ॥ इति ।

काव्ये धीरोदात्तादिगुणाधानं वस्तुवर्णनाभङ्गिर्वेति केचित् ।

नहीं होता । उपमानोपमेयगत क्रिया (साध्य) अक्रिया (सिद्ध) रूप धर्म भेद से यह लक्षण भी दो प्रकार का होता है जैसे—(श्यामा विशालाक्षी' (यह श्यामा षोडशवर्षीया विशाल नेत्रों वाली है) में द्रव्य (अक्रिया) रूप धर्म है और 'मत्तमातङ्गगामिनी' में क्रिया रूप धर्म है ।

अन्य आचार्यों का मत है कि इतिवृत्त के अंशों को ही सन्ध्यङ्ग, वृत्यङ्ग एवं लक्षण कहते हैं । निमित्त भेद से पूर्वापर सम्बन्ध से बीज रूप में उपक्षिप्त और निर्वहण में फलरूप में प्राप्त होने वाले अर्थ में परस्पर सन्धायक होने से सन्ध्यङ्गों का व्यपदेश होता है। अर्थात् सन्ध्यङ्ग कहलाता है' और वही अर्थ रस-विशेष के उपयोगी होने से वृत्यङ्ग कहलाता है और वही अर्थ काव्यगत महापुरुष को ख्याति एवं प्रशस्ति के उपयोगी होने से पाश, ध्वज, चक्र आदि पादगत रेखा के समान लक्षण कहलाता है । जैसा कि कहा गया है—'बीज रूप अर्थ का क्रम से निर्वाह करने वाला लक्षण ही है ।'

'फल सिद्धि की उपपत्ति के कारण वहीं प्रत्येक सन्धि का अङ्ग है ।'

कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि धीरोदात्त आदि नायकों में गुणों का आधान करने वाले वस्तु का वर्णन-शैली ही लक्षण है ।

तदत्र प्रथमपक्षे वर्णनीयप्रधानभूताधिकारिपुरुषगतगुणादिविभाग एव काव्ये पर्यवसीयते । द्वितीयपक्षे तु वर्णनीयः सकल एवेति । वृत्तिलक्षणोऽर्थः काव्य-भेदात् त्रिधा विभज्यते । एकेषां तु दर्शनं—कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारबलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरुप-निबन्धनसामर्थ्यं न सामान्यकवेः । अनेन शब्देनेदं तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापर-पर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्काराः ।

शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादि-गुणदशकसमभिव्यञ्जनव्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणा-नीति, तदुक्तं तत्रैव—

इनमें प्रथम पक्ष में वर्णनीय प्रधानभूत अधिकारी पुरुषों में गुणादि का विभाग ही काव्य में पर्यवसित होता है। द्वितीय पक्ष में सभो वर्णनीय है। वृत्ति लक्षण रूप अर्थ काव्य-भेद से तीन प्रकार से विभक्त होता है। एक प्रकार के लोगों का मत है कि कवि का जो प्रतिभा रूप प्रथम परिस्पन्द है, उस प्रतिभारूप व्यापार के बल से गुण उपनत होते हैं। क्योंकि रसादि के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य और माधुर्यादि गुणों के उपनिबन्धन का सामर्थ्य प्रतिभावान् कवि का ही सामर्थ्य है, सामान्य कवि का नहीं। इस शब्द से इस वस्तु का वर्णन करूँगा' इस प्रकार का वर्णनापरपर्याय द्वितीय ब्यापार से संपाद्य अलङ्कार हैं अर्थात् उनसे अलङ्कारों का सम्पादन करना चाहिए।

'इन शब्दों से इन शब्दों की और इन अर्थों के साथ इन अर्थों को संघटना (रचना) करूँगा' इस प्रकार का कवि का जो तृतीय परिस्पन्द (व्यापार) है, उसी के अधीन शब्दात्मक और अर्थात्मक काव्य-शरीर का लाभ होता है। शब्दार्थोभय संस्कारकल्प ये क्रिया रूप लक्षण वक्ष्यमाण श्लेषादि दस गुणों का अभिव्यञ्जन इनका व्यापार है।

इति शब्दार्थयोर्येयं संश्रितिर्देहभूतयोः ।
काव्ये तया दर्शितानि लक्षणानि विदुर्बुधाः ॥ इति ।
काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः ।
यः श्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः ॥ इति ।
चेष्टालङ्कारदृष्टान्तचिह्नं ‥‥ ‥‥ ॥ इति च

अत्र पक्षे कविव्यापारभेदाद् गुणालंकारलक्षणविभागः ।

अपरे सङ्गिरन्ते—अभिनेयानां काव्यबन्धानां वक्ष्यमाणस्वरूपं च रूपकं समभिदध्यात्, कवेः स्वसामर्थ्याधानाय तावदभ्यासो निर्माणविषयो लक्षणं, यस्तथाऽसंपूर्णश्चादौ, क्रमेण तु तथाभूतोऽभिनेयार्थः काव्यबन्धो लक्षणोन्नीतः तेन च लोकोत्तरहृद्यवर्णनयोगात्, तथा हि किञ्चित् प्रबन्धजातं गुणालङ्कारनिकरप्रधानं, यथा मेघदूताख्यं तद्विभूषणम्, एवमन्यदपि, इति ।

जैसाकि कहा है—

"इस प्रकार काव्य के शरीर रूप शब्द और अर्थ का जो यह संश्रयण है, काव्य में उसी प्रकार लक्षण दिखाये हैं, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ।"

'काव्य में भी शब्द अर्थ का ऐसा कोई स्निग्ध स्पर्श है जो श्लेषादि गुणों की अभिव्यक्ति कराने में दक्ष है, यही लक्षण है"

'चेष्टा, अलङ्कार, दृष्टान्तों में दिखाई पड़ने वाला चिह्न है, लक्षण है ।'

इस पक्ष में कवि-व्यापार भेद से गुण, अलङ्कार एवं लक्षण का विभाग है ।

दूसरे लोग कहते हैं कि अभिनेय काव्य-प्रबन्धों के वक्ष्यमाण स्वरूप रूपक को जो कहे, इस प्रकार रूपक निर्माण में कवि के सामर्थ्य के अभिधान करने के लिए जो आयास है वही लक्षण है । जो लक्षण आदि में असम्पूर्ण है । क्रमशः उस अभ्यास के द्वारा लोकोत्तर हृद्य वर्णन के योग से तथाभूत (सम्पूर्ण) अभिनेय अर्थ लक्षणों के द्वारा उन्नत काव्य प्रबन्ध हो जाता है तथा कुछ प्रबन्धों से गुण एवं अलङ्कारों का प्राधान्य रहता है । जैसे मेघदूत काव्य । यह काव्यों का आभूषण है । इसी प्रकार अन्य भी है ।

'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' इति केचित्तु ब्रुवते। कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणमितीतरे पुनर्मन्यन्ते। केचिद् यथास्थानविशेषं यद् गुणालङ्कारयोजनं तल्लक्षणमिति।

परे त्वभावन्त—अलङ्कारादिनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योऽभिनेयविशेषः काव्येषु दृश्यते, अमरुकश्लोकेष्वपि, तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः सुलक्षणः स एव चार्थः काव्यशरीरविशेषरूपो लक्षणम्। उपमादीपकरूपकाणामानन्त्याद् भेदमाहुः। अन्ये तु शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणमिति।

इतरेषां तु मतं यथा तन्त्रप्रसङ्गबाधातिदेशादि मीमांसाप्रसिद्धं वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणं तथा काव्यविशेषव्यवच्छेदकं भूषणादिलक्षणजातमिति त्वयं पक्षो द्वितीयपक्षान्न भिद्यते। एतेषु तु पक्षेष्वन्यतमग्रहे विशेषणानि न सङ्गच्छन्ते स्पष्टेन यथा। इदं तु दशपक्ष्यां वस्तु।

'प्रबन्ध के धर्म लक्षण हैं' ऐसा कुछ लोग कहते हैं। 'कवि का अभिप्राय विशेष लक्षण है' ऐसा अन्य लोग कहते हैं। कुछ आचार्य यथा स्थान अर्थात् जिसका जो स्थान है उस स्थान विशेष में जो गुण एवं अलङ्कारों की योजना है वही लक्षण है।

अन्य लोग तो कहते हैं कि अलङ्कारादि की अपेक्षा किये बिना स्वभाव से ही सुन्दर जो अभिनेय विशेष काव्य में दिखाई देता है जैसा कि अमरुक के श्लोकों में। वही सौन्दर्य का हेतु जो धर्म सुलक्षित है, वही काव्य-शरीर विशेष रूप अर्थ लक्षण है। उपमा, रूपक, दीपक आदि अलङ्कारों के अनन्त रूप होने से अनन्त भेद हैं। अन्य लोग तो शब्द और अर्थ से उत्पन्न चित्रत्व ही लक्षण है, ऐसा कहते हैं।

दूसरों का मत है कि जैसे मीमांसाशास्त्र में तन्त्र प्रसङ्ग के बाध एवं अतिदेश आदि वाक्य विशेष के व्यवच्छेदक लक्षण प्रसिद्ध हैं वैसे ही काव्य विशेष के व्यवच्छेदक भूषणादि लक्षण हैं, यह पक्ष द्वितोय से भिन्न नहीं है। यदि इन पक्षों में से एक पक्ष के ग्रहण करने पर विशेषण स्पष्ट सङ्गत नहीं होंगे, यह दश पक्षों की वस्तु है।

इह काव्यार्थी रसा इत्युक्तं प्राक् । उक्तं च वर्णनीयं शब्दनीयं कवेः कर्मेति च व्युत्पत्तित्रयं कविमिति काव्यमिति च । अनेनाभिधेयम्, अभिधानम्, अभिधाञ्च स्वीकृत्यावस्थीयते, अपि च शब्दव्यापारोऽभिधातृव्यापारः प्रतिपाद्यव्यापारश्चेति त्रिगतः । तत्र शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रतिपादकत्वं स्वतः च श्रोत्रे च संक्रान्ति-मात्रं नान्तरीयकतया, तद्रसदर्शनयोग्यतापादनसामर्थ्याद् गुणवाच्यम्, आवर्तमानो द्वितीयो वर्णः पदं वा प्राक्तनवर्णपदशोभाहेतुरलङ्कारः । एवमर्थस्यापि, यद्रसाभि-व्यक्तिहेतुत्वं सोऽर्थगुणः । यस्तु वस्त्वन्तरं वदनस्येव चन्द्रः सोऽलङ्कारः, यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधाव्यापारः स लक्षणानां विषयः ।

तथाहि—इदमनेन शब्देनानयेतिकर्तव्यतयाऽमुनाशयेनेत्थंभूतबुद्धिजननाय ब्रुवे इति कविः प्रवर्तते, स यथा—भूतः रसवत्काव्यं विधत्ते । तत्र चित्त-वृत्यात्मकं रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यासम्पादकस्त्रिविधोऽभिधा-व्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते । इत्येषां सामान्यलक्षणम् । यथा च पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं, मध्यस्य तु कुलक्षणं, एवं किञ्चिदभिधीय मानं केनचिद्रूपेण रसोचितेन विभावादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयल्लक्षणम्, अन्यत्र तु तत्कुलक्षणं, तेन सर्वेऽङ्कारा गुणाश्च तत्समुदायाद्विलक्षणा भवन्ति ।

यहाँ काव्यार्थ ही रस है, यह पहिले कहा जा चुका है और यह भी कहा है कि वर्णनीय अर्थ वाला काव्य है, और 'कु' धातु से निष्पन्न शब्दनीय काव्य है तथा 'कवेः कर्म' इस विग्रह में अण् प्रत्यय होकर 'कवि' बनता है और काव्य भी । इस प्रकार तीन व्युत्पत्तियाँ है । इससे अभिधेय अर्थ, अभिधान शब्द और अभिधा को स्वीकार करके अवस्थित होता है। और भी शब्द का व्यापार शब्द में, अभिधा का व्यापार अभिधा में और प्रतिपाद्य का व्यापार अर्थ में, यह तीन प्रकार का व्यापार है। उनमें शब्द रसाभिव्यक्ति में सक्षम अर्थ का प्रतिपादक है और स्वतः ही श्रोत्र में सङ्क्रमण करता है। वह रस-दर्शन की योग्यता के प्रतिपादन सामर्थ्य से गुण पद का वाच्य है वही आवर्त्तमान द्वितीय वर्ण अथवा पद रूप शब्द पूर्ववर्त्ती वर्ण और पद की शोभा का हेतु शब्दालङ्कार है। इसी प्रकार अर्थ के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए, जो रसाभिव्यक्ति का हेतु है वह अर्थ गुण है । जो दूसरी वस्तु को अलङ्कृत करता है, जैसे चन्द्रमा मुख को, वह अलङ्कार है। जो तीन प्रकार का अभिधा व्यापार है वह लक्षण का विषय है ।

तथा क्वचिदर्थमात्रं क्वचिदलङ्कारोऽर्थः क्वापि चित्रतः। क्वचिदलङ्कारादिप्रक्रियाविहीनोऽपि स्वयं सुन्दरस्वभावोऽर्थः कुत्रचिच्छन्द, इति त्रिविधव्यापारगामी, तद्द्वारेणाभिधानाभिधेयतद्गुणालङ्काराद्यनुग्रहः शब्दानां शब्दैरर्थानामर्थैः शब्दानामर्थैस्तथापरैः संघटनां विचित्रां कारयमाणाभिधाव्यापारवती ह्युक्तिनिर्वाणप्रधानधुराधिरोही लक्षणाख्य एव। अत एव पूर्वं "काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लणान्विताः" इति लक्षणान्येव हि प्रधानं तत्प्रसङ्गेन गुणालङ्कारा इति तात्पर्यम्। विशेषलक्षणव्याख्याने चैतत्स्फोटयिष्यामः।

और भी इस शब्द से, इस इतिकर्त्तव्यता से, इस आशय से इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने के लिए इस अर्थ को कहता हूँ, इसलिए जो कवि प्रवृत्त होता है, वह कवि उस प्रकार का रस-विशिष्ट काव्य की रचना करता है। वहाँ जो चित्तवृत्यात्मक रस को लक्षित करता हुआ उन उन रसों के योग्य विभावादि-वैचित्र्य का सम्पादन करता है वह त्रिविध अभिधा-व्यापार लक्षण शब्द से कहा जाता है। यह इनका सामान्य लक्षण है, जैसे पीनत्व स्तनों का लक्षण है किन्तु वह कटिभाग का कुलक्षण है। इस प्रकार किसी रूप से अभिधीयमान वस्तु रस के उचित विभावादि रूप से उसी पदार्थ के क्रम लक्षित करती है, वह लक्षण है, अन्यत्र वही कुलक्षण है, इसलिए सभी अलङ्कार और सभी गुण उस समुदाय से विलक्षण होते हैं।

और स्वार्थ भी कहीं अर्थतः केवल अर्थ रूप है तथा कहीं पर चित्रतः अलङ्कार है। कहीं पर अलङ्कारादि की प्रक्रिया से रहित भी अर्थ स्वयं स्वभाव से सुन्दर होता है और कहीं पर छन्द है। इस प्रकार त्रिविध व्यापारगामी है। उसी के द्वारा अभिधान, शब्द एवं अभिधेय अर्थ और उनके गुण, अलङ्कारों का अनुग्रहण होता है। शब्दों का शब्दों के साथ, अर्थों का अर्थों के साथ और शब्दों का अर्थों के साथ विचित्र संघटना को करा देने वाली अभिधा व्यापारवती उक्ति ही निर्वाण प्रधान धुराधिरोही लक्षण ही है। इसलिए पहिले कहे गये 'काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' लक्षण ही प्रधान है, गुण और अलङ्कार तो उसके प्रसङ्ग से प्राप्त होते हैं। विशेष लक्षणों के व्याख्यान के अवसर पर इसे स्पष्ट करेंगे।

[1]विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च।
प्रोत्साहनोदाहरणे निरुक्तं गुणानुवादोऽतिशयश्च हेतुः ॥ १ ॥

तत्र लक्षणान्युद्देष्टुं तावदाह विभूषणमित्यादि यथारसं त्वित्यन्तेन श्लोक-चतुष्टयेन।

अब पहिले लक्षणों को नाम मात्र से कथन करने के लिए 'विभूषणम्' इत्यादि से लेकर 'यथारसं' पर्यन्त चार श्लोकों से कहते हैं।

---

१. इतः प्रारम्भ श्लोकचतुष्टं ग्रन्थान्तरेषु सर्वथा पाठो भिद्यते यथा—
भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणो तथा।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्तभिनय एव च ॥ १ ॥
निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम्।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥ २ ॥
दृष्टं चैवोपदिष्टं च विचारस्त द्विपर्ययः।
अंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥ ३ ॥
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च।
मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्त्तनम् ॥ ४ ॥
ज्ञेयान्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ ५ ॥

क. (टि०) अस्मिन्नध्यायेषट्त्रिंशल्लक्षणसमुद्देशनिर्देशयोगुंणदशकस्य लक्षणे च द्विविधः पाठो दृश्यते। तत्र वृत्तिकारेणैकः पाठो गृहीतः।
कीर्तिधरधनञ्जयसर्वेश्वरादिभिश्च स एव प्रमाणीकृतः। भिन्नः पाठश्चिरन्तनैः कश्चिद् व्याख्यातृभिः पठितः। स च विश्वनाथसिंहभूपालादिभिरनुसृतः। वृत्तिकारस्तेषां वैषम्यपरिहरणाय नामनिर्वचनयोर्भिन्नानास्थापयत्।
भोजदेवस्तूभयोः पाठयोः समानानि भिन्नानि च गृहीत्वान्यानि द्वादश संकलय्य चतुष्षष्टिलक्षणानि नामनिर्देशनाभ्यां प्रापञ्चयत्। तन्मतमेव शारदातनयेनानुसृतम्। अतः प्रथमं वृत्तिकारपाठविलसितमध्यायं समाप्यानुबन्धरूपेण पाठान्तरभागो निर्वचनोदाहरणसहितो महामतीनां चित्तबिलासोद्योतनाय सूक्ष्मविषयाविवेचनलालसानां हिताय च सम्प्रयोजितोऽध्यायान्ते यथा लब्धग्रन्थपरिकरः। (अभिनवभारती टिप्पणी)

सारूप्यमिथ्याध्यवसायसिद्धिपदोच्चयाक्रन्दमनोरथाश्च ।
आख्यानयाच्ञाप्रतिषेधपृच्छादृष्टान्तनिर्भासनसंशयाश्च ॥ २ ॥
आशीः प्रियोक्तिः कपटः[1] क्षमा च ।
प्राप्तिश्च पाश्चात्तपनं तथैव[2] ॥
[3]अर्थानुवृत्तिर्ह्युपपत्तियुक्तौ ।
कार्योऽनुनीतिः परिदेवनं च ॥ ३ ॥
षट्त्रिंशदेतानि हि लक्षणानि ।
प्रोक्तानि वै भूषणसंमितानि ॥
काव्येषु [4]भावार्थगतानि तज्ज्ञैः ।
सम्यग् प्रयोज्यानि यथारसं तु[5] ॥ ४ ॥

अनुवाद—१. विभूषण, २. अक्षर संहति, ३. शोभा, ४. अभिमान, ५. गुण-कीर्त्तन, ६. प्रोत्साहन, ७. उदाहरण, ८. निरुक्त, ९. गुणानुवाद, १०. अतिशय, ११. सहेतु, १२. सारूप्य, १३. मिथ्याध्यवसाय, १४. सिद्धि, १५. पदोच्चय, १६. आक्रन्द, १७. मनोरथ, ६८. आख्यान, १९. याच्ञा, २०. प्रतिषेध २१. पृच्छा, २२. दृष्टान्त, २३. निर्भासन, २४. संशय, २५. आशी, २६. प्रियोक्ति, २७. कपट, २८. क्षमा, २९. प्राप्ति, ३०. पाश्चात्ताप ३१. अथानुवृत्ति, ३२. उपपत्ति, ३३. सूक्ति, ३४. कार्य, ३५. अनुनीति, ३६. परिदेवन: ये छत्तीस लक्षण भूषण (अलङ्कार) के सदृश कहे गये है। काव्यों में भावार्थगत रसो के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिए ॥ १-४ ॥

---

१. क. (टि०) कपटक्षमे । २. क. (टि०) ग्रहश्च ।

३. क. (टि०) अर्थानुवृत्ती उपपत्तियुक्तो ।

४. क. टि०) सोदाहरणेषु ।

५. क. (टि०) यथारक्षानि ।

यथारसं ये भावा विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः तं स्थायि-भावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि, यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेषभावाविभावं प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्य-लक्षणम् । अत एव काव्ये सम्यक्प्रयोज्यानीति विषयस्तेषामुक्तः ।

भट्टनायकेनापि तानेव शिक्षित्वा अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तं—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ॥ इति ॥

भामहेनापि—

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते" (२-७५) इत्यादि ।

अभिनव—यथारसमिति—जो भाव, विभाव अनुभाव, व्यभिचारीभाव है, उनके जो अर्थ हैं वे स्थायीभाव को रस रूप में परिणत करने रूप प्रयोजनान्तर को प्राप्त होते हैं और जो अभिधा-व्यापार से उपसङ्क्रान्त उद्यान आदि अर्थ हैं और जो रस विशेष के विभावादि भाव को प्राप्त होते हैं, वे लक्षण हैं, यह सामान्य लक्षण है । इसलिए काव्य में उनका सम्यग् रूप से प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार उनके विषय को कह दिया है ।

भट्टनायक ने भी उन्हीं की शिक्षा देकर अभिधा-प्रधान व्यापार को काव्य कहा है—

"जहाँ शब्द की प्रधानता होती है उसे विद्वान् लोग औरों से पृथक् शास्त्र कहते हैं ।"

"जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है, उसे आख्यान कहते हैं ।"

"और जहाँ पर शब्द और अर्थ दोनों गुणीभूत होते हैं तथा व्यापार की प्रधानता होती है, उसे 'काव्य' कहते हैं ।"

भामह ने भी कहा है—

"यह वक्रोक्ति ही सर्वत्र है, इसी के द्वारा अर्थ विभावित होते हैं ।"

तेन च परमार्थतः व्यापार एव लक्षणं, स तु विषयद्वारेण विशेषलक्षणे तु निरूप्यत इति तत्स्वीकृतत्वादर्थोऽपि लक्षणं, व्यापारोऽपि च तद्विदां तु तदभ्यासपराणां च तथाभूतकाव्यात्मकविषयावलोकने झटित्येव प्रतिभाति। तदन्यत्रानुमानेन प्रतिभया स्वसंवेदना इत्यनेन प्रयोजनम्। कुशलशिक्षितव्यापारो हि तत्काव्यज्ञदृशि भात्येव ॥ १।२।३ ॥

षट्त्रिंशदिति च नान्यदिति वारणपरं कविहृदयवर्तिनामपराणामरिसंख्येयत्वात्। किं तु बाहुल्येन तावदियता लक्ष्यं व्याप्तम्, इयति च कविनावधातव्यमिति संख्यानिरूपणम्।

तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेवान्यथाप्युद्देशलक्षणेन नामान्तरैरपि च व्यवहारं करोति, तत एत पुस्तकेषु भेदो दृश्यते तं च दर्शयिष्यामः। पठितोद्देशक्रमस्त्वस्मदुपाध्यपरम्परागतः ॥ १-४ ॥

इस प्रकार परमार्थ रूप में व्यापार ही लक्षण है और वह विषयों के द्वारा विशेष रूप से निरूपण किया जाता है, यह मत स्वीकृत होने के अर्थ की लक्षण है। और व्यापार भी उसके अभ्यास में तत्पर उसके जानकार लोगों में तथाभूत काव्य रूप विषयों के अवलोकन में शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है। वे अन्यत्र भी अनुमान से, प्रतिभा से स्वयं समझ जाते हैं। यह प्रयोजन है। क्योंकि कुशल विद्वानों के द्वारा शिक्षित व्यापार काव्य ज्ञाताओं की दृष्टि में प्रतिभासित होता है।

'षट्त्रिंशत्' अर्थात् (लक्षण छत्तीस ही हैं) ऐसा कहने का तात्पर्य है लक्षण छत्तीस ही है, उससे भिन्न नहीं। इस प्रकार 'षट्त्रिंशत्' लक्षण का निर्देश वारण परक है। क्योंकि कवियों के हृदय में रहने वाले अन्य लक्षण अपरिसंख्येय हैं। किन्तु बाहुल्येन इतने में ही लक्ष्य व्याप्त हैं, इतने में ही कवि को सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार संख्या का निरूपण हुआ।

और भी स्वयं भरत मुनि ने भी मतान्तर से लक्षणों का नाम से कथन करते हैं और अन्य नामों से भी व्यवहार करते हैं। इसीलिए पुस्तकों में भेद दिखाई देता है। उसे आगे दिखायेंगे। प्रकृत पाठ में जो लक्षणों के नाम का क्रम है वह हमारे उपाध्यायनी की परम्परा से हमें प्राप्त हुआ है ॥ १-४ ॥

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम् ।
भूषणैरिव [1]विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥

तत्र विभूषणं लक्षितुमाह—अलङ्कारैरिति ।

भूषणैः कटकादिभिः विभज्य स्थानदेशकालदशापुरुषादिविभागं विचार्य न्यस्तैरिव गुणालङ्कारैर्यदलङ्करणं तद् भूषणं नाम लक्षणं, कविव्यापारः, तद्द्वारेण शब्दार्थव्यापारावपि ।

एतदुक्तं भवति—इह गुणा अलङ्काराश्च विषया इत्यनेन निबद्धाः काव्यार्थीकृतानामभिधेयानां रसविशेषविषयं विभावादिभावं विवरीतुं समर्था । तथा हि हास्यरसप्रधाने प्रहसनादौ शुष्कश्रोत्रिये वक्तरि प्रयोक्तरि श्रोतरि वा गुणविनिवेशितं तु लक्षणं भजत्यलङ्कारश्च । तथा हि पादताडितके श्रोत्रियं श्रोतारमभिप्रेत्य विटस्यापि निर्गुणपुरुषस्यैवोक्तिः "मा मुसलेनापकार्षीः, मा कुसूलाग्निना धाक्षीः" इति शोभां पुष्णाति । अनौचित्यनिबन्धस्तु करुणविप्रलम्भादौ यमकस्य, यथा—

१. विभूषण

अब विभूषण का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—भूषणों अर्थात् अलङ्कारों के यथोचित विन्यास के समान बहुत से अलङ्कारों एवं गुणों से अलङ्कृत लक्षण 'भूषण' कहा गया है ॥ ५ ॥

अभिनव—अभिनव गुप्त का कथन है कि भूषण अर्थात् कटक, कुण्डल आदि आभूषणों को विभक्त करके स्थान, देश, काल, दशा और पुरुष आदि के विभाग का विचार करके न्यस्त अर्थात् धारण किये गये गुण और अलङ्कारों के द्वारा जो अलङ्करण है वह 'भूषण' नामक लक्षण है, यह कवि का व्यापार है। उसके द्वारा ही शब्द और अर्थ भी व्यापार हैं।

ऐसा कहा गया है कि यहाँ गुण और अलङ्कार विषय हैं। इनके द्वारा निबद्ध विषय काव्यार्थीकृत अभिधेय अर्थ तथा रस-विशेष के विषय विभाव आदि भावों के। विवरण प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। जैसे कि हास्य रस प्रधान प्रहसन आदि में जहाँ वक्ता, श्रोता, प्रयोक्ता नीरस है वहाँ पर निविष्ट गुण लक्षण बन जाता है और अलङ्कार भी। जैसा कि 'पादताड़ितक' नाटक में श्रोत्रिय को श्रोता मानकर "मुझे मुसल से मत मारो" "कुसल को अग्नि से मत जलाओ" इत्यादि निर्गुण पुरुष की तरह विट की उक्ति शोभा को बढ़ाती है॥ अनौचित्य का निबन्धन तो करुण विप्रलम्भ आदि में यमक का उपनिबन्ध होता है। जैसे—

१. ब. चित्रार्थैस्तद् ।

विना प्रियतमेनाद्य विरहानलतापिता ।
वह्नेश्च्चूतस्य विच्छेदं किन्तु हाऽनलतापिता ॥

स्थाने निवेशस्तु यथा—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवान्तर्निखातेव च
प्रोत्कीर्णेव च वज्रलेपघटितेव" इति (मालतीमाधवात्)

अत्रापि लोके उत्प्रेक्षापरम्परैव ह्येयं सातिशयकामावेशावस्थासमुद्द्योतित-प्रियतमाविषयविचित्रसंकल्पगर्भसंभावानामुख्यप्राणत्वाद् विप्रलम्भस्य कामावस्थानां च माधुर्यप्रसादोपेते च काव्ये श्रोत्रपथमवतरत्येवेति प्रतिपाद्यते । सुकुमारचित्त-वृत्तिसुभगोऽयमुत्तमश्चेत्येवं समस्तस्य गुणालङ्कारवर्गस्यानुग्राहकमिदं कविव्यापार-रूपं तद्वशाच्च शब्दार्थतद्व्यापाराद्यपि स्पृशद्विभूषणाख्यं लक्षणम् । एतमेवार्थं सम्यगानन्दवर्धनाचार्योऽपि विविच्य न्यरूपयत्—

"प्रियतम के बिना आज बिरहानल से संतप्त नायिका आम के विच्छेद को को जला सकती है, किन्तु हाय ! अनल से संतप्त वह क्या करे ?"

यहाँ करुण-विप्रलम्भ में यमक का निबन्धन अनुचित है।

स्थान—निवेश का उदाहरण, जैसे –

"वह प्रियतमा हृदय में लीन हुए के समान, प्रतिविम्बित हुए के समान, लिखित के समान, भीतर खुदे हुए के समान, उत्कीर्ण किये गये के समान, वज्रलेप से घटित के समान मेरे हृदय में बसी है।"

यहाँ पर लोक में यह उत्प्रेक्षा परम्परा ही अतिशय कामोद्रेक को अवस्था से समुद्योतित प्रियतमा विषयक विचित्र संकल्पों से मिश्रित सम्भावनओं का मुख रूप से प्राणन करने के कारण विप्रलम्भ और कामावस्थाओं में माधुर्य एवं प्रसाद से युक्त काव्य में सुनाई देता है। यह सुकुमार चित्तवृत्ति से सुभग एवं उत्तम है, इस प्रकार समस्त गुणालङ्कार वर्ग का अनुग्राहक कवि-व्यापार रूप है और उसके कारण शब्द और अर्थ तथा उसके व्यापार को स्पर्श करता हुआ 'विभूषण' नामक लक्षण है। इसी को आनन्दवर्धनाचार्य ने भी विवेचन के साथ निरूपण किया है।

[1]यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रमुपवर्ण्यते ।
तमप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम् ॥ ६ ॥

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥

इत्युक्त्वा क्रमेण—

विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ (ध्वन्यालोके २)

इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण सोदाहरणेन । तच्चास्माभिः हृदयालोकलोचने तद्विवरणे विस्तरतो व्याख्यातमिति तत्कुतूहलस्तत्रैव गृह्णीयात् । इह तु प्रसक्तया ग्रन्थभूयस्त्वादुद्विजते लोक इति विस्तारितम् ॥ ५ ॥

अथाक्षरसंहतिमाह यत्राल्पैरिति ।

'ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार रस में समीक्षा करके विन्यस्त विनिवेशित किया गया है । रूपकादि अलङ्कार वर्ग यथार्थता को प्राप्त करता है ।'

ऐसा कहकर क्रम से—

'रूपकादि की विवक्षा रस परक करनी चाहिए, अङ्गी अर्थात् प्रधान रूप में नहीं करनी चाहिए । समय के अनुसार इनका ग्रहण और त्याग हों, किन्तु दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो' ॥

इत्यादि ग्रन्थ सन्दर्भ के द्वारा सोदाहरण विवेचन किया गया है । उसको हमने सहृदयालोकलोचन में नायक उसके विवरण में हमने विस्तार से व्याख्या की है । अतः इस कुतूहल का ग्रहण वहीं करनी चाहिए । यहाँ तो प्रसक्ति के साथ लिखने पर ग्रन्थ के विस्तार से लोग ऊब न जाय इसलिए उसका विस्तार नहीं किया गया है ॥ ५ ॥

२. अक्षरसंहति

अब अक्षरसंहति को कहते हैं —

अनुवाद—जहाँ पर श्लेष युक्त अल्प अक्षरों से विचित्र अर्थ का वर्णन किया जाता है, उसे 'अक्षरसंघात' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ६ ॥

---

१. क. (टि०) यत्रार्थरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रैरुपवर्णितम् ।

अक्षरशब्देन यदृच्छाशब्दप्राधान्यं, यदृच्छाशब्देषु स्वरूपस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । तेनाल्पैरेवाक्षरैः श्लिष्टैः प्रवृत्तिनिमित्तभूतस्वस्वरूपलक्षितत्वेनैव विचित्रं तत्रोचितविभावादिभावं प्राप्यमाणोऽर्थं उपवर्ण्यते श्रोतॄणां हृदयमुपसंक्रामयितुं तत्तस्मिन् कविव्यापारोऽक्षरसङ्घातस्तत्कारणत्वात् ।

तथाहि मानिनीत्यक्षराणि ईर्ष्याविप्रलम्भे, तरुणीत्याभिलाषिके, वरतनुरिति संभोगे विभावतां तामेव प्रापयन्ति । अस्तीतिव्युत्पत्तिस्तथापि पर्यन्ते मानादिशब्दानामन्ततो वा धातुप्रत्ययमात्रादेरवश्यं यदृच्छात्वमित्यक्षराणामेव संघातः प्रधानं यदृच्छाशब्दप्राधान्ये उदाहरणं यथा—

[1]विस्रम्भादुत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुः ।
कृत्वोत्सङ्गे सलीलं त्वचि कनकमृगस्याङ्गमाधाय शेषम् ॥
बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनादरात्तीक्ष्णमक्ष्णः ।
कोणेनोद्वीक्षमाणस्त्वदनुजवदने दत्तकर्णोऽयमास्ते ॥

अभिनव—यहाँ अक्षर शब्द से यदृच्छा शब्द का प्राधान्य बतलाया गया है। यदृच्छा शब्दों में स्वरूप को ही प्रवृत्ति-निमित्त माना गया है। अतः श्लेष युक्त अल्प अक्षरों के द्वारा प्रवृत्ति निमित्तभूत स्वस्वरूप से उपलक्षित होने से विचित्र और प्रकृत रस के योग्य विभावादि भाव को प्राप्त होने वाले अर्थ का उपवर्णन किया जाता है जिसके विषय में श्रोताओं के हृदय का उपसङ्क्रान्त करने के लिए जो कवि-व्यापार होता है वह अक्षरसंघात ही, उस व्यापार का कारण है, हेतु है।

जैसे—'मानिनी' आदि अक्षर ईर्ष्या-विप्रलम्भ में, 'तरुणी' आदि अक्षर अभिलाष में, 'वरतनुः' आदि अक्षर सम्भोग में विभावता को प्राप्त कराते हैं। यद्यपि इन अक्षरों के संघात में व्युत्पत्तियाँ है तथापि पर्यन्त में (अन्त में) धातु एवं प्रत्यय आदि में अवश्य ही यदृच्छा शब्दत्व है, इस प्रकार अक्षरों का संघात ही इसमें प्रधान है। यदृच्छा शब्द की प्रधानता का उदाहरण, जैसे—

"वानरों की सेना के अधिपति सुग्रीव के उत्सङ्ग (गोद) में शिर को, अक्षहन्ता हनुमान् के उत्सङ्ग में पैर को और स्वर्णमृग को त्वचा पर शेष अङ्ग को रखकर राक्षसों के कुल का विनाश करने के लिए अपने अनुज लक्ष्मण के द्वारा एकत्रित किये गये तीक्ष्ण बाणों को आँखों के कोण से देखते हुए हे रावण ! तुम्हारे अनुज की मुख की ओर कान लगाये यह रामचन्द्र है।"

१. क. (टि०) अङ्केन्यस्तोत्तमाङ्गं ।

अत्र विस्रम्भावित्यादिना मैत्रीप्राधान्याद् वालिहननपूर्वकसाम्राज्यदातृत्वबलाच्चेत्युक्तम्। अक्षस्य यो हन्तेत्येकाकिनापि येनाशोकवनिकाविप्लोषणं राक्षसबलक्षपणं च कृतं, स यत्र प्रधानकृतिर्भवतीत्युक्तम्। त्वचीति प्रहतमारीचवृत्तान्तः इत्युक्तम्। बाणमित्यादिना तत्रैवास्य बहुमान इत्युक्तम्। राक्षसविषये दैववैगुण्यमित्युक्तम्। अत्र च यत्र यस्य यद्व्यापारस्तत्र प्राधान्यस्य का कथेति। प्रगुणितमिति बहुतररणसंमर्दधुरन्धरतया कुटिलीकृतस्यापि क्षेत्रबहुमाने पुनर्योजनमित्युक्तम्। त्वदनुजवदन इति भेदोपायकृता नीतिसंपत् परपक्षे च विपर्ययम्। दत्तकर्ण इति तदाकर्णनमात्रमेतत्, न तु हृदये निर्व्याजं तेजोजाज्वल्यमानौजसि भेदं प्रति कोऽप्यस्य बहुमानः। अयमिति गम्भीरधीराकृतिः प्रसन्नश्च आस्त इति। यद्यपि प्रकृतेनापि कश्चित्क्षोभोऽत एवोक्तं सलीलमिति। अत्र चार्थस्यालङ्कारघटनाप्रयासमन्तरेणैव सुन्दरत्वं लक्षणकृतमेव।

यहाँ विस्रम्भ आदि के द्वारा मैत्री (मित्रता) की प्रधानता और वालि को मारकर साम्राज्य प्रदान करने की शक्ति का वर्णन है। 'अक्ष का जो हन्ता है' इत्यादि के द्वारा अकेले ही जिसने अशोक वाटिका को नष्ट कर दिया और राक्षस बल का विनाश कर दिया, वह जहाँ प्रधान प्रकृति है, ऐसा कहा है। 'त्वचि' पद का कथन मारीच के मारने का वृत्तान्त बतलाता है। 'बाणमित्यादि' के द्वारा राम को बाण पर ही विश्वास है, अतः उसको ओर देख रहे हैं, इससे उनका बहुमान प्रतीत होता है।' यह कहा गया है। राक्षसों के विषय में दैव की प्रतिकूलता है। यहाँ जिसमें जिसका जो व्यापार है उसमें उसकी प्रधानता के विषय में क्या कहना है ?' यह सुस्पष्ट है। 'प्रगुणितं' पद बहुत से युद्धों के समर्थन करने में धुरन्धर होने के कारण कुटिलीकृत का पुनः युद्ध क्षेत्र में बहुमान को योजना को कहता है। 'तुम्हारे अनुज के मुख की ओर' इत्यादि वे द्वारा भेद रूप उपाय के लिए की गई नीतिसम्पत् है और शत्रुओं के विषय में विपरीत अनोति है। 'दत्तकर्ण' पद सूचित होता है कि केवल उसकी बात सुनना मात्र है, निर्व्याज तेज जाज्वल्यमान ओज में भेद के प्रति इसका कोई बहुमान है। 'अयं' पद राम गम्भीर और धीर आकृति वाले राम प्रसन्न होकर बैठे हैं, सूचित करता है। यद्यपि प्रकृत में कोई क्षोभ नही है, अतएव 'सलीलं' कहा गया है। यहाँ पर अलङ्कारों की योजना के बिना ही जो अर्थों का सौन्दर्य है वह लक्षण के द्वारा है।

सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रसाध्यते[1]।
[2]यत्र श्लक्ष्णविचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते[3] ॥ ७ ॥

ननु साभिप्रायमात्रत्वं नामार्थस्य तु गुण ओज इत्युक्तम्। भोः भोः सहृदयाः अर्थो जडस्तस्याभिप्राय इति कथं भाषावक्तृश्रोत्रोः स इति चेत् तद्गोऽर्थस्य गुण इति कथम्।

अथ वस्त्वन्तराक्षेपकत्वमेव तस्य स गुण इत्युच्यते तद्वस्त्वन्तरमाक्षिप्यं वक्त्रभिप्रायरूपमेव, आक्षेपकत्वमपि कविमनीषाव्यापारबलादेव तथाविनिवेशनात् प्रकारान्तरयोगे तथाभावात्। अत एव प्रौढिर्वस्तुतो वक्तृगतैव न त्वर्थे, काममुपचर्यतामित्यलं बहुना।

एतेषां च लक्षणानां संकीर्णत्वेन लक्ष्यं दृश्यते बाहुल्यापेक्षया तूदाहरणं मन्तव्यम् ॥ ६ ॥

अथ शोभा सिद्धैरर्थैरिति। यथा—

अब प्रश्न यह होता है कि अर्थ का अभिप्राय मात्र तो ओज नामक गुण कहा गया है। अरे सहृदयो! अर्थ तो जड़ है, उसका अभिप्राय, यह कैसी भाषा है। यदि यह कहा जाय कि वक्ता और श्रोताओं का यह अभिप्राय है तो उनमें रहने वाला अर्थ का गुण कैसे है? यदि यह कहा जाय कि वस्त्वन्तर का आक्षेपकत्व ही गुण है और वह वस्त्वन्तर वक्ता का अभिप्राय रूप है तथा यह आक्षेपकत्व भी कवि की मनीषा से किया जाने वाला व्यापार के कारण होता है, क्योंकि वैसा ही इसका विनिवेश है और यहाँ प्रकारान्तर का योग होने पर उस प्रकार का निषेध नहीं होगा। अतः प्रौढि वस्तुतः वक्ता का गुण है अर्थ में नहीं रहता, किन्तु उपचार से ऐसा मान लिया गया है, अतः अब रहने दिया जाय।

इन लक्षणों का लक्ष्य (उदाहरण) सङ्कीर्ण दिखाई देते हैं। अतः बाहुल्य की अपेक्षा से उदाहरण समझना चाहिए ॥ ६ ॥

३. शोभा

अब शोभा नामक लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर सिद्ध पदार्थों से तुलना करके असिद्ध पदार्थों को सिद्ध किया जाता है। उस श्लक्ष्ण (कमनीय) और विचित्र अर्थ को 'शोभा' कहा जाता है ॥ ७ ॥

---

१. ख. ग. प्रयुज्यते। २. ख. ग. अत्र श्लिष्टं विशिष्टचर्थं।
३. क. शोभेत्यभिसंज्ञिता।

[1]धार्यमाणस्तु बहुभिर्वचनैः कार्ययुक्तिभिः।
[2]न यः पर्यवतिष्ठेत सोऽभिमानस्तु संज्ञितः॥ ८॥

मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः।
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः॥
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले।
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥

अत्र पादत्रयेण प्रसिद्धा एवार्था अभ्यसनीयत्वेन शोभमानास्तैः समविकलं मृगयालक्षणमर्थं कृत्वा अप्रसिद्धोऽनुचितोऽपि सोऽर्थ उचितो विचित्रश्च निरूपितः। न चात्रालङ्कारः कश्चिदपि तु कविव्यापारेण यः शब्दार्थव्यापारादेवार्थघटनात्मा तत्कृतं हृद्यं लक्षणमेव। अशोभनोऽप्यर्थोऽमुना नयेन शोभेत इति शोभेयमुक्ता॥ ७॥

अथाभिमानः—धार्यमाणस्तु बहुभिरिति।

जैसे—

अनुवाद—मृगया से मेद के काम हो जाने से उदर पतला हो जाता है और शरीर हलका हो जाने से शीघ्रता से उत्थान के योग्य हो जाता है। प्राणियों के भी भय और क्रोध से युक्त चित्त का विकार परिलक्षत होता है, यदि चल लक्ष्य में बाण का निशाना सफल हो जाता है तो धनुर्धारियों के लिए उत्कर्ष का विषय है। लोग व्यर्थ में ही मृगया को व्यसन कहते हैं। ऐसा विनोद अन्यत्र कहाँ है।

यहाँ पर तीन पादों में प्रसिद्ध अर्थों का ही शोभनीय रीति से अभ्यास किया गया है। अथवा तीन पादों में प्रसिद्ध अर्थ ही अभ्यसनीय रूप से शोभायमान है। उनके द्वारा मृगया रूप अर्थ अविकल रूप में निरूपित करके अप्रसिद्ध और अनुचित भी अर्थ उचित एव विचित्र रूप में निरूपित किया गया है। यहाँ पर कोई अलङ्कार नहीं है। अपितु कवि के व्यापार से जो शब्दार्थ व्यापार से ही अर्थ-घटना रूप अर्थ है। तत्कृत हृद्य ही लक्षण है। अशोभन अर्थ भी इस नीति से सुशोभित होता है अतः इसे 'शोभा' कहा गया है॥ ७॥

४. अभिमान

अब अभिमान नामक लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—अनेक वचनों, कार्यों एवं युक्तियों के द्वारा निर्धारित किया गया जो अर्थ हृदय में पर्यवसित नहीं होता, वह अभिमान नामक लक्षण होता है॥ ८॥

---

१. क. (टि०) धार्यमाणस्तु। २. नार्यो यन्नानुतिष्ठन्ति सोऽभिमानः प्रकीर्तितः।

यथा ममैव—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससंघुक्षिताः ॥
किं प्राणान् न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरै-
र्वार्यन्ते किमु यद्विमोहविवशात्सन्तापतन्त्रा स्थितिः ॥

अत्र हि तादृश्यार्थस्यार्थेन घटा कृता यस्यां कार्यमुक्तिभिः फलयोजनाभिर्धार्य-माणो हृदये स्वाप्यमानो नावतिष्ठत इति। वार्यमाणोऽपि वा न निवर्तते। तत्रैवायं बद्धः। तथाभूतोऽर्थोऽलौकिकत्वात्तावानुपायः। कविनालङ्कारे उपमानोपमेयभावस्य कथंचिदप्यस्वीकारात्केवलं वक्तुरभिमतं वदता किमिव ममाप्येवं तदपि नैवेत्यभि-धानमभिधानाख्यलक्षणम्। एतदेव सादृश्यनाम्नाप्यन्यैरुक्तम्।

दृष्टश्रुतानुभूतार्थकथनादिसमुद्भवम् ।
सादृश्यं क्षोभजननं सारूप्यमिति संज्ञितम् ॥ इति ॥

जैसे मेरा ही श्लोक उदाहरण है—

अभिनव—"यदि चन्द्रमा की किरणें अमृतमयी है तो क्यों मेरे हृदय को संतप्त कर रहीं हैं, यदि यह कहा जाय कि कालकूट विष के साथ सहवास से विषाक्त है तो प्राणों को क्यों नहीं हरण कर लेती ? कहते हैं कि प्रियतमा के संजल्प रूपी मन्त्राक्षरों के प्रभाव से उसका निवारण हो जाता हैं, यदि निवारण कर दिया जाता है तो विषजन्य मोह (मूर्च्छा) के कारण सन्ताप क्यों है ?।"

यहां पर एक अर्थ के साथ दूसरे अर्थ की घटना इस प्रकार रखी गई है जिसमें कार्य (फल) की युक्तियों से धारण किया जाने वाला अर्थ हृदय में स्थापित किये जाने पर भी स्थित नहीं हो पाता। अथवा निवारण किया गया भी निवृत्त नहीं होता। यह वहीं पर बंध जाता है। तथाभूत अर्थ अलौकिक होने से उपाय है। अलङ्कार में उपमानोपमेय भाव का किसी प्रकार स्वीकार न करके केवल का अभिप्राय कहते हुए कवि के द्वारा क्या होता है ? मैंने भी इसी प्रकार कहा है, ऐसा भी नहीं है' इस प्रकार का कथन 'अभिमान' संज्ञक लक्षण है। इसी को अन्य आचार्य सादृश्य नाम से कहा है—

"दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत अर्थ के कथन आदि उद्‌भूत क्षोभजनक सादृश्य को सारूप्य कहते हैं।"

कीर्त्यमानैर्गुणैर्यत्र विविधार्थसमुद्भवैः ।
[1]दोषा न परिकथ्यन्ते तज्ज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥ ९ ॥
लोके गुणातिरिक्तानां बहूनां यत्र नामभिः ।
एकोऽभिशब्द्यते यस्तु विज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥ १० ॥

अमृतकरत्वं हि चन्द्रस्य श्रुतं कालकूट सहोदरत्वं च, मन्त्राणां विषशमनं दृष्टं स्वयमनुभूतं मोहादि तत्समुद्भवं, वृत्तान्तेन यत्प्रकृते सादृश्यं तुल्यं तेन लोकदृष्ट-श्रुतानुभूतत्वं तत्क्षोभं हृदयेऽनवस्थानं जनयति—यद्यमृतसदृशश्चन्द्रपादाः तत्किमेव-मङ्गं विवध्युरिति । एवमन्यत् ॥ ८ ॥

अथ गुणकीर्तनं—कीर्त्यमानैर्गुणैरित्यादि । यथा—

पृथुरसि गुणैर्मूर्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितो ।
इति सुचरितैर्मूर्ति विभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देवास्त्रिलोकविजय्यपि ॥

चन्द्रमा की किरणें अमृतमय हैं और कालकूट (विष) सहोदर है, यह श्रुत अर्थ है। मन्त्रों के द्वारा विष का शमन होता है, यह दृष्ट अर्थ है, विष से मोह (मूर्च्छा) आदि का अनुभव अनुभूत अर्थ है। इस वृत्तान्त से प्रकृत में जो सादृश्य है, उसके द्वारा लोक दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत जो क्षोभ है। वह हृदय में क्षोभ की अवस्थिति उत्पन्न करता है। यदि चन्द्रमा की किरणें अमृत के समान हैं, तो क्यों अङ्गों को इस प्रकार विह्वल कर देती है। इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिए ॥ ८ ॥

५. गुणकीर्त्तन

अब गुणकीर्त्तन का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर विविध अर्थों से उद्भूत गुणों के प्रकथन में दोषों की परिकल्पना न की जाय तो उसे 'गुणकीर्त्तन' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ९ ॥

अनुवाद—लोक में गुणों के अतिरिक्त गुणों का नाम से किसी एक का कथन किया जाय तो उसे 'गुणकीर्त्तन' समझना चाहिए ॥ १० ॥

---

१. क. (टि०) दोषांश्चान् परिकल्प्यन्ते ।

अत्र हि विविधा येऽर्थाः पृथुरामप्रभृतयस्तत्समुद्भवैर्गुणैः कीर्त्यमानैस्तद्गता दोषा न परिकल्प्यते। तथा हि पृथुरसीत्युक्ते तथा दोषा अपि केचिद् बलाद् भूमि दोहनप्रभृतयः प्रतीयेरन्, नलोऽसीति द्यूतव्यसनितापि। एवमन्यत्र। अतः एव न दोषोऽत्र प्रधानम्। गुणैरिति सुचरितैरिति निरूपिते तु चारुत्वमिति गुणकीर्तनं नाम लक्षणम्। श्लेषानुग्राहित्वे स्थिति लक्षणानि ह्यलङ्कारानपि चित्रयन्ति। तदग्र एव वक्ष्यामः। अन्यत्र पाठः —

लोके गुणातिरिक्तानां बहूनां यत्र नामभिः।
एको हि शब्द्यते तत्तु विज्ञेयं गुणकीर्तनम्॥ इति।

अयं स्पष्टार्थः॥ ९॥

अभिनव—"हे राजन्! गुणों से आप राजा पृथु हैं, मूर्त्ति अर्थात् आकार से आप राम, नल तथा भरत है, महायुद्ध में शत्रुओं को मारने वाले आप शत्रुघ्न हैं, स्थिति अर्थात् मर्यादा या धैर्य पालन करने में आप जनक है। इस प्रकार सुन्दर चरित्रों से प्राचीन राजाओं को मूर्त्ति (स्वरूप) धारण करने वाले आप त्रिलाक विजयी राधा मान्धाता क्यों नहीं है?"

यहाँ पर पृथु, राम प्रभृति जो विविध अर्थ हैं उनके गुणों का कोर्त्तन करने से उनके दोषों की परिकल्पना नहीं की गई है। किन्तु 'आप राजा पृथु हैं', ऐसा कहने पर भूमि-दोहन रूप दोष भी प्रतोत होते हैं। इसी प्रकार 'आप राजा नल हैं' ऐसा कहने पर उनके 'जुआ खेलने' रूप दोष भो प्रतोत होते है। इसो प्रकार अन्यत्र भी समझने चाहिए। इसलिए यहाँ पर दोष प्रधान नहीं है। गुणों के द्वारा, सुन्दर आचरणों के द्वारा पृथु, राम, नल, जनक आदि राजाओं के गुणों का निरूपण के द्वारा प्रकृत के सौन्दर्य का कथन करना 'गुणकोर्त्तन' नाम लक्षण है। यहाँ पर श्लेष अलङ्कार के अनुग्राहक रूप में स्थित होने से लक्षण अलङ्कार को भो चित्रित करते हैं। उसे आगे कहेंगे। अन्यत्र निम्नलिखित पाठ मिलता है—

"लोक में अत्यन्त गुणशाली बहुत से राजाओं के गुणों के कोर्त्तन से किसो एक का कथन करना 'गुणकीर्त्तन' समझना चाहिए?"

यह अर्थ स्पष्ट है॥ १०॥

उत्साहजननैः स्पष्टैरर्थैरोपम्यसंश्रयैः ।
प्रसिद्धैरुपगूढञ्च[1] ज्ञेयं प्रोत्साहनं बुधैः ॥ ११ ॥

अथ प्रोत्साहनं—उत्साहजननैरिति ।

औपम्यस्य संश्रयणमन्वेषणं यत्रेति अनेन यत्नान्वेषणेऽपि तस्य भाव इति दर्शितम् । यथा भट्टेन्दुराजस्य—

हरवृषभ ! तवेव तस्य माता जयति जगत्यसमानसूतिरेका ।
निवसति परमेश्वरोऽपि यस्मिन् सहतनयः सगणः सहावरोधः ॥

अप्रस्तुतप्रशंसाप्यत्र, यद्वैचित्र्यं प्रोत्साहनत्वलक्षणकृतमेव, केवलं त्वियं यथा लक्ष्मीरिति, स च भवान् मुरारिरित्यादि । इदमन्यत्र प्रियवचनमिति पठितम्—

यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यात्पूजयितुं वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥ इति ॥ ११ ॥

---

६. प्रोत्साहन

अब प्रोत्साहन नामक लक्षण का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर उपमा के आश्रय से उत्साह जनक प्रसिद्ध एवं स्पष्ट अर्थों के द्वारा उपगूहन किया जाय, उसे 'प्रोत्साहन' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ११ ॥

अभिनव—जहाँ पर 'औपम्य (उपमा) का संश्रयण (अन्वेषण) होता है' इससे यत्नपूर्वक अन्वेषण करने में उनका भाव है' यह दिखाया गया है । जैसे भट्टेन्दुराज के इस श्लोक में —

"हे हरवृषभ ! संसार में एक मात्र बेजोड़ पुत्र को उत्पन्न करने वाली तुम्हारे जैसी माता की जय हो, जिसका अन्वेषण करके परमेश्वर शिव भी अपने पुत्रों, अपने गणों और अपनी सहधर्मिणी के साथ निवास करते हैं ।"

यहाँ पर 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलङ्कार भी है । फिर भी यहाँ वैचित्र्य प्रोत्साहन लक्षण का ही है। केवल यह जैसे—'यह लक्ष्मी है' 'यह भगवान् मुरारि हैं' इत्यादि ।

इसे ही अन्यत्र प्रियोक्ति या प्रियवचन कहा गया है जैसे—

"जब प्रसन्न चित्त से हर्ष का प्रकाशन करने के लिए पूज्यजनों के पूजन के लिए, सम्मान प्रकट करने के लिए जो प्रिय-वचन बोला जाता है, उसे 'प्रियोक्ति' कहते हैं ॥"

---

१. क. (टि०) तु ।

यत्रैकस्यापि[1] शब्दस्य दर्शनात्सुबहून्यपि ।
यान्ति सिद्धिमनुक्तानि तदुदाहरणं स्मृतम् ।। १२ ।।

अथोदाहरणं—यत्रैकस्यापीति ।

यथा—

वल्मीकात् किमुतोद्धृतो गिरिरयं कस्य स्पृशेदाशयं
त्रैलोक्यं तपसा जितं यदि सखे ! दोष्णां किमेतावता ।
सर्वं साध्वथवा रुणत्सि विरहक्षामस्य रामस्य चेत्
त्वद्दन्ताङ्कितवालिकक्षरुधिरक्लिन्नाग्रपुङ्खं शरम् ।।

अत्र उदाहृते हि रावणीयदशनपरिघट्टितवालिकक्षपाटनेन स्वावमाननेऽथऽवगते सति तदपजयः तत्कक्षाक्षय्यपरिग्रहस्तथैव चतुरर्णवभ्रमणं पुनः कृपामात्रेण त्यागः तत्राप्रतीकारः पुनरभिमानो दर्प इत्यादि गम्यते ।

७. उदाहरण

अब उदाहरण को कहते हैं—

अनुवाद—वह एक ही शब्द के दर्शन से (ज्ञान से) जहाँ अनेक अकथित अर्थों की सिद्धि हो, उसे 'उदाहरण' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ १२ ॥

जैसे—

"यह वल्मीकि से उखाड़ा हुआ पर्वत है, यह किसके आशय को स्पर्श करेगी अर्थात् कौन इस बात पर विश्वास करेगा ? हे सखे ! यदि तुमने तपस्या के द्वारा भुजाओं में बल प्राप्त कर तीनों लोक को जीत लिया है तो इससे क्या हुआ ? हां, ये बातें तभी ठीक हो सकती हैं जब तुम विरह से क्षीण राम के तुम्हारे दाँतों से अङ्कित वालि के कक्ष के रुधिर से आर्द्र पुंख के अग्र वाले शर (बाण) को सह सको ।"

इस उदाहरण में रावण के द्वारा दाँतों से काटने पर बालि के कक्ष फट जाने से अपना अपमान जान लेने पर पराजय, बालि के द्वारा कक्ष में अक्षय परिग्रह, उसी प्रकार चारों समुद्रों का परिभ्रमण, फिर कृपा करके छोड़ देना, फिर उसका प्रतीकार न कर सकना—इस पर भी अभिमान करना इत्यादि ध्वनित होता है ।

१. क. (ढि०) यत्रैकस्यैव ।

अथ निरुक्तं—

निरुक्तं द्विविधं [1]प्रोक्तं तथ्यं चाऽतथ्यमेव वा ।
सिद्धिप्रसाधितं तथ्यमतथ्यं चाप्रसाधितम् ॥ १३ ॥

अक्षरसंहतेश्च विशेषः—तत्रावमोपादातव्यशब्दान्तरस्थाने शब्दान्तरोपादानं यथा—हनूमत इति वक्तव्येऽक्षस्य हन्तुरिति, इह तु त्वद्दन्तेति तदीयधिक्कारोदाहरणम् । अन्ये पठन्ति—

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ इति ।

ल्यैरर्थैस्ततसमयभाविभिर्यदुक्तं तद्वाक्यमिति एव फलितोऽर्थः ॥ ११ ॥

यहाँ अक्षर संहति से यह विशेष है—उसमें नवम रूप से उपादेय शब्दान्तरो के स्थान में शब्दान्तर का उपादान जैसे—'हनुमान्' यह कहना चाहिए, किन्तु अब रावण पुत्र अक्षय (अक्षय कुमार) का हन्ता कहना और यहाँ पर तो 'तुम्हारे दाँतों से' इस रूप में उसके धिक्कार का कथन, उदाहरण नामक लक्षण है। अन्य लोग इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—

"जहाँ पर निपुण लोग समानार्थक वाक्यों के द्वारा किसी अर्थ के प्रदर्शन से अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, अपने गुण सबको प्रकाशित करते हैं उसे 'उदाहरण' कहा गया है।"

यहाँ समान अर्थों से अर्थात् उसे समय होने वाले पदार्थों से जो कहा गया है, वह वाक्य उदाहरण है। वही अर्थ फलित होता है ॥ १२ ॥

८. निरुक्त

अब निरुक्त नामक लक्षण को कहते हैं —

अनुवाद—निरुक्त दो प्रकार का कहा गया है—(१) तथ्य (२) अतथ्य। सिद्धि से प्रसाधित अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ का वणन 'तथ्य' है और उसके विपरीत अप्रसिद्ध अर्थात् जो लक्षण से सिद्ध न हो 'अतथ्य' है ॥ १३ ॥

---

१. क. (टि०) ज्ञेयं ।

सिद्धिर्लक्षणेन स्वीकारः। तया प्रसाधितं तथ्यं, ततोऽन्यदतथ्यम्। उदाहरणं यथा ममैव—

वीरोत्सवे सङ्गरसीम्नि मूढं यः प्रापयत् सत्यपथं कथञ्चित्।
स चार्जुनः सोऽपि च नाम कृष्णः प्रसिद्धिरित्थं वितथैव सर्वा॥

परस्परं नाम्नोरन्यत्र तथ्यत्वं स्वविषये त्वतथ्यतेति। न चायमर्थश्लेषः, स हि तुल्यसंख्ययोः। यथा—

इति गोशब्दस्य रश्मिषु सुरभिषु चानादित्वेन प्रसिद्धेः। इह त्वेकत्रान्यत्वे कृतः समय इति। एवं पृथक् तथ्यातथ्ययोरुदाहार्यम्। अन्यत्र पाठः —

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम्॥

अभिनव—निरुक्त दो प्रकार का होता है—एक सिद्धि जिसे लक्षण की स्वीकृति से सिद्ध किया जाय वह तथ्य है। दूसरा उससे भिन्न अर्थात् अप्रसाधित अतथ्य है। उदाहरण मेरा ही पद्य है, जैसे—

"वीरों के लिए उत्सव रूप युद्ध स्थल में मूढ़ व्यक्ति को जिसने किसी प्रकार सत्य पथ पर पहुँचा दिया, वह पहुँचाने वाला कृष्ण (काला) और पहुँचाने वाला अर्जुन (शुक्ल) है। यह प्रसिद्धि मिथ्या ही है।"

यहाँ पर आपस में नामों से अन्यत्र सत्यता है और अपने विषय में असत्यता है। यहाँ अर्थ श्लेष भी नहीं है, क्योंकि अर्थ श्लेष तुल्य-संख्यक पदार्थों में होता है। जैसे—

"गावो वः पावनानां" यहाँ पर गो शब्द की रश्मि रूप अर्थ और सुरभि रूप अर्थ में अनादि काल से प्रसिद्धि है। यहाँ पर तो एक का दूसरे में सङ्केत है अर्थात् जो मूढ़ है उसे कृष्ण (काला) होना चाहिए, किन्तु वह अर्जुन (शुक्ल) है और जिसने सत्पथ पर पहुँचाया, उसे अर्जन (शुक्ल) होना चाहिए किन्तु वह कृष्ण (काला) है। इस प्रकार यह तथ्य और अतथ्य का अलग-अलग उदाहरण है। अन्यत्र यह पाठ है—

"जहाँ पर पूर्वोक्त अर्थ की सिद्धि के लिए निर्दोष वाक्य का कथन होता है, उस वाक्य को 'निरुक्त' कहा गया है।"

[1]गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमाकृतः ।

पूर्वं यत्प्रोक्तो बाह्यस्य संबन्धो कश्चिदर्थस्तस्य प्रसिद्धयेऽनवद्यभावस्य वाचकं यदुच्यते तेन निरुक्तमितोऽन्यथा निरर्थकमेवात्र वाच्यं स्यात् । यथा सत्यं स राजा मतिषु रञ्जनादिति ॥ १३ ॥

अथ गुणानुवादः

गुणानुवाद इति परिमितस्यापादितोत्कृष्टगुणनयोपमा, तत्कृतो गुणाना-मुत्सेकः । यथा—

पालिता द्यौरिवेन्द्रेण त्वया राजन्वसुन्धरा ।

पहिले जो बाह्य अर्थ का सम्बन्धी काई वाक्य कह दिया गया है उसकी प्रसिद्धि के लिए निर्दोष भाव का वाचक जो शब्द कहा जाता है। वह निरुक्त है, इससे विपरीत अर्थ निरर्थक हो जायेगा। जैसे—वह सचमुच राजा है क्योंकि वह मति का रञ्जन करता है ॥ १३ ॥

९. गुणानुवाद

अब गुणानुवाद को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ किसी हीन की उत्तमों के साथ उपमा अर्थात् सादृश्य बतलाया जाय, उसे 'गुणानुवाद' कहते हैं ॥ १४ ॥ (९)

अभिनव—गुणों का अनुवाद (अनुकथन) । परिमित वस्तु की उत्पादित (कल्पित) उत्कृष्ट गुण से उपमा के द्वारा जो गुणों का उत्सेक है, वह 'गुणानुवाद' है। जैसे—

"हे राजन् ! जैसे इन्द्र ने द्युलोक का पालन किया उसी प्रकार आप ने वसुन्धरा का पालन किया।"

यहाँ पर राजा की इन्द्र से तुलना उसमें गुणों का उत्सेक सिद्ध किया है।

१. क. (टि०) गुणाभिवादो ।

नोट—पूर्व पृष्ठ ४०० पर छठी लाइन के यथा—के बाद छूटा हुआ उदाहरण—

दत्तानन्दः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः ।
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशो दीर्घदुःखप्रभावभवभयोदन्वदुत्तारनावो ।
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥ (सूर्यशतकात्)

ननूपमेयमलङ्कारः, किमतः, उक्तं ह्यलङ्काराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव। एत एव 'शिक्षितैरपि दण्डिप्रभृतिभिर्ये निरूपिता उपमाभेदाः, तत्र यो भेदकोंऽशः आचिख्यासासंशयनिर्णयादिरर्थः, स तादृक् पृथगलङ्कारतया गणितः। गणनेऽपि वा संसृष्टिसङ्करापत्तिः। अर्थमात्रं तदिति चेत् तर्हि तदेव लक्षणम्। यथा हि राजता विभज्य विचार्यमाणा इत्थमवतिष्ठते—मकुटाद्यलङ्कारः, शौर्यादिगुणो, व्यूढोरस्कत्वादिलक्षणसमुदायो राजालङ्कार्यश्च गुणवांश्च लक्षणीयश्च, तथा काव्यमपि। तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताः सर्वे लक्षणमिति मन्तव्यम्।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

इति हि पूर्वार्धे आख्यानं नाम लक्षणम्।

नन्वेवं सर्वत्र लक्षणयोगः, क आक्षेपार्थः, प्रियमेवास्माकमभवः तत्सर्वमलङ्कारयुक्तं काव्यम्। ननु गौर्वाहीक इति रूपकयोगेऽपि, किं न काव्यं, दोषपरिवर्जनगुणवस्त्वरसवत्त्वादि वैकल्यादिति चेत् अस्मास्वापादितो दोषस्त्वयैवोन्मूलित इत्यास्ताम्।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यह तो उपमा अलङ्कार है। इस पर कहते हैं कि इससे क्या हुआ ? यह पहिले कहा जा चुका है कि अलङ्कारों का वैचित्र्य लक्षणों के द्वारा ही होता है। यही बात दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा के भेद के रूप में निरूपित किया है। उनमें जो भेदक अंश है, वह कहीं पर अचिख्यासा रूप, कहीं पर संश्रय रूप है और कहीं पर निर्णय रूप है, उसी का अलङ्कारों से पृथक् लक्षण रूप में गणना की गई है अथवा गणना करने पर भी संसृष्टि और सङ्कर की आपत्ति होती है। यदि यह कहें कि वह तो केवल अर्थमात्र है, तो वही लक्षण हैं। जैसे—राजता (राजा का स्वरूप) का विभाग करके विचार करने पर इस प्रकार की अवस्था होती है—मुकुट आदि अलङ्कार है, शौर्य आदि गुण हैं। विशाल वक्षःस्थल होना (व्यूढोरस्कत्व) आदि लक्षण है, राजा अलङ्कार्य है, गुणवान् है और लक्षण-सम्पन्न है, उसी प्रकार काव्य भी गुणवान्, अलङ्करणीय एवं लक्षण-सम्पन्न होते हैं, इस प्रकार गुण एवं अलङ्कारों के अतिरिक्त सभी लक्षण हैं, ऐसा मानना चाहिए।

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'।

(कुमारसम्भव) के इस पूर्वार्द्ध पद्य में 'व्याख्यान' नामक लक्षण है।

अन्यत्र तु पाठः —

[1]'गुणाभिधानैर्विविधैर्विविधार्थप्रयोजितैः ।
गुणातिपातो मधुरैर्निष्ठुरैर्वा भवेदिह ॥

मधुरैर्गीतैः (गुणैः) निष्ठुरैर्वा विविधैरुपमाभूतैरर्थैर्ये प्रयोजिता गुणास्तदभिधानैरुपलक्षितो गुणातिपात इत्यर्थः ॥ १२ ॥

गुणानुवादः स ज्ञेयो यत्राभेदोपचारतः ।
गौणी वृत्तिमुपाश्रित्य वस्तुनो रूपमुच्यते ॥

अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार तो सर्वत्र लक्षण का सम्बन्ध है, इस पर कहते हैं कि हो, आक्षेप करने का क्या अभिप्राय है ? यह तो हमारा प्रिय विषय है। जो अलङ्कारयुक्त है, वह सभी काव्य है। अब प्रश्न यह हैं कि यदि सभी अलङ्कारयुक्त को काव्य मानें तो 'गौर्वाहीकः' में रूपक अलङ्कार का योग होने पर काव्य क्यों नहीं मानते ? इस पर कहते हैं कि यहाँ दोष का परिवर्जन, गुण एवं अलङ्कारों का वैकल्य है, अतः जो दोष हमारे ऊपर लगाया जा रहा था, उसका उन्मूलन आपने ही कर दिया। अतः रहने दिया जाय।

अन्यत्र तो यह पाठ है—

"विविध अर्थों से प्रयोजित मधुर या निष्ठुर विविध गुणों के अभिधान से उपलक्षित 'गुणातिपात' होता है।"

अर्थात् मधुर अथवा निष्ठुर गीत तथा विविध उपमानभूत अर्थों से प्रयोजित जो गुण हैं, उनके अभिधान से उपलक्षित 'गुणातिपात' होता है ॥

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्य गुणानुवाद का लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

"जहाँ पर अभेदोपचार से गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर वस्तु के स्वरूप को कहा जाता है उसे 'गुणानुवाद' समझना चाहिए।"

---

१. क. (टि०) गुणानुवादः स ज्ञेयो यत्राभेदोपचरतः ।
गौणीवृत्तिमुपाश्रित्य वस्तुनो रूपमुच्यते ॥
इति गुणानुवादलक्षणमन्यैः पठितम् ।
उदाहृतं च शकुन्तलात्—
अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डपुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं ।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपास्यति विधिः ।

[1]उत्तमार्थविशेषो यः स चाप्यतिशयः स्मृतः ॥ १४ ॥

अथातिशयः

उत्तमार्थाद्विशिष्ट इति उक्तादप्यर्थाद्विशेषो । यथा भट्टेन्दुराजस्य—

[2]यावन्त्येव पदान्यलीकपिशुनैरालीजनैः शिक्षिता
तावन्त्येव कृतागसो द्रुततरं व्याहृत्य पत्युः पुरः ।
प्रारब्धं परतो यथा मनसिजस्येच्छा तथा वर्तितुं—
प्रेम्णो मौग्ध्यविभूषितस्य सहजः कोऽप्येष कान्तः क्रमः ॥

अत्रेर्ष्यात्मा यः प्रेमण्युत्तमेऽर्थस्ततोऽपि विशेष उक्तः प्रतिपदं चाभिप्रायोऽस्ति स विवेचनोयः । न चेयमतिशयोक्तिः संभाव्यमानत्वात् । सोऽपि वा लक्षण नालङ्कार इति वक्ष्यामः समनन्तरमेव ।

१०. अतिशय

अब अतिशय नामक लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—जो उत्तम अर्थ से विशिष्ट होता है उसे 'अतिशय' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ १४ (२) ॥

अभिनव—जो उत्तम अर्थ से विशिष्ट अर्थात् उक्त अर्थ से विशेष अर्थ होता है वह 'अतिशय' नामक लक्षण है । जैसे भट्टेन्दुराज का यह पद्य—

"झूठी चुगली लगाने वाली सखियों ने अपनी भोली सखी के जितने अक्षर सिखाये उसने उतने ही अक्षरों को अपने अपराधी पति के सामने कह दिया । उसके बाद काम की इच्छा के अनुसार रति (सम्भोग) भी किया । यह तो भोलेपन से विभूषित प्रेम का एक सहज एवं विलक्षण रमणीय क्रम है ।"

यहाँ पर उत्तम प्रेम में जो ईर्ष्यात्मा अर्थ हो सकता है उससे भी विशेष कहा गया है और प्रत्येक पद में जो अभिप्राय है वह भी विवेचनीय है । सम्भाव्यमान होने के कारण यहाँ 'अतिशयोक्ति' नहीं है । वह सम्भाव्यमान अर्थ भी लक्षण है, अलङ्कार नहीं । इस बात को हम आगे कहेंगे ।

१. क. उत्तमार्थाद्विशिष्टो । क. (टि.) उत्तमार्थविशिष्टो ।

२. अयं श्लोकोऽमरुककाव्येऽपि दृश्यते—
व्याख्यातश्चार्जुनवर्मदेवभूपालाभ्याम् ।
वृत्तिकारवचनप्रामाण्यादयममरुके प्रक्षिप्त इति संभाव्यते । (गायकवाड़ टिप्पण्याम्)

बहूनां भाषमाणानामेकस्यार्थविनिर्णयात्[1] ।
सिद्धोपमानवचनं हेतुरित्यभिसंज्ञितः ॥ १५ ॥

अन्यत्र तु पठ्यते—

बहून् गुणान् कीर्तयित्वा सामान्यजनसंभवान् ।
विशेषः कीर्त्यते यत्र ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥ इति ॥ १३ ॥

अथ सहेतुः

बहूनां भाषमाणानामिति । बहून् भाषमाणाननादृत्यैकस्यासाधारणस्यार्थस्य निर्णयं कर्तव्यत्वेनावलम्ब्य सिद्धस्य प्रमितस्योपमानवचनं प्रक्षेपवचनं मम तावदेवं प्रतिभासते इति सहेतुः । यथा भट्टेन्दुराजस्य—

अन्यत्र तो ऐसा पाठ मिलता है—

"जब सामान्य जनों में होने वाले बहुत से गुणों का कीर्तन (बखान) करने के बाद जो विशेष गुणों का कथन किया जाता है उसे विद्वानों को अतिशय नामक 'लक्षण' समझने चाहिए ॥

११. हेतु

अब हेतु को कहते हैं—

अनुवाद—बहुत से बोलने वाले व्यक्तियों के कथन से एक असाधारण अर्थ का निर्णय होने से सिद्ध के उपमानभूत वचन का कथन 'हेतु' नामक लक्षण कहलाता है ॥ १४ ॥

अभिनव—बहुत से बोलने वालों का अनादर कर किसी एक असाधारण अर्थ का निर्णय का कर्त्तव्य रूप से अवलम्बन करके सिद्ध के प्रमाणभूत उपमान का प्रक्षेपण 'मुझे ऐसा प्रतिभात होता है' को 'हेतु' कहते हैं। जैसे भट्टेन्दुराज का श्लोक—

१. क. त्वेकस्यार्थविनिर्णयम् । क. (टि०) अनेकार्थविनिश्चयः । अनेकार्थविनिर्णयात् ।

[1]अपदेशस्तु परोक्षो यस्मादुत्पद्यतेऽनुकरणेन ।
[2]लक्षणसमानकरणात् सारूप्यं तत्तु निर्द्दश्यम्[3] ॥ १५ ॥

एके वारिनिधिप्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं
केचित्पावकयोगिनं निजगदुः क्षीणेऽह्नि चन्द्रार्चिषाम् ।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि ! प्रत्यक्षतीव्रातपो
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः ॥

एकस्येति । एकमसाधारणम् । सिद्धोपमानेति । डुमिञ् प्रक्षेपणे इत्यस्योपमानम् । अन्यत्र पाठः —

यत्प्रयोजनसामर्थ्याद्वाक्यं शिष्टार्थसाधनम् ।
समासोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संज्ञितः ॥ इति ।

सम्यगस्यते हृदि क्षिप्यते येन स समासः उपपत्तिस्तयोक्तम् ॥ १४ ॥

"दिन के क्षीण होने पर चन्द्रमा की किरणों का समुद्र में प्रवेश हो जाता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अन्य लोग कहते हैं कि लोकान्तर में उनका आलोकन होता है, कुछ लोग अग्नि से योग होता है, ऐसा कहते हैं, किन्तु हे सखि ! ये सब झूठ हैं, क्योंकि इनका कोई साक्षी नहीं है। प्रत्यक्ष में इसका जो तीव्र अनुभव किया जा रहा है उससे तो मैं मानती हूँ कि पथिकों के विरह से संतप्त वियोगिनी नारियों के चित्त में सोया हुआ सूर्य है चन्द्रमा नहीं ।"

एकस्या अर्थात् एक असाधारण । सिद्धोपमान का अर्थ है सिद्ध उपमान प्रक्षेपण । 'डुमिञ्' प्रक्षेपणे धातु से उपमान शब्द बनता है । अन्यत्र निम्नलिखित पाठ है—

"जो वाक्य प्रयोजन के सामर्थ्य से शिष्ट अर्थ का साधन हो, उपपत्ति से कहा गया हो और मनोग्राही हो, उसे 'हेतु' संज्ञक लक्षण कहते हैं ।"

जिसके द्वारा कोई अर्थ हृदय में सम्यक् प्रकार से क्षिप्त हो वह समास है। उससे कहा हुआ अर्थ समासोक्त है । यहाँ समास का अर्थ 'उपपत्ति' है ॥ १४ ॥

---

१. क. (टि०) अपदेशेन परोक्षो योऽर्थो ह्युपपद्यते ।
२. क. (टि०) लक्षणसमानयोगात् ।
३. क. (टि०) निर्देश्यम् ।

अथ सारूप्यम्

अपदेशस्तु परोक्षो यस्मादुत्पद्यतेऽनुकरणेनेति । यथा ममैव—

सैन्दूरीकृतसान्द्रकुङ्कुमरसप्रच्छायमालोच्यते
यत्प्राच्यां दिशि वक्रिमास्पदमिदं दृग्द्वन्द्वलेह्यं महः ।
तत्तेजो जरठांशुतां कलयसा भाविप्रवासावधि
सन्ध्यामुग्धवधूकपोलफलके कीर्णो नखाग्राङ्कुरः ॥

अत्र यदिति निर्देश्यं परोक्षवस्तु तत्त्वस्यापरिज्ञानात् । अनुकरणेन प्रच्छायमात्रेण अपदेश्यमालोच्यमिति लक्षणेन सैन्दूरीकृतेत्यादिना समानं सप्रमाणकं करणं दर्शनक्रिया यस्य तादृशे वस्तुनि सारूप्यं लक्षणम् । पौर्णमास्यामपि वक्ररेखेवेन्दोर्भागो लक्ष्यते उदयाचलान्तरितत्वात् सन्ध्यासमये । न चेयमुपमा उपमेयस्याभावा—दुपमेयमेव हि पूर्वार्धेन लिख्यते ।

१२. सारूप्य

अब सारूप्य को कहते हैं—

अनुवाद—अनुकरण के द्वारा जिससे परोक्ष का उपदेश (बहाना) उत्पन्न होता है, लक्षणों के समान कर देने से उसे 'सारूप्य' कहा जाता है ॥ १५ ॥

अभिनव—अनुकरण से उत्पन्न होने के कारण अपदेश परोक्ष है जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) यह श्लोक—

"जो पूर्व दिशा में वक्रता का आस्पद अर्थात् टेढ़ा एवं दोनों नेत्रों से लेह्य (देखने योग्य) सिन्दूर स्वरूप गाढ़े कुङ्कुम रस के सदृश यह दिखाई दे रहा है वह उस तेज की जरठांशुता की भावी अवधि की सूचना देने वाले विधाता ने सन्ध्यारूपी मुग्धवधू के कपोल पर अङ्कित नखाङ्कुर है ।"

"यहाँ पर तत्त्व का परिज्ञान न होने से 'यत्' पद से निर्देश्य वस्तु परोक्ष है । अनुकरण से अर्थात् छायामात्र से अपदेश्य अर्थात् आलोच्य है । सैन्दूरीकृत इत्यादि के द्वारा जिसकी दर्शन-क्रिया समान सप्रमाण वस्तु है उस वस्तु में 'सारूप्य' लक्षण है । पूर्णमासी की रात में भी उदयाचल से अन्तरित हो जाने के कारण चन्द्रमा भाग वक्र रेखा के समान दिखाई दे रहा है । यहाँ पर उपमा अलङ्कार नहीं है, क्योंकि उपमेय को सूचित किया जाना प्राप्त होता है ।

[1]अभूतपूर्वैर्यत्रार्थैस्तुल्यस्यार्थस्य निर्णयः ।
स मिथ्याध्यवसायस्तु प्रोच्यते काव्यलक्षणम् ॥ १६ ॥

पुस्तकान्तरेषु तु पाठः —

यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि च ॥ इति ।

प्रत्यक्षं वस्तु परोक्षमिव देशकालरूपानुसारेण वर्ण्यते ॥ १५ ॥

अथ मिथ्याध्यवसायः

अभूतपूर्वैरिति । अपारमार्थिकैरेवार्थैस्तत्तुल्यस्यावस्तुभूतस्यार्थान्तरस्य यस्य वक्तृव्यापारे सति निश्चयः सोऽयम् । यथा ममैव—

यो दुर्जनाद्वाञ्छितसिद्धिमीहते स नूनमुत्क्रामति तं सुखैधिनम् ।
जुह्वज्ज्वलाग्नौ विगतार्थमण्डलं प्रसह्य षष्ठं विषयं प्रसाधयेत् ।

काव्यलक्षणमित्यनेन काव्येषु लोकविपर्यासबाहुल्यमवश्यं भवतीति दर्शयति ।

अन्य पुस्तकों में यह पाठ है—

"जहाँ पर देश, काल और रूप के अनुसार वर्णतः दृष्ट प्रत्यक्ष वस्तु का परोक्ष की तरह वर्णन किया जाता है, वहाँ सारूप्य है।"

जहाँ पर देश, काल और रूप के अनुसार प्रत्यक्ष वस्तु का परोक्ष के समान वर्णन किया जाता है। वहाँ सारूप्य लक्षण होता है ॥ १५ ॥

१३. मिथ्याध्यवसाय

अब मिथ्याध्यवसाय को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर अभूतपूर्व अर्थों द्वारा तत्सदृश (तुल्य) अर्थ का निर्णय किया जाता है, उसे 'मिथ्याध्यवसाय' नामक काव्य लक्षण कहा जाता है ॥ १६॥

अभिनव—अपारमार्थिक अर्थों के द्वारा तत्तुल्य अवस्तुभूत जिस अर्थान्तर का वक्ता का व्यापार होने पर निश्चय होना मिथ्याध्यवसाय है। जैसे—मेरा ही पद्य—

"जो दुर्जन पुरुष से अभिलषित अर्थ को सिद्धि चाहता है वह अवश्य ही उस बढ़ने वाले सुख का उल्लंघन करता है और अग्नि में हवन करता हुआ बलात् अर्थ-रहित षष्ठ विषय को सिद्ध करना चाहता है।"

---

१. क. (डि०) अभूतपूर्वं यत्रार्थे तुल्यस्यार्थस्य निर्णयः ।

[1]बहूनां तु प्रधानानां मध्ये यन्नाम कीर्त्यते।
एकार्थसाधनकृतं[2] सा सिद्धिरिति कीर्त्यते[3] ॥ १७ ॥

अन्ये तु पठन्ति—

विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टापदृष्टयोः ।
सन्देहात्कल्प्यते यत्र स विक्षेपो विपर्ययः ॥

विचार्यंत इति विचारोऽर्थः अदृष्टमित्यर्थः । संदेहोऽत्र भ्रमः, अन्यथाभावो विपर्ययः । अथवा संशयोऽपि हि वस्तुतो विषयतत्त्वमन्यथाकारं दर्शयन् विपर्यय एव ॥ १६ ॥

काव्य लक्षण ऐसा कहने का अभिप्राय है कि काव्यों में लोक का विपर्यास अवश्य और अधिक होता है, यह दिखाया गया है । अन्य लोग तो ऐसा कहते हैं—

"विचार का अन्यथा भाव तथा दृष्ट और अदृष्ट अर्थों में सन्देह के कारण जहाँ पर विशेष की कल्पना की जाती है, वह 'विपर्यय' कहलाता है।

जिसका विचार किया जाय, वह विचार अर्थ है अदृष्ट है। यहाँ पर सन्देह का अर्थ भ्रम है और अन्यथाभाव विपर्यय का वाचक है। अथवा संशय भी वस्तुतः विषय तत्त्व का अन्यथाभाव प्रदर्शित करने के कारण 'विपर्यय' ही है ॥ १६ ॥

१४. सिद्धि

अब सिद्धि को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर बहुत से प्रधान (प्रसिद्ध) पदार्थों के मध्य एक अर्थ साधन करने वाले जिस नाम का कथन करते हैं उसे 'सिद्धि' कहते हैं ॥ १७ ॥

---

१. ख. बहूनां च प्रयुक्तानां नाम यत्राभिकीर्त्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं सा सिद्धिरभिधीयते ।

२. क. (टि०) कृता ।

३. क. (टि०) कीर्तिता ।

गुणैर्बहुभिरेकार्थैः पदैर्यः सम्प्रशस्यते ।
पदोच्चयं तु तं विद्यान्नानार्थंप्रथनात्मकम्[1] ॥ १८ ॥

अथ सिद्धिः

बहूनां च प्रधानानामिति । प्रसिद्धानां मध्ये एकमित्यप्रसिद्धं यन्नाम कीर्त्यते तस्यासाधारणत्वस्य प्रयोजनस्य संपत्तये करणं तत्र निवेशनं यस्य तादृक् तत्कीर्त्तनं सिद्धिहेतुत्वात्सिद्धिः । यथा—

भद्रेश्वरः सुरसरित्स भवानहं च
त्रैलोक्यसारमिह संप्रति जीवलोके ।
भद्रेश्वरः सुरवरेषु सरित्सु गङ्गा
त्वं पार्थिवेष्वहमतीव सुदुःखितेषु ॥

अत्र भवानहं चेत्यप्रसिद्धमध्ये उपात्तमसाधारण्यसिद्धिं विधत्ते ॥ १७ ॥

अभिनव—बहुत से प्रसिद्ध पदार्थों के मध्य किसी एक अप्रसिद्ध नाम को कहते हैं वह उस अप्रसिद्ध की असाधारण सम्पत्ति के लिए कहते हैं। अतः उसमें जिसका निवेश करके कहते हैं वह कथन सिद्धि का हेतु होने से 'सिद्धि' है। जैसे—

"भद्रेश्वर, सुरनदी (गङ्गा), आप और हम सम्प्रति इस जीवलोक में त्रिलोकी के सारभूत हैं। देवताओं में भद्रेश्वर, नदियों में गङ्गा, राजाओं में आप और दुःखियों में मैं।"

यहाँ 'आप' और 'मैं' इन अप्रसिद्धों का प्रसिद्धों के मध्य में उपादान आसाधारण्य की सिद्धि का विधान करता है ॥ १७ ॥

१५. पदोच्चय

अब पदोच्चय का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—बहुत से गुणों के द्वारा जहाँ एकार्थक पदों से प्रशंसा की जाती है, नानार्थ प्रथनात्मक उस लक्षण को 'पदोच्चय' कहते है ॥ १८ ॥

---

१. क. प्रथितार्थकम् ।

आत्मभावमुपन्यस्य परसादृश्ययुक्तिभिः ।
तीव्रार्थभाषणं यत् स्यादाक्रन्दः स तु कीर्तितः ॥ १९ ॥

अथ पदोच्चयः

गुणैर्बहुभिरेकार्थैरिति । एकता एकतात्पर्यार्थनिष्ठैर्बहुभिः शब्दैर्ये वाच्यत्वेन स्वीकृता धर्मास्तदुपलक्षितत्वेनेव यद्वस्तुनः प्रशंसनम् । कथं नानार्थैर्ग्रथितात्मकमुपलम्भितरूपं कृत्वा तत्पदानामुच्चय उत्कर्षणं चयः बाहुल्यं यत्रेति पदोच्चयः ।

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं जननयननिर्माणमफलम् ।
अदर्पं कन्दर्पं मरणशरणं बान्धवजनं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥

अत्र ह्यवान्तरावगमकारिणामवान्तरवाक्यरूपाणां पदानां तात्पर्यमभिन्नं स्वार्थस्तु भिन्नः । पदोच्चये पदशब्दार्थस्तु पादो भाग इति । अन्ये पठन्ति—

पूर्वत एवार्थः ॥ १८ ॥

अभिनव—एक तात्पर्य विषयीभूत अर्थों के प्रतिपादक बहुत से शब्दों के वाच्य रूप में स्वीकृत जो धर्म है उतना उपलक्षण रूप जो वस्तु का प्रशंसन है वह कैसे ? कहते हैं कि नाना अर्थों से ग्रथित उपलम्भित रूप में करके उन पदों का उच्चय अर्थात् उत्कर्ष रूप में चय बाहुल्येन जहाँ हो वह पदोच्चय है । जैसे—

"संसार को असार, त्रिभुवन को रत्नरहित, लोक को प्रकाशहीन, जनता के नेत्रों के निर्माण को निष्फल, कामदेव के दर्प से विकल, बन्धुजनों के मरण की शरण और जगत् को जीर्ण अरण्य बनाने के लिए ऐसा व्यवसाय क्यों कर रहे हो ?"

यहाँ पर अवान्तर अर्थों के बोधक अवान्तर वाक्य रूप पदों का तात्पर्य अभिन्न है, एक है, किन्तु उन पदों का अपना वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न है । यहाँ पदोच्चय में पद का अर्थ पाद है, भाग है । अन्य लोग कहते हैं कि प्रारम्भ से ही जो अर्थ है वही अर्थ अन्त तक चलना एकार्थतात्पर्यक होता है ॥ १८ ॥

१६. आक्रन्द

अब आक्रन्द का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ दूसरों से सादृश्य रखने वाली युक्तियों से अपने भाव का उपन्यास कर तीव्र अर्थ का भाषण किया जाता है । उसे 'आक्रन्द' कहा गया है ॥ १९ ॥

अथाक्रन्दः

आत्मभावमुपन्यस्येति। तीव्रः साक्षादवाच्यो योऽर्थस्तस्य परं प्रति सादृश्ययोजनप्रकारैरात्माभिप्रायं प्रमुखे दत्त्वा तत्समन्ततः भाषणं स्फुटकथनं तन्निजभावाविष्करणप्रधानत्वादाक्रन्दो नाम लक्षणम्। यथा ममैव—

किं पान्थ! त्वरसे विलोकय निशां या ह्युन्मुखी पाण्डुरा
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम्।
यद्वा नागरभोगदुर्ललितकैर्व्यस्तापि न ज्ञायते।
ग्रामेऽग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजरम्यं सुखम्॥

अत्रोत्तरेणार्धेन ग्रामीणो रम्यतमो भोजनशयनादिसंभोग इति वक्त्र्या मोहप्रायोऽवाच्य आत्माभिप्रायः। तदरोचकरोचकमुभयं प्रमुखे निधाय निशाकरवृत्तान्तसादृश्येन तीव्रः स्वात्मानुराग आविष्कृतः।

अभिनव—जो अर्थ के तीव्र (कठोर) होने से साक्षात् अवाच्य है, उसे दूसरे के प्रति सादृश्य के संयोजन के द्वारा अपने अभिप्राय को दूसरे के प्रति रखकर फिर उसका जो स्फुट कथन है उससे अपने भाव के आविष्करण की प्रधानता होने से उसे 'आक्रन्द' नामक लक्षण कहते हैं। जैसे—मेरा (अभिनवगुप्त का ही) यह पद्य है—

"हे पथिक! क्यों इतनी शीघ्रता कर रहे हो। इस दिशा को देखो जो उन्मुखी पति की प्रतीक्षा में ऊपर मुख किये हुए और विरह से पाण्डुर (पीली) हो गई है, जो पहिले ही रागमयी स्थिति को प्रकट करती हुई चन्द्र का चुम्बन करना चाहती है। अथवा नागरों के भोग के दुलारों के द्वारा उपेक्षित कर दी गई, यह वह नहीं जानती, किन्तु ग्राम में भी नागरजनों के उपभोग सुभग निर्व्याज रमणीय सुख है।"

यहाँ उत्तरार्द्ध में ग्रामीण भोजन, शयन आदि सम्भोग अतीव रमणीय है। इस प्रकार के अपने मोहक अभिप्राय को नायिका नहीं कर सकती। अतः अरोचक एवं रोचक दोनों तत्त्वों को प्रमुख में रखकर चन्द्रमा के वृत्तान्त के सादृश्य से अपने तीव्र अभिप्राय को प्रकट कर दिया।

हृदयस्थस्य भावस्य सुस्पष्टार्थप्रदर्शनम्[1] ।
[2]अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृतः ॥ २० ॥

अन्ये पठन्ति—

रूपकैरुपमाभिर्वा तुल्यार्थैः सुप्रयोजितैः ।
अप्रत्यक्षार्थसंस्पर्शस्तुल्यतर्क प्रकीर्तितः ॥

प्रथमार्धेन परसादृश्यमुक्तम् । अप्रत्यक्षस्यात्मभावस्य संस्पर्शना ज्ञापनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ मनोरथः

हृदयस्थस्य भावस्येति । यथा—

णिग्गंध दुरारोहिं पुत्तअ (मा) पाडलिं समारूढ ।
आरूढणिवडिआ के इमि ए ण कआ इह ग्गामो ।
(निर्गन्धदुरारोहां पुत्रक ! पाटलीं मा समारोह ।
आरूढनिपतिताः केऽनया न कृता इह ग्रामे ॥ (इति छाया)
(गाथासप्तशती ५।६८)

अन्य लोग ऐसा पाठ मानते है । इसे 'तुल्यतर्क' कहते हैं—

"अच्छी तरह प्रयुक्त किये गये तुल्यार्थक रूपक अथवा उपमा के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का संस्पर्श 'तुल्यतर्क' कहलाता है ।"

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में परसादृश्य का कहा गया है और उत्तरार्द्ध से अप्रत्यक्ष अपने भाव की संस्पर्शना ज्ञापना की है ॥ १९ ॥

१७. मनोरथ

अब मनोरथ को कहते हैं—

अनुवाद—अन्य वस्तु के व्याज के कथन के द्वारा हृदयस्थ भावों का परिमार्जित युक्तियों से प्रदर्शन करना 'मनोरथ' है ॥ २० ॥

जैसे—

अभिनव—हे अबोध बालक ! गन्ध शून्य एवं दुरारोह इस पाटली पर आरोहण मत करो । क्योंकि इस ग्राम में इसने किसे ऊपर उठाकर नीचे नहीं गिराया ।

---

१. क. (टि०) सुश्लिष्टार्थप्रकाशकम् । सुश्लिष्टार्थप्रदर्शकम् ।
२. क. (टि०) अन्यापदेश कथनं ।

[1]अपृष्टैरथवा पृष्टैर्निर्णयः क्रियते तु यः ।
आख्यानमिति तज्ज्ञेयं लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ २१ ॥

अत्र पादपमारोहन्नेव कश्चिद् दुराशयपुंश्चली सङ्गमोत्सुकः वृद्धविदग्धया स्वाभिप्रायद्योतनेन प्रबोध्यते, तत्प्रस्तुतमेवान्यदपदिश्य । अत एवाप्रस्तुप्रशंसा, सापि चात्रैवान्तर्भूता । नन्वलङ्कारे ह्यलंकार्यत्वं ह्यसत् इति केयं युक्तिः, लक्षणं तु भवति लक्षणत्वादेव ॥ २० ॥

अथाख्यानं

पृष्टैरपृष्टैरपि चेत्यादि ।
प्रश्नपूर्वका यत्र बहवो निर्णीयन्ते यथा—
बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं, रोषान्मया किं कृतं ।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते ।
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता ? नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ (अमरुशतकस्य)

यहाँ पर वृक्ष पर चढ़ने के व्याज से दुष्ट आशय वाली पुंश्चली के साथ समागम के लिए उत्सुक किसी को कोई वृद्ध विदग्धा अपने अभिप्राय के प्रकाशन कर समझा रही है । वह अन्य के अपदेश से प्रस्तुत ही है, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है । वह भी यहीं पर अन्यादेश के अन्तर्गत है । क्योंकि अलङ्कार में अलङ्कार्यत्व असत् है, यह कौन सी युक्ति है । यहाँ लक्षणीय होने से लक्षण ही है ॥ २० ॥

१८. आख्यान

अब आख्यान को कहते हैं—

अनुवाद—जो पृष्ठ (पूछे गये) अथवा अपृष्ट (विना पूछे गये) किसी बात का निर्णय किया जाय उसे नाटक सम्बन्धी 'आख्यान' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ २१ ॥

अभिनव—जहाँ पर प्रश्नपूर्वक बहुत से पदार्थों का निर्णय किया जाता है । जैसे—

"हे बाले ! (नायिका) हे नाथ ! (नायक) हे मनिनि ! क्रोध छोड़ दो । (नायिका) तुम्हारे ऊपर क्रोध करके मैंने क्या किया । (नायक मुझे खेद (कष्ट) हुआ । (नायिका) आपने मेरा क्या बिगाड़ा है। सारा दोष तो मेरा है । (नायक)

---

१. क. पृष्टैरपृष्टैरथवा ।

इत्यादावुक्तिप्रत्युक्तौ, प्रश्नसदृशैर्वा शक्याशक्यवस्त्वभिधानैर्यत्र निर्णयः। यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं पराम्।

इत्युक्ते यदि प्रसिद्धः कथं मया न ज्ञायत इत्याशंक्याख्यातं—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।

किं तस्य प्रसिद्धौ निदानमित्याशंक्य पुनराख्यातं—

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति—

श्रेणीभूतविशालसालविवरोत्कीर्णस्वरैः सप्तभिः॥ (राघवानन्दे)

नाटकाश्रयमित्यनेन भूयो लक्ष्यमाणस्येत्याह।

तब रुँधे कण्ठ से रो क्यों रही हो ? (नायिका) किसके सामने रो रही हूँ ? (नायक) यह मेरे सामने रो रही हो। (नायिका) मैं तुम्हारी कौन हूँ ? (नायक) तु मेरी प्राणप्रिया हो। (नायिका) तुम्हारी प्राणप्रिया नहीं हूँ, इसलिए रो रही हूँ।"

यहाँ पर उक्ति-प्रत्युक्ति के प्रश्नों द्वारा निर्णय किया गया है। यहाँ पर प्रश्न किये विना ही प्रश्न सदृश वाक्यों द्वारा शक्य और अशक्य वस्तुओं के कथन से निर्णय होता है। जैसे—

"यह राम है, जो अपने पराक्रम के गुणों से लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है।" ऐसा कहने पर यदि राम इतने प्रसिद्ध हैं तो मैंने कैसे नहीं जाना ? इस प्रकार आशङ्का करके पुनः कहते हैं कि—"भाग्य के विपरीत हो जाने के कारण आप उन्हें नहीं जानते हैं।"

उस राम ने प्रसिद्ध होने का क्या कारण है ? इस प्रकार आशङ्का करके पुनः कहते हैं कि—

"जिसके एक बाण के प्रहार से पंक्तिबद्ध विशाल ताल के वृक्षों के सात छिद्रों से निकले हुए सात स्वरों से वायुगण (भाँट, चरण) के समान जिस राम के यश का गान करता है।"

'यह नाटकाञ्चित आख्यान हैं', अतः बार-बार प्रयोग के योग्य है, यह कहते हैं।

[1]आदौ यत् क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
[2]यत्तु प्रियं पुनर्वाक्यं सा याच्ञा परिकीर्तिता[3] ॥ २२ ॥

अन्ये पठन्ति—

वाक्यैः सातिशयैर्युक्ता वाक्यार्थस्य प्रसाधकैः ।
लोकप्रसिद्धैर्बहुभिः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ स्पष्टम् ॥ २१ ॥

अथ याच्ञा

आदौ यत्क्रोधजननमिति । प्रथमार्धेन हित व्याख्यातम् । तेन प्रथमं यत्तदात्वे परुषमायत्यां च सत्फलं वस्तूच्यते, ततश्च प्रियम् । पुनः शब्दात्ततो हतं पुनः प्रियमित्येवं प्रबोध्यस्य प्रबोधनधिया याचनाद्याच्ञा । यथा ममैव—

अन्य आचार्य कहते हैं—

"वाक्यार्थ के प्रसाधक लोकप्रसिद्ध अतिशयपूर्ण वाक्यों से युक्त प्रसिद्धि है, ऐसा कहा गया है।" ॥ २१ ॥

१९. याच्ञा

अब याच्ञा का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—**प्रारम्भ में जो क्रोध का जनक है तथा अन्त में हर्ष का प्रवर्धक जो प्रिय-वचन है उसे 'याच्ञा' कहते हैं ॥ २२ ॥**

अभिनव—'प्रारम्भ में जो क्रोध का जनक है' इस श्लोक के प्रथमार्द्ध द्वारा हित का व्याख्यान किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है। प्रथम अर्थात् उस काल में वह परुष होता है किन्तु परिणाम (उत्तर काल) में वह वस्तु सत् फलवाली होती है, अतः वह प्रिय है। तथा वह हितकारी होने से भी प्रिय है। इस प्रकार समझाने की बुद्धि से प्रबोधनीय को याच्ञा करना 'याच्ञा' है। जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) यह श्लोक है—

---

१. क. आदौ च क्रोधजं नित्यं ।

२. क. (टि०) यत्र ।

३. क. (टि०) याच्ञाया लक्षणमन्यैः पठितं—
लाभोपपत्तिमाख्याय स्वयं दूतमुखेन वा ।
प्रार्थ्यते यत्कन्याया सा याच्ञेत्यभिधीयते ॥ इति ।
अत्र कन्याया एव याच्ञा एव याच्ञालक्षणस्यैकदेशित्वमिति । वृत्तिकारपाठः स्वीकृतोऽन्यैः । सोऽपि प्रियावयलक्षणनिर्वचनस्य संवांद्येव । अतएव कश्चित् प्रियलक्षणं पाठान्तरेण लक्षितम् ।

कार्येषु विपरीतेषु यदि [1]कश्चित् प्रवर्तते ।
निवार्यते च कार्यज्ञैः प्रतिषेधः प्रकीर्तितः ॥ २३ ॥

भूमिः कण्टकिनी, पुरो विटपिनः प्रायो बहूपद्रवाः
भूयश्चैव दिवाकरो मृगयते सन्ध्याङ्गनासङ्गमम् ।
तद्विश्रम्य जनोऽयमत्र सदने ग्राम्योचितं सेवतां
प्रातः पान्थ ! विचार्य चेतसि चिरं स्थातासि गन्तासि वा ॥

पाठान्तरं तु—

हितैः प्रसन्नवचनैर्यत्परस्यानुवर्तनम् ।
क्रियते वाक्यचेष्टाभिस्तद्दाक्षिण्यमुदाहृतम् ॥ इति ॥ २२ ॥

"यह भूमि कण्टकाकीर्ण है, प्रायः सामने वाले वृक्षों में बहुत से उपद्रव हैं, इधर यह सूर्य भी अपनी सन्ध्या-वधू के साथ मिलने के लिए खोज रहा है। अतः हे पथिक ! इस समय इस घर में विश्राम करके ग्राम्योचित क्रिया का उपभोग कीजिये और प्रातः चित्त में विचार करना कि जाना है अथवा ठहरना है।"

इसका अन्य पाठ भी मिलता है, इसमें उसे 'दाक्षिण्य' कहा गया है।

"हितकारी प्रसन्नतापूर्ण वचनों और तदनुकूल चेष्टाओं के द्वारा जो दूसरे का अनुसरण करना है, उसे 'दाक्षिण्य' कहते हैं।"

विमर्श—अन्य आचार्य 'याच्ञा' का लक्षण इस प्रकार पढ़ते हैं—

"जहाँ पर स्वयं अथवा दूत के द्वारा लाभ की सम्भावना को दिखलाकर (कहकर) किसी कन्या के लिए प्रार्थना की जाय उसे 'याच्ञा' कहते हैं।"

यहाँ पर केवल कन्या के लिए ही याचना करना एकदेशी है, यह वृत्तिकार का पाठ है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। और कुछ अन्य आचार्य प्रियवचन होने से 'प्रियोक्ति' नामक लक्षण का पाठान्तर मानते हैं ॥ २२ ॥

२०. प्रतिषेध

अभिनव—'कार्येषु विपरीतेषु' इत्यादि के द्वारा प्रतिषेध नामक लक्षण का निरूपण करते हैं।

अनुवाद—यदि कोई विपरीत कार्य में प्रवृत्त होता है। कार्य के विशेषज्ञ लोग उससे जो रोकते हैं, उसे 'प्रतिषेध' नामक लक्षण कहते हैं ॥ २३ ॥

---

1. क. कश्चित् ।

अथ प्रतिषेधः

कार्येषु विपरीतेष्विति । यथा अमरुकस्य—

लग्ना नांशुकपल्लवे, भुजलता न द्वारदेशेऽर्पिता
नो वा पादयुगे तया निपतितं तिष्ठेति नोक्तं वचः ।
काले केवलमम्बुदालिमलिने गन्तुं प्रवृत्तः शठः
तन्व्या बाष्पजलोपकल्पितनदीपूरेण रुद्धः प्रियः ॥

अत्र तृतीयपादेन विपरीतकार्यप्रवृत्तिरुक्ता । आद्यार्धेन कार्याज्ञत्वं नायिकायाः तथापि निवारणं तुर्यपादेनोक्तम् ।

अन्ये त्वधीयते—

यद्वाक्यं वाक्यकुशलैरुपायेनाभिधीयते ।
सदृशार्थाभिनिष्पत्त्याः स लेश इति कीर्तितः ॥ इति ॥

वाक्यमिति वाक्यार्थो विधिर्वा निषेधो वा । नदीपूरश्च वर्षासु रोधको इष्ट इति सदृशाभिधानेनोपायेन निषेधः कृतः ॥ २३ ॥

जैसे, अमरुक के इस श्लोक में—

"वह शठ नायक मेघों से मलिन अर्थात् वर्षा के समय जब परदेश जाने के लिए तैयार हुआ तो उसे रोकने के लिए नायिका ने न तो उसके कपड़े को पकड़ा, न तो द्वार देश पर (दरवाजे में) अर्गला की तरह हाथ को फैलाया, न उसके चरणों पर गिरी और न उसे ठहरने के लिए कुछ कहा, बल्कि वह विरह में रोने लगी और रोने से इतना आंसू बहाया कि आँसुओं की नदी बहने लगी, जिसके प्रवाह से उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया और वह नहीं जा सका ।"

यहाँ पर तृतीय पाद में नायक के विपरीत कार्य में प्रवृत्ति कही गई है और श्लोक के अर्ध भाग से नायिका को कार्य कुशलता की । यद्यपि प्रारम्भ में नायिका की 'किंकर्त्तव्यविमूढ़ता' परिलक्षित होती है किन्तु अन्त में चतुर्थपाद से प्रिय की यात्रा का निवारण कहा गया । अतः यहाँ 'प्रतिषेध' लक्षण है ।

अन्य आचार्य इसे 'लेश' नाम से अभिहित करते हैं—

"जहाँ पर वाक्य—विशेषज्ञ (बोलने में चतुर) लोगों के द्वारा उपाय के (चतुराई से) सदृश अर्थ को अभिव्यक्ति के द्वारा जो वचन (वाक्य) कहा जाता है, उसे 'लेश' कहते हैं ।"

यहाँ पर वाक्य का तात्पर्य वाक्यार्थ है । वह वाक्यार्थ विधि रूप हो अथवा निषेध रूप हो । नदी का प्रवाह वर्षा में रुकावट डालने वाला देखा गया है । अतः नायक के यात्रा-भङ्ग के सदृशकथनरूप उपाय से निषेध कर दिया गया है ।

यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम् ।
[1]पृच्छन्निवाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता ॥ २४ ॥

अथ पृच्छा

यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरिति । यथा—

किं भीमाद् गुरुदक्षिणां गुरुगदाद्भीमप्रियः प्राप्तवान्
राजा दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥
(वेणीसंहारे)

अत्राकारेणाभिप्रायसूचकेन काक्वादिनोद्भूतानि द्योतितशक्तिकानि वाक्यानीति भावः । यत्र भावरसोपेतैरित्यन्ये प्राच्यं पाठमधीयते ॥ २४ ॥

२१. पृच्छा

इसके बाद 'यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैः' इत्यादि के द्वारा 'पृच्छा' को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर गूढ़ अभिप्रायों के सूचक वाक्यों के द्वारा अपने को अथवा दूसरे को पूछते हुए किसी अर्थ का कथन किया जाता है, उसे 'पृच्छा' कहते हैं ॥ २४ ॥

अभिनव—अब पृच्छा को कहते हैं । जैसे—

"क्या उस भीमप्रिय ने महान् गदा को धारण करने वाले भीम से गुरु दक्षिणा प्राप्त कर ली ? दुःशासन आदि सौ भाइयों में ज्येष्ठ और अङ्गराज कर्ण का मित्र, द्रौपदी के केश एवं वस्त्र खींचने में पटु, पाण्डव जिसके दास थे, बताओ वह दुर्योधन कहाँ है ? हम क्रोध से नहीं, बल्कि देखने के लिए आये हैं ।"

यहाँ पर आकार और अभिप्राय के सूचक काकु आदि से उद्भूत शक्ति के द्योतक वाक्य होने से 'पृच्छा' है। कुछ आचार्य यहाँ पर 'यत्र भावरसोपेतम्' पाठ मानते हैं ॥ २४ ॥

१. क. (टि०) पृच्छन्त्यभिवेद्यार्थं ।

[1]विद्वान् पूर्वोपलब्धौ यत्समत्वमुपपादयेत् ।
निदर्शनकृतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृतः ॥ २५ ॥

अथ दृष्टान्तः

विद्वान्पूर्वोपलब्धौ यत्समत्वमिति । यथा ममैव—

हा हालाहललेहने हतमतिः सोऽयं समुत्कण्ठितो
गाढाङ्गारगरिम्णि चैष जडधीर्देहं निविक्षेप्स्यति ।
ग्राम्योऽप्याजगरीं गुरुं गलगुहां मोहादयं धावति
व्याधूयेतरसङ्गतानि यदयं सार्धं खलैः खेलति ॥

यदयमित्यादि कस्य हेतोः । हालाहलकालकूटकवलनादिना येन साम्यं कृतं स दृष्टान्तः । न चेयमुपमा, यतो निदर्शनेन प्रत्यक्षीकरणाय साम्यं कृतं, इतोऽप्यमेवं कर्तुमुद्यत इति, न च रूपकं यदेतत्करोति तत इदमस्य भविष्यतीति भिन्नकालत्वात्, तदाह पूर्वोपलब्धौ सत्यामिति ॥ २५ ॥

२२. दृष्टान्त

अनुवाद—जहाँ पर विद्वान् निदर्शन के द्वारा पूर्वोपलब्ध वस्तु में समता का उपपादन करें, विद्वानों ने उसे 'दृष्टान्त' नामक लक्षण कहा है ॥ २५ ॥

अभिनव—जैसा कि अभिनव का कथन है—

"अरे ! यह कैसा दुर्बुद्ध है जो अति भयङ्कर विष को चाटने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है । जो जड़ बुद्धि धधकते हुए अङ्गारों से युक्त अग्नि में अपने शरीर को फेकना चाहता है । यह गँवार पुरुष अज्ञानवश अजगर के गले रूपी गुफा में घुसने के लिए दौड़ लगा रहा है । क्योंकि यह भले लोगों की सङ्गति को छोड़कर खलों (दुष्टों) के साथ खेलता है ।"

यहाँ पर जिस हलाहल कालकूट के साथ साम्य दिखलाया है वह 'दृष्टान्त' है । यहाँ उपमा नहीं है, क्योंकि यहाँ निदर्शन की प्रक्रिया दृष्टान्त द्वारा प्रत्यक्ष करने के लिए समानता प्रदर्शित है, इसलिए वह ऐसा करने के लिए उद्यत हुआ है । यहाँ पर रूपक की भी शङ्का नहीं करनो चाहिए, क्योंकि जब ऐसा करता है तब इसका यह फल होगा, इस प्रकार यहाँ पर क्रिया और फल में कालभेद है । इसीलिए 'पूर्व की उपलब्धि होने पर' ऐसा कहा गया है ॥ २५ ॥

१. क. (हि॰) विद्वन्पूर्वोपलब्धौ ।

अनेकयुक्तिमद्वाक्यमनेकार्थप्रसाधकम्[1] ।
[2]अनेकवाक्यसंयुक्तं तन्निर्भासनमुच्यते[3] ॥ २६ ॥

अथ निर्भासनम्

अथ भासनं अनेकयुक्तिमद्वाक्यमिति । यथा—

"कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानो
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनमरुत्पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयते न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ।
(वेणीसंहारः)

भास्यते प्रकृतः क्रोधादियेंन ।

पाठान्तरं—

ईप्सितार्थप्रसिद्ध्यर्थं कीर्त्यन्ते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसंज्ञिता ॥ इति ॥ २६ ॥

२३. निर्भासन

अब अनेक युक्तियों वाले निर्भासन का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जो अनेक युक्तियों से विशिष्ट, अनेक वाक्यों का साधक तथा अनेक वाक्यों से संयुक्त वाक्य है, उसे 'निर्भासन' कहते हैं ॥ २६ ॥

अभिनव—अनेक युक्तियों वाले वाक्य का उदाहरण देते हैं—

"जो जुआ और कपट करने वाला, लाख के घर में (लक्षागृह में) आग लगाने वाला तथा द्रौपदी के केश और वस्त्र खींचने में पटु और पाण्डव जिसके जुए में जीते हुए दास हैं, दुःशासन आदि सौ भाइयों में ज्येष्ठ और अङ्गराज कर्ण का मित्र वह अभिमानी दुर्योधन कहाँ है ? बताओ, हम क्रोध से नहीं, उसे देखने के लिए आये हैं।"

यहाँ प्रकृत में क्रोधादि का जिसके द्वारा भास होता है, वह 'निर्भासन' है। यहाँ पर निम्नलिखित पाठान्तर भी मिलता है। वहाँ इसे माला कहा गया है।

"अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए विद्वानों के द्वारा जहाँ पर अनेक प्रयोजनों का कथन किया जाता है, उसे 'माला' संज्ञक लक्षण कहते हैं।"

---

१. क. (टि०) अनेकार्थप्रकृतिस्थितम् । २. क. (टि०) अनेकवचनैर्युक्तं ।
३. क. (टि०) ज्ञेयं निर्भासनं तु तत् । भासनं नाम तद्भवेत् ।

अपरिज्ञाततत्त्वार्थं यत्र वाक्यं समाप्यते ।
सोऽनेकत्वाद्विचाराणां संशयः परिकीर्तितः[1] ॥ २७ ॥

अथ संशयः

अपरिज्ञाततत्त्वार्थमित्यादि । यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्तः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥
(विक्रमोर्वशीयम् ४-२)

अत्राद्यो भागः संशयोदाहरणं अनन्तरस्तूपपत्त्युदाहरणम् ॥ २७ ॥

---

२४. संशय

अब संशय का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर तत्त्व किसी के अर्थ को जाने विना ही वाक्य समाप्त हो जाय, तो विचारों की अनेकता के कारण उसे 'संशय' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ २७ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त 'अपरिज्ञात' इत्यादि के द्वारा 'संशय' का लक्षण करते हैं। जैसे—

"मेरे ऊपर कोप करने के कारण वह अपने दिव्य प्रभाव से कहीं छिप कर बैठी होगी। किन्तु देर तक वह कुपित नहीं रह सकती। शायद वह स्वर्ग में उड़ गई हो, किन्तु उसका मन तो मेरे ऊपर पूर्ण अनुरक्त है। सम्भव है कि कोई शत्रु उठा ले गया हो, किन्तु यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि मेरे सामने तो देवताओं के शत्रु भी अपहरण नहीं कर सकते, फिर भी वह कैसे आँखों से एकदम ओझल हो गई ? यह कौन सा व्यवहार है। यहाँ आधा भाग संशय का उदाहरण है और शेष भाग उपपत्ति का उदाहरण है।

---

१. क. ग्रन्थान्तरे संशयस्य लक्षणमित्थम्—
'परप्रशंसावचनं प्रयुक्तं सोऽभ्यसूयते ।
पूर्वोत्तरार्थव्याघातः संशयः स तु कीर्तितः ॥ इति ।

[1]यत्र शास्त्रार्थसम्पन्नां मनोरथसमुद्भवाम् ।
[2]अप्रार्थनीयामन्यां वा विदुस्तामाशिषं बुधाः ॥ २८ ॥

अथाशीः—

यथाशास्त्रार्थसम्पन्नामित्यादिना । यथा—

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां ।
शम्भो सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने ।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया—
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ॥

सर्वं वचनं न चाशीः, अलङ्कारः ? लक्षणं स्तुत्या एव वर्णनीयत्वात् ॥ २८ ॥

विशेष—पाठभेद के अनुसार संशय का लक्षण है—

वरप्रशंसावचनं प्रयुक्तं योऽभ्यसूयते ।
पूर्वोत्तरार्थ व्याघातः संशय एव कीर्त्तितः ॥

अर्थात् अन्य पुरुष की प्रशंसा में कहे गये वचन को सुनकर जिसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो और पूर्व कथन से उत्तर-कथन का विरोध हो तो वहाँ 'संशय' नामक लक्षण समझना चाहिए ।

२५. आशीः

अब आशीः का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ शास्त्र के अनुकूल अर्थ से सम्पन्न मनोरथ से समुद्भव बिना किसी प्रार्थना के अथवा अन्य कारणों से (प्रार्थना) से प्राप्त हुई हो, उसे विद्वान् लोग 'आशीः' नामक लक्षण कहते हैं ॥ २८ ॥

अभिनव—'यथाशास्त्रार्थसम्पन्नम्' इत्यादि के द्वारा आशीः का निरूपण करते हैं । यथा—

"शिवजी की अराधना में स्थित बार-बार पैरों के अग्रभाग पर स्थित किन्तु पयोधरों के भार से झुकी हुई शङ्कर के द्वारा स्पृहा से तीनों नेत्रों से देखी गई रोमाञ्च, स्वेद (पसीने) एवं कम्पन से युक्त होने के कारण लज्जित पार्वती जी के द्वारा शिव जी के सिर पर चढ़ाई गई किन्तु बीच में ही बिखर जाने वाली पुष्पाञ्जलि आप लोगों की रक्षा करें।"

---

१. क. यथा शास्त्रार्थसम्पन्नं मनोरथसमुद्भवम् ।
२. क. अप्रार्थनीयमन्यम् ।

आदौ यत् क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।
तत् प्रियं वचनं ज्ञेयमाशीर्वादसमन्वितम्[1] ॥ २९ ॥

अन्ये पठन्ति—

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्त्तनम् ।
परापेक्षाव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥

प्रसिद्धानां देवतादीनां परापेक्षा साध्याकांक्षा तस्माद् व्युदासस्ततसम्पत्त्या । अत एव दृष्टान्तादस्य भेदः इति ॥ २८ ॥

अथ प्रियं—

आदौ यत्क्रोधजननमिति । यथा—

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थः
तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्यां
उन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

यहाँ पर 'आशीः' अलङ्कार लक्षण नहीं हैं, क्योंकि यहाँ स्तुति ही वर्णनीय है। जहाँ पर परापेक्षा को दूर करने के लिए प्रसिद्ध आर्यों का परिकीर्त्तन किया जाता है उसे 'निदर्शन' कहते हैं ॥ २८ ॥

विशेष—आशीः के स्थान पर 'निदर्शन' पाठभेद भी मिलता है ।

२६. प्रियवचन (प्रियोक्ति)

अनुवाद—प्रारम्भ में जो क्रोध का जनक हो और अन्त में हर्ष का वर्धक हो तो उस आशीर्वाद से समन्वित वचन को 'प्रियवचन' या 'प्रियोक्ति' कहते हैं ॥ २९ ॥

अभिनव—अब 'आदो यत्क्रोधजनम्' इत्यादि के द्वारा 'प्रियवचन' को कहते हैं। जैसे—

"दूसरे के घर की बातों से मुझे क्या मतलब है किन्तु मैं चुप रहने में समर्थ नहीं हूँ अर्थात् चुप नहीं रह सकता। क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव है कि वे स्वभावतः मुखर होते हैं। घर-घर में, बाजार-बाजार में, चौराहों पर, पानगोष्ठियों में आप की वल्लभा कीर्ति उन्मत्त हुई सी घूम रही है अर्थात् सब जगह आप की कीर्त्ति फैल गई है।'

---

१. क. एतल्लक्षणं याञ्चायाश्च समानकल्पत्वात् केचित्पठन्ति—
विनष्टे तु यदा द्रव्ये ह्युपलब्धिः पुनश्चया ।
सुखमुत्पद्यतेऽतीव सा प्रीतिरिति कीर्तिता ॥

अत्र भ्रमति वल्लभेत्यादौ क्रोधजननं हन्त कीर्तिरिति हर्षकृत् ।

अन्ये पठन्ति—

वाच्यमर्थं परित्यज्य दृष्ट्यादिभिरनेकधा ।
अन्यस्मिन्नेव पतनादाशु भ्रंशः स उच्यते ॥ इति ॥

दृष्टिवर्शनं, प्रकृतिमुखरादिवाक्यमिति पूर्वोक्तमित्यर्थः । न चेयं व्याजस्तुतिः निन्दाभागे स्तुतेरभावात् । पूर्णायास्तु निन्दाया अभावात् । यथा वा—

"प्रद्योतस्य सुता" इत्युक्त्वा वसन्तकं विप्रतारयितुं राजा वसन्तशब्दमाचष्टे। मधोश्च समयः इत्याकर्णने प्रसूनसमय इत्यनादृत्य निवृत्त्यङ्कुरेण हृष्यति विदूषके, समय इतिशब्देनान्यत्र पतनात्प्रणयक्रोधत्वं चेति प्रियवचनम् । प्रियङ्कर इति लोक एतत्सिद्धम् ॥ २९ ॥

आपकी वल्लभा (प्रिया) सब जगह घूमती है, आरम्भ में यह कहना क्रोध का जनक है किन्तु तदनन्तर 'हन्त कीर्त्तिः' यह ऐसा कहना हर्षजनक है अतः यहाँ 'प्रियवचन' लक्षण है।

अन्य लोग प्रिय-वचन के स्थान पर 'भ्रंश' नामक लक्षण मानते हैं। तदनुसार—"इष्ट आदि के द्वारा अनेक प्रकार से प्राप्त हुए, वाच्य अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में जो पतन है, उसे 'भ्रंश' कहते हैं।"

यहाँ पर दृष्टि का अर्थ दर्शन है। प्रकृतिमुखरादि वाक्य पहिले कहा जा चुका हैं। यहाँ व्याजस्तुति नहीं है। क्योंकि निन्दा के अंश में स्तुति नही होती। यहाँ निन्दा का पूर्ण अभाव होने से स्तुति नहीं है। जैसे—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रधाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

इस श्लोक के तृतीय चरण में 'यह प्रद्योत की सुता' ऐसा कहकर वसन्तक को ठगने के लिए राजा 'वसन्त' शब्द की व्याख्या करता है। मधु (वसन्त) का समय है' ऐसा सुनने पर 'प्रसून का समय है' इस अर्थ का अनादर करके 'अङ्कुरो का उद्गम समझकर प्रसन्न हो रहे विदूषक का 'समय' शब्द से अन्यत्र भाव के चले जाने पर 'प्रणयकोप प्रमुख प्रियवचन है, लोक में 'प्रियकारी' यह प्रसिद्ध है।

[1]छलयुक्त्या त्वन्येषामभिसन्धानाभिभावकं कपटम् ।
द्वित्रिप्रयोगयुक्तौ विज्ञेयः कपटसङ्घातः ॥ ३० ॥

अथ कपटं

छलयुक्त्येति । व्याजप्रयोगेण अभिसन्धानं वञ्चना । अभिभावकं तिरस्कारकं । छलोक्त्या कथितस्यार्थस्यान्यथाग्रहणं अपलापो वा कपटं, तस्य सङ्घातो लक्षणम् । कपटो वस्तुक्रमाद्दैवाच्छत्रोर्वा समुद्भूतः । वस्तुक्रमोद्भूतस्य मालतीमाधवे मकरन्दस्य मालतीवेषधारणं, दैविकस्य नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडच्छलनं, शत्रुकृतस्य तु छलितरामे लवणासुरप्रयुक्तयो राक्षसयोर्मन्थरा-कैकेय्योर्वेषधारणं, सीतया अन्तर्वन्त्याः निर्वासनं च कृतम् । यथा वा कृत्याराबणे प्रथमेऽङ्के सीतावेषधारिण्या शूर्पणखा लक्ष्मणो वञ्चितोऽभिभूतश्च "ता सव्वहा अण्ण एव्व दे अणिट्ठं अभिप्पाअं लक्खेमि" इत्यादिना वचनेन ।

२७. कपटसङ्घात

अनुवाद—छल की युक्ति से अर्थात् किसी व्याज से दूसरे को ठगकर तिरस्कार करने वाले भाव को 'कपट' कहते हैं और उसके दो-तीन बार प्रयोग को 'कपटसङ्घात' कहते हैं ॥ ३० ॥

अभिनव—अब 'छलयुक्त्या' इत्यादि के द्वारा 'कपटसङ्घात' का कथन करते हैं। किसी बहाने से अभिसन्धान (वञ्चना) अथवा तिरस्कार अर्थात् छलपूर्वक उक्ति से कहे हुए अर्थ को अन्यथा ग्रहण करना अथवा अपलाप करना 'कपट' कहलाता है और उसका सङ्घात 'लक्षण' है। कपट वस्तु क्रम से अथवा देव से अथवा शत्रु के प्रयोग से उद्भूत होता है। इनमें वस्तु क्रम से उद्भूत कपट का उदाहरण जैसे—मालतीमाधव में मकरन्द का मालती का वेष धारण करना। दैवोद्भूत कपट का उदाहरण जैसे—नागानन्द नाटक में जीमूत वाहन का शंखचूड़ को छलना। शत्रुकृत कपट का उदाहरण जैसे –'छलितराम' नाटक में लवणासुर द्वारा प्रेषित राक्षसों का मन्थरा और कैकेयी का वेष धारण करना तथा गर्भवती

१. क. (टि०) छलयुक्त्या यदान्येषां मत्वा नायकभावनम् ।
द्वित्रि प्रयोगयुक्तेव ज्ञेयं कपटसंज्ञितम् ॥
भोजदेवः—
अदिव्यं दिव्यमपि वा कृत्वा रूपविपर्ययम् ।
अविद्वान् वञ्चयते येन कपटं तदुदाहृतम् ॥
"छलोक्त्या कथितार्थस्य कपटोऽन्यादृशग्रहः । इति केचित् ।

दुर्जनोदाहृतै रुक्षैः [1]सभामध्येऽतिताडितः।
अक्रोधः क्रोधजननैर्वाक्यैर्यः सा क्षमा भवेत् ॥ ३१ ॥

अन्ये पठन्ति—
यत्र संकीर्तयन्दोषं गुणमर्थेन योजयेत्।
गुणातिपाताद्दोषं वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥ इति ॥
तदित्रविधमपि वागुपचारसामान्याच्छलमत्र स्वीकृतम् ॥ ३० ॥

अथ क्षमा—

दुर्जनोदाहृतैरिति। दुर्जनोक्तैर्वचनैः क्रोधजननैः सभायां ताडितोऽपि यः पुरुषोऽक्रोधनः क्रोधहीनः स एव क्षमावान्। तद्वर्णनोचितः कविव्यापारः क्षमेत्यर्थः। अनेन च यथोचिताभिन्नवृत्तिसंचयः सर्वो विभावाद्युचितो निर्वर्त्यमानः काव्यलक्षणत्वेन सूचितः।

सीता का निर्वासन कराना। अथवा जैसे 'कृत्यारामायण' नाटक के प्रथम अङ्क में सीता का वेष धारण करने वाली सूर्पणखा के द्वारा लक्ष्मण को **"ता सव्वहा अण्ण एव्व दे अणिबंद्धं अभिप्पाअं लक्खेमि। तत्सर्वथा अन्यमेव तेऽनिबन्धमभिप्रायं लक्षयामि"** इत्यादि कथन के द्वारा वञ्चित एवं तिरस्कृत करना।

अन्य लोग इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठ मानते हैं—"जहाँ पर दोषों का कथन करते हुए गुणों के रूप में वर्णित कर दिया जाय अथवा गुणों के अतिपात से दोष का वर्णन किया जाय, वहाँ 'गर्हण' नामक लक्षण समझना चाहिए।"

इस प्रकार तीनों प्रकारों को वाणी के उपचार सामान्य से 'छल' कहा गया है।

विशेष—भोज ने कपट का लक्षण निम्नलिखित रूप में दिया है—

अदिव्यं दिव्यमपि वा कृत्वा रूपविपर्ययम्।
अविद्वान् वञ्च्यते येन कपटं तदुदाहृतम् ॥

जहाँ पर दिव्य अथवा अदिव्य रूप को धारण कर अथवा रूप का विपर्यय (परिवर्तन) करके किसी अविद्वान् पुरुष को ठगा जाता है, उसे 'कपट' कहा जाता है।

२८. क्षमा

अब 'दुर्जनोदाहृतैः' इत्यादि के द्वारा क्षमा का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—दुर्जनों के द्वारा कहे हुए रूखे और क्रोधजनक वाक्यों से सभा के मध्य में अभिताड़ित (अपमानित) होकर भी क्रोध न करना 'क्षमा' कहलाता है ॥ ३१ ॥

१. क. सतां मध्येऽभिताडितः।

क्षमा यथा ममैव—

श्रोत्राय दुष्टवचनं प्रति किं न कोपः
क्षोभं करोति हृदये ननु कोप एव ।
मित्रं ममैष तु निजात्मनि योऽपकारं
कृत्वा ममाशुभकलङ्कविघातहेतुः ॥

अन्येषां पाठः—

सिद्धान् बहून् प्रधानार्थांस्त्यक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम् ॥

सिद्धानिति लोकप्रसिद्धान्प्रधानभूतानशक्यापजयांस्त्यक्त्वानादृत्य क्रोधाद्यद्वचनं विशेषेण युक्तं, यथा 'ममायं' परिवादः सुहृत्प्रत्ययः इति स्वात्मनि क्षोभः पुण्यादिकमुररीकृत्यापि ममापुण्यसंचयं दुःखोपभोगदानेन शमयति ॥ इति ॥ ३१ ॥

अभिनव—दुर्जनों के द्वारा कहे हुए क्रोधजनक वचनों से सभा में ताड़ित होने पर भी जो पुरुष क्रोध नहीं करता, वही क्षमावान् है। उस पुरुष के योग्य कवि का व्यापार 'क्षमा' है। इससे यह सूचित होता है कि औचित्य के अनुरूप विभावादि के उपयुक्त भिन्न-भिन्न वृत्तियों का सभी प्रकार के सञ्चय काव्य लक्षण के रूप में संग्राह्य है।

'क्षमा' का उदाहरण जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) यह पद्य है—

"कानों को बुरा वचन सुनकर क्या क्रोध नहीं होता ? किन्तु जो हृदय में क्षोभ उत्पन्न करता है, वह कोप है और जो अपना उपकार करके भी मेरे अशुभ कलङ्क को विनाश का हेतु है वही मेरा मित्र है।"

कुछ लोग इस लक्षण के स्थान पर निम्नलिखित पाठ मानते हैं—

"जहाँ पर लोकप्रसिद्ध बहुत से प्रधान अर्थों को छोड़कर विशेषता से युक्त वचनों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'विशेषण' समझना चाहिए।"

यहाँ 'विद्वान्' का अर्थ है लोकप्रसिद्ध। जहाँ पर लोक में प्रसिद्ध प्रधानभूत जिसे तिरस्कृत करना अशक्य है, ऐसे अर्थों को छोड़कर (अनादर करके) क्रोध से विशेषता से युक्त जो वचन कहा जाता है वह विशेषण है। जैसे—'मेरा यह' परिवाद, मित्र का विश्वास है, ऐसा समझना, इससे अपने आत्मा में क्षोभ होना मेरा पुण्य है। ऐसा स्वीकार करके मेरे दुःख के उपभोग के बाद मेरे पाप का संचय (मेरे पापों) का शमन होता है ॥ ३१ ॥

दृष्टवैवावयवं 'कञ्चिद्भावो यत्रानुमोयते'[2] ।
प्राप्ति तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ ३२ ॥
अकार्यं सहसा कृत्वाऽकृत्वा कार्यमथापि वा ।
सन्तापो मनसो यस्तु पश्चात्तापः प्रकीर्तितः[3] ॥ ३३ ॥

अथ प्राप्तिः—

दृष्ट्वैवावयवं कञ्चिदिति । यथा—

अभ्युन्नतां पुरस्तादवगाढ़ा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥

अथ पदपङ्क्तिलक्षणमंशं दृष्ट्वाऽनयात्र भवितव्यमिति शकुन्तलाया सद्भावोऽनुमीयत इति ॥ ३२ ॥

२९. प्राप्ति

अब 'दृष्टेवावयवम्' इत्यादि के द्वारा 'प्राप्ति' नामक लक्षण का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर किसी अवयव को देखकर भाव का अनुमान कर लिया जाता है, नाटक में उसे 'प्राप्ति' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का उदाहरण जेसे—

"पीली रेतों से युक्त इस लता मण्डप के द्वार पर आगे की ओर उठी हुई और जघन के भार से पीछे को ओर गहरी धँसी हुई नवीन पदपंक्ति दिखाई दे रही है।"

यहाँ इस पदपंक्ति रूप लक्षण को देखकर यहाँ पर शकुन्तला होगी। इस प्रकार शकुन्तला के सद्भाव (होने) का अनुमान करते हैं, अतः यहाँ पर 'प्राप्ति' नामक लक्षण है ॥ ३२ ॥

३०. पश्चात्ताप

अब 'अकार्यं सहसा' इत्यादि के द्वारा 'पश्चात्ताप' नामक लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—सहसा किसी न करने योग्य कार्य को करके अथवा करने योग्य (करणीय) कार्य को न करके जो मन में सन्ताप होता है, उसे 'पश्चात्ताप' नामक लक्षण कहा जाता है ॥ ३३ ॥

१. क. किञ्चिद्भावो । २. क. (टि०) यत्रोपमीयते ।
३. क. (टि०) स उच्यते ।

[1]प्रश्रयेणार्थसंयुक्तं यत्परस्यानुवर्तनम् ।
स्नेहाद्दाक्षिण्ययोगाद्वा सानुवृत्तिस्तु संज्ञिता ॥ ३४ ॥

अथ पश्चात्तापः—

अकार्यं सहसा कृत्वेति । सहसेत्यविचार्य अकार्यं कृत्वा यथा—

अङ्गुलिशुकाहमिस इदोसल उप्पन्ना ।
जस्सकबलजो भूतभूहि भुब ओहिण्णो ॥

कार्यमकृत्वा यथा—

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ।

इति । शाकुन्तले ।

अन्ये पठन्ति—

अनेकार्थविचारस्तु विचारः परिकीर्तितः । इति ।

अनेकस्य कार्यरूपस्यार्थस्य कृताकृतस्य विचारः किमेतत्कृतमिति ॥ ३३ ॥

अभिनव—सहसा का अभिप्राय है कि बिना विचार किये किसी न करने योग्य कार्य को करके पश्चात्ताप करना । जैसे—'अंगुलिशुकाहमिस' इत्यादि । यहाँ अर्थ अस्पष्ट है । तथा किसी करने योग्य कार्य को न करके पश्चात्ताप करना । जैसे—"सुन्दर नेत्रों वाली नायिका के कन्धे को ओर मुड़े हुए मुख को किसी प्रकार ऊपर उठाया, किन्तु चूम नहीं सका ।"

अन्य लोग पाश्चात्ताप के स्थान पर निम्नलिखित पाठ मानते हैं—"अनेक अर्थों के सम्बन्ध में विचार करना 'विचार' नामक लक्षण कहा जाता है ।"

यहाँ पर अनेक कार्यरूप अर्थ के सम्बन्ध में किया जाना और 'न किये जाने' का विचार क्या मैंने ऐसा किया है ? ॥ ३३ ॥

३१. अनुवृत्तिः

अब अनुवृत्ति का लक्षण बतलाते हैं—

अनुवाद—जब प्रश्रय (प्रणय) से, स्नेह अथवा दाक्षिण्य के योग से जो दूसरे का अर्थयुक्त अनुवर्तन किया जाता है उसे 'अनुवृत्ति' कहते हैं ॥ ३४ ॥

---

१. क. (भ.) लक्षणान्तरमुपलभ्यते । यथा—
लक्षणामनुनिर्देशो विज्ञेयः संग्रहस्तथा ।
चित्रार्थं समवायो यः सोऽर्थं इत्यभिधीयते ॥

अथानुवृत्तिः—

प्रश्रयेणार्थसंयुक्तमिति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

> राज्ञा यद्यनुरुध्यसे यदि भवेद्वाच्यं पुरा मादृशां
> तत्संक्रन्दनगोप ! किञ्चन मनाक् पृच्छत्यधीरो जनः।
> अग्रे रोहणचारिणां सरभसं संचूर्यमाणश्चिरं
> कं प्रत्याययितुं प्रयासरसिको यत्नेन रत्नायसे॥

अप्रस्तुतप्रशंसात्वेऽपि हि यदप्रस्तुतस्य शरीरवैचित्र्यं तल्लक्षणकृतमेव, लक्षणं हि शरीरमित्युक्तम्। कटकाद्यैरपि हि यद्वैचित्र्यं कुशलसुवर्णकारोत्प्रेक्षितं तल्लक्षणमहिम्नैव। तत्तेनोपमानशरीरस्योपमेयशरीरस्य वा वैचित्र्यं लक्षणानामेव व्यापारः इत्येवमुपमारूपकादीपकानां त्रयाणामलङ्कारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षणयोगात् लक्षणानामपि चैकद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदादानन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्। इदानीं शतसहस्रस्त्राणि वैचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्।

अभिनव—अभिनवगुप्त भट्टेन्दुराज का पद्य उदाहरण के रूप प्रस्तुत करते हैं—

"राजा यदि अनुरोध करते हों और मेरे जैसे व्यक्तियों के समक्ष कथनीय हो तो हे इन्द्रकीट! यह अधी रजन कुछ पूछता है कि पर्वत पर रोहण करने वालों के सामने सहसा चूर-चूर किये जाने पर भी प्रयास करने में रसिक तुम किसको विश्वास के साथ समझाने के लिए बड़े प्रयत्न से अपने को रत्न के समान मान रहे हो।"

यहाँ पर अप्रस्तुत प्रशंसा के होने पर भी अप्रस्तुत का जो शरीरगत वैचित्र्य है वह लक्षणकृत ही है। क्योंकि लक्षण ही शरीर है, यह कहा जा चुका है। कटक आदि के द्वारा भो जो विचित्रता कुशल स्वर्णकारों द्वारा उत्प्रेक्षित है, वह भी लक्षण की मरिमा से ही है। इसी प्रकार उपमान शरीर का अथवा उपमेय शरीर का जो वैचित्र्य है वह भी लक्षणों का ही व्यापार है। इस प्रकार अलङ्कार के रूप में कहे जाने वाले उपमा, रूपक, दीपक इन तीनों में से प्रत्येक का ३६ लक्षणों के योग से लक्षणों के भी एक, दो तीन आदि अवान्तर भेद होने से अनन्त भेद होते हैं, उनको गणना कौन कर सकता है ? इस समय धारकों प्रकार के वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा सहृदय लोग कर सकते हैं।

[1]प्राप्तानां यत्र दोषाणां क्रियते शमनं पुनः।
[2]सा ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ ३५ ॥

परे त्वधीयते—

उभयोः प्रीतिजननो विरुद्धाभिनिवेशयोः।
अर्थं प्रसादजनको ज्ञेयस्त्वनुनयो बुधैः ॥ इति ॥

उभयोरत्र वक्तृवाच्ययोस्तयोश्च विरुद्धाभिनिवेशः। एकस्य तत्त्वविश्रान्तता अपरस्य त्विषा रत्नवदाचरितमिति ॥ ३४ ॥

अथोपपत्तिः—

प्राप्तानां यत्र दोषाणामिति। प्राप्तानामिति वीप्सागर्भो निर्देशः दोषाणामित्युपपत्त्ययोगदृष्टत्वेनावस्तुभूतानामित्यर्थः। यथा—

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति।
स्वर्गायोत्पतिता भवेत् मयि पुनर्भावाद्रभस्या मनः ॥
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च शक्तः पुरोवर्त्तिनीं।
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥

अन्य लोग तो 'अनुवृत्ति' के स्थान पर 'अनुनय' का कथन करते हैं—

"जो परस्पर विरुद्ध अभिनिवेश रखने वाले दो व्यक्तियों के प्रीति का जनक होते हुए अर्थ का साधक लक्षण है, उसे विद्वानों को 'अनुनय' समझना चाहिए।"

यहाँ पर 'उभयोः' पद वक्ता और वाच्य का बोधक है। क्योंकि उन दोनों में विरुद्ध अभिनिवेश होता है। उनमें एक को तत्त्व में विश्रान्ति है और दूसरे की कान्ति से रत्न के सदृश आचरण है ॥ ३४ ॥

३२. उपपत्ति

अब 'प्राप्तानां यत्र दोषाणां' इत्यादि के द्वारा उपपत्ति नामक लक्षण का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर प्राप्त दोषों का शमन किया जाता है, उसे नाटकाश्रित 'उपपत्ति' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ३५ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'प्राप्तानाम्' में वीप्सासागर्भ निर्देश है। 'दोषाणाम्' का का अर्थ है उपपत्ति के योग के न दिखाई देने से अवस्तुभूत अर्थ। जैसे विक्रमोर्वशीय नाटक के पद्य में—

---

१. क. (भ०) प्रोक्तानां।
२. क. ज्ञेया सा। ३. क-म. सप्तानो।

यथा वा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥ इति ॥
(विक्रमोर्वशीयम्)

अन्ये त्वधीयते—

परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते।
विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥ तद्दि ॥

शास्त्रार्थशब्दः प्रमाणोपलक्षणम्। स्वन्तमिति शोभनोऽन्तो निश्चयो यत्र ॥ ३५ ॥

"मेरे ऊपर कोप करने के कारण अपने दिव्य प्रभाव से कहीं छिप गई होगी, किन्तु अधिक देर तक वह कुपित नहीं रह सकती। शायद स्वर्ग में उड़ गई हो, किन्तु उसका मन तो मुझमें पूर्णरूप से आर्द्र है, मेरे सामने देवता शत्रु राक्षस भी उसे हरण करने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी वह मेरे आँखों से एकदम ओझल हो गई, यह कैसा व्यवहार है ?"

और भी जैसे—

"यहाँ तो अप्सरा में आसक्ति रूप अकार्य और कहाँ चन्द्र का उज्ज्वल वंश ? क्या वह फिर कभी दिखायी देगी ? दोषों के शमन के लिए हमारे शास्त्र हैं। अरे ! क्रोध में भी उसका मुख नितान्त सुन्दर है। निष्पाप पूज्यजन मुझे क्या कहेंगे ? किन्तु स्वप्न में भी वह दुर्लभ है। हे चित्त ! तुम स्वस्थता एवं धैर्य धारण करो। कौन युवक है जो उसके अधरामृत का पान करेगा ?"

और अन्य लोग तो निम्नलिखित पाठ कहते हैं—

"जहाँ पर शास्त्र के अर्थ को ग्रहण कर विद्वानों के मन की आकर्षित करने वाला अन्तः सुखद जो वाक्य कहा जाता है, उसे 'उपदिष्ट' कहते हैं।"

यहाँ पर शास्त्रार्थ शब्द प्रमाण का उपलक्षण है। स्वन्तं का अर्थ है सुन्दर (सुखद) अन्त निश्चय जहाँ हो ॥ ३५ ॥

साध्यते योऽर्थसम्बन्धो महद्भिः समवायतः ।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः [१]परिकीर्तिता ॥ ३६ ॥

अथ युक्तिः—

साध्यते योऽर्थसंबन्धः इति । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलकाण्डमृणालदण्डाः ॥

अत्र महद्भिरुत्कृष्टैर्नेत्रवदनादिभिः परस्परशोभात्मकानुकूल्योपलक्षितेन समवायेनैकविश्रान्त्यर्थः संबध्यमान उपपद्यमानोऽपूर्वतरङ्गिणीलक्षणः साधित इति योजनादियं युक्तिः । प्रतीयमानं रूपकमत्रेति चेत्, किं ततः; शरीरं लक्षणमयमेवेत्युक्तमसकृत् । एकीय पाठः—

---

३३. युक्ति

अब 'साध्यते योऽर्थसम्बन्धो' इत्यादि के द्वारा 'युक्ति' का विवेचन करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर महापुरुष परस्पर अनुकूलता के आधार पर समवाय रूप से अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध करते हैं उसे 'युक्ति' कहते हैं ॥ ३६ ॥

अभिनव—जैसे—

"यह कोई दूसरा हो लावण्य-सिन्धु है जहाँ चन्द्रमा के साथ कमल भी तैर रहे हैं जिसमें हाथियों की कुम्भतटी उन्मग्न हो रही है और कदल-काण्ड तथा मृणालदण्ड (कमल नाल) भी बह रहे हैं ।"

यहाँ पर उत्कृष्ट नेत्र, वदन आदि परस्पर शोभात्मक एवं अनुकूलता से उपलक्षित समवाय (एक विश्रान्ति) से उपपन्न सरिता रूप अपूर्व लक्षण सिद्ध किया गया है । इस प्रकार की योजना के कारण यह 'युक्ति' है । यदि कहा जाय कि यहाँ रूपक प्रतीत हो रहा है तो इससे क्या ? शरीर लावण्यमय होता है, यह तो कई बार कहा जा चुका है ।

एक अन्य पाठ भी है जिसमें 'युक्ति' के स्थान पर 'अभिप्राय' पाठ मिलता है—

---

१. क-भ. पुस्तके लक्षणमिदं न परिगणितम् ।

[1]यत्रापसारयन् दोषं गुणमर्थेन योजयेत् ।
[2]गुणाभिवादं दोषान् वा कार्यं तल्लक्षणं विदुः[3] ॥ ३७ ॥

अभूतपूर्वो ह्यर्थो यः सादृश्यात्परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इतीरितः ॥ इति ॥ ३६ ॥

अथ कार्यम्—

यत्राऽपसारयन् दोषमिति । दोषमपसार्य गुणं यदात्वेऽर्थनीये नियोजयति गुणाभिवादं वापसार्य दोषानर्थं योजयति, आश्रित्य नेतार्थं योजयतीत्यर्थः। प्रथम उदाहरणं यथा—

"तावत्स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताश्लेषोऽध्वगैर्वर्जनम्" । इत्यादि

"जो अभूतपूर्व कोई पदार्थ सादृश्य के कारण परिकल्पित और लोगों के हृदय को आकर्षित करने वाला है, उसे 'अभिप्राय' कहा गया है।"

यहाँ पर अभूतपूर्व का अर्थ असत् पदार्थ है ।

३४. कार्य

अब 'यत्रापसारयन्' इत्यादि के द्वारा 'कार्य' नामक लक्षण का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर किसी पदार्थ या व्यक्ति के दोषों को दूर करके उसके साथ गुणों की योजना की जाय अथवा गुणों का अपसारण कर दोषों की योजना की जाय, उसे 'कार्य' नामक लक्षण कहा गया है ॥ ३७ ॥

अभिनव—जहाँ पर दोष को दूर कर गुण का तात्कालिक अर्थनीय पदार्थ नियोजन करें अथवा गुणों को हटाकर दोषों का किसी अर्थनीय पदार्थ में नियोजन करे अर्थात् दोष का आश्रयण करके उसके साथ अर्थ की योजना करें। इसमें प्रथम का उदाहरण जैसे—

"पथिक लोग मार्ग में स्थित वृक्ष के साथ लता के आलिङ्गन को कामोत्तेजक होने से देखने की इच्छा नहीं करते, क्योंकि अपने विषय में कामोत्तेजक होना अच्छा नहीं समझते।"

यहाँ पर लता-वृक्ष का कामोत्तेजक आलिङ्गन देखना दोष है और उसे न देखना गुण है ।

१. क. (टि०) यत्र संकीर्तयन् दोषं । यत्र संकीर्त्य दोषास्तु ।
२. क. (भ.) गुणकीर्त्तिते हि दोषं ।
३. क. (टि०) तदिह कीर्त्तितम् । क. (म०) कार्या तल्लक्षणं विदुः ।

[1]अपूर्वक्रोधजनितमपराधं प्रमृज्य[2] यत् ।
सेवार्थं मधुरं वाक्यमनुनीतिः प्रकीर्तिता ॥ ३८ ॥

द्वितीये ममैव—

विश्वप्रभो ? वितरतां कमलां किमन्यद्
भूयात्स कोऽपि घटितो भवतोपकारः ।
दूराध्वगेषु पुनरम्बु तथा विकीर्ण-
मन्ते तथा त्रिभुवने प्रसृतं यशस्ते ॥

एतत्कैश्चिद्गहनमित्युक्तम् । अन्ये त्वधीयते—

अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसंपन्ना सार्थापत्तिरिति स्मृता ॥ इति ।

अत्र हि महांस्त्वयास्योपकारः कृतः, अध्वगानां च महदम्बु दत्तमित्युक्ते विश्वप्रभो ! इति पुनरिति पर्यालोचनादर्थान्तरस्यापत्तिः ॥ ३७ ॥

द्वितीय का उदाहरण जैसे—

"विश्व के स्वामी ! कमला (लक्ष्मी) को ही हमें दीजिए, औरों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि कमला (लक्ष्मी) के देने से आप के द्वारा मेरा महान् उपकार होगा ? हे प्रभो ! दूरस्थ पथिकों के लिए ऐसा जल प्रदान कीजिये जिससे तीनों लोक में आप का यश फैल जाय, यही अन्त में करणीय है ।"

यहाँ पर आपने इसका महान् उपकार किया, पथिकों के लिए महान् जल प्रदान किया—इस प्रकार कहने के बाद हे प्रभो ! इस अर्थ को पर्यालोचना से 'कार्य' रूप अर्थ की प्राप्ति हो जाती है ।

कुछ लोग उसे गहन (गर्हण) कहते हैं । अन्य लोग ऐसा कहते हैं—

"जहाँ पर अर्थान्तर के कहने पर अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे वाक्य के माधुर्य से सम्पन्न 'अर्थापत्ति' कहते हैं ।"

यहाँ पर आपने इसका महान् उपकार किया, पथिकों को बहुत सा जल दिया, ऐसा कहने के बाद हे विश्वप्रभो ! इसके और पुनः इसके पर्यालोचन करने से अर्थान्तर की आपत्ति है ॥ ३४ ॥

३५. अनुनीति

इसके बाद 'अनुनीति' नामक लक्षण का निरूपण कराते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर अपूर्व क्रोध से उत्पन्न अपराध का परिमार्जन करके सेवा के लिए जो मधुर वाक्य कहा जाता है, उसे 'अनुनीति' कहते हैं ॥ ३८ ॥

---

१. क. (टि०) अपूर्वक्रोध जननं । अपूर्वक्षोभजननं ।
२. क. (टि०) प्रमार्जयेत् ।

[1]दोषैर्यत्र्वन्यनामोक्तैः प्रसिद्धार्थैः [2]प्रयोजयेत् ।
अन्यत्रार्थेन [3]सम्बद्धं ज्ञेयं तत् परिदेवनम्[4] ॥ ३९ ॥

अथानुनीतिः—

अपूर्वक्रोधजनितमिति। अपूर्वस्य सातिशयस्य क्रोधस्य जननाय योऽपराधस्तम् । यथा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे, न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे । (रत्नावली २,२०)

अन्ये पठन्ति—

वाक्यैः सातिशयैर्युक्तो वाक्यार्थः सप्रसाधकैः ।
लोकप्रसिद्धैर्बहुभिः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ इति ॥ ३८ ॥

अभिनव—'अपूर्व' का अर्थ है अतिशय अर्थात् अतिशय तीव्र क्रोध को उत्पन्न करने के लिए जो अपराध है, उसे दूर करने के लिए जो मधुर वाक्य का प्रयोग है उसे अनुनीति कहते हैं । जैसे—

"आप प्रसन्न हो जाँय' यदि ऐसा कहता हूँ तो यह कथन आपके बिना बनता नहीं। यदि यह कहूँ कि फिर मैं ऐसा नहीं करूँगा तो यह कहना अपराध स्वीकार कर लेना होगा। यदि मैं यह कहूँ कि मेरा कोई अपराध नहीं है तो यह भी तुम झूठ समझोगी। हे प्रियतमे ! तो इस विषय में क्या कहना उचित है यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।"

अन्य आचार्य इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठ मानते हैं—

"वाक्यार्थ के प्रसाधक लोक-प्रसिद्ध, अतिशय युक्त बहुत से वाक्यों से कहे गये लक्षण को 'प्रसिद्धि' कहते है।"

१. क. (टि०) यद्दोषैरन्य ।
२. क. प्रसिद्धार्थैः प्रयोजयेत् । क. (टि०) प्रसिद्धार्थप्रयोजवम् ।
३. क. (टि०) सम्बन्धं । सम्बन्धो । ४. क. (टि०) परिवादनम् ।

'क' पुस्तके टिप्पण्यां यथा—

"एतदेव परिवादनमिति भोजेनोक्तम् । उदाहृतं च रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के कुपितवासवदत्तानिष्क्रमणानन्तरं राजा विदूषकं परिवादन्नाह—

"धिङ्मूर्ख ! त्वत्कृतोऽयमनर्थोऽस्माकमापतितः" इति परिवेदनमिति देवेश्वरेणोक्तम् । शारदातनयेन तु 'परिवादो मृषादोष' इति लक्षितम् ।

अथ परिदेवनम्—

दोषैर्यदन्यनामोक्तैरिति। यथा बालरामायणे दशरथनाम्ना ये दोषा युक्ता रामनिर्वासनादयस्तैरेव प्रसिद्धार्थैः सद्भिर्यत्प्रयोजितं वचनं तस्य परमार्थेन सम्बन्धो राक्षस एव युक्तो न तु दशरथे। तत्परिदेवितं, "नरेन्द्रे वृद्धे स्त्रीवशः न्यस्तमयशः" इत्यादिना। अर्थेन प्रयोजनेन। येऽन्यनामोक्ता प्रसिद्धार्थाः दोषाः यत्प्रयोजितं संवादितमन्यहृदये संबद्धं संबन्धनं तच्चार्थेन परमार्थत उचितं तत्परिदेवितम्। यथा—

एनां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरो
गाण्डीवेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापतेर्मन्दं
मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डनम्॥

३६. परिदेवन

अब 'दोषैर्यदन्यनामोक्तैः' इत्यादि के द्वारा 'परिदेवन' नामक लक्षण का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—दूसरों के नाम से कहे गये प्रसिद्ध दोषों के साथ प्रयुक्त जो वाक्य अन्य अर्थ से संबद्ध कर दिया जाय तो उसे 'परिदेवन' कहते हैं॥ ३९॥

अभिनव—जैसे, बालरामायण में दशरथ के नाम से जो राम निर्वासन आदि दोष कहे गये है उन प्रसिद्ध दोषों के साथ सत्पुरुषों द्वारा प्रयुक्त जो वचन है उसका राक्षसों के साथ सम्बन्ध जोड़ना उचित है, दशरथ के साथ नहीं, ऐसे वाक्यों का प्रयोग करना 'परिदेवन' है। जैसे—"वृद्ध राजा दशरथ ने स्त्री के वश में हो जाने के कारण अयश को अपने में रख दिया" इत्यादि।

इसके अतिरिक्त किसी प्रयोजन से अन्य के नाम से अभिहित जो अर्थ (दोष) है उनका प्रसिद्ध अर्थों (दोषों) के साथ किया गया सम्वाद अन्य के हृदय में स्थित दोषों का सम्बन्ध है, उसका परमार्थतः किसी अन्य अर्थ के साथ उचित है, इस प्रकार के वाक्यों का कथन 'परिदेवन' है। जैसे—

"सामने इस तटी को देखो, यहाँ पर क्रीड़ा के बहाने किरातवेषधारी भगवान् शिव के मस्तक पर अर्जुन ने गाडीव से वेग के साथ भारी प्रहार किया। इस प्रकार सुभद्रापति अर्जुन के पराक्रम की अद्भुत कथा को सुनकर जिसने हिमालय पर्वत पर धीरे-धीरे अपनी भुजाओं में मण्डन किया।"

तटावलोकनेन प्रयोजनेनात्र धनञ्जयव्यापारो य उक्तस्तेन राजनि कस्मिंश्चिद्दोषसंबन्धो हृदये जनितः "किं तुल्ये मानुषत्वेऽर्जुनपराक्रमन्यूनता मम तत्किं मण्डनया अधिकारस्थानां मद" इति तत्र परमौचित्यख्यापनं प्रयोजनम् । अन्ये पठन्ति—

परदोषैर्विचित्रार्थैर्यत्रात्मा परिकीर्त्यते ।
अनुक्तोऽन्योऽपि वा कश्चित्स तु क्षोभ इतीरितः ॥ इति ॥

परस्य दोषो तैस्यस्तादृशा ये विचित्रा अर्थाः परगुणास्तैर्हेतुभूतैरदृष्टोऽप्यथ आत्मा अन्य इति दृष्टत्वेन कीर्त्यते, अन्यो वा कश्चिदात्मव्यतिरिक्त इति क्षोभो हृदयसञ्चलनात् । इयमेवानुक्तसिद्धिः—

प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।
वचनेन विना जातु सिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥ इति ॥

दोर्दण्डमण्डनाकरणप्रस्तावादेव गम्यते पौरुषातिशयदर्पादि सर्वम् । एष चोत्कृष्टानामेवाभिप्रायो भवतीति प्राप्यत्वादन्ते लक्षणमिदमुक्तम् ॥ ३९ ॥

यहाँ पर तट के अवलोकन के उद्देश्य से धनञ्जय का जो व्यापार बतलाया गया हैं उससे किसी राजा के हृदय में दोष का सम्बन्ध (ईर्ष्या) उत्पन्न हो गया—"दोनों में मानुषत्व बराबर होने पर भी मेरी अर्जुन के पराक्रम से न्यूनता है तो इस मण्डन से अधिकार-स्थित लोगों को क्या मद होगा ? इस प्रकार उस विषय में परम औचित्य का ख्यापन रूप प्रयोजन 'परिवेदन है ।

अन्य लोग इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठ मानते है—

"जहाँ पर कोई विचित्र अर्थ वाले दूसरों के दोषों के द्वारा अदृष्ट अथवा अन्य वस्तु को अपने विषय में कहा जाता है, उसे 'क्षोभ' कहा गया है।"

दूसरे का दोष जिससे ज्ञात हो, उस प्रकार का जो परगुण कथन रूप विचित्र अर्थ है, उसके कारण अदृष्ट आत्मा रूप अर्थ का दृष्ट रूप से कथन है। अथवा आत्मा के अतिरिक्त कोई अर्थ भी है, इस प्रकार हृदय के संचालन से जो 'क्षोभ' होता है, वह 'परिदेवन' है ।

इसी को अनुक्त सिद्धि भी कहते हैं—

"जहाँ विना कहे हो प्रस्ताव के द्वारा ही अवशिष्ट सम्पूर्ण अर्थ को प्रतीति हो जाय, उसे 'अनुक्त सिद्धि' कहा गया है ।

भुजदण्डों के मण्डनाकरण के प्रस्ताव से ही पौरुष के अतिशय प्राप्त दर्पादि सभी का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उस कृष्टों का ही यह अभिप्राय होता है, अतः प्राप्त होने को योग्यता के कारण अन्त में इस लक्षण का कथन किया गया है ॥ ३९ ॥

अथालङ्कारनिरूपणम्

[1]उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥ ४० ॥

अलङ्कारविवेचनम्

एवं कविव्यापारबलाद्यदर्थजातं लौकिकात्स्वभावाद्विद्यमानं तदेव लक्षण-मित्युक्तम् ।

तत्र शरीरकल्पस्यालङ्कारा अधुना वक्तव्याः । तन्निरूपयितुमुद्दिशति उपमेत्यादि ।

काव्ये तावल्लक्षणं शरीरं, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, तथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धौ चञ्चलतया परिवर्तमानत्वात्पृथक्सिद्धेनैव प्रकृतं वर्णनीयं वनितावदनादि सुन्दरी-क्रियत इति तदेवालङ्कारः ।

इस प्रकार कवि-व्यापार के बल से प्राप्त होने वाले जो अर्थ ज्ञात है जो लौकिक स्वभाव से विद्यमान हैं । उसे ही लक्षण कहा गया है ।

विशेष—अन्य पाठों में 'परिदेवन' के स्थान पर 'क्षोभ' तथा 'अनुक्त सिद्धि' पाठ भी मिलते हैं जिनका लक्षण ऊपर दिया जा चुका है । भोज ने 'परिदेवन' को 'परिवादन' कहा है और रत्नावली का उदाहरण प्रस्तुत किया है । रत्नावली के तृतीय अङ्क में कुपित वासवदत्ता के चले जाने पर राजा विदूषक से विलाप करते हुए या दोष देते हुए कहता है—'अरे मूर्ख ? धिक्कार है । तुम्हारे कारण ही यह महान् अनर्थ मेरे ऊपर आ पड़ा है ।' (धिङ्मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमनर्थोऽस्माकमापतितः) सर्वेश्वर ने परिदेवन के स्थान पर 'परिवेदन' पाठ माना है । शारदातनय ने 'परिवाद' पाठ मानते हुए मिथ्यादोष के उपपादन को 'परिवाद' कहा है । (परिवादो मृषा दोषः) ।

अलङ्कार-विवेचन

अभिनव—अब शरीरकल्प लक्षणभूत शब्द और अर्थ के अलङ्कारों का निरूपण करने के उद्देश्य से नामतः उनका कथन करते हैं—उपमा आदि ।

अनुवाद—उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलङ्कार नाटक के आश्रित समझने चाहिये ॥ ४० ॥

विशेष—उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार नाटकाश्रित अलङ्कार कहे गये हैं । पाठभेद से इन चारों अलङ्कारों को काव्याश्रित कहा गया है । काव्य दो प्रकार के होते हैं—दृश्य और श्रव्य । काव्याश्रित अर्थात् दृश्य (नाटक) तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों में ये चारों अलङ्कार होते हैं । किन्तु नाट्यशास्त्र में नाट्य-सम्बन्धी विषयों का विवेचन होने के कारण नाटकाश्रित पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

१. क. उपमादीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥

तस्य च त्रिधा स्थितिः। सम्पूर्णेन स्फुटेन उपमानोपमेयत्वेन, यतोऽत्र वर्ण्यानां संनिधिरुपमानोपमेयद्योतकसाधारणधर्माणां तत्र उपमा। क्वचिदन्तर्लीनेन तेनोपमानोपमेयमेकीक्रियते तत्र रूपकव्यवहारः। तत्र हि पदार्थे प्रयुज्यमानः शब्द इवार्थं गर्भीकरोति न्यायः। क्वचित् एकप्रघट्टकावस्थानबलादुपमागतिः, यथा दीपके। उपमालक्षणं चैतद्वैचित्र्यान्तराणाम्।

उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथा हि—गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात्प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नातिशयोक्तिः, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणानां च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा प्रतिषेधमनोरथयोः सम्मेलनादाक्षेप इति। उपमाप्रपञ्चश्च सर्वोऽलङ्कार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव॥ ४०॥

अभिनव—काव्य में लक्षण शरीर-स्थानीय है और उपमा आदि तीन अलङ्कार (उपमा, रूपक और दीपक) उस लक्षण के अर्थभाग में रहने वाले अलङ्कार हैं। जैसे—जिस प्रकार पृथक्भूत हार से रमणी विभूषित होती है, उसी प्रकार कवि की बुद्धि में चपलता से परिवर्तनीय होने से पृथक् सिद्ध उपमान रूप शशि (चन्द्रमा) अथवा उसके सादृश्य से प्रकृत अर्थात् वर्णनीय वनिता-मुखादि सुन्दर किये जाते है, वे ही अलङ्कार हैं।

उस अलङ्कार की तीन प्रकार की स्थिति है—

१. जहाँ पर उपमानोपमेय भाव की स्थिति सम्पूर्ण या स्फुट रूप में हो, क्योंकि वहाँ पर वर्ण्य, उपमान, उपमान के द्योतक इत्यादि तथा साधारण धर्म की सन्निधि रहती है।

२. जहाँ पर उपमानोपमेय भाव अन्तर्लीन अर्थात् अभिन्न हो जाते हैं अर्थात् उपमान और उपमेय अभेद (एक) हो जाते हैं। तब वहाँ रूपक अलङ्कार का व्यवहार होता है। वहाँ पर पदार्थ में प्रयुज्यमान शब्द इत्यादि अर्थ को गर्भित कर लेता है, यह न्याय है।

३. जहाँ पर दो धर्मियों के एक प्रघट्टक में रहने के बल से उपमा को स्थिति होती है। जैसे दीपक अलङ्कार में। ये भिन्न विचित्रताओं के उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् इस प्रकार की अन्य विचित्रताएँ भी हो सकती हैं।

हमारे उपाध्याय जी का मत है कि लक्षणों के योग से अलङ्कारों में विचित्रता आती है। जैसे कि—लक्षणों के गुणानुवाद नामक लक्षण के प्रयोग से प्रशंसोपामा अलङ्कार होती है, अतिशय नामक लक्षण के योग से अतिशयोक्ति, मनोरथ नामक लक्षण योग से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय लक्षण के योग से अपह्नुति और सिद्धि नामक लक्षण के योग से तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। इसो प्रकार अन्य अलङ्कारों की उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। इनके अतिरिक्त लक्षणों के पारस्परिक वैचित्र्य से अनन्त प्रकार के वैचित्र्य हो जाते। जैसे प्रतिषेध और मनोरथ के सम्मेलन से अशेष अलङ्कार बनता है। सभी अलङ्कार वस्तुतः उपमा के ही प्रपञ्च हैं, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥ ४० ॥

विमर्श—भरत नाटयशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों का विवेचन किया है। ये अलङ्कार काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाले धर्म हैं। इनमें यमक शब्द को अलंकृत करता है और उपमा, रूपक, दीपक—ये तीन अलङ्कार अर्थ-भस्म को अलंकृत करने वाले धर्म हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि जैसे, हार से वनिता (रमणी) सुशोभित होती है उसी प्रकार जहाँ पर पृथक् सिद्ध उपमान से वर्णनीय मुखादि सुन्दर किये जाते है।

अब प्रश्न होता है जिस हारादि से रमणी की सुन्दरता बढ़ती है वह रमणो से पृथक् सिद्ध है और रमणी भी उस हारादि से पृथक् सिद्ध है। किन्तु ये उपमादि अलंकार तो शब्दार्थ रूप वाक्यात्मक काव्य से पृथक् सिद्ध नहीं होते। क्योंकि उपमादि अलंकार काव्य शरीर शब्द और अर्थ में रहते हैं। इसीलिए शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार उपमा व्यवहार की पृथक् परिकल्पना की गई है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं किन्तु शब्द और अर्थ कवि की बुद्धि में चञ्चलता से परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार यह परिवर्तन ही पृथक् है और शरीर पृथक्। अतः अलंकार भी पृथक् हो जाते हैं।

अभिनवगुप्त ने अर्थालंकार को तोन वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वह जहाँ पर उपमान, उपमेय, वाचक शब्द और साधारण धर्म स्फुट रहते हैं। जैसे पूर्णोपमा। द्वितीय वह है जहाँ-जहाँ पर उपमान और उपमेय अभिन्न (एक) होते हैं। जैसे रूपक अलंकार में उपमान और उपमेय से अभिन्नता (अभेद) का आरोप होता है। तृतीय स्थिति वह है जहाँ पर उपमान और उपमेय दो पदार्थों में एक धर्माभिसम्बन्ध होता है। जैसे—दीपक अलंकार में। किन्तु अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्टतौत का कथन है कि लक्षणों के सामर्थ्य से अलङ्कारों में विचित्रता आती है, अतः लक्षणों की परस्पर विचित्रता के कारण अलङ्कार के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। किन्तु समान अलङ्कार उपमा में ही प्रपञ्च है। ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।

यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा[1] ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ ४१ ॥

---

(१) उपमा

तत्रोपमां लक्षयति यत्किञ्चिदिति । काव्यबन्धेषु काव्यलक्षणेषु सत्स्वित्यनेन गौरिव गवय इति हि पर्यायाः । लक्षणं त्वलङ्कारशून्यमपि न निरर्थकम् । भूयांश्चात्रोदाहरणमार्गो दर्शितः ।

गुणशून्यं तु न काव्यं किञ्चिदस्तीति च महापुरुषो दृष्टान्तः अहेत्वप्रदर्शनार्थम् । एवं हि प्रसादादीनां गुणवाचोयुक्त्या व्यवहारः, तद्विना काव्यरूपत्वाभावात् । सुन्दरास्पदं तु शरीरमुपलक्षणम् । उपमाद्यन्तरेण तु भवत्येव काव्यमिति प्रकटीकर्तुमुपमादीनामलङ्कारत्वेन व्यवहारः, न तु लोक इव स्फुटात्र पृथक् सिद्धिरस्ति ।

---

१. उपमा

काव्य का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर काव्य प्रबन्धों में किसी वस्तु की गुण अथवा आकृति पर आश्रित सादृश्य द्वारा उपमा दी जाय, सादृश्य बतलाया जाय, उसे 'उपमा' समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

अभिनव—काव्य लक्षणों के रहने पर इससे यह दिखलाया गया है कि 'गौरिव गवयः' इसमें उपमा अलङ्कार नहीं है । यहाँ बन्ध का अर्थ गुम्फ, भणिति और वक्रोक्ति । ये सब पर्याय हैं । लक्षण अलङ्कार शून्य होने पर भी निरर्थक नहीं हैं । यहाँ उदाहरणों का मार्ग बहुत दिया गया है ।

किन्तु गुण से शून्य कोई भी काव्य नहीं है, इसमें महापुरुष दृष्टान्त हैं । काव्य में गुणों का अहेयत्व (अनिवार्यता) दिखलाने के लिए ही प्रसादादि में गुण शब्द की योजना करके व्यवहार किया है, क्योंकि गुणों के बिना काव्य में काव्यत्व सम्भव हो नहीं है । सुन्दर स्थल तो लक्षण रूप शरीर ही है । (काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्) । उपमा आदि के बिना भी काव्य होता है । इसे बतलाने के लिए उपमादि में अलङ्कार का व्यवहार होता है । अतः स्पष्ट है कि लोक की तरह काव्य में अलंकारों की पृथक् स्थिति नहीं है ।

---

१. ख. विज्ञेया ।

एकस्यैकेन सा कार्या ह्यनेकेनाथवा पुनः ।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ॥ ४२ ॥
तुल्यं ते शशिना वक्त्रमित्येकेऽनेकसंश्रया[1] ।
[2]शशाङ्कवत् प्रकाशन्ते ज्योतोषीति भवेत्तु या[2] ॥ ४३ ॥
[3]एकस्यानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता ।
[4]श्येनबर्हिणभासानां तुल्यार्थं इति या भवेत् ॥ ४४ ॥
एकस्य बहुभिः साम्यादुपमा नाटकाश्रया ।
[5]बहूनां बहुभिर्ज्ञेया घना इव गजा इति ॥ ४५ ॥

तथा हि दण्डिना काव्यशोभावहा धर्मा अलङ्काराः सर्वं उक्ता इति केचित् । यत्किचिदित्यनेनोपमीयत इति क्रियार्थः संबध्यते न कर्म । उप समीपे मानं प्रक्षेपणं निमित्तान्तरैरपि संभवतीत्यत आह—सादृश्येनेति । उपमीयत इत्यनेनेति उपमानोपमेये उक्ते सादृश्येनेति साधारणो धर्मः, गुणः संबन्धः आक्रियते अनेनेति गुणाकृतिः इवादिः शब्दः आश्रीयमाणो यस्यामिति गुणाकृतिसमाश्रया ॥ ४१ ॥

अत्रोदाहरणानि क्रमेण दर्शयति, तेषु लक्षणयोजनं तुल्यं ते इत्यादिना ।

दण्डो ने काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहा है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । 'यत्किञ्चित्' इस पद का 'उपमोयते' इस क्रिया के अर्थ में अन्वय है, कर्म में नहीं । उप अर्थात् समोप में मान अर्थात् प्रक्षेपण निमित्तान्तरों से भो सम्भव है । इसलिए 'सादृश्येन' कहा है । 'उपमीयते' इस पद से उपमेय को कहा है और 'अनेन' पद के द्वारा उपमान का कथन है । 'सादृश्य' पद से साधारण धर्म का निर्देश है । तथा 'गुणाकृतिः' शब्द इत्यादि का बोधक है । उससे आश्रयण जिसमें हो वह 'गुणाकृतिसमाश्रय' है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—एक पदार्थ का एक के साथ तुलना करनी चाहिए । अथवा एक का अनेक के साथ या अनेक का अनेक के साथ अथवा अनेक का एक के साथ तुलना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

अभिनव—अब आत्मा के उदाहरणों को क्रमशः दिखते हैं । इनमें उपमा के लक्षण को योजना 'तुल्यं ते' इत्यादि के द्वारा दिखलाते हैं । जैसे—

१. ख. ग. वाक्यमिति ह्येकक्ता भवेत् ।
२. क. (टि०) चन्द्रवत्सं प्रकाशन्ते ज्योतोषीति द्विजोत्तमाः ।
३. क. (टि०) एकेनानेकविषया । एकेन मात्वनेकेषामुपमा परिकीर्त्तिता ॥
४. क. (टि०) श्येनबर्हिणगृध्राणां तुल्यार्थं इति या भवेत् ।
५. क. (टि०) घना इव गजा यत्र बहूनां बहुभिस्तथा ॥

प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
या किञ्चित्सदृशी ज्ञेया सोपमा पञ्चधा बुधैः ॥ ४६ ॥

प्रशंसा यथा—

दृष्ट्वा तु तां विशालाक्षी तुतोष मनुजाधिपः ।
मुनिभिः साधितां [1]कृच्छ्रात् सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ॥ ४७ ॥

निन्दा यथा—

सा तं सर्वगुणैर्हीनं [2]सस्वजे कर्कशच्छविम् ।
वने कण्टकिनं वल्ली [3]दावदग्धमिव द्रुमम् ॥ ४८ ॥

एवमुपमानोपमेयसंख्याभेदेन तद्भेदानुक्त्वा तद्गतशरीरभेदेन शरीर-भेदानाह—प्रशंसा चैवेत्यादिना ।

अनुवाद—"तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है" यहाँ एक के साथ एक की उपमा दी गई है। 'चन्द्रमा के समान ज्योतियाँ (नक्षत्र) प्रकाशित हैं'। यहाँ एक चन्द्र से अनेक नक्षत्रों को उपमा दी गई है। 'श्येन (बाज), मोर (पाठभेद से गिद्ध) के समान नेत्र' यहाँ पर एक नेत्र को अनेकों के साथ उपमा कथित है। तथा "हाथी मेघों के सदृश हैं" यहाँ पर अनेकों की अनेक के साथ सादृश्य बतलाया गया है ॥ ४३-४५ ॥

अभिनव—इस प्रकार उपमान और उपमेय की संख्या के भेद से उपमा के भेदों को दिखलाकर अब तद्गत शरीर के भेदों को 'प्रशंसा चैव' इत्यादि के द्वारा दिखलाते हैं—

अनुवाद—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सादृशी तथा किञ्चित्सदृशी ये उपमा के पाँच प्रकार हैं ॥ ४६ ॥

१. प्रशंसोपमा

अभिनव—उपमान के प्राशस्त्य से प्रशंसोपमा होती है। जैसे—

अनुवाद—मुनियों के द्वारा अत्यन्त कष्ट से साधित (सिद्ध की गई, प्राप्त) मूर्तिमती सिद्धि के समान उस विशाल पक्षी रमणी को देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ ५७ ॥

---

१. क. (टि०) कृत्वा । २. क. (टि०) संश्रिता पुरुषाधमम् ।
३. क. (टि०) वह्निदग्धामिव ।

कल्पिता यथा—

[1]क्षरन्तो दानसलिलं लोलामन्थरगामिनः।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ॥ ४९ ॥

सादृशी यथा—

यत्त्वयाऽद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिना।
सदृशं तत्तवैव स्यादतिमानुषकर्मणः ॥ ५० ॥

उपमानस्य प्राशस्त्यात्प्रशंसोपमा एव सर्वत्र।

एवमत्र सदृशेन कल्पितः सः।

असदृशीत्यन्ये पठन्ति, व्याचक्षते च सदृश इहोपमेय उच्यते। यथा च व्युत्पत्तिः समान इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यतीति।

---

२. निन्दोपमा

अभिनव—उपमान को निन्दनीयता से 'निन्दोपमा' होती है। जैसे—

अनुवाद—उस नायिका ने सब गुणों से हीन और कर्कश छवि वाले उस पुरुष का उस प्रकार आलिङ्गन किया जिस प्रकार लता कण्टकाकीर्ण दावाग्नि से दग्ध वृक्ष को आलिङ्गन करती हैं ॥ ४८ ॥

३. कल्पितोपमा

अभिनव—इसी प्रकार जहाँ पर सादृश्य के साथ सादृश्य कल्पित हो, वहाँ 'कल्पितोपमा' होती है। जैसे—

अनुवाद—गण्डस्थल से मदजल का क्षरण करने वाले तथा लीला से मन्थर गति से चलने वाले गजराज जङ्गम पर्वत के समान सुशोभित हो रहे है ॥ ४९ ॥

विशेष—यहाँ पर जङ्गम पर्वतों की उपमानत्वेन कल्पना की गई है, क्योंकि अन्य के साथ उनका सादृश्य नहीं बनता। अतः सादृश के साथ सदृश की कल्पना की गई है।

४. सदृशोपमा

अनुवाद—दूसरों के चित्त का अनुरोध करने वाले आपने जो कर्म किया है वह अतिमानुष कर्म करने वाले आपके ही समान हैं ॥ ५० ॥

अभिनव—अन्य आचार्य 'कल्पितासदृशी' में अकार का प्रश्लेष मानकर 'सदृशी' के स्थान पर 'असदृशी' पाठ मानकर उसकी व्याख्या करते हैं कि यहाँ पर 'सदृश' पद उपमेय को कहता है। जैसे—व्युत्पत्ति है—जो समान दिखाई देता है उसके समान अपने को देखता है।

---

१. क. (टि०) मदवारिनिषिक्ताङ्गा लोला विभ्रमगामिनः।

किञ्चित्सदृशी यथा—

संपूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा[1] ।
[2]मत्तमातङ्गगमना संप्राप्तेयं [3]सखी मम ॥ ५१ ॥

यत्रोपमेयस्यैवोपमानता । सेयं सदृशी ।

किञ्चित्सदृशमित्थमुपमानं भवति । यत्र सादृश्यगमकं स्फुटं पदं नास्ति । न च सर्वात्मना रूपक इव वस्तुद्वयमीलनं तेन समासव्यंग्या किंचित्सदृशीत्युक्ता ।

तदुदाहरति संपूर्णेति । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्येति समासबलादुपमानता-प्रतिपत्तिः । तत्र ह्युत्तरपदलोपः सन्नियोगशिष्टत्वात् । क्यङि सलोप इव मत्तमा-तङ्गगमनमिव गमनमस्या इत्युत्तरपदलोपोऽपि ॥ ५१ ॥

---

५. किञ्चित्सदृशी

अभिनव—जहाँ पर उपमेय को ही उपमानता होती है वह यह सदृशी है । इस प्रकार किञ्चित् सदृश उपमान होता है । जहाँ पर सादृश्य का गमक कोई स्फुट पद नही होता है और न सर्वात्मना रूपक के समान वस्तुद्वय का मीलन होता है । इसलिए समास व्यक्त होने वाली उपमा को 'किञ्चित्सदृशी' कहा गया है ।

इसका उदाहरण है—

अनुवाद—पूर्ण चन्द्र के समान मुखवाली, नील कमल के समान नेत्रों वाली तथा मदमत्त हाथी के समान गति वाली यह मेरी सखी आ गई ॥ ५१ ॥

अभिनव—"सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुब्रीहिरुत्तरपदलोपश्च" इस वार्तिक के द्वारा समास करने पर उपमानता की प्रतिपत्ति होती है और समास होने पर उत्तर पद का लोप हो जाता है । जैसे—'मत्तमातङ्गगमना' अर्थात् मतवाले हाथो के समान गमन है जिसका । इसमें 'मन्थरगमन' रूप धर्म तथा इत्यादि वाचक शब्द का अभाव है । यहाँ गमन रूप उपमान का लोप हो गया है तथा तद्वाचक इत्यादि का भी अभाव हो गया है ।

---

१. क. (टि०) नीलोत्पलनिभेक्षणा ।
२. क. (टि०) मत्तनागेन्द्रगमना । ३. क. (टि०) प्रिया ।

उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ।
[1]शेषा ये लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः[2] ॥ ५२ ॥
[3]नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रदीपकम्[4] ।
[5]एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमुच्यते ॥ ५३ ॥
प्रसृतं मधुरं चापि गुणैः सर्वैरलंकृतम् ।
काव्ये यन्नाटके विप्रास्तद्दीपकमिति स्मृतम् ॥ ५४ ॥

शेषाः लोके काव्ये च ये तद्भेदाः दृश्यन्ते । ते लक्षणद्वारेणोक्ता इति ग्राह्याः स्वयं स्वीकर्तुं शक्याः । अस्मिन्ग्रन्थे नोक्तास्ते लोकात्काव्याच्च ग्राह्या इत्यन्ये, शेषा इत्यत्र पुनरुक्तम् ॥ ५२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों को संक्षेप में उपमा के इन भेदों को समझना चाहिए। शेष जिन भेदों को लक्षणों द्वारा नहीं कहा गया है, उन्हें लौकिक काव्यों के द्वारा समझना चाहिए ॥ ५२ ॥

अभिनव—शेष लोक और काव्य में जो उपमा के भेद दिखाई देते हैं वे लक्षण के द्वारा कहे गये हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए और यहाँ इस शास्त्र में जिन्हें नहीं कहा गया है, उन्हें लोक और काव्य से ग्रहण करना चाहिए। ऐसा अन्य लोग कहते हैं। 'शेषः' यह पद यहाँ पुनरुक्त है ॥ ५२ ॥

दीपक

अनुवाद—भिन्न-भिन्न अधिकरण के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों वाले शब्दों का जो प्रकाशक (आकांक्षा पूरक) और एकवाक्यता से संयुक्त हो, उसे 'दीपक' अलङ्कार कहते हैं ॥ ५३ ॥

पाठान्तर

अनुवाद—हे विप्रो ! जो काव्य और नाटकों में मधुर रूप से प्रसृत हो तथा समस्त गुणों एवं अलंकारों से अलंकृत हो, उसे 'दीपक' अलंकार कहते हैं ॥ ५४ ॥

---

१. क. (टि०) ये शेषा लक्षणे नोक्तां ।
२. क. (टि०) संसाध्यास्तेऽपि लोकतः ।
३. क. (टि०) नानाधिकरणस्थानां ।
४. क. (टि०) सम्प्रकीर्तितम् । संप्रदीपकः ।
५. क. (टि०) एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ।
एकवाक्येन संयोगो यस्तु दीपकमुच्यते ।

यथा—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्न शून्यानि सदा क्रियन्ते ॥ ५५ ॥

[1]स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥ ५६ ॥

[2]नानाद्रव्यानुरागाद्यैर्यदौपम्यगुणाश्रयम् ।
रू‍ानिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥ ५७ ॥

अथ दीपकम् –

नानाधिकरणार्थानामिति । नाना ये शब्दान्तरवाक्यपदात्मानस्तेषां अधिकरणार्थानामाश्रये अर्थोऽर्थता येषां तथाभूतानां साकांक्षाणामिति तेषां यत्सम्यक् प्रकर्षेण दीपकमाकांक्षापूरकक्रियागुणजात्यादि तद्दीपकम्, यत एकेनावान्तरवाक्येनासंयुक्तं सत्तथा करोति ततो दीपप्रकृतित्वात्तथोक्तमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अभिनव—अब दीपक को कहते हैं—नाना अर्थात् अनेक जो वाक्य रूप या पद रूप भिन्न-भिन्न शब्द है उनके अधिकरण में अर्थात् अधिकरण अर्थों के आश्रय में जो अर्थता, तथाभूत साकांक्ष पद उनका सम्यक् रूप से जो दीपक है अर्थात् आकांक्षा-पूरक क्रिया, गुण एवं जाति आदि जहाँ हो, वह 'दीपक' अलङ्कार है। क्योंकि एक अवान्तर वाक्य के द्वारा असंयुक्त वाक्य भी संयुक्त को तरह कर दिया जाता है। अतः दीपक के समान प्रकृति होने से इसे दीपक अलङ्कार कह दिया है ॥ ५३ ॥

यथा—

अनुवाद—उस नगर में सरोवर (तालाब) हंसों से, वृक्ष फूलों से, कमल मतवाले भौरों से तथा उद्यान गोष्ठियों से कभी शून्य नहीं रहते हैं ॥ ५५ ॥

रूपक—

अनुवाद—जो अपने विकल्प से रचित हो, जो समान अवयवों वाला और किञ्चित् (थोड़े) सादृश्य से सम्पन्न हो, वह 'रूपक' कहलाता है ॥ ५६ ॥

पाठान्तर—

अनुवाद—अनेक द्रव्यों के सम्पर्क से औपम्य के गुणों का आश्रय लेकर जो रूप वर्णन से युक्त हो, उसे 'रूपक' कहते हैं ॥ ५७ ॥

---

१. क. (भ.) स्वविकल्पैर्विरचिते ।
२. ख. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैः ।

यथा—

पद्माननास्ताः कुमुदप्रहासा[1] [2]विकासिनीलोत्पलचारुनेत्राः ।
[3]वापोस्त्रियो हंसकुलैर्न स्वनद्भिर्विरेजुरन्योन्यमिवाह्वयन्त्यः[4] ॥५८॥

अथ रूपकम्—

स्वविकल्पेन रचितमिति । स्वविकल्पेन यद्रूपं वदनस्य रचितं चन्द्रात्मकं तद्रूपयति परमिति रूपकम् । तस्य द्वौ भेदौ तुल्यैरवयवैः सर्वैरेवान्यरूपोकृतैर्युक्तं, यदि वा किञ्चित्सादृश्ययुक्तं रूपितम् । यत्रापि किञ्चिदन्यरूपसादृश्याद्युक्तं रूपान्तररूपितं यत्रैकदेशविवर्ति प्रसिद्धं द्रव्याद्यस्ति ।

या इति युक्तः पाठः । ततो हि समासोपमात्वं पद्मानना इत्यादेर्निवार्यते । हंसकुलानां नभंसचिवत्वमरूपितमपि गम्यत इत्ययमंशो द्वितीयस्योदाहरणम् । अन्योन्यमिहेति पाठः, इव शब्दे तूपमाशक्योत्प्रेक्षा वा । सा त्विह कल्पितोपमा । उपमांशस्यास्फुरणादाभिमानाख्यं लक्षणं सैवं यस्यालङ्कारकारैरलङ्कारतयोक्ता तत्रोपमोद्भेदश्च तद्युक्तालङ्कारता भूष्यभूषकयोः पृथग्भावात् । नो चेत्तल्लक्षणमेव ।

अब रूपक का (लक्षण) करते हैं—अपने विकल्प से अर्थात् अपनी कल्पना से मुख को चन्द्र के रूप में रूपित करना अर्थात् दूसरे को अपने रूप से युक्त करना 'रूपक' कहलाता है । उस रूपक के दो भेद हैं—(१) वह समान अवयव वाले सभी अवयवों को अन्यों के रूप से रूपित करना । (२) अथवा किञ्चित् सादृश्य से युक्त रूप वाला करना । यहाँ पर से कुछ दूसरे के रूप के सादृश्य से युक्त अर्थात् रूपान्तर से रूपित करना होता है । जहाँ एकदेशविवर्ति नामक प्रसिद्ध द्रव्यादि रूपक है ।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—वे कमलरूपी मुख वाली, कुमुद रूपी हास वाली खिले हुए नील कमल रूपी नेत्रों वाली, वापी रूपी स्त्रियाँ हंसों के कूजन रूपी वाणी से परस्पर बात करती हुई सुशोभित हुई ॥ ५८ ॥

१. क. कुमुदप्रयासां । कुमुदाग्रहासा ।
२. ख. विकासिनीलोत्पलचारुसनेत्रा ।
३. क. (टि०) वापीतरुण्योऽधिकमवभान्ति । शोभामिवान्योन्यमधिक्षिपन्त्यः ।
४. क. इह्वालपन्त्यः । इवालपन्त्यः ।

तत्केचित्पठन्ति—

नानाद्रव्यानुरागाद्यैर्यदौपम्यगुणाश्रयम् ।
रूपनिवर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥

व्याकुर्वते च—रूपकशब्दस्यान्वर्थाख्यायकमेतत्, औपम्यस्य गुणत्वेनाप्रधानतया संश्रयो यत्र तथा कृत्वा रूपस्य यान्यरूपेण निश्चितस्य वर्णना तद्रूपकम् । कथं तन्निश्चयः इत्याह—नानाभूतेन पृथग्भूतेनापि द्रव्येण योऽनुरागः स्फोटकस्येव लाक्षया तत आदिग्रहणाद् भ्रान्तिगौणलाक्षणिकादिभेदानां ग्रहणम् इति ॥ ५८ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'ताः' की जगह 'याः' यह पाठ युक्त है । इससे 'पद्माननाः' इत्यादि में समासोपमा का निवारण करते हैं। 'हंसकुलैः' में अरूपित भी नर्मसचिवत्व व्यक्त होता है, इतना द्वितीय भेद का उदाहरण है । यहाँ पर 'अन्योन्यमिवालपन्त्यः' यह पाठ ठीक नहीं है, अपितु 'अन्योन्यमिह' यह पाठ ठीक है । क्योंकि इव घटित पाठ मानने में 'उपमा' अथवा 'उत्प्रेक्षा' की आशङ्का होगी, अतः 'अन्योन्यमिह' पाठ ही उचित है। यहाँ पर तो 'कल्पितोपमा' है। कैसे ? यहाँ उपमांश के अस्फुरण होने से अभिमानाख्य लक्षण है, वह उसे अलङ्कारिकों ने अलङ्कार के रूप में कहा है। वहाँ उपमा का उद्भेद (व्यञ्जन) है। अतः अलङ्कारता है। क्योंकि भूष्य-भूषक भाव में पृथक्त्व नहीं है, अतः लक्षण ही है।

जैसा कि कुछ लोग कहते हैं कि—

"नाना द्रव्यों के अनुराग से औपम्य (उपमा) के गुणों के आश्रय से जो रूप-वर्णना से युक्त है, वह 'रूपक' है।"

इसकी व्याख्या करते हैं कि यह पठन रूपक शब्द के अन्वर्थ का आख्यापक है। औपम्य के गुण-रूप से अप्रधान रूप से संश्रयण है जहाँ, वैसा करके रूप का अन्य रूप से निश्चय रूप से जो वर्णन है, वह रूपक है। यह निश्चय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं—नानाभूत अर्थात् पृथग्भूत द्रव्य के द्वारा जो अनुराग है। जैसे लाक्षण के द्वारा स्फटिक मणि को रक्त कर देना। यहाँ पर 'आदि' पद के ग्रहण से भ्रान्ति, गौण, लाक्षणिक आदि भेदों का ग्रहण होता है ॥ ५८ ॥

[1]शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनञ्चास्य गदतो मे निबोधत ॥ ५९ ॥

एवमर्थविषयलक्षणप्रसङ्गेनार्थालङ्कारान् प्रदर्श्य शब्दालङ्कारस्वरूपमाह—शब्दाभ्यासस्तु यमकमिति ।

तुरर्थालङ्कारेभ्यो व्यतिरेकमाह । शब्दशब्देन वाक्यं पदं तदेकदेश वर्ण इति सर्वं गृह्यते तेनानुप्रासस्य लाटीयादेरनेनैवोपसंग्रहः ।

यमौ द्वौ समजातावुच्येते तत्प्रकृतित्वाद्यमकम् । तेनैकस्याक्षरस्य पदस्य वा द्वितीयं सदृशं निरन्तरं सान्तरं वा शोभाजनकमलङ्कारः । यथा मुक्ताफलस्योचितमुक्ताफलान्तरं पद्मरागादेर्वोपाश्रयविशेषः समुचितसहासीनसत्पुरुषमध्यपतनं वा सत्पुरुषान्तरस्य । पादादिषु आदिग्रहणं तदा मध्यान्तरादिषु विकल्पितवचनान्नास्त्यपि स्थापननियमोऽनुप्रासलाटीयादिसंग्रहायेत्याह । विशेषदर्शनमिति विशेषाणामुद्देशलक्षणानामित्यर्थः ॥ ५९ ॥

---

४. यमकालङ्कार

अभिनव—इस प्रकार अर्थविषयक लक्षण के प्रसङ्ग से अर्थालङ्कारों के स्वरूप को बतलाकर अब शब्दालङ्कार के स्वरूप को कहते हैं—'शब्दाभ्यासस्तु यमकमित्यादि' ।

अनुवाद—शब्दों को अभ्यास अर्थात् शब्दों को आवृत्ति यमक है, जो पाद के आदि अर्थात् पाद के आदि, मध्य एवं अन्त में विकल्पों से युक्त है । अब इसके विशेष स्वरूप को जानकारी मैं बतलाता हूँ, आप समझें ॥ ५९ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द का प्रयोग अर्थालङ्कारों से शब्दालङ्कारों का भेद बताने के लिए कहा गया है । यहाँ 'शब्द' पद से वाक्य, पद, पदैकदेश तथा वर्ण सभी का ग्रहण हो जाता है ।

अभिनव—'यम' का अर्थ है युगल अर्थात् जहाँ दो बालक साथ उत्पन्न हों अर्थात् जुड़ने आदि । उसके प्रकृति (स्वभाव) के समान होने के कारण इसे 'यमक' कहा जाता है । इसलिए एक अक्षर, पद अथवा वाक्य के सदृश सान्तर अथवा निरन्तर में प्रयुक्त हुआ । द्वितीय वर्ण, पद और वाक्य के शोभा-जनक हो जाने से अलङ्कार कहलाता है । जैसे, मोती के सजातीय मोती या पद्मराग आदि मणियों का उपाश्रय विशेष तथा जैसे सत्पुरुषों के मध्य में योग्यता के साथ आसीन द्वितीय सत्पुरुष को शोभा होती है । 'पादादि' में आदि पद के ग्रहण से मध्य और अन्त का भी ग्रहण होता है । 'विकल्प' के कथन से मध्य और अन्त में स्थापन या नियम नहीं है अर्थात् विकल्प से लाटानुप्रास का भी संग्रह हो जाता है । विशेष दर्शन का अर्थ है उद्देश्य एवं लक्षणों का दर्शन ॥ ५९ ॥

---

१. क. (टि०) शब्दाभ्यासं तु ।

पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ।
[1]समुद्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा ॥ ६० ॥
यमकं चक्रवालं च सन्दष्टयमकं तथा ।
[2]पदादियमकञ्चैव ह्याम्रेडितमथापि च ॥ ६१ ॥
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
[3]एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ॥ ६२ ॥
चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात्सममक्षरम्[4] ।
तद्वै पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ६३ ॥
यथा—
दिनक्षयात् संहृतरश्मिमण्डलं दिवीव लग्नं तपनीयमण्डलम् ।
विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम् ॥६४॥

अक्षरमिति एकमनेकं च संहृतम् ॥ ६३ ॥
रश्मीनां मण्डलमोघो यस्य । तपनीयमण्डलम् सौवर्णं चक्रम् ॥ ६४ ॥

अनुवाद—पादान्तयमक, काञ्चीयमक, समुद्गयमक, विक्रान्तयमक, चक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पादादि यमक, आम्रेडित यमक चतुर्व्यवसित यमक, और मालायमक ये नाटकाश्रित यमक दस प्रकार के हैं ॥ ६०-६२ ॥

१. पादान्त यमक

अनुवाद—जहाँ पर चारों पादों के अन्त में समान अक्षर (या पद) हो, तो उसे 'पादान्त यमक' समझना चाहिए ॥ ६३ ॥

अभिनव—यहाँ पर अक्षर पद से एक अथवा अनेक अक्षरों का ग्रहण होता है ॥ ६४ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—दिन के क्षीण हो जाने पर आकाश में सूर्य का रक्ताभ मण्डल अपने रश्मिमण्डल को समेट कर आकाश में लगे हुए स्वर्णिम मण्डल जैसा लग रहा है अथवा तरुणी के स्तन मण्डल जैसा प्रतीत हो रहा है ॥ ६५ ॥

---

१. क. (टि०) समुद्रयमकञ्चैव ।
२. ग. पादादियमकञ्चैव ।　　३. क. ग. एतादृशविधं ज्ञेयम् ।
४. क. (टि०) यमकाक्षरम् ।

लोकानां प्रभविष्णुर्दैत्येन्द्रगदानिपातनसहिष्णुः ।
जयति सुरदैत्यजिष्णुर्भगवानसुरवरमथनकारी विष्णुः ॥ ६५ ॥

[1]पादस्यान्ते तथा चादौ स्यातां तत्र समे पदे ।
तत्काञ्चीयमकं चैव विज्ञेयं सूरिभिर्यथा ॥ ६६ ॥

[2]यामं यामं चन्द्रवतीनां द्रवतीनां
व्यक्ताव्यक्तासारजनीनां रजनीनाम् ।
फुल्ले फुल्ले सम्भ्रमरेवाभ्रमरे वा
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च ॥ ६७ ॥

अभिनव—उपसंहृत रश्मियों का मण्डल जिसका तपनीय मण्डल का अर्थ है स्वर्णिक (सुनहरा) चक्र ॥ ६५ ॥

विशेष—यहाँ पर श्लोक के प्रत्येक पाद के अन्त में 'मण्डलम्' पद आया है अतः यहाँ 'पादान्त यमक' है ।

अन्य उदाहरण—

अनुवाद—लोगों को प्रभावित करने वाला दैत्यराज हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के गदाओं के प्रहार को सहज करने वाला देवताओं एवं दैत्यों को जीतने वाले असुरों का मन्थन करने वाले भगवान् विष्णु सबसे उत्कृष्ट हैं ॥ ६६ ॥

अन्त में 'ष्णु' आया है, अतः यहाँ 'पादान्त यमक' है ।

२. काञ्ची यमक

अनुवाद—जहाँ पर श्लोक के पाद के आदि तथा अन्त में समान पद हों, उसे विद्वानों को 'काञ्ची यमक' समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—चाँदनी वाली रात्रियों के प्रत्येक प्रहर में दौड़ने वाली सारभूत वधू के मध्य में अतिशय व्यक्त होकर रमण करने वाली रामा (नायिका) भ्रमर-युक्त फूलों पर गर्व करती है, अथवा हँसती है और भ्रमर-रहित पुष्प के विषय में विस्मय करती हैं ॥ ६७ ॥

---

१. पादस्यादौ तथा चान्ते स्यातां यत्र समे पदे ।
२. ख. मायामाया । क. (टि०) यामा यामा यामवती यामवती य ।

[1]अर्धेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव समाप्यते ।
[2]समुद्गयमकं नाम तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा ॥ ६८ ॥

केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः[3] शोभते प्रवरकाननहस्ती ।
केतकीकुसुमपाण्डुरदन्तः[4] शोभते प्रवरकाननहस्ती ॥ ६९ ॥

सारभूतानां जनीनां बधूनां युवतीनां संबन्धिनी । परिवारत्वेन स्थिता रामारामा सर्वैव स्त्री व्यक्ता ईषत् स्फुटाकारा । चन्द्रवतीनां रजनीनां रात्रीणां संबन्धिनी । यामं यामं सर्वप्रहरम् । स्मयते यतः पुष्पे विकसिते सभ्रमरके । तद्विना वा विस्मयते ॥ ६७ ॥

केतकीकुसुमवद्भासुरौ दन्तावस्य सोऽयं । प्रकारकमाननं यस्य तादृक् शोभते हस्ती । तथा केतकीकुसुमात्मकौ पाण्डुरौ दन्तौ यस्य तत्प्रवरकाननं हस्तिरूपं शोभते । "अत्र चार्थभेदो मुनिना नादृत" इति तदप्रसिद्धम् । व्युत्पत्त्यादिना पर-हृदयं वेदितमस्माभिः ॥ ६९ ॥

अभिनव—सारभूत (श्रेष्ठ) युवती बहुओं से सम्बन्धित, परिवार रूप से स्थित सभी रामा (स्त्रियाँ), 'व्यक्ता' पद का अर्थ है जिसका आकार ईषत्स्फुट हो । चन्द्रवती अर्थात् चाँदनी युक्त रजनी (रात्रि) । 'यामं यामं' पद से सभी प्रहरों का ग्रहण होता है । भ्रमरयुक्त विकसित (खिले हुए) फूलों को देखकर हँसती हैं और भ्रमर-रहित फूलों को देखकर विस्मित होती हैं ॥ ६७ ॥

३. समुद्ग यमक

अनुवाद—जिस वृत्त के एक ही अर्थ से अर्थात् पूर्वार्द्ध से सम्पूर्ण वृत्त की समाप्ति हो जाती है । उसे विद्वान् लोग 'समुद्ग यमक' कहते हैं ॥ ६८ ॥

उदाहरण जैसे—

केतकी के फूलों जैसे सफेद दाँतों वाला प्रवर जंगल का हाथी सुशोभित हो रहा है । केतकी के फूल जैसे सफेद दाँतों वाले हाथी के रूप में यह जंगल सुशोभित है ॥ ६९ ॥

---

१. ख. अर्थेनैकेन ।
२. क. समुद्गयमकं तत्तु विज्ञेयं कामतो यथा ।
३. ख. पाण्डरदन्तः । ४. ख. पाण्डरदन्तः ।

एकैकं पादमुत्क्रम्य[1] द्वौ पादौ सदृशौ यदि[2] ।
विक्रान्तयमकं नाम [3]तद्विज्ञेयमिदं यथा ॥ ७० ॥
स पूर्वं वारणो भूत्वा द्विशृङ्ग एव पर्वतः ।
अभवद्दन्तवैकल्याद्विशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७१ ॥

द्वे शृङ्गे यस्य तथा विगतं शृङ्गं यस्य ॥ ७१ ॥

अभिनव—केतकी के फूल जैसे देदीप्यमान है दाँत जिसके वह यह। प्रवरक श्रेष्ठ है आनन (मुख) जिसका ऐसा हाथी शोभित हो रहा है। तथा केतकी के फूल ही हैं पीले दाँत जिसके, ऐसे हाथियों से युक्त श्रेष्ठ कानन शोभित हो रहा है। 'यहाँ पर अर्थभेद का मुनि ने आदर नहीं किया, किन्तु यह सिद्धान्त अप्रसिद्ध है अर्थात् सर्वमान्य नहीं है। व्युत्पत्ति आदि के द्वारा हमने दूसरों के हृदय को समझा है ॥ ६९ ॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध के समान हो उत्तरार्द्ध श्लोक है, अतः यही 'समुद्ग-यमक' है।

४. विक्रान्त यमक

अनुवाद—जहाँ पर एक-एक पाद का उत्क्रमण कर (छोड़कर) दो पाद समान हो तो उसे 'विक्रान्त यमक' कहते हैं ॥ ७० ॥

जैसे—

अनुवाद—यह हाथी पहिले द्विशृङ्ग (दो चोटियों) वाले पर्वत जैसा मालूम पड़ता था, जब वह दन्त विहीन हो गया, अर्थात् उसके दाँत टूट से गये तो वह शृङ्ग-विहीन पर्वत जैसा लग रहा है ॥ ७१ ॥

अभिनव—दो शृङ्ग (शिखर) है जिसके, वैसा अथवा जिसके शृङ्ग (दांत) विकल हो गये हैं, टूट गये हैं, ऐसा ॥ ७१ ॥

विशेष—यहाँ पर प्रथम और तृतीय पाद को छोड़कर द्वितीय और चतुर्थ पाद समान है अतः यहाँ 'विक्रान्त यमक' है।

---

१. ख. उत्क्षिप्य। २. क. यदा।
३. ग. तज्ज्ञेयं नामतो यथा। ग. सम्पूर्णवानरो भूत्वा।

पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः।
चक्रवच्चक्रवालं तु विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ७२ ॥
तुल्यात्पादद्वयादन्त्यादेकेनादिर्यदा समः।
सर्वत्र चक्रवालन्तु तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ७३ ॥
शैला यथा शत्रुभिराहता हता
हताश्च [1]भूयस्त्वनुपुङ्खगैः खगैः।
खगैश्च सर्वैर्युधि सञ्चिताश्चिता[2]-
श्चिताधिरूढा निहितास्तलैस्तलैः[3] ॥ ७४ ॥

एते युधि संचिताः सङ्घीभूताः चितामधिरूढाः। शत्रुभिः कर्तृभिः खगैः शरैः अनुपुङ्खगैः पुङ्खान्तमग्नैः आहताः हताः। आहतप्रकारमाह—ताः छिन्नपक्षाः शैला इव खगैः गृध्रादिभिः तलैः पक्षबाहुभिः निहताः भूयः एतेरैव चिता व्याप्ताः। "निहतानामस्तं मरणं लान्ति तैर्निहतास्तलैः" इति क्लिष्टत्वादुपेक्ष्यम् ॥ ७४ ॥

५. चक्रवाल यमक

अनुवाद—जहाँ पर पूर्व पाद का अन्तिम शब्द जब दूसरे पाद आदि में आवृत्त हो तो उसे 'चक्रवाल' यमक समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

अथवा—

अनुवाद—जहाँ पर समान दो पदों के अन्तिम भाग की अपेक्षा से एक के साथ पाद का आदि भाग जब सब जगह समान हो तो विद्वानों ने उसे 'चक्रवाल' यमक कहा है ॥ ७३ ॥

अनुवाद—जैसे 'शैला यथा' इत्यादि श्लोक के प्रथम पाद का अन्तिम पद 'हताः' द्वितीय पाद के आदि में, द्वितीय का अन्तिम पद 'खगैः' तृतीय पाद के आदि में तथा तृतीय पाद का 'चिताः' अन्तिम चतुर्थ पाद के आदि में आवृत है, अतः यहाँ 'चक्रवाल यमक' है ॥ ७४ ॥

१. ख. वाणैरनुपुंखपुंखैः। ग. भूयोऽप्यनुपुंखगैः।
२. ख. सञ्चिताञ्चिताः। ग. संचिताश्चिताः।
३. ख. हता नराः। ग. निहता फलैः कलैः।

आदौ द्वौ यत्र पादौ तु भवेतामक्षरैः समौ।
सन्दष्टयमकं नाम विज्ञेयं तद् बुधैर्यथा ॥ ७५ ॥

पश्य पश्य[1] रमणस्य मे गुणान्
येन येन वशगां करोति माम्।
[2]येन येन हि समेति दर्शनं
तेन तेन वशगां करोति माम् ॥ ७६ ॥

अभिनव—ये युद्ध में सञ्चित (एकत्रित) हुए। चिता पर आरूढ़ हो गया। शत्रुओं ने पुङ्ख तक मग्न खगों अर्थात् बाणों से आहत किया। आहत होने के प्रकार को कहते हैं—वे छिन्न पक्ष अर्थात् कटे हुए पंख वाले शैल (पर्वतों) की तरह खग अर्थात् गृद्ध आदि पक्षियों तलों अर्थात् पक्ष-बाहुओं से आहत किया, फिर इन्हीं से ही चित (व्याप्त) हो गये। कुछ लोग 'निहतस्तलैः' का अर्थ 'निहतों अर्थात् मारे गये लोगों के अस्त (मरण) को लाने वाला करते है। किन्तु यह क्लिष्ट-कल्पना होने से उपेक्षणीय है ॥ ७४ ॥

६. सन्दष्ट यमक

अनुवाद—जहाँ पर पाद के आदि में दो समान पदों की आवृत्ति हो, विद्वानों को उसे 'सन्दष्ट यमक' समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

जैसे—

अनुवाद—देखो, मेरे प्रियतम के गुणों को देखो, जिससे वे मुझे वश में कर रहे हैं। जैसे-जैसे मेरे दर्शन (दृष्टि) में आते हैं वैसे-वैसे मुझे वे वश में कर लेते हैं ॥ ७६ ॥

विशेष—प्रस्तुत उदाहरण मे प्रथम पाद के आदि में 'पश्य, पश्य' द्वितीय और तृतीय पादों के आदि में 'येन-येन' का तथा चतुर्थ पाद के आदि में 'तेन-तेन' की आवृत्ति है अतः यहाँ 'सन्दष्ट यमक' है ॥ ७५-७६ ॥

---

१. ख. ग. यस्य यस्य।
२. ग. येन येन विनमेति।

आदौ पादस्य तु यत्र स्यात् समावेशः समाक्षरः ।
पादादियमकं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ७७ ॥

विष्णुः सृजति भूतानि विष्णुः [1]संहरते प्रजाः ।
[2]विष्णुः प्रसूते त्रैलोक्यं विष्णुर्लोकाधिदैवतम् ॥ ७८ ॥

पादस्यान्तं पदं यत्र द्विर्द्विरेकमिहोच्यते ।
[3]ज्ञेयमाम्रेडितं नाम यमकं तत्र सूरिभिः ॥ ७९ ॥

विजृम्भितं निःश्वसितं मुहुर्मुहुः
[4]कथं विधेयं स्मरणं पदे पदे ।
यथा च ते ध्यानमिदं पुनः पुन-
[5]र्ध्रुवंगता ते रजनो विना विना ॥ ८० ॥

---

७. पादादि यमक

अनुवाद—जहाँ पर प्रत्येक पाद के आदि में समान पदों की आवृत्ति हो, वहाँ विद्वानों को 'पादादि यमक' समझना चाहिए ॥ ७७ ॥

जैसे—

अनुवाद—विष्णु ही समस्त प्राणियों को सृष्टि करते हैं। विष्णु प्रजाओं का संहार करते हैं, बिष्णु ही त्रैलोक्य की रचना करते हैं और विष्णु समस्त लोकों के अधिदेवता हैं ॥ ७८ ॥

विशेष—यहाँ पर प्रत्येक पाद के आदि में 'विष्णुः' समान पद की आवृत्ति हैं, अतः यहाँ 'पादादि यमक' है ।

८. आम्रेडित यमक

अनुवाद—जहाँ पर प्रत्येक पाद के अन्तिम पद को दो-दो बार आवृत्ति हो, वहाँ विद्वानों को 'आम्रेडित यमक' समझना चाहिए ॥ ७९ ॥

जैसे—

अनुवाद—पद-पद पर बार-बार श्वांस-प्रश्वांस बढ़ गया है तो उसका स्मरण कैसे किया जाय ? जिस प्रकार तुम्हारा ध्यान मैंने बार-बार किया, इस प्रकार रजनी (रात्रि) तुम्हारे बिना बीत गई ॥ ८० ॥

---

१. ख. संहरति । २. ग. विष्णुप्रसूतं ।
३. ख. पादन्त्वाम्रेडितं नाम विज्ञेयं निपुणैर्यथा ।
४. ख. यथाभिधानं । ५. ख. ग. तथागता ।

सर्वे पादाः समा यत्र भवन्ति नियताक्षराः ।
चतुर्व्यवसितं[1] नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ८१ ॥

यथा—

[2]वारणानामयमेव कालो वारणानायमेव कालः ।
वारणानामयमेव कालो वारणानामयमेव कालः ॥ ८२ ॥

वारणपुष्पाणां संबन्ध्यर्थं कालः शरल्लक्षणः । वारणानां हस्तिनाम् । अनामये आमयाभावे सति समदत्वे सति वारणानां वारणं निवारणं विद्यते येषां तेषां शत्रूणामयं कालः कृतान्तोऽथवा समयः । रणानां संग्रामाणां कालः क्षेपः चिन्ताप्रवर्तयितेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

विमर्श—प्रत्येक पाद के अन्त में क्रमशः 'मुहुर्मुहुः' 'पदे-पदे' 'पुनः पुनः' 'विना-विना' की आवृत्ति है, अतः यहाँ 'आम्रेडित यमक' है ॥ ७९-८० ॥

९. चतुर्व्यवसित यमक

अनुवाद—जहाँ पर नियत अक्षरों वाले सभी पाद समान हों, वहाँ बुधों को 'चतुर्व्यवसित यमक' समझना चाहिए ॥ ८१ ॥

जैसे—

अनुवाद—वारण पुष्पों का यही समय है, हाथियों के मद के निगरण का यही काल है, वारणीय शत्रुओं का यही काल है अथवा रण (युद्ध) का यही समय है ॥ ८२ ॥

अभिनव—वारण पुष्पों के विकास का यही शरदृतु का समय है, वारण (हस्तियों) के अनामय होने अर्थात् मदोन्मत्त होने का यही समय है। वारणों का निवारण होता है जिनका उन शत्रुओं का यह काल है रण (युद्ध) का यह कालक्षेप है अर्थात् चिन्ता का प्रवर्त्तक है ॥ ८२ ॥

विशेष—इस श्लोक में चारों पाद समान हैं, अतः यहाँ 'चतुर्व्यवसित यमक' है ॥ ८१-८२ ॥

---

१. ख. व्यवसितं ।
२. सावारणानामिति चतुर्ष्वपि पादेषु वर्तते ।

नानारूपैः स्वरैर्यत्र[1] यत्रैकं व्यञ्जनं भवेत् ।
तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं [2]पण्डितैर्यथा ॥ ८३ ॥
लली बली हली मालो खेलो माली सली जली ।
खलो बलोऽबलो मालो मुसली त्वाभिरक्षतु ॥ ८४ ॥
असौ हि रामा रतिविग्रहप्रिया
रहः प्रगल्भा रमणं मनोगतम् ।
रतेन रात्रिं रमयेत् परेण वा
न चेदुदेष्यत्यरुणः पुरो रिपुः ॥ ८५ ॥
स पुष्कराक्षः क्षतजोक्षिताक्षः क्षरत्क्षतेभ्यः क्षतजन्दुरीक्षः ।
क्षतैर्गवाक्षैरिव संवृताक्षः साक्षात् सहस्राक्ष इवावभाति ॥ ८६ ॥

लक्षणानां प्राधान्यमित्युक्तपूर्वं तत्तथैवोपसंहरति—एभिर्लक्षणैरिति ।

१०. माला यमक

अनुवाद—जहाँ पर स्वर नाना रूप हों और व्यञ्जन एक रूप हों, उसे विद्वानों को 'माला यमक' समझना चाहिए ॥ ८३ ॥

जैसे—

लली बली हली माली खेली, मालो, लली, जली, खलो बलोऽबलो मालो मुसली त्वभिरक्षतु, यह माला रूपक का उदाहरण है ॥ ८४ ॥

अनुवाद—यह रामा रतिरूपी विग्रह में रुचि रखने वाली है, एकान्त में प्रगल्भ यह रमणी रात्रि में मनोगत रमण (प्रिय) को उत्तम रत से तब तक रिझाती रहेगी तब तक शत्रु अरुण सामने उदित नहीं होगा ॥ ८५ ॥

अनुवाद—पुष्कर कमल के समान नेत्र वाला, रक्त से (खून से) नहाये हुए नेत्रों वाला, घावों से बहते हुए खून से दुर्निरीक्ष्य, गवाक्षों (झरोखों) के समान घावों से संवृत अङ्गों वाला यह वीर सहस्राक्ष इन्द्र के समान प्रतीत हो रहा है ॥ ८६ ॥

अभिनव—लक्षणों का प्राधान्य है, यह पहिले कहा जा चुका है, अब उसका उसी प्रकार उपसंहार करते हैं—

१. ग. युक्तं । २. ख. पाठकैः ।

एभिरर्थक्रियापेक्षैः[1] कार्यं काव्यं तु लक्षणैः ।
अतः[2] परं प्रवक्ष्यामि काव्ये दोषान् गुणांस्तथा[3] ॥ ८७ ॥

गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि [4]शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥ ८८ ॥

अर्थक्रियायां रसचर्वणायां युक्तं योगो येषां, विभावादित्वं ह्येतत् प्रसादादीत्युक्तमवस्तात् । अतः परमिति वक्तव्यान्तरमाह । केषुचित्पुस्तकेषु चैतद्ग्रन्थः पश्चाद्दृश्यते, बाहुल्येन प्रथमं दृश्यत इति तथैव व्याचक्ष्महे ॥ ८७ ॥

अनुवाद—अर्थ क्रियाओं से युक्त इन लक्षणों से काव्य का निर्माण करना चाहिए। इसके बाद अब मैं काव्य के गुणों और दोषों का वर्णन करूँगा ॥ ८७ ॥

अभिनव—अर्थ की क्रिया में अर्थात् रस-चर्वणा में योग है जिनका। इस प्रकार ये विभावादि रूप है और प्रसाद आदि भी हैं, यह नीचे कहा जा चुका है, इसके बाद अन्य वक्तव्य को कहते हैं। कुछ पुस्तकों में यह ग्रन्थ पीछे के भाग में दिखाई देता है किन्तु बहुत से ग्रन्थों में यह पहिले दिखाई देता है, उसी प्रकार हम पहिले इसकी व्याख्या करेंगे ॥ ८७ ॥

काव्य-दोष

भरत ने नाट्यशास्त्र में दोष का लक्षण नहीं दिया है किन्तु उनकी दृष्टि में कोई भी वस्तु सर्वथा दोषहीन नहीं है। (दोषैः परिवर्जितं न वा किञ्चित्)। इसलिए नाट्य में इसका विस्तार से विचार नहीं किया गया है। मम्मट ने इसकी परिपक्व परिभाषा की है। उनके अनुसार दोष रस के अपकर्षक है। मानव-शरीर में काणत्व, बधिरत्व आदि की तरह काव्य के शब्दार्थ-शरीर में गूढ़ार्थ आदि दोष होते हैं। भरत ने दस दोषों का निरूपण किया है।

अनुवाद—गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुप्तार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि, और शब्दच्युत—ये दश काव्य-दोष हैं ॥ ८८ ॥

---

१. ग. एभिरर्थक्रियायुक्तैः ।
२. क. (टि०) अत ऊर्ध्वं ।
३. ख. काव्यदोषांस्तथाविधान । ग. काव्यदोषाः समासतः ।
४. क. (टि०) च्युतं च शब्दात् । शब्दाच्युतं ।

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम्[1] ।
अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र[2] तदर्थान्तरमिष्यते ॥ ८९ ॥

गूढार्थं यथा—पर्यायशब्देति तत्र शब्दानां पदानां वाक्यस्य तदर्थानां च यथा दशरथ इति वक्तव्ये बलात्परिकल्पितेन वस्तुनः पर्याय-शब्देनाभिधानं 'अधिक नवविमान' इति । न हि यदृच्छाशब्दाः पर्यायभाजः ।

अर्थान्तरं यथा—

"चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः" ।

इति अत्र काम स्वीकृतः चिन्तादिशब्देनावर्णनीयमपि वर्णितम् । यत्तु प्रसक्तानुप्रसक्तिकया बहुतराप्रकृतवर्णनं तत्प्रबन्धदोषरूपं सन्धितदङ्गविधानेन पराकृतमिति नेह निरूपणार्हम् ॥ ८९ ॥

---

१. गूढार्थ

अनुवाद—जहाँ पर पर्याय-वाचक शब्दों द्वारा किसी विषय को कहा जाय, वहाँ 'गूढार्थ' दोष होता है ॥ ८८ ॥

अभिनव—पद, वाक्य और उसके अर्थ को पर्याय शब्दों से कहना 'गूढार्थ' दोष है । जैसे—'दशरथ' यह कहना है, वहाँ बलात् अर्थ की कल्पना करके पर्याय शब्द से कहना अर्थात् दशरथ के लिए 'एकाधिकनवविमान' पद का प्रयोग करना । क्योंकि यदृच्छा शब्द पर्यायवाचक शब्द नहीं होते हैं ।

२. अर्थान्तर

अनुवाद—जहाँ पर अवर्णनीय विषय का वर्णन किया जाय उसे 'अर्थान्तर' दोष कहते हैं ॥ ८९ ॥

अभिनव—अर्थान्तर का उदाहरण जैसे—'चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः' अर्थात् 'सुन्दर भ्रुकुटियों वाली, रमणी का सकटाक्ष निरीक्षण चिन्ता और मोह को उत्पन्न करने वाले कामदेव को उत्तेजित करता है । यहाँ पर कामदेव को स्वीकृत है । किन्तु चिन्ता, मोह आदि अवर्णनीय का भी वर्णन कर दिया है । जो कि प्रसक्तानुप्रसक्ति बहुत से अप्रकृत का वर्णन प्रबन्ध-दोष रूप है । सन्धि और तदङ्ग के विधान से ही पराकृत हो गया, अतः यहाँ वह निरूपण के योग्य नहीं है ॥ ८९ ॥

---

१. क. (टि०) गूढार्थमिव संज्ञितम् । २. क. यत्तु ।

अर्थहीनं [1]त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च ।
[2]भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥ ९० ॥

अर्थहीन यथा—अद्यापि स्मरसि रसालसं मनो मे मुग्धायाः स्मरचतुराणि । अत्र पूर्वापरव्याघातादसंबन्धता । यथा वा "स महात्मा भाग्यवशान्महापथमुपागतः" इति । अत्र हि सावशेषः प्रकरणापेक्षो वस्तुनिश्चयः, अभाग्यवशादित्यपि संभाव्यत्वात् ॥ ९० ॥

भिन्नार्थं त्रिधा यथा—तत्र मृष्यो दूरसंबन्धव्यवधाने सति यत्रार्थो यथा—

ज्वरं भुञ्जीत सञ्जातमलपाकं चिरस्थितम् ।
अजादुग्धोदनं हन्यात् त्रिदोषोत्कोपसंभवम् ॥ इति ॥

---

३. अर्थहीन

अनुवाद—जहाँ पर असम्बद्ध अर्थ हो अथवा अवशेष अर्थ हो, वहाँ 'अर्थहीन' दोष होता है ।

अभिनव—अर्थहीन जैसे—'हे रस से मन्थर (अलस) मेरा मन आज भी तु उस मुग्धा काम के विषय में चतुर वाक्यों को स्मरण कर रहे हैं ।' यहाँ पर पूर्वापर में व्याघात होने से अर्थों में असम्बद्धता है ॥ ९० ॥

अथवा जैसे—'वह महात्मा भाग्यवश महापथ में पहुँच गया' यहाँ पर प्रकरण-सापेक्ष वस्तु निश्चय है, अतः सावशेष होने से 'अर्थहीन' दोष है । 'अभाग्यवशात्' भी हो सकता है ॥ ९० ॥

४. भिन्नार्थं

अनुवाद—असभ्य एवं ग्राम्य अर्थ के सूचक अर्थ को 'भिन्नार्थं' दोष समझना चाहिए ॥ ९० ॥

अभिनव—भिन्नार्थ दोष तीन प्रकार का होता है । जैसे—

(१) जहाँ पर अर्थ दूर का सम्बन्ध होने से व्यवधान के कारण अर्थ मृष्य (अविज्ञेय) अर्थात् अर्थ समझने में कठिनाई हो ।

जैसे—"बकरी के दूध के साथ चावल (भात) खाया जाय तो चिरकाल से स्थिति जिसमें मल का परिपाक हो गया है, ऐसे त्रिदोष से उत्पन्न ज्वर (सन्निपात ज्वर) नष्ट हो जायेगा ।

---

१. क. (टि०) अर्थहीनमसम्बद्धं ।
२. क. (टि०) भिन्नार्थमपि ।

'विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते ।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः[2] ॥ ९१ ॥
अविशेषाभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम् ।

ग्राम्यं यथा—"भद्रं भजस्व मामिदं ते दास्यामि" इति। तृतीयं भिन्नार्थं यथा—"स्याच्चेदेष न रावणः" इत्युक्त्वा, "क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः" इति। उद्दिष्टं ह्यत्र रावणस्यानुपादेयत्वं क्व नु पुनरत्येननान्यथाकरणाद्भेदितम् ॥ ९१ ॥

एकार्थं यथा—कुन्देन्दुहारहरहासमितमिति। एकप्रयोजनं हि सर्वमेतत्। न काव्यं शास्त्रवदुपदेश्यं किञ्चित्कश्चिज्जानीयादिति प्रवर्तते।

---

(२) जहाँ ग्राम्य या असभ्य अर्थ का कथन हो, वहाँ भी 'भिन्नार्थ' दोष होता है। जैसे—'हे भद्रे ! मेरी सेवा करो, मैं तुझे यह वस्तु दूंगा'।

(३) विकसित अर्थ को भिन्न अर्थ का कथन। जैसे--"यदि यह रावण न होता" यह कहकर फिर 'सभी गुण सब जगह नहीं होते'। यहाँ 'रावण का अनुपादेयत्व उद्दिष्ट था' 'क्व नु पुनः' इस कथन से अन्यथा कर दिया। जिससे उद्देश्य से भिन्न हो गया ॥ ९१ ॥

अथवा

अनुवाद—जहाँ पर विवक्षित अर्थ अन्य हो और उससे अन्य अर्थ का (अविक्षित का) कथन किया जाय वहाँ भो विद्वान् लोग 'भिन्नार्थक' दोष मानते हैं ॥ ९१ ॥

५. एकार्थ

अनुवाद—अविशेष अर्थात् विलक्षणता-हीन अर्थ का कथन 'एकार्थ' दोष कहलाता है।

अभिनव—जैसे, 'कुन्देन्दुहारहरहासहसितम्' यहाँ पर कुन्द, चन्द्र, हार, शिवजी का हास ये सभो राजा के यश को श्वेत (शुभ्र) बतलाने के लिए कही गई है, ये सब एक प्रयोजन वाली हैं। अतः यहाँ 'एकार्थ' दोष है। काव्य, शास्त्र की तरह उपदेश्य है। कोई कुछ जान जाय, इसलिए प्रवृत्त नहीं होता।

---

१. क. (टि०) विवक्षितान्य एवार्थों यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
२. क. (टि०) काव्यविदो जनाः।

अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पदेन समस्यते[1] ॥ ९२ ॥
न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्[2] ।

अभिप्लुतार्थं यथा—

स राजा नीतिकुशलाः, सरः कुमुदशोभितम् ।
सर्वप्रिया वसन्तश्रीर्ग्रीष्मे मालतिकागमः ॥

अत्र प्रतिपादमर्थस्य परिसमाप्तत्वादभिप्लुतत्वं, एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात् ॥ ९२ ॥

न्यायादपेतं देशकालविरुद्धं कलाशास्त्रादिविरुद्धं च यथा—

सुवीरेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता ।
अक्षोटनालिकेराढ्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ॥ इत्यादि ।

---

६. अभिलुप्तार्थ

अनुवाद—जहाँ पर पाद में अर्थ समाप्त हो जाय, (एकवाक्यता न रहे) वहाँ 'अभिलुप्तार्थ' दोष होता है ॥ ९२ ॥

अभिनव—जैसे—'वह राजा नीतिकुशल है। तालाब कुमुदों से सुशोभित है, वसन्त की शोभा सबको प्रिय है। ग्रीष्म में मालती का उद्गम है'।

यहाँ प्रत्येक पाद में अर्थ समाप्त हो जाता है। अतः 'अभिलुप्तार्थ' दोष है। क्योंकि यहाँ पर एकवाक्यता नहीं है ॥ ९२ ॥

७. न्यायादपेत

अनुवाद—प्रमाण से वर्जित (रहित) विषय का कथन 'न्यायादपेत' नामक दोष समझना चाहिए।

अभिनव—न्याय से अपेत (प्रमाण रहित) अर्थात् देश, काल के विरुद्ध और कला एवं शास्त्र के विरुद्ध कथन 'न्यायादपेत' दोष होता है। जैसे—

"सुवीर में मथुरा नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है। जिसके पास की भूमियाँ अखरोट और नारियल से समृद्ध हैं"। यह वर्णन देश-काल विरुद्ध है।

---

१. क. (टि०) समाप्यते ।
२. क. (टि०) परिवर्तितम् ।

[1]वृत्तभेदो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत् ॥ ९३ ॥
[2]अनुपश्लिष्टशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम् ।
[3]शब्दच्युतञ्च विज्ञेयमशब्दस्वरयोजनात् ॥ ९४ ॥

विषमं यथा—"अयि पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम्" इत्यादि ॥ ९३ ॥

विसन्धिदोषोऽनेनैव संगृहीतः। सन्धानं, द्वयोर्नैरन्तर्यं विचारयोगः अन्योन्यलयो वेति त्रिधा। तदनुपारूढमयुक्तं पारुष्याद्युत्पादकं वा यत्रापशब्दः स्मृतो मुनित्रयेणादृतः ।

८. विषम

अनुवाद—जहाँ पर वृत्तभेद हो, वहाँ 'विषम' नामक दोष होता है ॥ ९३ ॥

अभिनव—जैसे—"अये पश्यसि सौधमाश्रितामविरलसुमनोमालभारिणीम्' इत्यादि में प्रथम पाद में नव अक्षरों से प्रारम्भ किया और दूसरे पाद को बारह अक्षरों पर समाप्त किया। अतः 'वृत्तभेद' होने से 'विषम' दोष है ॥ ९३ ॥

९. विसन्धि

अनुवाद—जहाँ पर शब्द उपश्लिष्ट न हो वहाँ 'विसन्धि' दोष होता है।

१०. शब्दच्युतक

अनुवाद—जहाँ पर विना शब्दों और स्वरों को योजना हो, वहाँ (शब्दच्युत) दोष समझना चाहिए ॥ ९४ ॥

अभिनव—विसन्धि दोष का इसो से संग्रह हो गया। सन्धान तीन प्रकार का होता है—(१) दो वर्णों या पदों का नैरन्तर्य (२) विचार का योग (३) परस्पर एक का दूसरे में लय होना। जहाँ पर शब्द अनुपारूढ़ अर्थात् अयुक्त है अथवा पारुष्य का उत्पादक है वहाँ भो 'विसन्धि' दोष होता है, यह मुनित्रय के द्वारा आदृत है ॥ ९४ ॥

१. ख. ग. वृत्तदोषो ।

२. ख. ग. अनुतिप्रतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धोति काशितम् ।
शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ।
क. (टि०) अनुपारूढशब्दश्च विसन्धिः परिवर्जितः ।

३. क. (टि०) शब्दाच्युतं। ख. शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य योजनात् ।

[1]एते दोषास्तु विज्ञेयाः सुरिभिर्नाटकाश्रयाः ।

पाठान्तरं यथा—

एते दोषास्तु काव्यस्य यथा सम्यक् प्रकीर्त्तिताः ॥ ९५ ॥

एते दोषाः, एतन्मध्ये तु केचित् नित्यदोषाः, यथा अपशब्दः। केचिदनित्या यथा—ग्राम्यं, हास्यादौ तस्येष्टतमत्वात्। एतदाह यथा स्थूलमिति आनुपूर्व्यमिति चात्र अव्ययेनाव्ययीभावः। तेनोत्तरोत्तरं स्थूलाः। यथा च गूढार्थं गूढलेखप्रहेलिकादि पताकास्थानकादिषु प्रयोज्यम्, अर्थान्तरमनुवादे, अर्थहीनादि हास्ये, भिन्नार्थं श्रोत्रियादौ वक्तरि, एकार्थं परप्रत्यायने, अभिप्लुतार्थमुन्मादादौ, भिन्नवृत्तं विसन्धि च स्वविषये। एवमेते दोषाः क्रमेणापातविषयाः। इह यतोऽर्थप्रतीतिस्तावदस्ति। अपशब्दस्तु दोष एव ततः कस्याश्चिदर्थप्रतीतिरभावात्। स हि न कांचिद् भाषामनुपतति संकेताभावात्तमर्थं प्रतिपादयेत् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—विद्वानों को ये दस दोष नाटक के आश्रित समझने चाहिए।

पाठभेद से—

अनुवाद—इस काव्य के दोषों को मैंने अच्छी तरह बतला दिया है॥

अभिनव—एते दोषा इति। ये दस दोष हैं। इनमें कुछ दोष नित्य हैं। जैसे, अपशब्द। कुछ दोष अनित्य हैं, जैसे—ग्राम्यता दोष। किन्तु ग्राम्यता दोष हास्य आदि में अत्यन्त इष्ट है। इसी बात को कहते हैं—यथास्थूलम् अर्थात् आनुपूर्व्यम्। यहाँ अव्यय पद के साथ अव्ययीभाव समास है। इससे उत्तरोत्तर स्थूल है, यह अर्थ होता है। जैसे—गूढ़ार्थ दोष गूढ़लेख वाली प्रहेलिका (सहेलियों) आदि में होते हैं, इनका प्रयोग पताकास्थानक आदि में करने चाहिए, अर्थान्तर दोष का प्रयोग अनुवाद में, अर्थहीन का प्रयोग हास्य में, भिन्नार्थ का श्रोत्रिय आदि वक्ता होने पर एकार्थ दोष का दूसरे को समझाने में, अभिलुप्तार्थ दोष का प्रयोग उन्माद आदि की दशा में, भिन्नवृत्त और विसन्धि दोष का अपने विषय में क्रमशः आपात विषय हैं। परिणाम में ये दोष नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि यहाँ अर्थ को प्रतीति है। अपशब्द तो दोष ही है, क्योंकि उससे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। वह किसी भाषा का अनुगमन नहीं करता। अतः संकेत के अभाव में कैसे उस अर्थ का प्रतिपादन करें ९५ ॥

---

१. क. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।

[1]गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ।
श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च [2]काव्यस्य गुणा दशैते ॥९६॥

अथ गुणेषु प्रतिजानीते—एषां विपर्ययाद् गुणा भवन्ति, एतद्दोषविघात एव गुणो भवतीत्यर्थः । किमविशेषेण, नेत्याह—माधुर्यौदार्यलक्षणमङ्गो येषाम् । एतदुक्तं भवति—एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलङ्कारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगाव्यभिचारीत्युक्तम् ॥ ९५ ॥

अन्येऽपि गुणाः सन्तीति दर्शयति श्लेषः प्रसाद इत्यादि । काव्यस्येति पदस्य वाक्यस्य तदुभयगतस्यार्थस्य वेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इन दोषों के विपर्यय से माधुर्य, औदार्य लक्षण वाले गुण होते हैं ॥ ९५ ॥

अभिनव—अब गुणों के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करते हैं—इन दोषों के विपर्यय से गुण होते हैं अर्थात् इन दोषों के विघात से ही गुण होते हैं। क्या ये सामान्य प्रकार से होते हैं ? उत्तर देते हैं नहीं, माधुर्य और औदार्य लक्षण है (अङ्ग है) जिनका यह कहा गया है—इन दोषों से रहित, श्रुति-सुखद, प्रदीप्त रस वाला यदि होता है तो गुणों एवं अलङ्कारों से रहित भी काव्य हो सकता है । लक्षणों का योग नियत होने से, ऐसा कहा गया है ॥ ९५ ॥

विमर्श—भरत मुनि ने गुणों का कोई विशेष लक्षण नहीं किया है । उन्होंने दोष के विपर्यय के रूप में गुणों का उल्लेख किया है । अभिनवगुप्त ने विपर्यय का अर्थ विघात किया है, अतः दोष-विघातक तत्त्व गुण हैं । भरत के अनुसार दोष काव्य के अपकर्षक हैं तो गुण उत्कर्षक । इस प्रकार उनके मतानुसार गुण काव्य के उत्कर्षक तत्त्व हैं ।

अभिनव—इनके अतिरिक्त और भी गुण होते हैं, यह बात 'श्लेषः प्रसाद' इत्यादि के द्वारा दिखते हैं ।

अनुवाद—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदारता, और कान्ति ये दस काव्य के गुण होते हैं ॥ ९६ ॥

अभिनव—'काव्यस्य' इस पद के कहने का अभिप्राय है कि ये गुण पद, वाक्य और दोनों के अर्थों में रहते हैं ।

---

१. ख. एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु दर्शिताः ।

२. ग. काव्यार्थगुणा ।

[1]ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥ ९७ ॥

तत्र श्लेषमाह—ईप्सितेनार्थजातेनेति अर्थभागानां कविसमुत्प्रेक्षिततया परस्पर-संबद्धया योजनया संपन्नं यदीप्सितमर्थजातं तेनोपलक्षितार्थस्योपपद्यमानस्योपपद्य-मानतात्मा गुणः श्लेषः । यथोदाहृतं वामनेन –

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य पिहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकप्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

विशेष—दण्डी ने काव्य के दस गुण बताये हैं और वामन दस शब्द गुण और दस अर्थगुण मानते हैं किन्तु उनके लक्षणादि भरत से भिन्न प्रतीत होते हैं । भोज प्रभृति विद्वानों ने चौबीस गुण प्रतिपादित किये हैं । मम्मट और विश्वनाथ ने गुणों की बढ़ती हुई संख्या को स्वीकार न कर तीन गुणों को ही स्वीकार किया है और उनमें से कुछ गुणों को अपने तीन गुणों में अन्तर्भाव कर लिया है । कुछ को दोषाभाव के रूप में स्वीकार किया है और कुछ को दोषरूप माना है ।

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥

१. श्लेष

अनुवाद—ईप्सित (इष्ट) अर्थों के द्वारा परस्पर सम्बद्ध पदों की जो श्लिष्टता है, उसे 'श्लेष' गुण कहते हैं ॥ ९७ ॥

अभिनव—श्लेष को कहते है—ईप्सितेनार्थजातेनेत्यादि । कवि के द्वारा समुत्प्रेक्षित अर्थों का परस्पर सम्बद्ध योजना से सम्पन्न जो ईप्सित अर्थ है उनसे उपलक्षित अर्थ की उपपद्यमानता (उपपत्ति) ही 'श्लेष' गुण है । जैसा कि वामन ने कहा है—

"एक ही आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रियतमाओं को देखकर पीछे से आकर आदरपूर्वक क्रीड़ा के व्याज से एक नायिका के आँखों को ढँककर फिर कन्धे को (ग्रीवा को) थोड़ा टेढ़ा करके पुलकित एवं उल्लसित मन वाली आन्तरिक मुस्कान से जिसके कपोल फड़क रहे हैं, ऐसी दूसरी नायिका का उस धूर्त ने चुम्बन कर लिया ।

---

१. ख. पद्यमेतत् 'ख' पुस्तके नास्तीति ।

'विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटञ्चैव स्वभावतः ।
स्वतः सुप्रतिबद्धञ्च[2] श्लिष्टं तत्परिकीर्त्यते[3] ॥ ९८ ॥

अत्र मनोरथातीतोऽप्येककालनायिकायुगलहृदयग्रहणलक्षणार्थस्तथोपपादितो येनासंभावनास्पदं न भवति। तेन कुटिलोऽप्ययं क्रमो न हृदये उल्वणत्वं भजते। मज्जति हृदये यतः सर्वस्येति ॥ ९७ ॥

अथ शब्दगुणमाह—ईप्सितार्थ योनिः पदानां श्लिष्टता परस्परं सन्धि-बन्धनतयाऽनेकमेकपदमिव भाति तदेव मासृण्यमुच्यते। अतश्च पदान्तरपाठस्या-वश्यापेक्षतायां यथा ब्रह्मसूत्रमिति। उक्तं चैतच्छन्दोऽध्याये। तथा सन्धीय-मानयोस्तथासन्धेः साजात्यं सावर्ण्यं च संपद्यते वस्त्रखण्डयोरिव सूत्रस्येव च।

यहाँ पर एक ही समय में एक साथ दोनों नायिकाओं के हृदय को ग्रहण करने के लिए मनोरथ से परे था, फिर भी इस प्रकार उपपादित किया कि जिससे असम्भावना का थोड़ा भी अवकाश नहीं रहा और किसी के हृदय में उल्बणता प्रकट नहीं हुई, अपितु सबके हृदय में यह क्रम पैठ गया ॥ ९७ ॥

अनुवाद—जो रचना विचार करने पर गहन हो किन्तु स्वभाव से स्फुट हो और परस्पर अच्छी तरह ग्रथित हो, उसे भी 'श्लेष' कहते हैं ॥ ९८ ॥

अभिनव—अब शब्द गुण को कहते हैं—ईप्सित अर्थ के कारणभूत पदों को परस्पर जो श्लिष्टता अर्थात् परस्पर सम्बन्ध होने के कारण अनेक पद एक पद के समान जो प्रतीत होता है, उसे 'मसृणता' कहते हैं। अतः भिन्न-भिन्न पदों के पाद की अपेक्षा में जैसे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत)। यह बात छन्दोऽध्याय में कही जा चुकी है। जैसे वस्त्र (कपड़े) के दो टुकड़ों में सूत्र (सूत) के द्वारा सन्धि करने पर उस सन्धि के कारण सूत्र का साजात्य और सावर्ण्य हो जाता है। जैसे—

---

१. ख. विचार्यंग्रहणं वृत्या ।
२. ख. सुप्रतिबद्धश्च ।
३. क. तत्परिकीर्तितम् ।

[1]अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते ।
[2]सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः [3]परिकीर्त्यते ॥ ९९ ॥

यथा—

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नागाधिराजः" (कुमा० १-१)

इत्यत्र 'अस्ति' शब्दस्योत्तरशब्दस्य सन्धीयमानयोस्तकारस्य तकारेण संयोगे तयोश्च साजात्यं 'स्यान्दिशि' इत्यनयोः सन्धेर्नकारस्य वर्ग्यत्वाद्दकारेण सावर्ण्यं, 'दिशि देवता' इति सान्तर्यसन्धौ दकारेण दकारस्य साजात्यं, इकारैकारयोस्तालव्यांशत्वेन सादृश्यं 'देवतात्मा' इत्यत्र तकारेणाकारोत्तरतकारस्य च । न चानुप्रासमात्रमेतत् एकपदानुप्रासेऽपि प्रामाण्यभावात्—'इन्दिन्दिराणां ललितो निनादः' इत्यनुप्रासे च सावर्ण्यनोपयोगीति ।

अन्ये पठन्ति—विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः । इत्यर्थश्लेषः । वक्रघटना वेत्यर्थः । सुप्रतिबद्धश्च श्लेष इति पदश्लेषः ॥ ९८ ॥

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः (कु० १।१)' में 'अस्ति' शब्द और 'उत्तर' शब्द में सन्धि कर देने पर तकार का तकार के साथ संयोग होने पर दोनों में 'दन्तस्थानीयत्वेन' साजात्य है और 'स्यान्दिशि' में सन्धि होने से नकार का दकार के साथ सवर्गीय होने के कारण सावर्ण्य हैं । 'दिशि देवतात्मा' में सान्तर सन्धि में दकार का दकार के साथ साजात्य है । 'दि' में इकार और 'दे' में एकार तालव्यत्वेन सादृश्य है । 'देवतात्मा' में तकार का आकारोत्तर तकार के साथ सावर्ण्य है । यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अनुप्रास नहीं है । क्योंकि एक पद में भी अनुप्रास होता है । प्रामाण्य का सद्भाव होने से । जैसे—'इदिन्दिराणां ललितो निनादः' यहाँ पर अनुप्रास में सावर्ण्य है ।

अन्य लोग कहते हैं कि 'विचार करने पर गहन है किन्तु स्वभाव से स्फुट है' यह अर्थ श्लेष है अथवा वक्रघटना ? श्लेष तो प्रसिद्ध ही है । इस प्रकार यह पद श्लेष है ॥ ९८ ॥

२. प्रसाद

अनुवाद—जहाँ पर सुखजनक शब्द और अर्थों के संयोग से विना कहे ही शब्द अथवा अर्थ को प्रतीति हो जाय, उसे 'प्रसाद' गुण कहते हैं ॥ ९९ ॥

---

१. ग. अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थः ।
२. ग. मुख्यशब्दार्थसंयोगात् । ख. सुखशब्दार्थसंबोधात् ।
३. क. स तु कीर्त्यते ।

प्रसादमाह—अप्यनुक्तो बुधैरिति। यत्रार्थे अनुक्तेऽपि बुधैः कष्टकल्पनया अव्याख्यातस्याऽप्यर्थस्य प्रयोजनं स्वयं भासते सोऽर्थो वैमल्याश्रयोऽपि वैमल्यमुपचारात् सोऽर्थो वा काव्यस्य वैमल्यं स्वयं जानंश्चानुपयोगिपरिवर्जनात्। वैमल्यशब्द वाच्याज्जलस्येव पांसुभिरसंपर्काद् भवतीति वैमल्यमर्थस्य प्रसादः।

यथा—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी' इति विवाह्यत्वं प्रापणीयता हृद्यत्वं संभोगयोग्यता गृहस्थसहधर्मचारिणीत्वमित्युपयोगी सर्वोऽयमर्थः। तेनाबुध्वैतदुदाहरणान्तरं वृथा भ्रमणम्—"आविलपयोधराग्र" मिति (विक्रमो० ५·८)। एतदपि तूदाहरणं, पददूषणं तु सम्यगज्ञाने प्रयुक्तम्।

अप्रसादस्तु "उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्" अत्र विमलमन्यथोपयोगात् पांसुरिव जलेऽप्रसन्नतां करोति। सुख इति न प्रयत्नमपेक्षते यः शब्दो, योऽर्थो, यः संयोगः शब्दविषय इत्यर्थः, कला मात्ररूप एव यत्र सन्धिः, अत एव शैथिल्यात्मा स शब्दगुणः प्रसादः। प्रसन्नता स्फुटत्वं लक्षणीयविभागता पदानाम्।

अभिनव—प्रसाद गुण को कहते हैं—जहाँ पर विद्वानों के द्वारा अर्थ बिना बतलाये ही क्लिष्ट-कल्पना से भी जो अर्थ व्याख्यात नहीं है, उस अर्थ का प्रयोजन स्वयं भासित हो रहा है, वह अर्थ विमलता का आश्रय होते हुए भी लक्षणा से वह वेमल्य कहा जाता है। अथवा काव्य का वह अर्थ अनुपयोगी पदार्थों के त्याग देने से उसका वैमल्य स्वयं भासित होता है। जल का धूलिकणों के असम्पर्क से जिस प्रकार वैमल्य अर्थ होता है उसी प्रकार काव्य के अर्थ का अनुपयोगी का परिवर्जन रूप वेमल्य प्रसाद है। जैसे—

'रूप, यौवन के आरम्भ से युक्त (सुशोभित) यह कन्या सजातीय है' अतः 'यह विवाह के योग्य, प्रापणीय, हृद्य, सम्भोग के योग्य और गृहस्थ की सहधर्मिणी है' इत्यादि उपयोगी सभी अर्थ स्वतः प्रतिभासित हैं। इसलिए इस बात को न समझकर दूसरा उदाहरण देना वृथा भ्रमण है—'आविलपयोधराग्रं' (पयोधर का अग्रभाग आविल है) यह भी तो उदाहरण है। पददूषण तो बिना जाने प्रयुक्त है।

अप्रसाद का तो उदाहरण है—'उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्' (विमल मणि से घटित काञ्ची के स्थान की उपासना मेरा हाथ करे)। विमल मणि ही काञ्ची (करधनी) में जड़ी जाती है। काञ्ची का मणि में विमलत्व

[1]नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः ।
[2]दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता ॥ १०० ॥

यथा—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे ।
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ॥
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥

इत्यादि । अत्र निरन्तरतां मुक्त्वा नान्योन्यलयो नान्योन्यापत्तिसन्धिरस्तीति शिथिलता । एकश्च गुणः क्वाऽपि शोभत इति स्वानुभवसिद्धः, तेन व्यावृत्तात्मेति गाढ़ता कृता, ककुदं दत्त्वेति चापरः सवर्णपक्षे ॥ ९९ ॥

विशेषण निरर्थक है। जैसे—जल में धूलि अप्रसाद करता है वैसे ही अन्यथा उपयोग के कारण विमल शब्द भी अप्रसन्नता करता है, सुख शब्द प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करता। जो शब्द, जो अर्थ, जो संयोग प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करता। कलामात्र रूप ही जहाँ सन्धि है। अत एव शैथिल्य रूप शब्द का गुण 'प्रसाद' है। प्रसन्नता का अर्थ स्फुटत्व है।

जैसे—

"सांसारिक विषयों से निवृत्त मन वाले राजा ने अपने युवा पुत्र को विधि के अनुसार राजचिह्न श्वेतच्छत्र को देकर देवी के साथ मुनियों के आश्रम के वृक्षों की छाया ये अपना निवास बनाया। वृद्धावस्था में इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का यही कुलव्रत है।"

यहाँ पर निरन्तरता को छोड़कर न तो एक दूसरे में लय है, न परस्पर मिल जाने रूप सन्धि है। अतः शिथिलता है। एक भी जहाँ कहीं भो हो, शोभित होता ही है। यह अनुभव सिद्ध है। अतः व्यावृत्तात्मा में गाढ़ता गुण है और 'ककुदं दत्त्वा' में अपर गाढ़त्व है ॥ ९९ ॥

३. समता

अनुवाद—जो अति समास रहित पदों से युक्त हो और न व्यर्थ का अर्थ प्रकट करने वाले और न दुर्बोध शब्दों से युक्त हो, इस प्रकार समानता के कारण 'समता' नामक गुण कहा जाता है ॥ १०० ॥

---

१. ख. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति । तत्र टिप्पण्यामुपलभ्यते ।
२. ख. न दुर्बोधातैश्चकृता ।

[1]अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः ।
अलङ्काराः गुणाश्चैव समाः[2] स्युः समता [3]मताः ॥ १०१ ॥

समतामाह—नातिचूर्णपदैरिति । शब्दानां समत्वात्समः चूर्णपदैरसमास-सोऽत्यन्तसमासश्च विषमता, तद्विपर्ययेण समता उपक्रान्तमार्गापरित्यागरूपेत्युक्तं भवति । यथा—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलैः शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ इति ।

अत्र अवान्तरवाक्ये समस्तद्विपदा हि नातिदीर्घा वृत्तिः ।

अनुवाद—जहाँ पर गुण और अलङ्कार परस्पर एक दूसरे के सदृश हो तथा परस्पर शोभा-बर्द्धक हो, उसे 'समता' गुण कहते हैं ॥ १०१ ॥

अभिनव—अब समता को कहते हैं—शब्दों की समानता के कारण 'समता' गुण है । चूर्णपद अर्थात् असमस्त रचना जहाँ पर अतिशय युक्त नहीं होती । यहाँ अतिशय प्रतियोगी की अपेक्षा करता है । रचना दीर्घसमास वाली, अति समास वाली, अल्प समास वाली और समास रहित इस प्रकार चार प्रकार की होती है । इसमें समास-रहिता की अपेक्षा समासा में समासगत दीर्घत्व, अत्यन्तसमासा में समासगत अत्यन्तत्व, अल्पसमासा में समासगत अल्पत्व रूप अतिशय है । इस अतिशय से शून्य रचना यहाँ अपेक्षित है—इसी बात को कहते हैं कि दीर्घ समास और अत्यन्त समास विषमता है और तद्विपरीत समता है । उपक्रान्त मार्ग का अपरित्याग रूप समता है । ऐसा कहा गया है । जैसे—

"भैसे शृङ्गों से बार-बार ताड़ित जलाशय के जल से स्नान करें । छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए मृग-समूह जुगाली करें, सुअर विश्वस्त होकर छोटे तालाबों में मोथा खाये, मेरा यह धनुष भी प्रत्यञ्चा के उतार देने से विश्राम करें ।'

यहाँ पर अवान्तर वाक्यों द्विपद समास वाली तथा अत्यन्त लम्बे-लम्बे पदों वाली वृत्ति नहीं है ।

१. ख. अन्योन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
२. क. (टि.) समा स्यात् ।
३. ख. समासाद् समता यथा ।

'प्रसीद चण्डि ! त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः' ।

किमित्थं—

इति चूर्णपदैरुपक्रम्यासमाप्त एव वाक्यार्थे; वाक्यान्तरे दीर्घः समासः कृतः ।

उत्कम्पितपोवरस्तनद्वयोन्मिषत्सुप्तविलासमास्यते ।

पूर्वत्र ('गाहन्ता' मित्यत्र त्ववान्तरार्थसमाप्तावर्थान्तरोपक्रम एव समासेन 'छायाबद्धकदम्बक' मित्युपक्रान्तोऽपि न चैत्यात्कूपपतनमिव चूर्णपदं प्रयुक्तं 'मृगकुल' मिति । सेयं समता जाता शब्दगुणः । अथाऽपि समत्वात्सा । किं तत्समत्वं आह व्यर्थाभिधायिभिरिति निष्प्रयोजनमर्थंऽभिदधति ते व्यर्थाभिधायिनस्तेषां शब्दानां न त्वेतदवैमल्यमिति प्रसादेन निरस्तत्वात् । नैतत्, नहि सर्वथा निष्प्रयोजनता, अपि तु सदपि प्रयोजनं दुर्बोधम्, तदाह—दुर्बाधनैरिति । अभिधोयतेऽस्मै इत्यभिधानं प्रयोजनम् । यथा—

> च्युतसुमनसः कुन्दा पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
> मलयमरुतः सर्पन्तोमे वियुक्तधृतिच्छिदः ।
> अथ च सवितुः शोतोल्लासं लुनन्ति मरोचयो
> न च जरठतामालम्बते क्लमोदयदायिनीम् ॥

"हे चण्डि ? प्रसन्न हो जावो, क्रोध को छोड़ दो, यह जन तुम्हारे सामने हाथ जोड़कर खड़ा है । स्थूल स्तनों के उत्कम्पन से जिसमें सुप्त विलास उन्मिषित हो रहे हैं, ऐसी तुम क्यों बैठी हो ।"

यहाँ पर चूर्ण पदों से उपक्रम करके वाक्यार्थ के समाप्त न होने पर उत्तरार्द्ध वाक्य में दीर्घ समास किया गया है ।

पूर्व के 'गाहन्ताम्' इत्यादि वाक्य अवान्तर अर्थ की समाप्ति के बाद अर्थान्तर का उपक्रम 'छायाबद्ध कदम्ब के' इस रूप में समास से हो किया गया है । तथापि चैत्य से कूप में गिरने के समान रूप चूर्णपद का प्रयाग नहीं किया है । इस प्रकार यह समता 'शब्द गुण' हो गया । अर्थ में भी समत्व होने से 'समता' है । कहते हैं कि अर्थ में समत्व क्या है ? इस पर कहते हैं—व्यर्थाभिधायिभिरिति अर्थात् जो निष्प्रयोजन अर्थ का कथन करते हैं वे व्यर्थाभिधायो शब्द है । ऐसे शब्दों का प्रयोग नहा करना चाहिये । यहाँ अर्थ वैमल्य नहीं है, क्योंकि प्रसाद से उसका निरास हा गया । किन्तु यह कथन भो ठोक नहीं है, क्योंकि शब्दों को सर्वथा निष्प्रयोजनता नहीं हाती अर्थात् शब्द सर्वथा अर्थहीन (निष्प्रयोजन) नहीं होते । यदि होते भो हैं तो अर्थ दुर्बोध होता है । इसी बात को 'दुर्बोधनैः' पद से कहते हैं । जिसके लिए कहा जाय वह अभिधान प्रयोजन है । जैसे—

'अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्येहोपलक्ष्यते[2] ।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते[3] ॥ १०२ ॥
[4]उपमास्विह दृष्टानामर्थानां यत्नतस्तथा ।
[5]प्राप्तानां चातिसंक्षेपात् समाधिर्निर्णयो यतः ॥ १०३ ॥

इत्यत्र ऋतुसन्धिवर्णनप्रक्रमे मलयमारुतः प्रक्रमं भिनत्ति, न च सर्वथा निरर्थको विप्रलम्भोद्दीपनत्वात् । किन्तु प्रक्रमं स्फुटं न पुष्णातीति विषमता । समता तु "मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः" इति द्वितीयपादस्थाने यदि पठेत् ॥ १००-१०१ ॥

"कुन्द के फूल झड़ गये हैं, वृक्ष फूलों के उद्गम में अलसाये हुए हैं अर्थात् वृक्षों में फूल नहीं निकल रहे हैं। कामिनियों के धैर्य का तोड़ देने वाले मलय-मारुत बह रहे हैं। सूर्य की किरणें शीत के उल्लास (वृद्धि) को रोक रही है। किन्तु थकावट करने वाली कठोरता का आलम्बन नहीं कर रही हैं।"

यहाँ पर ऋतुओं के सन्धि-वर्णन के प्रक्रम में मलय मारुत प्रक्रम छोड़ रहा है। किन्तु विप्रलम्भ का उद्दीपक होने के कारण वह सर्वथा निरर्थक नहीं है। किन्तु प्रक्रम को स्फुट रूप में पुष्ट नहीं करता, इसलिए विषमता है। समता तो यदि द्वितीय पाद के स्थान पर "मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः" ऐसा पाठ मानने पर ही हो सकती है ॥ १००–१०१ ॥

४. समाधि

अनुवाद—जहाँ पर अभियुक्तों (प्रतिभाशाली व्यक्तियों) के द्वारा विशेष अर्थ उपलक्षित होता है, उस विशेष अर्थ से सम्पन्न गुण को 'समाधि' कहते हैं ॥ १०२ ॥

अथवा

अनुवाद—उपमा आदि में दृष्ट तथा यत्न से प्राप्त अर्थों को अति सक्षेप के कारण 'समाधि' कहा जाता है ॥ १०३ ॥

---

१. ख. पुस्तके—
उपमास्विहदृष्टानामर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ॥ इति पाठः ।

२. क. (टि०) एवोपलभ्यते । ३. क. परिकीर्तितः ।

४. क. उपमाद्युपदिष्टानां ।

५. ख. प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ।

समाधिमाह—अभियुक्तैर्विशेषस्त्विति। यस्या द्वितीयस्यार्थस्य अभियुक्तैः प्रतिभातिशयवद्भिः विशेषो अपूर्वः स्वोल्लिखित उपपद्यते स समाहितमनः संपाद्यविशेषत्वादर्थो विशिष्टः समाधिः, यत्र कवेः स्वप्रतिभयोल्लेखस्तत्सर्वमिहोदाहरणम्। यथा—

आश्ववैहि मम सीधुभाजनाद्यावदग्रदशनैर्न दृश्यते।
चन्द्र! मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात्॥

अयोनिरन्यच्छायायोनिश्चेति, एतदेव ज्ञानं प्रातिभं यस्य विषयः अयोनिः। सारस्वतस्य हि सर्वोऽयमनिमित्तत एव। तदन्यस्य सर्वोऽन्यच्छायायोनिः। व्यक्तभव्यभावनावास्यत्वादपि कविहृदयगतप्रतिभातिशयतारतम्यादनवस्थितम्।

अभिनव—अब समाधि की कहते हैं—जहाँ पर अतिशय प्रतिभाशाली अभियुक्तों के द्वारा द्वितीय अर्थ का उल्लिखित विशेष एवं अपूर्वता का प्रतिपादन किया जाता है। वह विशिष्ट अर्थ समाहित मन से विशेष रूप से संपाद्य होने से 'समाधि' है। यहाँ पर कवि की अपनी प्रतिभा का उल्लेख है। वह सब इसका उदाहरण है। जैसे—

"हे चन्द्र! तुम शीघ्र ही मेरे मद्य-पात्र से दूर हो जाओ, जब तक दाँतों से तुम्हें काट न लूँ। क्योंकि यदि काट लूँगा तो मेरे काटने के चिह्न से अङ्कित तुम रोहिणी के भय से आकाश में नहीं जाओगे।"

अर्थ दो प्रकार का होता है—अयोनि और अन्यच्छायायोनि। यह प्रतिभाजन्य ज्ञान है जिसका विषय अयोनि है। क्योंकि सारस्वत कवि का सभी अर्थ अयोनिज होता है। उससे भिन्न सभी अर्थ अन्यच्छायायोनिज होते हैं। व्यक्त भव्य भावना से वासित होने से भी कवि-हृदय-गत प्रतिभातिशय के तारतम्य से अर्थ अनवस्थित है।

विमर्श—भरत ने विशिष्ट अर्थ से युक्त गुण को 'समाधि' कहा है। वामन ने अर्थदृष्टि को समाधि कहा है। (अर्थदृष्टिः समाधिः)। वह अर्थ दो प्रकार का होता है—अयोनि और अन्यच्छायायोनि। अयोनि का अर्थ है अकारण अर्थात् कवि किसी दूसरे कवि की छाया न लेकर स्वयं जिस अर्थ का वर्णन करता है वह अयोनिज कहलाता है और कवि किसी दूसरे कवि के काव्य की छाया लेकर अर्थ का वर्णन करता है वह 'अन्यच्छायायोनि' है। इन दोनों अर्थों के वर्णन को समाधि कहते हैं।

शब्दगुणश्च समाधिः, तमाह—तेन चेति। समाधिशब्दस्य योऽर्थः परिहार-लक्षणस्तेन यः परिकीर्तितः परितः समन्तादाक्रान्त्या उच्चारणे संपन्नः। स च समाधिः। आक्रान्त्या उच्चारणे आरोहावरोहक्रमः आक्रमणेन गतितुल्यः। आरोहश्चोर्ध्वंगमनद्वारः प्राणरूपमारुतस्य उच्चरूपः, अपक्रमणमवरोहो विपर्ययः। उच्चत्वं स्थानकरणवशात् बाह्याभ्यतरप्रयत्नवशाच्च। तथा हि—

> निरानन्दः कौन्दे मधुनि[1] परिभुक्तोज्झितरसे
> न साले सालम्बो लवमपि लवङ्गे न रमते।
> प्रियङ्गौ नासङ्गं रचयति न चूतेऽपि चरति
> स्मरंल्लक्ष्मीलीलाममलमधुपानं मधुकरः॥

तत्र नकाराद्दन्त्यान्मूर्धन्यो रेफ उच्चस्थानस्थितो यद्यपि, नकारदकारयोः तथापि दन्त्यसंयोगः निरन्तरप्रयत्नाधिक्येन न विवृततमेन चाकारद्वयेन द्विवार-प्रयत्नकेन च जिह्वामूलीयेन चोच्चत्वभाजा आरोहणमस्फुटीकरणमिति न शब्देना-रोहणं संपन्नमप्यसंपन्नकल्पम्। आरोहणसौकर्यायैव प्रत्युत मध्ये ह्यत्र का विश्रान्तिः। अभावे उच्चतमसङ्कुलनसोपानारोहखेदायैव भवति निरास्वाद्यः कौन्द इति।

अभिनव—समाधि शब्द का गुण है, इस बात को 'तेन च' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। समाधि शब्द का जो अर्थ परिहार रूप से परिकीर्त्तित है, वही 'समाधि' है। आक्रान्ति से उच्चारण करने पर आरोहावरोह क्रम आक्रमण की गति के तुल्य है। आरोह ऊर्ध्वगमन का द्वार प्राणरूप वायु का उच्च रूप है और अवरोह अर्थात् अपक्रमण आरोह का विपर्यय है। स्थान और बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न के कारण ही उच्चत्व है। जैसे—

"लक्ष्मी के लीला स्थल कमल के मधुपान का स्मरण करने वाले भौंरे ने जिसके रस का आस्वाद लेकर छोड़ दिया, ऐसे कुन्द पुष्प के पराग में कुछ भी आनन्द का अनुभव करता है, न साल का आलम्बन करता है, न लवङ्ग में लेशमात्र भी रमण करता है, न प्रियङ्गु में आसक्ति करता है और न आम के बौर पर भ्रमण करता है।"

यहाँ पर 'निरानन्दः' में दन्त्य नकार के बाद मूर्धन्य रेफ यद्यपि उच्च स्थान में स्थित है तथापि नकार का दकार के साथ निरन्तर संयोग अधिक प्रयत्न वाले विवृततम आकार द्वय का उच्चत्व भाव और दो बार के प्रयत्न वाले जिह्वामूलीय

१. क. (टि०) विधुरो बालवकुले।

यथा वा निरानन्द इत्यत्र यावन्महाप्राणो जिह्वामूलीयश्च श्वासानुप्रदानो द्विवारयुक्तस्तावदारोहयत औकार अकारमवेक्ष्य विवृतरूप औकारतोऽपि नकारः ततोऽपीकारोकारयोः ऊनं विवृतत्वं, अकारस्तु संवृतः इत्यवरोहः । औकारस्तु मध्येऽवरोहसौकर्यायैव दूरारोहाद्धि दूरावरोहणं चेति चूलिकायाः कूपपतनकल्पम् । खेदो यथा—

"कुर्वाणाः परमं महच्च मनस" इति अकारोपध्मानीयेभ्यो झटिति संवृतेऽकारे निपातनात् । "निवेशः स्वः सिन्धोः"—इत्यत्र क्रमेण विवृततर स्पर्शं इति क्रमेणारोहः । "तुहिनगिरिवीथीषु जयति" अत्र विवृतेभ्यः उकारादिभ्यः संवृतेऽकारद्वये पातः इकारस्त्वन्यत्वान्न च विश्रान्तिस्थानमिति नारोहः । यदि वा सिन्धोरिति विवृततरापेक्षया आरोहसंस्कारे उकारेऽनरोहबुद्धिरेव स्फुटत्वेऽवरोहः । जयतिमपास्य तदयमिति पाठः । अनुस्वारो हि संवारप्रयत्नः ।

के साथ आरोहण स्फुट नहीं है। अतः न शब्द से आरोहण सम्पन्न होकर भी असम्पन्न हैं। यहाँ पर आरोहण के सौकर्य के लिए मध्य में विश्रान्ति करने से क्या होगा ? विश्रान्ति के अभाव में अत्यन्त ऊँची बनाई गई पीढ़ी के अरोहण में खेद ही होगा, सुख नहीं ।

और जैसे 'निरानन्द', इसमें महाप्राण और जिह्वामूलीय और श्वासानुप्रदान वर्ण आरोहण करते हैं । 'कौन्दे' में औकार अकार को देखकर अपने को विवृत रूप कर दिया और औकार के बाद नकार फिर उसके भी बाद इकार, उकार ईषद्विवृत है और अकार संवृत है । औकार मध्य में अवरोहण के सौन्दर्य के लिये है । इस प्रकार दूरारोहण से दूरावरोहण है । यह चूर्णिका के कूपपतन के समान है ।

खेद का उदाहरण जैसे—

'कुर्वाणाः परमं महच्च मनसः' इसमें आकार और उपध्मानीय से शीघ्र ही संवृत आकार में निपात होने से खेद है । 'निवेशः स्वः सिन्धोः' में क्रमशः विवृततर स्पर्श है । अतः इस प्रकार क्रम से आरोहण है । 'तुहिनगिरिवीथीषु जयति' इसमें विवृत उकारादि के बाद संवृत अकारद्वय में पात है । इकार तो इनसे भिन्न होने के विश्रान्ति-स्थान नहीं है । अतः आरोहण नहीं है । यदि 'सिन्धोः' में विवृततर की अपेक्षा से आरोह का सस्कार होने पर उकार में अवरोह बुद्धि ही है और 'तुहिनगिरिवीथीषु जयति' में 'जयति को हटाकर 'तदयम्' यह पाठ कर देते। ऐसा करने पर अवरोह स्फुट है । क्योंकि अनुस्वार का प्रयत्न संवार है ।

'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः' इति अकार+इकार+ अकारेभ्योऽवरोहमयेभ्यो विवृते इकारे आरोहः, अन्ते च विसर्जनीये आरोह एव। तेन स्वभावप्रतिभादर्शनानुबिद्धा भगवती वाणी स्वरसोपनिपतिता स्वरसंभार-प्रभावानुरोधेनैवारोहावरोहक्रमं भजते प्रतिभादृष्टिशून्यत्वात् अन्धपदवदा-रोहादि न भजेत्।

नन्वियता पाठसौकर्यं स्यात्, श्रोतुस्तु किमायातम्, अनभिज्ञो देवानां प्रियः, यथा हि कर्कशशर्करानिकरकण्टकिते देशे दुस्सञ्चरे संचरज्जनं पश्यन्त्या अपि सुकुमारहृदयायाः प्रमदायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानं खेदमतितरामादत्ते प्रहार-खेदो वा, यथा सहृदयस्य स एव मार्गः, सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया, सहृदयत्वं हृदयस्य हि कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यतैव उत्कर्षः। तत एवोक्तम्।

'नराः शोलभ्रष्टाः व्यसन इव मज्जन्ति तरवः' अर्थात् शीलभ्रष्ट मनुष्य के व्यसन में डूबे हुए के समान वृक्ष जल में डूब गये। यहाँ पर अवरोहमय, अकार, इकार और उकार के बाद विवृत इकार आने से आरोह है और अन्त में विसर्जनीय होने से आरोह है। इससे स्वाभाविक प्रतिभा के दर्शन से अनुविद्ध भगवती वाणी स्वरस से प्राप्त होकर स्व-सम्भार के प्रभाव के अनुरोध से ही आरोह और अवरोह क्रम को प्राप्त करती है और प्रतिभा दृष्टि से शून्य होने से अन्धे के पद की तरह आरोहावरोह को नहीं प्राप्त होती।

अब प्रश्न यह होता है कि इससे (आरोहावरोह के रहने से) पाठ (पढ़ने) में सुविधा हो गई, किन्तु श्रोता को क्या मिला। कहते हैं कि अनभिज्ञ (अज्ञानी) देवानां प्रियः अर्थात् मूर्ख हैं। जैसे कठोर कंकरीली और कटीली स्थान के होने से दुःसञ्चर स्थान में संचरणशील मनुष्य को देखने वाली सुकुमार हृदय वाली प्रमदा को उस संचरणशील (चलने वाले) मनुष्य के चित्त में अनुप्रवेश से जायमान (होने वाले) के समान अत्यन्त खेद का अनुभव होता है अथवा गिरने पर अधिक खेद होता है। इस प्रकार सहृदय का भी यही स्थान है। सुकुमारता जो वैमल्य का अपर पर्याय है वही सहृदय की सहृदयता है। कवि के हृदय के साथ तादात्म्यापत्ति की योग्यता ही उत्कर्ष है। इसलिए कहा है—

बहुशो [1]यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति [2]यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्[3] ॥ १०४ ॥

शब्दार्थशासन-ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ (ध्वन्या १·७) इति ।

अभिधानकोशमपि हि पठतां सुप्तिङ्विभक्तीश्च विदुषामपि न काव्यतत्त्वावबोधः तस्माद्वर्णोच्चारणप्रयत्नेन परुषस्पर्शपठनजनितो यः खेद उच्चारयितुः स एव श्रोतुरपि पारुष्यमाधत्ते । "सैरन्ध्रचध्ववधूनिबन्ध्यनुगतप्राणैकबन्धक्रमः" इत्यादौ । वर्णगतं च लालित्यपारुष्यादि पुष्कराध्यायेऽपि (अ—३४) वक्ष्यते । अन्यैरप्युक्तं "तेन वर्णा रसच्युतः" इत्यादि । स्वभावतो हि केचन वर्णाः सन्तापयन्तीव निकृन्तन्तीव रेफककारादय इव परुषवृत्तिपूर्वकाः, अन्ये तु निर्वापयन्तीवोपनागरिकोचिताः । लोकगोचर एवायमर्थः स्वसंवेद्योऽपीति न वितत इत्यास्तां तावत् ॥ १०२-१०३ ॥

"केवल शब्द और अर्थ के अनुशासन के ज्ञान मात्र से ही उस प्रातिभ अर्थ का ज्ञान होता है, वह तो काव्यार्थ तत्त्वज्ञ लोग ही जान सकते हैं ।" (ध्वन्यालोक १।७) ।

अभिधान कोश के पढ़ने वालों को तथा सुप् तिङ् विभक्तियों को जानने वालों को भी काव्य के तत्त्व का अवबोध नहीं होता, इसलिए वर्णो के उच्चारण के प्रयत्न से कठोर स्पर्श संज्ञक वर्णों के पढने से जो खेद उच्चारण करने वालों को होता है, वही खेद सुनने वाले श्रोता को भी होता है । जैसे "सैरन्ध्यध्ववधूनिबन्ध्यनुगतप्राणैकबन्धक्रमः" इत्यादि में वर्णों के लालित्य और पारुष्य आदि को पुष्कराध्याय में कहेंगे । अन्य लोगों ने भी कहा है 'तेन वर्णा रसच्युतः' (इस हेतु से वर्णों में रस चूता है) । वस्तुतः परुषा वृत्ति से घटित रेफ, ककार आदि के समान कोई-कोई वर्ण संतप्त सा करते हैं, कर्त्तन जैसा करते हैं । अन्य लोग उपनागरिका वृत्ति के अनुसार रचना करने के उचित वर्ण सन्ताप का निर्वाण करते हैं । यह सब बात स्व-संवेद्य होने से विस्तार से नहीं लिखते हैं, अतः रहने दिया जाय ॥ १०२–१०३ ॥

५. माधुर्य

अनुवाद—जो वाक्य अनेक बार सुने हुए अथवा बार-बार कहे जाने पर भी उद्वेग उत्पन्न नहीं करता, उसे 'माधुर्य' गुण कहा गया है ॥ १०४ ॥

१. ग. यत्कृतं । २. क. (ढि०) तस्मात् ।
३. ग. उदाहृतम् ।

माधुर्यमाह—बहुशो यच्छ्रुतमित्यादि। यदिति यस्माद्धेतोर्वाक्यं श्रुतं संशय-विपर्यययोरास्पदं न भवतीति तन्माधुर्यम्। द्राघीयसि समासे तावदवश्यं भवत इति तद्विरिह एव माधुर्यं शब्दगुण इत्युक्तं भवति यथा—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यसतु।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिःपल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥ (शाकु २-६)

पुनः पुनरप्युक्तमर्थजातं यस्माद्धेतोरपनीतमवगाहेन वैरस्यं तद्वचनवैचित्र्या-त्मकं माधुर्यमर्थगुणः वचनान्तराभिधेयता हि स एवार्थो विचित्रो भवति। यथा—

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधुरं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात्॥

अभिनव—माधुर्य गुण को कहते हैं—जिस कारण से सुना हुआ वाक्य संशय और विपर्यय का आस्पद नहीं होता, वह 'माधुर्य' गुण है। दीर्घ समास वाले पद तथा वाक्य में तो संशय अथवा विपर्यय हो सकता है, अतः उसके अभाव में ही शब्द का माधुर्य हो सकता है। जैसे—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यसतु॥
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥
(अभिज्ञानशाकुन्तले २।६)

बार-बार कहे हुए अर्थ के अवगाहन से जिसके कारण वैरस्य दूर हो जाता है वह वचनगत वैचित्र्य रूप माधुर्य अर्थगुण है। अन्य शब्दों से अभिधेय होने से भी वह अर्थ विचित्र ही होता है। जैसे—

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा।
मधुरमधुरं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्॥
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो।
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥

[1]समासवद्भिर्बिविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम् ।
सानुस्वारैरुदारैश्च तदोजः परिकोर्त्यते ॥ १०५ ॥
[2]अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः ।
[3]यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोजः परिकीर्तितम्[4] ॥ १०६ ॥

अत्र रसवदमृतमिति य एवार्थः स एव कः सन्देह इत्युक्तया विचित्रया परि-निश्चयस्थैर्याभिधायिन्या निश्चयीकृतः निश्चयस्थैर्यमेव च नान्यथेति वचनान्तरेण विपर्ययनिराकरणसंभावनान्तरनिरासं च क्रमेण विदधता विचित्रीकृतमिति मधुरोऽयमर्थः ॥ १०४ ॥

"अमृत भी रसवत् (रसकाल) है, इसमें क्या सन्देह है ? शहद भी अन्यथा (अमधुर) नहीं है। आम का भी प्रसन्न रस युक्त फल अतिमधुर है। किन्तु रसों के तारतम्य को जानने वाले लोग मध्यस्थ (तटस्थ) होकर एक बार भी कहें तो यही कि प्रिया के ओठों से अधिक स्वादु (मधुर) कोई अन्य वस्तु हैं क्या ?"

यहाँ पर 'रसवदमृतं' में जो अर्थ है वही है, इसमें क्या सन्देह है ? निश्चय स्थैर्य को कहने वाली विचित्र उक्ति से निश्चय कर दिया है। निश्चय-स्थैर्य को 'नान्यथा' इस वचनान्तर से विपर्यय के निराकरण की सम्भावना के निरास को क्रम से करते हुए विचित्र बना दिया है। ऐसा यह मधुर अर्थ है ॥ १०४ ॥

६. ओज

अनुवाद—जहां समासयुक्त, विविध, विचित्र, सानुस्वार और उदार बहुत से पदों से युक्त काव्य हो, वहाँ ओजो गुण कहलाता है ॥ १०५ ॥

अन्य लक्षण

अनुवाद—जो रचना निन्दित होने पर भी तथा हीन होने पर भी तथा शब्दार्थ सम्पत्ति से उदात्त अर्थ का अवभास कराने वाली है। उसे 'ओज' गुण कहते हैं ॥ १०६ ॥

---

१. अयं श्लोकः 'ख' पुस्तके नोपलभ्यते । टिप्पण्यांतूपलभ्यते ।
२. ख. अवगीताविहीनोऽपि । क. (टि०) अवगीतविहीनोऽपि । स्यादुत्तावभावकः ।
३. क. यत्र शब्दार्थसम्पत्त्या ।
४. क. (टि०) परिकीर्त्यते ।

ओजो लक्षयति—समासवद्भिर्बहुभिरिति। बहुभिरेकसमाससंज्ञायुक्तैरथ च विचित्रैर्यमकैः पदैर्युक्तो यो बन्धस्तदोजः। यथा—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतिकुहरवलमन्दरध्वानधीरः।
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः॥
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः।
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ॥

यथा सानुरागः अनुरक्तं तथा वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्।

"विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्तो"

अत्र र इति शब्दो न्दशब्दं स्वगुरुत्वायापेक्षते न इत्ययंशब्दः र्तशब्दं य इत्ययं च न्तो शब्दं च, इत्ययं शब्दो न्ते गुरुत्वात्। स्वविश्रान्तिजनितकालोपचयलभ्यं गुरुत्वं च नाकांक्षतीति द्वितीयपादपाठं समनन्तरमेवापेक्षते।

"विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोपयन्तः।"

इति पाठे लिशब्दो धाशब्दो लोशब्दश्च जात्यापेक्षत इति। तदेव गाढत्वमुच्यते निबिडावयवतेव सा।

अभिनव—ओज गुण का लक्षण करते हैं—बहुत से एक समास संज्ञा से युक्त विचित्र और यमक पदों से युक्त जो बन्ध है, वह 'ओज' है। जैसे—

"मन्थन से क्षुब्ध समुद्र जल से परिपूर्ण गुहा वाले चञ्चल मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर वामनदण्ड (कोण) से आघात होने पर गरजते हुए प्रलय कालीन बादलों की घटनाओं के परस्पर संघर्ष से प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत कौरव कुल के निधन का सूचक उत्पात युक्त वायु वाला, हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के समान इस दुन्दुभि को किसने बजाया ?"

जैसे अनुरागी व्यक्ति अनुरागयुक्त पुरुष की अपेक्षा करता हैं उसी प्रकार वर्ण वर्णान्तर की अपेक्षा करता है, यहाँ सानुरागत्व है।

"विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्त्तयन्तो"

यहाँ पर 'मकरन्द' में 'र' शब्द गुरुत्व (गुरुवर्ण होने के) के लिए 'न्द' की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार 'नर्त्त' में 'न' गुरुत्व के लिए 'र्त' की ओर 'यन्तो' में 'य' वर्ण 'न्तो' की अपेक्षा करता है। और 'न्तो' पद में गुरु होने से स्व-विश्रान्ति से उत्पन्न काल के उपचय से लभ्य गुरुत्व को आकांक्षा नहीं करता, किन्तु द्वितीय पाद के पाठ की अपेक्षा तो करता है।

"विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्तः"।

यत्र खलु समासेन संक्षेपेण युक्तानि पदानि, यत्रार्थो भूयानिति संक्षेपो नामार्थगुण ओजः । ओजस्वी किमतोऽपि यः खलु युवा भूत्वा समापेक्षते, तथा एकमपि वस्तु उदारैर्बहुभिः पदैरुपनिबध्यते विस्तरात्मकत्वमप्योजोऽर्थगुणः । संक्षेपो यथा—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ (कुमा ६·९३)

विस्तरस्तु

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः ।
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ॥
(रघु० २-७५) १०५।१०६ ॥

इस प्रकार के पाठ में 'लुलित' में 'लि' शब्द 'त' को धारा मे 'धा' शब्द 'रा' की और 'लोलयन्तः' में 'लो' शब्द 'ल' की अपेक्षा करता ही है। इसी को गाढ़ता कहते हैं जिसमें अवयव निबिड़ है।

जहाँ पर षद संक्षेप से युक्त हैं और अर्थ बहुल हैं, यह संक्षेप नामक ओज अर्थ गुण है। और 'वह ओजस्वो कैसा ? जो युवा होकर भो दूसरे की अपेक्षा करता है।" इस प्रकार जब एक वस्तु को बहुत से पदों से उपनिबन्धन करते हैं। और विस्तारपूर्वक वर्णना करते हैं तो विस्तारात्मकत्व भो ओज शवद गुण है।

संक्षेप का उदाहरण जैसे—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निषेवार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ (कुमार ६।९३)

यहाँ पर संक्षेप में शिव-पार्वती के विवाह सम्बन्धी वृत्तान्त को पूरा करके वर्णन किया गया है। विस्तार का उदाहरण जैसे—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः ।
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ॥ (रघु २।७५)

अर्थात् अत्रि के नेत्र से समुद्भुत ज्योति को आकाश के समान और अग्नि से उद्भुत ईश के तेज को सुरसरित के समान सुदक्षिणा के दिलीप के द्वारा आधान किये गये गर्भ को धारण किया। यहाँ विस्तार का उदाहरण है।

सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं [५]सौकुमार्यं तदुच्यते ॥ १०७ ॥

सौकुमार्यमाह—सुखप्रयोज्यैरिति । क्वचित्पदस्य स्वयं पारुष्यं भवति यथा द्राढा, अजड्ढा, निर्द्वंतं, सदृक्त्वं व्यवसितिः, इति । क्वचित्संहितया – दर्व्याख्योर्वी-विधूयते । तदुभयरहितत्वं सौकुमार्यं शब्दगुणः । यथा—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं ।
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ॥
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

अत्र च यद्वक्तव्यं तत्समाधिलक्षणे निर्णीतम् । परुषेऽपि चार्थं सुकुमारेणार्थेन या संपत्तिस्तदर्थगुणः सौकुमार्यमपारुष्यरूपम् । एकाकिनि देवतासहाय इति मृते यशःशेष इति, जडे देवानां प्रिय इति ॥ १०७ ॥

७. सौकुमार्य

अनुवाद—जो सुश्लिष्ट सन्धि वाले सरलता से प्रयोज्य (प्रयोग के योग्य) शब्दों से युक्त तथा सुकुमार अर्थों से युक्त हो उसे 'सौकुमार्य' गुण कहते हैं ॥ १०७ ॥

अभिनव—सौकुमार्य गुण को कहते हैं—कहीं-कहीं पर पद स्वयं पुरुष होता है। जैसे—द्राढ़ा, अजड्ढा, निर्द्वंतं सदृक्त्वं, व्यवसितिः। कहीं पर सन्धि के कारण पारुष्य होता है। जैसे 'दर्व्याख्योर्वी विधूयते'। इसमें सन्धि के कारण परुषता है। इन दोनों से रहित सौकुमार्य शब्दगुण होता है। जैसे—

"गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैस्मुहुस्तड़ितम्" इत्यादि। यहाँ पर जो कुछ कहना था वह समाधि गुण के निरूपण में कह दिया है। पदार्थ के परुष होने पर भी सुकुमार अर्थ से जो सम्पत्ति होती है वह अपारुष्य रूप सौकुमार्य अर्थगुण है। जैसे—एकाकी (अकेले) के लिए 'देवतासहाय', मरे हुए के लिए 'यशःशेष' तथा जड़ (मूर्ख) के लिए 'देवानां प्रियः, शब्दों का प्रयोग सुकुमार हो गया ॥ १०७ ॥

५. क. (टि॰) सुकुमारं ।

[1]सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥ १०८ ॥
[2]यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तरं [3]प्रयोगस्तु साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता[4] ॥ १०९ ॥

अर्थव्यक्तिमाह—सुप्रसिद्धाभिधानेति । प्रसिद्धमभिधानमभिधाव्यापारो यस्यां काव्यक्रियायां सार्थव्यक्तिः शब्दगुणः यथा—

> गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
> छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यसतु ।
> विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ॥
> विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

विपर्यये तु किरातादिनिदर्शनं यच्चार्थे वर्ण्यते स तथैव लोके प्रसिद्ध इत्यर्थस्य गुणोऽर्थव्यक्तिः । यथा—

---

८. अर्थव्यक्ति

अनुवाद—जहाँ पर लोक में व्यवहार के योग्य कर्म से व्यवस्थित अर्थ का सुप्रसिद्ध शब्दों द्वारा अभिधान किया जाय, उसे 'अर्थव्यक्ति' कहते हैं ॥ १०८ ॥

अथवा

अनुवाद—जिस शब्द के प्रयोग के अनन्तर जिस अर्थ का चित्त में तत्काल प्रयोग हो जाय, उसे 'अर्थव्यक्ति' कहते हैं ॥ १०९ ॥

अभिनव—अर्थव्यक्ति को कहते है—जिस काव्य क्रिया में अभिधा व्यापार का प्रसिद्ध वस्तु के अभिधान किया जाय, वह 'अर्थव्यक्ति' शब्द गुण है । जैसे—

"भैंसे सींगों के बार-बार ताड़ित जलाशय के जल में अवगाहन करें । छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए मृग जुगाली करें । सुअर विश्वस्त होकर तालाबों में मोथा खाय । जिसको डोरी शिथिल (ढीली) कर दी गई है, ऐसा मेरा यह धनुष विश्राम करें ।"

---

१. ग. सुप्रसिद्धा धातुना तु । 'ख' पुस्तके नोपलभ्यते ।
२. क. (टि०) यस्यार्थोऽनुप्रवेशेन मनसः परिकल्प्यते ।
३. क. प्रयोगस्य । ङ अनन्तरप्रयोगस्तु ।
४. क. (टि०) सार्थव्यक्तिः प्रकीर्तिता ।

[1]दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥
अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुक्तैः[2] ।
[3]उपेतमतिचित्रार्थैः उदात्तं तच्च कीर्त्यते ॥ १११ ॥

पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां
राजीभिरञ्जितमलक्तकलोहिनीभिः ।
गोरोचनाहरिबभ्रुबहिः पलाश-
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥ १०८-१०९ ॥

उदारतामाह—दिव्यभावपरीतं यदिति । यत्रमानुषोचितमपि दिव्यतया, करुणादियुक्तमपि शृङ्गारेण, वीरतास्थानमप्यद्भुतेन युक्तं वर्ण्यते । तद्गतैर्वा विभावानुभावादिभिः यदुदीरितं तत्रौदार्यमर्थगुणः । एतदेवाग्राम्यत्वमित्यन्यैरुक्तम् । ग्राम्यं हि वस्तु यथास्थितमयोजितरचनाविशेषं प्रसिद्धिमात्रप्रमाणमुच्यते, ततोऽन्यदग्राम्यम् यथा—

विपर्यय में किरात आदि निदर्शन है, वहाँ जिस अर्थ का वर्णन करते हैं वह उसी प्रकार लोक में प्रसिद्ध है। इस प्रकार अर्थ का गुण अभिव्यक्ति है। जैसे—

"शंख के टुकड़े के समान कान्ति वाले पत्तों के पृष्ठ पर महावर के समान लाल रङ्ग की रेखाओं से आश्रित, गोरोचना से रञ्जित हरित एवं पिङ्गल वर्ण के पत्तों वाले कुमुद तालाब के जल में सुगन्धित है, खिल रहे हैं।"

९. उदारता (उदात्त)

अनुवाद—जो रचना दिव्य भावों से प्राप्त हो, शृङ्गार एवं अद्भुत रस की योजना से युक्त हो तथा अनेक भावों से पूर्ण हो उसे 'उदारता' गुण कहते हैं ॥ ११० ॥

अथवा

अनुवाद—जो अनेक विशेष अर्थों से सौष्ठव युक्त सुन्दर वचनों से तथा अतिविचित्र अर्थों सें युक्ति हो, उसे 'उदात्त' गुण कहते हैं ॥ १११ ॥

---

१. ख. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
२. क. (टि०) सौष्ठवसंज्ञितैः ।
३. क. (टि०) उपेतमनतिग्राह्यैरुदारं तच्च कीर्त्यते ।

त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे! संवदति वां
अतः शेषं चेत्स्याज्जितमथ इदानीं गुणितया ॥ इति ॥

यत्राद्भुतत्वेन चमत्कृतोऽर्थः। अनेकभावसंयुक्तमिति। शब्दगुणस्य लक्षणम्। एकभाषाचित्रत्वस्यानेकताचित्रत्वं पदस्यैकस्यानेकपदव्यक्ति रक्षरसंख्यावैचित्र्यं सन्धान साजात्यं च पिण्डीबन्धनृत्तसादृश्येन, तत्र हि गुल्मजातशृङ्खलिकादिभेदेनेत्थंभूतो नर्तकीसंनिवेशो भरते तदुक्तं विकटत्वं नरीनृत्यमानत्वमिति पदानामौदार्यमिति। यथा—

स्वरचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां ।
झटिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ॥

अभिनव—उदारता को कहते हैं—जहाँ मानुष भाव के योग्य होकर भी दिव्यता से युक्त है, करुणा से युक्त होकर भी शृङ्गार से युक्त है, वीरता-युक्त होकर भी अद्भुत से युक्त वर्णन है। उन-उन रसों के विभाव, अनुभाव से जिसका उद्‌गार किया गया है, वह औदार्य (उदारता) नामक अर्थगुण है। इसी को कुछ लोग अग्राम्य कहते हैं। यथास्थित वस्तु तथा जो पूर्व नियोजित रचना-विशेष न हो तथा केवल प्रसिद्धिमात्र प्रमाण वाली वस्तु ग्राम्य होती है। इससे भिन्न वस्तु अग्राम्य होती है। जैसे—

तुम इस प्रकार की सुन्दर हो और वह सुन्दरता का प्रेमी है। तुम कलाओं की पराकाष्ठा हो और वह कलाओं का पारखी। हे सुभगे! तुम दोनों की जोड़ी भाग्य से मिल रही है, अब अवशिष्ट यह है कि तुम दोनों का मिलन हो जाय, तो तुम्हारे गुणों की विजय हो गई।"

जहाँ पर अद्भुत रूप से अनेक भावों से युक्त चमत्कृत वर्णन हो, वह उदारता शब्द गुण का लक्षण है। जैसे एक भाषा में चित्रित अर्थ का अनेक रूप में चित्रण। एक पद में अनेक पदों की अभिव्यक्ति, अक्षरों की संख्या का वैचित्र्य, और सन्धियों का साजात्य। इनमें पिण्डीबन्ध नृत्य का सादृश्य है। उनमें संघात रूप में शृङ्खलादि के भेद से इस प्रकार का नर्तकी के सन्निवेश को भरत ने जो विकट एवं अतिशय नृत्य का प्रयोग बताया है। वह पदों का आदार्य गुण है। जैसे—

"वहाँ नर्तकियों की अपने पैरों में पहिने हुए नूपरों की झटिति आश्चर्यजनक ध्वनि हुई।"

[4]यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत् ।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः ॥ ११२ ॥

अत्र प्रथमपादे एकाक्षरत्र्यक्षरचतुरक्षरमिति विचित्राणि पदानि, रेफे तद्-द्वितीयपदाक्रमणाद्व्याप्तिः तकारयोः सन्धानात्सन्धिसाजात्यं, तकारसकारयोः संस्थाननैकट्यं च । विपर्ययस्तु—

"चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झटिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रं च तत्र"

अत्र द्वे अपि पदे त्र्यक्षरे । तावेव पादौ । इदं भाषितविचित्रत्वम् । यथा—

"अथ यदि तव वक्त्रं चण्डि ! भूयोऽपि नाम"
इति न हृद्यं क्वणितरणितमासीन्मञ्जु चित्रं च तत्र" इति

तकारमकारयोरसाजात्यं सकारमकारयोश्च संस्थानमिति ॥ १११ ॥

यहाँ पर प्रथम चरण में एकाक्षर, त्र्यक्षर चतुरक्षर इस प्रकार विचित्र पद है, रेफ से सुन्दरता बढ़ गई। द्वितीय पाद में आक्रमण से व्याप्ति हो गई। 'तत्र' में तकारों के सन्धान से सन्धि में साजात्य है, 'सीत्तत्र' में सकार, तकार का संस्थान नैकट्य है।

विपर्यय तो—

"नर्तकियों के चरण कमल में पहिने हुए नूपुरों की मञ्जु एवं चित्र झङ्कार शीघ्र हो गई।"

इसमें दो पद तीन अक्षरों वाले हैं। ये ही दो पाद हैं। यह भाषितविचित्रता है। जैसे—

"हे चण्डि ! यदि तुम्हारा वक्त्र फिर होगा' यह हृद्य नहीं है। 'क्वणित-रणितमासीन्मञ्जु चित्रं च तत्र च' में तकार और मकार का असाजात्य है। 'सोन्म' में सकार मकार संस्थान नैकट्य है।"

१०. कान्ति

अनुवाद—जहाँ पर लीला आदि अर्थों से उत्पन्न (युक्त) रचना चन्द्र की तरह श्रोत्र और मन को आह्लादित कर दे, उसे 'कान्ति' गुण कहते हैं ॥ ११२ ॥

४. क. (टि०) यन्मनः श्रोत्रविषयं प्रह्लादजनकं भवेत् ।
शब्दबन्धार्थयोगेन तत्कान्तिरिति भण्यते ॥
यन्मनः श्रोत्रविषयं प्रह्लादजननं तथा ।
शब्दतत्त्वार्थसंयोगे तत्कान्तिरिति कीर्त्यते ॥

यो मनश्श्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते ॥ ११३ ॥

कान्तिमाह—यन्मनः श्रोत्रविषयमिति । यन्मनोविषयमाह्लादयति यथा शृङ्गारविभावरूपं लीलादिचेष्टालङ्कारसुन्दरं काव्यार्थरूपं तत्कान्तिगुणयुक्तं तदेव दीप्तरसत्वमित्युक्तमन्यैः[1] । विभावादीनां दीप्तत्वमिति यावत् । यथा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पदानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्यात्मना
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रमाणकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ।

अत्र ह्रोर्ष्याख्यस्य रत्यनुभावस्य, औत्सुक्य स्वभावस्य च दीप्तत्वमित्यर्थगुणः । श्रोत्रविषयीभूतमिव यदाह्लादि काव्यं तत्कान्तिर्नाम शब्दगुणः ।

कुरङ्गीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः —

अन्य लक्षण—

अनुवाद—प्रयोग के द्वारा जो शब्द बन्ध श्रोत्र और मन का विषय होकर प्रसादजनक हो, उसे 'कान्ति' कहते हैं ॥ ११३ ॥

अभिनव—कान्ति को कहते हैं—जो चित्त को आल्हादित करता है। जैसे शृङ्गार के विभाव रूप नायिका को लीलादि चेष्टा रूप अलङ्कार से सुन्दर काव्यार्थ रूप वह कान्ति गुण से युक्त है, दीप्तरसत्व है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं। विभावादि की दीप्ति। जैसे—

"यह वही प्रिय है जो शपथपूर्वक आपके चरणों में झुका हुआ था, उसे कान्ता ने फटकार दिया था, किन्तु खिन्न होकर वासगृह से जब तक दो-तीन ही पग चला था कि तब तक प्रणाम करती हुई नायिका ने दौड़कर उसे पकड़ लिया। उस समय हाथ से पकड़ा हुआ नीवी का बन्धन खिसक गया। अहो प्रेम की गति विचित्र है।"

यहाँ पर ईर्ष्या नामक रति का अनुभाव का और औत्सुक्य भाव का दीप्ति है, अतः यह कान्ति नामक अर्थ गुण है। श्रोत्र का विषयोभूत जो आह्लादि काव्य है, वह कान्ति नामक शब्द गुण है। जैसे—

"कुरङ्गी की नेत्राली (नेत्रपंक्ति) से वनालि (वनपंक्ति) का परिसर स्तबकित है।

१. क. (टि०) वामनभोजादिभिः ।

एवमेते ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ ११४ ॥
लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् ।
काव्यं कार्यं [1]नाट्यज्ञैः वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥ ११५ ॥

अत्र हि समासवत्यपि रचना श्रोत्रेन्द्रियैकतानतामावहति । तदेतल्लोके मधुरकाव्यमिति प्रसिद्धम् । माधुर्यमभ्यस्तपदत्वमुक्तम् । अन्ये त्वौदार्यकान्त्योर्लक्षणद्वयंविपर्यासेन पठन्ति ॥ ११२ ॥

एतदुपसंहरति—एवमेत इति । चकाराच्छन्दांसि वृत्तानि जातयश्च । एषामिति । वृत्तच्छन्दः प्रभृतीनां दोषान्तानाम् । अनित्यदोषा हि विनियुज्यन्तेऽपीत्युक्तम् ॥ ११४ ॥

लघ्वक्षरप्रायेति । अत्र अतनुवाहो चित्तवृत्तिपरिस्पन्दः, तत्र लघ्वक्षरप्रधानं वृत्तं वीरादावुपमारूपके ॥ ११५ ॥

यहाँ पर समासयुक्त भी रचना श्रोत्रेन्द्रिय को एकतानता का आवहन करती है । इसलिए लोक में यह मधुर काव्य के रूप में प्रसिद्ध है । माधुर्य को अभ्यस्त पद कहा गया हैं । अन्य लोग औदार्य और कान्ति दोनों के लक्षणों को विपर्यय रूप में पढ़ते हैं अर्थात् वे कान्ति के लक्षण को औदार्य का लक्षण और औदार्य के लक्षण को कान्ति का लक्षण मानते हैं ॥ ११३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार इन अलङ्कार, गुण और दोषों का वर्णन किया गया है । अब इनके रसाश्रित प्रयोग को कहूँगा ॥ ११४ ॥

अभिनव—इनका उपसंहार करते हैं—'दोषाश्च' में कथित चकार से छन्द, बृत्त और जातियों का ग्रहण होता है । 'एषाम्' पद से छन्द प्रभृति दोष पर्यन्त का ग्रहण है । अनित्य दोषों का भी इसमें बिनियोग है, ऐसा कहा गया है ॥ ११४ ॥

अनुवाद—नाट्य-वेत्ताओं को लघु अक्षरों से युक्त, उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों के आश्रय तथा वीर, रौद्र और अद्भुत रसों के आश्रय काव्य का निर्माण करना चाहिये ॥ ११५ ॥

अभिनव—जहाँ पर हृदय का परिस्पन्द सूक्ष्मवाही न रहे, वहाँ पर वीर आदि में उपमा रूपक जैसे अलङ्कारों में लघु अक्षर प्रधान वृत्त रहते हैं ॥ ११५ ॥

गुर्वक्षरप्रायकृतं बीभत्से करुणे तथा ।
कदाचिद्रौद्रवीराभ्यां यदाधर्षणजं भवेत् ॥ ११६ ॥
[2]रूपदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
[3]शृङ्गारे च रसे कार्यं मृदुवृत्तं तथैव च ॥ ११७ ॥
उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे [4]काव्यं तु यद्भवेत् ।
जगत्यातिजगत्या वा संकृत्या वापि योजयेत्[5] ॥ ११८ ॥

मसृणवाहिनि तु हृदयस्पन्दे गुर्वक्षरप्रायं करुणादौ । रौद्रादावपि कदाचित्तद्भवति । यदा विलम्ब्य परखलीकारं स्मृत्वा ब्रवीति 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इति तथा 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ ।

अनुवाद—बीभत्स और करुण रस में गुरु अक्षरों वाली रचना करनी चाहिए । कभी-कभी वीर और रौद्र रस में जब किसी आधर्षण हो, गुरु अक्षरों वाली रचना करनी चाहिए ॥ ११६ ॥

अभिनव—मसृणवाही हृदय के स्पन्दन में करुण आदि में गुरु अक्षर प्रधान वृत्त होते हैं । रौद्र रस में भी कभी-कभी ऐसा होता है । जैसे, ठहर-ठहर कर शत्रु के आधर्षण को याद करके कहता है—'कर्त्ता द्यूतच्छलानां' (द्यूत दलों का करने वाला) तथा 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' (जो-जो शस्त्र को धारण करता है)। इत्यादि में ॥ ११६ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस में रूपक तथा दीपक अलङ्कारों से युक्त आर्यावृत के आश्रय कोमल वृत्तों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११७ ॥

अनुवाद—वीर रस में उत्तर-प्रत्युत्तर से युक्त जो काव्य होता है, उसमें जगती, अतिजगती और संकृति छन्दों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११८ ॥

---

१. क. (टि॰) शास्त्रज्ञैः ।
२. ख. रूपकदीपक संयुक्तं नार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
३. ख. शृङ्गारे रसकार्यं तु ।
क. शृङ्गारे च रसे वीरे काव्यं स्यालङ्काराश्रमम् ।
४. क. पाठ्यं ।
५. ख' ग. वापि तद्भवेत् ।
क. युद्धसंफेटयोस्तज्ज्ञैरुत्कृतिः सम्प्रकीर्तिता ।
५. ग. तथा चाभिधृतः स्मृता । क. तथा चातिधृतिर्भवेत् ।

तथैव युद्धसम्फेटा उत्कृत्यां सम्प्रकीर्तितौ ।
करुणे शक्वरी ज्ञेया तथैवातिधृतिर्भवेत् ॥ ११९ ॥
यद्वीरे[1] कीर्तितं च्छन्दः तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत्[2] ।
शेषाणामर्थयोगेन च्छन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः[3] ॥ १२० ॥
[4]यच्छन्दः पूर्वमुद्दिष्टं विषमार्धसमे समम् ।
[5]उदारमधुरैः शब्दैस्तत्कार्यं तु रसानुगम् ॥ १२१ ॥

अत एव भयानके हास्ये शान्ते वा यथायोगं संवेदनस्पन्दता-चर्व्यमाणता-स्वाद्यताश्चर्यकृतो विभागो वृत्तानां मन्तव्यः ॥ १२० ॥

उदारमधुरैरिति । औदार्यं शब्दगुणो दीप्तेषु प्राधान्येन तदनुयायि च गुणान्तरं माधुर्यं, स्वानुयायि गुणसंहितमसृणेषु रसेषु ॥ १२१ ॥

अनुवाद—उसी प्रकार युद्ध और संफेट के वर्णन में उत्कृति छन्द का प्रयोग करना चाहिए और करुण रस में शक्वरी तथा अतिधृति छन्दों की योजना करनी चाहिए ॥ ११९ ॥

अनुवाद—वीर रस में जिस छन्द का प्रयोग बताया गया है रौद्र रस में भी उसी की योजना करनी चाहिये । शेष रसों में अर्थ के अनुसार प्रयोक्ताओं को छन्द की योजना करनी चाहिए ॥ १२० ॥

अभिनव—शेष अर्थात् भयानक, हास्य और शान्त रस में यथायोग संवेदन की स्पन्दता, चर्व्यमाणता, आस्वाद्यता के कारण आश्चर्यकृत वृत्तों का विभाग मानना चाहिए ॥ १२० ॥

अनुवाद—जिन विषम, अर्धसम और सम छन्दों को पूर्व में बतलाया जा चुका है, उनमें उदार और मधुर शब्दों द्वारा रसानुकूल रचना करनी चाहिए ॥ १२१ ॥

अभिनव—औदार्य शब्दगुण प्रधानतः दीप्त रसों में रहता है। उसका अनुयायी अन्य गुण माधुर्य है । ये अपने अनुयायी गुणों के साथ-साथ मसृण रसों में रहते हैं ॥ १२१ ॥

---

१ ग. कीर्त्यते । २. ग. सम्प्रयोजयेत् ।

३. ग. तथा रसः ।

४. क. यच्छन्दः पूर्वमेवोक्तं । क. (टि०) ये बन्धाः पूर्वमुद्दिष्टा विषमार्धसमासमा ।

५. क. (टि०) उदारशब्दैर्मधुरैः कार्यस्तेऽर्थवशानुगाः ।

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्[1]
[2]नाटचाश्रयेषु कृतिषु प्रयतेत कर्त्तुम् ।
तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ॥ १२२ ॥

त्रिविधं ह्यक्षरं [3]कार्यं कविभिर्नाटकाश्रयम् ।
[4]ह्रस्वं दीर्घं प्लुतञ्चैव [5]रसभावविभावकम् ॥ १२३ ॥
एकमात्रं भवेद् ह्रस्वं द्विमात्रं दीर्घमिष्यते[6] ।
प्लुतं चैव द्विमात्रं स्यादक्षरं स्वरयोजनात्[7] ॥ १२४ ॥

अर्थगुणास्तु यथायोगं सर्वत्र, तदाह प्रमदाभिधेयानिति । प्रमदो हर्षः हर्षजनको गुणसाकल्यवानभिधेयोऽर्थो येषाम् ॥ १२२ ॥

अनुवाद—हर्ष जनक अर्थ वाले उदार और मधुर शब्दों का नाट्याश्रित रचनाओं में विन्यास के लिये प्रयास करना चाहिये। ऐसे शब्दार्थों से विभूषित बहुत से काव्यबन्ध राजहंसों से सुशोभित कमल सर के समान शोभायमान होते हैं ॥ १२२ ॥

अभिनव—अर्थगुण तो यथायोग सब जगह रहते हैं। उसी को 'प्रमदाभि-भिधेयान्' इत्यादि के द्वारा कहते हैं। प्रमद का अर्थ हर्ष है। हर्षजनक गुण से युक्त अभिधेय अर्थ है जिनका ॥ १२२ ॥

अनुवाद—कवि लोग नाटकों की रचना में रस और भावों की अभिव्यक्ति के लिए ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक त्रिविध अक्षरों का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२३ ॥

अनुवाद—स्वर योजना के अनुसार एक मात्रा का वर्ण ह्रस्व होता है, दो मात्रा वाले वर्ण को दीर्घ कहते हैं और तीन मात्रा वाला वर्ण प्लुत कहलाता है ॥ १२४ ॥

---

१. ख. प्रमदाभिनेयान् ।
२. क. (टि० नाटचाश्रयान् । नाटचाश्रितान् ।
३. ख. ग. काव्ये विज्ञेयं ।
४. क. ज.) प्लुतं ह्रस्वं च दीर्घं च ।
५. क. पदबन्धसमाश्रयम् ।
६. क. दीर्घमुच्यते । ७. क. वर्णसंश्रयम् ।

स्मृते [1]चासूयिते चैव तथा च परिदेविते ।
पठतां ब्राह्मणानाञ्च प्लुतमक्षरमिष्यते ॥ १२५ ॥
[2]अकारस्तु स्मृते कार्यं ऊकारश्चाप्यसूयिते ।
परिदेविते तु हाकार[3] ओङ्कारोऽध्ययने तथा ॥ १२६ ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम् ।
[4]काव्ययोगेषु सर्वेषु [5]ह्यक्षराणि प्रयोजयेत् ॥ १२७ ॥

भावार्थो हृदयगतोऽभिप्रायः क्रियाविशेषश्च तं दर्शयति स्मृते चेत्यादि ॥ १२५ ॥

एतदेव च क्रमेण विभजति आकार इत्यादि । द्वावेतावनुस्वारेणानुनासिक्येन वा युक्तौ कार्यौ आण्डदण्डादि ॥ १२६ ॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम् काव्यबन्धेष्वेषेष्विति वचनादन्यत्र विषये दूराहुत्यादिषु प्लुप्त उक्तः यत्रासौ प्रयोज्य एवेति दर्शितम् ॥ १२७ ॥

अभिनव—भावार्थ अर्थात् हृदयगत अभिप्राय और क्रियाविशेष को दिखाते हैं—

अनुवाद—किसी वस्तु के स्मरण में, असूया (ईर्ष्या) करने में तथा परिवेदन (रोदन) में और ब्राह्मणों के वेद पाठ करने में प्लुत अक्षर इष्ट है ॥ १२५ ॥

अभिनव—इसी का क्रमशः विभाग करते हैं—

अनुवाद—स्मरण में अकार का, असूया में ऊकार का, परिदेवन (रोदन) में 'हा' का और वेदाध्ययन में 'ओम्' का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२६ ॥

अभिनव—ये दोनों अनुस्वार और अनुनासिक से युक्त करने चाहिए। जैसे—आण्ड, दण्ड, बण्ड आदि ॥ १२६ ॥

अनुवाद—सभी प्रकार के काव्य-बन्धों में रस और भावों के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२७ ॥

अभिनव—'ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अक्षरों का रस और भावों के अनुसार समस्त काव्य-बन्धों में प्रयोग करना चाहिए' इस बचन के अनुसार अन्यत्र दूर से बुलाने आदि में प्लुत का प्रयोग कहा है, जहाँ पर इनका प्रयोग करना चाहिए ॥ १२७ ॥

---

१. ग. वासूचिते । २. ग. आकारस्तु । ३. ग. हुंकार ।
४. ग. काव्ययोगेष्वक्षराणि यथाशोभं विवेशयेत् । क. काव्यबन्धेष्वयेषु ।
५. ख. ह्याकाराणि कृतो वयेत् ।

चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैस्तु शब्दै-
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।
[1]यज्ञक्रियेव रुरुचुर्मधुरैः कृतावतै-
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ॥ १२८ ॥

चेक्रीडितं यङन्तम् । आदिग्रहणेन ण्यन्ता एते नटोचिताः प्रयोगाः न भान्ति । ते यतो ललिता । यथा वेश्यापरिग्रहे द्विजैर्मृगाजिनदण्डकमण्डलुघृताभ्यङ्गादि धरैः संभवद्भिरपि यज्ञक्रिया न भाति । एवं तद्व्याख्याने रौद्रादिस्वविषये यत्पुरुष-स्याभ्यनुज्ञानं तद्वियुक्तं स्यादितीत्थं व्याख्या—ललिताः सुकुमारप्रयोगास्ते परुषैः पदैर्न भान्तीति विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञापक इति न्यायादन्यत्र तत्प्रयोग इत्युक्तं भवति ।

अनुवाद—चेक्रीडित प्रभृति विकृत शब्दों से युक्त नाट्य-प्रयोग ललित (सुन्दर) नहीं लगते । जैसे मृगचर्मधारी घृत से सने हुये कमण्डलु तथा दण्ड हाथ में लिए द्विज ब्राह्मणों का यज्ञक्रिया के समान वेश्या का संसर्ग अच्छा नहीं लगता ॥ १२८ ॥

अभिनव—यहाँ 'चेक्रीडित' पद यङन्त है । आदि पद के ग्रहण से ण्यन्त, सन्नन्त पदों का ग्रहण है । ये प्रयोग नटों के लिए उचित नहीं है । क्योंकि नटों के प्रयोग ललित होते हैं । जिस प्रकार वेश्या के परिग्रह में मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु, धृताभ्यङ्ग आदि को धारण करने वाले ब्राह्मणों के द्वारा संभव होते हुए भी यज्ञ-क्रिया सुशोभित नहीं होती । इस प्रकार इसकी व्याख्या करने पर रौद्रादि के विषय में जिन पुरुषों का अभ्यनुज्ञान है, वह छूट जायेगा । इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए । ललित अर्थात् जो सुकुमार प्रयोग हैं वे परुष (कठोर) पदों के प्रयोग से अच्छे नहीं लगते । इस प्रकार विशेष का निषेध शेष का अभ्यनुज्ञापक होता है, इस न्याय से अन्यत्र उनका प्रयोग होता है, यह कहा गया है ।

---

१. ब. कृष्णाजिनाक्षररुचर्मधरैर्घृतावतैः ।

मृदुललितपदार्थं[1] गूढशब्दार्थहीनं
[2]बुधजनसुखभोग्यं [3]युक्तिमन्नृत्तयोज्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ १२९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वागभिनये काव्यलक्षणो नाम षोडशोऽध्याय ॥ १६ ॥

तथाहि—"चयोद्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्" इत्येवमादिरपि विधिः प्रयोज्य एव, (आख्यातामर्थं तथ्यं" इत्यादौ (?) एतदेव साधर्म्यवैधर्म्यद्वारेणोपपादयति यथा तैरेव यज्ञक्रिया भाति न तैस्तथा वेश्या, तदनङ्गत्वात् । बहुव्रीहेर्वा यज्ञक्रिया पत्न्यप्युच्यते । इति शिवम् ॥ १२८ ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां
नाट्यवेदविवृतावभिनवभारतयां लक्षणालङ्कारदोषगुणाध्यायः
षोडशः समाप्तः ॥ १६ ॥

जैसे—'पौष्करसादि के आचार्य के मतानुसार शर् से अन्यवहित चय् को द्वितोय अक्षर हो जाता है' इत्यादि विधियाँ भी प्रयोज्य हैं। इस अनुशासन से सिद्ध का साधर्म्य वैधर्म्य के द्वारा उपादान करते हैं कि जिस प्रकार मृगचर्मादिधारी द्विजों से यज्ञक्रिया शोभित होती है, वैसे द्विजों से वेश्या सुशोभित नहीं होती। क्योंकि वह उसके अङ्ग नहीं हैं। यज्ञक्रिया में बहुव्रोहि समास करने पर यज्ञक्रिया से द्विजों की धर्मपत्नियों का ग्रहण होता है ॥ १२८ ॥

अनुवाद—जिसमें मृदु और ललित पदार्थ हो, जिसमें गूढ़ शब्द और अर्थ न हो, जो बुधजनों द्वारा सुख से बोध्य हो, जिसमें युक्तिपूर्वक नृत्त को योजना हो, जिसमें रस के मार्ग बहुत हों और जो सन्धियों के सन्धान से युक्त हो, ऐसा नाटक जगत् में प्रेक्षकों के देखने योग्य होता है ॥ १२९ ॥

अभिनव—इस प्रकार यशोराशि यशोराग के दौहित्र से उत्पन्न ग्रन्थ का अनुबन्ध में सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में डा० पारसनाथ द्विवेदो रचित हिन्दी-व्याख्या
में काव्य लक्षण नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

●

---

१. ग. पदाढ्यं । २. ग. जनपदसुखबोध्यं । ३. बुद्धिमत् ।

षोडशोऽध्यायः

अनुबन्धः

भूषणाक्षरसङ्घातौ शोभोदाहरणे तथा ।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्ताभिप्राय एव च ॥ १ ॥

निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥ २ ॥

[1]दृष्टं चैवोपदिष्टं च विचारस्तद्विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ॥ ३ ॥

अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।
मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्तनम् ॥ ४ ॥

ज्ञेयान्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च ।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येव काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ ५ ॥

षोडश अध्याय

अनुबन्ध

अनुवाद—भूषण, अक्षरसंघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्य-तर्क, पदोच्चय, दिष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, संक्षोभ, गुणकीर्त्तन, अनुक्तसिद्धि, प्रियवचन (प्रियोक्ति)—इन छत्तीस लक्षणों का काव्य-बन्धों में निर्देश करना चाहिए ॥ १-५ ॥

---

१. क. दिष्टं ।

समस्तार्थालङ्कारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत्काव्यशरीरस्य सौन्दर्यं-दायि। अलंकारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येणैव पुरुषः प्रविभासते ॥ १ ॥

गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत्काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति। यथा लक्षणरहितः पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्जं कथाशरीरं गुणालङ्कारो-ज्ज्वलमपि नीरसत्वं भजत्प्रौढकाव्याभिधानं नार्हति कथाशरीरसंपन्नेषु काव्येष्वेव लक्षणानि निवर्त्यन्ते न तु मुक्तकादिषु खण्डकाव्येषु। अतएव 'काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्या' इति मुनिनैव मुक्तकादिवारणपरमुक्तम् ॥ २ ॥

लक्षणान्यसंख्येयानि, तेषां चमत्कृतिविशेषगरिष्ठानि षट्त्रिंशदेव मुनिना संगृहीतानि। कोहलादिभिस्तच्छिष्यैः प्रकीर्तितान्यपराणि कानिचिल्लक्षणत्वेन प्रसिद्धिमुपगतानि कालप्रवाहेन भरतग्रन्थ एव पाठान्तरनिबन्धरूपेण प्रक्षिप्तानि स्युः। सौन्दर्यजनकत्वकारेण भोजादिभिरुभयपाठगतान्यपि लक्षणानि स्वीकृत्यान्यैरपि कैश्चिच्चमत्कृतिभूतैर्लक्षणैः सह चतुःषष्टित्वेन प्रकटितानि ॥ ३ ॥

अभिनव—समस्त अर्थालङ्कारों के बीजभूत एवं कथाशरीर (इतिवृत्त) में वैचित्र्य लाने वाले वक्रोक्ति रूप चमत्कार लक्षण शब्द से व्यवहृत किये जाते हैं। लक्षण, गुण और अलङ्कारों की महिमा की परवाह न करके अपने सौभाग्य से ही शोभित होते हैं। महापुरुषों की पद्मादि रेखा के समान लक्षण काव्य-शरीर सौन्दर्य प्रदान करते हैं। अलङ्कार तो रत्नों के आभूषण के समान ही है, जिनके बिना भी पुरुष अपने सौन्दर्य ही सुशोभित होते हैं।

गुण तो धैर्यादि के समान प्रवृत्ति से घोषित होता हुआ काव्य के शब्द और अर्थ की रचना का आश्रय से रहता है। जैसे लक्षण रहित पुरुष सुन्दर नहीं कहा जाता, उसी प्रकार लक्षण-रहित कथाशरीर, गुण और अलङ्कारों से उज्ज्वल होते हुए भी नीरसता को प्राप्त होने के कारण प्रौढ़ काव्य नहीं कहलाता। कथा-शरीर से सम्पन्न काव्यों में ही लक्षण सम्पन्न होते हैं, मुक्तक आदि खण्ड काव्यों में नहीं होते। अत एव मुनि ने 'कथाबन्धास्तु' कर्त्तव्या इत्यादि वाक्य को मुक्तक आदि के वारण के लिए कहा है।

यद्विवेचितमतिगम्भीरप्रौढवाचा भगवता वृत्तिकारेण लक्षणान्यसंख्यानीति तदुपष्टम्भैव भिन्नपाठोऽपि बालानां समुपवेद्य इत्यभ्यूह्य तन्मध्य एव संक्षेपेण प्रकाशितः ॥ ४-५ ॥

लक्षण तो असंख्य हो सकते हैं किन्तु भरत मुनि ने उनमें से चमत्कार विशेष से गरिष्ठ (श्रेष्ठ) ३६ लक्षणों को ही संग्रह किया है। भरतमुनि के शिष्य कोहल आदि आचार्यों ने इनके अतिरिक्त कुछ अन्य बातों को कहा था, वे लक्षण के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हो गये तथा कालप्रवाह से भरत के ग्रन्थ में ही पाठान्तर निबन्ध के रूप में प्रक्षिप्त कर दिये गये। सौन्दर्यजनक कारण से भोज आदि ग्रन्थकारों ने दोनों प्रकार के पाठों में प्राप्त लक्षणों को स्वीकार कर लिया। अन्य आचार्यों ने भी चमत्कार के मूलभूत लक्षणों को ६४ प्रकार से प्रकाशित किया है।

और जैसा कि वृत्तिकार ने अत्यन्त गम्भीर और प्रौढ़ वाणी में असंख्य लक्षणों का विवेचन किया है, उसी का उपष्टम्भन करके बालकों को भी समझना चाहिए, ऐसा स्वीकार करके मूल पाठ के मध्य में ही संक्षेप में प्रकाशित कर दिया ॥ १-५ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त ने अर्थालङ्कारों के बीजभूत तथा कथाशरीर में वैचित्र्य प्रदान करने वाले वक्रोक्ति रूप चमत्कार को 'लक्षण' कहा है। लक्षण गुण और अलङ्कारों की अपेक्षा न करके स्वयं प्रोद्भासित होते हैं। लक्षण काव्य में सौन्दर्य का आधान करते हैं और अलङ्कार रत्नाभूषण के समान हैं। क्योंकि नारी का शरीर अलङ्कारों के विना भी शोभित होते हैं। उसी प्रकार काव्य में लक्षण होने पर अलङ्कारों के विना भी शब्दार्थ शरीर शोभित होते हैं। जैसे लक्षणहीन पुरुष सुन्दर नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार काव्य-शरीर भी गुणालङ्कारों से युक्त होने पर भी नीरसता के कारण काव्य नहीं कहा जा सकता। इसी लिए काव्य में लक्षणों का सम्पादन अवश्य करना चाहिए, मुक्तक आदि खण्डकाव्यों में उसकी आवश्यकता नहीं है। अभिनवगुप्त का कथन है कि यद्यपि लक्षण असंख्येय है तथापि भरतमुनि ने चमत्कार-विशिष्ट ३६ लक्षणों का ही निर्देश किया है।

अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम् ॥ ६ ॥

भूषणं लक्षयति—अलङ्कारैरिति । भरतोक्तैरुपमादिभिर्गुणैश्च यत्र कथा—शरीररचना समुल्लासिता तद् भूषणं नाम लक्षणम् । चित्रार्थैरिति विभावादि-सामग्रीप्रत्यायकतया रसोद्द्योतकैरर्थविशेषैः मतान्तरे वक्रोक्तिरूपैः । यथा—

कृत्यारावणे सप्तमेऽङ्के कञ्चुकिनं दृष्ट्वा लक्ष्मणविभीषणौ—आर्य, कथय कथय ।

काञ्चु—का गतिः श्रूयतां—आर्या खलु सीता रावणाज्ञया किङ्करोपनीतं भर्तुर्मायाशिरोऽवलोक्य सखीभिराश्वास्यमानापि निवृत्तप्रयोजना नाहमात्मानं क्लेशयामि । इति (इत्यर्धोक्तौ तिष्ठति) ।

सर्वे—किं कृतवती ।

काञ्चु—यन्न शक्यते वक्तुम् ।

शशिन इव कला दिनावसाने कमलवनोदरमुत्सुकेव हंसी
पतिमरणरसेन राजपुत्री स्फुरितकरालशिखं विवेश वह्निम् ।

१. भूषण

अनुवाद—भूषणों की तरह विचित्र अर्थ वाले बहुत से गुणों एव अलङ्कारों से अलङ्कृत काव्य 'भूषण' नामक लक्षण कहा गया है ॥ ६ ॥

अभिनव—भूषण का लक्षण करते हैं—जहाँ भरतोक्त उपमा आदि अलङ्कारों और श्लेषादि गुणों से जहाँ पर कथाशरीर की रचना समुल्लसित होती है वह 'भूषण' नामक लक्षण है। 'चित्रार्थैः' पद के द्वारा विभावादिरूप सामग्री के प्रत्यायक होने के कारण रस के उद्योतक अर्थविशेष से मतान्तर में वक्रोक्ति से कथाशरीर का समुल्लसित होना सूचित किया गया है। जैसे—

कृत्यारावण के सप्तम अङ्क में कञ्चुकी को देखकर लक्ष्मण और विभीषण ने कहा—'आर्य ! कहिये, कहिये ।

कञ्चुकी—क्या उपाय है ? सुनिये—आर्या सीता (पति) राम के मायामय सिर को देखकर सखियों के द्वारा आश्वस्त किये जाने पर भी प्रयोजनों से रहित मैं अब अपने को अधिक कष्ट नहीं दूंगी । (इस प्रकार आधी बात कहकर चुप हो जाती है) ।

सभी लोग—क्या किया ?

काञ्चुकी—जिसे कहा नहीं जा सकता ।

यथा वा रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के यौगन्धरायणस्य वचनं विश्रान्तविग्रहेति श्लोकः भूषणाख्यलक्षणेन काव्यं सामान्यवचसो भिद्यते ।

"तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये,"
यत्रालङ्कारवर्गोऽयं सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति"
शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः"
"अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्"
"द्वे वर्त्मनी गिरो देव्या शास्त्रं च कविकर्म च ।
प्रज्ञोपज्ञन्तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्"

इत्यादिना भोजकुन्तलभट्टनायकतौतादिभिरुक्तरीत्या गुणालङ्कारवर्गः सर्व एव लक्षणशब्देन परिगृहीतः । गुणालङ्कारैरेव यत्र कथारूपा वक्रोक्तिरतिशयिता तत्र भूषणम् ॥ ६ ॥

'पति के मृत्यु से खिन्न राजकुमारी सीता चन्द्रकला के सदृश दिन के अन्त में कमल वन के मध्य जाने के लिए उत्सुक हँसी की तरह चमकती हुई कराल ज्वाला वाले अग्नि में प्रवेश कर गई ।'

अथवा जैसे रत्नावली नाटिका के प्रथम अङ्क में यौगन्धरायण का—

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वसन् प्रियवसन्तक एव साक्षात् ।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ॥

यह श्लोक वाक्य भूषण नामक लक्षण से सामान्य-कथन से काव्य का भेद दिखाई देता है ।

'वाणी में तात्पर्य ही रहता है और काव्य में ध्वनि की प्रधानता होती है जिसमें समस्त अलङ्कार वर्ग अन्तर्भूत हो जाते हैं । शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर शास्त्र को पृथक् समझते हैं । तत्त्व से युक्त अर्थ में दोनों की प्रधानता का कथन है । दोनों (शब्द और अर्थ) के अप्रधान होने पर और व्यञ्जना व्यापार के प्रधान होने पर काव्य कहा जाता है । वाग्देवी के दो व्यापार है—(१) शास्त्र और (२) कविकर्म काव्य । इनमें पहला प्रज्ञोपज्ञ है और दूसरा प्रतिभाजन्य ।

इत्यादि के द्वारा भोज, कुन्तक, भट्टनायक, भट्टतौत आदि आचार्यों के द्वारा कथित रीति से गुण एवं अलङ्कार वर्ग सभी का लक्षण शब्द से ग्रहण होता है । गुण और अलङ्कारों के द्वारा जहाँ पर कथा रूप वक्रोक्ति का अतिशय होता है, वहाँ 'भूषण' नामक लक्षण होता है ॥ ६ ॥

यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रमुपवर्ण्यते ।
तमप्यक्षरसङ्घातं विद्युल्लक्षणसंज्ञितम् ॥ ७ ॥

अक्षरसंघातो--विविधश्लेषोक्तया वा अक्षरविपर्यासेन वोक्तिप्रत्युक्तिवैचित्र्यं यथा उभयाभिसारिकायाम् ।

विटः—भगवति ! वैशिकाचलोऽहमभिवादये ।

परिव्राजिका—न वैशिकाचलेन प्रयोजनं न च वैशेषिकाचलेन ।

विटः—अस्त्येतत्कारणं....

परि—षट्पदार्थबहिष्कृतैः सह संभाषणमस्मद्गुरुभिर्निरुद्धम् ।

विटः—युक्तमेवैतत् । कुतः—

द्रव्यं ते तनुरायताक्षि ! दयिता रूपादयस्ते गुणाः
सामान्यं तव यौवनं युवजनः संस्तौति कर्माणि ते ।
त्वय्यर्थं समवायमिच्छति जनो यस्माद्विशेषोऽस्ति ते
योगस्ते तरुणैर्मनोऽभिलषितैर्मोक्षोऽप्यनिष्टाज्जनात् ॥

---

२. अक्षरसंघात

अनुवाद—जहाँ पर श्लेष से युक्त थोड़े अक्षरों से विचित्र अर्थ का वर्णन किया जाता है उसे 'अक्षरसंघात' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अभिनव—जहाँ विविध श्लेषमयी उक्तियों से अथवा अक्षरों के विपर्यास से उक्ति-प्रत्युक्ति में विचित्रता आये, उसे 'अक्षरसंघात' कहते हैं। जैसे—उभयसारिका में—

विट—हे भगवति ! मैं वैशिकाचल आपका अभिवादन करता हूँ ।

परिव्राजिका—मुझे न वैशिकाचल से प्रयोजन है और न वैशेषिकाचल से ।

विट—क्या इसका कोई कारण है ?

परिव्राजिका—छः पदार्थों का बहिष्कार करने वालों के साथ सम्भाषण करना हमारे गुरुजी ने रोक दिया है ।

विट—यह ठीक ही है । क्योंकि—

"हे आयताक्षि ? तुम्हारे लिए द्रव्य (पदार्थ) तुच्छ है, तुम्हारे लिए रूपादि गुण प्रिय है, तुम्हारा यौवन सामान्य है, युवक वर्ग तुम्हारे कर्म (कार्यों) की प्रशंसा करते हैं । यह जन तुम्हारे साथ समवाय (प्रगाढ़ सम्बन्ध चाहता है)। क्योंकि तुम्हारे में विशेष (विशेषता) है, मनोऽभिलषित तरुणों के साथ योग है और अनिष्टजनों से तुम्हारा मोक्ष है, छुटकारा है ।

सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रयुज्यते ।
यत्र सा श्लिष्टा विशिष्टार्था सा शोभेत्यभिधीयते ॥ ८ ॥

परि—सांख्यमस्माभिर्ज्ञायते अलेपको निर्गुणः क्षेत्रज्ञः पुरुषः ।

विटः—हन्त निरुत्तराः स्मः ।

यथा वा शाकुन्तले सप्तमेऽङ्के "तापसी—सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं पश्य" इत्यत्र शकुन्तलाशब्दः सूचितः ॥ ७ ॥

शोभा—सिद्धैः प्रयोजनैरसिद्धस्य शुभसंघटनं यत्र निर्णीयते सूच्यते वा श्लेष-वक्रोक्तिध्वनिविशेषमहिम्ना चमत्कृतोऽर्थः । केचित्स्वभावस्य प्रकटनमित्याहुः, अपरे तु यूनोः प्रभावप्रकटनमित्याचक्षते । अर्थप्रधाने वस्तुन्येषा परं शोभते । यथा रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के यौगन्धरायणः—

(द्वीपादित्यादिपठित्वा) कः सन्देहः ।

परिव्राजिका—हम भी सांख्यशास्त्र को जानते हैं, वहाँ पुरुष निर्लेप, निर्गुण एवं क्षेत्रज्ञ है ।

विट—हम निरुत्तर हो गये हैं ।

अथवा जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के सप्तम अङ्क में—

तापसी—'सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं' पश्य' अर्थात् यहाँ 'शकुन्तलावण्य' में शकुन्तला शब्द सूचित किया गया है ॥ ७ ॥

३. शोभा

अनुवाद—जहाँ पर सिद्ध अर्थों से तुलना करके असिद्ध अर्थ का प्रयोग करते हैं, श्लेष के कारण विशिष्ट अर्थों वाली उसे 'शोभा' कहते हैं ॥ ८ ॥

अभिनव--जहाँ पर सिद्ध प्रयोजनों के द्वारा जहाँ पर असिद्ध का शुभ संघटना श्लेष, वक्रोक्ति, ध्वनि विशेष की महिमा से चमत्कारी अर्थ का निर्णय किया जाता है अथवा सूचित किया जाता है, वहाँ 'शोभा' होती है । कुछ लोग स्वभाव के प्रकटन को 'शोभा' मानते हैं । अन्य लोग तो युवक-युवतियों के मनोभाव के प्रकटन को 'शोभा' कहते हैं । अर्थप्रधान वस्तु में यह परम शोभा प्राप्त करती है । जैसे, रत्नावली नाटिका के प्रथम अङ्क में—

यौगन्धरायण—'द्वीपादन्यस्मात्' इत्यादि पढ़कर कहता है कि क्या सन्देह है ?

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ ९ ॥

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥

यथा वा कथाशरीरसंघटनवैचित्र्यरूपशोभया अभिज्ञानशकुन्तलायां मधुर-रसप्रसक्तिः ॥ ८ ॥

उदाहरणम्—परेषां दुर्भेद्यपरमार्थेन तुल्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन निगूढाशयः कस्मैचिन्निपुणैर्यत्र प्रकाश्यते तदुदाहरणं, यथा देवीचन्द्रगुप्ते प्रावेशिकी ध्रुवा कुमारचन्द्रगुप्तस्य संशयाकुलमानसस्य प्रवेशावसरसूचकमर्थमुद्द्योतयति—

एसो सिअकरवित्थरपणासिआसेसवेरितिमिरोहो ।
निअविहवरोणचन्दो गअणगिहं लंधिऊं विसई ॥

"स्वामी की वृद्धि-हेतु इस कार्य के प्रारम्भ में भाग्य के द्वारा इस प्रकार हाथ का सहारा दिये जाने पर उसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है, फिर भी स्वेच्छा से आचरण करने में स्वामी से डरता हूँ।"

अथवा जैसे कथा-शरीर की संघटना के वैचित्र्य रूप शोभा से अभिज्ञान-शाकुन्तल में मधुर रस को प्रसक्ति है ॥ ८ ॥

४. उदाहरण

अनुवाद—जहाँ पर निपुण लोग समानार्थक वाक्यों द्वारा अपने अभिप्राय के प्रदर्शन से अर्थ को सिद्ध करते हैं, उसे 'उदाहरण' नामक लक्षण कहते हैं ॥ ९ ॥

अभिनव—जहाँ पर दूसरों के दुर्भेद्य परम रहस्य को समानार्थक वाक्य द्वारा निगूढ़ आशय को निपुण जन किसी दूसरे के लिए प्रकाशित कर दें, वह 'उदाहरण है। जैसे देवीचन्द्रगुप्त नाटक में प्रावेशिकी ध्रुवा संशय से व्याकुल चित्र वाले कुमार चन्द्रगुप्त के प्रवेशावसर अर्थ को द्योतित करता है—

एष शीतकरविस्तरप्राणाशिताशेषवैरितिमिरौघः ।
निजविभाववरश्चन्द्रो गगनगृहं लङ्घितुं विशति ।।

'यह चन्द्र अपने शीतल किरणों के विस्तार से समस्त शत्रुरूपी अन्धकार को नष्ट करके आकाश रूपी गृह को पार करने के लिए प्रवेश कर रहा है।

यत् प्रयोजनसामर्थ्यात् वाक्यमिष्टार्थसाधकम् ।
समासोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संज्ञितः ॥ १० ॥

यथा वा प्रद्युम्नाभ्युदये तृतीयेऽङ्केऽन्तर्नाटिकायां सूत्रधारवचनम्—

देव ! दनुजाधिप ! त्वां त्रिभुवनलक्ष्मीरिव स्वयं रागात् ।
अभिरूपमभिसृतवती नलकूवरमत्र नाटके रम्भा ॥

सामाजिकीभूतयोः सखीप्रभावत्योः सखी "पिअसहि एसो एव्व मग्गो मअणपरवसाणं इत्थिआणं" इत्युपदिशति । अत्राभिसरणमेव प्रद्युम्नसङ्गमोपाय इत्यर्थः साध्यते ॥ ९ ॥

हेतुः—फलसाधनशक्तियुक्तं मितशब्दार्थं विचित्रभङ्ग्युक्तं वचनम् । यथा—तापसवत्सराजे षष्ठेऽङ्के कृतमरणनिश्चयां वासवदत्तां परिबोधयन् यौगन्धरायण आह—देवि ! प्रसीद,

---

अथवा जैसे प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक के तृतीय अङ्क में अन्तर्नाटिका (विष्कम्भक) में सूत्रधार का कथन—

"हे देव ! दनुजाधिप ! त्रिभुवन लक्ष्मी ने जैसे आपको अपने अनुराग से स्वयं अभिसरण किया उसी प्रकार इस नाटक में रम्भा ने राग से अभिरूप (प्रिय) नलकूबर का अभिसरण किया।"

सामाजिक के रूप में स्थित सखी और प्रभावती दोनों में सखी 'हे प्रिय सखी ! काम के परवश स्त्रियों का यही मार्ग है' इस प्रकार उपदेश देती है। यहाँ प्रद्युम्न से मिलने का उपाय एकमात्र अभिसरण ही है।

५. हेतु

अनुवाद—जहाँ पर प्रयोजन के सामर्थ्य से इष्ट अर्थ के साधक हृदयग्राही संक्षिप्त वाक्य कहा जाय, वहाँ 'हेतु' नामक लक्षण होता है ॥ १० ॥

अभिनव—फल-साधन की शक्ति से युक्त, परमित पदार्थ वाला, विचित्र-भङ्गिमाओं में कहा गया 'वचन' कहा जाता है, जैसे, तापसवत्सराज के षष्ठ अङ्क में मरण का निश्चय करने वाली वासवदत्ता को समझाते हुए यौगन्धारणा कहता है—

देवि ! प्रसन्न होओ,

अपरिज्ञाततत्त्वार्थं वाक्यं यत्र समाप्यते ।
अनेकत्वाद्विचाराणां स संशय इति स्मृतः ॥ ११ ॥

आसृष्टेः प्रतिपार्थिवं युवतयो जाता मनोवल्लभाः
मग्नास्ते व्यसनार्णवे च बहवस्ताभिः सहैवेश्वराः ।
देव्या यत्तु कृतं तदाविकलतामुत्सृज्य लोकोत्तरं
तस्यैषा कृपणोचितेन विधिना किं ग्लानिरुत्पद्यते ॥

देव्या यत्कृतं तदिष्टार्थसाधनमेव अचिरेणैव शुभफलमनुभवसीति ॥ ९ ॥

संशयोऽसमाप्तवाक्यत्वात्साधनीयविषयस्वरूपे सन्दिग्धावस्था । एषोऽर्थ-कामप्रधानेषु रूपकेषु निपुणं प्रयुज्यते । कुन्दमालायां षष्ठेऽङ्के रामायणकथा-वाचकौ कुशलवौ सीतावृत्तान्तं पठन्तौ—

सीतां निर्जनसंपाते चण्डश्वापदसङ्कुले ।
परित्यज्य महारण्ये लक्ष्मणोऽपि न्यवर्तत ।
ततः प्राणैः परित्यक्ता निराशा जनकात्मजा ।

इति तूष्णींभवतः ।

"सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रत्येक राजा के मन के अनुकूल रहने वाली युवतियाँ प्रिय रही है ! घोर संकट रूपी सागर में निमग्न बहुत से राजा लोग भी उनके साथ डूब गये । किन्तु देवी ने जो उस समय विकलता को छोड़कर लोकोत्तर कार्य किया, उसके विषय में अब दीनता से ग्लानि क्यों उत्पन्न हो रही है ।"

यहाँ पर देवी ने जो किया वह इष्ट अर्थ का साधक है । शीघ्र ही आप शुभ फल का अनुभव करेंगी ।

६. संशय

अनुवाद—जहाँ पर विचारों की अनेकता के कारण तत्त्वार्थ के ज्ञान हुए बिना ही वाक्य समाप्त हो जाय उसे 'संशय' नामक लक्षण कहते हैं ॥ ११ ॥

अभिनव—वाक्य के समाप्त न होने से साध्य विषय के स्वरूप में सन्दिग्ध अवस्था का होना 'संशय' है । अर्थ और काम प्रधान रूपकों में इसका निपुणता से प्रयोग किया जाता है । जैसे कुन्दमाला के छः सौ अङ्क में रामायण कथा के वाचक लव-कुश पढ़ते हैं ।

"प्रचण्ड हिंसक प्राणियों से व्याप्त निर्जन महारण्य में सीता का परित्याग करके लक्ष्मण भी लौट गये । तब प्राणों से भी प्रिय जनों के द्वारा छोड़ी गई निराश हुई सीता ने....." ।

सर्वलोकमनोग्राहि यस्तु पक्षार्थसाधकः ।
हेतोर्निदर्शनकृतः स दृष्टान्त इति स्मृतः ॥ १२ ॥

अप्रियाख्यानभीतेन कविना संहृता कथा ।
किमितः कल्याणमावेदयति । एवं तावदनुयोक्ष्ये इति पृच्छतः ।
संशयालङ्कारस्तु संशयाख्यलक्षणाद् भिन्नचमत्कारतया भिद्यते ।

संक्रुद्धस्य ललाटलोचनभुवा सप्तार्चिषा धूर्जटे—
निर्दग्धे मकरध्वजे रतिरसौ किं स्याद् गृहीतव्रता ।
संवादाद्वनदेवता मुनिवधूवेषप्रपञ्चे मनः
कृत्वेत्थं रमतेऽत्र विग्रहवती किं वा तपश्श्रीरियम् ॥

इत्यादिषु संशयोऽलङ्कार एव न तु संशयाख्यलक्षणम् ॥ १० ॥

इतना कहकर चुप हो जाते हैं ।

तब राम और लक्ष्मण कहते हैं—

"सम्भव है, अप्रिय आख्यान के कथन से डरकर कवि वाल्मीकि ने कथा का उपसंहार कर दिया हो ।"

इससे बढ़कर और कल्याण का क्या आवेदन करें । अच्छा तो अब पूछेंगे, ऐसा कहकर पूछते हैं ।

संशयालङ्कार तो संशय नामक लक्षण से भिन्न चमत्कार जनक होने से भिन्न है । जैसे—

"क्रुद्ध हुए शङ्कर जी के ललाटस्थ नेत्र से उत्पन्न अग्नि के द्वारा कामदेव के जला दिये जाने पर क्या रति ने व्रत ग्रहण कर लिया था । परस्पर के संवाद से मुनिवधू के वेष रचना में मन लगाकर क्या वन देवता इस प्रकार यहाँ रमण करती है अथवा साक्षात् शरीर धारिणी तपःश्री यह है ।"

इत्यादि में संशय अलङ्कार है, संशय नामक लक्षण नहीं है ॥ ११ ॥

७. दृष्टान्त

अनुवाद—जो सभी लोगों के मन को आकृष्ट करने वाला पदार्थ का साधक और हेतु का निदर्शनकारी लक्षण है, उसे 'दृष्टान्त' कहा गया है ॥ १२ ॥

दृष्ट्वैवावय त्न्[1] कांश्चिद् भावो यत्रानुमीयते।
प्राप्तिं तामपि जानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥ १३ ॥

दृष्टान्तः—धर्माविरुद्धतया सर्वलोकमनोग्राहि वचनं निदर्शनोपष्टम्भं दृष्टान्तसंज्ञकं लक्षणम्। यथा धूर्तविटे "स्त्रीषु प्रसङ्गो न कर्तव्यः" इत्यत्र "भावः किं पश्यतीत्युक्ते "विटः—भोः उपदेशमात्रं खल्वेतत्। तमहं न पश्यामि यः स्त्रीषु प्रसङ्गं न गच्छेत्, श्रूयन्ते महेन्द्रादयोऽप्यहल्याद्यासु विकृतिमापन्नाः" इति।

यथा वा पद्मप्राभृतके स्वसोदरीप्रेयसोऽनुयोगे संदिग्धमानसां देवसेनामाह शशः—

दक्षात्मजाः सुन्दरि! योगताराः किं नैकजाताः शशिनं भजन्ते।
आरुह्यते वा सहकारवृक्षः किं नैकमूलेन लताद्वयेन ॥ १२ ॥

अभिनव—धर्म का अविरोधी होने के कारण सभी लोगों के मन का आकर्षक निदर्शन सहित वचन 'दृष्टान्त' संज्ञक लक्षण कहा जाता है। जैसे धूर्त्त विट में 'स्त्रियों का प्रसङ्ग (संसर्ग) नहीं करना चाहिए' यहाँ पर 'भाव का क्या विचार है ?' ऐसा पूछने पर विट कहता है—'अरे भाई! यह सब उपदेश मात्र है, मैं तो ऐसा किसी को नहीं देखता हूँ, जो स्त्रियों के प्रसङ्ग में नहीं जाता हो, सुना जाता है कि महेन्द्र आदि देवों ने अहल्या आदि के विषय में विकृत हो गये थे।"

अथवा जैसे पद्मप्राभृतक में अपनो सहोदरा बहिन के प्रेमी के पूछने पर सन्दिग्ध मन वाली देवसेना से शश कहता है—

"हे सुन्दरि! दक्ष से उत्पन्न अनेक कन्याओं ने क्या योगतारा के रूप में चन्द्र की आश्रय नहीं लेती। अनेक मूलवाली दो लताएँ क्या सहकार के वृक्ष पर आरोहण नहीं करती ?"

८. प्राप्ति

अनुवाद—जहाँ पर किसी एक अवयव (अंश) को देखकर किसी के भाव का अनुमान कर लिया जाय, वहाँ नाटक से सम्बन्धित 'प्राप्ति' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ १३ ॥

---

१. क. दृष्टैवावयवं किञ्चित् भावो यत्रोपमीयते।
प्राप्तिं तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम्॥
क. (टि॰) प्राप्ति नाम जानीयाद्।

अभूतपूर्वो [1]योऽप्यर्थः सादृश्यात्परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ १४ ॥

प्राप्तिर्यथा—कुन्दमालायां तृतीयेऽङ्के लक्ष्मणः कानिचित्पदचिह्नानि सैकते दृष्ट्वा राममाह—

विलासयोगेन परिश्रमेण वा स्वभावतो वा निभृतानि मन्थरम् ।
पदानि कस्याश्चिदिमानि सैकते प्रयान्ति तुल्यं कलहंसविभ्रमम् ॥

रामः—(निर्वर्ण्य सहर्षं) किमुच्यते कस्याश्चिदिति, ननु वक्तव्यं सीतायाः पदानीति । पश्य—

समानं संस्थानं निभृतललिता सैव रचना
तदेवैतद्रेखा कमलरचितं चारुतिलकम् ।
यथा चेयं दृष्ट्वा हरति हृदयं शोकविधुरं
तथा ह्यस्मिन् देव्या सपदि पदपङ्क्तिर्विनिहिता ॥ इति ॥ १३ ॥

अभिनव—जैसे कुन्दमाला के तृतीय अङ्क में लक्ष्मण रेत पर कुछ पद चिह्नों को देखकर राम से कहता है—

"विलास के योग से (क्रीड़ा करते हुए) अथवा परिश्रम से अथवा स्वभाव से मन्थरता से रेत में निभृत धँसे हुए ये किसी के पैर कलहंस के विलास की समता कर रहे हैं ।

राम—(देखकर, प्रसन्नता के साथ) क्या कह रहे हो किसी के पैर, ऐसा कहना चाहिए कि सीता के पैर देखो—

"पैरों का विन्यास समान है । विनीत और ललित वहीं रचना है, तिलक और कमल बड़े सुन्दर रूप से बने हुए वही देखा है । जिस प्रकार देखने पर यह पदपंक्ति शोक-विधुर हृदय को हर रही है, ऐसा लगता है कि देवी ने अभी तुरन्त अपने पैरों को रखा है ॥ १३ ॥

९. अभिप्राय

अनुवाद—सादृश्य से परिकल्पित अभूतपूर्व जो अर्थ लोगों के हृदय का ग्राही है, उसे 'अभिप्राय कहते हैं ॥ १४ ॥

---

१. क. योऽप्यर्थः ।

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
[1]परापेक्षा व्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १५ ॥

अभिप्रायः—अभूतपूर्वं इत्यसत्पदार्थः केवलकल्पितः। केचित्स्वाद्यवस्तुन्यभिधान इत्याहुः तद्वैचित्र्यरहितत्वादुपेक्ष्यम् । यथा तापसवत्सराजे चतुर्थेऽङ्के सांकृत्यायनी यौगन्धरायणोद्योगं विमृश्य प्रणिधिं प्राह—

दूरमुदीर्णे रिपावेवमकिञ्चित्करे च विजिगीषौ ।
भवता तु नयगुणशतैः सोऽयमसूत्रः पटः क्रियते ॥

यथा वा वत्सराजचरिते द्वितीयेऽङ्के चोरः—

भूमिः कराग्रेण विवर्तिताद्य श्वासेन भग्नो हिमवान्महाद्रिः ।
आसारवृष्ट्या शमितोऽग्निरौर्वो विनिर्हतः कीटशतैरनन्तः ॥ १४ ॥

अभिनव—अभूतपूर्व का अर्थ है असत् पदार्थ, जो केवल कल्पित हो। कुछ विद्वान् आस्वाद्य वस्तु में अभिमान को अभूतपूर्वता मानते हैं । किन्तु यह विचित्रता रहित होने से उपेक्षणीय है। जैसे, तापसवत्सराज के चतुर्थ अङ्क में सांकृत्यायनी यौगन्धरायण के उद्योग को देखकर गुप्तचर से कहती है—

"शत्रु अत्यधिक उठा हुआ है, ऐसी स्थिति में विजिगीषु अकिञ्चित्कर है। आपने तो सैकड़ों नीतिरूपी उपायों से विना सूत के कपड़ा बुन रहे हैं।"

अथवा जैसे वत्सराजचरित के द्वितीय अङ्क में चोर कहता है—

"आज उँगुलियों से भूमि को विवर्तित कर दिया है, श्वाँस से महान् हिमालय पर्वत को भग्न कर दिया हैं, धाराप्रवाह दृष्टि से बाड़वाग्नि को शान्त कर दिया है और सैकड़ों कीड़ों से शेषनाग को विनिर्हत कर दिया है।"

१०. निदर्शन

अनुवाद—जहाँ पर दूसरे की अपेक्षा (आकाङ्क्षा) को दूर करने के लिए प्रसिद्ध अर्थों का परिकीर्त्तन किया जाय, उसे 'निदर्शन' कहते हैं॥ १५ ॥

---

१. क. (द्वि०) परोपेक्षा । पराक्षेप ।

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
[1]यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥ १६ ॥

निदर्शनं—प्रसिद्धानां देवतादीनां, तत्सम्पत्या परापेक्षा साध्याकांक्षा, तस्माद् व्युदासः । अत एव दृष्टान्तादस्य भेदः । यथा उभयाभिसारिकायां—

शान्ति याति शनैर्महोषधिबलादाशीविषाणां विषं
शक्यो मोचयितुं मदोत्कटकटादात्मा गजेन्द्राद्वने ।
ग्राहस्यापि मुखान्महार्णवजले मोक्षः कदाचिद्भवेद्
वेशस्त्रीवडवामुखानलगतो नैवोत्थितो दृश्यते ॥ १५ ॥

निरुक्तं—यथा वत्सराजचरिते प्रथमेऽङ्के भरतरोहकः राजानमाह—
प्रसह्य हरणे केवलं प्रमादिताख्यातिः ।
राजा—किमेतत् ।
भर—सदोषेषु कार्येषु यदल्पदोषं तत्प्रारब्धव्यम् ।

अभिनव—प्रसिद्धानाम् अर्थात् देवता आदि का । परापेक्षा अर्थात् साध्याकाङ्क्षा । व्युदासार्थं=दूर करने के लिए । इसीलिए दृष्टान्त से इसका भेद है । जैसे उभयाभिसारिका में—

"महौषधियों के प्रभाव से साँपों का विष शान्त हो जाता है, जङ्गल में मदोन्मत्त हाथी से अपने को छुड़ाया जा सकता है । महासागर के जल में ग्राह के मुख से भी कदाचित् मुक्ति मिल सकती है । किन्तु वेश्याङ्गना रूपी वड़वाग्नि में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी उठा हुआ नहीं दिखाई देता ॥ १५ ॥

११. निरुक्त

अनुवाद—पूर्व कथित अर्थ को सिद्ध करने के लिए निरवद्य वाक्य का जो कथन किया जाता है, उसे 'निरुक्त' नामक लक्षण कहते हैं ॥ १६ ॥

अभिनव—जैसे वत्सराजचरित के प्रथम अङ्क में भरतरोहक राजा से कहता है—

बलात् (जबर्दस्ती) हरण करने में प्रभावी होना केवल ख्याति है ।
राजा—यह क्या कहते हो ।
भरतरोहक—सदोष कार्यों के रहने पर जिसमें अल्पदोष हो, उस कार्य का आरम्भ करना चाहिए ।

१. क. (टि०) तदप्यागमसम्भूतं निरुक्तमभिनिर्दिशेत् ।

बहूनां च प्रधानानां नाम यत्राभिकीर्त्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं सा सिद्धिरभिधीयते ॥ १७ ॥
सिद्धान् बहून् प्रधानार्थान् उक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम् ॥ १८ ॥

वसुवर्मा—स्वामिन् ! तत्राप्यहं वाच्यदोषं न पश्यामि । कुतः ?

नीता बलात्प्रकृतिभद्रतरा सुभद्रा
यद्वा सुभद्रभगिनी कपिकेतनेन ।
देवस्य तेन समभूद्वचनीयता किं
तेजः प्रकाशयशसां यदुदन्तिनां वा ॥

शालं—साधु, निरुक्तमभिहितं वसुवर्मणा ॥ १६ ॥

सिद्धि.—प्रधानानां स्पृहणीयानां प्रयोजनान्तराणामतर्कितोपलब्धानां परिकीर्तनम् । यथा कौमुदीमहोत्सवे चतुर्थेऽङ्के मन्त्रगुप्तवचनं—

सङ्गतिश्चिरमचिन्तितपूर्वा निर्वृतप्रणयिनो मिथुनानाम् ।
आधिराज्यमधिरोहति तस्याः षोडशीमपि कलां न मघोनः ॥ १७ ॥

वसुवर्मा—उनमें भी मैं कोई वाच्य दोष नहीं देख रहा हूँ । क्योंकि—

"स्वतः कल्याणकारी जो वासुदेव श्रीकृष्ण को बहिन सुभद्रा को बलात् अर्जुन ने अपहरण कर लिया था तो क्या अर्जुन को निन्दा हुई थी ? अथवा तेज के प्रकाश से चमकते हुए यश वाले यदुवंशियों के हाथियों को क्या निन्दा हुई ?"

शालङ्कायन—अच्छा, वसुवर्मा ने निरुक्त को कह दिया ॥ १६ ॥

१२. सिद्धि

अनुवाद—जहाँ पर अपने अभीष्ट अर्थ को सिद्धि के लिए बहुत से प्रसिद्ध नामों का आख्यान किया जाता है उसे 'सिद्धि' नामक लक्षण कहा जाता है ॥ १७ ॥

अभिनव—'प्रधानानां' का अभिप्राय है स्पृहणीय तथा अतर्कितोपलब्ध अन्य प्रयत्नों का कथन (परिकीर्त्तन) सिद्धि है । जैसे कौमुदीमहोत्सव के चतुर्थ अङ्क में मन्त्रगुप्त का वचन—

"जिसका पहिले कभी चिन्तन नहीं किया, ऐसे दोनों को सङ्गति (मिलन) परम आनन्ददायिनी होती है, जिसकी सोलहवीं कला को इन्द्र का अधिराज का पद भी प्राप्त नहीं कर सकता ।"

गुणाभिधानैर्विविधैर्विपरीतार्थयोजितैः ।
गुणातिपातो मधुरैर्निष्ठुरार्थैर्भवेदथ[1] ॥ १९ ॥

विशेषणं—यथा तापसवत्सराजे तृतीयेऽङ्के राजा विदूषकमाह–अयि मूढ !
वृत्तिर्मूलफलादिभिः क्षितितले शय्या जटाधारणं
वासो वल्कलमीदृशं कृतमिदं सामान्यमन्यैरपि ।
संवेगाभिभवे विमूढमनसा यन्नानुयाता प्रिया
तन्मिथ्यापरिबोधितेन न कृतं स्नेहानुरूपं मया ॥ इति ॥ १८ ॥
गुणातिपातो—यथा धूर्तविटे विटः—
जात्यन्धां सुरतेषु दीनवदनामन्तर्मुखाभाषिणीं
हृष्टस्यापि जनस्य शोकजननीं लज्जापटेनावृताम् ।
निर्व्याजं स्वयमप्यदृष्टजघनां स्त्रीरूपबद्धां पशुं
कर्तव्यं खलु नैव भोः कुलबधूकारां प्रवेष्टुं मनः ॥

१३. विशेषण

अनुवाद—जहाँ पर बहुत से प्रधान अर्थों को कहकर विशेषताओं से युक्त वचन कहा जाय, उसे 'विशेषण' कहते हैं ॥ १८ ॥

अभिनव—जैसे तापसवत्सराज के तृतीय अङ्क में राजा विदूषक से कहता है—अरे मूढ़ ?

"कन्दमूल फल आदि से जीविका का निर्वाह, पृथ्वी पर शयन, जटाओं का धारण तथा वल्कल का वस्त्र धारण करना ऐसा आचरण तो सामान्य लोगों ने भी किया है किन्तु विक्षेप अभिभूत विमूढ़-चित्त मैंने प्रिया का अनुनय नहीं किया, वह मिथ्या ज्ञान के कारण मैंने स्नेह के अनुरूप नहीं किया ॥ १८ ॥

१४. गुणातिपात

अनुवाद—जहाँ पर मधुर एवं निष्ठुर अर्थों से युक्त विपरीत अर्थों से योजित विविध गुणों का कथन किया जाय, वहाँ 'गुणातिपात' लक्षण होता है ॥ १९ ॥

अभिनव—जैसे धूर्तविट में विट का कथन—

"जाति से अन्धी, सुरत में दीनवदना, मुख के भीतर बोलने वाली, प्रसन्न जन को भी शोकाकुल करने वाली, लज्जारूपी कपड़े से आवृत, विना ब्याज (बहाने) के स्वयं जघन-स्थल को न देखने वाली कुलवधू के आकार में स्त्री के रूप में बँधे हुए पशु के पास जाने के लिए कभी भी मन नहीं करना चाहिए।

१. क. निष्ठुरार्थो भवेद्यथा ।

बहून् गुणान् कीर्तयित्वा सामान्यजनसम्भवान् ।
विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥ २० ॥
[1]रूपकैरुपमाभिर्वा तुल्यार्थैः सुप्रयोजितैः ।
अप्रत्यक्षार्थसंस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

अत्र कुलस्त्रीसमुचिता विनयलज्जादयो गुणा विपरीतार्थयोजिताः ॥ १९ ॥
अतिशयो यथा—विलक्षकुरुपतौ धृतराष्ट्रं प्रति भीष्मः—
एतत्ते हृदयं स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः
संप्रत्येव तु गोग्रहे यदभवत्तत्तावदाकर्ण्यताम् ।
एकः पूर्वमुदायुधैः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं
यावन्तो वयमाहवप्रणयिनस्तावन्त एवार्जुनाः ॥ इति २० ॥
तुल्यतर्को—यथा वत्सराजचरितेऽष्टमेऽङ्के राजा—
नवार्कभापल्लवितामलोदरे सुगन्धिरेणूत्करकेसरोज्ज्वले
रसामृतज्ञो भ्रमरः सरोरुहे किमर्कपुष्पे प्रणयं करिष्यति ॥ इति २१ ॥

यहाँ पर कुलस्त्री के योग्य लज्जा, विनय आदि गुण विपरीत अर्थ में योजित होने से 'गुणातिपात' है ॥ १९ ॥

१५. अतिशय

अनुवाद—जहाँ पर सामान्य लोगों में रहने वाले बहुत से गुणों को बतला कर विशेष का कीर्त्तन किया जाय वहाँ 'अतिशय' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ २० ॥

अभिनव—कुरुराज के लज्जित होने पर धृतराष्ट्र के प्रति भीष्म का कथन—

"यह तुम्हारे हृदय का स्पर्श करके कहता हूँ अथवा तुम्हारा आत्मज (पुत्र) ही साक्षी है । अभी-अभी गो-ग्रहण के समय जो कुछ हुआ, उसे सुनिये । पहिले तो अस्त्र-शस्त्रों को उठाये हुए हम लोगों ने एक अर्जुन को देखा, बाद में जितने युद्ध के प्रेमी हम लोग थे, उतने अर्जुन दिखाई देने लगे ॥ २० ॥

१६. तुल्यतर्क

अनुवाद—जहाँ पर समान अर्थ वाले रूपक अथवा उपमा के द्वारा प्रयुक्त किये गये परोक्ष (अप्रत्यक्ष) अर्थ संस्पर्श हो, उसे 'तुल्यतर्क' कहते हैं ॥ २१ ॥

---

१. क. (टि०) रूपकैरुपमानैर्वा तुल्यार्थाभिः प्रयोक्ताभिः ।
अप्रत्ययार्थं संस्पृष्टः तुल्यतर्क इति स्मृतः ॥

बहूनां च[1] प्रयुक्तानां पदानां बहुभिः पदैः।
उच्चयः सदृशार्थो यः स विज्ञेयः पदोच्चयः ॥ २२ ॥
यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि वा ॥ २३ ॥

पदोच्चयः—यथा वत्सराजचरिते षष्ठेऽङ्के राजोत्तमसचिवं वर्णयति—

खड्गो रक्षान्धकारे रविररितिमिरे कार्यभारेषु धुर्यः
दीपो मन्त्रान्धकारे सुरगुरुरनये सङ्क्रमी व्यापदोषे।
उत्कण्ठायां सभागो गतिरनवसरे चन्दनं शोकतापे
संक्षेपान्मानुषाभो हितशिवसुखदो भव्यचिन्तामणिर्मे ॥ २२ ॥

अभिनव—जैसे, वत्सराजचरित के अष्टम अङ्क में राजा का कथन—

'सूर्य की नवीन किरणों से पल्लवित निर्मल उदर वाले, सुगन्धित परागों से युक्त केशरों से उज्ज्वल कमल के रसामृत मर्मज्ञ भौंरा क्या मन्दार के फूल में प्रणय (प्रेम) करेगा ? ॥ २१ ॥

१७. पदोच्चय

अनुवाद—जहाँ पर बहुत से पदों का अनेक पदों के साथ समानता बतलाते हुए प्रयोग किया जाय, उसे 'पदोच्चय' नामक लक्षण समझना चाहिए ॥ २२ ॥

अभिनव—जैसे वत्सराज नाटक के षष्ठ अङ्क में राजा उत्तम सचिव का वर्णन करते हुए कहता है—

"रक्षारूप अन्धकार में खड्ग, शत्रुरूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्य, कार्यभार को वहन करने में वृषभ, मन्त्रणा के समय उत्थित कठिनाइयों को दूर करने में दीपक, अनीति के समय बृहस्पति के समान विपत्तियों को दूर करने वाला, उत्कण्ठा के समय सहभागी, अनवसर में गति, शोकरूपी ताप को दूर करने में चन्दन, संक्षेप में मनुष्य के समान हित, मङ्गल एवं सुख को देने वाला अमात्य मेरे लिए भव्य चिन्तामणि हैं ॥ २२ ॥

१८. दृष्ट

अनुवाद—जहाँ पर देश, काल एवं रूप के अनुसार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अर्थ का वर्णन किया जाता है, उसे 'दृष्ट' नामक लक्षण कहते हैं ॥ २३ ॥

---

१. क. (टि०) बहूनां सम्प्रयुक्ताना पादानां।

परिगृह्य तु शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
[1]विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥ २४ ॥

दृष्टं प्रत्यक्षं यथा मालविकाग्निमित्रे—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम् ॥ इति ।

परोक्षं यथा पादताडितके मदनसेनाया वर्णनं—

उत्क्षिप्तालकमीक्षणान्तगलितं कोपाञ्चिताान्तभ्रुवा
दष्टार्धोष्ठमधीरदन्तकिरणं प्रोत्कम्पयन्त्या मुखम् ।
शिञ्जन्नुपुरया विकृष्य विगलद्रक्तांशुकं पाणिना
मूर्धन्यस्य सनुपुरः स मदया पादोऽर्पितः कान्तया ॥ इति २३ ॥

अभिनव—दृष्ट प्रत्यक्ष जैसे मालविकाग्निमित्र में नायिका का वर्णन—

"इस नायिका का वलय सन्धियों में निश्चल होकर वामहस्त नितम्ब पर रखकर दूसरे हाथ को श्यामा लता के शाखा के समान खुला छोड़ दिया है और पैर के अंगठे से चञ्चल (ठुकराये गये) कुसुम वाले फर्श पर आँखें गड़ाये हुए इस नायिका का कान्त, कोमल और आयत नेत्र नृत्त के बाद अत्यन्त स्थिर हैं ।"

परोक्ष दृष्ट का उदाहरण जैसे पादताड़ितक में मदनसेना का वर्णन—

"नेत्रों के समीप तक गिरे हुए बालों को ऊपर उठाये हुए क्रोध से अञ्चित (धनुषाकार) भौंहों वाली, दबे हुए आधे ओष्ठ वाले तथा स्वच्छ दन्त किरणों से अधीर मुख को कम्पित करने वाली, झङ्कारयुक्त नुपरों वाली, खिसकते हुए रक्ताशुक को हाथ से ऊपर की ओर खींचकर मदमस्त कान्ता ने उसके मस्तक पर नुपुर-सहित पैर रख दिया ।" ॥ २२ ॥

१९. उपदिष्ट

अनुवाद—जब शास्त्र के अर्थ को लेकर विद्वानों के मन को हरने, वाले और परिणाम में सुखद जो वाक्य कहा जाय, उसे 'उपदिष्ट' नामक लक्षण कहते हैं ॥ २४ ॥

---

१. क. (टि०) विदुर्षनोहरं ।

पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः ।
[1]अनेकोपाधिसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

उपविष्टं—यथाविमारके प्रथमेऽङ्के राजा—

धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुध्या
प्रच्छाद्यौ रागरोषौ मृदुपरुषगुणौ कालयोगेन कार्यौ ।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यं
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा रणशिरसि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः ॥

यथा वा तन्त्रान्तरविषये धूर्तविटे—

शून्ये वासं प्रमद्य द्विरद इव लतां यो हरत्याशु नारीं
वामां वा यो विदित्वा ह्यभिभवति शनै रञ्जयन् वाक्यलेशैः ।
अन्यं कृत्वोपधिं वा छलयति कुरुते भावसङ्गूहनं वा ।
तस्यैतच्चेष्टितं भो न भवति विफलं वामशीला हि नार्यः ॥ २४ ॥

अभिनव—जैसे अविमारक के प्रथम अङ्क में—

"सर्वप्रथम धर्म का चिन्तन करें, फिर सचिवों की बुद्धि की गति को अपनी बुद्धि से देखना चाहिए । राग और द्वेष को छिपाना चाहिए, समय-समय पर मृदुता और कठोरता का कार्य करना चाहिए, गुप्तचरों के नेत्रों से लोकवृत्त का ज्ञान करना चाहिए और मण्डलों का निरीक्षण करना चाहिए। यत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए, किन्तु रणभूमि में उसकी भी परवाह नहीं करनी चाहिए ।"

अथवा जैसे तन्त्रान्तर के विषय में धूर्तविट में—

"जिस प्रकार हाथी लता को खींचकर नष्ट कर देता है। उसी प्रकार शून्य घर में घुसकर नारियों का अपहरण कर लेता है। यह वामा (मानिनी) है, ऐसा जानकर मधुर वचनों से धीरे-धीरे प्रसन्न करके अपने वश में कर लेता है, फिर छल करके छलता है और अपने भावों को छिपाता है, उसकी ये सब चेष्टाएँ विफल नहीं होती, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से विपरीत आचरण वाली होती हैं ॥ २४ ॥

२०. विचार

अनुवाद—पूर्व में प्रवृत्त अर्थ के समान अर्थ वाले परोक्ष अर्थ के साधक तथा अनेक उपाधियों से संयुक्त वचन 'विचार' कहा जाता है ॥ २५ ॥

---

१. क. (हि०) अनेकोपायसंयुक्तो । तिरस्कृतार्थविषयो ।

विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टोपदिष्टयोः[1] ।
सन्देहात्कल्प्यते यस्तु स विज्ञेयो विपर्ययः ।। २६ ।।

प्रवृत्तार्थानुसारि परोक्षार्थसाधकं बहूपायोपाधिदर्शनं वाक्यं विचारः यथा मुद्राराक्षसे पञ्चमेऽङ्के राक्षसवाक्यं—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत्सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत्तत्साधनं सिद्धये ।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च य
त्तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात्स्वामिनो निग्रहः ।। २५ ।।

अथवा विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पितुमर्हामि ।। इति ।। २५ ।।

विपर्ययो—यथा रावणं प्रति सचिवः—

उदर्कसिद्धिमिच्छद्भिः सद्भिर्न खलु दृश्यते ।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीफालपट्टिका ।।

अभिनव—प्रवृत्त अर्थ का अनुगामी, परोक्ष अर्थ का साधक अनेक उपाय एवं उपाधियों का दर्शक वाक्य 'विचार' है।

जैसे मुद्राराक्षस नाटक के पञ्चम अङ्क में राक्षस का वाक्य—

"साध्य में निश्चित रूप वाला अन्वय से घटित सपक्ष में स्थित और विपक्ष से व्यावृत्त साधन (हेतु) साध्य की सिद्धि में समर्थ होता है। किन्तु जो स्वयं साध्य है और अनुकूल एवं प्रतिकूल दो स्थितियों में समान है और पक्ष में विरुद्ध है, उसके स्वीकार करने में वादी के समान स्वामी का भी निग्रह हो जाता है।"

असन्तोष (विराग) के हेतुओं (कारणों) से जिन्हें जान लिया है तथा शत्रु के भेद नीति को स्वीकार किये हुए लोगों से यह मण्डल भरा हुआ है, अतः विकल्प करना उचित नहीं है ।। २५ ।।

२१. विपर्यय

अनुवाद—जहाँ पर दृष्ट अथवा उपदिष्ट लक्षणों में सन्देह के कारण विचार के विपरीत कल्पना की जाय, उसे 'विपर्यय' लक्षण समझना चाहिए ।। २६ ।।

अभिनव—जैसे रावण के प्रति उनका सचिव कहता है—

"परिणाम में उत्तम फल के इच्छुक सज्जनों को भाद्रपद की चतुर्थी के चन्द्र के समान पराई स्त्री के भालपट्ट को नहीं देखना चाहिए।"

१. क. (टि०) दिष्टोपदिष्टयोः । दृष्टोपदृष्टयोः ।

वाच्यमर्थं परित्यज्य दृष्टादिभिरनेकधा ।
अन्यस्मिन्नेव पतनादिह भ्रंशः स [1]इष्यते ॥ २७ ॥

रावण :—

परस्त्रीकुचकुम्भेषु कुम्भेषु वरवन्तिनाम् ।
निपतन्ति न भीरूणां दृष्टयः शरवृष्टयः ॥

यथा वा मत्तविलासे शक्यभिक्षुः—'परमकारुणिएण भअवदा तहागएण पासादेसु वासो पज्जंकेषु पुव्वण्हे भोअणं एदेहिं उवदेसेहिं भिक्खुसङ्घस्य अणुग्गहं करन्तेण किं णु हु इत्थिआपरिग्गहो सुरापाणविहाणं अणादिहं । अहवा सव्वञ्चो एदंउणपेक्खदि । अवस्सं एदेहि वुड्ढबुद्धत्थविरेहि णिरूच्छा अह्माणं तरूणजणाणं मच्छरेण पिऽअपुत्थएसु इत्थिआसुरावाणविहाणाणि पञ्ठामुहाणि इति तक्केमि' ॥ २६ ॥

रावण—

"पराई स्त्री के कुचों पर भीरुओं की दृष्टि नहीं पड़ती और न उत्तम हाथियों के गण्डस्थल पर भीरुओं की शर-वृष्टियाँ हो सकती है।"

अथवा जैसे मत्तविलास में शक्यभिक्षु कहता है—

"तथागत ने उपदेश दिया है कि 'प्रासाद (महलों) में वास नहीं करना चाहिए, न पलङ्ग पर सोना चाहिए और न पूर्वाह्न में भोजन करना चाहिए। इन उपदेशों के द्वारा भिक्षुओं पर अनुग्रह करते हुए परमकारुणिक भगवान् तथागत ने कहा है कि स्त्री-परिग्रह और सुरापान भी नहीं करना चाहिए अथवा सर्वज्ञ को इसकी उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसा लगता है कि निश्चय ही किसी दुष्ट निरुत्साह बुद्ध स्थविर ने हमारे तरुणजनों के ईर्ष्या के कारण पाठ्यपुस्तकों में स्त्री-परिग्रह, सुरापान का परामर्श दिया है। यह मेरा अनुमान है ॥ २६ ॥

२२. भ्रंश

अनुवाद—जहाँ पर दृष्टादि के द्वारा अनेक प्रकार के वाच्य अर्थ को छोड़कर किसी अन्य में पतन होता है, उसे 'भ्रंश' नामक लक्षण कहते हैं ॥ २७ ॥

---

१. क. (टि०) इह भ्रंशः स उच्यते । तद्भ्रंशितमिहोच्यते ।

उभयोः प्रीतिजननो विरुद्धाभिनिविष्टयोः[1] ।
अर्थस्य साधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः ॥ २८ ॥

भ्रंशो—यथा वेणीसंहारे द्वितीयऽङ्के कञ्चुकिनमाह—दुर्योधनः !

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम्

कञ्चु—कर्णौ पिधाय सभयं शान्तं पापं प्रतिहतममङ्गलम् ॥ २७ ॥

अनुनयो—यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के रामपराक्रमस्तुतिव्यग्रं मारीचमाह रावणः—आः प्रतिपक्षपक्षपातिन् ! क्षुद्र ! राक्षसापसद ? किं बहुना—

तवैव रुधिराम्बुभिः क्षतकठोरकण्ठस्रुतैः ।
रिपुस्तुतिभवो मम प्रशममेतु कोपानलः ॥
सुरद्विपशिरस्स्थलीदलनदष्टमुक्ताफलः ।
स्वसुः परिभवोचितं पुनरसौ विधास्यत्यसिः ॥

अभिनव—जैसे वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अङ्क में कञ्चुकी से दुर्योधन कहता है—

"भाई, मित्र, पुत्र, बन्धु और भृत्यगणों के साथ दुर्योधन को पाण्डुपुत्र अर्जुन युद्ध में अपनी सेना के द्वारा शीघ्र ही मार देगा।"

कञ्चुकी—(दोनों कानो को बन्द कर भय के साथ) पाप शान्त हो, अमङ्गल दूर हो ॥ २७ ॥

२३. अनुनय

अनुवाद—परस्पर विरुद्ध अर्थों में आसक्ति रखने वाले दोनों पक्षों के प्रीति-जनक अर्थ (कार्य) का साधक 'अनुनय' कहा जाता है ॥ २८ ॥

अभिनव—जैसे रामाभ्युदय के द्वितीय अङ्क में राम के पराक्रम की प्रशंसा में व्यग्र मारीच से रावण कहता है—

अरे ! शत्रुओं के पक्षपाती क्षुद्र, अधम राक्षस ! अधिक क्या कहे—

"तुम्हारे द्वारा की गई शत्रुओं की प्रशंसा से उत्पन्न मेरी क्रोधाग्नि तुम्हारे कण्ठ के कठोर घाव से चूने वाले खून (रुधिर) रूपी जल से शान्त होगा। फिर इन्द्र के ऐरावत हाथी के गण्डस्थल मौक्तिक को खण्डित करने वाला यह मेरा तलवार बहिन के तिरस्कार को दूर करने योग्य कार्य करेगा।"

१. क. विशेषयोः ।

[1]ईप्सितार्थप्रसिद्ध्यर्थं कीर्त्यंते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसंज्ञिता ॥ २९ ॥
हृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत्परस्यानुवर्त्तनम्[2] ।
क्रियते वाक्यचेष्टाभिस्तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम्[3] ॥ ३० ॥

इति खड्गमाकर्षति । तदा प्रहस्तः (उभयोर्मध्येऽनिपत्य) प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः, नेदमनुरूपं स्वामिनः । देव—

लोकत्रयक्षयोद्वृत्तप्रकोपाग्रेसरस्य ते ।
ईदृशश्चन्द्रहासस्य भृत्येष्वनुचितः क्रमः ॥ इति ॥ २८ ॥

माला—यथा तापसवत्सराजे राजा—

दृष्टा यूयं निर्जिता विद्विषन्तः प्राप्ता भूतधात्री च भूयः ।
संबन्धोऽभूद्दर्शकेनापि सार्थं किं दुष्प्रापं यन्न लब्धं भवद्भिः ॥ २९ ॥

इस प्रकार तलवार को खींचता है । तभी प्रहस्त (उन दोनों के बीच आकर) महराज ! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों, यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है । देव—

"तीनों लोकों के क्षय के लिए उद्वेलित क्रोध का अग्रेसर आप का यह चन्द्रहास (तलवार) का यह क्रम भृत्यों पर अनुचित है ।" ॥ २८ ॥

२४. माला

अनुवाद—जहाँ पर अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए विद्वानों द्वारा अनेक प्रयोजनों को कहा जाय, उसे 'माला' नामक लक्षण कहा जाता है ॥ २९ ॥

अभिनव—माला का उदाहरण जैसे तापसवत्सराज में राजा—

"आप लोगों ने शत्रुओं को पराजित होते हुए देख लिया, तथा देवी और पृथ्वी को पुनः प्राप्त कर लिया, दर्शक के साथ आपका सम्बन्ध हो गया, अब कौन सी ऐसी वस्तु दुष्प्राप्य है जो आप ने नहीं पाया है ॥ २९ ॥

२५. दाक्षिण्य

अनुवाद—जहाँ पर हर्षित एवं प्रसन्न मुख जनवाणी और चेष्टाओं के द्वारा दूसरे का अनुवर्त्तन करते हैं, उसे 'दाक्षिण्य' कहते हैं ॥ ३० ॥

---

१. क. (टि०) अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं । अभिष्टार्थसिद्ध्यर्थं ।
२. क. (टि०) अनूवर्णनम् ।
३. क. उदाहृतम् ।

यत्र संकीर्तयन् दोषं[1] गुणमर्थेन दर्शयेत् ।
[2]गुणातिपाताद् दोषाद्वा[3] गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥ ३१ ॥

दाक्षिण्यं यथा रत्नावल्यां द्वितीयऽङ्के शीर्षवेदनाव्याजेन गन्तुमुद्यतां वासवदत्तां पटान्तेन गृहीत्वा निरुन्धन् वत्सराजः "प्रिये, प्रसीदेति ब्रूयाम्" इत्यादि वदन्निष्क्रान्तायां प्रेयस्यां "अलमरण्यरुदितेन" इति ब्रुवन्तं विदूषकमाह—"मूढ ? न लक्षितस्त्वया देव्याः कोपः तत्सर्वथा देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायमाकलयामि तदेहि, देवीं प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशावः" इति ।

अत्र राज्ञोऽनुवर्तनं दाक्षिण्यम् ॥ ३० ॥

गर्हणं—दोषस्य गुणीकृतत्वं यथा धूर्तविटे—

प्रणष्टा न व्यक्तिर्भवति वचसा सैव मृदुता
न रागो नेत्राब्जे त्यजति न च लज्जा व्यपगता ।
स्मृतिः प्रत्ययिता परिहृषितमद्यापि न मुखं
मदो दोषांस्त्यक्त्वा त्वयि परिणतस्तिष्ठति गुणैः ॥

अभिनव—दाक्षिण्य का उदाहरण जैसे रत्नावली के द्वितीय अङ्क में शिरोवेदना के व्याज (बहाने) से जाने के लिए उद्यत (तैयार) वासवदत्ता को आञ्चल पकड़कर वत्सराज उदमन रोकते हुए कहता है—"प्रिये ! तुम प्रसन्न होओ, ऐसा मैं कहता हूँ ।" इत्यादि वचन कहने पर भी प्रेयसी के चले जाने पर "अरण्य में रोदन करना व्यर्थ है" इस प्रकार कहने वाले विदूषक से कहता है—"मूढ़ ! तुमने देवी के क्रोध को नहीं देखा । अतः देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं देख पा रहा हूँ । तो आवो, महारानी को प्रसन्न करने के लिए हम लोग भीतर ही चलें ।

यहाँ पर राजा का अनुवर्त्तन करना 'दाक्षिण्य' है ।

२६. गर्हण

अनुवाद—जहाँ पर दोषों का कीर्त्तन करते हुए किसी प्रयोजन के गुणों को प्रदर्शित कर दे अथवा गुणों का अतिक्रमण (उपेक्षा) करके दोष को प्रदर्शित कर दे वहाँ 'गर्हण' नामक लक्षण होता है ॥ ३१ ॥

अभिनव—दोष को गुण कर देना 'गर्हण' है । जैसे—धूर्तविट में—

१. क. (टि०) दोषान् । २. क. (टि०) गुणाभिवाक्षत् ।
३. दोषान्वा ।

अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते[1]।
वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना[2] सार्थापत्तिरुदाहृता ॥ ३२ ॥

गुणातिपाते दोषा यथा वत्सराजचरिते द्वितीयेऽङ्के विष्णुत्रातः—
नृपः प्रभुत्वात्प्रतिषेधवामा जिह्मो विधिस्तद्वशवर्ति कार्यम् ।
साचिव्यतो नापरमस्ति पुंसां विषादवुःखापयशसां निदानम् ॥
यथा वा तापसवत्सराजे तृतीयेऽङ्के लामकायनः—
पूर्वाह्णे कृतभोजनव्यतिकरान्नित्यैव नीरोगिता
कण्डूतिर्वपनादपैति शिरसः स्नानं यदा रोचते ।
जात्याचारकदर्थनाविरहितं ब्राह्मण्यमात्मेच्छया
धूर्तैः सत्त्वहिताय कैरपि कृतं साधुव्रतं सौगतम् ॥ ३१ ॥

"मद्यपान के मद से वचन की स्पष्टता नष्ट नहीं हुई, अपितु वही मृदुता रही। राग (लालिया) नेत्र कमल को नहीं छोड़ रहा है, लाज भी दूर नहीं हुई। स्मृति पुनः लौट आई, मुख आज भी प्रसन्न है। इस प्रकार यह मद आपके रहने पर दोषों को छोड़कर गुणों में परिणत होकर स्थित है।"

गुणों के अतिपात में दोष का वर्णन। जैसे वत्सराजचरित के द्वितीय अङ्क में विष्णुत्रात का यह कथन—

"राजा लोग अपनी प्रभुत्व के कारण वाम भाव से प्रतिषेध करते हैं, दैव भी कुटिल होता है, कार्य भी उसी दैव के अधीन है, इसलिए पुरुषों के लिए राजा ने मन्त्रित्व पद के अतिरिक्त विषाद, दुःख और अयश को निवारण करने का अन्य कोई कारण नहीं है।"

अथवा जैसे तापसवत्सराज के तृतीय अङ्क में लामकायन कहता है—

"पूर्वाह्ण में नित्य भोजन का अवसर निश्चय कर लेने से निरोगिता होती है। शिर मुड़ा लेने से खुजलाहट दूर हो जाती है, जब अच्छा लगे स्नान करना चाहिए।

जाति और आचार की कदर्थना से रहित अपनी इच्छा से ब्राह्मणत्व है। कुछ धूर्तों ने अपना व्यवसाय चलाने के लिए सौगत व्रत को धारण कर लिया है।"

२७. अर्थापत्ति

अनुवाद—जहाँ अर्थान्तर के रहने पर अन्य अर्थ की प्रतीति हो वाक्य की मधुरता से सम्पन्न उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं ॥ ३२ ॥

१. क. (डि॰) प्रकाश्यते। २. ख. वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं।

वाक्यैः सातिशयैरुक्ता वाक्यार्थस्य [1]प्रसाधकैः ।
लोकप्रसिद्धैर्बहुभिः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ ३३ ॥

अर्थापत्तिर्यथा धूर्तविटे—

आदष्टस्फुरिताधरे भवति यो वक्त्रारविन्दे रसः
प्रीतिर्या च हृतांशुके च जघने काञ्चीप्रभोद्द्योतिते ।
लक्ष्मीर्या च नखक्षताङ्कुरघने पीने कपोले स्त्रियो ।
रक्तं तेन विरज्यते न हृदयं जात्यन्तरेऽपि ध्रुवम् ॥

अत्र जन्मान्तरेऽपि तस्या अनुरक्तिरनुवर्तत एवेत्युक्ते जन्मान्तरेष्वपि विरागो न प्रभवति तस्माद्भवबन्धविमुक्तिर्न स्यादित्यर्थापत्तिर्नाम लक्षणम् ॥ ३२ ॥

प्रसिद्धिः—प्रसाधकैः प्रकृष्टसाधकैः, प्रसिद्धैः पूर्वमेव सिद्धैः । यथा गदायुद्धे बलदेवः दुर्योधनमाह—भीमसेन इदानीं तव युद्धवञ्चनामुत्पाद्य स्थास्यति ।

दुर्यो—न चाहं भीमसेनेन वञ्चितः ।

बल—अथ केन भवानेवंविधः कृतः ।

अभिनव—अर्थापत्ति का उदाहरण जैसे धूर्त्तविट में—

"सुरत काल में अधर का दंशन कर लेने पर जिसमें अधर फड़कने लगता है, ऐसे कमलमुख में जो रस है, वस्त्र के हरण कर लेने पर करधनी की प्रभा से उद्योतित जङ्घों में जो प्रीति होती है, नखक्षत के अङ्कुर को धारण करने वाले स्त्रियों के मांसल कपोलों में जो शोभा होती है, ऐसी भावना से अनुरक्त हृदय जन्मान्तर में भी विरक्त नहीं होता ।"

यहाँ जन्मान्तर में भी उसकी अनुरक्ति (अनुराग) अनुवर्त्तन करती है, ऐसा कहने पर जन्मान्तर में भी विराग नहीं होता, इसलिए भव-बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती, अतः यहाँ 'अर्थापत्ति' नामक लक्षण है ॥ ३२ ॥

२८. प्रसिद्धि

अनुवाद—वाक्यार्थ के प्रसाधक बहुत से अतिशय पूर्ण वाक्यों के द्वारा कथित रचना को 'प्रसिद्धि' कहते हैं ॥ ३३ ॥

अभिनव—प्रसाधक का अर्थ है प्रकृष्ट साधक और प्रसिद्धि का अर्थ है पहिले से ही सिद्ध । जैसे गदायुद्ध में बलदेव दुर्योधन से कहता है—अब भीमसेन तुम्हें युद्ध में वञ्चित कर स्थिर हो जायेगा ।

दुर्योधन—क्या भीमसेन ने मुझे ठग लिया है ।

बलराम—तब किसने आप को ऐसा कर दिया ?

---

[1] १. क. (ठि०) स्ववाक्यार्थप्रकाशकैः ।

यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम् ।
[1]पृच्छ्यते चाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता ॥ ३४ ॥

दुर्यो—श्रूयतां,

येनेन्द्रस्य च पारिजातकतरुर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्षसहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया ।
दीप्त्या भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रियः
तेनाहं जगतां प्रियेण हरिणा मृत्योः प्रतिग्राहितः ॥

अत्र वाक्यार्थस्य साधका एव भगवतो विष्णोः पारिजाताहरणलीलावटपत्रशयनादयः । अन्ये तु प्रसाधकैरलङ्कारैरिति गृह्णन्ति ॥ ३३ ॥

पृच्छा=शोकादिपरवशतयात्मानं वा परं परोक्षे संबोध्य पृच्छन्निवाभिधानम् । तन्नोत्तरमपेक्षते तस्यैव प्रत्यायकत्वात् । यथा रामचरिते हनुमान् सीतां दृष्ट्वाह—

दुर्योधन—सुनिये—

"जिसने अभिमान के साथ इन्द्र से पारिजात के वृक्ष को हरण कर लिया था। जिसने हजारों दिव्य वर्षों तक लीला के साथ समुद्र के जल में शयन किया था, उस जगत् के प्रिय हरि ने सहसा दीप्ति से भीम की गदा में प्रवेश करके निर्व्याज युद्धप्रिय मुझे मृत्यु के लिए ग्रहण करा दिया।"

यहाँ पर भगवान् विष्णु के पारिजात हरण, लीलापूर्वक वटपत्र पर शयन आदि वाक्यार्थ के साधक हैं। अन्य आचार्य तो वाक्यार्थ का प्रसाधक अलङ्कार मानते हैं ॥ ३३ ॥

२९. पृच्छा

अभिनव—जहाँ पर गूढ़ अभिप्रायों के सूचक वाक्यों के द्वारा स्वयं को पूछते हुए किसी अर्थ को कहा जाता है, उसे 'पृच्छा' कहते हैं ॥ ३४ ॥

अभिनव—शोक आदि के कारण परवश हो जाने से अपने को अथवा दूसरे को सम्बोधित कर पूछते हुए की तरह कथन है। जहाँ उत्तर की अपेक्षा नहीं होती उसी का यह प्रत्यायक है। जैसे उत्तररामचरित में हनुमान् सीता को देखकर कहते हैं—

---

१. ख. पृच्छ्यते चाभिवतेऽर्थं । क. (द्वि०) पृच्छेत्युपज्ञापन्नार्थं ।

दृष्टश्रुतानुभूतार्थकथनादिसमुद्भवम् ।
[1]सादृश्यं क्षोभजननं सारूप्यमिति संज्ञितम् ॥ ३५ ॥

स्थानेऽवसीदसि रघूद्वह ! किं विधातः !
अस्यास्त्वयेक्षितमलक्षणमङ्गकेषु ।
यद्यपि जीवसि दशानन ! हे हनुमन् !
केयं तवाभिमुखवर्तिरिपोः प्रतीक्षा ॥ इति ॥ ३४ ॥

सारूप्यं—आदिशब्देन दर्शनश्रवणानुभवनान्युपलक्षितानि। अत्र रूपविभ्रान्त्या न क्षोभजननमेव लक्षणस्य चमत्कृतिः। यथा छलितरामे लक्ष्मणेन बध्वानीतो लवो रामयज्ञशालायां हिरण्मयीं सीतां दृष्ट्वाह—

"अये कथमियमम्बा राजद्वारमागता" इति सहसोत्थाय प्रणम्य तदनन्तरं काञ्चनमयीति निर्वर्ण्योपसृत्योपविशति ।

"हे रघूद्वह ! आप ठीक (उचित) ही दुःखी हो रहे हो । हे विधातः ? आपने सीता के अङ्गों में कौन सा दुर्लक्षण देखा है। हे दशानन ! इस बेचारी को कष्ट देकर आज भी जी रहे हो। हे हनुमन् ! सामने शत्रु को देखकर तुम्हारी यह कैसी प्रतीक्षा है ?॥ ३४ ॥

३०. सारूप्य

अनुवाद—जहाँ पर दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत अर्थ के कथन, दर्शन, श्रवण तथा अनुभव आदि से समुद्भूत क्षोभ-जनक सादृश्य हो, उसे 'सादृश्य' नामक लक्षण कहते ॥ ३५ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'कथनादि' में आदि शब्द से दर्शन, श्रवण और अनुभवन उपलक्षित है। यहाँ पर रूप की विशिष्ट भ्रान्ति से क्षोभ को उत्पन्न कर देने में ही लक्षण का चमत्कार नहीं है। जैसे छलितराम में लक्ष्मण के द्वारा बाँधकर लाये गये लव ने राम की यज्ञशाला में हिरण्यमयी सीता को देखकर कहा—

"अये ! यह अम्बा राजद्वार पर कैसे आ गई ?" सहसा उठकर प्रणाम कर और उसके बाद यह तो हिरण्यमयी है, ऐसा अनुभव कर पास में जाकर फिर बैठ गया।

१. ख. सादृश्यक्षमजनितं ।

हृदयस्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य[1] विभावकम् ।
अन्यापदेशैः [2]कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥ ३६ ॥

यथा वा वेणीसंहारे—दुर्योधनं हत्वागच्छन्तं भीमसेनं दुर्योधनमिति चार्वाक-वार्तयैव भ्रान्त्वा धर्मसूनुस्तं गाढं गृहीत्वाह'''

आशैशवादनुदिनं जनितापराधो
मत्तो बलेन भुजयोर्हतराजपुत्रः ।
आसाद्य मेऽन्तरमिदं भुजपञ्जरस्य
जीवन् प्रयासि न पदात्पदमद्य पापः ॥ इति ॥ ३५ ॥

मनोरथो—यथा विकटनितम्बाप्रहसने विकटनितम्बाह—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
बालां कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥
अत्रात्मानमेव सुमनोलतात्वेनापदिशति ॥ ३६ ॥

अथवा जैसे वेणीसंहार नाटक में—"दुर्योधन को मारकर आते हुए भीमसेन को यह दुर्योधन है, इस चार्वाक की बात से भ्रान्त होकर युधिष्ठिर ने उसे दृढ़ता से पकड़कर कहा—

"शैशव काल से ही प्रतिदिन अपराध करने वाले भुजाओं के बल से मत्त हुए राजपुत्र भीम को मार डाला । आज मेरे इस भुजपञ्जर के बीच में पहुँचकर जीते हुए एक पग भी आगे नहीं जा सकते ।"

३१. मनोरथ

अनुवाद—यहाँ पर हृदयस्थ भाव एवं गूढ़ अर्थ के विभावक बात को दूसरे के बहाने से कथन किया जाय, उसे 'मनोरथ' नामक लक्षण कहा जाता है ॥ ३६ ॥

अभिनव—मनोरथ का उदाहरण—जैसे, विकटनितम्बा प्रहसन में विकट-नितम्बा कहती है—

"हे भ्रमर ! सम्भोगकालीन रतिश्रम को सहन करने वाली किसी अन्य पुष्पलताओं में अपने चञ्चल मन को बहलावो । इस नवमालिका की मुग्धा, जिसमें पराग नहीं है, ऐसी नवीन कली को क्यों कदर्थित कर रहे हो ।"

---

१. क. (हि०) गूढ़स्यार्थप्रकाशकम् । सुश्लिष्टार्थप्रकाशकम् । २. अन्यापदेशकम् ।

यद्वाक्यं [1]वाक्यकुलैरुपायेनाभिधीयते ।
[2]सदृशार्थाभिनिष्पत्त्या स लेश इति कीर्तितः ॥ ३७ ॥

लेशो यथाविमारके द्वितीयेऽङ्के धात्री नायकमाह—अय्य ? किं चिंतीअदि ।

अविमारकः—भवति ? शास्त्रं चिन्त्यते ।

धात्री—किं णाम एवं रमणिज्जं सत्थं चिंतीअदि

अवि—भवति ! योगशास्त्रं चिन्त्यते ।

धात्री—(सस्मितं) पडिग्गहोदं मंगलवअणं ओअसत्थं एव होदु ।

अवि—को नु खलु वाक्यार्थः । अन्यदप्यभिलाषवशादन्यथा संकल्पयामि । इत्यादि ।

अन्ये तु लेख इति पठन्निङ्गितज्ञानाभिधानमिति च लक्षयन्ति ॥ ३७ ॥

३२. लेश

अनुवाद—जहाँ पर वाक्य प्रयोग में कुशल लोग उपाय से सदृश अर्थ की अभिनिष्पत्ति के जिस वाक्य को कहते हैं, उसे 'लेश' नामक लक्षण कहा गया है ॥ ३७ ॥

अभिनव—उदाहरण जैसे, अविमारक के द्वितीय अङ्क में धात्री नायक से कहती है—अरे क्या चिन्तन कर रहे हैं ?

अविमारक—भगवति ! शास्त्र की चिन्ता कर रहा हूँ ।

धात्री—किस रमणीय शास्त्र की चिन्ता कर रहे हैं ?

अविमारक—योगशास्त्र की चिन्ता कर रहा हूँ ।

धात्री—(मुस्कराकर) मैंने मङ्गल-बचन को स्वीकार किया । यह शास्त्र ही हो ।

अविमारक—वाक्यार्थ क्या है ? और अभिलाष के कारण अन्यथा भी संकल्प करता हूँ । इत्यादि ।

अन्य लोग तो लेश के स्थान पर 'लेख' पढ़ते हैं और इङ्गित ज्ञान का अभिधान, यह लक्षण करते हैं ।

१. ख. वाक्यकुशलैः ।
२. ख. सादृश्यार्थाविनिष्पन्नः ।

परदोषैर्विचित्रार्थैर्यत्रात्मा परिकीर्त्यते[1] ।
अदृष्टोऽन्योऽपि वा कश्चित् स तु क्षोभ इति स्मृतः ॥ ३८ ॥

क्षोभो-यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के सागरिकैवेति मत्वा वासवदत्तामुपलालयतो राज्ञः सा स्वावगुण्ठनमपनीय वैलक्ष्यमुत्पादितवती ।

राजा (अञ्जलिं बध्वा)—प्रिये ! वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद ।

वासवदत्ता—(अश्रु निपातयन्ती)–मा एव्वं भण । अण्णगदाइ एदाइ अक्खराइं ।

विदू—भोदि, महाणुभावा खु तुमं ता खमीअदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स ।

वास—णं पुढमसंगमे विग्धं करन्तीए मए जेव्व एदस्स अवरद्धं ण अज्जपुत्तस्स ।

अन्ये तु "आत्मन्यभूततद्भावभावन" मिति । परे तु "अन्यगते हेतावन्यस्मिन् कार्यकल्पनम्" इति च लक्षयन्ति ॥ ३८ ॥

---

३३. क्षोभ

अनुवाद—विचित्र अर्थ वाले दूसरों के दोषों के द्वारा जहाँ पर अपने को कहा जाय अथवा अदृष्ट किसी अन्य को कहा जाय, वह 'क्षोभ' नामक लक्षण कहा गया है ॥ ३८ ॥

अभिनव—क्षोभ का उदाहरण जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क में यह सागरिका है ऐसा समझ कर वासवदत्ता से प्रेम करने वाले राजा उदयन को वासवदत्ता अपना घूंघट खोलकर लज्जित कर देती है ।

राजा—(हाथ जोड़कर) प्रिये ! वासवदत्ते ! प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ ।

वासवदत्ता—(आँसुओं को गिराती हुई) ऐसा मत कहिये । ये अक्षर तो दूसरों के लिए है ।

विदूषक—देवि ! आप महानुभाव हैं, प्रिय मित्र के एक अपराध को क्षमा कर दें ।

वासवदत्ता—अरे ! इस प्रथम मिलन में विघ्न डालने वाली मैंने अपराध किया है, आप के प्रिय मित्र ने नहीं ।

अन्य लोग तो 'आत्मन्यभूततद्भावनम्' (अपने में अभूतपूर्व भावना रखना) लक्षण करते हैं । दूसरे लोग 'अन्यगत कारण से दूसरे में कार्य को कल्पना करना, लक्षण करते हैं ॥ ३८ ॥

---

१. क. (टि०) वाभिधीयते ।

लोके गुणातिरिक्तानां [1]गुणानां यत्र नामभिः ।
[2]एकोऽपि शब्द्यते तत्तु विज्ञेयं गुणकीर्त्तनम् ॥ ३९ ॥

गुणकीर्तनं—यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के शालङ्कायनः—नीलनागव्यपदेशेन समन्ततः शस्त्रप्रभाभासुरैरस्मद्योधैः परीतेन महति भयस्थाने विगतसंभ्रमं—

तेन प्रोक्तं धैर्यगाम्भीर्यशौर्यप्रज्ञातेजोनीतिदाक्षिण्यगर्भम् ।
वाक्यं सामाद्यं सोर्जितं श्रोत्ररम्यं शास्त्रीकर्तव्यं तद् बुधैः स्वार्थकामैः ॥

भरतरोहकः—एसो संक्षिप्तविस्तरो नाम ।

राजा—ततस्ततः—

शाल—देव, यस्तस्य युद्धे महति प्रवृत्ते पराक्रमः साहसलाञ्छनः सः ।
प्रद्युम्नरामार्जुनभीमकर्णसाम्बाभिमन्युष्वविचिन्त्य एव ॥ इत्यादि

राजा—अहो नु खलु स्वभावसिद्धानां गुणानामव्यभिचारिता । कुतः—

अविदित इति नैकधा प्रयत्नाद् बहुदिवसं बहुधा परीक्षमाणः ।
द्विगुणमभिविराजते गुणैः स्वैर्मणिरिव जातिविशेषवान्महार्हः ॥ ३९ ॥

३४. गुणकीर्त्तन

अनुवाद—लोक में गुणों के अतिरिक्त गुणों का नाम से किसी एक का कथन किया जाय, उसे 'गुणकीर्त्तन' लक्षण कहते हैं ॥ ३९ ॥

अभिनव—जैसे वत्सराजचरित के चतुर्थ अङ्क में शालङ्कायन कहता है—"काले सर्प के बहाने से चारों ओर शस्त्रों की प्रभा से देदीप्यमान हमारे योद्धाओं से घिरे हुए महान् भय का स्थान होने पर भी व्याकुलता को छोड़कर—

धैर्य, गाम्भीर्य, शौर्य, प्रज्ञा, तेज, नीति तथा दाक्षिण्य से युक्त सामप्रधान ऊर्जस्वी एवं कर्णसुख वचन को कहा । विद्वज्जन अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए इसे शास्त्र-वचन के रूप में ग्रहण करें ।

भरतरोहक—यह संक्षिप्त भी है और विस्तृत भी ।

राजा—इसके बाद ।

शालङ्कायन—महाराज! तब महान् युद्ध के आरम्भ होने पर उसने जो पराक्रम दिखाया वह साहस के पूर्व था । उसे प्रद्युम्न, बलराम, अर्जुन, भीम, कर्ण, साम्ब और अभिमन्यु के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता ।

राजा—अहो! स्वभावसिद्ध गुण अव्यभिचारी भी होते हैं । क्योंकि—

"यह अविदित है (जाना-पहिचाना नहीं है), यह कहकर अनेक बार प्रयत्न से बहुत दिनों तक बहुत बार परीक्षा लेने पर यह जातिविशेष बहुमूल्य मणि जैसा अपने गुणों से दुगुना शोभित हो रहा है ॥ ३९ ॥

१. ख. अदृष्टाग्योऽपि । २. क. (टि०) बहूनां । ३. क. एकोहि ।

प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते[1] ।
वचनेन [2]विनानुक्तसिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥ ४० ॥

अनुक्तसिद्धिर्यथा-तापसवत्सराजे यौगन्धरायणो डोलायितचित्तां वासवदत्तामाह—

कौशाम्बीं परिभूय न कृपणैर्विद्वेषिभिः स्वीकृतां
जानास्येव तथा प्रमादपरतां पत्युर्नयद्वेषिणः ।
स्त्रीणां च प्रियविप्रयोगविधुरं चेतः सदैवात्र मे
वक्तुं नोत्सहते मनः परमतो जानातु देवीं स्वयम् ॥

यथा वा तत्रैव द्वितीयेऽऽङ्के विनीतभद्रो देवीप्रस्थानं वर्णयन्नाह—

मामुद्दिश्य तथा देव्या वाष्पसंरुद्धकण्ठया ।
आर्यपुत्रं प्रतीत्युक्तं वक्तव्यं न समाहितम् ॥ ४० ॥

---

३५. अनुक्तसिद्धि

अनुवाद—जहाँ पर बिना कहे ही प्रस्ताव मात्र से ही शेष समस्त अर्थ की प्रतीति हो जाय, उसे 'अनुक्तसिद्धि' कहते हैं ॥ ४० ॥

अभिनव—अनुक्तसिद्धि का उदाहरण जैसे तापवत्सराज में यौगन्धरायण दोलायित (चञ्चल) चित्त वासवदत्ता से कहता है—

"इन नीच शत्रुओं ने हम लोगों को तिरस्कृत कर (अथवा पराजित कर) कौशाम्बी नगरी को ले लिया है । इस प्रकार नीति से द्वेष रखने वाले अर्थात् नीति से चलने वाले महाराज की अनवधानता (लापरवाही) तो आप जानती हैं । स्त्रियों का चित्त प्रिय के वियोग में दुःखी (व्याकुल) रहता है, अतः इस विषय में कुछ कहने के लिए मेरा मन उत्साह नहीं कर रहा है । इसके बाद स्वयं देवी ही जानें ।

अथवा जैसे वहीं पर अर्थात् तापसवत्सराज के द्वितीय अङ्क में विनीतभद्र महारानी के प्रस्थान का वर्णन करते हुए कहता है—

"वाष्प के अवरुद्ध कण्ठ से देवी ने मुझे लक्ष्य कर आर्यपुत्र के प्रति जो कुछ कहा, वह समाधान के योग्य नहीं है ।

---

१. क. (डि०) प्रवोयते ।
२. ब. विजानातु ।

यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥ ४१ ॥

प्रियोक्तिर्यथा वत्सराजचरिते सप्तमेऽङ्के भरतरोहको वत्सराजाय वासवदत्तां वीणाभ्यासार्थमर्पयितुकामस्तं दृष्ट्वाह—

या शेते कौस्तुभस्य द्युतिकिसलयिते शारदव्योमनीले
विष्णोर्वक्षस्युदारे रजनिकरकराकारहारोपहारे ।
साभ्येत्यालिङ्गतु त्वां प्रशिथिलगलितेनोत्तरीयेण लक्ष्मी—
र्हर्षादापीडयन्ती नवकमलरजोरोचनाभ्यां स्तनाभ्याम् ॥इति॥४१॥

३६. प्रियोक्ति

अनुवाद—जहाँ पर प्रसन्न चित्त से पूज्यजनों के सम्मान के लिए तथा प्रसन्नता को प्रकट करने के लिए जो वचन कहा जाता है, उसे 'प्रियोक्ति' कहते हैं ॥ ४१ ॥

अभिनव—प्रियोक्ति का उदाहरण जैसे वत्सराजचरित में सप्तम अङ्क में भरतरोहक वत्सराज से वासवदत्ता को वीणा सिखाने के लिए अर्पण करने की इच्छा से उन्हें देखकर कहता है—

"जो लक्ष्मी कौस्तुभमणि की कान्ति से किसलयित शरत्कालीन आकाश के सदृश नीलवर्ण, चन्द्रमा की किरणों के सदृश हार से सुशोभित उदार विष्णु के वक्षःस्थल पर शयन करती है। वह शिथिल एवं खिसके हुए उत्तरीय से युक्त लक्ष्मी स्वयं आकर प्रसन्नता से नये कमल के पराग से सुशोभित स्तनों से स्वयं आपीड़ित करती हुई आपका आलिङ्गन करें।" ॥ ४१ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त ने इसका 'भ्रंश' नामक लक्षण के स्थान पर भी उल्लेख किया है।

एतानि काव्यस्य च लक्षणानि[1]

षट्त्रिंशदुद्देशनिदर्शनानि ।

[2]प्रबन्धशोभाकरणानि तज्ज्ञैः

सम्यक् प्रयोज्यानि रसायनानि[3] ॥ ४२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे षोडशोऽनुबन्धाध्यायः ॥ १६ ॥

एवमेव श्रव्यप्रबन्धेष्वपि कथाशरीरसंविधानसंभाषणवैदग्ध्यरूपः कविव्यापारो लक्षणाख्यो द्रष्टव्यः ॥ ४२ ॥

इत्यभिनवभारत्यां षोडशाध्यायनुबन्धः समाप्तः ।

अनुवाद—इस प्रकार उद्देश्य क्रम से काव्य के इन ३६ लक्षणों को कह दिया है। विद्वानों के प्रबन्ध काव्य की शोभा करने वाले इन लक्षणों का रसों के अनुसार अच्छी तरह प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अभिनव—इसी प्रकार श्रव्य प्रबन्धों में भी कथाशरीर के संविधान, सम्भाषण एवं वैदग्ध्य रूप लक्षण नामक व्यापार को समझना चाहिए ॥ ४२ ॥

इस प्रकार डॉ॰ पारसनाथद्विवेदी द्वारा रचित हिन्दी व्याख्या में सोलहवें अध्याय का अनुबन्धाऽध्याय समाप्त हुआ ॥

●

---

१. क. एतानि वा काव्यविभूषणानि ।

२. ख. काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः ।

३. ख. बलानुरूपम् । क. रसानुरूपम् ।

सप्तदशोऽध्यायः

अभिनवभारती

यदान्तररसास्वादकाकुविश्रान्तिसुन्दरम् ।
रसाक्षपक्षगं वन्दे तद्वपुः परमेश्वरम् ॥

चतुर्दशाध्याये वाचिकोक्तक्रमे संस्कृतं प्राकृतं च वाक्यमित्युक्तम् । तत्र संस्कृतप्रसङ्गेन छन्दोवृत्तलक्षणादिनिरूपितम् । अनेन त्वध्यायेन प्राकृतस्य स्वरूपं निरूप्यते । शास्त्रप्रसिद्धसंस्कृतविपरीतप्राकृतप्रसङ्गेन नामधेयविभागरूपरूपणं शास्त्र-विहितानां विपरीतरूपत्वात्, नाट्यसमयपातिनो भावमारिषादिनामसमूहस्य पठन-धर्माश्च प्राकृतेऽपि किमन्यथा संस्कृतवद्वेति चिन्तायां प्रसङ्गेन कार्यस्वरूपं निरूपितम्—दशरूपकनिर्णयान्तरं समुचितनिर्णयमपि तथा—

अलङ्कारा विरामाश्च ये पाठ्ये संस्कृते मताः ।
त एव यत्नतः कार्याः स्त्रीपाठ्येऽपि त्वसंस्कृते ॥ (१७-१४८)

अभिनवभारती

अभिनव—जिसके विना रसास्वादन और काकु-विश्रान्ति नहीं हो सकती, सुन्दर अर्थात् रसान्वित रसनेन्द्रिय रूप परमेश्वर के वपु (शरीर) की मैं अभिनव-गुप्त वन्दना करता हूँ ।

अभिनव—पिछले चौदहवें अध्याय में वाचिक अभिनय के निरूपण के प्रसङ्ग में संस्कृत और प्राकृत पाठ्य का उल्लेख किया जा चुका है। इनमें संस्कृत पाठ्य के सन्दर्भ में छन्दोवृत के लक्षण आदि का निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है । अब इस अध्याय में प्राकृत के स्वरूप का निरूपण करते हैं। शास्त्र-प्रसिद्ध संस्कृत भाषा के विपरोत प्राकृत भाषा के प्रसङ्ग से संस्कृत के विपरोत रूप होने के कारण शास्त्र के द्वारा जिनका विधान नहीं किया गया है, ऐसे नामधेयी (शब्दों) के भाग रूप का निरूपण और नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार भाव, मारिष आदि नाम समूह के पढ़ने का नियम क्या संस्कृत के समान प्राकृत में भी होने चाहिए अथवा अन्य प्रकार से ? इस चिन्ता के कारण प्रसङ्गतः कर्त्तव्य दश रूपकों से स्वरूप का निरूपण किया जायेगा और दश रूपों के निरूपण के अनन्तर समुचित निर्णय भी किया जायेगा । जैसे—

"अलङ्कार और विराम जो संस्कृत पाठ्य में माने गये हैं उन्हीं का स्त्रियों के द्वारा कहे जाने वाले प्राकृत पाठ्य में भी करना चाहिए ।"

[1]एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः[2] ।
[3]प्राकृतस्य तु पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १ ॥
एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ २ ॥

इत्यध्यायोपान्ते प्राकृतपाठ्यमेवोपसंहरिष्यामीत्यध्यायसङ्गतिः । एतामेव दर्शयति—एवं तु संस्कृतमित्यादि ।

पाठविशेषमर्हति यत्नेन वा पठनीयं, विशिष्टेन रूपेण वा पठनार्हं आन्तरचित्तवृत्तिवशादेव वा तथा पठितुं शक्यम्, आचार्ययत्नेन वा पठनीयमिति पाठ्यम् ॥ १ ॥

तत्र प्राकृतस्य सामान्यलक्षणमाह—संस्कारेति ।

संस्कृतमेव संस्कारगुणेन यत्नेन परिरक्षारूपेण वर्णितं प्राकृतं, प्रकृतेरसंस्काररूपाया आगतम् ।

इस प्रकार अध्याय के अन्त में प्राकृत पाठ का उपसंहार करूँगा, इस प्रकार अध्याय की सङ्गति भी है । इसी बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार पिछले अध्यायों में मैंने संक्षेप में संस्कृत पाठ्य के विषय में कहा है । अब प्राकृत पाठ्य का लक्षण कहूँगा (बतलाऊँगा) ॥ १ ॥

अभिनव—जो पाठ-विशेष के योग्य है अथवा प्रयत्न-पूर्वक पढ़े जाने योग्य हो अथवा विशेष रूप से पढ़ने योग्य हो अथवा आन्तरिक वृत्तियों के कारण जो पढ़ा जा सके अथवा आचार्य के द्वारा प्रयत्नपूर्वक जो पठनीय हो, वह 'पाठ्य' है ॥

अब प्राकृत का सामान्य लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—इसके विपरीत जो संस्कार के गुणों से रहित नाना अवस्थाओं वाला है, उसे प्राकृत पाठ्य समझना चाहिए ॥ २ ॥

अभिनव—संस्कृत भाषा ही संस्कार के गुणों से रहित होने प्राकृत है, क्योंकि प्राकृत संस्कार-रहित प्रकृति से आई है ।

विशेष—प्रकृति स्वभाव से ही जो भाषा आती हो, उसे 'प्राकृत' कहते हैं (प्रकृतेः स्वभावादागतं प्राकृतम्, व्याकरणादिभिः संस्कारेण संस्कृता भाषा संस्कृतभाषा) अर्थात् व्याकरणादि के द्वारा संस्कार की गई भाषा 'संस्कृत' है ।

---

१. क. (भ.) पाठ्यं तु संस्कृतं विप्राः ।
२. ग. द्विजोत्तमाः ।
३. क. (टि०) प्राकृतस्यापि ।

त्रिविधं तच्च विज्ञेयं [1]नाट्ययोगे समासतः ।
समानशब्दं [2]विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥ ३ ॥

नन्वपभ्रंशानां को नियम इत्याह नाना यान्यवस्थान्तराणि देशविशेषास्तें-ष्वात्मा नियतस्वभावो यस्यां, देशविशेषेषु प्रसिद्धया नियमितमित्येव संस्कृता एव वाचकाः अनुमानात्त्वन्ये ते त्वन्यत्वे प्रसिद्धिं गता इत्युक्तम् । अवतिष्ठन्तेऽनन्यास्मिन्नित्यवस्था देशाः ॥ २ ॥

संस्कृते समेऽपि प्रातिपदिके विभक्तौ भवितव्यं विपर्यासिन स्वरेण वा देशीपदमपि स्वरस्यैव प्रयोगावसरे प्रयुज्यत इति तदापि प्राकृतमेव अव्युत्पादित प्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित् ॥ ३ ॥

अभिनव—अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में क्या नियम है ? इस पर कहते हैं—नाना अर्थात् विभिन्न अवस्थायें जो देश विशेष से सम्बद्ध हैं । उसमें जो नियत स्वभाव जिसमें हो प्रसिद्धि कारण जो देश विशेष में नियत को गई हो । इस प्रकार प्राप्त संस्कृत भाषा के शब्द ही वाचक हैं, अन्य अर्थात् प्राकृत भाषा के शब्द तो अनुमान से वाचक है । इसलिए अन्यत्वेन प्रसिद्धि को प्राप्त हुए, यह कहा गया है। जिसमें लोग रहते हैं । वह देश विशेष अवस्था ही है । क्योंकि रहना तो देश विशेष में ही होता है ॥ २ ॥

अनुवाद—इस प्राकृत को नाटच प्रयोगों में संक्षेप में तीन प्रकार की समझना चाहिए । समान शब्दों वाला, विभ्रष्ट और देशीगत ॥ ३ ॥

अभिनव—संस्कृत और प्राकृत में प्रातिपदिक शब्द के समान होने पर भी विभक्ति में स्वर का विपर्यास होना चाहिए। देशी पर भी प्रयोग के समय स्वरगत सम्बन्ध से ही प्रयोग किया जाता है, अतः वह भी प्राकृत ही है। कुछ लोग तो अव्युत्पन्न प्रकृति से प्राप्त तथा अव्युत्पन्न लोगों से प्रयोज्य भाषा प्राकृत है, ऐसा कहते हैं ॥ ३ ॥

---

१. (भ.) नाव्ययोगं ।
२. क. शब्दैर्विनष्टं । ख. शब्दैर्विभ्रष्टं ।

[1]पाठ्यमेकं तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं यथा ।
[2]कमलामलरेणुतरङ्गलोलसलिलादिवाक्यसंपन्नम्
प्राकृतबन्धेष्वेवं संस्कृतमपि[3] योगमुपयाति ॥ ४ ॥
ये वर्णाः संयोगस्वरवर्णान्यत्वमूनतां [4]चापि ।
[5]यान्त्यपदादौ प्रायो विभ्रष्टांस्तान् विदुर्विप्राः ॥ ५ ॥

संस्कृतेन समानशब्दानुदाहरति कमलामलेति विभक्तौ लिङ्गस्य प्राकृते स्वातन्त्र्यादवश्यं भेदेन भाव्यमित्याह वाक्ये समासोपपन्नं योजितम् एतत्परिज्ञानस्य फलमाह एवं संस्कृतमपि योगमिति । भाषाश्लेषे पताकास्थानकादौ चास्य प्रयोग उक्तः । अपि शब्देनेदमाह प्राकृतप्रयोगे समासेऽपि न संस्कृतसमतेति कमल अमल इन्दु इत्यादौ ॥ ५ ॥

अब संस्कृत और प्राकृत के समान शब्दों का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—अमल, कमल, रेणु, तरङ्ग, लोल, सलिल आदि शब्दों से निर्मित वाक्यों, प्राकृत काव्यों की तरह संस्कृत में भी किया जाता है ॥ ४ ॥

अभिनव—प्राकृत में विभक्तियों में लिङ्गगत स्वातन्त्र्य होने से संस्कृत और प्राकृत अवश्य भेद होने चाहिए। इसलिए कहते हैं कि वाक्य में समास से सम्पन्न योजना की है। इस परिज्ञान का फल कहते हैं—इस प्रकार संस्कृत भाषा का भी योग को प्राप्त होता है। भाषा श्लेष और पताका स्थानक आदि में इसका प्रयोग कहा गया है। यहाँ अपि शब्द से यह भी कहा गया है कि प्राकृत के प्रयोगों में समास होने पर भी उन शब्दों में संस्कृत से समानता नहीं होती, जैसे—कमल, अमल, इन्दु इत्यादि में ॥ ४ ॥

अब विभ्रष्ट का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—जो वर्ण पदन्यस्त है और संयुक्त होने से स्वर या वर्णों के सम्बन्ध से भिन्नता को प्राप्त होते हैं, उन्हें 'विभ्रष्ट' समझना चाहिए ॥ ५ ॥

---

१. श्लोकार्धमिदं ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
२. क. (भ.) कमलदलरेणुकेसरतरङ्गसलिलादि ।
३. क. संस्कृतमिव प्रयोगमुपयाति ।
४. ख. न्यूनतां वापि ।
५. ख. ग. गच्छन्ति पदन्यस्तास्ते विभ्रष्टा इति ज्ञेया ।

[1]ये वर्णा वर्णगता व्यञ्जनयुक्ताश्च ये स्वरा नियताः ।
तानपरस्परवृत्ते प्राकृतयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ६ ॥
[2]एओआरपराणिअ [3]अंआरपारं अ[4]पाअए णत्थि ।
वसआरमज्झिमाइ[5] अ [6]कचवग्गतवगाणिहणाई[7]॥ ७ ॥

अनुवाद—जो वर्ण वर्णगत हैं और व्यञ्जनयुक्त जो नियत स्वर है, परस्पर वृत्ति से रहित उन वर्णों को प्राकृत की युक्ति से वर्णन करूँगा ॥ ६ ॥

अनुवाद—ए ओ से परे ऐ, औ हों, और अनुस्वार (अं) से परे विसर्ग (अः) हो तथा व तथा स के बीच में श, ष वर्ण और क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग के अन्तिम वर्ण ये वर्ण प्राकृत में नहीं होते ॥ ७ ॥

---

१. ख.ग. पुस्तकयोर्नास्त्ययं श्लोकः ।

२. संस्कृतच्छाया—

एओकारपराणि च अकारपरं च प्राकृते नास्ति ।
वसकारमध्ये च कचवर्गतवर्गनिधनानि ॥

'क' पुस्तके टिप्पण्यां 'एओआरपराणि' इत्यादि लक्षणश्लोकानां स्थाने गद्यरूपः पाठभेदोऽपि यथा—क ख घ त थ ध भ सा हत्वं यान्ति । यथा—कलिह, मुह, नेह, वसहि, रह, दहि, सोहा दिअहेसु । शषो सकारो भवतः । यथा—ससंक विसमेसु । टतदा डत्वं याग्ति । यथा—विड, पडि, अदण्डासु । ट ठ ड द य राः लत्वं यान्ति । यथा—तिअ लालिअ तुल पवितुला विहलयदीसु । थकारो ढत्वं प्राप्नोति । यथा—बुड्ढो । नकारो भवति णकारः । यथा—णयणं । पकारो फत्वं याति वत्वं वा यथा—फरुसं कबद्ं च । धकारः ढत्वं याति । यथा—वढि । लकारो रत्वं याति । यथा—किर । टठौ ढत्वं प्राप्नुतः । यथा—सढः फढमं दलिअं । तजौ यत्वं प्राप्नुतः । यथा—कयं घयं । क्ष च ज त द प य वाः स्वविशेषा भवन्ति ! यथा—पियुण, पउप, राइ, वई णई कई दइआ जयेसु । योगं याति । यथा—अच्छरिअं उच्छाहो अच्छरसा, पच्छं । तुभ्यं-तुज्झं । सह्यं-सज्झं विन्ध्वो विज्झो । श्लक्ष्णं—सह्लं । ग्रीष्मो-गिहमो । दृष्टो-विष्टो हस्तो-हत्थो । यक्षो-जक्खो । ब्रह्मा-बह्मा । बृहस्पतिः-बुहप्पइ यज्ञो-जन्नोत्ति ।

एवमेतन्मया प्रोक्तं किञ्चित्प्राकृतलक्षणम् ।
शेषं देशोप्रसिद्धं च ज्ञेयं विप्राः प्रयोगतः ॥

३. क. अंकारपरं । ४. क. पाइये ।

५. क. मज्झि आइ । यंबु आइ । मरिसआइ ।

६. क. कच्चवग्ग । ७. क. हु णाइ ।

[1]वच्चंति कगतदयवा लोपं अत्थं च से वहंति सरा ।
खघथधभा उण हत्तं उवेति अत्थं अ मुंचंता ॥ ८ ॥

एतदेव प्रपञ्च्यते 'एओआरपराणि अ' इत्यादिना एकारात्परः ऐ, ओकारात्परः औ, ऐकारौ च, येभ्यस्तानि च। कियन्ति आह पाअए पदसंख्यया चत्वारीत्यर्थः। ऋ ॠ ऌ ॡ। अंकारपरो विसर्जनीयः। वसकारयोर्मध्ये शषौ। (कचवग्गेति)–कचतवर्गाणां अन्त्यवर्णाः ङ ञ न इति द्वादशवर्णा न सन्ति ॥ ७ ॥

(कगेति)—कगादयो लुप्यन्ते तदीयश्चार्द्धः स्वराणामेव। खघेति—खादीनां हत्वं, खेट, परिध, अथ, धान्य भाव्यादीनां व्यञ्जनस्य न भवति ॥ ८ ॥

अभिनव—एकार से परे 'ऐ' ओकार से परे औ, इस प्रकार ऐकार और ओकार वर्ण ! ये किनसे परे और संख्या में कितने हैं ? इस पर कहते हैं—वे चार हैं—ऋ ॠ ऌ ॡ और अनुस्वार (अं) से परे विसर्ग है। व कार और स कार के बीच में श और ष। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग के अन्तिम वर्ण ङ, ञ, न—ये बारह वर्ण प्राकृत में नहीं होते ॥ ७ ॥

अनुवाद—क, ग, त द, य और व का लोप हो जाता है और इनका आधा भाग स्वरों में मिल जाता है। ख, घ, थ, ध, भ ये वर्ण अर्थ को न छोड़ते हुए हत्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् इनके अर्थ में कोई परिवर्त्तन नहीं होता ॥ ८ ॥

अभिनव—क, ग, न, द, य और व वर्णों का लोप हो जाता है। उनका आधा भाग स्वरों में मिल जाता है। ख, घ, थ, ध, भ को प्राकृत में 'ह' हो जाता है। जैसे—मुख-मुह। मेघ-मेह। कथा-कहा। वधू-वहू आदि। किन्तु खेट, परिघ, अथ, धान्य, भाव्य आदि शब्दों के खादि व्यञ्जन को हत्व नहीं होता है ॥ ८ ॥

---

१. संस्कृत छाया—

प्राप्नुवन्ति कगतदयवा लोपं अर्थं च तेषां वहन्ति स्वराः।
खघथधभाः पुनः हत्वमुपेयन्ति अर्थञ्चामुञ्चमानाः ॥

[1]उप्परहुत्तरआरो हेटाहुत्तो अ पाअए णत्थि ।
मोत्तूण भद्रचोद्रह पद्रह्लदचन्द्रजाई स ॥ ९ ॥
[2]खघथधभाण हआरो मुहमेहकहावहूपहुएसु ।
कगतदयवाणं णिच्चं वीयम्मि ठिओ सरो होई ॥ १० ॥
[3]छ इति षकारो नित्यं बोद्धव्यः षटपदादियोगेषु ।
[4]फिलशब्दान्त्यो रेफो भवति तथा खु त्ति खलुशब्दः ॥ ११ ॥

भद्रादिषु न भवति । अपि च चोद्रहह्लदवुःखादीनामिति ॥ ९ ॥
अत्रोदाहरणानि मुखं मुहं इत्यादिकानि ॥ १० ॥

अनुवाद—प्राकृत में र् (रेफ, का) ऊपर (ऊर्ध्वंगमन) तथा नीचे (अधोगमन) नहीं होता, किन्तु भद्र, चोद्रह, ह्लद, धात्री में यह नियम नहीं लागू होगा ॥ ९ ॥

अभिनव—भद्र आदि शब्दों में रेफ का ऊर्ध्वंगमन या अधोगमन नहीं होता अपितु इनका लोप हो जाता है, किन्तु चोद्रह, ह्लद, दुःख आदि में लोप नहीं होता है ॥ ९ ॥

अनुवाद—ख, घ, थ, ध, भ को प्राकृत में 'ह' हो जाता है। जैसे— मुख = मुह, मेघ = मेह, कथा = कहा, वधू = वहू होता है। तथा क, ग, त, द, य, व में नित्य द्वितीय स्वर हो जाता है ॥ १० ॥

अभिनव—इसका उदाहरण मुख का मुंह, मेघ का मेह होना आदि है।

अनुवाद—षट्पद आदि शब्दों में प्राकृत में ष को छ हो जाता है, 'किल' शब्द के अन्तिम वर्ण को 'र' हो जाता है और खलु शब्द को खु हो जाता है ॥ ११ ॥

---

१. संस्कृत छाया—उपरिस्थो रकारो ह्यधस्थः च प्राकृते नास्ति ।
मुक्त्वा भद्र चोद्रह ह्लदचन्द्रधात्रीषु ।

२. संस्कृत छाया—खघथधभानां हकारो मुखमेघकथावधूप्रभृतेषु ।
कगतदयवानां नित्यं द्वितीये स्थितः स्वरो भवति ।

३. क. (च.) छे इति षकारो नित्यं बोद्धव्यः षट्पदादियोगे तु ।
क. (ज.) च इति चकारो नित्यं बोद्धव्यः षट्पदादियोगे तु ।
क. (द., इत्ति थ आरो नित्यं बोद्धव्य षट्पदादियोगे तु ।
क. (टि० छ इति षकारो नित्यं बोद्धव्या अपदादियोगे तु ।

४. क-द. किलशब्दान्तो रेफो भवन्ति तथा खुत्ति खलुशब्दा ।
क (इ.) कृतिशब्दो रेफान्तेन भवन्ति तथा पुत्रि खलुशब्दः ।
क. (टि०) किल शब्दो कोरे भवति तथा खुत्ति खलुशब्दः ।

[1]ड इति च भवति टकारो भटकटककुटीतटाद्येषु ।
सत्वं च भवति शषयोः सर्वत्र तथाहि स स आदेशः[2] ॥ १२ ॥
अस्पष्टश्च दकारो भवत्यनादौ तकार इतराद्यः[3] ।
वडवातडागतुल्यो भवति डकारोऽपि च [4]लकारः ॥ १३ ॥
वर्धनगते च भावे धकारवर्णोऽपि ढत्वमुपयाति[5] ।
सर्वत्र च प्रयोगे भवति नकारोऽपि च णकारः ॥ १४ ॥
[6]आपानं आवाणं भवति पकारेण वत्वयुक्तेन ।
अयथातथाविकेषु तु थकारवर्णो व्रजति हत्वम्[7] ॥ १५ ॥

अनादौ स्थाने रकारो डकारश्च अस्पष्टो लघुप्रयत्न उच्चार्यः । येन क्रमाद्दकारश्च लकाराच्छायौ भवतः । यथा उदरं उदलं ॥ १३ ॥

अनुवाद—प्राकृत में भट, कटक, कुटी एवं तट आदि शब्दों के ट को 'ड' हो जाता है और सर्वत्र श, ष के स्थान पर 'स' हो जाता है । जैसे—विष=विस । शङ्का=संका । आदि ॥ १२ ॥

अनुवाद—इतर आदि शब्दों त को अस्पष्ट 'द' हो जाता है। और डकार को लकार हो जाता है । जैसे—वड़वा=वलवा, तडाग=तलाव ॥ १३ ॥

अभिनव—अनादि स्थान में रेफ और डकार अस्पष्ट होने से लघु प्रयत्न से उच्चार्य वर्ण और क्रमशः दकार लकार का छाया वाले हो जाते हैं। जैसे—उदरं=उदलं ॥ १३ ॥

अनुवाद—भाव में वर्धन के धकार के स्थान पर ढकार हो जाता है और सभी प्रयोगों में नकार के स्थान पर णकार हो जाता है तथा पकार को वकार हो जाता है । जैसे—आपानं=आवाणं । और यथा, तथा को छोड़कर थ के स्थान 'ह' हो जाता है । जैसे—कथा=कहा ॥ १४-१५ ॥

१. क. (टि॰) त इति च भवति टकाते भटकटकुटोकुटावडाद्येषु ।
क. द-न ड इति भवति टकारो भटकटककुटी कुटावटाद्येषु ।
२. क. यथा विस संका । क. (ख.) यथा हिविससंका ।
क. (ङ-प.) तथापि स सकादेशः ।
३. क. (टि॰) इतरा घे । इतरा घाः । ४. क. ककारः ।
५. क. (ढि॰) धकारतवर्णो हकारतां याति । टकारवर्णोऽपि ठत्वमुपयाति । ङ. नकारोऽपि णत्वमुपयाति ।
६. क. (टि॰) आवाणं अवाणं भवति वकारेण च वायुक्तेन ।
७. ख. ग. थकारवर्णो व्रजति हत्त्वम् । धकारवर्णो व्रजति पत्वम् ।

[1]परुषं फरुसं विद्यात्पकारवर्णोऽपि फत्वमुपयाति[2] ।
[3]यस्तु मृतः सोऽपि मओ यश्च मृगः सोऽपि हि तथैव ॥ १६ ॥

ओकारत्वं गच्छेदौकारश्चौषधादिषु नियुक्तः ।
[4]प्रचलाचिराचलादिषु भवति चकारोऽपि तु यकारः ॥ १७ ॥

[5]अपरस्परनिष्पन्ना ह्येवं प्राकृतसमाश्रया वर्णाः ।
संयुक्तानां तु पुनर्वक्ष्ये परिवृत्तिसंयोगम् ॥ १८ ॥

तथैवेति ॥ १६ ॥

अपरस्परनिष्पन्ना इत्यन्योन्यमश्लिष्टा असंयोगरूपा इत्यर्थः । यत्र संयुक्तास्तेषामिति षष्ठीबहुवचनम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—प्राकृत भाषा में 'प' को 'फ' हो जाता है। जैसे—परुषं=फरुषं। 'मृत' शब्द 'मओ' हो जाता है और 'मृग' शब्द भी उसी प्रकार 'मओ' हो जाता है ॥ १६ ॥

अनुवाद—औषध आदि में प्रयुक्त 'औ' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है और प्रचल, अचिर, अचल आदि में स्थित 'च' को 'य' हो जाता है। जैसे—प्रचल=प्रयल। अचिर=अयिर। अचल=अयल ॥ १७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार असंयुक्त वर्णों वाले प्राकृत शब्दों के नियम बताये गये हैं अब संयुक्त वर्णों के परिवर्तन के नियमों को बतलाऊँगा ॥ १८ ॥

अभिनव—अपरस्परनिष्पन्ना का अर्थ है—परस्पर संश्लिष्ट न होने वाले असंयोग रूप वर्ण। यहाँ जो संयुक्त वर्ण हैं उनके विषय में कहूँगा। यहाँ 'संयुक्तानां' में षष्ठी बहुवचन है ॥ १८ ॥

---

१. क. (टि०) परुषं हरुषं ।
२. क. (टि०) पकारवर्णोऽपि हत्वमुपयाति ।
३. ख. ग. यस्तु मृगः सोऽपि मओ यस्तु मृतः सोऽपि तथैव ।
४. ख. ग. प्रचयचिराचरादिषु चकारवर्णोऽपि च यकारः ।
५. ख. ग. अपरस्वरनिष्पन्नाः ।

[1]श्चप्सत्सथ्याः छ इति तथाभ्यह्यध्या
भवन्ति तु झकाराः[2] ।
[3]ष्टः ट्ठः, स्तः स्थः, ष्मौ म्ह,
क्ष्णो ल्हः ष्णो ण्हः क्षः खकाररूपोऽपि ॥ १९ ॥
[4]आश्चर्यं अच्छरियं निश्चयमिच्छन्ति णिच्छयं च यथा ।
[5]वत्सं वच्छं च यथा अप्सरसं तद्वदच्छरअं ॥
उत्साहो उत्छाहो पथ्यं च पच्छं विज्ञेयम् ॥ २० ॥
तुभ्यं तुज्झं मह्यं मज्झं विन्ध्यश्च भवति विज्झ इति[6]।
वष्टो वट्ठोति तहा हस्तोऽपि च भवति हत्थोत्ति ॥ २१ ॥

क्रमेण स्वयमुदाहरति वच्छं च इत्यादि २० ॥

अनुवाद—श्च, प्स, त्स और थ्य को 'छ' हो जाता है। और भ्य, ह्य, ध्य को 'झ' हो जाता है। इसी प्रकार ष्ट को ठ्ठ, स्त को त्थ, ष्मः को म्ह, क्ष्ण को ल्ह, ष्ण को ण्ह तथा क्ष को ख हो जाता है ॥ १९ ॥

अनुवाद—प्राकृत में आचार्यं को अच्छरियं, निश्चय को निच्छय, वत्स को वच्छ, अप्सरसं को अच्छरअं, उत्साहो को उच्छाहो, पथ्य को पच्छ हो जाता है ॥ २० ॥

अनुवाद—इसी प्रकार तुभ्यं को तुज्झं, मह्यं को मज्झं, विन्ध्य को विज्झ, वष्ट का वट्ठ, हस्त का हत्थ हो जाता है ॥ २१ ॥

---

१. क. (टि०) झप्सश्च ।
२. क. (टि०) व्रजति वै झत्वम् ।
३. क. (टि०) ष्टो ह्रोस्तोव: शेषो लक्ष्मक्ष्यो ल्ह ण्ण: खकाररूपौऽपि ।
ष्टः ष्ठः स्थ: थ्थ: ष्म ह्य सोल्ह: खकाररूपोहि ।
ष्टः ष्ठः स्त: त्थः क्रमो ह्नः स्णो ल्हः क्ष्णः ख इति चैव स्यात् ।
ख. ग. ष्टः ट्ठः स्त: स्थ: ष्णस्नक्ष्णां ण्हः क्षः खकाररूपो हि ।
४. ख. ग. आश्चयं मह्यपि चेत्यनयोर्यस्य रियं च तथा ।
५. ग. पुस्तकयो श्लोकार्धं नास्ति ।
६. क. (टि०) विज्झन्ति । विज्झोन्ति । विज्झोत्ति ।

ग्रीष्मो गिम्होत्ति[1] तथा श्लक्ष्णं सह्लं[2] सदा तु विज्ञेयम् ।
[3]उष्णं उह्लं यक्षो जक्खो पर्यङ्को भवति पल्लंकु ॥ २३ ॥
[4]विपरीतं हमयोगे ब्रह्मादौ स्याद् बृहस्पतौ फत्वम्[5] ।
[6]यज्ञो भवति न जन्नो भीष्मो खिम्होत्ति विज्ञेयः ॥ २४ ॥
उपरिगतोऽधस्ताद्वा भवेत्ककारादिकस्तु यो वर्णः ।
स हि संयोगविहीनः [7]शुद्धः कार्यः प्रयोगेऽस्मिन् ॥ २५ ॥

विपरीत इति । ब्रह्मा बम्हावत् हत्वमिति ॥ २४ ॥

उपरिगतोऽधस्तादिति शक्र अर्कः इति। द्वितीयं सयुज्यमानमपास्य स उपरिगत एव चादेशः क्रियते सक्को अक्को ।

अनुवाद—इसी प्रकार ग्रीष्म को गिम्ह, श्लक्षण को सह्ल समझना चाहिए। उष्ण को उह्ल, यक्ष को जक्ख, पर्यङ्क को पल्लंकु हो जाता है ॥ २३ ॥

अनुवाद—ब्रह्मादि में 'ह्म' के योग में विपरीत हो जाता है। जैसे—ब्रह्म = वम्ह। वृहस्पति में प को फ हो जाता है। जैसे—बुहप्फई। यज्ञ को जण्ण और भीष्म को भिम्ह हो जाता है। ॥ २४ ॥

अभिनव—विपरीत इति। ब्रह्म में विपरीत ह को 'म' तथा म को ह हो जाता है। जैसे—ब्रह्मा=बम्हा।

अनुवाद—ककारादि से संयुक्त जो वर्ण ऊपर होते हैं या नीचे हों, नाट्य प्रयोग में उन्हें संयोग रहित शुद्ध कर देना चाहिए ॥ २५ ॥

अभिनव—रेफ ऊपर हो या नीचे, उसका लोप हो जाता है। यहाँ संयुज्यमान द्वितीय वर्ण को छोड़कर उपरिगत लुप्त रेफ के स्थान पर आदेश होता है। जैसे—शक्र=सक्क, अर्थ=अक्क।

१. ख. ग. जिम्हो च। क. (टि०) गिह्म इति। गिह्मत्ति। २. ख-ग. कण्हं।
३. ख-ग. कृष्णः कण्हो च भवेत् यक्षो जक्खो च पल्लंक पर्यङ्कं।
४. ख. ग. विपरीतमयोगेन। ब्रह्मा च भवति बम्हो वृहस्पतिर्वै बुहप्फइ भवति।
५. क. (टि०) हत्वम्।
६. ख. ग. यज्ञश्च भवति जह्नो भाष्मो भिम्भोति विज्ञेयः। ७. ख-ग. शुद्धं कार्यं।

[1]एवमेतत्तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम् ॥ २६ ॥
भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे [2]प्रयोगतः।
संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते ॥ २७ ॥

मुनिना च दिग्दर्शिता, विस्तारविजिज्ञासुः प्राकृतदीपिकादिकमवलोकयेत्। उत्पलविरचितायां च सूत्रवृत्तौ पद्धतौ च स्फुटं पूर्णं च सर्वमस्तीति तत्रादरः कार्यः ॥ २५ ॥

संस्कृतप्राकृतरूपैव भाषा वक्तुभेदाच्चतुर्धा संपन्नेति दर्शयति संस्कृत प्राकृतं च पाठ्यमिति।

मुनि ने यहाँ एक मार्ग दिखा दिया है। विस्तार के जिज्ञासु प्राकृत दीपिका आदि ग्रन्थों को देखें। उत्पलाचार्य विरचित सूत्रवृत्ति एवं पद्धति में स्पष्ट और पूर्णरूप से सब बातें प्रतिपादित है। उसमें आदर करना चाहिए ॥ २५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत भाषा के पाठ्य को समझना चाहिए। इसके बाद अब देशी भाषाओं के विकल्प को कहूँगा ॥ २६ ॥

अभिनव—संस्कृत और प्राकृत रूप भाषा वक्ता के भेद से भाषा चार प्रकार की होती है, यह 'संस्कृतं प्राकृतं' इत्यादि श्लोक के द्वारा दिखाते हैं—

अनुवाद—दश रूपकों में प्रयोग के अनुसार भाषाएँ चार प्रकार की समझनी चाहिए। जहाँ पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के पाठ्य का प्रयोग किया जाता है ॥ २७ ॥

---

१. ख. ग. एवमेव तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा।

क. (भ.) एवमेतन्मया प्रोक्तं किञ्चित्प्राकृतलक्षणम्।
शेषं देशीप्रसिद्धं च ज्ञेयं विप्राः प्रयोगतः।
पाठ्यमेतत्तु विज्ञेयं संस्कृतं प्राकृतं तथा।

ख. ग. देशरूपप्रयोगः।

.. (भ.) दशरूपेषु योक्तृभिः।

[1]अतिभाषार्यंभाषा च जातिभाषा तथैव च।
तथा योन्यन्तरो चैव भाषा नाट्ये [2]प्रकीर्तिता ॥२८॥
[3]अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भुभूजाम्।
[4]संस्कारपाठ्यसंयुक्ता सम्यङ् [5]न्यायप्रतिष्ठिता ॥ २९ ॥
[6]द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।
[7]म्लेच्छशब्दोपचारा च भारतं वर्षमाश्रिता ॥ ३० ॥

संस्कृतैव भाषा स्वरभेदादिपूर्णसंस्कारोपेता संस्कृतभाषा भाषाभेदानां (मध्ये) उक्ता। वैदिकशब्दबाहुल्यादार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इति ॥ २७ ॥

उपचारो व्यवहारः ॥ ३० ॥

अभिनव—संस्कृत ही भाषा है, इसमें स्वर भेद आदि से समस्त संस्कारों से युक्त संस्कृत भाषा है। भाषाओं के भेद से इसके कटने का अभिप्राय है कि यह भाषा वह है जिसमें वैदिक शब्दों का बाहुल्य है अतः यह आर्यभाषा से विलक्षण है।

अनुवाद—नाट्य में अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा तथा योन्यन्तरी भाषा ये चार भाषाएँ प्रयुक्त की जाती हैं ॥ २८ ॥

अनुवाद—इनमें अतिभाषा देवताओं की, आर्यभाषा राजाओं की भाषा होती है। इनमें यह आर्यभाषा संस्कार सम्पन्न पाठ्य से युक्त नाट्य में प्रतिष्ठित है ॥ २९ ॥

अनुवाद—नाट्य प्रयोग में दो प्रकार के जातिभाषा के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। उनमें म्लेच्छ शब्द से व्यवहार में आने वाली भाषा भारत वर्ष में बोली जाती है ॥ ३० ॥

अभिनव—यहाँ उपचार का अर्थ व्यवहार है ॥ ३० ॥

---

१. क. (टि०) अभिभाषा।
२. ख-ग. भाषा नाट्यप्रकीर्तिताः।
   क (भ.) भाषा वै नाटकाश्रयाः।
३. ख. अभिभाषा।
४. क. (भ.) संस्कारगुणसम्पन्ना।
५. ग. ग्रामप्रतिष्ठिताः। क. (टि०) नाट्यप्रतिष्ठिताः। न्यायप्रतिष्ठिता।
   राज्ये प्रतिष्ठिता।
६. क. (टि०) विविधा।
७. क. (भ.) म्लेच्छदेशप्रयुक्ता च तथा भारतसंश्रयाः।

अथ योन्यन्तरो भाषा [1]ग्राम्यारण्यपशूद्भवा ।
[2]नानाविहङ्गजा चैव नाट्यधर्मीप्रतिष्ठिता[3] ॥ ३१ ॥

जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम्[4] ॥ ३२ ॥

धीरोद्धते [5]सललिते धीरोदात्ते तथैव च ।
धीरप्रशान्ते च तथा पाठ्यं योज्यं तु संस्कृतम् ॥ ३३ ॥

[6]एषामेव तु सर्वेषां [7]नायकानां प्रयोगतः[8] ।
कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ ३४ ॥

पशुपक्षिप्रभृतीनां यद्वृत्तं तत् नाट्यप्रयोगे कुत्राप्यवसरे संभाव्यमित्याह-नाट्यधर्मीति ॥ ३१ ॥

अनुवाद—योन्यन्तरी भाषा वह है जो ग्रामीण एवं जंगली पशु एवं विविध पक्षियों की भाषा है । जिसका प्रयोग नाट्यधर्मी रूप में किया जाता रहा होगा ॥ ३१ ॥

अभिनव—पशु-पक्षी आदि का जो शब्द है, उसका भी नाट्य-प्रयोग में किसी अवसर पर सम्भाषित है, इसलिए कहते हैं—नाट्यधर्मीप्रतिष्ठिता ॥ ३१ ॥

अनुवाद—चारों वर्णों से सम्बद्ध जातिभाषा के पाठ्य दो प्रकार के बताये गये हैं—संस्कृत और प्राकृत ॥ ३२ ॥

अनुवाद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त नायकों में संस्कृत भाषा की योजना करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

अनुवाद—इन सभी प्रकार के नायकों में किसी कारणवश आवश्यकता पड़ने पर प्राकृत भाषा की योजना करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

---

१. ग. ग्रामारण्यपशूद्भवाः । २. ख. नानाविहगजा ।
३. ख. नाट्यधर्मी प्रयोगतः ।
४. क-द. चातुर्वर्ण्यादिसंश्रयम् ।
५. ख. ग. धीरललिते । ६. क. एतेषामपि ।
७. क. (भ.) गायकानां । ८. क. प्रयोगजम् ।

[1]दारिद्र्याध्ययनाभावयदृच्छादिभिरेव च ।
[2]ऐश्वर्येण प्रमत्तानां दारिद्र्येण प्लुतात्मनाम् ।
[3]अनधीतोत्तमानां च संस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥ ३५ ॥
[4]व्याजलिङ्गप्रविष्टानां श्रमणानां तपस्विनाम् ।
[5]भिक्षुचक्रचराणां च प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

कारणव्यपदेशेनेति अवस्थादिवशात् तथा अर्जुनस्य वृहन्नलारूपेण प्रच्छन्नस्य कारणाभ्याहरते ॥ ३४ ॥

ऐश्वर्येणेति श्रुताध्ययनशून्यत्वमनेन लक्ष्यते । क्रीडापीत्यन्ये ॥ ३५ ॥

व्याजलिङ्गं ये प्रविष्टा जीविकाद्यर्थम् चक्रचरा चक्रेण जीवन्ति ॥ ३६ ॥

अभिनव—किसी कारण के व्यपदेश से अर्थात् अवस्था आदि के वश से, जैसे—वृहन्नला के रूप में प्रच्छन्न होना अर्जुन के लिए प्राकृत भाषा बोलने में कारण था ॥ ३४ ॥

अनुवाद—दारिद्र्य अध्ययन का अभाव और स्वेच्छाचारिता होने से संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥

अनुवाद—ऐश्वर्य से उन्मत्त, दरिद्रता से अभिभूत तथा अध्ययन का अभाव होने से उत्तम पात्र को भी संस्कृत का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३५ ॥

अभिनव—'ऐश्वर्येणप्रमत्तानां' पद के द्वारा यहाँ वेद-शास्त्र के अध्ययन से शून्य होना, लक्षित होता है । कुछ लोग क्रीड़ा भी अर्थ करते हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—किसी बहाने से साधु-सन्यासियों का वेष धारण करने वाले को, श्रमण तपस्वियों, भिक्षुओं तथा चक्र धारण कर भ्रमण करने वालों को प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६ ॥

अभिनव—जीविका आदि चलाने के लिए जो सन्यासी हो गये हैं तथा जो चक्र के आश्रय से जीविका चलाते हैं ॥ ३६ ॥

---

१. ख ग, पुस्तकयोरर्धश्लोको नास्ति ।
२. ख-ग. ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्येण प्लुतस्य च ।
३. ख-ग. उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥
क. (टि०) उन्मत्तस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
४. क. (टि०) ऋतुलिङ्गप्रतिष्ठानां श्रवणानां तपस्विनाम् ।
५. ख. ग. भिक्षुचाष्टचराणाञ्च । क. (टि०) भिक्षुचक्रचाराणाञ्च ।

[1]भागवततापसोन्मत्तबालनीचग्रहोपसृष्टेषु ।
स्त्रीनीचजातिषु तथा नपुंसके प्राकृतं योज्यम् ॥ ३७ ॥
परिव्राण्मुनिशाक्येषु चोक्षेषु[2] श्रोत्रियेषु च ।
[3]शिष्टा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ॥ ३८ ॥

भागवता इह देवलकाः । उत्तमग्रहैः देवगन्धर्वादिभिराक्रान्तानां संस्कृतभाषेत्यभिप्रायेणाह नीचग्रहेति । नीचग्रहैः पिशाचादिभिरुपसृष्टेषु स्वीकृतेष्विति । नीचजातयश्चण्डालाद्याः ॥ ३७ ॥

लिङ्गस्था यतिप्रभृतयः ॥ ३८ ॥

अनुवाद—भागवत, तापस, उन्मत्त, बालक, नीच ग्रहों से आक्रान्त व्यक्ति, स्त्री, नीच जाति तथा नपुंसकों को प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३७ ॥

विशेष—कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर निम्नलिखित श्लोक मिलता है ।

बाले ग्रहोपसृष्टे च स्त्रोणां स्त्रीप्रकृतौ तथा ।
नीचे मत्ते सलिङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते ॥

अर्थात् बालक, भूतादि ग्रहों से आक्रान्त, स्त्री तथा स्त्री प्रकृति के पुरुष, नीच, उन्मत्त तथा लिङ्गी साधुओं को प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए ।

अभिनव—यहाँ पर भागवत का अर्थ है देवलक । उत्तम ग्रह अर्थात् देव, गन्धर्व आदि से आक्रान्त व्यक्तियों की भाषा संस्कृत होती है, इस अभिप्राय से कहते हैं—नीचग्रहेति । नीच ग्रह से पिशाचादि का ग्रहण होता है, उनसे अभिभूत अर्थात् स्वीकृत । नीच जाति चाण्डाल आदि हैं ॥ ३७ ॥

अनुवाद—परिव्राजक सन्यासी, मुनि, शाक्य (बौद्ध भिक्षु), वेदपाठी और श्रोत्रिय और यति सन्यासी आदि को संस्कृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३८ ॥

अभिनव—लिङ्गस्थ का अर्थ यति आदि ॥ ३८ ॥

१. ख. ग.घ.ङ. पुस्तकेषु श्लोकस्यास्य स्थाने—
बालि ग्रहोपसृष्टे च स्त्रीणां स्त्रीप्रकृतौ तथा ।
नीचे मत्ते सलिङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते ॥
इति पाठो दृश्यते ।

२. ख. चैक्षव । क. (भ.) मुख्येषु ब्राह्मणश्रोत्रियादिषु । ३. ख. ग. द्विजा ।

[1]राज्याश्च गणिकायाश्च शिल्पकार्यास्तथैव च ।
[2]कलावस्थान्तरकृतं योज्यं पाठ्यं तु संस्कृतम् ॥ ३९ ॥
सन्धिविग्रहसंबन्धं तथा च प्राप्तवाग्गतिम्[3] ।
ग्रहनक्षत्रचरितं खगानां रुतमेव च ॥ ४० ॥
सर्वमेतत्तु विज्ञेयं [4]काव्यबन्धे शुभाशुभम् ।
[5]नृपपत्न्या स्मृतं तस्मात्काले पाठ्यं तु संस्कृतम् ॥ ४१ ॥

शिल्पकारिकाः कलासु विदग्धाः । राज्ञः स्त्री महादेवीरूपा उपचाराद्राज-शब्दवाच्येति "अन उपधा लोपिन" इति ङीपि राज्ञी । यदि पुंयोगादित्यत्र अत इति वर्तते ॥ ३९ ॥

राज्याः संस्कृते निमित्तं दर्शयति सन्धिविग्रहेति—

अनुवाद—रानी महारानी, गणिका, शिल्पकारिणी आदि स्त्रीपात्रों को संस्कृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३९ ॥

अभिनव—शिल्पकारिका का अर्थ है कलाओं में विदग्ध । राज्ञी का अर्थ है राजा की स्त्री अर्थात् महादेवी । लक्षणा से राज शब्द से कही जाती है । अन उपधालोपिनः' सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होने पर 'राज्ञी' शब्द बनता है । यदि 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र में 'अतः' का अनुवर्त्तन करते हैं तो तभी उक्त सूत्र का अवसर है ॥ ३९ ॥

महारानी को संस्कृत में संवाद (पाठ्य) करना चाहिए, इसका हेतु का निर्देश करते हैं—

अनुवाद—सन्धि और विग्रह से सम्बन्धित बातों में, वाणी की गति प्राप्त होने पर (विदुषी होने पर), ग्रह और नक्षत्रों के गति के ज्ञान में और पक्षियों के शुभ और अशुभ शब्दों की जानकारी में, काव्य-बन्ध में शुभ और अशुभ की कल्पना में राजपत्नी को संस्कृत में संवाद (पाठ्य) करना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

---

१. क. (भ.) देव्याश्च । ख. राज्ञश्च ।
२. ख. कार्यावस्थान्तरकृतं ।
३. ख. तथा चाप्यशुभाशुभम् ।
क. (टि०) तथा चापि शुभाशुभम् ।
४. ख. कार्यबन्धे ।
५. ख. नृपपत्न्या भवेत्पाठ्यं संस्कृतं द्विजोत्तमाः ।

क्रीडार्थं सर्वलोकस्य [1]प्रयोगे च सुखाश्रयम् ।
[2]कलाभ्यासाश्रयं चैव पाठ्यं वेश्यासु संस्कृतम् ॥ ४२ ॥
[3]कलोपचारज्ञानार्थं क्रीडार्थं पार्थिवस्य च ।
निर्दिष्टं [4]शिल्पकार्यास्तु नाटके संस्कृतं वचः ॥ ४३ ॥

यस्माद्राज्ञः सन्धिविग्रहसंबन्धं षाड्गुण्यादि तथा ग्रहनक्षत्रचेष्टितं, शुभाशुभरूपं पक्षिरुतं च शुभाशुभमितीयत्सर्वं नृपपत्न्या ज्ञेयं, तस्माद्राज्ञः सा प्रतिशरीरकल्पा कदाचित्संस्कृतयोग्यापि ॥ ४०-४१ ॥

सुखाश्रयमिति । अनेन विशेषलक्षप्रयोगादि निरस्यति ॥ ४२ ॥

अभिनव—राजा के सन्धि और विग्रह से सम्बन्धित षाड्गुण्य का प्रयोग ग्रह और नक्षत्रों की चेष्टा-ज्ञान, (पक्षियों के शुभ और अशुभ शब्दों के ज्ञान इन सब का ज्ञान राजपत्नी को होना चाहिए। इसलिए राजा के बराबर शरीर अर्थात् राजा के द्वितीय शरीर रानी भो कभी-कभी संस्कृत बोलने के योग्य होती है ॥ ४०-४१ ॥

अनुवाद—समस्त लोक (जनता) के मनोविनोद के लिए, प्रयोग में सुखानुभूति के लिए तथा कलाओं के अभ्यास को प्रदर्शित करने के लिए वेश्याओं को संस्कृत में पाठ्य करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अभिनव—सुखाश्रयमिति । इसके कहने से विशेष लक्षणों से सम्पन्न प्रयोगादि का निरसन हो गया ।

अनुवाद—कलाओं के विशिष्ट ज्ञान के उपचार के लिए, राजाओं के मनोविनोद के लिए शिल्पिकाओं को नाटक में संस्कृत भाषा का प्रयोग निर्दिष्ट है ॥ ४३ ॥

---

१. ख. प्रयोगस्य ।
२. ख. ग. क्रीडालीलार्थकञ्चैव ।
३. ख-ग. लोकोपचारज्ञानार्थं ।
४. ख.ग. शिल्पकार्येषु । क. (टि०) शिल्पकार्येषु तु ।

आम्नायसिद्धं सर्वासां शुभमप्सरसां[1] वचः ।
संसर्गाद्देवतानां च तद्धि लोकोऽनुवर्तते ॥ ४४ ॥
[2]छन्दतः प्राकृतं [3]पाठ्यं स्मृतमप्सरसां भुवि ।
मानुषाणां च कर्तव्यं कारणार्थव्यपेक्षया ॥ ४५ ॥
न बर्बरकिरातान्ध्रद्रमिलाद्यासु जातिषु ।
नाट्यप्रयोगे[4] कर्त्तव्यं पाठ्यं भाषासमाश्रयम् ॥ ४६ ॥

आम्नायः पुराणादिः लोकोऽनुवर्तते अनुमन्यत इति यावत् ॥ ४४ ॥

द्रमिडकादि पूर्वविधानादिनिषेधो विशिष्टेष्विति पर्यन्तवासिषु द्रमिडेषु द्रष्टव्यो, बर्बरान्ध्रादिसाहचर्याद् जाङ्गलदेशादिगतेषु ॥ ४५ ॥

शुद्धास्विति अनुलोमवशेन संस्कारवत्सु जातिष्वपीति पाठः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—देवताओं से संसर्ग (सम्बन्ध) होने से सभी अप्सराओं के वचन शुभ है, यह आम्नाय सिद्ध अर्थात् शास्त्रानुमोदित है अतः लोक भी उसका अनुवर्त्तन करता है ॥ ४४ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'आम्नाय' पद का अर्थ पुराणादि है, लोक उन्हीं पुराणादि का अनुवर्त्तन करता है ॥ ४४ ॥

अनुवाद—लोक में अर्थात् पृथ्वी पर अप्सराओं का पाठ्य (संवाद) स्वभावतः प्राकृत में कहा गया है और कारणवश प्रयोजन की अपेक्षा से मनुष्यों को भी प्राकृत में संवाद (पाठ्य) करना चाहिए ॥ ४५ ॥

अनुवाद—बर्बर, किरात, आन्ध्र, द्रमिल आदि जातियों को नाट्य-प्रयोग में अपनी जातीय भाषा में पाठ्य नहीं करना चाहिए ॥ ४६ ॥

अभिनव—द्रमिड़ादि में जो पूर्व में भाषा के विषय में कहे गये विधान का निषेध कहा गया है उसे पर्यन्तवासी द्रामिड आदि विशिष्ट लोगों में भी समझना चाहिये। वर्बर, आन्ध्र आदि के साहचर्य से जाङ्गल देश आदि के लोगों में भी समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

---

१. ख. शुभंचाप्सरसां वचः । २. क-भ. छन्दसां । ख. वाक्यं ।

३. ख.ग. जातिष्वेतासु सर्वासु श्रद्धासु च द्विजोत्तमाः ।

४. ख. सौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।

ख. पुस्तके तु इतः प्रभृति श्लोकचतुष्टयं नास्तीति ॥

सर्वास्वेह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।
शौरसेनी समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत् ॥ ४७ ॥

अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा[1] प्रयोक्तृभिः ।
नानादेशसमुत्थं हि [2]काव्यं भवति नाटके ॥ ४८ ॥
मागध्यवन्तिजा प्राच्या [3]शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीका दक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ॥ ४९ ॥
[4]शकाराभीरचण्डालशवरद्रमिलान्ध्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥ ५० ॥

देशभाषां संक्षिप्याह मागधीत्यादि । भाषा संस्कृतापभ्रंशः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—हे द्विजसत्तम ! सभी शुद्ध जातियों को काव्य में शौरसेनी का आश्रय लेकर अर्थात् शौरसेनी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अभिनव—यहाँ शुद्धा का अर्थ है अनुलोभ के कारण संस्कार युक्त जातियों में भी संस्कृत पाठ्य होता है ॥ ४७ ॥

अनुवाद -अथवा नाट्य में प्रयोक्ताओं को अपनी इच्छानुसार देश भाषा का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि नाट्य में विभिन्न देश की भाषाओं में रचित काव्य होता है ॥ ४८ ॥

विशेष—जिस प्रदेश में नाट्य प्रयोग करना हो, नाट्य में उसी देश की भाषा का प्रयोग करना चाहिए ।

अब देश भाषा का संक्षेप में वर्णन करते हैं—

अनुवाद—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दक्षिणात्या ये सात भाषायें हैं ॥ ४९ ॥

अभिनव—यहाँ भाषा से तात्पर्य है संस्कृत की अपभ्रंश भाषाएँ ॥ ४९ ॥

इनके अतिरिक्त सात भाषाएँ भी हैं—

अनुवाद—शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्र तथा वनेचरों की भाषायें—नाटक में ये सात विभाषायें कही गई हैं ॥ ५० ॥

---

१. क. (टि०) दैवीभाषा । २. क. कार्यं ।
३. क. (टि०) शूरसेना । शूरसेनी ।
४. ग. शवराभीरचण्डालसचरद्रविडोद्रजाः ।

मागधी तु [1]नरेन्द्राणामन्तःपुरसमाश्रया[2] ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी ॥ ५१ ॥
प्राच्या विदूषकादीनां धूर्तानामप्यवन्तिजा[3] ।
नायिकानां सखीनां च शूरसेन्यविरोधिनी[4] ॥ ५२ ॥
[5]यौधनागरकादीनां दक्षिणात्याथ दीव्यताम् ।
वाह्लीकभाषादीच्यानां [6]खसानां च स्वदेशजा ॥ ५३ ॥

भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च. एता एव नाट्ये तु। अन्ये तु निदर्शनार्थत्वादस्य पैशाच्यादयोऽपि प्रयोज्या इत्याहुः ॥ ५० ॥

नरेन्द्राणां यदन्तःपुरं तन्निवासिनामिति संबन्धः ॥ ५१ ॥

दीव्यतामिति कितवानाम् ॥ ५३ ॥

अभिनव—भाषा की अपभ्रंश भाषाएँ विभाषा होती है। वह अपभ्रंश भाषा उन-उन देशों की गह्वर गुफाओं में रहने वाले साधारण लोगों की भाषा है। ये नाट्य में प्रयुक्त होती है। अन्य लोग तो यह निदर्शन के जिए है, ऐसा कहते हैं। नाट्य में पैशाची आदि भाषाओं का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ ५० ॥

अनुवाद—मागधी भाषा तो राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाले सेवक आदि लोगों की भाषा है और चेट, राजकुमारों एवं श्रेष्ठिजनों की भाषा अर्धमागधी है ॥ ५१ ॥

अभिनव—राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाले लोगों की भाषा अर्धमागधी है ॥ ५१ ॥

अनुवाद—विदूषक आदि की भाषा प्राच्या और धूर्तों की भाषा अवन्तिजा, नायिका और उनकी सखियों की अविरोधिनी शौरसेनी भाषा होती है ॥ ५२ ॥

अनुवाद—जुआरियों, योद्धाओं और नागरकों आदि की दक्षिणात्या भाषा और उदीच्यों अर्थात् उत्तर भारत के निवासियों और खसों की अपने देश की भाषा वाह्लीकी होती है ॥ ५३ ॥

अभिनव—'दीव्यताम्' का अर्थ है जुआ खेलने वालों का।

---

१. ख. नराणां । २. ख. ग. पुरनिवासिनाम् ।
३. ख. ग. भाषा अवन्तिजा । ४. ख. सौरसेन्या विरोधिनी ।
५. ख. योधमागरिकादीनां । ६. क. (टि०) खस्थानां च स्वदेशजाः ।

[1]शकारघोषकादीनां तत्स्वभावश्च यो गणः ।
शकारभाषा योक्तव्या [2]चाण्डाली पुल्कसादिषु ॥ ५४ ॥
अङ्गारकारकव्याधकाष्ठयन्त्रोपजीविनाम् ।
योज्या [3]शकारभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा ॥ ५५ ॥
गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम् ।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्रामिड़ी वनचारिषु[4] ॥ ५६ ॥

शकारा नीचाभिजनाः अर्थयुक्तत्वेन सदर्पाः । शकारबहुला भाषा शकारभाषा । पुल्कसो डोम्बः मृतप इत्यन्ये ॥ ५४ ॥

वनौकसामियं वनेचरीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—शकार, घोष आदि तथा उसी स्वभाव के जो और वर्ग है, उन्हें शकारी भाषा का प्रयोग करना चाहिये और पुल्कस अर्थात् डोम आदि जातियों को चाण्डाली भाषा का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५४ ॥

अभिनव—शकार का अर्थ है नीच अभिजन वाले, जो अर्थयुक्त अर्थात् धन सम्पन्न होने से घमण्डी होते हैं। शकारबहुल भाषा को शकारी भाषा कहते हैं। पुल्कस का अर्थ है डोम। अन्य लोग मृतप अर्थात् मुर्दों का सेवक अर्थ करते है ॥ ५४ ॥

अनुवाद—कोयला के व्यवसायी, बहेलिये, लकड़ी बेचने वाले तथा पत्तल बेचकर जीविका चलाने वाले मुसहर आदि की भाषा शकारी होनी चाहिये और वनेचरों की भाषा जंगली होनी चाहिये ॥ ५५ ॥

अभिनव—वन ही जिसका घर है ऐसे वनेचरों की भाषा वनौकसी होती है ॥ ५५ ॥

अनुवाद—हाथी, घोड़े, बकरे, भेड़, ऊँट आदि के निवास-स्थान में रहने वाले व्यक्तियों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी होती है और वनेचरों की भाषा द्राविड़ी होती है ॥ ५६ ॥

---

१. ख. ग. शबराणां शकादीनां ।
२. क-ङ. पाञ्चाली ।
३. ख. ज्ञेया शबरभाषा ।
४. ख. द्राविड़ा द्रविड़ादिषु । द्रामिड़ो द्रमिलादिषु ।

[1]सुरङ्गाखनकादीनां सन्धिकाराश्वरक्षताम् ।
व्यसने [2]नायकानां चाप्यात्मरक्षासु मागधी[3] ॥ ५७ ॥
गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः ।
[4]एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५८ ॥

सुरङ्गाखनकाः सन्धिच्छेदकृतः । कारा बन्धनगृहम् । व्यसनं कस्यांचिदापदि जातायां मा मां लोको ज्ञास्यतीतित्यभिप्रायेणात्मनो रक्षार्थं नयोऽपि मागध्या व्यवहरेत् ॥ ५७ ॥

गङ्गासागरमध्य इति पूर्वदेश उपलक्षितः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—सुरङ्ग खोदने वाले, सेंध लगाने वाले, घोड़ों के रक्षक सईसों तथा व्यसन में पड़े हुए नायकों को आत्मरक्षा के प्रसङ्ग में मागधी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७ ॥

अभिनव—सुरङ्ग खोदने वालों को, सन्धि स्थलों का छेद (भेदन) करने वालों की । कारा अर्थात् कैदियों का बन्धन गृह । किसी आपत्ति में पड़ने पर 'मुझे लोग न पायें' इस अभिप्राय से अपनी रक्षा के लिए नायक को भी मागधी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७ ॥

अनुवाद—गङ्गा और समुद्र के मध्य में जो देश कहे गये हैं, उन देशों में विद्वानों को एकार बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५८ ॥

अभिनव—'गङ्गा और सागर के मध्य' इस पद से पूर्व देशों के निवासी लोग उपलक्षित है ॥ ५८ ॥

---

१. ख. सुरङ्गवनकादीनां सौण्डीकाराश्च रक्षिणाम् ।
   ग. सुरङ्गाखनकादीनां अमौष्ट्रिकाणां च रक्षसाम् ।
२. ख. ग. नायिकादीनां ।
३. न बर्बरकिरातान्ध्रद्रमिलाद्यासु जातिषु ।
   नाट्यप्रयोगे कर्तव्यं काव्यं भाषासमाश्रितम् ॥ अत्यधिकं दृश्यते ।
   ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
४. क-म. षकारबहुलां ।

विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः ।
[1]नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५९ ॥
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु[2] च ।
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारप्रायसंश्रयाम् ॥ ६० ॥
हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये [3]जनाः समुपाश्रिताः ।
[4]उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥
[5]चर्मण्वतीनदीतीरे ये चार्बुदसमाश्रिताः ।
[6]ओकारबहुलां नित्यं तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥ ६२ ॥

विन्ध्यसागरमध्य इति दक्षिणसौराष्ट्राः । सुराष्ट्रावन्तिदेशेष्विति पश्चिमः वेत्रवत्यादिनोत्तरः ॥ ६० ॥

अनुवाद—विन्ध्य और समुद्र के मध्य में जो देश सुनाई देते हैं, वहाँ के विद्वानों को नकार बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अभिनव—'विन्ध्यसागरमध्ये' पद से पश्चिम सौराष्ट्र आदि देशों का ग्रहण है ॥ ५९ ॥

अनुवाद—सौराष्ट्र और अवन्तिका देशों में और नेत्रवती नदी के उत्तर-उत्तर में जो देश है, उनमें चकार बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६० ॥

अभिनव—'सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु' पद से पश्चिम सौराष्ट्र और वेत्रवती नदी के उत्तर सौराष्ट्र का ग्रहण है ॥ ६० ॥

अनुवाद—हिमालय, सिन्धु और सौवीर देश के जो निवासी हैं, उन्हें उकार बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६१ ॥

अनुवाद—चर्मण्वती (चम्बल) नदी के तट पर और अरावली पहाड़ियों के समीपवर्ती जो प्रदेश हैं उसके निवासी लोगों को ओकार बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६२ ॥

---

१ क-भ. तकारबहुलां । क. (टि० शकारबहुलां ।
२. ख. वेत्रवत्यन्तरेषु च ।
३. ख. ग. चकारबहुलामिह । क-न. चकारबहुलामिव ।
४. ख. येऽन्यदेशान् समाश्रिताः । ग. ये च देशाः समाश्रिताः ।
५. क. ओकारबहुलां । ढकार बहुलां । थकारबहुलां ।
६. क. सरस्वती नदीतीरे पारियात्रार्बुदाश्रिताः ।
७. क. (टि०) तकारबहुलां ।

एवं भाषाविधानं तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम् ।
अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्[1] ॥ ६३ ॥
एवं भाषाविधानं तु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः[2] ।
पुनर्वाक्यविधानं[3] तु लौकिकं संनिबोधत ॥ ६४ ॥
उत्तमैर्मध्यमैर्नीचैर्यैः संभाष्या यथा नराः ।
समानोत्कृष्टहीनाश्च[4] नाटके तान्निबोधत ॥ ६५ ॥

वाक्यविधानमित्येकेनापि पदेन सकलो वाक्यार्थः स्फुटीक्रियते, अन्योन्यरूपताऽऽनीयत इत्यभिप्रायेण वाक्यग्रहणं पदविधानं हि भविष्यति ॥ ६४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाटकों से सम्बन्धित भाषा का विधान करना चाहिए। यहाँ पर मैंने जो नहीं कहा है उसे विद्वानों को स्वयं समझ लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

विशेष—काशी सीरिज संस्करण में यहीं पर अध्याय की समाप्ति है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में भाषा विधान नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ। (इति नाट्यशास्त्रे भाषाविधानं नामाष्टादशोध्यायः)। इसके बाद उन्नीसवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों! इस प्रकार मैंने भाषाओं का विधान कहा है। अब लौकिक वाक्य-विधान को कहता हूँ। आप लोग समझें ॥ ६४ ॥

अभिनव—वाक्यविधानम्। इस एक पद से समस्त वाक्यार्थ का स्फुटीकरण होता है, क्योंकि भाषा वाक्य के आश्रित होती है और वाक्य का प्रयोग किसी संवाद के लिए नाट्य में किया जाता है। इस प्रकार वाक्य और भाषा में अन्योऽन्यरूपता आती है, इस अभिप्राय से पद का ग्रहण पद-विधान भी हो जाता है ॥ ६४ ॥

अनुवाद—उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों के द्वारा अपने समान, अपने से उत्कृष्ट तथा अपने से छोटों के साथ नाटक में किस प्रकार सम्भाषण करना चाहिए, उन्हें आप लोग समझें ॥ ६५ ॥

१. काशी सस्करणेऽत्रैवाध्यायसमाप्तिः ।
इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भाषाविधानं नामाष्टादशोऽध्यायः ।
२. क. (टि०) भ. यथावद् द्विजसत्तमाः ।
३. क. (टि०) पुनर्वाक्यप्रचारकं । ख. पुनर्वाक्यविचारं ।
४. क-भ. समानो वाल्पहीनो वा ।

देवानामपि ये देवा महात्मानो महर्षयः ।
भगवन्निति ते वाच्या यास्तेषां योषितस्तथा ॥ ६६ ॥
देवाश्च लिङ्गिनश्चैव [1]नानाश्रुतधराश्च ये ।
भगवन्निति ये वाच्याः पुरुषैः स्त्रीभिरेव च ॥ ६७ ॥
आर्येति ब्राह्मणं ब्रूयान्महाराजेति पार्थिवम् ।
उपाध्यायेति चाचार्यं वृद्धं तातेति चैव हि ॥ ६८ ॥
[2]नाम्ना राजेति वा वाच्यो ब्राह्मणैस्तु नराधिपाः ।
तत्क्षाम्यं हि महीपालैर्यस्मात्पूज्या द्विजाः स्मृताः[3] ॥ ६९ ॥

देवानां देवाः स्तुत्याः । तथेति स्त्रीत्वेन भगवतोति ॥ ६६ ॥
नानाश्रुतधराः बहुश्रुताः ॥ ६७ ॥

अनुवाद—जो देवताओं के भी देवता, महात्मा और महर्षि हैं उन्हें 'भगवन्' शब्द से और उनकी पत्नियों को 'भगवति' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ ६६ ॥

अभिनव—देवानां देवाः अर्थात् देवताओं के भो जो स्तुत्य है। 'तथा' पद से यदि स्त्री हो तो उसे 'भगवति' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार जो देवता, सन्यासी तथा जो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् हैं, उन्हें स्त्री और पुरुषों के द्वारा 'भगवन्' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अभिनव—'नानाश्रुतधारा:' का अर्थ है बहुश्रुत अर्थात् नाना शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण को 'आर्य', राजा को 'महाराज', उपाध्याय को 'आचार्य' और वृद्ध को 'तात' कहकर सम्बोधित करना चाहिये ॥ ६८ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण राजा को नाम लेकर अथवा 'राजन्' शब्द से सम्बोधित करें, ऐसा करने पर राजा उसे क्षमा कर दें, क्योंकि ब्राह्मण सदा पूज्य होते हैं ॥ ६९ ॥

---

१. ख. नानाश्रुतिधारश्च ये । क. (टि०) नानाश्मश्रुधराश्च । नानाव्रतधराश्च ।
२. ख. ग. छन्दतो नामभिर्वाच्या ।
३. ख. ग. द्विजोत्तमाः ।

ब्राह्मणैः [1]सचिवो वाच्यो ह्यमात्यः सचिवेति[2] वा।
शेषैरन्यैर्जनैर्वाच्यो हीनैरार्येति नित्यशः ॥ ७० ॥

समैः संभाषणं कार्यं येन नाम्ना स संज्ञितः।
हीनैः [3]सपरिवारं तु नाम्ना संभाष्य उत्तमः ॥ ७१ ॥

क्षाम्यमित्यङ्गीकर्तव्यम् ॥ ६९ ॥

सचिव इति राज्ञो मन्त्री ॥ ७० ॥

सपरिवारं नाम्नेति उत्तमो राजा हीनैः स्वनाम परिगृह्य, यद्यन्नाम वत्सराज सोमवंश मौक्तिकमणे इत्यादि तेन भाष्यः सपरिहासमिति वा पाठः परिहासः परितोषोपलक्षणं तेन चाटुकाराभिः परितोषावसरे हीनैरपि राजा नाम्ना संभाष्यः। "उदयने महीं शासति को विपदामवकाशः" इत्यादौ ॥ ७१ ॥

अभिनव—'क्षाम्य' का अर्थ है ब्राह्मणों के कथन को स्वीकार करना चाहिये।

अनुवाद—ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्री को 'अमात्य' या 'सचिव' शब्द से सम्बोधित करना चाहिये और शेष जन उन्हें 'आर्य' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ७० ॥

अभिनव—सचिव का अर्थ है राजा का मन्त्री अर्थात् राजा का परामर्शदात्ता, सलाहकार सचिव।

अनुवाद—समवयस्कों को जिसका जो नाम है, उस नाम से सम्बोधित करना चाहिए और हीन-पात्र सपरिवार उत्तम पुरुष को अपना नाम लेकर सम्बोधित करें ॥ ७१ ॥

अभिनव—हीन पात्र अपना नाम लेकर उत्तम पुरुष तथा राजा को सम्बोधित करें। जिसका जो नाम है, जैसे—सोमवंश के मोक्तिकमणे वत्सराज इत्यादि नाम से सम्बोधित करना चाहिये। अथवा सपरिवार के स्थान पर 'सपरिहास' पाठ है तो परिहास परितोष का उपलक्षण है, इससे चाटुकार हीन लोग भी परितोष के अवसर पर राजा का नाम लेकर सम्भाषण करें। जैसे उदयन पृथ्वी पर शासन करते हुए विषाद का अवकाश कहाँ है ॥ ७१ ॥

---

१. क. (टि०) सचिवैर्वाच्यम्।
२. ख. ह्यमात्यसचिवेति।
३. क. (टि०) सपरिहासं।

नियोगाधिकृताश्चैव पुरुषा योषितस्तथा ।
[1]कारुकाः शिल्पिनश्चैव संभाष्यास्ते तथैव हि ॥ ७२ ॥
[2]मार्षो भावेति वक्तव्यः किंचिदूनस्तु मार्षकः[3] ।
समानोऽथ वयस्येति हं हो हण्डेति वाधमः[4] ॥ ७३ ॥
आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा ।
[5]तपस्वीति प्रशान्तस्तु साधो इति च शब्द्यते ॥ ७४ ॥

कारुकाः स्तूपकारादयः शिल्पिनश्चित्रकारादयः ॥ ७२ ॥

भावेत्यामन्त्रणं विवक्षितमित्यन्यविभक्त्यन्तो न प्रयोज्य इत्येतत्त्वयुक्तम् । वयस्येत्येवमादावपि प्रसङ्गात्संभाषणोपक्रमकृताद्यामन्त्रणविभक्तिः सर्वत्र विवक्षितैव । अधमैर्जनैः समानोऽधम एव, हंहो हण्डे इति वा संभाष्यः ॥ ७३ ॥

अनुवाद—जो कारुक (स्तूपकार) शिल्पी तथा उनकी स्त्रियों एव पुरुषों को उनके कार्यों के अनुसार सम्बोधित करना चाहिये ॥ ७२ ॥

अभिनव—कारुक का अर्थ स्तूपकार है और शिल्पी का अर्थ दीवाल पर चित्र बनाने वाला है ॥ ७२ ॥

अनुवाद—सूत्रधार को 'भाव' उससे कुछ छोटे को 'मार्ष' या मारिष, समान अवस्था वाले को 'वयस्य' और अधम पुरुष को हंहो, हण्डे शब्दों से सम्बोधित करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिनव—यहाँ भाव पद से 'आमन्त्रण' विवक्षित है, इसलिये अन्य विभक्त्यन्त पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह कहना अयुक्त है। 'वयस्य' इत्यादि में भी प्रसङ्ग से सम्भाषण के उपक्रम में की गई आमन्त्रण विभक्ति सभी जगह विवक्षित है। अधम जनों के समान अधम ही है, अतः उनसे हंहो, हण्डे इत्यादि सम्बोधनों से भाषण करना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनुवाद—सूत रथी (रथस्थ पुरुष) को 'आयुष्मन्' शब्द से सम्बोधित करें तथा तपस्वी एवं शान्त मनुष्यों को 'साधो' शब्द से सम्बोधित करना चाहिये ॥ ७४ ॥

---

१. ख. कारकाः । २. ख मर्षो । ग. मान्यो ।
३. ख. मर्षकः । ग. मारिषः ।
४. ख. हो हं वा इति वाधमः । ग. हं हो हन्तेति चाधमैः ।
५. ख. तपस्वीव प्रशान्तः सन् । ग. तपस्वी च प्रशान्तश्च ।

स्वामीति प्रशान्तस्तु कुमारो भर्तृदारकः ।
सौम्य ! भद्रमुखेत्येवं हे पूर्वं चाधमं वदेत् ॥ ७५ ॥

यद्यस्य कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ।
स तेन नाम्ना भाष्यो[1] हि नाटकादौ [2]प्रयोक्तृभिः ॥ ७६ ॥
वत्स ! पुत्रक ! तातेति नाम्ना गोत्रेण वा पुनः ।
वाच्यः शिष्यः सुतो वापि पित्रा वा गुरुणापि वा ॥ ७७ ॥
संभाष्या शाक्यनिर्ग्रन्थ्या [3]भदन्तेति प्रयोक्तृभिः ।
आमंत्रणैस्तु पाषण्डाः शेषाः स्वसमयाश्रितैः[4] ॥ ७८ ॥

चकाराद् विनापि हेशब्देन ॥ ७५ ॥

कर्म पाकादि, विद्या त्रय्यादि । जातिर्गोत्रं देशो वा ॥ ७६ ॥

अनुवाद—युवराज को 'स्वामिन्' और राजकुमार को 'भर्तृदारक' शब्द से तथा अधम पात्र को सौम्य ! हे भद्रमुख ! आदि शब्दों से सम्बोधित करे ॥ ७५ ॥

अभिनव—चकार से यह सूचित होता है कि 'हे' सम्बोधन के बिना भी सम्भाषण किया जा सकता है ॥ ७५ ॥

अनुवाद—नाटक आदि में नाट्य-प्रयोक्ताओं के द्वारा जिसका जो कर्म (कार्य) शिल्प, विद्या, जाति हो, उसी के अनुरूप नाम से पुकारना चाहिए ॥ ७६ ॥

अभिनव—कर्म अर्थात् पाकादि कार्य। विद्या से त्रयी (वेद) आदि का ग्रहण है। जाति से गोत्र अथवा देश का ग्रहण होता है ॥ ७७ ॥

अनुवाद—पिता अपने पुत्र को तथा गुरु अपने शिष्य को वत्स ! पुत्र ! तात ! अथवा गोत्र के नाम से सम्बोधित करें ॥ ७७ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं के द्वारा शाक्य (बौद्ध) एवं जैन सन्यासियों को 'भदन्त' शब्द से सम्बोधित करना चाहिये। शेष पाशुपतों को उसके आचार के अनुसार सम्बोधित करना चाहिए ॥ ७८ ॥

---

१. ख. संभाषे । २. क-म. नाटकादिषु योक्तृभिः ।
३. क. भद्रं ते । ४. ख-ग. शेषास्तु समयाश्रितैः ।

देवेति नृपतिर्वाच्यो भृत्यैः [1]प्रकृतिभिस्तथा ।
भट्टेति सार्वभौमस्तु नित्यं परिजनेन हि ॥ ७९ ॥
राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यो ह्यपत्यप्रत्ययेन वा ।
वयस्य ! राजन्निति वा भवेद्वाच्यो महीपतिः ॥ ८० ॥
विदूषकेण राज्ञी च [2]चेटी च भवतीत्यपि ।
नाम्ना वयस्येत्यपि वा राज्ञा वाच्यो विदूषकः ॥ ८१ ॥
सर्वस्त्रीभिः [3]पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने ।
अन्यदा पुनरार्येति [4]महाराजेति भूपतिः ॥ ८२ ॥

शाक्याः सौगताः । निर्ग्रन्थाः क्षपणकाः । शेषाः पाषण्डाति पाशुपतादयः । स्वसमयो यथा पाशुपतानां भापूषन्, भासर्वज्ञ, इत्यादि संभाषणम्, तथा क्वचि-द्वाक्यादिशब्देन ॥ ७९ ।

अपत्यप्रत्ययेनेति कौरवेत्यादिना महाराजेति ॥ ८० ॥

अभिनव—शाक्य का अर्थ सौगत बौद्ध भिक्षु है, निर्ग्रन्थ का अर्थ क्षपणक है शेष पाखण्ड से पाशुपत सम्प्रदाय के साधुओं का ग्रहण होता है । स्वसमय शब्द से पाशुपतों के भासर्वज्ञ, भापूषन् आदि के सम्भाषण (सम्बोधन) का ग्रहण है । कहीं पर सम्पूर्ण वाक्य का भाषण करना चाहिए ॥ ७८ ॥

अनुवाद—भृत्य (नौकर) तथा प्रजाजन द्वारा राजा को 'देव' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए । सार्वभौम राजा को परिजन 'भट्ट' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ७९ ॥

अनुवाद—ऋषियों के द्वारा राजा को 'हे राजन् !' अथवा अपत्यार्थक वंशागत नाम से सम्बोधित करना चाहिये और विदूषक राजा को 'वयस्य' अथवा 'राजन्' शब्द से तथा महारानी एवं चेटी को 'भवति' शब्द से सम्बोधित करें । तथा राजा भी विदूषक को उसके नाम से अथवा 'वयस्य' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ८० ॥

अनुवाद—युवा अवस्था में सभी स्त्रियाँ अपने पति को 'आर्यपुत्र' शब्द से सम्बोधित करें । अन्य अवस्थाओं में 'आर्य' शब्द से सम्बोधित करें और राजा को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ८१ ॥

---

१. क. (टि०) परिजनेन वा ।   २. ग. चेटया ।
३. क-म. पतिर्वाच्यो ह्यार्यपुत्रेति ।   ४. ख. वाच्यो राज्ञापि भूपतिः ।

आर्येति पूर्वजो भ्राता वाच्यः पुत्र इवानुजः ।
योषिद्भिरथ काम्येति राजपुत्रेति योधनैः ॥ ८३ ॥
पुरुषाभाषणं ह्येव कार्यं नाट्ये प्रयोक्तृभिः ।
पुनः [1]स्त्रीणां प्रवक्ष्यामि यथाभाष्यास्तु नाटके ॥ ८४ ॥
तपस्विन्यो देवताश्च वाच्या भवतीति च ।
[2]गुरुभार्या तु वक्तव्या स्थानीया भवतीति च ॥ ८५ ॥

यौवनादन्यत्रार्यपुत्रेति श्वशुरेण व्यपदेशः, तस्य यौवनं शृङ्गारोचितमुक्तं भवति ॥ ८२ ॥

अनुजो ज्येष्ठेन पुत्रवत् वत्स तात पुत्रकेति संभाष्यः ॥ ८३ ॥

पुरुषाभाषणमिति भूयस्त्वाक्षेप उपसंहारः ॥ ८४ ॥

अभिनव—अभिनव गुप्त का कथन है कि यौवन में स्त्रियाँ अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहकर सम्भाषण करें किन्तु यौवन से भिन्न अवस्था में श्वसुर वंश के नाम से सम्बोधित करें। जैसे हे महाराज ! यहाँ यौवन पद से तात्पर्य है शृङ्गार के उपयुक्त अवस्था ॥ ८२ ॥

अनुवाद—बड़े भाई को 'आर्य' शब्द से तथा छोटे भाई को पुत्र के समान वत्स, तात आदि शब्दों से सम्बोधित करें। स्त्रियाँ कामनानुसार और योद्धा 'राजपुत्र' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ८३ ॥

अभिनव—छोटे भाई को बड़ा भाई पुत्र के समान वत्स, तात, पुत्रक शब्द से सम्बोधित करें ॥ ८३ ॥

अनुवाद—नाटक में नाट्य प्रयोक्ताओं ने पुरुष पात्रों के सम्भाषण का यही विधान बताया है। अब स्त्रियों के लिए नाटक में सम्बोधन के प्रकार को बतलाता हूँ ॥ ८४ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'भूयस्त्व' बहुवचन का आक्षेप है अर्थात् यहाँ पुरुषों के सम्भाषण विषयक प्रकरण का उपसंहार कर दिया है।

अनुवाद—तपस्विनी स्त्रियों तथा देवी को 'भगवति' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए और गुरु भार्या और ज्येष्ठा (पूज्या) स्त्रियों को 'भवति' शब्द सम्बोधित किया जाना चाहिए ॥ ८५ ॥

---

१. ब-ग. पुनस्त्रोणां च वक्ष्यामि संभाषां नाटकाश्रयम् ।
२. क. (टि०) गुरुरार्येति ।

गम्या भद्रेति वाच्या वै [1]वृद्धाम्बेति च नाटके ।
राजपत्न्यस्तु[2] संभाष्याः सर्वाः परिजनेन वै ॥ ८६ ॥
भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं वै नाटके बुधैः ।
देवीति महिषी वाच्या राज्ञा परिजनेन वा ॥ ८७ ॥
भोगिन्यः परिशिष्टास्तु स्वामिन्य इति वा पुनः ।
कुमार्यश्चैव वक्तव्याः प्रेष्याभिर्भर्तृदारिकाः ॥ ८८ ॥
स्वसेति भगिनी वाच्या वत्सेति च यवीयसी[3] ।
ब्राह्मण्यार्येति वक्तव्या लिङ्गस्था व्रतिनी च या ॥ ८९ ॥

स्त्रीसंभाषणं त्वयि मध्ये निरूपितं तपस्विन्य इति पूर्वं तेषां योषित इति अत्र स्वयमतपस्विन्योऽपीत्युक्तमिति न पुनरुक्तम् । गुरुभार्या मान्या अन्या वा स्त्री, स्थानीया पूज्या ईषद्वृद्धा ॥ ८५ ॥

अभिनव—स्त्रियों के सम्भाषण के विषय में भी बीच में निरूपण कर दिया है। पहिले वहाँ योषित इत्यादि कहा है। यहाँ स्वयं अतपस्विनी स्त्रियाँ भी तपस्विनी के समान सम्भाषण करें, अतः पुनरुक्त नहीं है। गुरुभार्या का अर्थ है गुरुपत्नी और मान्य अन्य स्त्रियाँ। स्थानीया का अर्थ है पूज्या तथा ईषद् वृद्धा ॥ ८५ ॥

अनुवाद—नाटक में ग्राम्या स्त्री को 'भद्रे' तथा वृद्धा स्त्रियों को 'अम्बा' कहकर सम्बोधन करें तथा समस्त राजपत्नियों को परिजन लोग 'भट्टिनी, स्वामिनी देवी' आदि शब्दों से सम्बोधित करें। और राजा अथवा परिजनों के द्वारा महिषी (पटरानी) को 'देवी' शब्द से पुकारना चाहिए ॥ ८६-८७ ॥

अनुवाद—शेष स्त्रियों को भोगिनी अथवा स्वामिनी शब्द से सम्बोधित करना चाहिए। नौकरानियाँ राजकुमारियों को 'भर्तृदारिके' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ८८ ॥

अनुवाद—बड़ी बहिन को 'भगिनी' तथा छोटी बहिन को 'वत्से' कहना चाहिए तथा ब्राह्मणी, सन्यासिनी और व्रतधारिणी स्त्रियों को 'आर्ये ?' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए ॥ ६९ ॥

१. ख. वृद्धा वाच्येति नाटके ।
२. ख. राजपत्न्यश्च । क-भ. राजपुत्र्यस्तु ।
३. ख. ग. ज्येष्ठा वत्सेति चानुजा ।

पत्नी चार्येति संभाष्या पितृनाम्ना सुतस्य सा ।
समानाभिस्तथा सख्यो हलेति स्यात्परस्परम्[1] ॥ ९० ॥
प्रेष्या हञ्जेति वक्तव्या स्त्रियो या तूत्तमा भवेत् ।
अज्जुकेति [2]च वक्तव्या वेश्या परिजनेन च ॥ ९१ ॥
[3]अत्तेति गणिका माता वाच्या परिजनेन हि ।
प्रियेति भार्या शृङ्गारे वाच्या राज्ञेतरेण वा ॥ ९२ ॥

पत्नीति सहधर्मचारिणी, अत एव नटी नाट्यवेदमहासत्रदीक्षितेन सूत्रधारेणार्यणार्ये इत्यामन्त्र्यते । पितृनाम्नेति माठरपुत्रि । सुतस्येति सोमशर्मजननि ॥ ९० ॥

वेश्या स्वेन परिजनेन अज्जुके इति संभाष्या ॥ ९१ ॥

अनुवाद—धर्मपत्नी को 'आर्ये' अथवा उसके पिता या पुत्र के नाम से सम्बोन्धित कर आह्वान करें तथा समान अवस्था वाली स्त्रियों को 'हले' कहकर पुकारें ॥ ९० ॥

अभिनव—पत्नी का अर्थ है सहधर्मिणी। इसलिए नाट्यवेद के महासत्र में दीक्षित सूत्रधार नटी पत्नी को 'आर्ये' कहकर बुलाये है। अथवा पिता के नाम से बुलाये, जैसे—हे माठरपुत्रि ! आदि, अथवा पुत्र के नाम से बुलाये जैसे—हे सोमशर्मजननि आदि ॥ ९० ॥

अनुवाद—उत्तम स्त्रियाँ दासी (सेविका) को 'हञ्जे' शब्द से सम्बोधित करना चाहिये और परिजनों के द्वारा वेश्या को 'अज्जुके' शब्द से पुकारना चाहिये ॥ ९१ ॥

अभिनव—अपने परिजनों द्वारा वेश्या को 'अज्जुके' कहकर बुलाना चाहिए।

अनुवाद—अपने परिजनों के द्वारा गणिका के माता को 'अत्ता' कहकर बुलाना चाहिये। शृङ्गार के समय राजा अथवा अन्य लोग अपनी पत्नी को 'आर्ये' कहकर सम्बोधित करें ॥ ९२ ॥

१. ख. ग, हला भाष्याः परस्परम् ।
२. ग. भवेद्वाच्याः । ख. वेश्या वाच्या ।
३. ख. ग. या त्वत्र वृद्धा सा त्वत्ता भाष्या नाट्यजनेन तु ।

पुरोधः सार्थवाहानां भार्यास्त्वार्येति सर्वदा ।
तल्लिङ्गार्थानि नामानि कार्याणि कविभिः सदा[1] ॥ ९३ ॥
औत्पत्तिकानि यानि स्युर्न प्रख्यातानि नाटके ।
[2]ब्रह्मक्षत्रस्य नामानि गोत्रकर्मानुरूपतः ॥ ९४ ॥
काव्ये कार्याणि कविभिः शर्मवर्मकृतानि हि ।
दत्तप्रायाणि नामानि वणिजां संप्रयोजयेत् ॥ ९५ ॥

सर्वदेति यौवनेऽपि पुरोहितादिभिरार्येति भार्या वाच्या ॥ ९३ ॥

औत्पत्तिकानोति स्वयं वा येन कल्पयन्ते, अत एवाख्यातानि तल्लिङ्गार्थानि प्रकृतार्थसूचकाभिधेयमुक्तानि कार्याणि । एतदेव निदर्शनेन स्फुटयति ब्रह्मक्षत्रस्ये-त्याविना ॥ ९४ ॥

अनुवाद—पुरोहित और सार्थवाह को स्त्रियों को 'आर्ये' कहकर सम्बोधित करना चाहिये ॥

अभिनव—पुरोहित आदि को यौवन में भी भार्या का 'आर्ये' कहकर बुलाना चाहिए ॥ ९३ ॥

अनुवाद—कवि लोग नाटकों में गुण और कार्य के अनुसार नाम से सम्बोधित करें और जो अप्रख्यात पात्र हैं, उसे कल्पित नाम से बुलाना चाहिये ॥ ९३-९४ ॥

अभिनव—औत्पत्तिकानि अर्थात् जिसकी स्वयं कल्पना की गई हो, इसीलिए वह आख्यात है । तल्लिङ्गार्थानि का अभिप्राय है—प्रकृत अर्थ के सूचक अभिधेययुक्त अर्थात् नामों के साथ सम्बोधित करने चाहिए । इसी को निदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—ब्रह्मक्षत्रस्येत्यादि ।

अनुवाद—कवियों को काव्य में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के नाम उनके गोत्र एवं कर्म के अनुसार रखने चाहिये । और उनके नाम के सामने शर्मा तथा वर्मा लगाना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणों के नाम के साथ 'शर्मा' तथा क्षत्रियों के नाम के सामने 'वर्मा लगाना चाहिए । और बनियों के नाम के सामने 'दत्त' लगाकर पुकारना चाहिए ॥ ९४-९५ ॥

---

१. ख. ग. द्विजाः ।
२. ख. ब्राह्मक्षत्रस्य ।

कापालिकास्तु घण्टान्तनामानः समुदाहृता ।
शौर्योदात्तानि नामानि तथा शूरेषु योजयेत् ॥ ९६ ॥
विजयार्थानि नामानि [1]राजस्त्रीणां तु नित्यशः ।
[2]दत्ता मित्रा सेनेति वेश्यानामानि योजयेत् ॥ ९७ ॥
नानाकुसुमनामानः प्रेष्याः कार्यास्तु नाटके ।
मङ्गलार्थानि नामानि चेष्टानामपि योजयेत् ॥ ९८ ॥

शौर्योदात्तानीति । भीमपराक्रम इति यथा ॥ ९६ ॥

विजयार्थानीति शुभलक्षणविजयवतीत्यादीनि । देवदत्तावसन्तसेनाविदग्ध-मित्रेत्यादि वेश्यानाम् ॥ ९७ ॥

नानाकुसुमनामानीति मालती-मल्लिकेत्यादि कुसुमग्रहणं तन्मञ्जर्याद्युप-लक्षणं चूतलतिकेत्याद्यपि हि दृश्यते नाम । मङ्गलार्थानीति सिद्धार्थका इत्यादीनि ॥ ९८ ॥

अनुवाद—कापालिकों को घण्टान्त नाम से सम्बोधित करना चाहिये, और शूरवीरों को शौर्य, औदार्य आदि गुणों के सूचक नामों से बुलाना चाहिये ॥ ९६ ॥

अभिनव—जैसे भीमपराक्रम ।

अनुवाद—राजपत्नियों के नाम विजय अर्थ के सूचक होने चाहिये और वेश्याओं के नाम में दत्ता, सेना, मित्रा की योजना करें ॥ ९७ ॥

अनुवाद—नाटक में दासियों के नाम भिन्न भिन्न पुष्पों पर रखने चाहिये । तथा चेट के नामों में मङ्गल-सूचक शब्दों की योजना करनी चाहिए ॥ ९८ ॥

अभिनव—विजय के लिए शुभ लक्षणों वाली विजयवती आदि । वासवदत्ता बसन्तसेना, विदग्धमित्रा इत्यादि वेश्याओं के नाम होने चाहिए ॥ ९७ ॥

अभिनव—दासियों के नाम विभिन्न फूलों पर होने चाहिए । जैसे, मालती, मल्लिका इत्यादि । कुसुम पद का ग्रहण पुष्पों को मञ्जरियों का उपलक्षण है । क्योंकि दासियों के चूतकलिका, चूतलतिका इत्यादि नाम भी दिखाई देते हैं । मङ्गलार्थक नाम जैसे सिद्धार्थक आदि है ॥ ९७ ॥

---

१ ख. राज्ञां स्त्रीणां च कारयेत् । ग. राजस्त्रोणा च कारयेत् ।

२. क-भ दत्तां मित्रां च सेनां च ।

गम्भीरार्थानि नामानि ह्युत्तमानां प्रयोजयेत्[1] ।
यस्मान्नामानुसदृशं कर्म तेषां भविष्यति ॥ ९९ ॥
जातिचेष्टानुरूपाणि शेषाणामपि कारयेत् ।
नामानि पुरुषाणां तु स्त्रीणां चोक्तानि तत्त्वतः ॥ १०० ॥
एवं [2]नामविधानं तु कर्तव्यं कविभिः सदा ।
[3]एवं [4]भाषाविधानं तु ज्ञात्वा कर्माण्यशेषतः[4] ॥ १०१ ॥

गम्भीरार्थानि अक्षोभ्य इत्यादीनि । नास्ति संकेतको भार इत्याशयेन पृच्छति अत्रोत्तरं नामानुरूपमिति । नाम किलेश्वरेच्छावशात्स्वरूपक्रोडीकारेणैव जायते । तथा हि नामाक्षरे ग्रहाभिचारयन्त्रकर्मादिपीडिते शान्तिकपौष्टिकाद्युपचारभोजि वा तथैव पुरुषस्य फलोदय इत्यभिप्रायः ॥ ९९ ॥

अनुवाद—उत्तम पात्रों के नाम गम्भीर अर्थ के द्योतक होने चाहिये । क्योंकि उनके कर्म उनके नाम के अनुरूप ही रहते हैं ॥ ९९ ॥

अभिनव—उत्तम पात्रों के नाम गम्भीर अर्थ के सूचक होने चाहिए जैसे—अक्षोभ्य इत्यादि । संकेत करने में कोई भार नहीं है, इस आशय से पूछते हैं—क्या नाम होने चाहिए ? उत्तर देते हैं—नाम के अनुरूप कर्म होने चाहिए । क्योंकि ईश्वर की इच्छा के वश होकर नाम रखा जाता है । और भी नाम के अक्षर ग्रहों के अभिचार एवं यन्त्र-तन्त्र आदि के कर्मों से पीड़ित होते हैं, अतः शान्तिक, पौष्टिक उपचार किये जाते हैं । तभी पुरुष के फल का उदय होता है ॥ ९९ ॥

अनुवाद—इनके अतिरिक्त शेष स्त्री-पुरुषों के नाम उनकी जाति एवं चेष्टा के अनुरूप होने चाहिए ॥ १०० ॥

अनुवाद—इस प्रकार कवियों को नाटक में नामों का विधान करना चाहिये । इस प्रकार पात्रों के समस्त कर्मों को समझकर भाषा का विधान किया गया है ॥ १०१ ॥

---

१. ख. ग. याजयेदुत्तमेषु च । २. क. (टि०) नामाभिधानं ।
३. क. (टि०) एवं भाषाविधानादि । ख. एवं भाषाविधानादि ।
क. म. भाषाविधानं विज्ञेयं ततः प्रकृतिसम्भवाम् ।
ततः पाठ्यस्य वक्ष्यामि गुणांश्च द्विजसत्तमाः ।
स्वरैः षड्जादिभिर्युक्तं नानारससमन्वितम् । तद्यथा—
४. ख. ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।

पाठ्यगुणानिदानीं वक्ष्यामः । तद्यथा सप्तस्वराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलङ्काराः, षडङ्गानीति । एषामिदानीं [1]लक्षणमभिव्याख्यास्यामः ।

तत्र सप्तस्वरा नाम—षड्जर्षभगान्धारमध्यमधैवतनिषादाः । त-एते रसेषूपपाद्याः ॥ १०२ ॥

कवित्वयुक्तो नट इत्यभिप्रायेणाह भाषाविधानं ज्ञात्वा, तत इति, तत्परिज्ञातपूर्वकं काव्यं कृत्वा प्रयोगे पाठ्यं प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । यदि त्वन्यः कविस्तदा पाठ्यस्य संज्ञा च मूलभूतत्वात् प्रयोक्तृत्वेनोक्तो द्रष्टव्यः । षडलङ्कारसंयुतमिति स्वरस्थानवर्णकाक्वलङ्काराङ्गानि षट् । अत्रालङ्कारशब्देन विवक्षितानि, एतैर्हि भूषितं काव्यं पाठ्यमुच्यते ॥ १०१ ॥

एवं हि वक्तव्यमुपादानस्य यदि सकलस्वविवक्षाविशिष्टार्थप्रतिपादकत्वं पठनार्हं च पाठ्यं तत्स्वराद्यायत्तं सर्वमिति । अत एवाह पाठ्यगुणानिति गुणाः उपकारकाः यदुपकृतं काव्यं भवतीत्यर्थः ।

अभिनव—नट कवित्व से युक्त भी होता है, इस अभिप्राय से कहते हैं कि भाषा विधान को समझकर अर्थात् परिज्ञान पूर्वक काव्य का निर्माण कर पाठ्य का प्रयोग करें। यदि कवि कोई दूसरा है तो पाठ्य की संज्ञा प्रयोग मूलभूत तत्त्व होने के कारण तदनुसार प्रयोक्ताओं को व्यवहार देखना चाहिए। स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलङ्कार तथा अङ्ग ये छः अलङ्कार शब्द से विवक्षित है। इन छः अलङ्कारों से युक्त काव्य पाठ्य होता है ॥ १०२ ॥

अभिनव—उपादान के विषय में इस प्रकार वक्तव्य है कि यदि समस्त प्रकार को विवक्षाओं से विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक काव्य पाठ्य है, वह स्वरादि छः अलङ्कारों के अधीन है। अतः पाठ्य के गुणों को बतलाऊँगा। यहाँ गुण का अर्थ उपकारक है जिससे उपकृत काव्य पाठ्य होता है।

अनुवाद—अब पाठ्य के गुणों को कहूँगा। वह जैसे—सात स्वर हैं, तीन स्थान हैं, चार वर्ण हैं, दो प्रकार के काकु है, छः अलङ्कार और छः अङ्ग हैं। अब इन पाठ्य गुणों का उद्देश क्रम से व्याख्यान करूँगा ॥

१. स्वर

अनुवाद—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात स्वर हैं। रसों में इनका उपयोग करना चाहिए ॥

---

१. क-न. लक्षणान्यभिधास्यामः । ख. लक्षणान्यभिव्याख्यास्यामः ।

उद्देशक्रमेण व्याचष्टे तत्रेत्यादि । स्वरगतं वितत्य गेयाधिकारे प्रकटयिष्यामः इह काकुषु स्वरा एव वस्तुत उपकारिणः । तत्परिकरभूतं तु स्थानादि । स्वरेषु प्रकृतिभूतेषु काकुरूपता जन्यते । तत्र स्थानशब्देनैषां स्वरूपनिष्पत्तेराश्रयो दर्शितः । उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितरूपतया स्वराणां यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमयं तत्त्यागे-नोच्चनीचमध्यमस्थानस्पर्शित्वमात्रं पाठ्योपयोगीति दर्शितम् । यदि हि स्वरगता रक्तिः पाठ्ये प्राधान्येनावलम्ब्येत तदा गानक्रियासौ स्यात्, न पाठः । पूर्णस्वरत्वा-भावादङ्गानां भेद इति चेत्, न, अपूर्णस्वरत्वेऽपि गानत्वप्रतिज्ञानात्, षाडवौडुवितयोः त्रिचतुरस्वरत्वेऽपि गानप्रतीतिर्भवत्येव, यथा कृत्रिमवंशिकायां त्रैस्वर्ये, भिन्नषड्ज-भाषायां च कालिन्द्यां चातुःस्वर्ये । तस्माद् गानवैलक्षण्याय रक्तिलक्षणं धर्ममनावृत्यो-च्चादिस्थानस्पर्श एवात्र प्रधानमिति वक्तुं वर्णोपादानम् । अन्यथा स्वरसप्तकाति-रिक्तस्योदात्तादेर्भावादनर्थकं तदुपादानम् ।

अभिनव—पाठ्य गुणों में प्रथम स्वरों के विषय में आगे गेयाधिकार प्रकरण में प्रकट करेंगे। स्वर ही काकु में भी उपयोगी होते हैं तथा स्थानादि उसके परिकर हैं। इन स्वरों में ही काकुरूपता उत्पन्न होती है। वहाँ स्थान शब्द से काकुओं के अपने स्वरूप की निष्पत्ति हेतु आश्रय दिखाया गया है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित नाम से विख्यात स्वरों में जो अनुरणन रक्ति (अनुरञ्जन) की प्रधानता है, उसको छोड़कर जो उच्च, नीच, मध्यम स्थान का स्पर्श है, वही पाठ्य में उपयोगी है, यह दिखाया गया है। यदि स्वरगत रक्ति का पाठ्य में प्रधानतः आश्रय (आलम्बन) लेते हैं तो यह गान क्रिया होगी, न कि पाठ्य, यदि यह कहा जाय कि यहाँ स्वरों की पूर्णता का अभाव होने से अङ्गों में भेद होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वरों की अपूर्णता में भी गान को स्वीकार किया गया है। षाडव और औडुवित में क्रमशः तीन और चार स्वरों के होने पर भी गान की प्रतीति होती है। जैसे कृत्रिम बाँसुरी में तीन स्वर हैं और भिन्न षड्ज की भाषा कालिन्दी में चार स्वर है, फिर भी यहाँ गान है। इसलिए ज्ञान की विलक्षणता के लिए रक्ति लक्षण धर्म की अपेक्षा न करके यहाँ उच्चादि का स्पर्श ही प्रधान है। इसी बात को बतलाने के लिए वर्णों का उपादान है, अन्यथा सात स्वरों के अतिरिक्त उदात्तादि के सद्भाव से उन वर्णों का उपादान व्यर्थ हो जायेगा।

यत्तु किञ्चिदुदात्तादिधर्माणां गात्रस्य निग्रहः कण्ठविवरस्य संवृतेत्यादि शिक्षापठितोदात्तादि धर्मप्राप्तेरुच्चाद्यलङ्कारेषु यथा स्यादिति प्रयोजनमुक्तं, तत्राप्य-स्मदुक्तं चेन्न प्रयोजनं कि तद्धर्मप्राप्त्या कृतमिति न विद्मः ॥

नन्वेवं स्वराभिधाने किं प्रयोजनं, उच्यते—प्राणभूतं तावद्ध्रुवागानं प्रयोगस्य, तत्र जात्यंशकविनियोगो भविष्यति तद्विदानो पाठावसरे किं सर्वथैव त्यक्तव्यमित्याशङ्काशमनाय तत्स्थायिस्वराश्रयणं प्रमुखीकृत्य पाठः कर्तव्य इत्येत-त्स्वराभिधानस्येह प्रयोजनम् ।

एवमुपगानवैलक्षण्ये संपन्ने बाह्यार्थसमर्पणेन चित्तवृत्तिसमर्पणया वाभिन-यानुभावरूपतालाभाय काकुरर्थरसभेदाभिधीयते । तत एव काकुरूपत्वमेव सर्वत्रा-नुयायि अतिशायित्वे मुख्योपयोगात् । तथा चोच्चदीप्ताद्यलङ्कारेष्वप्युत्तरत्र काकु-शब्देनैव मुनिर्व्यवहरिष्यति । काकोरेवोपकारसंपादकाः परिपूर्णतायायिनोऽलङ्काराः, अलमिति पर्याप्त्यर्थः, इह न भूषणार्थः । अङ्गानि तु विच्छेदादीनि रसमर्थम् शोभादि कर्म च पोषयितुं काकोरेवोपकारीणीति, एवं परमार्थतः काकुरेवायं पञ्चमो रूपान्तरैः पूर्णीक्रियते । काक्वा च पाठ्यमानस्य स्वोचितचिज्जडस्वरूपार्थाभिमुख्येन नयनेनाभिनतया नीयत इति काकुरेवात्र प्रधानम् । तथा चैतदध्यायान्ते चोपसंह-रिष्यति "उक्तं काकुविधान" मिति । अन्यथाङ्गषट्कमध्यपतितस्योपसंहारोऽन्यङ्ग-निरूपणं चाभिधानमिति सर्वमसमञ्जसं स्यात् । तस्मात्काकुरेवात्र प्रधानमिति उपाध्याया हि वचनस्य संकेतितमर्थमन्यथाकारं समर्थयन्ति ।

जो कि किसी ने कहा है कि उदात्तादि धर्मों के धर्मी (शास्त्र, शरीर) का निग्रह, कण्ठ विवर को संवृतता इत्यादि शिक्षादि ग्रन्थों में पठित उदत्तादि उच्च धर्म की प्राप्ति षट् अलङ्कारों में जैसे भी हो, वही प्रयोजन कहा गया है, फिर भी उसमें मेरा कहा हुआ यदि प्रयोजन नहीं है तो उस धर्म की प्राप्ति से क्या होगा, इसको हम नहीं जानते।

अब प्रश्न होता है कि धर्म की प्राप्ति को प्रयोजन नहीं मानेंगे तो स्वरादि के कथन का क्या होगा ? इस पर कहते हैं कि 'ध्रुवागान प्रयोग का प्राण है' उसमें जाति के अंशों का विनियोग होगा तो क्या इस पाठ के अवसर पर सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इस आशङ्का के शमन के लिए स्थायी स्वरों के आश्रयण प्रमुख मानकर पाठ करना चाहिए, इस प्रकार स्वरों के कथन का यहाँ प्रयाजन है।

ननु श्रुतमर्थमनादृत्य कथं काकुरेवं कुर्यात्। तत्रोक्तमन्यैः वस्तुस्वभावोऽत्र द्रष्टव्यो न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति। वयं तु ब्रूमः—इह येयं प्रथमेन संवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीना वाग् जन्यते सा नादरूपा सती हर्षशोकादि-चित्तवृत्ति विधिनिषेधाद्यभिप्रायं वा तत्कार्यलिङ्गतया वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावस्थितम्।

इस प्रकार ध्रुवा गान की विलक्षणता सम्पन्न हो जाने पर बाह्य अर्थ के समर्पण के द्वारा अथवा चित्तवृत्ति के समर्पण द्वारा अभिनय क्रिया की अनुभाव-रूपता की प्राप्ति के लिए रसों के भेद से काकु का अभिधान करते हैं, कथन करते हैं। इसीलिए स्वर के आधिक्य में मुख्य उपयोग होने के कारण काकुओं का सर्वत्र अनुभव रूप होता है। इस प्रकार भरतमुनि आगे उच्च, दीप्त अलङ्कारों में काकु शब्द के द्वारा ही व्यवहार करेंगे। क्योंकि परिपूर्णता को प्राप्त ये अलङ्कार काकु के ही उपकार के सम्पादक हैं। यहाँ अलङ्कार में 'अलम्' शब्द पर्याप्ति अर्थ का वाचक है, भूषण अर्थ का वाचक नहीं है। विच्छेद आदि अङ्ग तो रस, अर्थ और शोभा आदि कर्मों को पुष्ट करने के लिए काकु के ही उपकार करने वाले हैं। इस प्रकार परमार्थतः काकु ही रूपान्तरों (भिन्न-भिन्न रूपों से) पांचवी की पूर्त्ति करता है। काकु के द्वारा ही जड़ और चेतन अर्थों के अभिनयन से अभिनेयता लाई जाती है। इसलिए काकु को यहाँ प्रधानता है। और 'उक्तं काकुविधानम्' इत्यादि के द्वारा इस अध्याय अन्त में उपसंहार करेंगे। अन्यथा छः अङ्गों के मध्य में पठित उपसंहार तथा अन्य अङ्गों का निरूपण आदि सब असमञ्जस हो जायेगा। इसलिए यहाँ पर काकु ही प्रधान है, ऐसा उपाध्याय जी ने अपने कथन के संकेतित अर्थ का अन्यथा करके समर्थन करते।

अब प्रश्न होता है कि श्रुत अर्थ का अनादर करके काकु को इस प्रकार क्यों प्रधान मानते हैं। इस विषय में अन्य लोगों का कहना है कि वस्तु के स्वभाव को ही यहाँ देखना चाहिए। क्योंकि प्रयक्ष दृष्ट वस्तु में अनुपन्नता नाम का कोई तत्त्व नहीं है, हमारा तो कहना है कि यहाँ जो प्रथम संवित् स्पन्दन रूप प्राणोल्लसन के द्वारा वर्णादि रूप विशेष से रहित वाणी उत्पन्न होती है, वह नाद रूप होती हुई हर्षशोकादि चित्तवृत्ति को अथवा विधि-निषेधादि अभिप्राय को भिन्न कार्यों के लिङ्ग द्वारा अथवा तादात्म्य के द्वारा श्रुतिपर्यन्त पहुँचा देती है।

ततः पाठ्यं प्रयुञ्जीत षडलङ्कारसंयुतम् ।
हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ ॥ १०३ ॥
[1]षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ ।
[2]गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे ॥
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके ॥ १०४ ॥

यथा च प्राण्यन्तरस्य मृगसारमेयादेरपि नादमाकर्ण्य भयरोषशोकादि प्रतिपद्यते, तदयं नादाच्चित्तवृत्त्याद्यवगमोऽनुमानं तावत् । ये त्वेते वर्णविशेषास्ते तन्नादरूपसामान्यात्मकपदतन्तुग्रन्थिमया इव प्राच्यप्रयत्नातिरिक्तनिमित्तान्तरापेक्षाः तत एवान्यत्रानभिप्रेतेऽन्यथापि प्रयोक्तुं शक्याः, अत एव दृष्टव्यभिचाराः । नादस्तु झटित्युद्भिन्नमुखरागपुलकस्थानीयो नान्यथासिद्धोऽन्यथासिद्धं शब्दार्थं बाधत एव वा । यथोक्तं "भीरु न मे भयम्" इति ब्रुवन्नाशयते भयमित्यन्यप्रकारतां वा वाक्यार्थस्य विशेषार्पणेन विधत्ते । एतच्च वक्ष्यामोऽग्र इत्यास्तां तावत् । सर्वथा पाठ्ये काकुः प्रधानमिति स्थितम् ।

और जिस प्रकार मृग, कुत्ते आदि अन्य प्राणियों के नाद को सुनकर भय, क्रोध, शोक आदि होते हैं। वहाँ नाद (ध्वनि) से चित्तवृत्ति आदि का अनुमान होता है और जो ये वर्ण विशेष हैं वे नादरूप सामान्य पद तन्तुओं की ग्रन्थियों के समान प्राचीन प्रयत्नों के अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा है, इसलिए अन्यत्र अनभिप्रेत अर्थ में अन्यथा प्रयोग किया जा सकता है। नाद तो शीघ्र ही उद्भिन्न हुए मुखराग एवं पुलकस्थानीय है। अन्यथासिद्ध शब्दार्थ को बाधित नहीं करता, जैसा कि कहा गया है कि 'हे भीरु! मुझे किसी से कोई भय नहीं है' ऐसा कहता हुआ भय को नष्ट कर देता है। इस प्रकार विशेष के अर्पण के द्वारा वाक्यार्थ के प्रकार को आगे कहेंगे, अतः रहने दिया जाय। अतः पाठ्य ये काकु प्रधान है, यह सिद्धान्त हुआ ॥

अनुवाद—छः अलङ्कारों से युक्त पाठ्य को प्रयोग करना चाहिए। हास्य और शृङ्गार रस में मध्यम और पञ्चम स्वर का प्रयोग करना चाहिये। वीर, अद्भुत और रौद्र रसों में षड्ज और ऋषभ स्वर का और करुण रस में गान्धार और निषाद स्वरों का तथा बीभत्स एवं भयानक रस में धैवत स्वर का प्रयोग करना चाहिये ॥ १०३-१०४ ॥

---

१. क. (भ.) षड्जर्षभौ च कर्तव्यौ ।
२. क-भ. निषादश्चैव गान्धारः करुणे संविधीयते ।

[1]त्रीणि स्थानानि—उरः कण्ठः शिर इति । भवत्यपि च[2] ।

शारीर्यामथ वीणायां त्रिभ्यः स्थानेभ्य एव तु ।

[3]उरसः शिरसः कण्ठात्स्वरः काकुः प्रवर्तते ॥ १०५ ॥

अत्र हास्यशृङ्गारयोरित्यादिना जात्यंशकविनियोगं भविष्यन्तमनुवदंस्तद्द्रुतस्थायिस्वरानुसारेण काकोः प्रयोग इति दर्शयति ॥ १०३–१०४ ॥

अथैषां स्वराणामाश्रयान् दर्शयति त्रीणि स्थानानीति ।

ननु पाठावसरे वर्णा यत्र मूर्धन्यास्तत्र कथमुरःस्थानस्वरनिष्पत्तिः ? एवमन्यत्र वाच्यम् । उक्तं मन्द्रनादात्मिकाया वाचः स्वरसप्तकं रूपं, सा चोरःस्थाननिष्पन्ना सती मूर्धानमभिघ्नन्ती मूर्धन्यं वर्णं तद्रूपं मन्द्रस्वरानुविद्धं दर्शयति ।

यहाँ पर 'हास्यशृङ्गारयोः' भविष्य के जात्यंशकों के विनियोग का अनुवाद करते हुए द्रुत स्तर के अनुसार काकु का प्रयोग होता है, यह दिखाते हैं ॥ १०३-१०४ ॥

२. स्थान

अब 'त्रीणि स्थानानि' के द्वारा स्वरों के आश्रयों को दिखाते हैं—

अनुवाद—स्थान तीन हैं—उरस्, कण्ठ और शिरस् । इस विषय में श्लोक भी है ।

अनुवाद—शारीरी वीणा में उरस्, कण्ठ और शिरस् इन तीन स्थानों से काकु स्वर प्रवृत्त होता है ॥ १०५ ॥

अभिनव—यहाँ प्रश्न होता है कि पाठ के अवसर पर जहाँ मूर्धन्य वर्ण हैं वहाँ उरःस्थानीय स्वर की निष्पत्ति कैसे होगी ? इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । इस पर कहते हैं कि मन्द्रनादात्मिका वाणी के सात स्वर हैं । वह वाणी उरःस्थान से निष्पन्न होती हुई मूर्धा से टकराती हुई मूर्धन्य वर्ण को मन्द्र स्वर से अनुविद्ध दिखाती है ।

---

१. ख. ग. त्रीणि स्थानान्युरः कण्ठशिरांसीति भवत्यपि ।

२. क. भवति चात्र श्लोकः ।

३. क. (टि०) उरसा शिरसा ।

न च मूर्धस्थानत्वेऽपि तस्योच्चताकृतं तारत्वमापद्यते । अन्यदेव हि वर्णनिष्पत्तिस्थानं, मूर्धान्तर्वर्त्यनुविवरमात्रं स्थानान्तरम् । स्वरनिष्पत्तिस्तु विततवितते मूर्धकाये निष्पद्यमाना तारत्वं संपादयन्ती एव तारमन्द्रमध्यता सवर्णानां सर्वं स्वरस्थानभेदसंपाद्यमानवपुषामप्युपपद्यते तत्र स्वरग्रहणादेवाक्षिप्ते स्थानभेदे पुनः स्थानोपादानं षट्षष्टिस्थानभेदनिवृत्त्यर्थम् । तथा हृदुरःस्थाने द्वाविंशतिस्थानानि यत्र श्रुतयः स्वराश्च । एवं कण्ठे मूर्ध्नि च । तावतां च स्पर्शे स्फुटं गानमेव स्यात्, न पाठ्यमित्यवोचाम । अत एव गुणशब्दो न धर्मवचनः पाठ्यगुणानिति, किं तु उपकरणवचनः । स्थानं च तद् यदेवोपकरणं भवति ॥ १०५ ॥

किन्तु मूर्धा स्थान होते हुए भी उसके उच्चता रूप तारत्व की प्राप्ति नहीं होती और भी वर्णों की निष्पत्ति का स्थान अन्य ही है और वह अन्य स्थान मूर्धा के अन्तर्वर्त्ती अनुविवर मात्र है। किन्तु स्वरों की निष्पत्ति तो अत्यन्त वितत मूर्धा स्थान में निष्पन्न होती हुई तारत्व को सम्पादन करती हुई इस प्रकार स्वर और स्थान के भेद से संपाद्यमान शरीर वाले सभी वर्णों की तारता, मन्द्रता और मध्यता भी उपपन्न होती है। वहाँ स्वरों के ग्रहण से ही स्थान-भेद का आक्षेप हो जायेगा, पुनः स्थान पद का ग्रहण ६६ प्रकार के स्थान भेदों से निवृत्ति के लिए है। उनमें उरःस्थान में २२ स्थान है, जहाँ श्रुतियां एवं स्वर हैं। इसी प्रकार कण्ठ में २२ स्थान और मूर्धा में भी २२ स्थान हैं। इन स्थानों के स्पर्श से गान ही स्पष्ट होता है, पाठ्य नहीं। यह कह चुके हैं। इसलिए पाठ्य-गुणान् में गुण पद धर्म का वाचक नहीं है, अपितु उपकरण वाचक है और स्थान वही है जो उपकरण होता है ॥ १०५ ॥

विशेष—स्वरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है कि आत्मा बुद्धि के साथ मिलकर मन को प्रेरित करता है, मन कायाग्नि को आहत करता है, वह आहत अग्नि वायु को प्रेरित करती हैं, और वह वायु नाभि स्थान से उठकर उरःस्थान में सञ्चारित होता हुआ 'मन्द्र' स्वर को उत्पन्न करता है, वही वायु कण्ठ स्थान में सञ्चारित होता हुआ 'मध्य' स्वर को उत्पन्न करता है और वही वायु शिरःस्थान से सञ्चारित होकर 'तार' स्वर को उत्पन्न करता है और वही वायु मूर्धा से आहत होकर मुख में पहुँच कर वर्णों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार उरस्, कण्ठ और मूर्धा ये तीन स्वरों के स्थान हैं। इन्हीं तीन स्थानों से मन्द्र, मध्य और तार ये तीन ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

अपि च शारीर्यामथ वीणायामित्यादि केचिद् व्याचक्षते—इहार्थकाकुस्ताव-द्विधिनिषेधाद्यर्थावगमिका, स्वरकाकुस्तु चित्तवृत्तिसूचिका । एतद् व्यापारद्वय-शून्या नेपथ्यपाठवैतालीयपाठादिविषया दूरस्थाभाषणादिविषया च शोभासंपादन-दूरश्रवणादिप्रयोजना स्वरकाकुः सा तेन वक्ष्यत इति । एवं प्रष्टव्यास्तावत्—योऽयं स्वरकाकोर्विषय उक्तस्तत्र यद्यर्थरूपं किंचिदभिधेयं तत्रावश्यमर्थकाकोर्वा पृथक् स्वरकाकुः ।

तथा हि नेपथ्यपाठेऽपि कञ्चुकी पठति "वीरोऽयमङ्गदः पठति", यौगन्ध-रायणः पठति इति, एवंभूतवृत्तचित्तवृत्त्यादि विशेषप्रतिपादकेनैव पाठेन भवितव्यम् । वैतालीयपाठेऽपि समुचितावसरावेदनप्रधानेऽवश्यमर्थं आदातव्य एव । उक्तं चैतत्—अर्थानपेक्षया किमभिनयनमन्यचिन्तया, पुस्तकवाचकपाठो ह्यनुक्रियमाणोऽभिनयता-मवलम्बते । अन्यथाभिनयरूपत्वाभावे तदुपकरणधर्म्यादितत्फलरसादिव्यतिरिक्तत्वे स्वरातोद्यगानादिवैलक्षण्ये च चिन्तयैव किं प्रयोजनमिति । न स्यात्काकुसामान्य-लक्षणमेतेन किं घटत इत्यन्ये ।

और भी 'शारीर्यामथ वीणायां' को जो कुछ लोग व्याख्या करते हैं—यहाँ जो अर्थ काकु है वह विधि और निषेधादि रूप अर्थों को अवगमिका है और स्वर एवं काकु चित्तवृत्ति की सूचिका है। वह स्वर काकु विधि और निषेध रूप व्यापार से शून्य, नेपथ्य पाठविषया तथा वैतालीय पाठविषया, दूरस्थ आभाषणादि विषया तथा शोभा-सम्पादन करना एवं दूरस्थ श्रवण रूप प्रयोजन वाली स्वर काकु है, उसे आगे कहेंगे। उनसे यह पूछना है कि जो यह स्वर काकु का विषय कहा गया है उसमें यदि अर्थरूप कुछ अभिधेय है वहाँ अवश्य ही अर्थ काकु से भिन्न स्वर काकु है।

और नेपथ्य पाठ में कञ्चुकी कहता है कि 'यह वीर अङ्गद पढ़ता है' यह 'यौगन्धरायण पढ़ता है' इस प्रकार चित्तवृत्ति आदि के विशेष का प्रतिपादक होना चाहिए और वैतालीय पाठ में भी समुचित अवसर का आवेदन करना प्रधान है, अर्थ का अवश्य आदान करना चाहिए। और यह भी कहा गया है कि अर्थ की अपेक्षा किये विना अन्य विषय का चिन्तन करना क्या अभिनय होगा ? अथवा पुस्तक के वाचक के पाठ का अनुकरण करना क्या अभिनय का अवलम्बन करेगा ? अभिनयरूपत्व के अभाव में उसके उपकरण धर्म्यादि तथा अभिनय के फल रसादि से भिन्न होने और स्वर, आतोद्य (वाद्य) एवं गान आदि से बिलक्षण होने से अन्यथा चिन्तन से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसमें काकु का सामान्य लक्षण नहीं होगा, अतः इसको चिन्तन व्यर्थ है।

एवमपि भवतोत्यसमर्थितं स्यात् तद्धि पूर्वप्रक्रान्तवस्तु समर्थनेन प्रयुञ्जत इति मुनेः शैली। तस्मात्पूर्वोक्तस्थानत्रयसमर्थनार्थोऽयं श्लोकः। तदयमर्थः—शारीर्यां वीणायां केवलमुरःशिरःकण्ठलक्षणेभ्यः त्रिभ्य एव स्थानेभ्यो न तु षट्षष्टिस्वरपरिव्यक्तरञ्जनात्मकगानोपयोगिव्यापारः काकुभूतः सूचकरूपः संप्रवर्तते।

अथ शब्दोऽवधारणे बाह्यायां हि प्रतिबिम्बितायां वीणायां रञ्जनात्मक-स्वरस्वरूपव्यतिरेकेण न काकुसंपत्तिः। वीणाग्रहणं शरीरगतविवृतमध्याकाशदेश-परिग्रहार्थं, न शरीरमात्रे स्वरनिष्पत्तिः, अपि तु तत्रैव। येयं बाह्यवीणादण्डस्थानीया उत्तरोत्तरस्थानपरम्पराविशिष्टा, सा स्थानसोपानपंक्तिस्वरनिष्पत्तिस्थानम्, अत एव काकुस्वरमपि लक्षितम् -कक लौल्ये, लौल्यं च साकांक्षे यथा स्वरवैचित्र्यं लक्ष्यते ईषद्यतो वाच्यभूमिः संपद्यते सा काकुः ईषदर्थे कुशब्दस्य कादेशः। काकुर्वा जिह्वा तद्व्यापारसंपाद्यत्वात् काकुः ॥ १०५ ॥

यदि यह कहा जाय कि ऐसा भी होता है तो वह समर्थित नहीं हुआ। वह तो पूर्व प्रक्रान्त वस्तु से समर्थन से प्रयुक्त होता है, यह मुनि की शैली है। इसलिए पूर्वोक्त स्थानत्रय के समर्थन से यह श्लोक है। उसका यह अर्थ है कि शारीरी वीणा में केवल उरस्, शिरस् एवं कण्ठ इन तीन स्थानों से न कि ६६ स्वरों से परिव्यक्त रञ्जनात्मक गान के उपयोगी व्यापार काकु के सूचक रूप में प्रवृत्त होता है ॥

प्रतिबिम्बित स्थानीया बाह्य वीणा में काकु की सम्पत्ति विद्यमान होती है जो रञ्जनात्मक स्वर रूप से भिन्न होती है। 'शारीर्यां वीणायां' में वीणा पद का ग्रहण शरीर के मध्य में विवृत हृदयाकाश के परिग्रहण के लिए है। क्योंकि विना आकाश के शरीर मात्र में स्वर की निष्पत्ति नहीं हो सकती, अपितु हृदयाकाश में ही होगी। जो यह तुम्बीघटिता दण्डस्थानीया उत्तरोत्तर स्थान परम्पराओं से विशिष्ट बाह्य वीणा है। वह सोपान पंक्ति के समान स्वरों के निष्पत्ति के स्थान हैं। अत एव इनसे काकु स्वर लक्षित होता है। 'कक लौल्ये' धातु का अर्थ लौल्य जो सांकाङ्क्ष स्थल में होता है, जिससे स्वर-वैचित्र्य लक्षित होता है जो वाच्य की भूमि बन जाती है, वह काकु है। यहाँ पर ईषत् अर्थ में कु शब्द को 'क' आदेश हो गया है। अथवा काकु का अर्थ जिह्वा है, अतः जिह्वा के व्यापार से संपाद्य होने से यह 'काकु' है।

[1]आभाषणं च दूरस्थे क्षिरसा संप्रयोजयेत् ।
[2]नातिदूरे च कण्ठेन ह्युरसा चैव पार्श्वतः ॥ १०६ ॥
उरसोदाहृतं वाक्यं शिरसा दीपयेद् बुधः[3] ।
[4]कण्ठेन शमनं कुर्यात्पाठ्यप्रयोगेषु सर्वदा ॥ १०७ ॥

एवं स्थानस्वरूपं विभज्य तस्य विषयभेदमादर्शयितुमाह—आभाषणं च दूरस्थ इत्यादि ।

शिरसेति शिरोनिष्पन्नेन तारेण नादेनेत्यर्थः । नातिदूरे कण्ठेनेति मध्येन, उरसा समीपे मन्द्रेणेति यावत् ॥ १०७ ॥

एवं स्थानत्रयस्य पृथगुपयोगमभिधाय युगपद्दर्शयति—उरसोदाहृतं वाक्यमित्यादिना ।

इस प्रकार तीनों स्थानों के रूपों का विभाग करके अब उनको विषय भेद दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—दूरस्थ व्यक्ति से बात करने में शिर हिलाना चाहिए, अधिक दूर न होने पर कण्ठ से तथा समीपस्थ व्यक्ति से उरस् से (मन्द्रनाद से) संकेत करना चाहिये ॥ १०६ ॥

अभिनव—यहाँ 'शिरसा' से तात्पर्य शिरोनिष्पन्न तार नाद से है। 'कण्ठेन' पद से मध्यनाद का ग्रहण होता है। इसका प्रयोग नातिदूरस्थल में होता है। 'उरसा' पद का तात्पर्य मन्द्र नाद से है। इसका उपयोग समीपस्थ सम्भाषण में होता है ॥ १०६ ॥

इस प्रकार इन तीनों स्थानों का अलग-अलग उपयोग कहकर अब एक साथ उपयोग दिखाते हैं—उरसादाहृतमित्यादि ।

अनुवाद—पाठ्य के प्रयोग में सर्वदा उरस् से उदाहृत वाक्य को विद्वान् शिर से दीप्त करें और कण्ठ से शमन करें ॥ १०७ ॥

---

१. क-भ. आभाषणं च दूरस्थं शिरस्थेन स्वरेण हि ।
२. ख. नातिदूरेऽपि कण्ठेनाप्युरसा चापि पार्श्वतः ।
ग. नातिदूरेऽपि कण्ठे च ह्युरसा च समीपतः ॥
क-भ; कण्ठेन नातिदूरे स्यादुरसा चैव पार्श्ववतः ।
३. ग. शिरसोद्दीपयेद्बुधः । ४. क. (टि०) कण्ठेन शमयेच्चैव ।

मन्द्रस्वरेण वा पाठमारभ्य क्रमेण तारं गत्वा मध्येन परिसमाप्नुयादिति श्लोकार्थः। यदा हि न दीप्तेन क्रोधादिना नापि मन्द्ररूपेण शोकादिना आविष्ट-हृदयो भवति तदा क्रमेण वक्तव्यवस्तुविषयोत्साहविस्फारणात् तारान्तं गच्छन्नुप-संहारे मध्य एव विश्राम्यतीत्यनवशिष्टस्यायं सामान्येन पाठधर्मः। अत एव शान्ते व्यभिचारिबलावेशशून्यतायामयमेव पाठधर्मः। वैतालीयपाठे चायमपि सामान्य-धर्मोऽस्तु। न तद्विषये स्वरकाकुः।

कस्तर्हि तस्या विषयः उच्यते—कदाचिदर्थस्य धर्मपुञ्जवाच्यस्य धर्मान्तरा-धानं काकुरुच्यते, कदाचित्स्वरजनकचित्तवृत्त्यर्पणं करोति। यत्र रसस्वरजनक-काकुव्यवहारः कदाचिद्वा नादात्मनि स्वरसूत्रे सुगुम्फितस्य स्वग्रन्थ्यात्मनो वर्णराशेर्दूरश्रवणं किंचिच्छ्रवणमश्रवणं वेत्यस्मिन्नर्थे व्याप्रियते। तथापि स्वरकाकुरुच्यते। तत्रोक्तमाभाषणं दूरस्थमित्यादि तदेवं व्यतिरिक्ते स्वसेवाव्यापाराद् व्यतिरिक्तजडचिद्भेदेन भेदात् तदर्थरसस्वरभेदात् त्रिधैव काकुः॥ १०७॥

अभिनव—मन्द्र स्वर से पाठ का प्रारम्भ करके तार स्वर तक ले जाकर मध्य स्वर पर उसे समाप्त कर देना चाहिए, यह श्लोक का अर्थ है। जब न तो दीप्त रूप क्रोधादि से और न मन्द्र रूप शोकादि से हृदय आविष्ट होता है तो क्रमशः वक्तव्य वस्तु विषयक उत्साह के विस्मारण से स्वर को तार तक ले जाकर उपसंहार के समय विश्राम लेता है। यही सामान्यतः अनवशिष्ट पाठ का धर्म है। अत एव शान्त में व्यभिचारी भावों के आवेश से शून्य अवस्था में यही पाठ धर्म है। वैतालीय पाठ में भी यही सामान्य धर्म है। उस विषय में स्वर काकु नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि जब उसमें काकु स्वर नहीं होता तो उसका विषय क्या है? इस पर कहते हैं कि कभी धर्मपुञ्ज के वाच्य अर्थ का धर्मान्तर में आधान काकु कहा जाता है। कभी स्वर जनक चित्तवृत्तियों का अर्पण करता है, जहाँ रस जनक स्वर काकु का व्यवहार होता है और कभी नादात्मक स्वात्मभूत पद एवं वाक्यरूप ग्रन्थियों वाली वर्णराशि का दूर से श्रवण होता है अथवा किञ्चित् श्रवण होता है। अथवा कुछ भी नहीं होता, इसी अर्थ में काकु व्यापृत है। वहाँ भी स्वर काकु होता है। इस प्रकार स्व सेवा व्यापार से भिन्न तथा जड़ एवं चेतन के भेद से भिन्न तदर्थ रस और स्वर के भेद से तीन प्रकार की काकु है॥ १०७॥

[1]उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा ।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्यप्रयोगे तपोधनाः ॥ १०८ ॥

एवं स्थानभेदमुक्त्वा क्रमप्राप्तं वर्णस्वरूपमाह—उदात्तश्चेति । उच्चता नीचता मध्यमता उच्चनीचोभयडोलावलम्बनमिति चत्वारः स्वरधर्माः । वर्णा गुणा यदि वा पाठक्रियाविस्तारका विवृण्वते प्रकटयन्ति स्वार्थविशेषमिति वा । पाठ्यप्रयोगे काव्ये स्वरस्य रक्तिभागमपहाय वर्णा एव वक्तव्याः । रक्तिभागाभिनिवेश तु गानयोगो, न पाठ्यप्रयोगः स्यादित्यवादिषुः । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां रक्तिभागेऽनुदात्तादिवर्णभागः कादिवर्णभागः । तस्य स्फुटत्वास्फुटत्वमित्याह—यो धर्मस्तन्त्र्यामनुरणनप्रधानायामरक्तकण्ठे गातरि यथाकथंचिद्वतं प्रवृत्ते हुडुक्कामुरजादौ च पृथग्लक्ष्यत एव । एवं प्रधानतया धर्मान्तराणि मग्नत्वेन तत्रापि सत्येव अत एवाह तपोधनाः सूक्ष्मवेदिनो यूयमत्राधिकृता विचार इत्याशयः ।

३. वर्ण

इस प्रकार स्थान-भेद क्रम से प्राप्त वर्णों के स्वरूप को कहते हैं—

अनुवाद—हे तपोधनों ! पाठ्य के प्रयोग में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित ये चार वर्ण होते हैं ॥ १०८ ॥

अभिनव—उच्चता, नोचता, मध्यमता और उच्च-नीच रूप दोनों के अवलम्बन रूप ये चार स्वरों के धर्म है । इस प्रकार पाठविशेष की क्रिया का विस्तार करने वाले वर्ण गुण है अथवा स्वार्थ बिशेष को विवृत या प्रकटन करने वाले वर्ण गुण हैं ।

अभिनव—पाठ्य के उपयुक्त काव्य में स्वर के रतिभाग का परित्याग कर वर्ण ही कहना चाहिए, क्योंकि रतिभाग का अभिनिवेश करने पर तो काव्य गान के उपयोगी हो जायेगा, पाठ्य के उपयोगी नहीं होगा । यह कहा जा चुका है । वहाँ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह सिद्ध किया है कि रतिभाग में कादि वर्ण रूप अनुदात्तादि वर्ण भाग का उपयोग होता है । उसकी स्फुटता और अस्फुटता को कहते हैं । जो धर्म अनुरणन प्रधान तन्त्री में अरक्त कण्ठ वाले गायक के जिस किसो प्रकार गान में प्रवृत्त होने पर हुडुक्का, मुरज आदि में पृथक् लक्षित होता है । इस प्रकार प्रधान रूप से अन्य धर्म वहाँ मग्न होकर प्रतीत होने वाले धर्म अस्फुट हैं । अत एव यहाँ 'तपोधनाः' सम्बोधन कहने का तात्पर्य है कि आप सूक्ष्मवेदी हैं और इस विषय के विचार में अधिकारी हैं ।

१. ब. उदात्ता ।

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वर्णैः पाठ्यमुपपाद्यं, वीर-रौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुण[1]वीभत्सभयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितै-रिति[2]।

एषां वर्णानां विषयमाह—हास्यशृङ्गारयोरित्यादिना । मध्यपञ्चमावित्यादौ प्रकरणे यथासंख्यं न विवक्षितमित्येवं हास्ये मध्यमायाः पञ्चम्या वा जातेः स्थायि-स्वरत्वं गृहीत्वा तत्रैवोच्चमध्यमस्थानस्पर्शेन पठेत् । एवं शृङ्गारवीरादिषु त्रिषु षाड्ज्या आर्षभ्या वा स्वांशं गृहीत्वा तत्रैवोदात्तकम्पितैः पाठः, करुणे निषादवत्या गान्धार्या वा स्थायिनमालम्ब्यानुदात्तेन पाठः, वीभत्से धैवत्यंशस्वराश्रयेण स्वरित-कृतः पाठः । भयानके तत्स्वरावलम्बनेनैव धैवतांशकम्पितप्रधानः पाठः—इत्येवं भविष्यत् (अ-२९) जातिविनियोगानुसारिस्वरानुवादेन वर्णेषूदात्तादिषु तात्पर्यं, न तु स्वरेषु । तेषां तु पृथगुद्देशप्रयोजनं षष्ठे दर्शितमन्तरालापपरिग्रहमिति ।

अब उन वर्णों के विषय में कहते हैं—हास्यशृङ्गारयोरित्यादि ।

अनुवाद – उनमें शृङ्गार तथा हास्य रस में स्वरित और उदात्त स्वरों से, वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में उदात्त एवं कम्पित स्वरों से तथा करुण, बीभत्स और भयानक रसों में अनुदात्त, स्वरित और कम्पित स्वरों से पाठ्य करना चाहिये ।

अभिनव—'हास्य और शृङ्गार में मध्यम और पञ्चम स्वरों को रखना चाहिए' इत्यादि प्रकरण में जिस क्रम में पाठ है उस क्रम से योजना विवक्षित नहीं है । अतः हास्य में मध्यमा अथवा पञ्चमी जाति के स्थायी स्वरों को ग्रहण कर उसी अवसर पर उच्च मध्यम स्थान का स्पर्श करके पाठ करें । इसी प्रकार शृङ्गार वीर और हास्य इन तीनों रसों में षड्ज्या अथवा आर्षभी के अंश को लेकर उसी में उदात्त और कम्पित स्वरों से पाठ करना चाहिए । इसी प्रकार करुण रस में निषादवती अथवा गान्धारी के स्थायी स्वर का अवलम्बन करके अनुदात्त स्वर से पाठ करें, बीभत्स रस में धैवती के अंश स्वर का आश्रय लेकर स्वरित वर्ण से पाठ करें और भयानक रस में उसी धैवती के अंश स्वर का आश्रय कम्पित स्वरों से पाठ करना चाहिए । इस प्रकार आगे को जातियों के विनियोग के अनुसारी स्वरों के अनुवाद के द्वारा उदात्तादि वर्णों में तात्पर्य है, न कि स्वरों में । उन स्वरों का उद्देश प्रयोजन षष्ठ अध्याय में अलग दिया गया है—अन्तरालप-ग्रहणमिति ॥

१. ख. ग. वात्सल्य ।

२. ख. ग. कम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति ।

द्विविधा काकुः साकांक्षा निराकांक्षा चेति वाक्यस्य साकांक्ष-निराकांक्षत्वात् ।। १०९ ।।

अनियुक्तार्थकं वाक्यं [1]साकांक्षमिति संज्ञितम् ।
नियुक्तार्थं तु यद्वाक्यं निराकांक्षं तदुच्यते ।। ११० ।।

एवं काकोः स्वरूपोत्पत्ति प्रतिपाद्य तस्या अर्थविषये व्यापारं दर्शयन्नुद्देश-क्रममप्यनुसर्तुमाह—द्विविधा काकुरिति ।

वाक्यस्येति—साकांक्षं यत्र वाक्यं तत्र साकांक्षा काकुः, तथा वक्तृगता चाकांक्षा वाक्य उपचर्यते । सा च प्रकरणादिबलान्निश्चीयते । विशिष्टविषयत्वं चाकांक्षायास्तत एवागम्यते । तदाह—अनियुक्तार्थकं वाक्यमिति ।

यादृशो वाक्यात्सङ्केतबलेनार्थः प्रतीयते तादृश एव यत्र न्यूनाधिकः प्रमाण-बलेन निर्णययोग्यस्तद्वाक्यं निराकांक्षं तद्विपरीतं साकाङ्क्षम् ॥ ११० ॥

---

४. काकु

अभिनव—इस प्रकार काकु के स्वरूप और उत्पत्ति का प्रतिपादन करके अब उसके अर्थ के विषय में व्यापार दिखलाते हुए उद्देश क्रम का अनुसरण करने के लिये कहते हैं—

अनुवाद—वाक्य के साकाङ्क्ष और निराकाङ्क्ष रूप होने से काकु दो प्रकार की होती है—साकाङ्क्षा और निराकाङ्क्षा ।

अनुवाद—जहाँ पर वाक्य साकाङ्क्ष होता है वहाँ साकाङ्क्षा काकु होती है, और वक्तृगत आकाङ्क्षा का वाक्य में उपचार रहता है, उस आकाङ्क्षा का प्रकरणादि के बल से निश्चय होता है और आकाङ्क्षा की विशिष्ट विषयता को अवगम प्रकरण के बल से होता है। इसी बात को हम कारिका के द्वारा कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर पूर्णरूप से अर्थ प्रकट नहीं होता अर्थात् जहाँ संकेत के बल से अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ साकाङ्क्ष काकु होती है। और पूर्णरूप से अर्थ प्रकट करने वाला वाक्य 'निराकांक्ष' कहलाता है ॥ १११ ॥

अभिनव—जिस प्रकार के वाक्य से संकेत बल के आधार पर अर्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार का वाक्य जहाँ पर न्यून या अधिक रूप से प्रमाण के बल से निर्णय के योग्य है, वह वाक्य निराकाङ्क्ष है और उसके विपरीत अर्थवाला वाक्य साकाङ्क्ष है ॥ १११ ॥

---

१. ख. साकाङ्क्षकमिति ।

[1]तत्र साकांक्षं नाम ताराविमन्द्रान्तमनियुक्तार्थमनिर्यातितवर्णालङ्कारं कण्ठोरस्थानगतम्। [2]निराकांक्षं नाम नियुक्तार्थं निर्यातितवर्णालङ्कारं शिरःस्थानगतं मन्द्रादितारान्तमिति ॥ १११ ॥

एवं वाक्यस्य स्वरूपं प्रतिपाद्य तन्निष्ठां काकुमभिधातुमाह—तत्र साकाङ्क्षमित्यादि।

अनियुक्तार्थं यत्साकांक्षमुक्तं तन्मन्द्रोपक्रमं तारसमाप्तिकं पठनीयमिति। सर्वाणि क्रियाविशेषणानि कियन्ति यत्र तारतेत्याह कण्ठोरःस्थानगतानीति। तथा वर्णा उदात्तादयोऽलङ्काराश्चोच्चनीचदीप्तादयो परिसमाप्ता अर्धस्पृष्टयैव त्यक्ता यत्रेति क्रियाविशेषम्। एवंभूतो यः क्रियाविशेषणत्वेन वाक्ये पाठ्यमाने ध्वनिधर्मविशेषः सा काकुः। यदि वा सामाधिकरण्येनैव व्याख्येयम्। धर्मो हि न स्वतन्त्रो भाति अपि तु धर्मिनिष्ठ एवेति, तत्राकांक्षा अर्थान्तर एवातदर्थगत एव विशेषे तदर्थाभावे। तथा च—यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजक्रोधनः।

इस प्रकार वाक्य के स्वरूप का प्रतिपादन करके अब वाक्यनिष्ठ काकु का अभिधान करते हैं—

अनुवाद—उनमें साकाङ्क्ष काकु तार स्वर से लेकर मन्द्र स्वर पर समाप्त हो जाता है और अनियुक्तार्थक वाक्य जिसमें वर्ण और अलङ्कार अनिर्यातित है वह कण्ठ एवं उरःस्थानगत होता है और निराकाङ्क्ष काकु नियुक्तार्थक एवं निर्यातित वर्णालङ्कार से युक्त शिरःस्थानगत मन्द्रादि से प्रारम्भ कर मन्द्रान्त पर्यन्त होते हैं।

अभिनव—जिस अनियुक्तार्थक वाक्य को साकाङ्क्ष कहा गया है उसे मन्द्रादि स्वर से प्रारम्भ करके तार स्वर से समाप्ति करते हुए पढ़ना चाहिए। यहाँ समस्त क्रिया विशेषण कितने हैं जिन पर तारता है, इस पर कहते है कि कण्ठ और उरस् स्थान में है। उदात्तादि वर्ण और उच्च, नोच, दीप्त अलङ्कार जहाँ अपरिसमाप्ति दशा में अर्ध स्पष्ट रूप में छोड़ दिये जाते हैं वे क्रिया विशेषण हैं। इस क्रिया-विशेषण के रूप में पाठ्यमान वाक्य में ध्वनिगत जो धर्म-विशेष है, वह 'काकु' है। अथवा ध्वनिरूप है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य से हो व्याख्येय है। धर्म स्वतन्त्र नहीं होता, अपितु धर्मि में ही रहता है, वहाँ आकांक्षा अर्थान्तर अर्थात् तदर्थगत होती है अन्यथा अतदर्थगत होतो है अथवा विशेष अर्थ में अथवा विशेष अर्थ में न रहने पर भी होती है। जैसे—

"जो राम ने किया था, वही क्रोधी द्रोण पुत्र अश्वथामा करता है।"

१. ग. अत्र साकाङ्क्षं मन्द्रादितारान्तम्। क-भ. तत्र साकांक्षा नाम वाच्यम्।

२. क. (द्वि०) निराकांक्षा नाम नियुक्तार्थं।

अत्र काकुः। कृतमित्युदात्तकम्पितवर्णस्योच्चदीप्तालङ्कारस्य चासमाप्त्या अतोऽप्यधिकं कुरुत इति काकुप्रभावादर्थान्तरे गतिः। 'स एष दशकन्धरमिति'[1] श्लोके 'तदात्मज इहाङ्गद' इत्यत्र साकांक्षा काकुः स्वगतान् वालिपुत्रोचितान्वि-शेषानर्पयति। 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यत्र साकांक्षा काकुर्भावनारूपं स्वभावमाह, वचनोच्चारणं स्वर्ये संभावनां विदधतावश्यं निषेधात्मनो विषयमर्पयति। तदियमर्थाभिप्रायसमर्पकाभिनयरूपार्थंकाकुः साकांक्षा। एतद्विपरीता निराकांक्षा, तस्याः शिरःस्थान एव मन्द्रत्वं तारताप्रतिस्थानं, ह्युत्तरोत्तरतारत्वमधराधरमन्द्रत्वं च वक्ष्यामः।

यहाँ काकु है। 'कृतम्' यह उदात्त और कम्पित वर्णों की उच्च और दीप्त अलङ्कारों की परिसमाप्ति नहीं है। अतः राम से भी अधिक द्रोणपुत्र करता है, इस प्रकार काकु के प्रभाव से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है।

'स एव दशकन्धरं कृतवतोऽपि कक्षान्तरे
गतः स्फुटमबन्ध्यतामधिपयोधि सान्ध्यो विधिः।
तदात्मज इहाङ्गदः प्रहित एष सौमित्रिणा
क्व स क्व स दशाननो ननु निवेद्यतां राक्षसाः॥

इस श्लोक में 'वालि के पुत्र अङ्गद को' इस अंश में साकांक्ष काकु है जो स्वगत वालिपुत्र के उचित विशेषताओं का अर्पण करती है। इसी प्रकार—

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः'

अर्थात् मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हों, यह कैसे हो सकता है। यहाँ साकाङ्क्ष काकु है। जो भावना रूप अपने भाव को कहती है। यहाँ पर वाक्य का कथन अर्थ के विषय में सम्भावना करते हुए अवश्य ही निषेधरूप विषय का अर्पण करता है। इस प्रकार यह अर्थ के अभिप्राय का समर्पक अभिनय रूप साकांक्ष अर्थ काकु है। इसके विपरीत निराकाङ्क्ष काकु है। उसके शिरः स्थान में तारता का प्रतिष्ठापक मन्द्रत्व है। इसमें उत्तरोत्तर तारता और अपराधर मन्द्रता है, यह आगे कहेंगे।

---

१. स एव दशकन्धरं कृतवन्तोऽपि कक्षान्तरेऽगतःस्फुटमबन्ध्यतामधयोधिसान्ध्यो विधिः।
तदात्मज अङ्गदः प्रहित एव सौमित्रिणा।
क्व स क्व स दशाननो ननु निवेद्यतां राक्षसः।

[1]अथ षडलङ्कारा नाम—

उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुतविलम्बितौ[2] ।
पाठ्यस्यैते ह्यलङ्कारा लक्षणं च निबोधत ॥ ११२ ॥

उच्चो नाम शिरःस्थानगतस्तारस्वरः[3] । स च दूरस्थाभाषण-विस्मयोत्तरोत्तरसंजल्पदूराह्वानत्रासनाबाधाद्येषु[4] ।

अलं पर्याप्तं काकोः स्वरूपं येन संपाद्यते सोऽलङ्कारः । तत्स्वरूपं च स्थान-त्रयस्य प्रत्येकमूर्ध्वाधोमध्यकल्पनया उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितनिर्वाहात् । तत्र मध्यो भागस्तावदनावेशे सर्वत्र स्थित एव । इत्यावेशेनोर्ध्वमधरं वा स्थानत्रयस्य प्रत्येकमवलम्ब्यत इति षडलङ्कारा भवन्ति ॥ ११२ ॥

५. अलङ्कार

अनुवाद—अब छः अलङ्कारों के नाम कहते हैं—

उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित ये छः पाठ्य के अलङ्कार हैं । अब इनके लक्षणों को समझिये ॥ ११३ ॥

अभिनव—जो पर्याप्त रूप में काकु के स्वरूप का सम्पादन करता है, वह अलङ्कार है । उन तीनों स्थानों में प्रत्येक की ऊर्ध्व, अधः एवं मध्य की कल्पना के द्वारा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित स्वरों के निर्वाह से उसका स्वरूप निष्पन्न होता है । उनमें मध्य भाग आवेश के अभाव में सभी स्थानों में विद्यमान है । किन्तु आवेश के द्वारा ऊर्ध्व भाग अथवा अधो भाग तीनों स्थानों में प्रत्येक का अवलम्बन करने से छः अलङ्कार बनते हैं ॥ ११३ ॥

१. उच्च

अनुवाद—शिरः स्थानगत तारस्वर उच्च कहलाता है । वह दूरस्थ पुरुषों से सम्भाषण, विस्मय, उत्तर-प्रत्युत्तर के संजल्प, दूर से आह्वान, त्रासन तथा बाधा आदि में उसका उपयोग किया जाता है ।

१. क. (ट०) अथालङ्काराः । ख. अथ षडलंकारा ।
२. क. (टि०) नीचद्रुतविलम्बिताः ।
३. ग. तारः स्वरः ।
४. क. भ. बाधाक्रुष्टकलहाभिवादेषु भावेषु ।

दीप्तो नाम शिरःस्थानगतस्तारतरः, स [1]चाक्षेपकलहविवादामर्ष[2]-क्रुष्टाकर्षणक्रोधशौर्यदर्पतीक्ष्णरूक्षाभिधाननिर्भर्त्सनाक्रन्दितादिषु[3] ।

मन्द्रो नाम [4]उरःस्थानगतो निर्वेदग्लानि[5]चिन्तौत्सुक्यदैन्य-व्याधिक्रीडागाढशस्त्रक्षतमूर्छामदगुह्यार्थवचनादिषु ।

नीचो नाम उरःस्थानगतो[6] मन्द्रतरः, स च स्वभावा-भाषण[7]व्याधिश्रमश्रमार्तत्रस्तपतितमूर्छितादिषु ।

द्रुतो नाम [8]कण्ठगतः स च त्वरितः, [9]लल्लनमन्मनभयशीत ज्वरत्रासायस्तात्ययिककार्यावेदनादिषु ।

२. दीप्त

अनुवाद—दीप्त स्वर शिरःस्थानगत तारतर अर्थात् अधिक तार होता है, इसका उपयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्ष, क्रुष्ट, आकर्षण, क्रोध, शौर्य, दर्प तीक्ष्ण, रुक्ष, अभिधान, निर्भर्त्सन तथा आक्रन्दन आदि में होता है ।

३. मन्द्र

अनुवाद—मन्द्र स्वर उरः स्थान से उत्पन्न होता है इसका उपयोग निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, क्रीड़ा, गाढ़ शस्त्रक्षत, मूर्च्छा, मद, एवं गुह्यार्थ कथन में होता है ।

४. नीच

अनुवाद—नीच स्वर उरःस्थान गत मन्द्रतर होता है। इसकी योजना स्वाभाविक भाषण, व्याधि, श्रम, श्रमार्त, त्रस्त, पतित, मूर्च्छित आदि में की जाती है ।

५. द्रुत

अनुवाद—द्रुत नामक स्वर कण्ठस्थानगत त्वरित उच्चारित किया जाता है, इसका उपयोग बच्चों को लाड़-प्यार करने में, मनाने में, भय, शीत, ज्वर, त्रास, आयस्त, अत्ययिक कार्य तथा आवेदन आदि में किया जाता है ।

---

१. क-न. चाक्षेपवादविवाद । २. मर्षोत्कुष्टा । ३. ख. निर्भत्सनादिषु ।
४. क. (टि०) उरसि मन्द्रस्वरः । ५. ख. ग. शङ्काचिन्ता । ६. क. उरःस्थानस्थो ।
७. ख. ग. व्याधितपथिश्रान्तस्तपति ।
८. क. (टि०) कण्ठगतः । मण्डगतस्वरितोच्चगतस्वरकृतिः ।
स च स्खलितवल्गनमदवशीतज्वरार्त्तत्रस्तायस्तान्यैक कार्या वेदनादिषु ।
९. क. (टि०) स्खलितवेल्लनमदवाभयः । स्खलितलज्जितोत्खातमन्मनः ।

विलम्बितो नाम [1]कण्ठस्थानगतस्तनुमन्द्रः, स च [2]शृङ्गार-करुणवितर्कितविचाराम[3]र्षासूयिताव्यक्तार्थप्रवादलज्जाचिन्तातर्जन[4]विस्मयदोषानुकीर्तनदीर्घरोग[5]निपीडनादिषु ॥ ११४ ॥

तत्र शिरस्यधोभागे तार उच्यते दूरस्थाभाषणादौ, स विषयोऽत्र स्वरकाकोरित्युक्तम्। विस्मयावगतौ तु सैव रसकाकुः, परस्य त्रासनाभिप्रायेण तु सैव विभावकाकुः।

स्वरकाकोरेव श्रुतिकाकुश्चेति भेदेन शिरस्येव ऊर्ध्वस्तारतम आक्षेपादौ, तारशब्दः प्रकर्षोपलक्षणम्। अत्र ह्याक्षेपादौ यथावस्थं श्रुतिविभावरसकाकुभेदत्रयं विभजनीयम्।

---

६. विलम्बित

अनुवाद - विलम्बित स्वर कण्ठ स्थानगत क्षीण मन्द्र होता है। शृङ्गार, करुण, वितर्क, विचार, आमर्ष, असूया, अव्यक्तार्थ प्रवाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, विस्मय, दोष-कथन, लम्बी बीमारी, निपीड़न आदि में इसकी योजना की जाती है ॥ ११४ ॥

अभिनव—उनमें शिर के अधोभाग में दूरस्थ व्यक्ति के साथ आभाषण में 'तार' स्वर कहा जाता है। वह स्वर काकु का विषय है, यह कहा जा चुका है। विस्मय का ज्ञान होने पर वही रस काकु है और दूसरों के त्रासन करने के अभिनय में वही विभाव काकु है।

स्वर काकु से ही श्रुतिकाकु होता है जो उससे भिन्न होने से आक्षेप आदि में ऊर्ध्व अर्थात् तारतम होता है जिसका स्थान शिरस् है। यहाँ तार शब्द प्रकर्ष का उपलक्षण है। यहाँ आक्षेप आदि में अवस्थाओं के अनुसार श्रुति, विभाव एवं रस के भेद से तीन रूप में काकुओं का विभाग करना चाहिए।

---

१. ख. कण्ठस्थानगतः मन्द्रः। ग. कण्ठस्थानस्थो।
२. ख. शृङ्गारवितर्कितः। ग. शृङ्गार वितर्क।
३. क. (टि०) मर्षाश्वसित।
४. क. (डि०) विस्मित।
५. क. (डि०) दोर्घरोष।

उरस्यूर्ध्वभागे स मन्द्रः, उरस्येव नीचभागे मन्द्रतमो नीचः। दैन्ये काकुर्द्विरूपतामेति—स्वचित्तवृत्त्यर्पणाद्रसकाकुः, परस्य रूपोत्पादनाद्विभाव-काकुः। उभयस्यापि तत्र प्राधान्येनादरणात्, अन्यत्र तूभयस्यानादरणात्प्रधानांशेनैव व्यपदेशः। स्वभावाभाषणं यत्र कश्चिदावृत्तकण्ठस्वर एव वक्ता भवति, त्रासेन पतितः त्रस्तपतितः त्रासावसरे तु दीप्तैव काकुर्भवति। कण्ठगत इति कण्ठस्थाने उर्ध्वभागे निष्पन्नः तेन स्थानभेद एवालङ्कारत्वे प्रयोजकः। अत एव त्वरित इत्यनेन पुनर्लयविधानम्।

लल्लं सविलासं, लडं विलासं लातीति क्विबन्ते कर्मण्युपपदे लडयोरैक्यमिति। मम्मनमव्यक्तं अहमेव मनो मन्ता यत्रेति, अनेनाश्रूयमाणानुनासिकोपलक्षितमित्यपरे। "लल्लमन्मनौ नायिकागतौ बालविनोदनसान्त्वनादौ, मुग्धेत्येवं प्रायपराभि-योगानङ्गीकरणादौ च" इत्युपाध्यायाः। मन्द्रापि काकुश्चात्र भवतीति संग्रहश्लोके वक्ष्यते।

जो उरस् के ऊर्ध्व भाग में है वह मन्द्र स्वर है और जो उसी उरस् के अधोभाग में है। वह अत्यन्त मन्द्र (मन्द्रतम) नीच स्वर है। दैन्यावस्था में वही काकु दो रूपों को प्राप्त करती है—अपनी चित्तवृत्ति के अर्पण करने से रसकाकु तथा दूसरे के रूप में उत्पादन करने पर विभाव काकु होती है। प्रधान रूप से यहाँ दोनों का आदर अन्यत्र (अन्य स्थानों पर) इन दोनों का आदर न किये जाने से प्रधान के अंश से व्यपदेश होता है। जहाँ पर आवृत्त कण्ठ स्वर वाला (संवृत स्वर से युक्त कण्ठ वाला) वक्ता होता है वहाँ स्वाभाविक आभाषण होता है। 'त्रस्तपतित' का अर्थ है भय से गिरा हुआ। त्रास के समय दीप्त काकु होती है। कण्ठगत का अभिप्राय है कण्ठभाग में ऊर्ध्व स्थान में निष्पन्न। इस सिद्ध है कि स्थान भेद ही अलङ्कारता का प्रयोजक है। अत एव 'त्वरित' इस पद के द्वारा पुनः 'लय' का विधान है।

लल्ल का अर्थ विलास से युक्त है। 'लड़ विलासं लाति' इस अर्थ में क्विबन्त कर्म के उपपद होने पर लल्ल शब्द बनता है। ल और ड का ऐक्य है। 'मन्मन' का अर्थ अव्यक्त है, मैं ही जहाँ मानता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि यह अश्रूयमाण से उपलक्षित है। हमारे उपाध्याय जो कहते हैं कि "लल्ल और मन्मन शब्द नायिका गत बालकों के मनोविनोद एवं सान्त्वना देने आदि के उपयोगी हैं। यहाँ काकु मन्द्रा भी होती है। यह संग्रह श्लोक में कहेंगे।

[1]अत्रानुवंश्या श्लोका भवन्ति—

[2]उत्तरोत्तरसंजल्पपरुषाक्षेपणेषु च ।
तीक्ष्णरुक्षाभिनये आवेगे[3] क्रन्दिते तथा ॥ ११५ ॥
[4]परोक्षस्य समाह्वाने तर्जने त्रासने तथा ।
दूरस्थानभाषणे चैव तथा निर्भर्त्सनेषु च ॥ ११६ ॥
[5]भावेष्वेतेषु नित्यं हि नानारससमाश्रया[6] ।
उच्चा दीप्ता द्रुता चैव काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ११७ ॥

आयस्तमावेगः । आत्ययिकं शीघ्रसंपाद्यं यत्कार्यम् । कण्ठस्थाने तु नीचभागे निष्पन्नो विलम्बितः । मन्द्रत्वमविवक्षितमेव । अव्यक्तार्थः प्रवादः—अन्तरङ्गत्त इति लोके प्रसिद्धो यत्र । परे बुध्यतां वा न बुध्यतां वेति वक्तुरभिप्रायो भवति यन्न स्वगतं न परगतमत्रेति ॥ ११४ ॥

आयस्त का अर्थ आवेग है और आत्ययिक का अर्थ शीघ्र सम्पाद्य कार्य है। कण्ठ स्थान में नीच भाग में निष्पन्न विलम्बित स्वर है। यहाँ मन्द्रत्व अविवक्षित है। अव्यक्त का अर्थ 'मन्मन' प्रवाद है। यह अन्तरङ्ग है, यह लोक में प्रसिद्ध है। दूसरे लोग समझें अथवा न समझें, वक्ता का अभिप्राय यहाँ न स्वगत है न परगत ॥ ११४ ॥

इस विषय में कुछ आनुवंश्य श्लोक है—

अनुवाद—उत्तरोत्तर कथोपकथन में, परुष अर्थात् कठोर वचनों के आरोप-प्रत्यारोप में, रूखे एवं तीखे (तीक्ष्ण) विषयों के अभिनय में, आवेग में, क्रन्दन में, परोक्ष व्यक्ति के बुलाने में, तर्जन, में त्रासन (डराने) में, दूरस्थ व्यक्ति के साथ संभाषण में इन भावों को प्रकट करने के लिए नाट्य-प्रयोक्ताओं के नाना रसों के आश्रित उच्च, दीप्त एवं द्रुत काकु का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११५-११७ ॥

---

१. क-भ. अत्र श्लोकाः ।
२. ख. ग. उत्तरोत्तरसंजल्पे परुषाक्षेपणे तथा ।
३. क-भ. तथाक्रन्दे च नित्यशः । क-न शीते चाक्रन्दिते तथा ।
४. क-भ. परोक्षह्वयने चैव तर्जनत्रासनेषु च ।
५. क-भ. एषु नानारसोपेता नित्यमर्थप्रदर्शिका ।
६. ख. समाश्रयात् ।

व्याधिते च ज्वरार्ते च भयार्ते शीतविप्लुते[1] ।
नियमस्थे वितर्के च गाढ़शस्त्रक्षतेषु च ॥ ११८ ॥

[2]गुह्यार्थवचने चैव चिन्तायां तपसि स्थिते ।
[3]मन्द्रा नीचा च कर्तव्या काकुर्नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ११९ ॥

[4]लल्ले च मम्मने चैव भयार्ते शीतविप्लुते ।
मन्द्रा द्रुता च कर्तव्या काकुर्नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ १२० ॥

[5]दृष्टनष्टानुसरणे इष्टानिष्टश्रुते तथा ।
[6]इष्टार्थख्यापने चैव [7]चिन्ताध्याने तथैव च ॥ १२१ ॥

उन्मादेऽसूयिते चैव उपालम्भे तथैव हि ।
[8]अव्यक्तार्थप्रवादे च कथायोगे तथैव च ॥ १२२ ॥

अनुवाद—व्याधि से युक्त, ज्वर से पीड़ित, भयार्त्त, शीत से त्रस्त, नियमस्थ वितर्क, शस्त्र के द्वारा किये गये गाढ़ (गहरा) क्षत (घाव), गुह्यार्थ-कथन, चिन्ता, एवं तपस्या की स्थिति में नाट्य-प्रयोक्ताओं को मन्द्रा एवं नीच काकु का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११८-११९॥

अनुवाद—लल्ल अर्थात् बाल-विनोद में, मनाने, भयार्त्त तथा शीत से पीड़ित दशा में नाट्य-प्रयोक्ताओं को मन्द्रा एवं द्रुता काकु का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२० ॥

---

१. ख. चित्तविप्लुते ।
२. क. (टि०) गूढार्थवचने ।
३. क. मन्द्रा । ख. विलम्बिता चैव ।
४. क. (टि०) मल्लि च मवने ।
५. ख. ग. दृष्टनष्टानुसारेण इष्टानिष्टश्रुतौ तथा ।
६. क. (च) दृष्टार्थं ।
७. ख. चिन्तयाने । ग. चिन्ताग्रस्ते ।
८. ख. ग. अव्यक्तार्थे प्रदाने च । तथा लोके ।

उत्तरोत्तरसंजल्पे कार्येऽतिशयसंयुते ।
[1]विकृते व्याधिते क्रोधे दुःखे [2]शोके तथैव च ॥ १२३ ॥

[3]विस्मयामर्षयोश्चैव [4]प्रहर्षे परिदेविते ।
विलम्बिता च दीप्ता च काकुर्मन्द्रा[5] च वै भवेत् ॥ १२४ ॥

[6]लघ्वक्षरप्रायकृते गुर्वक्षरकृते तथा ।
उच्चा दीप्ता च कर्तव्या काकुस्तत्र प्रयोक्तृभिः ॥ १२५ ॥

यानि सौम्यार्थयुक्तानि [7]सुखभावकृतानि च ।
मन्द्रा विलम्बिता चैव तत्र काकुर्विधीयते ॥ १२६ ॥

अलङ्कारेषूच्चा दीप्ता द्रुता चेति यथायोगं स्थानत्रयमत्र स्वीकृतमित्यर्थः ॥ १२५ ॥

अनुवाद—दृष्ट-नष्ट के अनुसरण में, इष्ट और अनिष्ट के श्रवण में, इष्ट वस्तु के स्थापन में, चिन्ता पूर्वक ध्यान में, उन्माद और असूया में, उपालम्भ में अव्यक्त अर्थ के प्रवाद में, कथा के योग में, उत्तरोत्तर सम्भाषण में, अतिशय युक्त कार्य में, विकृत एवं व्याधिग्रस्त अवस्था में, क्रोध, दुःख एवं शोक में, विस्मय और आमर्ष में, प्रहर्ष में, तथा परिदेवन में विलम्बिता, दीप्ता और मन्द्रा काकु का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२१-१२४ ॥

अनुवाद—जहाँ प्रायः लघु अक्षर और गुरु अक्षर हों, वहाँ नाट्य-प्रयोक्ताओं को उच्च और दीप्त काकु का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२५ ॥

अभिनव—अलङ्कारों में उच्चा, दीप्ता और द्रुता काकु होती है, जिसके लिए योग्यतानुसार तीनों स्थानों को स्वीकृत किया गया है ॥ १२५ ॥

अनुवाद—जो सौम्य अर्थ से युक्त तथा सुखकृत भावों के हेतु एवं कार्य है, वहाँ मन्द्रा और विलम्बिता काकु होती है ॥ १२६ ॥

---

१. ख. ग. विक्षते व्याधिते त्वङ्गे ।
२. ख. ग. दुःखशोके तथैव च ।
३. क-भ. अमर्षे विस्मये चैव ।
४. ख. ग. हर्षे च । ५. ख. मन्द्रा ।
६. अयं श्लोको ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
७. ख. सुखभावकृतानि च । क-भ. सुखनादकृतानि वै ।

यानि स्युस्तीक्ष्णरूक्षाणि दीप्ता [1]चोच्चा च तेष्वपि ।
एवं नानाश्रयोपेतं पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १२७ ॥
हास्यश्रृङ्गारकरुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता ।
वीररौद्राद्‌भुतेषूच्चा दीप्ता वापि[2] प्रशस्यते ॥ १२८ ॥
भयानके सबीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता ।
एवं भावरसोपेता काकुः[3] कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ १२९ ॥

अथ सर्वसंग्रहार्थमाह—यानि सौम्यार्थयुक्तानीति । सोम इव ह्लादकः सौम्यः, शाखादित्वाद्यः । सुखस्य हेतवः कार्यश्चेति सुखभावकृतशब्देन सुखस्य भावैः हेतुभिः कृतो जन्यः । स येषु तानीति समासभेदात्संगृहीतम् ॥ १२६ ॥

नानाश्रयोपेतमिति नानास्थाननिविष्टं कृत्वेत्यर्थः, स्थानभेदः काकूनां पर्याप्तताकारीत्युक्तम् ॥ १२८-१२९ ॥

अभिनव—सर्व संग्रह के लिए कहते हैं कि जो सौम्य अर्थ से युक्त है । यहाँ 'सौम्य' का अर्थ सोम को तरह आह्लादक है, यहाँ 'शाखादिभ्यो यत्' से यत् प्रत्यय हो गया है । यहाँ सुख के हेतु और कार्य दोनों का सुखभावकृत शब्द से समास भेद से संग्रह हो गया है ॥ १२६ ॥

अनुवाद—जो तीक्ष्ण एवं रुक्ष भाव है, वहाँ उच्च एवं दीप्त काकु का विधान होता है । इस प्रकार नाट्य-प्रयोक्ताओं को नाना आशयों से युक्त पाठ्य की योजना करनी चाहिये ॥ १२७ ॥

अभिनव—'नानाश्रयोपेतम्' अर्थात् नाना आश्रयों से युक्त का नाना स्थानों में निवेश करके पाठ्य का विधान करना चाहिए । आश्रयों या स्थानों का भेद काकुओं को पर्याप्त कर देने में कारण है ॥ १२७ ॥

अनुवाद—श्रृङ्गार, हास्य और करुण रसों में विलम्बिता काकु इष्ट है । वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों में उच्चा और दीप्ता काकु प्रशस्त है । वीभत्स के साथ भयानक रस में नीच और द्रुत काकु स्वर कहा गया है । इस प्रकार नाट्य प्रयोक्ताओं को नाना भाव एवं रसों से युक्त काकु का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२८-१२९ ॥

---

१. क (टि०) दीप्तमुच्चं च । दीप्तमुच्चैश्च ।
२. क. (टि०) चापि चैव । ३. ख. काकुर्योज्या ।

[1]अथाङ्गानि षट्—विच्छेदोऽर्पणविसर्गोऽनुबन्धो दीपनं [2]प्रशमनमिति। तत्र विच्छेदो नाम विरामकृतः। अर्पणं नाम [3]लीलायमानमधुरवल्गुना स्वरेण पूरयतेव [4]रङ्गं यत्पठ्यते तदर्पणम्। विसर्गो नाम वाक्यन्यासः[5]। अनुबन्धो नाम [6]पदान्तरेष्वपि विच्छेदः, अनुच्छ्वसनं वा। दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरं चेति। प्रशमनं नाम तारगतानां [7]स्वराणां प्रशाम्यतामवैस्वर्येणावतारणमिति[8]।

अतः काकोरेव प्राधान्यात्तामेवोपसंहरति। अथाङ्गानीत्यादिना।

अतः काकु को ही प्रधानता होने के कारण अब उसका उपसंहार करते हैं—

६. अङ्ग

अनुवाद—अङ्ग छः होते हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन। इनमें विच्छेद विराम के लिये होने वाला अङ्ग है। लीला से पूर्ण मधुर एवं मनोहर स्वरों से रङ्गभूमि को पूरण करते हुये जो पाठ किया जाता है वह 'अर्पण' है। वाक्य का विन्यास 'विसर्ग' है। पदान्तर अर्थात् पदों के मध्य में विच्छेद अथवा उच्छ्वसन न होना 'अनुबन्ध' है। तीनों स्थानों में शोभायमान वर्धमान स्वर 'दीपन' कहलाता है। तारगत अर्थात् तार में उच्च ध्वनि में पहुँचकर प्रशान्त अवस्था में आये हुये स्वरों का बिना विस्तर के उतार देना 'प्रशमन' है।

१. क-न. अथ षडङ्गानि। ख. अथाङ्गानि।
२. ख. प्रशमनमिति षड्गानि।
३. ख. ख. लीलावर्णस्वरेणापूरयादिव।
क-न. लीलायमानमधुरवर्णस्वरेणापूरयदिव।
क. (टि०) लीलायमासानुवर्णेन स्वरेण।
४. क. (टि०) रसं।
५. क-न. वाक्यस्योपन्यासः। क. (टि०) वाक्योपन्यासः।
६. ख. पादान्तरेष्वविच्छेदानुच्छासनं वा।
क-भ. पदस्य विच्छेदमन्तरेणानुच्छासनं।
७. क. (टि०) स्वराणामेकस्वर्येण।
८. ख. स्वरेणावतरणमिति।

प्रस्तावान्तरं दर्शयति—तत्र वर्णोच्चारणे वर्णध्वनिशून्यो यः कालस्तदाश्रयोऽङ्गव्यवहार इति वृद्धाः, स हि षोढा कालः "ततश्च भूयान् पुनरादिमध्यौ" भूयान् पुनरित्ययं हि विच्छेदः। आदौ मध्यः स्वल्पो मध्यान्ते चार्पणं वाक्ये पूर्वं भूयान्मध्ये द्रुतश्च विपरीतको यः स विसर्गः। बहुषु द्रुतोऽथ मध्यो मनाग् द्रुतोऽन्तेऽनुबन्धः स्यात्। त्रिस्थाने द्रुतमध्यविलम्बितयुग्दोपनं सदारोहि विपरीतं प्रशमनं स्यात्, लयत्रयं चैकरूपनिर्वाहादिति संग्रहकारः।

एतन्मतेनैव लक्षणानि व्याचक्षते। एतच्चासत्। द्रुतमध्याविलयैरेवास्यार्थस्य न तत्त्वान्न च लयव्यवहारसाम्ये कालस्येति नियमकारणमस्ति। किं च लयवैषम्यस्य वाक्यचैतन्यापेक्षया च भागत्रयकल्पनयैव भेदा उक्ताः, भुजङ्गविजृम्भितादिवाक्येऽनन्तभागसंभावनात्। भागत्रये च द्रुतमध्यविलम्बितानां द्विभेदत्रिभेदत्वानन्त्ये षट्संख्यानियमविप्लवः। "क्वाकार्यं" इति हि श्लोकप्रथमखण्डेषु मध्यमलयो भूयोऽपि

अभिनव—अब दूसरे प्रस्ताव को दिखाते हैं कि वहाँ वर्णों के उच्चारण में वर्ण ध्वनि से शून्य जो काल में उसका आश्रय अङ्ग है, ऐसा वृद्धों का व्यवहार है, वह काल छः प्रकार का होता है। "ततश्च भूयान् पुनरादिमध्यौ" यहाँ 'भूयान् पुनः' यह विच्छेद है। आदि में वर्ण मध्य है और मध्य के बाद अन्त में पुनः उनका अर्पण है, वाक्य में पहले 'भूयान्' वर्ण है, मध्य में द्रुत है, और जो विपरीत है वह 'विसर्ग' है। जहाँ बहुतों में पहिले द्रुत है, बीच में मनाक् द्रुत है। वहाँ अन्त में अनुबन्ध होना चाहिए। तोनों स्थानों में द्रुत, मध्य और विलम्बित से युक्त दीपन अर्थात् सदा आरोही स्वर होनी चाहिए और इसके विपरीत प्रशमन होना चाहिए। इस प्रकार तीनों लयों का युगपत् निर्वाह होना चाहिए। यह संग्रहकार का कथन है।

इस पर आचार्य कहते हैं कि यह ठोक नहीं है, क्योंकि द्रुत, मध्य आदि लयों से हो इस अर्थ का न तत्त्व से और न लय एवं व्यवहार के साम्य होने पर काल का अङ्गत्वेन व्यवहार होता है, इस प्रकार नियम में कारण है। और भो लय वैषम्य के वाक्य-चैतन्य की अपेक्षा से, न कि भागत्रय को कल्पना से भेद कहे गये है। क्योंकि भुजङ्गविजृम्भितादि वाक्यों में अनन्त भाग हो सकते हैं। उक्त भागत्रय मानने पर द्रुत, मध्य, विलम्बित में प्रत्येक के कभी दो भेद और कभी तीन भेद होने से अनन्त भेद हो जाने से छः संख्या के नियम में विप्लव हो जायेगा। "क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः" इस श्लोक के प्रथम खण्ड में मध्य लय अधिक दिखाई देता

एषां च रसगतः प्रयोगः—तत्र हास्यशृङ्गारयोराकांक्षायामर्पणविच्छेददीपनप्रशमनयुक्तं [1]पाठ्यं कार्यम्। दीपनप्रशमनयुक्तं करुणे। [2]विच्छेदप्रशमनदीपनानुबन्धबहुलं वीररौद्राद्भुतेषु, [3]विसर्गविच्छेदयुक्तं बीभत्सभयानकयोरिति।

दृश्यते। सेत्यादिषु पाश्चात्यखण्डेषु तत्स्मरणजनितसुखविश्रान्तिदायिषु विलम्बित इति द्विलयभेदः प्रयोगः। भागत्रयकलनायामपि साम्येन वैषम्येण चानन्तप्रकारता भवतीति कथं स्यात्। कस्मादेतत्सर्वं लयाभिधानेनैव संगृहीतम्। तस्मात्सूत्रस्थानीयपदरत्नानां पाठकाले त्वादावुक्ततद्धर्मषट्कमङ्गषट्कमुच्यते। तथा च मध्ये त्रुटितत्वमत्रुटितत्वं वा तावन्तौ विच्छेदानुबन्धौ वा, पीवरत्वमपीवरत्वं वा, इमावर्पणविसर्गौ वा, आरोहणमवरोहणं वा, एते दीपनप्रशमने। एवं भावाभावतः, उपचयोपचयतः, आरोहावरोहतश्च षड्भेदो नादः। वाक्यस्य न्यासं त्यजनमनादरणं तन्नादस्येति यावत्। वैस्वर्यं स्वरत्वेन विहितेषु अन्तरालश्रुतिविशेषेषु ध्वनिविसंवादनाद्भवतीति सर्वत्राभ्यूह्यम्।

है, और 'सा बाला वयमप्रगल्भमनसः' इस पाश्चात्य खण्ड में 'उसके स्मरण से उत्पन्न सुख में विश्रान्तिदायी' अंश में विलम्बित लय है। इस प्रकार विलय भेद है। भागत्रय को साम्य और वैषम्य के द्वारा आकलन करने पर अनन्त भेद हो जायेंगे यह कैसे होगा? क्यों नहीं इन सबका लय के कथन से ही संग्रह हो गया। इसलिए सूत्रस्थानीय पद रत्नों के पाठ-काल में आदि में कथित धर्म षट्क को अङ्गषट्क कहा जाता है। तथा मध्य में त्रुटितत्व या अत्रुटितत्व है, उतने ही जो विच्छेद और अनुबन्ध हैं, अथवा पीवरत्व और अपीवरत्व है। अथवा अर्पण एवं विसर्ग है अथवा आरोहण और अवरोहण है। वे सब दीपन और प्रशमन है। इस प्रकार भाव-अभाव, उपचय-अपचय, आरोहावरोह के कारण नाद छः प्रकार के होते हैं। वस्तुतः वाक्य का जो न्यास, त्यजन एवं अनादरण है वह नाद का ही न्यास, त्यजन और अनादरण है। स्वर के रूप में विहित अन्तराल विशिष्ट श्रुतियों में जो वैस्वर्य है वह ध्वनिगत विसम्बाद से होता है। यह सर्वत्र समझने चाहिए।

---

१. ख. वाक्यं।

२. ख. ग. करुणवीराद्भुतेषु समाकाङ्क्षाविच्छेदप्रशमनार्पणदीपनानुबन्धनबहुलं पाठ्यं प्रयोज्यम्। क-न. वीररौद्राद्भुतेषु सत्त्वाकांक्षयाविच्छेदोच्छेदन।

३. ख. ग. बीभत्सभयानकयोर्विसर्गविच्छेदाकांक्षणप्रायमिति।

सर्वेषामप्येषां [1]मन्द्रमध्यतारकृतः । प्रयोगस्त्रिस्थानगतः । तत्र दूरस्थाभाषणे तारं शिरसा, नातिदूरे मध्यं कण्ठेन, पार्श्वतो मन्द्रमुरसा प्रयोजयेत्पाठ्यमिति [2]मन्द्रात्तारं न गच्छेत्, ताराद्वा मन्द्रमिति ॥ १३० ॥

हास्यादयः शब्दास्तद्व्यभिचारिणोऽपि स्वीकुर्वते । ततश्च तद्व्यभिचारिणोऽन्यरसान्, रसान्तरेऽपि तदा व्यभिचार्याश्रये वा काकुरिति मन्तव्यम् ।

सर्वेषामित्यादिनाङ्गानां मूलभूतं स्थानभेदं स्मारयति । तत्र दूरस्थ इत्यादिना विनियोगवाक्यानां लक्ष्ये एकवाक्यतां सूचयति ।

अनुवाद—इसका रसगत प्रयोग होता है—उनमें शृङ्गार और हास्य रस में आकाङ्क्षा में अर्पण विच्छेद, दीपन, एवं प्रशमन से पाठ्य करना चाहिये । करुण रस में दीपन एवं प्रशमन से युक्त तथा वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में विच्छेद प्रशमन, दीपन और अनुबन्ध बहुल पाठ्य करना चाहिये । बीभत्स और भयानक रस में विसर्ग और विच्छेद युक्त पाठ्य होना चाहिये ।

अभिनव—हास्यादि शब्दों से रस और उनके व्यभिचारी भावों का ग्रहण होता है उससे भी उनके व्यभिचारी भावों तथा अन्य रसों को तथा रसान्तर में भी अथवा व्यभिचारिभावों के आश्रय में काकु होता है, ऐसा मानना चाहिये ।

अनुवाद—इन सभी अङ्गों का मन्द्र, मध्य और तार इन तीन स्थानों में प्रयोग होता है । उनमें किसी दूरस्थ व्यक्ति के साथ आभाषण में शिर से उद्भूत तार स्वर का, अत्यन्त दूर न होने पर कण्ठ से उद्भूत मध्य स्वर का और पार्श्व अर्थात् बगल के व्यक्ति के साथ उरस् से उद्भूत मन्द्र स्वर से पाठ्य करना चाहिये । मन्द्र से तार स्वर अथवा तार से मन्द्र स्वर पर नहीं जाना चाहिये ॥ १३० ॥

अभिनव—'सर्वेषाम्' इत्यादि के द्वारा अङ्गों के मूलभूत स्थान भेद को दिखाते हैं । 'तत्र दूरस्थ' इत्यादि के द्वारा विनियोग वाक्यों के लक्ष्य में एकरूपता की सूचना देते हैं ।

---

१. ख. ग. मन्द्रमध्यतारव्यवस्थायामित्यानगतः प्रयोगः ।
२. ख. मन्द्रात्तारं गच्छेत्ताराद्वा मन्द्रमिति । ग. मन्द्रात्तारं गच्छेद् ।

एषां च द्रुतमध्यविलम्बितास्त्रयो लया [1]रसेषूपपाद्याः। तत्र हास्यश्रृङ्गारयोर्मध्यलयः, [2]करुणे विलम्बितो, वीररौद्राद्भुतबीभत्सभयानकेषु द्रुत इति।

तथा हि श्रृङ्गारे यदुदात्तस्वरितमुक्तमर्पणविच्छेदाद्यङ्गजातं विलम्बितं चालङ्कारः तद् दूरस्थाभाषणे कर्त्तव्ये शिरस्थाने षड्पञ्चमयोरन्यतरस्थायिस्वराश्रयेणांशस्वरविभावचतुश्चतुष्कसम्मिश्रं कर्तव्यमित्येवं तात्पर्येणेवं व्याख्येयम्। अन्यथाभाषणं दूरस्थे शिरसेत्यादिना पौनरुक्त्यं स्यात्। अथ दीपनप्रशमनयोर्वक्तव्यशेषमाह—मन्द्रात्तारं न गच्छेदित्यादि। मन्द्रतरात्तारं तारतमान्मन्द्रं चेत्यर्थः।

उद्देशग्रन्थ एव केचिल्लया विरामाश्चेत्यभिधीयन्ते।

अभिनव—श्रृङ्गार रस में जो उदात्त और स्वरित को अर्पण एवं विच्छेद आदि अङ्गों को तथा विलम्बित को अलङ्कार कहा गया है, वह दूरस्थ पुरुष के साथ आभाषण में कर्त्तव्य हैं। शिरःस्थान में षड्ज और पञ्चम में से किसी एक के स्थायी स्वर के आश्रय के द्वारा अंश स्वर के विभाग से चार-चार को मिलाकर करना चाहिए। इस प्रकार के तात्पर्य में इसकी व्याख्या करनी चाहिए। अन्यथा तो दूरस्थ व्यक्ति के साथ आभाषण शिर से करना चाहिए, इत्यादि सभी कथन पुनरुक्त हो जायेंगे। अब दीपन और प्रशमन के विषय में अवशिष्ट वक्तव्य को कहते हैं कि—मन्द्र से तार पर नहीं जाना चाहिए इत्यादि। इसी प्रकार मन्द्रतर से तार को और तारतर से मन्द्र को भी नहीं करना चाहिए ॥ १३० ॥

अनुवाद—इनमें द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीनों लयों का रसों में उपयोग करना चाहिए। उसमें श्रृङ्गार और हास्य रस में मध्य लय, करुण रस में विलम्बित लय तथा वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और भयानक रसों में द्रुत लय का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३१ ॥

अभिनव—कुछ लोग उद्देश ग्रन्थ से ही लय और विरामों को कहते हैं।

---

१. क-भ. रसेषूपयोज्याः।

२. क-भ. वीभत्सकरुणयोर्विलम्बितः।

अथ विरामः अर्थसमाप्तौ कार्यवशान्न छन्दोवशात् । कस्मात्, [1]दृश्यन्ते ह्येकद्वित्रिचतुरक्षरा विरामाः । यथा—

किं ! गच्छ, मा विश सुदुर्जन ! वारितोऽसि
कार्यं त्वया न मम सर्वजनोपयुक्तं ।
[2]सूचासु चाङ्कुरगते च तथोपचारे-
ष्वल्पाक्षराणि हि पदानि भवन्ति काव्ये[3] ॥ १३२ ॥

अन्ये त्वाहुः—कालस्य सर्वस्यापरिभाव्यत्वान्नोद्देशेन प्रयोजनं मतिमन्तस्तु मन्यन्ते । विच्छेदेनैव च एष लय एतत्स्वीकृतः । विच्छेदो विरामः, स च कियन्तं कालं यावदीति लयोऽपि तेनैव स्वीकृतः । तेन विच्छेदस्य परीक्षेयं कथितेति ।

अन्य लोग तो कहते हैं कि—काल के सर्वथा अपरिभाव्यमान होने से उद्देश से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा बुद्धिमान् लोग मानते हैं । विच्छेद से ही इस लय को स्वीकार कर लिया है । विच्छेद का अर्थ है विराम । यह विराम कितने समय तक रहता है ? इस प्रश्न से लय भी मान लिया गया है । इससे विच्छेद की यह परीक्षा कह दी गई ।

अनुवाद—अर्थ की समाप्ति के लिए कार्य के अनुसार विराम किया जाता है, केवल छन्द के अभिप्राय से विराम नहीं किया जाता है । क्योंकि एक, दो, तीन, चार अक्षरों पर भी विराम देखे जाते हैं । जैसे—

किं, गच्छ, मा विश, सुदुर्जन, वारितोऽसि,
कार्यं, त्वया न, मम सर्वजनोपभुक्तम् ।
सूचासु, चाङ्कुरगते च तथोपचारेष्व-
ल्पाक्षराणि हि पदानि भवन्ति काव्ये ॥

"क्या है, जाओ, आगे मत बढ़ो, हे दुर्जन ! तुम रोक दिये गये हो, सब जनों के उपयोगी मेरा कार्य तुमसे नहीं होगा । काव्य में सूचा और अङ्कुर अभिनयों में तथा उपचार में स्वल्प अक्षरों वाले पद होते हैं ।"

यहाँ एक, दो, तीन, चार अक्षरों पर विराम देखे जाते हैं ।

---

१. ख. दृश्यते ।
२. ग. शोकं सूचं कुरु गते च तथोपचारे । क-न. सूचाङ्कुराभिनयसेषु ।
३. ग. कार्ये ।

तत्रेति विच्छेदे अर्थसमाप्तिनिमित्तं विरामो वास्य कार्यः। अर्थोऽवान्तर-वाक्यार्थं। न च्छन्दोवशादित्येन कविना प्रयोगपरतन्त्रेण भाव्यम्। तदा तेन स तदवसरोचितविरामवति वृत्ते ग्रहणप्रयत्नः कार्यः। प्रयोगेन कविपरतन्त्रेण न भाव्यमित्यत्रापि तेनार्थवशाद्विरामः कार्यं इत्याख्यातम्। संख्यात्र नियमोपलक्षणं एकद्वित्रीति। किमित्येतावत्यथान्तरवाक्यार्थे विच्छेदः। किं गच्छेति।

नन्वेवमेकवाक्यत्वाभावो दूषणमित्याशंक्य प्रत्युत भूषणमेतदित्युपपादयन्नाह—"सूचासु चाङ्कुरगते च यथोचारेऽल्पाक्षराणि हि पदानि भवन्ति काव्ये" इति। बहुप्रकारैः सूचाभिनयैः अङ्कुरप्रकारैश्च युक्तमित्थं काव्यं भवति यदि स्वल्पाक्षराणि पदान्यसमस्तानि भवन्ति। बह्वक्षरपदे, दरिद्राश्च कियन्तस्ते इत्यादौ न मध्ये सूचाङ्कुरयोरुपपत्तिः ॥ १३२ ॥

अभिनव - विच्छेद में अर्थ की समाप्ति के लिए कार्य के निमित्त विराम किया जाता है। अर्थ पद से अभिप्राय है अवान्तर वाक्य का अर्थ। 'न छन्दोवशात्' इससे यह कहा गया है कि कवि को प्रयोग के परतन्त्र नहीं होना चाहिए। यदि कवि परतन्त्र हो तो उसे उस अवसर के उचित विराम वाले वृत्त में विराम के लिए प्रयत्न करने चाहिए। प्रयोग कवि के अधीन नहीं होना चाहिए, यहाँ इसलिए अर्थ के अधीन बिराम करना चाहिए, यह कहा गया है। यहाँ पर एक, दो, तीन आदि संख्या का निर्देश नियम का उपलक्षण है। 'किं, गच्छ, मा विश, सुदुर्जन, वादितोऽसि' इत्यादि श्लोक में इतने अवान्तर वाक्य के अर्थ में विराम का विधान है।

अब प्रश्न होता है कि 'किं गच्छे' इत्यादि में एक वाक्यता न होने से 'वाक्यभेद' रूप दूषण हो जायेगा, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि यहाँ एकवाक्यताभाव दूषण नहीं, अपितु भूषण है, इसके उपपादन में यही कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की सूचना देने में अथवा अङ्कुरगत अर्थ के कहने में तथा उपचार में अल्प अक्षर वाले पदों का काव्य में प्रयोग करना चाहिए! क्योंकि काव्य में अनेक प्रकार के सूचाभिनय तथा अङ्कुर के प्रकारों से युक्त काव्य होता है यदि वह स्वल्पाक्षर वाले असमस्त पद हो तो। क्योंकि बहु अक्षर वाले 'दरिद्रश्च कियन्तस्ते' इत्यादि पदों के मध्य में सूचा और अङ्कुर की उपपत्ति नहीं होती है।

"तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना।
सौन्दर्यस्य पदे दृशौ च यदि किं ते नाम नीलोत्पलैः॥
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे।
ह्री धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥

इत्यादौ तु तस्या इत्युक्त्या मध्ये सूचया तदित्यसाधारणविशेषस्मरणं स्वात्मनि तच्चावलोकने तथाकर्णने च प्रच्छन्नस्थितताया नायिका निवृत्त्यङ्कुरे-वैचित्र्यं पुनः परिचुम्बनाभिलाषसूचायोगपूर्वकं मुखमिति पाठस्तत्कृतो नायिकाया रणरणकादरदर्शको निवृत्त्यङ्कुर इत्यादिवैचित्र्ये उत्प्रेक्षणीयम्। अङ्कुरस्त्वनिर्वचन एवेति निवृत्त्यङ्कुर एवात्र मन्तव्यः। यत्राङ्कुरो भविष्यति तद्विषयमेतदिति त्वसत्, पुष्पापचयनाटने यथोचितपरिक्रमणादौ पूर्वभाविना स्वल्पाक्षरे पदयोगेन वैचित्र्या-भावात्।

अथास्य विच्छेदस्याङ्गस्य प्राधान्यं दर्शयति—एवं विराम इत्यादि।

"तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेन्दुना,
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ च यदि ते किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे,
ह्री धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥"

इत्यादि में 'तस्याः' इस कथन से मध्य में सूचा के द्वारा 'तद्' इस असाधारण विशेष का स्मरण करना अपने आप में उस अवलोकन तथा श्रवण में प्रच्छन्न रूप में स्थित नायिका के निवृत्यङ्कुर में वैचित्र्य, फिर परिचुम्बन के अभिलाष की सूचक 'मुख' इस प्रकार का पाठ और उसके कारण नायिका के सम्बन्ध में प्रेम या उत्कण्ठा के साथ आदर दिखाने वाला निवृत्यङ्कुर इत्यादि वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अङ्कुर तो अनिर्वचनीय है, अतः यहाँ निवृत्यङ्कुर ही मानना चाहिए। जहाँ अङ्कुर होगा तद्विषयक यह अङ्कुर पर्व है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पुष्पों के अपचयन के अभिनय में जब उचित परिक्रमण आदि में, पहिले कहे जाने वाले स्वल्पाक्षर पदों के प्रयोग में वैचित्र्य का अनुभव नहीं होगा। अतः अङ्कुर ग्राह्य नहीं है।

अब विच्छेद के अङ्ग की प्रधानता को कहते हैं—

एवं [1]विरामे प्रयत्नोऽनुष्ठेयः । कस्मात्, [2]विरामो ह्यर्थानुदर्शकः, अत्र श्लोकः[3]—

[4]विरामेषु प्रयत्नो हि नित्यं कार्यः प्रयोक्तृभिः ।
[5]कस्मादभिनयो ह्यस्मिन्नर्थापेक्षी यतः स्मृतः[6] ॥ १३३ ॥

अस्मिन्निति विरामे सत्यभिनयस्थितो यथाविषयं प्रयोक्तुं शक्यः । स च विरामाद् गम्यते । विरामे सत्यर्थं दर्शयति अभिनयेऽन्यथा असमञ्जसत्वं स्यादिति तात्पर्यम् । यदि वाभिनयो विरामे स्थित इत्यभिनयकार्यं विराम एवोद्वहतीति तात्पर्यम् ॥ १३३ ॥

अनुवाद—इसलिये विराम में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि विराम अर्थ का अनुदर्शक होता है ।

इस विषय में श्लोक है—

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को विराम के विषय में नित्य प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि अभिनय अर्थापेक्षी कहा गया है अर्थात् अभिनय अर्थ की अपेक्षा करता है ॥ १३३ ॥

अभिनव—'अस्मिन्' अर्थात् विराम के होने पर अभिनयस्थ पदार्थ का विषयानुरूप प्रयोग किया जा सकता है । यह विराम से अवगत होता है और विराम किसी कार्य की समाप्ति पर होता है । विराम के होने पर अभिनय अर्थ को दिखाता है अन्यथा अर्थात् विराम के अभाव में असमञ्जस हो जायेगा । यह तात्पर्य है । अथवा यदि अभिनय विराम में स्थित है । अत एव अभिनय के कार्य को विराम ही वहन करता है, यह यहाँ तात्पर्य है ॥ १३३ ॥

इसी बात को कहते हैं—

---

१. त. विरामः प्रयत्नतोऽनुष्ठेयः ।
२. ग. विराम इहार्थानुदर्शको भवति । अपि च । ख. विरामार्थानुदर्शकः भवति ।
३. अपि च श्लोकः ।
४. ख. विरामे तु प्रयत्नस्तु । ५. ख. तस्मादभिनये ह्यस्मात् ।
६. ख. ग. स्थितः । क-म. प्रतिष्ठितः ।

यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्र दृष्टिसमन्वितः[1] ।
[2]वाचिकाभिनयः कार्यो विरामैरर्थदर्शकैः[3] ॥ १३४ ॥

[4]प्रायो वीरे च रौद्रे च करौ प्रहरणाकुलौ ।
बीभत्से [5]कुत्सितत्वाच्च भवतः कुञ्चितौ करौ ॥ १३५ ॥

हास्ये चोद्देशमात्रेण करुणे च प्रलम्बितौ ।
अद्भुते [6]विस्मयात्स्तब्धौ भयाच्चैव भयानके ॥ १३६ ॥

पूर्वं दृष्टिप्राधान्यतात्पर्येणेत्यपौनरुक्त्यम् ॥ १३४ ॥

व्यापकत्वमस्या दर्शयति—

प्रायो वीरे च रौद्रे चेति ।

कुञ्चिताविति सङ्कोचवन्तावित्यर्थः । भयाच्चेति श्लथावेव ॥ १३५-१३६ ॥

अनुवाद—जहाँ पर दोनों हाथ व्यग्र हों, वहाँ अर्थदर्शक विरामों के द्वारा दृष्टि से समन्वित वाचिक अभिनय करना चाहिए ॥ १३४॥

अभिनव—इसी बात को पहिले दृष्टि की प्रमुखता के तात्पर्य से कहा था। अब दृष्टि समन्वित हाथों को प्रमुखता से बतलाने से पुनरुक्ति नहीं है ॥ १३४॥

अब इसकी व्यापकता को दिखाते हैं—

अनुवाद—प्रायः वीर और रौद्र रस में दोनों हाथ शस्त्र प्रहरणन में व्यस्त रहते हैं और बीभत्स रस में कुत्सित होने के कारण दोनों हाथ कुञ्चित हो जाते हैं। हास्य और करुण रस में उद्देशमात्र से दोनों हाथ प्रलम्बित होते हैं और अद्भुत रस में विस्मय के कारण स्तब्ध तथा भयानक रस में भय के कारण स्तब्ध रहते हैं ॥ १३५-१३६ ॥

अभिनव—'कुञ्चितौ' पद का अर्थ सङ्कोच युक्त होना है और 'भयाच्च' कहने से अभिप्राय है कि दोनों हाथ शिथिल हो जाते हैं ॥ १३५-१३६ ॥

---

१. क. (टि०) दृष्टिसमन्वितैः ।
२. क. (टि०) वाचिकोऽभिनयः ।
३. ख. दर्शिभिः ।
४. इतः त्रयो श्लोकाः च पुस्तकेन सन्ति ।
५. क. (टि०) कुञ्चितत्वाच्च । ६. ग. विस्मयाविष्टौ ।

एवमादिषु [1]चान्येषु [2]प्रविचारेऽथ हस्तयोः ।
अलङ्कारविरामाभ्यां [3]साध्यते ह्यर्थनिश्चयः ॥ १३७ ॥
ये विरामाः स्मृता [4]वृत्ते तेष्वलङ्कार इष्यते ।
समाप्तेऽर्थे पदे वापि तथा प्राणवशेन वा ॥ १३८ ॥
पदवर्णसमासे च द्रुते वह्वर्थसंकटे ।
कार्यो विरामः पादान्ते तथा प्राणवशेन वा ।
शेषमर्थवशेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत् ॥ १३९ ॥

उच्चादीप्तादिरलङ्कारः । स च वृत्तिविरामेषु यथा "योः यः शास्त्रं विभर्ति" इत्यत्रोच्चदीप्तकाकुः पदान्तेन, वीररौद्रयोरपि स्रग्धरादिवृत्ते अर्धादौ विरामो न कार्यः, अपि तु पादान्ते पठितस्तावत् प्राणसंवेदाभावात् । प्राणवशेन वेत्यगतिका गतिरिति वृद्धाः । तच्चासत् । शिक्षावशेनाहरणीयो हि तत्राविच्छेदः ॥ १३८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के तथा अन्य प्रकार के कार्यों में हाथों के संचालन में अलङ्कार और विरामों के द्वारा अर्थ का निश्चय किया जा सकता है ॥ १३७ ॥

अनुवाद—वृत्तों (छन्दों) में जो विराम कहे गये हैं, उनमें अलङ्कार इष्ट है और अर्थ की समाप्ति पर, पद में अथवा प्राण वायु के कारण या रसभावादि के औचित्य से, वर्ण, पद और समास में, शीघ्रता से उच्चारण में, अनेक अर्थों के सङ्कट के समय, पाद के अन्त में अथवा प्राणवायु के आधार पर विराम करना चाहिए । शेष स्थानों पर अर्थ के अनुसार विराम करना चाहिए ॥ १३८-१३९ ॥

अभिनव—उच्च, दीप्तादि रूप अलङ्कार है, उसे वृत्त के विराम रखना चाहिए । जैसे—

यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य एवमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

(वेणीसंहार ३।३२)

---

१. ख. सर्वेषु । २. ग. विचारेषु । ख. अधिकारेषु ।
३. ख. साध्यन्ते ह्यर्थनिश्चयाः । ४. क-भ. वृत्ते ।

[1]अत्र च भावगतानि [2]रसगतानि च कृष्याक्षराणि बोद्धव्यानि, तद्यथा—

[3]आकारैकारसंयुक्तमैकारौकारसंयुतम् ।
[4]व्यञ्जनं यद्भवेद्दीर्घं कृष्यं तत्तु विधीयते[5] ॥ १४० ॥

तस्मादयमर्थः—पदान्ते विच्छेदः कार्यो, यदि वा प्राणवशेन प्राणा रसभावाद्याः, तदौचित्येन छेदः। पादादावपि तावदनेनानुबन्धोऽपि विच्छेद उपयोगीति दर्शितम् ॥ १३९ ॥

इसमें किया गया है। उच्च-दीप्तादि काकु को वीर और रौद्र रस में भी स्रग्धरा अदि वृत्तों में अर्थ या आदि में विराम नहीं रखना चाहिए, किन्तु पद के अन्त में करना चाहिये। क्योंकि अर्ध में और आदि में प्राण वायु का संवेग नहीं होता, अतः पद के अन्त में ही विराम करना चाहिए। वृद्ध लोग तो कहते हैं कि 'प्राणवशेन' यह पाठ अगतिक गति है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। वहाँ शिक्षा के कारण ही विच्छेद-अविच्छेद होता है। इसलिए यहाँ यह अर्थ है कि पद के अन्त में विच्छेद करना चाहिए। अथवा 'प्राणवशेन' में प्राण शब्द का अर्थ रस-भावादि है। अतः रस-भावादि के औचित्य से यहाँ विच्छेद है। अतः पाद के आदि में विराम किया जा सकता है। इससे अनुबन्ध (आरम्भ) भी विच्छेद में उपयोगी है, यह दिखा दिया है।

शेषमिति—जहाँ चित्तवृत्ति की प्रधानता नहीं है, अपितु विभावादि की प्रधानता है वहाँ अर्थवश (अर्थ के अनुसार) विराम करना चाहिए ॥ १३८-१३९ ॥

अनुवाद—यहाँ पर भावगत और रसगत कृष्याक्षरों को भी समझ लेना चाहिये। जैसे—

अनुवाद—जो व्यञ्जन आकार, ऐकार, ओकार, औकार के संयोग से दीर्घ होते हैं, उन्हें कृष्याक्षर कहते हैं ॥ १४० ॥

---

१. ख. क्षत्रानुगतानि चत्वार्यक्षराणि रसभावानुगतानि कृष्टान्यक्षराणि चोद्बोध्यानि ।
२. ग. रसजातानि कृष्याण्यक्षराणि । कृष्याद्यक्षराणि ।
३. ख. अकारे करसंयुक्तमेकारे कारसंयुतम् । ग. एकारैकारसंयुक्तमोकारौकारसंयुतम् ।
४. क-म. एकारौकारसंयुक्तं दीर्घं यद्व्यञ्जनं भवेत् ।
५. ख. ग. भवेदिह ।

विषादे च [1]वितर्के च प्रश्नेऽथामर्ष एव च ।
कलाकालप्रमाणेन पाठ्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १४१ ॥
[2]शेषाणामर्थयोगेन विरामे [3]विरमेदिह ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्कलं च विलम्बितम् ॥ १४२ ॥

कृष्याक्षराणीति कृषतीति कृषो विलम्बितो लयः तत्र साधूनि कृष्याणि सन्ध्यक्षराणि, यथा आ, ई, ऊ इति दीर्घाः कलालक्षणो यः कालः तत्प्रमाणेन विलम्बितेन पाठ्यं कार्यमिति विच्छेदस्यैव प्रमाणं दर्शितम् ॥ १४१ ॥

शेषाणामिति ह्रस्वानाम्। अर्थयोगेनेति यथा स्फुटा प्रतीतिर्भवति तथा विच्छेदः कार्यो न त्वतिविलम्बितं पठेदित्यर्थः। ननु कियत्कलाप्रमाणमित्याह—विलम्बितमिति ॥ १४२ ॥

अनुवाद—विषाद, वितर्क, प्रश्न और अमर्ष में नाट्यप्रयोक्ताओं को कलात्मक काल के प्रमाण के अनुसार पाठ्य करना चाहिये ॥ १४१ ॥

अभिनव—कृष्याक्षर का अर्थ है सन्ध्यक्षर अर्थात् जो कर्षण करता है वह कृष है, कृष का अर्थ विलम्बित लय है। उसमें जो साधु है वह कृष्य है। इस प्रकार कृष्य अक्षर सन्ध्यक्षर हैं। जैसे—आ, ई, ऊ, ये दीर्घ अक्षर हैं। कला के प्रमाण वाला जो काल है तदनुसार विलम्बित लय में पाठ करना चाहिए। इस प्रकार विच्छेद ही प्रमाण है यह दिखा दिया है ॥ १४१ ॥

अनुवाद—शेष अक्षरों के अर्थ के योग से विराम के अवसर पर विराम रखें, विलम्बित काकु में एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः कलाएँ होती हैं ॥ १४२ ॥

अभिनव—'शेषाणाम्' का अर्थ है ह्रस्व अक्षरों का। 'अर्थयोगेन' पद का तात्पर्य है, जिस प्रकार स्फुट अर्थ को प्रतीति हो, उसी प्रकार विच्छेद करना चाहिए, न कि अतिविलम्बित लय से पाठ करें। अब प्रश्न होता है कि कला का प्रमाण कितना हो, इस पर कहते हैं कि विलम्बित एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः कलाओं तक होता है ॥ १४२ ॥

---

१. ख. विवर्त्ते च ।
२. ख. शेषाणामर्थयोगेन विरामो । ३. विभिद्ध् ब्ः ।

[1]विलम्बिते विरामे हि सदा गुर्वक्षरं भवेत् ।
षण्णां कलानां परतो [2]विलम्बो च विधीयते ॥ १४३ ॥

अथवा कारणोपेतं प्रयोगं कार्यमेव च ।
समीक्ष्य वृत्ते कर्तव्यो[3] विरामो रसभावतः ॥ १४४ ॥

ये विरामाः स्मृताः [4]पाठ्ये वृत्तपादसमुद्भवाः ।
उत्क्रम्यापि क्रमं तज्ज्ञैः कार्यास्तेऽर्थवशानुगाः[5] ॥ १४५ ॥

गुर्वक्षरमिति कृष्यं। वा शब्दादधिकमनुजानाति कारणोपेतमिति कारणं दीर्घकालं स्मरणमिति चिन्तनादिभिः, व्याध्यपस्मारादिभिर्वा कारणैरुपेतं, स्पष्टास्पष्टादिभिरित्यन्ये ॥ १४४ ॥

वृत्तविरामादर्थविरामः प्रथममिति । दर्शयितुमाह—ये विरामा इति ।

अनुवाद—विलम्बित विराम (काकु) में सदा गुरु अक्षर होने चाहिये। किन्तु छः कलाओं के बाद विलम्ब (विराम) नहीं होना चाहिए ॥ १४३ ॥

अभिनव—यहाँ गुर्वक्षर का अर्थ है कृष्याक्षर अर्थात् सन्ध्यक्षर ॥ १४३ ॥

अनुवाद—अथवा कारण के अनुसार प्रयोग करना चाहिए और रस एवं भावों को समीक्षा करके वृत्त में विराम करना चाहिए ॥ १४४ ॥

अभिनव—'अथवा' में वा शब्द से अधिक के लिए अनुज्ञा देने का संकेत है। 'कारणोपेतम्' में कारण पद का अर्थ है चिन्तन आदि के द्वारा दीर्घ काल तक स्मरण। अथवा अपस्मार आदि व्याधि रूप कारणों से उपेत। अन्य लोग स्पष्ट और अस्पष्ट कारणों से उपेत यह अर्थ करते हैं ॥ १४४ ॥

वृत्त विराम से अर्थ विराम प्रथम है, इस बात को दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—पाठ्य में वृत्त के पादों से समुद्भुत जो विराम कहे गये हैं, उन्हें वृत्त के जानकार लोग क्रम का उल्लंघन करके अर्थ के अनुसार विराम करें ॥ १४५ ॥

---

१. ग विरामे च बिलम्बे च ।
२. ग. लम्बनं । क. लङ्घनं ।
३. कर्त्तव्या विरामा रसभावतः ।
४. ख. ग. काव्ये । क-द. वाक्ये ।
५. ख. तेऽर्थवशास्तदा । ग. अर्थवशाश्रयाः ।

नापशब्दं पठेत्तज्ज्ञो भिन्नवृत्तं[1] तथैव हि।
विश्रमेन्नाविरामेषु दैन्ये काकुं न [2]दीपयेत् ॥ १४६ ॥

तज्ज्ञैस्तद्विरामात्मकं वृत्तगतं वस्तु। उत्क्रम्यापीति विशेषोपक्रमेऽपीति सामान्योपसंहारः। तादृशा विरामेण, पठेत्, येनावगतो विवक्षितः शब्दो भवति 'वरदं ध्यायति' इत्यत्र वरद शब्दे यदा विच्छेदः क्रियते तदा मध्य इतिशब्दान्तर-प्रतिभया ध्यायति शब्दोऽवगतो भवतीति ॥ १४५ ॥

भिन्नवृत्तं च कृत्वा न पठेत् तथा विच्छेदं न कुर्याद्येनान्यवृत्तभ्रान्तिर्भवति। तथा हि—'भव शंकर भाजनं ये जगतीह भवन्ति केचन' इत्यत्र ये इति शब्दस्य पूर्वपादेन सह पाठे उपवेद उपजातिवृत्तभेदो यद्यपि भवति तथापि द्वितीयपादे वृत्तभङ्गः। तेन भिन्नवृत्तं न पठेदिति विच्छेदस्यैव प्राधान्यज्ञापनार्थमेतदुक्तमिति शब्दच्युतभिन्नवृत्तदोषाभिधाने न पौनरुक्त्यम्। इह वस्तुतस्तदभावेऽपि विच्छेदवशेन तत्प्रतिभोदयात्।

अभिनव—'तज्ज्ञैः' में 'तत्' पद का अर्थ विरामात्मक वृत्तगत वस्तु है। 'उत्क्रम्य' का अर्थ है कि यद्यपि विशेष का उपक्रम है किन्तु उपसंहार सामान्य में है। अतः विराम को इस प्रकार पढ़े जिससे विवक्षित शब्द की प्रतीति हो जाय। जैसे 'वरदं ध्यायति' में यदि 'विरद' शब्द में विच्छेद करते हैं तो मध्य में शब्दान्तर के प्रतिभान से 'ध्यायाति' का ज्ञान होता है ॥ १४५ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ता लोग अपशब्द का पाठ न करें और न वृत्तों को तोड़कर पढ़ें। विराम-स्थान से भिन्न स्थान पर विराम न करें और दैन्य अवस्था में काकु को दीप्त न करें ॥ १४६ ॥

अभिनव—वृत्त को तोड़कर नहीं पढ़ना चाहिए और ऐसा विच्छेद न करें जिससे किसी दूसरे वृत्त को भ्रान्ति होने लगे। जैसे—

"भव शङ्कर भाजनं ये जगतीह भवन्ति केचन"

यहाँ पर 'ये' इस पद का प्रथम (पूर्व) पाद के साथ पाठ करने पर यद्यपि उपजाति छन्द का भेद हो जाता है तथापि द्वितीय पाद में छन्दोभङ्ग हो जाता है। इसलिए 'भिन्नवृत्तं न पठेत्' अर्थात् भिन्नवृत्त का पाठ न करें, इसे वृत्त की प्रधानता को ज्ञापित करने के लिए कहा हैं। शब्दच्युत तथा भिन्नवृत्त दोषों के कहने से पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यहाँ वस्तुतः उसके अभाव में भी विच्छेद के वश उसकी प्रतीति हो जाती हैं।

---

१. भिन्नवृत्ते न चैव हि।
२. ख. ग. न काकुरसहीनकम्। न काकुरसदीपवद्।

[1]वर्जितं काव्यदोषैस्तु लक्षणाढ्यं गुणान्वितम् ।
स्वरालङ्कारसंयुक्तं पठेत्पाठ्यं[2] यथाविधि ॥ १४७ ॥

एतदेव तात्पर्येणाह—विश्रमेन्नाविरामेष्विति । एवं विच्छेदस्य भूयो विषयव्यापकत्वमभिधाय तन्न्यूनां दीप्तां दर्शयितुमाह—दैन्ये काकुं न दीपयेदिति शोकाविमग्नचित्तवृत्तिं विमुच्यान्यत्र दीपनं सर्वत्र शोभावहमिति भावः ॥ १४६ ॥

एवं स्वराः क्रमो मर्यादा स्थानत्रयमाश्रयः उदात्तादयः स्वरूपं अलङ्काराः स्वरूपपरिपूरकाः इति कर्तव्यतारूपाण्यङ्गानि । स्वरभेदाच्च काकोर्विशेषः स्वरभेदो हि तस्यामेव काकौ विवक्षितायां रसभावादिधर्मान्तरोदयो, न हि स्वराणां स्थानभेदोऽलङ्कारोऽङ्गाविकृतः । वर्जितं काव्यदोषैरित्यादिना प्राक्तनाध्यायार्थेन सह सङ्गतिमस्याध्यायस्य दर्शयति ॥ १४७ ॥

इस अभिप्राय से कहते हैं कि अविराम स्थल पर विराम नहीं करना चाहिये। इस प्रकार विच्छेद की व्यापकता बतलाकर न्यूना और दीप्ता को दिखलाने के लिए कहते हैं कि दैन्यावस्था में काकु को दीपन न करें, इससे यहाँ यह बतलाया गया है कि शोकादि से मग्न चित्तवृत्ति छोड़कर अन्य प्रसङ्गों में सर्वत्र काकु का दीपन शोभाधायक होता है ॥ १४६ ॥

अनुवाद—काव्य के दोषों से रहित, लक्षणों से समन्वित, गुणों से युक्त, स्वर एवं अलङ्कारों से संयुक्त पाठ्य को यथाविधि पढ़ें ॥ १४७ ॥

अभिनव—इस प्रकार स्वर, क्रम, मर्यादा, स्थानत्रय, उनके उपयोगी उदात्तादि वर्ण, उनके स्वरूप, स्वरूप के परिपूरक अलङ्कार, इतिकर्त्तव्यता रूप अङ्गों को यहाँ कहा गया है। स्वर-भेद से काकु का भेद होता है और स्वरभेद तब होगा जब काकु की विवक्षा होगी और काकु की विवक्षा होने पर रस-भावादि धर्मान्तरों का उदय होता है, स्वरों के स्थानों का भेद अलङ्कारों एवं अङ्गादि के के कारण नहीं होता है। यहाँ पर 'वर्जितं काव्यदोषेश्च' इत्यादि के द्वारा यह दिखाया गया है कि पूर्व अध्याय के साथ इस अध्याय की सङ्गति दिखाते हैं ॥ १४७ ॥

---

१. व्यपेतं वाक्यपदोषैस्तु ।
२. ब. ग. काव्यं ।

[1]अलङ्कारा विरामाश्च ये पाठ्ये संस्कृते स्मृताः ।
[2]त एव सर्वे कर्तव्या स्त्रीणां पाठ्ये स्वसंस्कृते ॥ १४८ ॥

एवमेतत्स्वरकृतं[3] कलातालल्यान्वितम् ।
दशरूपविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १४९ ॥

एवं सस्कृते काकुविधानं प्राकृताध्यायप्रमेयभूते प्राकृतेऽप्यतिदिशति अलङ्कारा विरामाश्चेत्यादिना ।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनोऽध्यायस्यार्थमासूत्रयति दशरूपेति ।

दशरूपविधाने यत्पाठ्यं तदनेन त्रिप्रकारेण योज्यमित्युपसंहारः ।

अभिनव—इस प्रकार संस्कृत भाषा के लिए कथित काकु विधान का प्रस्तुत अध्याय के प्रमेयभूत प्राकृत भाषा में भी अतिदेश करते हैं—

अनुवाद—संस्कृत पाठ्य में जो अलङ्कार और विराम कहे गये हैं, उन सभी का प्रयोग स्त्रियों के प्राकृत पाठ में भी करने चाहिए ॥ १४८ ॥

अभिनव—प्रस्तुत अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हुए अगले अध्याय के अर्थ का आसूत्रण करते हैं—

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को दशरूप के विधान में इस प्रकार स्वरों से युक्त तथा कला, ताल एवं लय से समन्वित पाठ्य की योजना करनी चाहिए ॥ १४९ ॥

अभिनव—दश रूपकों के विधान में जो पाठ्य बताया गया है उनकी योजना इन तीन प्रकारों से करनी चाहिए। इस प्रकार उपसंहार है ॥ १४९ ॥

---

१. ख. ग. अलङ्कारविशेषा ये पाठ्यसंस्कृतसंश्रयाः ।

२. ख. ते सर्वे संप्रकर्तव्या स्त्रीणां पाठ्ये तु संस्कृते ।

३. ख. स्वरयुतं ।

[1]उक्तं काकुविधानं तु यथावदनुपूर्वशः ।
[2]अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दशरूपविकल्पनम् ॥ १५० ॥

इति भरतीये नाट्यशास्त्रे वागभिनये [3]काकुस्वरव्यञ्जनो नाम सप्तदशोऽध्यायः[4] ।

तु शब्दो व्युत्क्रम सूचयति । प्रसङ्गादक्रमप्राप्तमपि काकुविधानमुक्तम् । अनुपूर्वश इत्यादि । यत्तु क्रमापन्नं तद्दशरूपं विकल्प्यमानं वक्ष्यामीति शिवम् ॥ १४८-१५० ॥

इति काकुविकल्पलक्षणेऽस्मिन्नध्याये मुनिविवसमर्थितेऽर्थम् ।
प्रकटीकुरुते स्म चन्द्रमौलेरभिनवगुप्तसमाख्य एकदेशम् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेद-
विवृतावभिनवभारत्यां काकुविधानं नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने यथावत् क्रमशः काकु विधान को कहा है। अब इसके बाद दश रूपकों के स्वरूप को कहूँगा ॥ १५० ॥

इस प्रकार भरतमुनि कृत नाट्य शास्त्र में वागभिनय में काकु-स्वर व्यञ्जन नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द से व्युत्क्रम की सूचना दी गई है। इस प्रकार प्रसङ्ग से जो क्रम प्राप्त नहीं है, उस काकु-विधान को भी कह दिया। 'अनुपूर्वशः' का अभिप्राय है जो क्रम प्राप्त दशरूप विधान है, उसके विकल्पों को कहूँगा। शिवम् ॥ १५० ॥

अभिनव—इस प्रकार अभिनव भरतमुनि से समर्थित काकु विकल्प नामक इस अध्याय में चन्द्रमौलि के एकदेश जिह्वा रूप अर्थ को प्रकट कर दिया है अर्थात् कह दिया है ॥ १७ ॥

इस प्रकार अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित अभिनवभारती का सत्तरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां नाट्यशास्त्रस्याभिनवभारत्याश्च हिन्दीव्याख्यायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

१. ग. यथा । २. क-म. अतः परं ३. म. स्वरकाकु ।
४. काकुव्यञ्जको नामाध्यायोऽष्टादशः ।

[1]अष्टादशोऽध्यायः

[2]वर्तयिष्याम्यहं विप्रा ! दशरूपविकल्पनम् ।
नामतः कर्मतश्चैव तथा चैव प्रयोगतः ॥ १ ॥

अभिनवभारती

रूपं यदेतद्बहुधा चकास्ति तद्येन भावी भविता न जातु ।
तच्चक्षुरर्कात्मिकमीश्वरस्य वन्दे वपुस्तैजससारधाम्नः ॥ १८ ॥

अभिनवभारती

गत अध्याय में दशरूपकों काकु के विधान की योजना बताई गई है। अब दश रूपकों के स्वरूप का अभिधान करेंगे। दृश्य होने के कारण नाट्य को 'रूप' कहते हैं। नाट्य को रूपक भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें आरोप पाया जाता है।

अनुवाद—हे विप्रो ! अब मैं उद्देश (नाम), कार्य और प्रयोग के अनुसार दश रूपकों के विधान का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

अभिनव—जो यह रूप बहुधा प्रकार से प्रकाशित होता है, जिसके कारण वह न कभी भावी होता है और भविता (अनद्यन भविष्य)। ईश्वर का वह अर्कात्मक चक्षु जो तेज रूप ईश्वर का वपु (शरीर) है, उसको मैं बन्दना करता हूँ ॥ १८ ॥

विशेष—दशरूपविकल्पनमिति—नाट्यशास्त्र में दश रूपकों का विधान बताये गया है—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, ईहामृग और अङ्क। इनके अतिरिक्त भरत ने नाटक और प्रकरण के मिश्रण से रूपक का एक अन्य भेद 'नाटी' का उल्लेख किया है, जिसे परवर्ती काल में 'नाटिका' संज्ञा प्राप्त हुई। धनञ्जय ने दश रूपकों और भोज तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र ने बारह रूपकों का निरूपण किया है। धनञ्जय ने अवस्थानुकृति को 'नाट्य' कहा है यही नाट्य दृश्य होने से 'रूप' कहलाता है और यही रूप का आरोप होने से 'रूपक' कहलाता है। इस प्रकार 'रूप' और 'रूपक' दोनों शब्द नाट्य के वाचक हैं।

---

१. ग. ड. विंशोऽध्यायः ।

२. ख. ग. कथयिष्यामि ।

दशरूपोपकारिकाक्वादियोजनमिति तत्स्वरूपं वक्तव्यमिति सङ्गतिरुक्तैव तद्वर्तयिष्यामीति किमनेनोच्यते, तदस्य प्रयोजनं प्रदर्श्यते ।

कश्चिदेवमाशङ्कते, "रसा भावा" (अ—६—१०) इत्यादि सूत्रसार-सङ्ग्रहे दशरूपशब्दस्य नामापि न श्रुतं, तत्कथमुक्तं दशरूपविधाने पाठ्यमिति तं प्रत्याह—वर्तयिष्यामीति ।

रूप्यते प्रत्यक्षीक्रियते योऽर्थः तद्वाचकत्वात्काव्यानि रूपाणि दशानां रूपाणां विभागः कल्प्यते अस्मादिति दशरूपविकल्पनं सूत्रं तेनायं षष्ठी समासः दशरूपमिति। तेन बहुव्रीहौ दशरूपं काव्यमिति भेदान्तरापाकरणं स्यादित्याशंक्य द्विगुः, पात्रादि प्रक्षेपश्च यो व्याख्यातस्तत्प्रयासमात्रमेव । तदयमर्थः-यतः सूत्रादाङ्गिको वाचिकशब्दे प्रकृतिप्रत्ययार्थविभागः कल्प्यते तत्र वाग्भाग एवायं वितत्य वर्ण्यते, तेन तदेव सूत्रं वर्णितम् । विवरणेन प्रपञ्चितं भवतीति नानिर्दिष्टं निरूप्यते किञ्चिदिति ।

अभिनव—अभिनव गुप्त का कथन है कि दश रूपकों का उपकारी होने के कारण काकु आदि की योजना की गई है। इसलिए उसके स्वरूप को कहना चाहिए, इसकी सङ्गति तो आपने कह ही दिया है, तो 'वर्त्तिष्यामि' इसके द्वारा आप क्या कहना चाहते हैं ? उसी का प्रयोजन दिखाते है ।

अभिनव—कुछ लोग तो ऐसी आशङ्का करते हैं कि 'रसा भावा ह्यभिनयाः' इत्यादि संग्रह श्लोक में 'दशरूप' शब्द का नाम भी नहीं पढ़ा गया है तो आपने कैसे कहा कि दशरूपकों के विधान में पाठ्य की योजना करनी चाहिए, उनके प्रति कहते हैं—'वर्त्तमिष्यामि' ।

अभिनव—जिस अर्थ का रूपण करते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष करते हैं उस अर्थ के वाचक होने से काव्य भी 'रूपक' कहलाता है। इसलिए दशरूपकों का विभाग जिससे किया जाय वही 'दशरूपविकल्पन' सूत्र है। इसलिए यहाँ षष्ठी समास है। अतः बहुव्रीहि समास करने पर (दश हैं रूप जिसके) जो एक अन्य भेद होता है उसका अपाकरण हो जायेगा, इस प्रकार आशङ्का करके द्विगु और पात्रादि-प्रक्षेप है, इस प्रकार जो व्याख्या की गई है वह प्रयास मात्र है। इसलिए यह अर्थ है कि जिससे सूत्र के वाचक शब्द में आङ्गिक प्रकृति-प्रत्यय एवं अर्थ के विभाग की कल्पना करते है, वहाँ वाणी का ही यह विस्तृत वर्णन है। इससे उसी सूत्र का वर्णन किया है अर्थात् विवरण करके प्रपञ्चित किया है, अतः अनिर्दिष्ट का निरूपण करते हैं—किञ्चिदिति ।

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ॥ २ ॥
ईहामृगश्च [1]विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे ।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

नामत इत्युद्देशेन, कर्मंत इति लक्षणेन, क्रियते, तेन विजातीयाद्व्यावृत्तिः, कर्मलक्षणं, प्रकृष्ट उचितो योगः परस्परसंबन्धो यथा प्रकरणनाटकलक्षणयोगात् नाटिकेतिवृत्तिविभागस्तु लक्षण एवानुप्रविष्ट इति । नासौ प्रयोगः । तथा चेति तेनैव प्रयोगप्रकारेणान्योऽपि परस्परसंबन्धवैचित्र्यकृतो भेदः उत्प्रेक्ष्य इत्यर्थः । प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति विकलमेव । उक्तव्याख्याने तु कोहलादिलक्षितनोटकसट्टकरासकादिसंग्रहः फलं नाटिकायाः उदाहरणत्वादि ॥ १ ॥

तत्रोद्देशं तावदाह—नाटकमित्यादि ।

'नायतः' इस पद से उद्देश (नाममात्र से कथन) का तथा 'कर्मंतः' पद से लक्षण का कथन किया गया है । यहाँ इसी कारण विजातीय से व्यावृत्ति रूप कर्म लक्षण है । 'प्रयोगतः' का अर्थ है प्रकृष्ट योग अर्थात् परस्पर सम्बन्ध । जैसे, प्रकरण और नाटक के लक्षणों के योग से नाटिका बनती है, इतिवृत्त विभाग तो लक्षण में ही अनुप्रविष्ट है । किन्तु यह तो प्रयोग नहीं होता, तो 'प्रयोगतः' की व्याख्या के द्वारा नाटिका का ग्रहण कैसे करेंगे ? क्योंकि नाटिका तो प्रयोग है । इस पर कहते हैं कि कारिका में 'तथा' और 'च' पदों के प्रयोग के प्रकारों से पारस्परिक सम्बन्ध के वचित्र्य के द्वारा अन्य भेद की भी कल्पना कर लेनी चाहिए । 'प्रयोगतः' की व्याख्या यदि 'प्रयोग के लिए' करते हैं तो 'प्रयोगतः' कथन ही व्यर्थ हो जायेगा । क्योंकि उक्त व्याख्यान में तो कोहलादि आचार्यों के द्वारा लक्षित, तोटक, सट्टक, रासक आदि का संग्रह ही फल है, नाटिका ही इसका उदाहरण है ॥ १ ॥

अब उद्देश को कहते हैं—

अनुवाद—नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग, लक्षण के अनुसार नाट्य के ये दश भेद हैं । अब मैं क्रमशः इनके लक्षणों को कहूँगा ॥ २-३ ॥

---

१. क. (टि.) ईहामृगं च विज्ञेयं दशमं नाट्यलक्षणम् ।
ङ. ईहामृगश्च विज्ञेया दशेमे नाट्यलक्षणे ।

सप्रकरणमिति सशब्देनाङ्कप्रवेशकसन्ध्यादिसाम्यं नाटकेन प्रकरणस्याह। नाम्नामर्थो लक्षण एव व्याख्यास्यते। सत्यपि च पुराणादावुपदेशदायिनि कर्मफल-संबन्धप्रदर्शके तत्रोच्चावचमनियतकविकथाप्रायमिह तु किञ्चित्प्रयोज्यं किञ्चित् सूच्यं किञ्चिदुह्यं किञ्चिदुपेक्ष्यमित्येवं वैचित्र्ययोगः। "सन्ध्यादिव्यवस्थे"ति "दशरूपं सप्रयोजन" मिति –एतत्तु फल्गुप्रायं, फलं तत्पूर्वमेवोक्तम्। प्रत्यक्षभाव-नोदितरसावेशजनितवृ तिसारत्वादस्येतिहासादेर्विशेष इत्यूह्यम्। सूच्यादिविभाग-स्त्वितिहासादावप्यस्त्येवेति न च पाठफलं दशरूपकमपि तु प्रयोगपर्यन्तमेतदित्युक्त-प्रायम्। तत्र महासामान्यरूपं काव्यलक्षणेऽध्याये कृतमित्यवान्तरसामान्यलक्षणमुद्दे-शानन्तरं वक्तव्यमिति दर्शयति। प्राक् च सामान्यलक्षणं ततो विशेषलक्षणानि उद्देशक्रमेणेति चानुपूर्व्यार्थः ॥ २-३ ॥

अभिनव—यहाँ 'सप्रकरणम्' में सह शब्द से यह बतलाया गया है कि प्रकरण का नाटक के साथ अङ्क, प्रवेशक, सन्धि आदि में साम्य है। इन रूपकों के नामों की व्याख्या लक्षण बतलाने के समय की जायेगी। कर्म के फलों के प्रदर्शक एवं उपदेशप्रद पुराणों आदि के होते हुए भी कवियों की कथा प्रायः अनियत और उच्चावच होती है। यहाँ तो कुछ प्रयोज्य है, कुछ सूच्य है, कुछ ऊह्य है और कुछ उपेक्ष्य है। इस प्रकार यहाँ अनेक विचित्रताओं का योग है। "सन्धि आदि की व्यवस्था" तथा "दशरूप प्रयोजन है' इत्यादि कथन निःसार है, निष्फल है, क्योंकि फल को तो मैंने पहिले ही कह दिया है। प्रत्यक्ष की भावना से उदित रसावेश से जनित आनन्द रूप सार (फल) होने के कारण नाटक में इतिहास आदि की अपेक्षा विलक्षणता है, यह समझना चाहिए। सूच्य, ऊह्य आदि विभाग तो इतिहास आदि में भी होते हैं। अतः वह इसका फल नहीं है। दशरूपकों की स्थिति पर्यन्त होती है, इसे भी कहा जा चुका है। महासामान्य रूप काव्यलक्षण को भी उक्त अध्याय में कहा जा चुका है। अब उद्देश के अनन्तर अवान्तर सामान्य लक्षण कहना चाहिए, यह दिखाते हैं। उद्देश क्रम के अनुसार पहिले सामान्य लक्षण और बाद में विशेष लक्षण कहना चाहिए, यही 'अनुपूर्वशः' पद से दिखलाया गया है ॥ २-३ ॥

सर्वेषामेव [1]काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः ।
आभ्यो [2]विनिस्सृतं ह्येतद्दशरूपं प्रयोगतः ॥ ४ ॥

तत्र सामान्यलक्षणमाह—सर्वेषामेव काव्यानां मातृका इति ।

तत्र केचिदाहुः—वृत्तिप्रभवत्वं दशरूपकस्य सामान्यलक्षणं, वृत्तीनां तदङ्गानां चाभिनयो न, काव्येष्वसंभवात् । एतच्चासत् । आस्तां काव्यार्थः । सर्वो हि संसारो वृत्तिचतुष्केण व्याप्त इत्युक्तं प्रथम एवाध्यायेऽस्माभिः । यदि चाभिनेयविषय एव वृत्तिव्यवहारस्तदा वृत्त्यध्याये यद्वृत्तीनां समुत्थाननिरूपणं "यां यां वत्तिषु संश्रिता" (२०-१५) मित्यादि तत्सर्वमसङ्गतं, भगवतो हि नाभिनेतृता, किन्तु स्वचेष्टावेश-मात्रम् । सर्वशब्दे च प्रकृतनाटकादिविषये वर्ण्यमाने प्रथमश्लोकार्धं पुनरुक्तार्थमेव ।

विशेष—भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रूपक के दस भेद बताये हैं । इनके अतिरिक्त भरतमुनि ने नाटक और प्रकरण के मिश्रण से रूपक के एक अन्य भेद 'नाटी' का उल्लेख किया है । परवर्ती काल में जिसे 'नाटिका' संज्ञा प्राप्त हुई । धनञ्जय ने भरत के अनुसार दश रूपकों का उल्लेख किया है और 'नाटिका' नामक एक संकीर्ण भेद भी माना है । अग्निपुराणकार ने दस रूपकों के अतिरिक्त सत्रह उपरूपक भी माने हैं । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ दस रूपकों के साथ अठारह उपरूपकों की भी चर्चा की है । शारदातनय दस रूपकों के साथ तोटकादि चोर भावात्मक रूपकों का भी उल्लेख किया है । नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में बारह रूपकों का वर्णन किया है । उन्होंने भरतोक्त दस रूपकों के अतिरिक्त 'नाटिका' और 'प्रकरणी' नामक दो रूपक भेद और जोड़कर रूपकों की संख्या बारह बताई है ॥ २-३ ॥

इनमें प्रथम सामान्य लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—वृत्तियाँ सभी काव्यों की मातायें कही गई हैं। इन वृत्तियों के प्रयोग से ये दश रूपक विनिःसृत है ॥ ४ ॥

अभिनव—वृत्तियां सभी काव्यों की माताएँ हैं। इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि वृत्तिप्रभवत्व दश रूपकों का सामान्य लक्षण है। वृत्तियाँ और उसके अङ्ग अभिनय में होते हैं, काव्य में उनका होना असम्भव है। इस पर कहते हैं कि यह कहना असत् है। काव्यार्थ को रहने दीजिए। सारा संसार ही वृत्तियों में व्याप्त है, यह प्रथम अध्याय में मैं कह चुका हूँ। यदि हम कहें कि वृत्ति व्यवहार अभिनेय विषयक है तो वृत्यध्याय में जो वृत्तियों का निरूपण 'यां यां देवः समाचष्टे क्रियां वृत्तिषु संश्रिताम्' इत्यादि के रूप में किया जायेगा। वह सब असङ्गत हो

१. क. (ढ०) नाट्यानां । २. ख. विनिसृतं । क. (ध.) विनिर्गतं ।

यत्तु "स्वनामधेयैर्भरतैः" (२०-१५) इति "बहुगीतनृत्तवाद्ये"ति (२०-४७) "वागङ्गाभिनयवतीति (२०-३९) च भरतव्यवहारो गीताभिनयाभियोगश्च नानाभिनये इति तदप्यकिञ्चित्करम् । तावद्धि वृत्तीनां लक्षणं "या वाक्प्रधाना" (अ-२०) इत्येतावदेव भारत्या लक्षणम् । अन्यत्र प्रयोगप्रदर्शनमिति तत्रैव व्याख्यास्यामः । वृत्त्यङ्गान्यपि सर्वकाव्येषु सन्त्येव ।

नन्वेवं वृत्तिजत्वं कथं दशरूपकलक्षणम्, उच्यते, प्रयोग इत्येतदर्थकमेव । तदयमर्थः—यद्यपि सर्वेषामभिनेयानभिनेयानां च काव्यानां वृत्तय इष्टा मातर इव, ताभ्योऽपि वाच्यरूपत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते । तथापि प्रयोगं प्रयुज्यमानत्वात्प्रयोगयोग्यत्वमभिसन्धाय वृत्तिभ्यं विनिस्सृतमभिनेयकाव्यं प्रत्यक्षभावनायोग्यवृत्तिचतुष्टयाभिधायकस्त्वं दशरूपसामान्यलक्षणमित्यर्थः । दशानां नाटकादीनां रूपमिति षष्ठीसमासः ।

जायेगा । भगवान् अभिनेता नहीं हैं, किन्तु उनमें अपनी चेष्टाओं का आवेश मात्र होता है । सर्व शब्द से प्रकृत नाटकादि का विषय वर्ण्यमान होने पर प्रथम श्लोक का अर्धमात्र पुनरुक्त ही हे ।

और जो 'स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता' इति और 'बहुगीतनृत्यवाद्येति' तथा 'वाङ्गाभिनयवती' यह जो भरत का व्यवहार है और गीत एवं अभिनय का अभियोग है और जो नाना अभिनय है वह सब अकिञ्चित्कर है, उतना ही वृत्तियों का लक्षण है । "या वाक्यप्रधाना पुरुषैः प्रयोज्या" इतना ही भारती का लक्षण है । शेष सब प्रयोग प्रदर्शन है । इन सबको वहीं व्याख्या करेंगे । वृत्तियाँ और वृत्तियां के अङ्ग भी सभी काव्यों में होते हैं ।

अब प्रश्न होता है कि यदि वृत्तियाँ और उसके अङ्ग सभी काव्यों में होते हैं तो वृत्तिप्रभवत्व दश रूपकों का लक्षण कैसे सम्भव होगा ? इस पर कहते हैं कि 'प्रयोगतः' अर्थात् प्रयुज्यमान अर्थ के लिए है । इसका यह अर्थ है कि यद्यपि वृत्तियाँ सभी अभिनेय और अनभिनेय सभी काव्यों की जननी की तरह हैं । वाच्य के रूप में कवियों के हृदय में स्थित उन वृत्तियों से काव्य का उद्भव होता है, तथापि प्रयुज्यमान होने के कारण प्रयोग की योग्यता का अभिसन्धान कर वृत्तियों से विनिःसृत प्रयोग अभिनेय काव्य होता है । अतः प्रत्यक्ष भावना के योग्य चारों वृत्तियों का अभिधायक दशरूपक है, यह दश रूप का सामान्य लक्षण है । 'दशानां नाटकादीनां रूपम्' यहाँ षष्ठी समास है ।

[1]जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागता[2] ।
[3]यथा तथा वृत्तिभेदैः काव्यबन्धा भवन्ति हि ॥ ५ ॥

अन्ये त्वाहुः। एकैकस्य रूपकस्य दश दश रूपाणि संभवन्ति । तथा च वीथ्यङ्गानां सर्वत्र संभवः। परवचनानुरूपभाषणरूपभाणयोगश्च किं ब्रवीषी-त्याकाशभाषिते । एवमन्यदपि । तेन दश रूपाणि यस्य तादृशरूपं काव्यमित्यर्थः । अत एव न सकलः प्रबन्धो नाटकम्, अपितु प्रबन्धस्य किञ्चिद्रूपं, तल्लक्षणांश-बाहुल्यात्तु तद्व्यपदेशयोगः। अत एव न दशसंख्याविभागार्थो येन सट्टकादीनां त्यागः स्यात् । तत्रापि हि दशरूपलक्षणयोगोऽस्त्येव । एतच्च स्वावसरेषु वितनि-ष्यामः ॥ ४ ॥

ननु प्रयोगयोग्यचेष्टाप्रतिपादकत्वं चेत् सामान्यलक्षणं, तर्हि चेष्टातिरिक्तस्य कस्यचिदसंभाव्यत्वान्नास्त्येव विशेषलक्षणमेषामित्याशङ्काशमनं विशेषलक्षणावकाश दर्शयितुमाह—जातिभिः श्रुतिभिश्चेत्यादि ।

अन्य लोग ता कहते हैं कि एक-एक रूपक के दश-दश रूप सम्भव है, अतः वीथी के अङ्गों की सर्वत्र सम्भावना है । दूसरे के वचन के अनुरूप भाषण भाण है, इसका सम्बन्ध 'किं ब्रवोषि' इस आकाशभाषित में है। इसी प्रकार अन्य भी हैं। इसलिए दश रूप हैं जिसके वह दशरूप काव्य है। अत एव सकल प्रबन्ध (सभी रचनायें) नाटक नहीं है, अपितु प्रबन्ध का कुछ रूप है, उसके लक्षणों का आंशिक बाहुल्य होने से उसका यह व्यपदेश है, नाम है। इसलिए दश सख्या का विभाग है, ऐसा अर्थ नहीं है। जिससे सट्टक आदि का त्याग हो जाय, उन सट्टकादि में भी दश रूप के लक्षण का योग है ही, उसका निरूपण पक्षावसर करेंगे ॥ ४ ॥

अभिनव—यहां पर प्रश्न यह होता है कि प्रयोग के योग्य चेष्टाओं का प्रतिपादन यदि सामान्य लक्षण है ओर चेष्टा के अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया के असम्भाव्य होने से क्या इनका विशेष लक्षण नहीं है ? इस प्रकार को आशङ्का के शमन और विशेष लक्षण के अवकाश का दिखाने के लिए कहते हैं—ज्ञातिभि-रित्यादि ।

अनुवाद—जिस प्रकार जातियों एवं श्रुतियों से स्वर ग्रामत्व को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वृत्तियों के भेद से काव्यबन्ध (रूपक-रचना) हो जाते है ॥ ५ ॥

१. ग. एतेषां जातिभिः । २. क. (टि०) स्वरग्रामत्वमागतैः ।
३. क. (भ.)—यद्वत्तथैव वृत्तिभ्यः काव्यबन्धाः प्रतिष्ठिताः ।

दृष्टान्तेन प्रकृतं घटयन् व्युत्पादनीयमपि व्युत्पादयतीति समानतन्त्रसिद्ध-मेव दृष्टान्तमदीदृशत् । स्वरेषु ग्रहादिदशकविभाग नियता जातिः । रक्तोऽरक्तो वा ध्वनिः । ध्वनिः स्थानं तदन्तरालं च श्रुतिः, कर्माधिकरण-करणव्युत्पत्त्याश्रयात् । स्त्रियाः खलनाविति हि नादृतं लक्ष्ये । तत्र षाड्जीप्रभृतयो जातयः सप्त, पञ्चमस्य चतस्रः श्रुतयो, धैवतस्य तिस्रः, इति षड्जग्रामः । गान्धार्याद्या एकादश जातयः, पञ्चमस्त्रिश्रुतिः धैवतस्तु चतुःश्रुतिरिति मध्यमग्रामः ।

वस्तुतस्तु षड्जादिस्वरसमुदायो ग्रामः । तत्र स्वरा इति श्रुतिपक्षे बहुवचनं लक्ष्यविदः समर्थयन्ति—मध्यग्रामे पञ्चमपरित्यक्तां श्रुति-धैवत एवोपभुङ्क्त इत्यत्र प्रमाणाभावात् सर्व एव द्वित्रिश्रुतिकाः (श्रुत्युत्कृष्टतः) या समधिकश्रुतयः क्रियन्ते, काकल्यन्तराभ्यां च चतुस्त्रिश्रुतयो न्यूनश्रुतय इति सर्वस्वराणां श्रुतिकृतं वैचित्र्य-मस्तीति । एतच्च स्वावसरे वक्ष्याम इत्यास्ताम् ।

अभिनव—दृष्टान्त के द्वारा प्रकृत का संघटन करते हुए व्युत्पादनीय का व्युपादन करते हैं, अतः समान तन्त्र सिद्ध दृष्टान्त दिखाया है । स्वरों में ग्रहादि दश लक्षणों से युक्त जाति रहती है । ध्वनि रञ्जक और अरञ्जक भेद से दो प्रकार की होती है । क्रिया, क्रिया के अधिकरण और उनके साधन तथा व्युत्पत्ति के आश्रय में निष्पन्न ध्वनि, स्थान और उनका अन्तराल श्रुति होती है 'स्त्रियाः खलनौ' यह पाठ प्रकृत में आदरणीय नहीं है अर्थात् असङ्गत है । उनमें षाडजी प्रवृत्ति सात जातियाँ है । षड्ज ग्राम में पञ्चम को चार श्रुतियाँ, धैवत की तीन श्रुतियां होती हैं । मध्यम ग्राम में गान्धारो आदि ग्यारह जातियाँ, पञ्चम की तीन श्रुतियाँ और धैवत की चार श्रुतियां होती हैं ।

अभिनव—वस्तुतस्तु षड्ज आदि स्वर-समुदाय को 'ग्राम' कहते हैं । यहाँ श्रुतियों के विषय में 'स्वराः' इस बहुवचन का लक्ष्यवेत्ता लोग समर्थन करते हैं—मध्यम ग्राम में पञ्चम को छोड़कर श्रुति का उपभोग धैवत ही करता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है, सभी दो-तीन श्रुति वाले और जो अधिक श्रुति वाले हैं, काकली और अन्तरा के द्वारा कभी चतुःश्रुति, कभी त्रिश्रुति और कभी न्यून श्रुतियाँ होती हैं । इस प्रकार सभी स्वरों में श्रुतिकृत वैचित्र्य देखा जाता है । इसको यथावसर कहेंगे । इसलिए रहने दिया जाय ।

ग्रामौ [1]पूर्णस्वरौ द्वौ तु यथा वै षड्जमध्यमौ ।
[2]सर्ववृत्तिविनिष्पन्नौ काव्यबन्धौ तथा त्विमौ ॥ ६ ॥

इह त्वनेन दृष्टान्तेनैतदुक्तं भवति—स्वरसमुवायरूपत्वाविशेषेऽपि स्वराणां पर्यायतः प्राथम्यप्राधान्यात्पत्वभूयस्त्वपूर्णत्वारोहत्वावरोहत्वान्स्यत्वमध्यत्वाविप्रविभागभेवेः, यथान्यषड्जग्रामोऽन्यो मध्यमग्रामः, तथैव वृत्तीनां स्वरस्थानीयानां प्राथम्यप्राधान्यादिना वशकेन रूपकं रूपकान्तराद्भिद्यते यथा चतुःश्रुतिः पञ्चमस्त्रिश्रुतिश्च भवन् ग्रामान्यत्वं करोति तथा सेव वृत्तिः श्रुतिस्थानीयैरङ्गैः क्वचित्संपूर्णा क्वचिन्न्यूनेत्येवपि रूपकविभाग इत्येतज्जातिभिः श्रुतिभिरिति द्वयेन दर्शितम् ॥ ५ ॥

अथ वृत्तिविभागं संक्षेपतोऽभिधत्ते—ग्रामौ पूर्णस्वराविति ।

यहाँ पर तो इसी दृष्टान्त के द्वारा यह कहा गया है, कि स्वरों के समुदाय रूप से किसी वैचित्र्य के न आने पर पर्याय रूप से प्राथम्य, प्राधान्य, अल्पत्व, भूयस्त्व, पूर्णत्व, अपूर्णत्व, आरोहत्व, अवरोहत्व, अन्त्यत्व, मध्यत्व आदि प्रविभाग के भेदों से जैसे षड्ज ग्राम अन्य है और मध्यम ग्राम अन्य है। उसी प्रकार स्वर स्थानीय वृत्तियों के प्राथम्य प्राधान्यादि दशक के कारण एक रूपक दूसरे रूपक से भिन्न होता है। जिस प्रकार चतुःश्रुतिक पञ्चम त्रिश्रुति होने पर ग्राम भेद करता है, उसी प्रकार वही वृत्ति श्रुति-स्थानीय अङ्गों से कहीं सम्पूर्ण और कहीं पर न्यून इस प्रकार रूपक का विभाग होता है, तीन प्रकार श्रुति और जाति इन दोनों भागों से दिखाया गया है ॥ ५ ॥

अब वृत्तियों के विभाग को संक्षेप में कहते हैं—

अनुवाद—जिस प्रकार षड्ज और मध्यम दोनों ग्राम पूर्ण स्वर होते हैं उसी प्रकार काव्यबन्ध भी सम्पूर्ण वृत्तियों से निष्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

---

१. क. (टि०) पूर्वस्वरौ ।
२. क. (टि०) सर्ववृत्तविनिष्पन्नं काव्यबन्धं द्वयं स्मृताः ।

ज्ञेयं प्रकरणं चैव तथा नाटकमेव च।
[1]सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं [2]नानाबन्धसमाश्रयम् ॥ ७ ॥

[3]वीथी समवकारश्च [4]तथेहामृग एव च।
उत्सृष्टिकाङ्को व्यायोगो [5]भाणः प्रहसनं डिमः ॥ ८ ॥

जात्याश्रययोर्जातिद्वारेण षाडवौडुविकांशयोगे न्यूनस्वरताप्यस्तीति षड्जग्रामरागो मध्यमग्रामरागश्चेह ग्रामशब्देन व्यपदिष्ट इति केचित्। तदसत्। इह हि ग्रामशब्देन जातिसमुदायोऽभिधीयते। तत्र यद्यप्यंशके न्यूनस्वरतापि भवति, तथापि समुदायस्य पूर्णतायाः का हानिः। तस्मादयमत्रार्थः—यथा विचित्रसन्निवेशतालम्बनसुन्दरतमसंपूर्णस्वरसमुदायरूपात्। ग्रामद्वयाद्विभागकल्पनया जातंशकानां पूर्णापूर्णादिस्वरभेदभाजां प्रसवः, एवं नाटकप्रकरणाभ्यां पूर्णवृत्तिवृत्त्यङ्गाभ्यां वृत्तिन्यूनानां च रूपकभेदानां परिकल्पनम् ॥ ७ ॥

तत्र वृत्तिन्यूनानि रूपकाण्याह—वीथीत्यादि।

अभिनव—जाति के द्वारा जाति के आश्रय में षाडव और औडुविक के अंशों के योग में स्वरों की न्यूनता भी है, अतः षड्ज ग्रामराग तथा मध्यम ग्रामराग को यहाँ पर ग्राम शब्द से अभिहित किया गया है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ ग्राम से जाति समुदाय का कथन है। वहाँ अंश में यद्यपि स्वरों की न्यूनता है तथापि समुदाय को पूर्णता मानने में क्या हानि है? इसलिए यहाँ यह अर्थ होगा कि जैसे विचित्र रूप से सन्निवेश के अवलम्बन से सुन्दरतम सम्पूर्ण स्वर-समुदाय रूप दो ग्रामों के विभाग की कल्पना से पूर्ण और अपूर्ण स्वर वाले जात्यंशकों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार नाटक, प्रकरण के द्वारा पूर्ण वृत्ति और वृत्यङ्गों और वृत्तियों की न्यूनता वाले रूपक भेदों की कल्पना की गई है ॥ ६ ॥

अनुवाद—नाटक और प्रकरण को समस्त वृत्तियों से विनिष्पन्न और नाना प्रकार के बन्धों (रचनाओं) के आश्रय समझना चाहिये ॥ ७ ॥

---

१. ग. पूर्ववृत्तविनिष्पन्नं ।
२. ख. नाट्यावस्थासमाश्रयम् ।
३. ख. ग. भाणः । ४. ख. वीथीचेहामृगस्तथा ।
५. ग. वीथी । ख. भाणः प्रहसनं तथा ।

कैशिकीवृत्तिहीनानि [1]रूपाण्येतानि कारयेत् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि काव्यबन्धविकल्पनम् ॥ ९ ॥

शेषाणि रूपाणीति वक्तव्ये प्रतिपदं नामग्रहणं ज्ञापयति । एतदनुक्तान्यपि रूपकाणि संभवन्ति, अत एव रूपकविशेषगणनमास्यो विनिस्सृतमिति लक्षणस्योदाहरणमात्रम् । तेन वृत्तीनां विनियोगविकल्पसमुच्चयैः वृत्त्यङ्गानां च बहवो रूपकभेदा भवन्ति । तेषां परं कोहलादिभिर्नाममात्रं प्रणीतम् । लक्षणेन त्विह संगृहीता एव ते । तत्र नाटकप्रकरणे एव सर्ववृत्तिपूर्णे इति नियमः, न तु विपर्ययः । मुद्राराक्षसस्य कैशिकीहीनस्य कृत्यारावणस्य च नाटकस्य दर्शनात्, वेणीसंहारे च सात्त्वत्यारभटीमात्रं दृश्यत इति केचित् ।

अब न्यून वृत्ति वाले रूपकों को कहते हैं—

अनुवाद—वीथी, समवकार, ईहामृग, उत्सृष्टिकाङ्क, व्यायोग, भाण, प्रहसन और डिम नामक रूपकों में कौशिकी वृत्ति से रहित प्रयोग होने चाहिए। अब इसके बाद काव्य-बन्ध दोनों को कहूँगा ॥ ८-९ ॥

अभिनव—नाटक और प्रकरण में समस्त वृत्तियाँ होती हैं। किन्तु वीथी, प्रहसन, समवकार, ईहामृग, उत्सृष्टिकांक, व्यायोग, भाण, डिम में कैशिकी वृत्ति से रहित अन्य वृत्तियाँ होती हैं। कहते हैं कि यहाँ 'शेषाणि रूपाणि' कहना चाहिए था, प्रत्येक रूपकों के नाम ग्रहण से यह सूचित करता है कि इनसे भिन्न भी रूपक सम्भव है। अतः इन वृत्तियों से रूपक विशेष का विनिर्गमन हुआ, अतः लक्षण का कथन एक उदाहरण मात्र हैं। इससे वृत्तियों के विनियोग, विकल्प और समुच्चय के द्वारा वृत्यङ्गों से बहुत से भेद होते हैं किन्तु कोहल ने उनके नाममात्र गिनाये हैं जिनका यहाँ सामान्य लक्षण से संग्रह कर लिया गया है। उनमें नाटक और प्रकरण में समस्त वृत्तियाँ होती हैं, यह नियम है न कि विपर्यय। जैसे मुद्राराक्षस नाटक में कैशिकी वृत्ति नहीं होती, कृत्यारावण में नाटक को वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। कुछ लोग तो कहते हैं कि वेणीसंहार नाटक में सात्त्वती और आरभटी ही दिखाई देते हैं।

1. क. (भ.) काव्यान्येतानि योजयेत् ।

अन्ये तु तत्राप्यवश्यं वृत्त्यन्तरानुप्रवेशोऽस्ति। यदि परिमितवृत्तिव्यापकत्वात् लक्ष्यते, अपूर्णवृत्तित्वेऽपि विरूपकतैव स्यात्। सकलाङ्गप्रक्रियापरिपूर्णत्वादेव नाटकात्प्रकरणं च प्रधानम्। तथा हि कश्चिद्विनेयः प्रसिद्धिमनुरुध्यमानो दृष्ट इति सप्रसिद्धेतिवृत्ते नाटके विनेयः। कश्चित्तु किमेतदपूर्वमिति प्रसिद्धे वस्तुनि रूपकान्तरमेव तु तदाभासं तत्सर्वविनेयोऽभिनववस्तुवृत्तकौतुकपरतन्त्र इति समुत्पाद्यवस्तुना प्रकरणेन विनीयते। विनयश्चास्य धर्मार्थकामेषु सर्वपुरुषार्थेष्व-पवर्गेऽपि च तथाभवति, यदि सकलं तदुपयोगिव्यापाराश्रयणं सर्वव्यापाराक्षिप्तं पूर्णवृत्तिकत्वमिति। द्विवृत्तित्रिवृत्त्यादिकं न नाटकं भवति। रूपान्तरमेव तु तदाभासं, तत्कैशिकीविहीनत्वेऽपि यथा शृङ्गारयोगस्तथा समवकारे तथा तल्लक्षणं वर्णयिष्यामः॥ ८॥

ननु पूर्णवृत्तिकत्वाविशेषे नाटकप्रकरणयोः को भेदः, कैशिकीहीनत्वे चाविशिष्टे वीथ्यादेः मिथः को विशेष इत्याशङ्कां वारयन् कर्म (श्लो १) शब्दाक्षिप्तविशेषलक्षणार्थं दर्शयति—अत ऊर्ध्वमित्यादिना काव्यस्य बन्धनं परस्परा-श्रयसंबन्धेनैव एकवाक्यताकरणसंबन्धः स विकल्प्यते येन तद्विशेषलक्षणं वक्ष्यामीति॥ ९॥

अन्य लोग तो उनमें भी वृत्यन्तरों का अनुप्रवेश है, ऐसा मानते हैं। यदि परमित वृत्ति के व्यापक होने से लक्षण करते हैं तो अपूर्ण वृत्ति वाले रूपक निरूपक हो जायेंगे। सकल अङ्गों को प्रक्रिया से पूर्ण होने के कारण नाटक से प्रकरण प्रधान होता है। जैसा कि कोई विनेय प्रसिद्धि का अनुरोध करता हुआ देखा जाता है। अतः सुप्रसिद्ध इतिवृत्त वाले नाटक में वही विनेय होता है। कोई तो इसमें अपूर्वता क्या है ? इस प्रकार प्रसिद्ध वस्तु में रूपक नहीं, अपितु रूपकाभास है, ऐसा मानने वाला विनेय अभिनव वस्तु के कौतुक के परतन्त्र है, होने से समुत्पाद्य वस्तु वाले प्रकरण से वह विनेय होता है और विनय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय में वैसा तभी सम्भव है जब सभी नाटक उनके उपयोगी व्यापारों के आश्रय से निबद्ध हों तथा समस्त व्यापारों से समस्त वृत्तियाँ आश्रित हों। दो, तीन, चार वृत्ति वाले नाटक नहीं होते, अपितु उनसे भिन्न रूपक का भास होंगे। इसलिए कौशिकी वृत्ति के अभाव में भी जिस प्रकार शृङ्गार का योग है, उसी प्रकार समवकार में भी, उसका लक्षण आगे वर्णन किया जायेगा।

प्रख्यातवस्तुविषयं[1] प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।
राजर्षिवंश्यचरितं [2]तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥ १० ॥
नानाविभूतिभिर्युतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव ।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥ ११ ॥

नाटकं प्रकरणादपि प्रधानं प्रसिद्धयुपजोविनो हि कल्पना वस्तुसंभावना, अनुभवमूलत्वात् तस्या, उत्प्रेक्षा अपि हि प्रमाणगतेष्वेव वस्तुषु स्वातन्त्र्येण योजनामात्रेण व्याप्रियन्ते, षड्दन्तो हस्ती खे धावतोति तेनेतिहासादिप्रमाणवस्तुसिद्धप्रदर्शकं नाटकं तावल्लक्षयितुमाह—प्रख्यातवस्तुविषयमित्यादि ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब नाटक और प्रकरण में सम्पूर्ण वृत्तियाँ होती हैं तो दोनों में परस्पर भेद क्या है ? यदि यह कहते हैं कि कौशिको वृत्ति से हीन होना विशेष है ता वीथी आदि से क्या भेद होगा ? इस प्रकार की आशङ्का का निवारण करते हुए कर्म शब्द से आक्षिप्त विशेष लक्षण को 'अत ऊर्ध्वम्' इत्यादि के द्वारा दिखाते हैं । काव्य का बन्धन परस्पर आश्रय के सम्बन्ध से एकवाक्यता से प्राप्त सम्बन्ध में विकल्प होता है जिससे विशेष लक्षण को कहूँगा ।

नाटक प्रकरण से भी प्रधान होता है, क्योंकि उसमें प्रसिद्धि का उपजीवन करने वाली कल्पना-प्रसूत वस्तुओं को सम्भावना रूप उत्प्रेक्षायें होती हैं और उत्प्रेक्षा भी प्रमाण प्राप्त वस्तुओं में स्वतन्त्र रूप से योजना मात्र से व्याप्त हो जाती है । जैसे छः दातों वाला हाथी आकाश में दौड़ रहा है । इसीलिए इतिहासादि प्रमाणों से सिद्ध वस्तु के प्रदर्शक नाटक का लक्षण करने के लिए कहते हैं—

१. नाटक

अनुवाद—जिसमें कथावस्तु का विषय प्रख्यात हो, और नायक प्रख्यात एवं उदात्त हो, जिसमें राजर्षि वंश का चरित वर्णित हो, तथा जो दिव्य के आश्रय से उपेत हो और जो नाना विभूतियों से समृद्धि और विलासादि गुणों से युक्त हो, तथा जिसमें अङ्क, प्रवेशक आदि विद्यमान हों, उसे 'नाटक' समझना चाहिये ॥ १०-११ ॥

---

१. ग. विषये ।
२. ख. तथा च ।

प्रख्याते भारतादौ यद्वस्तु तद्विषयोऽस्य, तत्रापि किञ्चिदप्रसिद्धं भवति, तन्निराकरणाय प्रख्यातोदात्तेति श्रीशङ्कुकः। एतत्तु प्रख्यातवस्तुविषयोऽस्येति इयता गतार्थमित्युपाध्याय इत्यमाहुः। इह त्रिविधया प्रसिद्धया प्रसिद्धत्वं भवति, अमुक एवंकारो अमुत्र देश इति। तत्र प्रकर्षेण ख्यातं वस्तु तथा विषयो मालवपाञ्चालादिर्देशो यस्मिन् चक्रवर्तिनोऽपि हि वत्सराजस्य कौशाम्बी-व्यतिरिक्ते विषये कार्यान्तरोपक्षेपेण विना यन्निरन्तरं तद्वैरस्याय भवति, तत्र प्रसिद्धिखण्डनेन प्रतीतिविघातात्, का कथा रसचर्वणायाः। एवं तावद् द्वे प्रसिद्धी उक्ते प्रख्यातोदात्तेत्यनेन तृतीया प्रसिद्धिरुक्ता। उदात्त इति वीररसयोग्य उक्तः। तेन धीरललितधीरप्रशान्तधीरोद्धतधीरोदात्ताः चत्वारोऽपि गृह्यन्ते। राजर्षिवंश्येत्यनेन प्रख्यातमपि यद्वस्तु ऋषितुल्यानां राज्ञां वंशेन साधु-नोचितं, तथा प्रख्यातत्वेऽपि देवचरितं वरप्रभावादिबहुलतयोपायोपदेशायायोग्य-मिति नैतदुभयं निबन्धनीयमिति फलतः प्रतिषेधो दर्शितः। राजानः ऋषय इवेत्युपमितसमासः। तद्वंशे साधु चरितं यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। न च सर्वथा देवचरितं तथाऽवर्णनीयम्। किन्तु दिव्यानामाश्रयत्वेन प्रकरीपताकानायकादि रूपेण, उपेतमुपगमोऽङ्गीकरणं यत्र। तथा हि नागानन्दे भगवत्याः पूर्णकरुणा-निर्भरायाः साक्षात्करणे व्युत्पत्तिर्जायते। निरन्तरभक्तिभावितानामेतन्नाम देवताः प्रसीदन्ति, तस्माद्देवताराधनपुरस्सरमुपायानुष्ठानं कार्यमिति।

अभिनव—प्रख्यातवस्तुविषयमिति अर्थात् महाभारत आदि प्रख्यात ग्रन्थों में जो कथावस्तु है वह विषय (प्रतिपाद्य) है जिसका। कदाचित् इसमें भी अप्रसिद्ध वस्तु हो सकती है उसके निराकरण के लिए प्रख्यात एवं उदात्त नायक कहा गया है यह आचार्य शंकुक का मत है। और जिसका प्रतिपाद्य प्रख्यात वस्तु होती है, उसका नायक उदात्त होने से गतार्थ हो जाता है। यह हमारे उपाध्याय भट्ट तौत कहते हैं। यहाँ तीन प्रकार की प्रसिद्धि से प्रसिद्धि मानी गई है। उनमें प्रथम है — अमुक ने अमुक देश में ऐसा किया। इसमें वस्तु प्रकर्ष रूप से ख्यात होता है और विषय मालव पाञ्चाल आदि देश हैं। जहाँ चक्रवर्ती राजा वत्सराज आदि के कौशम्बी से अतिरिक्त प्रदेश में कार्यान्तर के उपक्षेप के विना जो निरन्तर वर्णन है वह वैरस्य के लिए होता है। वहाँ प्रसिद्धि के खण्डन करने से प्रतीति का बिघात हो जाता है, तो रस-चर्वणा की कथा ही क्या है? इन दो प्रसिद्धियों का कथन किया जा चुका है। 'प्रख्यातोदात्तमापक' के द्वारा तृतीय प्रसिद्धि को कहा गया है। उदात्त यह विशेषण वीर रस के योग्य कहा गया है। इससे धीरललित, धीरोदात्त, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत चारों नायकों का ग्रहण होता है। 'राजर्षिवंशचरितम्'

यदि तु मुख्यत्वेनैव देवचरितं वर्ण्यते तत्तावद्विप्रलम्भकरुणाद्भुतभयानकरसोचितं चेन्निबध्यते तन्मानुषचरितमेव संपद्यते, प्रत्युत देवानामभिधाधानं प्रसिद्धिविघातकम् । तत्र चोक्तो दोषः, विप्रलंभाद्यभावे तु का तत्र विचित्रता रञ्जनाया एतत्प्रमाणत्वात् । अत एव हृदयसंवादोऽपि देवचरिते दुर्लभः,न च तेषां दुःखमस्ति । यत्प्रतीकारोपाये व्युत्पादनं स्यात् । नायिका तु दिव्याप्यविरोधिनी यथोर्वशी नायकचरितेनैव तद्वृत्तस्याक्षेपात् ॥ १० ॥

इस कथन से प्रख्यात वस्तु ऋषितुल्य राजाओं के साधुवंश के योग्य हैं। और देवताओं का चरित यद्यपि प्रख्यात है, तथापि वर-प्रभावादि की बहुलता से उपाय के रूप में उपदेश के योग्य नहीं है। इसलिए दोनों विशेषणों का प्रकृत में उपनिबन्धन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार फलमुखेन यहाँ निषेध दिखाया गया है। 'राजा लोग ऋषियों के समान हैं' यह बहुब्रीहि समास है। देवचरित सर्वथा उस रूप में अवर्णनीय है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु जहाँ दिव्य कथाओं का आश्रय होता है वहाँ यताका और प्रकरी के रूप में उनका उपगम अङ्गीकरण के योग्य हैं। जैसे—नागानन्द नाटक में पूर्ण करुणा से निर्भर भगवती के साक्षात्कार करने में व्युत्पत्ति होती है। यहाँ यह बतलाया गया है कि निरन्तर भक्ति-भावना से भावित प्राणियों पर देवता प्रसन्न हो जाते हैं, अतः देवाराधन पुरःसर उपायों का अनुष्ठान करना चाहिए।

यदि मुख्य रूप से देवताओं के चरित का वर्णन करते हैं, और विप्रलम्भ, करुण, अद्भुत, भयानक और रौद्र रस के योग्य यदि निबन्धन किया जाता है तो 'मनुष्य का चरित ही सम्पन्न होता है।' ऐसा मानना होगा। प्रत्युत अबुद्धिपूर्वक किया गया देवचरित का आधान प्रसिद्धि का विघातक होगा। वहाँ दोष भी कहा जा चुका है, विप्रलम्भ आदि के अभाव में क्या विचित्रता होगी? क्योंकि रञ्जना उसका प्रमाण है, इसलिए देवताओं के चरित में हृदय का संवाद भी दुर्लभ होगा, क्योंकि उनमें दुःख ही नहीं है जिसके प्रतीकार के उपायों के सम्बन्ध में व्युत्पादन किया जा सके। नायिका के दिव्या होने पर भी उसके चरित में विरोध नहीं है, क्योंकि नायक के चरित्र के अनुसार नायिका के चरित्र का आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे पुरुरवा के चरित से उर्वशी का चरित।

डिमादौ तु दिव्यानां नायकत्वेऽभिप्रायमावेदयिष्याम इति प्रसिद्धित्रययुक्तमपि वस्तु न निष्फलं व्युत्पत्तये भवतीत्यत आह—नानाविभूतिभिर्युतं।

धर्मार्थकाममोक्षविभवैः फलभूतैर्विचित्ररूपैर्युक्तम्। तत्राप्यर्थकामौ सर्वजनाभिलषणीयाविति तद्बाहुल्ये दर्शनीयमिति कथयति ऋद्धिविलासादिभिरति ऋद्धिरर्थस्य राज्यादि समृद्धिः विलासेन कामो लक्ष्यते, आदिशब्दः प्रधानवाची, तत्प्रधानाभिः फलसंपत्तिभिः युक्तमित्यर्थः। तेन राजा सर्वं राज्यं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा वानप्रस्थं गृहीतवानित्येवंप्रायं फलं नोपनिबन्धनीयम्। तत्फलमपि दृष्टसुखार्थी हि लोको बाहुल्येनेति तत्रास्य प्रतीतिर्विरसीभवेत्। गुणैरित्यप्रधानभूतानि चेष्टितानि हेयानि प्रतिनायकगतानि अपायप्रधानानि तैर्युक्तम्। तेषां पूर्वपक्षस्थानीयानां प्रतिक्षेपेण सिद्धान्तकल्पस्य नायकचरितस्य निर्वाहाज्जनपदकोशादिसंपत्ति समृद्धिः कौमुदीमहोत्सवादयो विलासाः सन्धिविग्रहादयो गुणा इति व्याख्यानं चाणक्यशास्त्रपरिचयवेदनमात्रफलं, वस्तुशब्देन राजर्षिवंश्यचरितशब्देन च सर्वस्यार्थराशेः संग्रहात्। अवान्तरवस्तुसमाप्तौ विश्रान्तये ये विच्छेदा अङ्काः ये च निमित्तवलात् अप्रत्यक्षदृष्टानां चेष्टितानामावेदकाः प्रवेशकाः तैराढ्यं नाटकं नाम रूपकम्॥ ११॥

इस प्रकार डिम आदि रूपकों में दिव्य नायकों के मानने में अभिप्राय विशेष है, उसे आगे बतायेंगे। इस प्रकार प्रसिद्धित्रय अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु, प्रसिद्ध विषय और प्रसिद्ध नायक इन तीन प्रसिद्धियों से युक्त रूपक निष्फल नहीं होता, अपितु व्युत्पत्ति के लिए होता है। इसलिए कहते हैं—**नानाविभूतिभिर्युतमित्यादि।**

अभिनव—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप विभाव वाले विचित्र रूप फलों से युक्त नाटकों को करने चाहिए। इनमें भी अर्थ और काम सभी के अभिलषणीय होने से उन्हें अधिक दिखलाना चाहिए। इस बात को 'ऋद्धिविलासादिभिः' के द्वारा कहते हैं। 'ऋद्धि' पद से राज्यादि समृद्धि और 'विलास' पद से विलास लक्षित होता है। 'आदि' शब्द प्रधानवाची हैं। अतः इसका अर्थ होगा—अर्थप्रधान और कामप्रधान फल सम्पत्ति से युक्त। इसलिए राजा को सारा राज्य ब्राह्मणों को देकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए, इस प्रकार के फल का उपनिबन्धन नाटकादि में नहीं करना चाहिए। क्योंकि दृष्ट सुख ही नाटकादि का फल होता है, इसमें यदि वानप्रस्थान का उपनिबन्धन करते हैं तो नाटक विरस हो जायेगा। लोक इसको देखने में प्रवृत्त नहीं होगा। गुणैः' पद से अप्रधानभूत चेष्टायें को हेय हैं और अपाय-प्रधान होने से इनका सम्बन्ध प्रतिनायक गत समझना चाहिए।

नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं[1] बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं [2]भवति हि तन्नाटकं नाम ।। १२ ।।

तस्मादस्य तन्नामेत्याह—नृपतीनां यच्चरितिमिति ।

यद्यस्मान्नृपतीनां संबन्धि व्युत्पाद्यानां सामर्थ्यात् नृपतीनामेव नाटकन्नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति, तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं चोपायव्युत्पत्तिपरिघट्टितया चेष्टया नर्त्तयति । नट नृतौ नृत्ते इत्युभयथा हि स्मरन्ति तदिति तस्माद्धेतोः नामास्य नाटकमिति ।

क्योंकि उनके पूर्वपक्ष स्थानीय होने से उनका प्रतिषेध करके सिद्धान्त कल्प नायक के चरित का निर्वाह करना है। अतः जनपदों और उनके कोशादि की समृद्धि, कौमुदीमहोत्सव आदि विलास, सन्धि-विग्रह आदि गुण हैं, इस प्रकार का व्याख्यान है, चाणक्य शास्त्र के परिचय से नीति-परिज्ञान फल है। वस्तु शब्द से और राजर्षि वंश चरित शब्द से समस्त अर्थराशि का संग्रह है। अवान्तर वस्तु की समाप्ति में विश्राम के लिए जो विच्छेद हैं, अङ्क हैं और जो निमित्त बल से प्राप्त है, अप्रत्यक्ष चेष्टितों के आवेदक अर्थात् प्रवेशकों से युक्त नाटक नामक रूपक होता है ॥ १०-११ ॥

अब नाटक नाम की सार्थकता बतलाते हैं—

अनुवाद—राजाओं का जो चरित नाना प्रकार के रसों और भावों के अनुसार अनेक चेष्टाओं से युक्त हो, और जो सुख-दुःख की उत्पत्ति का वर्णन हो, उसे 'नाटक' कहते हैं ॥ १२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि व्युत्पाद्य अर्थात् विनेयों के सामर्थ्य से राजाओं से सम्बन्धित इतिवृत्तात्मक रूपक ही नाटक कहलाता है। उनकी चेष्टायें विनय-भाव को देने वाली हैं जो हृदय में प्रवेश करके रञ्जन के उल्लासना के द्वारा हृदय और शरीर को नचा देता है, अतः वह नाटक है। 'नट' धातु से 'नाटक' शब्द बनता है। 'नट्' धातु के दो अर्थ होते हैं—'नृति' और 'नृत्त'। इन दो अर्थों में इनका स्मरण किया जाता है। इसलिए इसका नाम 'नाटक' है।

---

१. ख. नानारसभावचेष्टितैः । ग. नानारसभावसम्मतम् ॥
२. ख. तज्ज्ञेयं नाटकं नाम । क. (भ.) नानाविधमन्वयं श्रितं च ।
क. (प.) वाच्यं यन्नाटके भवति ।

ननु पुराणाद्युपनिबद्धोऽपि तदर्थः कस्मान्नटानेवैवं भावयतीत्याह—नानेति।

बहुप्रकाराः। अत्र संभावयन्ति संपादयन्ति यानि चेष्टितानि नटव्यापारात्मानोऽभिनयाः तैरेतत्प्रह्वीभावदायकं हृद्यतमरसास्वादसूचोद्वारप्रवेशितं तत्कर्तव्यसूत्रं हृदयारोहणरूढशौर्यादिधर्मरत्नप्रथनकारि भवतीति ह्युक्तमसकृत्।

ननु नृपतिचरित एव किमित्ययमास्वादो न देवचरित इत्याह—बहुधेति। प्रकाराः उपायवैचित्र्याद्याः सुखदुःखोत्पत्तयस्तासां कृतं संपादनं यत्र, देवचरिते तु तन्नास्तीत्युक्तम्। अत एव प्रतीतिविघातस्य वैरस्यदायिनः संभवो यत्र यत्र तन्नाटके नोपनिबद्धव्यम्।

तेन वर्तमानराजचरितं नावर्णनीयमेव, तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपस्याकिञ्चित्करत्वात्, योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत्। एतदर्थमेव प्रख्यातग्रहणं प्रकर्षद्योतकं पुनः पुनरुपात्तम्। अत एव वेदशास्त्रं न नाटकं नियोगेन हि तत्र पुमान् प्रवर्त्तते, न फलोत्पत्त्या। फलप्राधान्यपक्षेऽपि तत्र सन्देहः। एवं पुराणादावपि। इह तु बाधोदयासहिष्णुप्रत्यक्षायमाणा चिरविलम्बितप्रतीतिसिद्धा सुखदुःखोत्पत्तिरिति। अनेन वाक्येनैतदुक्तं भवति—यद्यपि सर्वरूपकाणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयांश्च विनीतान् करोति। तत एव नाटकशब्दः सामान्यवचन इति

नाटक का इतिवृत्तभूत अर्थ पुराणादि में उपनिबद्ध है जिसका उपयोग सभी लोग कर सकते हैं तो यह अर्थ नटों को ही क्यों भावित करता है? इस पर कहते हैं, 'नानारसेत्यादि'। यहाँ पर जो चेष्टायें हैं वे नाना प्रकार के नट-व्यापार रूप अभिनयों का सम्पादन करते हैं, उन्हीं के द्वारा प्रह्वीभाव के प्रदायक है जो हृद्यतम रसास्वाद रूप सुई के द्वारा प्रवेश कराया गया कर्त्तव्य सूत्र है जो हृदय पर आरोहण कर शौर्यादि धर्मरत्नों का ग्रथन करता है। इस बात का हम बार-बार कह चुके हैं।

अब प्रश्न होता है कि राजाओं के चरित में ही ऐसा आस्वाद क्यों है? और देवताओं के चरित में क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अनेक प्रकार के उपायों के वैचित्र्य से जो सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है उनका सम्पादन इनमें होता है, देवचरित में नहीं होता। यह भी पहिले कहा जा चुका है। इसलिए प्रतीति के विघातक वेरस्य की सम्भावना जहाँ हो उनका नाटक में उपनिबन्धन नहीं करना चाहिए।

"कार्योत्पन्नानि नाटके" इत्यादिषु स्थानेषु दर्शितः। तथापि ह्यवश्यव्युत्पाद्या राजानो यद्व्युत्पत्तिद्वारेण विश्वं व्युत्पन्नं, तेन तदीयहृदयसंवादयोग्यनृपतिचरित-प्रदर्शनेन प्रधानतया प्रधानेऽर्थे व्युत्पाद्यन्ते, अमात्यादयः तदङ्गत्वेनैव प्रयोगस्य च यथोचितसमुद्गकस्थगनवद्व्युत्पाद्यभावात्तेन प्रधानपुरुषार्थे प्रधानविनेयानामन्यत्रान्येषां वेदयतोऽवनतिं व्युत्पत्तिं ददाति तत एव नाटकमुच्यते।

श्री शङ्कुकस्तु व्याचष्टे विजिगोषुररिर्मध्यमोदासीनो मित्रं मित्रमित्रमिति। एषां चरितमिति बहुवचनेन लभ्यते। अन्ये त्वाहुः—पूर्वं राजर्षिवंशप्रभवा नायका उक्ता अनया त्वार्यया चन्द्रगुप्तबिन्दुसारादयोऽपि संगृह्यन्त इति। व्याख्यातमर्थद्वयमेतत्पूर्वयार्ययैवं सङ्गृहीतमिति प्रथमव्याख्यात एव युक्तयुक्तोऽर्थः।

इस प्रकार वर्तमान कालिक राजा का चरित अवर्णनीय है उसमें विपरीत प्रसिद्धि के बाध के द्वारा अध्यारोप करना अकिञ्चित्कर होगा। जैसे—योगानन्द एवं रावणादि के चरित के समान अध्यारोप करना अकिञ्चित्कर है, व्यर्थ है। इसी लिए प्रकर्ष के द्योतक प्रख्यात शब्द का ग्रहण बार-बार किया गया है। इसलिए कहते हैं कि यह वेदशास्त्र नहीं, अपितु नाटक है। विनियोग होने से ही उसमें लोग प्रवृत्त होते हैं न कि फलोत्पत्ति से। फल की प्रधानता के पक्ष में भी उसमें सन्देह रहता है। इसी पुराण आदि के विषय में भी समझने चाहिए। यहाँ नाटक में तो बाध के उदय को न सहन करने वाली प्रत्यक्ष अनुभूयमान दुःख की उत्पत्ति शीघ्र विलम्ब से होने वाली प्रतीति से सिद्ध है। इस वाक्य से यह कहा गया है कि यद्यपि सभी रूपकों का प्रयोजन हृदय में प्रविष्ट होकर विनेयों को विनीत करना है। इसलिए नाटक शब्द यह सामान्य कथन 'कार्योत्पन्नानि नाटके' इत्यादि स्थलों में दिखाया गया है, तथापि उन राजाओं को अवश्य व्युत्पन्न करना है जिनको व्युत्पत्ति के द्वारा विश्व व्युत्पन्न होता है। अतः व्युत्पादों के हृदय में संवाद के योग्य राजाओं के चरित प्रधान रूप से प्रदर्शन के द्वारा प्रधान अर्थ में विनेयों को व्युत्पन्न करते हैं, तदङ्ग अमात्यादि को प्रयोग के औचित्य के अनुसार कभी व्युत्थान और कभी तिरोधान के अनुसार व्युत्पाद्य-व्युपादक भाव होने से प्रधान पुरुष के अर्थ में प्रधान विनेयों को अन्यत्र अन्यों (अप्रधानों) को विनीत करते हुए अवनति की व्युत्पत्ति देता है, अत एव नाटक कहा जाता है।

यत्तु कैश्चिदभिधीयते—

देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेयाः ब्राह्मणा वणिजस्तथा॥

इति वचने पर्यालोच्यमाने देवादीनां नाटकनायकत्वानुपपत्तेः, धीरललित एक एव नायक इति। तदसत्, न हि जनकप्रभृतीनां रामादीनामपि वा धीरललितत्वम्, यदाह—"धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः" इति।

यत्तु पठित तत्र धीरललितत्वं राज्ञ एव वर्णनीयं नान्यस्य, सेनापत्यमात्ययोर्धीरोदात्तत्वमेव, देवानां धीरोद्धतत्वमेव, द्विजातीनां धीरप्रशान्तत्वमेवेति, एवं परं द्रष्टव्यं—अत एव प्रख्यातोदात्तेत्यत्र चत्वारोऽपि नायकाः स्वीकृता इति व्याख्येयम्।

श्री शङ्कुक व्याख्या करते हैं कि 'नृपतीनाम्' इस बहुवचनान्त शब्दों के प्रयोग से विजिगीषु, विजिगीषु का शत्रु, मध्यस्थ, उदासीन, मित्र और मित्र का मित्र—इन छः का ग्रहण होता है। अन्य आचार्यों का मत है कि पहिले राजर्षि वंश में उत्पन्न नायक को कहा है किन्तु इस आर्या से चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार आदि का भी संग्रह होता है। व्याख्यात इन दोनों अर्थों का पूर्व आर्या से ही संग्रह हो गया है, अतः हमारे व्याख्यान का प्रथम अर्थ ही युक्त है।

जैसा कि कुछ लोग कहते हैं कि "देवताओं को धीरोद्धत नायक समझना चाहिए, राजा धीर ललित होते हैं, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त नायक कहे गये हैं और ब्राह्मण तथा वणिक धीर प्रशान्त होते हैं।"

इस कथन के पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि देवता आदि नाटक के नायक नहीं हो सकते। केवल धीरललित ही नायक हो सकता है, किन्तु यह कथन असत् है, क्योंकि जनक आदि अथवा राम आदि धीरललित नहीं थे। जैसा कि कहा है कि—'राम नामक विष्णु का धीरोदात्त चरित सर्वोत्कृष्ट है'।

जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है कि राजा का ही धीरललित के रूप में वर्णन करना चाहिए, अन्य का नहीं। इस प्रकार सेनापति और अमात्य का धीरोदात्त के रूप में, देवताओं को धीरोद्धतत्व के रूप में, द्विजातियों का धीरप्रशान्तत्व के रूप में वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार आगे भी देखना चाहिए। इसलिए 'प्रख्यातोदात्त' पद से चारों को ही उदात्त नायक समझने चाहिए। इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए॥ १२॥

[1]अस्यावस्थोपेतं कार्यं [2]प्रसमीक्ष्य बिन्दुविस्तारात् ।
[3]कर्तव्योऽङ्कः सोऽपि तु गुणान्वितं नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥ १३ ॥

एवं निर्वचनमनयार्यया दर्शितम् । प्रख्यातवस्तुप्रभृतिरर्थोऽन्यत्र सुप्रसिद्धः अङ्कप्रवेशकौ त्वप्रसिद्धौ, इत्यङ्कस्वरूपं तावद्वितस्य कथयति—अस्यावस्थोपेतमिति ।

अस्य नाटकस्य यत्कार्यं बिन्दुकृतया विस्तारणया विततीकरणरूपया अनुसन्धानजननबलादेकावस्थानुरूपमाधिकारिकमितिवृत्तं सम्पाद्यम्, तदवस्थया प्रारम्भादिकयोपेतं परिपूर्णं प्रकर्षेण संबन्धं प्रेक्ष्य अङ्कः कर्तव्यः । एतदुक्तम्—इति वृत्तस्य बिन्दुसूत्रस्यूतस्य प्रारम्भाद्यवस्थापञ्चकचारिणो यदा प्रारम्भावस्थापूर्णत्वमेति तदा अङ्कच्छेदो बिन्दुद्वारानुसन्धीयमानद्वितीयाङ्काभिधेयरूपो विधेयः । एवं प्रयत्नाद्यवस्थाचतुष्टयेऽपि वाच्यमिति पञ्च तावदङ्का इति मुख्यः कल्पः ।

अभिनव—इस प्रकार इस आर्या के द्वारा इस प्रकार का निर्वचन दिखा दिया । प्रख्यात वस्तु प्रभृति अर्थ अन्यत्र सुप्रसिद्ध है किन्तु अङ्क और प्रवेशक अप्रसिद्ध है । इसलिए अङ्क के स्वरूप को विस्तार से कहते हैं—

अनुवाद—नाट्यतत्त्ववेत्ताओं से नाटक के विभिन्न अवस्थाओं से उपेत कार्यों को देखकर बिन्दु के विस्तार से गुणों से आश्रित अंकों की रचना करनी चाहिए ॥ १३ ॥

अभिनव—इस नाटक के जो कार्य है, वह बिन्दु के द्वारा किये गये विवतीकरण रूप विस्तारण से अनुसन्धान के बल से अवस्थादि के अनुरूप आधिकारिक इतिवृत्त का सम्पादन करना चाहिए । अतः प्रारम्भादि अवस्थाओं से उपेत परिपूर्ण इतिवृत्त का प्रकर्ष से सम्बन्ध को देखकर अङ्क का विधान करना चाहिए । यह कहा गया है कि बिन्दु रूप सूत्र से अनुस्यूत प्रारम्भादि पाँच अवस्थाओं में सञ्चरणशील इतिवृत्त की प्रारम्भावस्था जब पूर्ण हो जाय तब अङ्कच्छेद बिन्दु के द्वारा अनुसन्धीयमान द्वितीय अङ्क के अभिधेय रूप विधान करना चाहिए । इसी प्रकार प्रयत्नादि चार अवस्थाओं में भी कहना चाहिए । इसीलिये नाटकों में पाँच ही अङ्क होते हैं । यह मुख्य कल्प है ।

---

१. ख. ग. अङ्कावस्थोपेतं । क. (प०) तत्रावस्थोपेतम् ।
   क. (टि०) नानावस्थान्तरितां संहारमात्रमधिकृत्य ।
२. क. (टि०) सम्प्रेक्ष्यसप्तवेक्ष्य ।
३. ग. कर्तव्योऽङ्कस्तज्ज्ञैः स तु सम्यङ् नाटके विधिवत् ।

नन्वेवं न्यूनत्वे आधिक्ये चाङ्कानां कथं निबंन्ध इत्याह—नाट्यतत्त्वज्ञैरनयैव दिशा सोऽङ्कः, अपिशब्दादन्यथा कर्तव्यः। तुर्विशेषं द्योतयति। यदा प्रारम्भावधिप्रधानं भवतीति तदा तस्या एवोपक्रमोपसंहारावस्थाद्वयापेक्षया द्वावङ्को, अन्यासामेकैकाङ्कतेति यावत् सर्वासामवस्थाद्वययोगेन संपादनमिति षडङ्कात् प्रभृति सप्ताष्टप्राप्तौ दशाङ्कत्वम्।

काञ्चिदवस्थां प्रधानीकृत्य यदा अवस्थान्तरेण मिश्रीकृत्य वध्नाति तदा नाटिकाया न्यूनाङ्कत्वमिति। एतत्तुशब्देन तत्त्वज्ञशब्देन च दर्शितम्। तत्रावस्थाः "प्रारम्भश्च प्रयत्न" श्चेत्यादिना वक्ष्यन्ते (अ—१९) "प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारण" मिति बिन्दुः वक्ष्यते, "यदाधिकारिकं सम्य" गिति (अ—१९) कार्यम्॥ १३॥

अब प्रश्न यह होता है कि जब अवस्थाओं के अनुसार अङ्कों का निर्माण करना है तो इन अङ्कों का न्यूनत्व तथा आधिक्य में उपनिवन्धन कैसे होता है? इस पर कहते हैं कि नाट्यतत्त्ववेत्ता इस दिशा से अङ्कों को अन्यथा भी कर लेते हैं यह बात 'अपि' शब्द से कही गई है। और 'तु' विशेष को द्योतक करता है। जब प्रारम्भ की अवधि प्रधान होती है तो उसी के उपक्रम और उपसंहार रूप दो अवस्थाओं की अपेक्षा से दो अङ्क होते हैं और अन्य के लिए एक-एक अङ्क होते हैं। इसी प्रकार सभी में उक्त दोनों अवस्थाओं का सम्पादन हो तो छः अङ्क से लेकर सात, आठ, दस अङ्क तक हो सकते हैं।

इनमें किसी अवस्था को प्रधान करके जब अन्य अवस्थाओं से मिलाकर निबन्धन करेंगे तो नाटिका में न्यून अङ्क होंगे। इस बात को 'तु' शब्द से तथा तत्त्वज्ञ शब्द से दिखाया गया है। उनमें अवस्थाओं को 'प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च' इत्यादि के द्वारा कहेंगे। इसी प्रकार 'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्' इत्यादि में 'विन्दु' को कहेंगे और "यदाधिकारिकं वस्तु सम्यग्" इत्यादि से कार्य को कहेंगे॥ १३॥

अङ्क इति [1]रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्[2] ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥ १४ ॥

[3]अङ्कसमाप्तिः कार्या काव्यच्छेदेन बीजसंहारः ।
वस्तुव्यापी बिन्दुः काव्यसमुत्थोऽत्र नित्यं स्यात् ॥ १५ ॥

अथ कस्मादङ्क इत्याह—अङ्कः इति रूढ़िशब्द इति । भावैः रसैश्च गूढश्छन्नः व्याप्तोऽर्थोऽङ्कशब्देन यादृच्छिकेनोच्यत इति भट्टलोल्लटाद्याः गूढ इति पाठं व्याचक्षिरे । अन्ये रोहयत्यर्थानिति पठन्ति, व्याचक्षते च रूढौ रोहणं तेनोत्सङ्ग उच्यते यो नाटकांशः शृङ्गारादिरसैर्विभावव्यभिचारिणोऽर्थान् तथा भावैर्विभावाद्यैः यथास्वं भावादीनर्थान् हृदयमारोपयति अर्थात् वहति, नानाप्रकारैश्च वक्ष्यमाणैः 'ये नायका निगदिता' इत्यादिभिः विधानैरुपेतः तस्मादुत्सङ्गवदारोहणसंबन्धादङ्क इत्युच्यते । एतत्पुष्कलमिव अजाविना रूढेरत्रार्थवृत्त्यदर्शनात् । तस्मादयमत्रार्थः—अङ्क इत्ययं लक्षणे रूढ़ः शब्दः, अन्यतो व्यवच्छेदकं लक्षणम् । एतदपि च नाटयरूपकस्य नानात्वमन्यतो भेदं बिभर्ति अनभिनेयात् ।

अनुवाद—'अङ्क' यह रूढ़ि शब्द है जो भाव और रसों के द्वारा अर्थों को रोहित करता है, क्योंकि वह नाना विधान से युक्त होता है, इसीलिए वह 'अङ्क' होता है ॥ १४ ॥

अनुवाद—काव्य के विच्छेद से जहाँ बीज का संहार हो वहाँ अङ्क की समाप्ति कर देनी चाहिए और कथावस्तु व्यापक रूप से स्थित बिन्दु काव्य का समुत्थापक नित्य हो ॥ १५ ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि इसे 'अङ्क' क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि अङ्क यह रूढ़ि शब्द है । यहाँ पर भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्य 'रूढ़ि' शब्द के स्थान पर 'गूढ़' शब्द पाठ मानकर अर्थ करते हैं कि 'जो रसों और भावों से गूढ़ या छन्न है' यह अर्थ यादृच्छिक अङ्क शब्द से मिलता है । अन्य इस आर्या के द्वितीय पाद में 'रोहयत्यर्थान्' यह पाठ मानते हैं और व्याख्या करते हैं कि 'रूढ़ि' का अर्थ राहण है और रोहण से उत्सङ्ग को ग्रहण करते हैं । अतः जो नाटक का अंश शृङ्गारादि रसों के द्वारा विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव रूप अर्थों को तथा भावों अर्थात् विभावादि के द्वारा यथास्व अर्थात् योग्यता के अनुसार भावादि अर्थों का सामाजिकों के हृदय पर आरोपण कर देता है अर्थात् स्वयं वहन करता है ।

---

१. क. (प.) गूढ़शब्दो । २. क. (भ.) चिह्नयत्यर्थान् ।
३. अयं श्लोकः ग, ब, भ, च. पुस्तकेषु दृश्यते ।

यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क[1] इति सदावगन्तव्यः ॥ १६ ॥

अभिनेये हि य एकदेशः स रसभावैरुपलक्षितानप्यर्थान् रोहयति हृदयसंवाद-साधारणताकरणेन प्रत्यक्षीभावनया रसाध्यायोक्तयाभिरोहणं बीजस्येवाङ्कुराकार-तया रसाकारोदप्ररोहो भवति। स चानभिनेयरूपकांशैरेव संपाद्यत इत्यनभिने याद् भेदमादधानोऽभिनेयस्य रूपकस्य लक्षणं भवत्येव। एवमङ्कशब्दस्यान्वर्थो व्याख्यातः ॥ १४॥

स्वरूपन्तु वक्तव्यं तद्दर्शयन्ति—यत्रार्थस्य समाप्तिरिति ।

वक्ष्यमाण 'ये नायका निगदिताः' इत्यादि नाना प्रकारों से विधानों से युक्त हैं। अत एव उत्सङ्ग की तरह आरोहण सम्बन्ध से 'अङ्क' कहा जाता है। यह तथ्य अज और अवि शब्द बकरी और भेड़ अर्थ में रूढ़ है, प्रसिद्ध है, क्योंकि वृत्ति में यह अर्थ दिखाया नहीं गया है। इसलिए इसका यह अर्थ है—'अङ्क' यह शब्द लक्षण में रूढ़ है और लक्षण दूसरे प्रकृत अर्थ का व्यवच्छेदक होता है। ऐसी स्थिति में अङ्क भी दृश्य रूपक नानात्व को कहता है और अनभिनेय काव्यों से उनका भेद दिखाता है।

अभिनेय में जो एकदेश है वह रस और भावों से उपलक्षित अर्थों का रोहण करता है अर्थात् रसाध्याय हृदय संवाद के द्वारा साधारणीकरण रूप प्रत्येक भावना से अभिरोहण करता है अर्थात् बीज की अङ्कुराकारता के समान रसाकारता के भावों का उदय एवं प्ररोह होता है और वह अङ्क अनभिनेय रूपक के अंशों से ही सम्पादित होता है। इस प्रकार अनभिनेयों से भिन्न यह अङ्क अभिनेय रूपक का लक्षण होता ही है। इस प्रकार अङ्क शब्द के अनुगत अर्थ की व्याख्या कर दी गई है ॥ १४-१५ ॥

अब अङ्क के स्वरूप को दिखाते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर अर्थ की समाप्ति हो और जहाँ पर बीज का संहार हो तथा जहाँ पर बिन्दु किञ्चित् अवलग्न हो, उसे सदा अङ्क समझना चाहिए ॥ १६ ॥

---

१. क. (डि०) योऽङ्क इति सोऽवगन्तव्यः ।

प्रारम्भाद्यवस्थालक्षणोऽर्थो यत्र समाप्यते सोऽङ्कः। अङ्कसमाप्तायामपि वा अवस्थायां यदा बीजस्य संहरणं यथास्वं सन्धिभेदेनोचितं भवति तदाप्यङ्कच्छेदः तत्रोत्पत्तिरुद्घाटनमुद्भेदो गर्भनिर्भेदः फलसमानयनमिति मुखादिषु यथाक्रमं बीजस्य दशाविशेषाः संहारशब्दवाच्याः। अङ्कविच्छेदे चार्थाविच्छेदो माभूदित्य-बलग्नः संबन्धो बिन्दुर्यत्र तादृगङ्क कर्तव्यः। तथा तापसवत्सराजे तृतीयाङ्क-समाप्तौ—

आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपितां
पश्चात्तापभरेण तानवकृता नीतां परं लाघवम्।
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमात्संपिण्डिताङ्गीमिमां
सर्वाङ्गप्रणयप्रियामिव तरुच्छायां समालम्बते॥

इति राज्ञः उक्तया पद्मावत्याः परिणयाभ्युपगमभनुसन्धयत्या प्राप्तिसंभवाख्य तृतीयावस्थाप्रदर्शिनि भाविनि चतुर्थेऽङ्के बिन्दुर्योजितः।

अभिनव—जहाँ पर आरम्भादि अवस्था लक्षण अर्थ की समाप्ति होती है, वह 'अङ्क' है। अवस्था को समाप्ति होने पर भी सन्धियों के भेद से उचित बीज का संहरण जब होता है तब भी 'अङ्कच्छेद' होता है। मुखादि सन्धियों में क्रमशः उत्पत्ति, उद्भेद और फल को समापन रूप जो बीज की दशा विशेष है उसे 'संहार' कहते हैं। अङ्क का विच्छेद होने पर भी अर्थ का विच्छेद न हो, इसलिए जहाँ पर बिन्दु का सम्बन्ध बना रहे, ऐसे अङ्क को करना चाहिए जैसे तापसवत्सराज में तृतीय अङ्क की समाप्ति में—

"आरम्भ में महान् (लम्बे) मान के परिग्रह से बहुत दूर तक पहुँची हुई, बाद में क्षीण कर देने वाले सूर्य के ताप से भार से अत्यन्त छोटी (लघुता) करा दी गई, इस प्रकार अनुगमन से सम्पिण्डित (संक्षिप्त) करके उत्सङ्ग गोद (वृक्ष की जड़) में पहुँची हुई वृक्ष की छाया सर्वाङ्ग में प्रणय करने वाली प्रिया की तरह समालम्बन करती है।"

इस प्रकार पद्मावती के परिणय के स्वीकृति का अनुसन्धान करने वाली राजा की उक्ति से प्राप्ति सम्भव रूप तृतीय अवस्था को दिखा देने वाले चतुर्थ अङ्क में बिन्दु की योजना की है।

एवमङ्कस्वरूपमनेन निरूपितमिति चिरन्तनाः। तच्चैतत्पुनरुक्तं "अस्यावस्थोपेतं कार्यं प्रसमीक्ष्ये" त्येतेन हि कियन्नोक्तं यदनेन लक्षणेनाभिधीयते। तस्मादिदमत्रार्थतत्त्वं—अङ्कस्वरूपं तावदस्यावस्थोपेतमित्यनेनैवोक्तं नामनिर्वचनं च "अङ्क इति रूढिशब्द" इत्यनेन दर्शितम्। अनया त्वार्यया अङ्कस्य त्रैविध्यमुच्यते तथा चोक्तं कोहलेन—

त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपणं चूडा बह्वर्थैः सूतवन्दिभिः॥
अङ्कस्याङ्कान्तरे योगस्त्ववतारः प्रकीर्तितः।
विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा॥
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते॥

अत्रार्थस्य कस्यचित् सम्यगन्यत एवानभिसन्धानपूर्विकाप्तिः प्राप्तिरिति चूडा दर्शिता। तद्यथा रत्नावल्यां वैतालिकपाठाद् 'दृशामुदनयनस्य' इत्यन्तः

इस प्रकार इसके द्वारा अङ्क के स्वरूप का निरूपण कर दिया, ऐसा चिरन्तनों का मत है। किन्तु यह पुनरुक्त है, यहाँ 'अस्यावस्थोपेतं कार्यं प्रसमीक्ष्य' इस कथन से कितना अंश नहीं कहा है जिसे 'यत्रार्थस्य' इस लक्षण से कहा गया हो। इसलिए इसका यहाँ यह अर्थ है कि 'अस्यावस्थोपेतम्' इससे 'अङ्क' का स्वरूप लक्षण कहा गया है और 'अङ्क इति रूढ़ि शब्दः' इस कथन से नाम निर्वचन अर्थात् तटस्थ लक्षण दिखाया गया है। इस आर्या के द्वारा अङ्क के त्रैविध्य को कहा गया है, जैसा कि कोहल ने कहा है—

"अङ्कावतार, चूड़ा और अङ्कमुख भेद से अङ्क तीन प्रकार का होता हैं, इनमें जहाँ पर एक अङ्क में दूसरे अङ्क का योग हो उसे 'अङ्कावतार' कहते हैं, जहाँ पर सूत और बन्दियों के द्वारा बहुत प्रकार के अर्थों से विशिष्ट अर्थ का उपक्षेपण होता है, उसे 'चूड़ा' कहते हैं और जहाँ अङ्क के विश्लिष्ट मुख का स्त्री अथवा पुरुष के द्वारा उपक्षेप किया जाता है उसे 'अङ्कमुख' कहते हैं।

यहाँ पर किसी अर्थ को अन्य प्रकार से अनुसन्धान किये बिना ही प्राप्ति होती है, इस प्रकार चूड़ा को दिखाया है। जैसे रत्नावली में वैतालिक के पाठ से 'दृशामुदयनस्य' यहाँ तक सम्यक् उपयोगी अर्थ प्राप्त हो गया, क्योंकि सागरिका

उपयोगी सम्यगर्थः प्राप्त तत्प्रत्यभिज्ञामूलत्वात् सागरिकानुरागस्य, तथा चाह 'अअं सो राआ उदअणो (अयं स राजा उदयनः) (१-२३) इत्यादि। तदर्थमेव च वसन्तक्रीडादिसर्वमुपक्षिप्तम्। तदेव च राजानुरागस्य शय्याफलकादिकृतस्य मूलमिति चूलिकेत्युक्तम्। तेन प्रथमः चूलिकाङ्कः। यत्र त्वङ्के सर्वेषामङ्कानां योऽर्थो बीजलक्षणस्तस्य संहारः संमिलितत्वेन प्राप्तिर्भवति सोऽवताराङ्कः, यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्कः। तत्र हि 'ईरिसस्स कण्णआजणस्स ईरिस एव वरे अहिलासेण होदव्वम्। (ईदृशस्य कन्यकाजनस्येदृश एव वरे अभिलाषेण भवितव्यम्।) इत्यादि प्रकृतमेव सर्वं वर्ण्यते।

यत्र त्वनुसन्धानमात्रप्राणत्वेन तदुपयोगिता वृत्तान्तमुच्यते तदुपश्लिष्टमङ्कमुखम्। स एवेह किञ्चिदवलग्नाबिन्दुरित्यनेन तृतीयो भेद उक्तः। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के ऐन्द्रजालवृत्तान्तनिरूपणं चूलिका तस्याश्च भेदः, चूलिकाङ्कस्यापि तदभिसन्धानाभावात्। इह त्वभिसन्धानं यौगन्धरायणादीनामस्त्येव। तेनायं संक्षेपः—अङ्के यद्वर्णनीयं वस्तु तत्तावत् द्विधा-प्रधानं तदुपयोगि च, तदुपयोग्यपि किञ्चिद्दैववशादुपयोगं याति किञ्चिदभिसन्धिबलादिति त्रिविधोऽङ्कार्थः। स कदाचिदेकस्मिन्नङ्के मिश्रभावेनापि निबध्यत इति चूलिकाङ्कमुखयोरङ्कभेदयोः प्रधानार्थस्पर्शो नैवास्तीति ॥ १५-१६ ॥

के अनुराग का वह प्रत्यभिज्ञा मूल है। जैसा कि कहते हैं 'अयं स राजा उदयनो' (यह वह राजा उदयन है) इत्यादि। इसीलिए बसन्तक्रीड़ा आदि सभी अर्थों का उपक्षेप किया गया है। शय्या, चित्रफलक आदि देखने से राजा के अनुराग का वही मूल है, इसलिये उसे 'चूलिका' कहा है। इसलिये यह प्रथम चूलिकाङ्क हैं। जहाँ पर अङ्क में सभी अङ्कों का बीज लक्षण रूप जो अर्थ है इसका संहार सम्मिलित रूप में प्राप्ति होती है वही अवताराङ्क है। जैसे रत्नावली का द्वितीय अङ्क है। वहाँ इस प्रकार की कन्या का इस प्रकार के वर में अभिलाष होना चाहिए इत्यादि सब प्रकृत का ही वर्णन है।

जहाँ पर तो अनुसन्धान मात्र ही प्राण है तदुपयोगी वृत्तान्त को कहते हैं, वह उससे उपश्लिष्ट अङ्कमुख है। उसी का यहाँ 'किञ्चिदवलग्न विन्दु' इस शब्द से तृतीय भेद कहा है। जैसे—रत्नावली के तृतीय अङ्क में ऐन्द्रजालिक के वृत्तान्त का निरूपण। उसी का भेद चूलिका है, क्योंकि चूलिका के अङ्क का उसमें अभिसन्धान नहीं है। यहाँ पर तो यौगन्धरायण आदि का अभिसन्धान है।

ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरितसम्भोगः[1]।
[2]नानावस्थोपेतः कार्यस्त्वङ्कोऽविप्रकृष्टस्तु ॥ १७ ॥

तथा प्रवेशकद्वारेण मुख्यचरितमपि शङ्कां वारयितुमाह—ये नायका इति।

धीरोदात्तादयो विजिगीषुतन्मित्रप्रभृतयो वा ये नायकाः प्रतिनायकाश्च तेषां चरितं, तदुपायानुष्ठानं तथा संयोगः प्रत्यक्षः सन्निहितः साक्षाद् दृश्यमानो, न तु सूच्यमानो, यत्र तादृगङ्कः। नयति प्राप्नोतीनिवृत्तंफलं वेति नायकचरितप्रत्यक्षतया व्युत्पत्तिः प्रेक्षकाणां संभोगाप्रत्यक्षत्वं च तद्गतकेवलक्लेशदर्शनाद् वैरस्यं सामाजिकस्य स्यात्। किमनेन महता कष्टेनेति तत एवोक्तं न निस्सुखः स्यादिति। नानाप्रकारावस्थौ प्रतिनायकगतौ चरितसंभोगावनुपादेयावविषये चेति हेयावस्थौ। नायकगतौ तु तद्वैपरीत्यादुपादेयावस्थाविति तुशब्दस्यार्थः। अविप्रकृष्ट इत्यदीर्घः। दीर्घो हि प्रयोक्तृप्रेक्षकाणां खेदाय स्यात् ॥ १७ ॥

इसलिए यहाँ पर यह संक्षेप है—अङ्क में जो वर्णनीय वस्तु है वह दो प्रकार का है—प्रधान और तदुपयोगी। तदुपयोगी भी दो प्रकार का है—एक तो दैववश उपयोगी हो गया है और दूसरा जो अभिसन्धि के बल से उपयोगी उपयोग में आया है। इस प्रकार अङ्कार्थ तीन प्रकार का होता है। वह कभी एक अङ्क में मिश्र भाव से उपनिबन्धन किया जाता है, इस प्रकार चूलिका और अङ्कमुख नामक अङ्क के भेदों में प्रधान अर्थ का स्पर्श नहीं होता है ॥ १६ ॥

अब प्रवेशकों के द्वारा मुख्य चरित में भी आने वाली शङ्का का निवारण करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—नाटकों में जो नायक कहे गये हैं उनका चरित और सम्भोग प्रत्यक्ष हो, ऐसे नाना अवस्थाओं से युक्त संक्षिप्त अङ्क को करना चाहिए ॥ १७ ॥

अभिनव—धीरोदात्तादि विजिगीषु अथवा उनके मित्र प्रभृति जो नायक एवं प्रतिनायक हैं उनके चरित, उनके लिए अनुष्ठेय उपाय तथा सम्भोग जो कि प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् दृश्यमान हो, न कि सूच्यमान जहाँ हो, वह अङ्क इतिवृत्त अथवा फल की तथा नायक के चरित की व्युत्पत्ति प्रत्यक्ष तथा दर्शकों (प्रेक्षकों) को करता है क्योंकि सम्भोग का प्रत्यक्ष न होने पर नायक के क्लेश बाहुल्य का यदि दर्शन हो तो सामाजिक को वैरस्य हो जायेगा जिससे कि इस महान् कष्टों के सहने से क्या लाभ ? इत्यादि। इसलिए कहा गया है कि निःसुख नहीं होगा।

१. ख., ग. संयोगः। २. ख. भ. नानावस्थान्तरितः।

नायकदेवीगुरुजनपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्[1] ।
नैकरसान्तरविहितो ह्यङ्कः[2] इति स वेदितव्यस्तु ॥ १८ ॥

[3]पञ्चाक्षरा दशपरा ह्यङ्काः स्युर्नाटके प्रकरणे च ।
निष्क्रामः सर्वेषां यस्मिन्नङ्कः स विज्ञेयः ॥ १९ ॥

एवं प्रधानवर्णनीयस्य वृत्तमुक्त्वा तदुपयोगि वृत्तस्य दिशं दर्शयितुमाह—नायकदेवीत्यादि ।

नायका मुख्याः नायिकाः देव्यो महादेवीभोगिनीप्रभृतयः । गुरुजनो मातृपितृभ्रात्राचार्यादिः । सार्थवाहोऽत्र सेनापतिः । इतिवृत्तवशाद्वणिगेव वा, एषां संबन्धी अङ्क एतदर्थाभिधायक इति यावत् । अत एव नैकेन विचित्रेण रसविशेषेण युक्तस्तथा हि देवीयोगो शृङ्गारः नायके वीर इत्येवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । नाटकानां वेश्यादय इत्यन्ये । अङ्क इति । अनेकरसाङ्कितत्वादपि अङ्क इति नामेत्यर्थः ॥ १८-१९ ॥

प्रतिनायक में स्थिति नाना प्रकार के अवस्था वाले चरित और सम्भोग अनुपादेय और अविषय होने से हेय हैं। और नायक में तो उसके विपरीत अर्थात् उपादेय होते हैं, यह 'तु' शब्द का अर्थ है। अविप्रकृष्ट का अर्थ है अदीर्घ अर्थात् जो लम्बा हो। क्योंकि जो दीर्घ अभिनेय होता है वह प्रयोक्ता अभिनेताओं और दर्शकों को खेद उत्पन्न करता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार वर्णनीय प्रधान वृत्त को कहकर अब तदुपयोगी वृत्त को दिशा दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—नायक, देवी, गुरुजन, पुरोहित, अमात्य तथा सेनापति के अनेक रसों से विहित इतिवृत्त को 'अङ्क' समझना चाहिए ॥ १८ ॥

अनुवाद—नाटक और प्रकरण में पाँच से लेकर दस अङ्क तक अङ्क होने चाहिए, जिसमें सभी पात्रों का निष्क्रमण होता है उसे 'अङ्क' समझना चाहिये ॥ १९ ॥

---

१. क-न. परिजन । गुणजन ।
२. ग. ह्यङ्कः खलु वेदितव्यः सः ।
३. ब. भ. पुस्तकयोरयं श्लोकः नास्ति ।

[1]क्रोधप्रसादशोकाः शापोत्सर्गोऽथ[2] विद्रवोद्वाहौ ।
[3]अद्भुतसंभवदर्शनमङ्के प्रत्यक्षजानि स्युः ॥ २० ॥

न केवलं चरितसंगोगावेव प्रत्यक्षौ किन्त्वन्यदपि यत्र रञ्जनातिशयोऽस्तीति दर्शयन्नाह—क्रोधप्रसादशोका इति ।

शापोत्सर्गः शापकृतस्यानर्थस्य नाशः, यथोक्तस्यानर्थकाभावस्य शङ्काभयत्रासकृतो विद्रव इति गर्भसन्धौ वक्ष्यते । उद्वाहो विवाहः । अद्भुतस्य संभवोऽभ्युपगमः । उपक्रमो दर्शनं न निर्वाह इत्येतच्चान्यस्यापि रञ्जकवर्गस्योपलक्षणम् । अक्षजं ज्ञानं प्रति गतानीति प्रत्यक्षजानि । प्रत्यक्षशब्देन तदेकदेश उच्यते तत्र जातानीत्यन्येन्द्रियवर्गस्य प्रत्यक्षता तावद्भवति, कदाचित्त्वप्रत्यक्षमपि ॥ २० ॥

अभिनव—नायक मुख्य और पताका नायक अमुख्य होता है, देवी महादेवी, भोगिनी आदि हैं, गुरुजन माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता और आचार्य आदि हैं, सार्थवाह पद यहाँ सेनापति का वाचक है अथवा इतिवृत्त के कारण वणिक् है । इनका सम्बन्धी अङ्क अर्थात् इसी अभिप्राय वाला अङ्क है । इसलिए यह किसी एक ही विचित्र रस से युक्त नहीं है, जैसे देवी के सम्बन्ध में शृङ्गार रस, नायक के सम्बन्ध से वीर रस है । इसकी स्वयं उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए । अन्य लोग कहते हैं कि देवी आदि नायकों की होती है । अङ्क का तात्पर्य है कि यह अनेक रसों से अङ्कित है, इसलिए 'अङ्क' यह नाम है ॥ १८-१९ ॥

केवल चरित और सम्भोग ही प्रत्यक्ष नहीं हैं, अपितु अन्य भी प्रत्यक्ष होते हैं, अतः रञ्जनातिशय को दिखलाते हैं—

अनुवाद—क्रोध, प्रसाद, शोक, शापोत्सर्ग, विद्रव, विवाह तथा संभाव्य अद्भुत वस्तु का दिखलाना—ये सब अङ्क में प्रत्यक्ष होने चाहिए ॥ २० ॥

अभिनव—शापोत्सर्ग का अर्थ है शापकृत अनर्थ का नाश । जैसा कि अनर्थ के अभाव का कहा जा चुका है । शङ्का, भय, त्रास से होने वाला विद्रव को गर्भ सन्धि में कहेंगे । उद्वाह का अर्थ विवाह है, अद्भुत रस का सम्भव (उत्पत्ति), उसका अभ्युपगम, उपक्रम, दर्शन और निर्वाह आदि रञ्जक वर्ग के उपलक्षण हैं । अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के प्रति अनुगत हैं वह प्रत्यक्षज है । यहाँ प्रत्यक्ष शब्द से उसके एकदेश को कहा गया है अतः उसमें होने वाले कहने का अभिप्राय है कि अन्य इन्द्रिय वर्ग की प्रत्यक्षता भी होती है और कभी-कभी तत्त्व प्रत्यक्ष भी होता है ॥ २० ॥

---

१. ख. ग. प्रमादः क्रोधः ।
२. ग. अब्दः । ३. ख. ग. अद्भुतसंभवः ।

[1]एकदिवसप्रवृत्तः [2]कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य[3] ।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु[4] ॥ २१ ॥
एकाङ्केन कदाचिद्बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्[5] ।
आवश्यकविरोधेन तत्र कार्याणि कार्याणि[6] ॥ २२ ॥

अथाङ्कस्य प्रयोगकालपरिमाणमियदिति दर्शयति—एकदिवसप्रवृत्तमिति ।

तादृशमन्वान्तरेणार्थेन प्रयोजनेन युक्तं बीजमुपायानुष्ठानं वर्णनीयताया अधिकृत्याङ्कः कर्तव्यो यस्य प्रकृष्टं च यद्वर्तनं प्रयोगरूपं तदेकदिवसेनेति मुहूर्तपञ्चदशकेनैव, यतस्तावन्तं कालमावश्यकानि भोजनादीनि अशक्यनिरोधनानि । ततः परन्तु प्रयोगकालश्चेत् तत्प्रेक्षकप्रयोक्तृणां तदाप्यावश्यकस्य सन्ध्यावन्दनभोजनादेरविरोधेनेत्येवं कार्यानेकत्वमेकत्राङ्के निषिद्धम् । क्वचित्त्वभ्युपगतमपि । अन्ये तु सर्वामिवार्या निषेधपरत्वेनाहुः । अन्ये त्वेकाङ्केनेति तृतीयां मन्यमानाः सर्वेयमार्या विधिपरेत्याहुः ॥ २१-२२ ॥

अब अङ्क के उपयोगी काल को जो कि इसमें इतना काल अपेक्षित है, बतलाते हैं—

अनुवाद—नाट्य प्रयोग में आवश्यक कार्यों का बिना विरोध किये एक दिन में होने वाली बीज रूप अर्थ का आश्रय करके अङ्क को करना चाहिए ॥ २१ ॥

अनुवाद—बुद्धिमान् को कभी एक अङ्क के द्वारा बहुत से कार्यों की योजना करनी चाहिए, किन्तु वहाँ आवश्यक वस्तुओं का विरोध किये बिना आवश्यक कार्यों को करना चाहिए ॥ २२ ॥

अभिनव—इस प्रकार के अवान्तर प्रयोजन से युक्त बीज को अर्थात् अनुष्ठान के उपाय की वर्णनीयता को स्वीकार कर अङ्क को करना चाहिए, जिसका प्रकृष्ट प्रयोग रूप जो वर्णन है उसका सम्पाद एक दिन में १५ मुहूर्त में करना चाहिए, क्योंकि उतने समय तक जिनका विरोध (निषेध) नहीं किया जा सकता, ऐसे आवश्यक कार्य भोजनादि है । उसके बाद भी यदि प्रयोग करना हो तो प्रेक्षक

---

१. क. (टि० एकदिवसप्रयोज्य। एकदिवसप्रवर्त्यः ।
२. क. (टि०) कार्यस्त्वङ्कोऽत्र ।
३. ख. आश्रित्य । ४. क. (प.) प्रबन्धेषु ।
५. ख. (न.) योजयेद्वापि । ६. ख. ग. काव्यानि ।

रङ्गं तु प्रविष्टाः सर्वेषां भवति तत्र निष्क्रामः[1] ।
बीजार्थयुक्तियुक्तं[2] कृत्वा काव्यं यथार्थरसम् ॥ २३ ॥

न बहूनीह कार्याणि त्वेकाङ्के विनियोजयेत् ।
आवश्यकानां कार्याणां विरोधो हि तथा भवेत् ॥ २४ ॥

यान्यवश्यंभावेन कार्याणि भोजनादीनि तानि किं प्रत्यक्षेणैव दर्शनीयानीति यः शङ्कते तं प्रत्याह—रङ्गन्विति ।

तत्रेत्यावश्यके कर्तव्ये न चासमाप्तावुपक्षिप्तावान्तरकार्ये पात्रनिष्क्रमणमिति दर्शयति । बीजार्थेति उपक्षेपात्मनो बीजस्य यत्प्रयोजनं तेन या युक्तिः संबन्धस्तत्र युक्तमुपायभूतं कार्यं प्रयोजनानुसारि विशिष्टरससम्पदोपेतं विधाय तत्परिसमाप्तौ यवनिकया तिरोधानरूपं निष्क्रमणं दर्शनीयम् । बीजार्थयुक्तिरुत्पत्त्युद्घाटनोद्भेदगर्भ-निर्भेदफलसमानयनात्मेत्यन्ये ॥ २३ ॥

और प्रयोक्ताओं (अभिनेताओं) के सन्ध्या-वन्दन, भोजनादि कार्यों को अविरोधी स्थिति में करने चाहिए। इस प्रकार अनेक कार्यो का एक अङ्क में करने का निषेध भी किया है किन्तु कहीं पर स्वीकार भी किया है कि एक अङ्क में अनेक कार्य हो भी सकते हैं । किन्तु अन्य लोग तो समस्त आर्या को निषेध परक ही मानते हैं। अन्य आचार्य तो यहाँ अङ्केन में तृतीया विभक्ति मानते हुए समस्त आर्या को विधिपरक कहते हैं ॥ २१-२२ ॥

अत्यन्त आवश्यक जो भोजनादि है, उन्हें क्या प्रत्यक्ष अभिनय पर दिखाना चाहिये ? जो इस प्रकार जो आशङ्का करते हैं उनके प्रति कहते हैं—

अनुवाद—बीज भूत अर्थ (प्रयोजन) से युक्त यथार्थ (उचित) रस के अनुकूल कार्य करके रङ्ग में जो पात्र प्रविष्ठ हैं उन सभी का रङ्ग से निष्क्रमण होता हैं ॥ २३ ॥

अनुवाद—नियमानुसार एक अङ्क में बहुत से कार्यों की योजना नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने पर आवश्यक कार्यों से विरोध होता है ॥ २४ ॥

---

१. क-भ. यत्र निष्क्रामः ।

२. ख. ग. युक्तं ।

ज्ञात्वा [1]दिवसावस्थां क्षणयाममुहूर्तलक्षणोपेताम्[2] ।
[3]विभजेत्सर्वमशेषं पृथक्पृथक्काव्यमङ्केषु ॥ २५ ॥

एवमितिवृत्तनियममङ्के प्रदर्श्य तदितिवृत्तकालनियमं दर्शयति—

क्षणयाममुहूर्तानां यानि लक्षणानि कर्तव्यान्यस्मिन् क्षणे सन्ध्यानुष्ठेयेत्यादीनि तैरुपेतां दिवसस्यावस्थां ज्ञात्वा सर्वं कार्यं प्रत्येकं सर्वात्मना परिपूर्णरूपमत एवाशेषं विभजेत् विभागेन दर्शयेत् । नाडिकाभिरष्टधा दिनं रात्रिं विभज्य छायाप्रमाणेन वेति तेन एकदिवससंपादितमुपयोगि चेष्टितमङ्के बध्नीयादिति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

अभिनव—यहाँ अवश्य कर्त्तव्य कार्य के समाप्त हुए विना तथा उपक्षिप्त अवान्तर कार्य के प्राप्त किये विना निष्क्रमण नहीं होता है, इसलिये आवश्यक कर्त्तव्य की समाप्ति में ही निष्क्रमण होना चाहिए, इसको दिखाते हुए कहते हैं— बीजार्थेति । उपक्षेपात्मा बीज का जो प्रयोजन और उसकी युक्ति में जो उपायभूत कर्त्तव्य है उसे प्रयोजन के अनुसार विशिष्ट रस-सम्पदा से युक्त (पूर्ण) करके उसकी परिसमाप्ति होने पर यवनिका के द्वारा तिरोधान रूप निष्क्रमण दिखलाना चाहिए । अन्य आचार्य कहते हैं कि बीजभूत अर्थ की युक्ति, या उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद, गर्भ, निर्भेद एवं फल को समानयन है ॥ २३-२४ ॥

इस प्रकार इतिवृत्त के नियम को अङ्क में दिखलाकर अब उसी इतिवृत्त के काल के विषय में नियम को दिखलाते हैं—

अनुवाद क्षण, याम, मुहूर्त्त के लक्षणों से युक्त दिन की अवस्था को जानकर अवशिष्ट समस्त कार्यों का अङ्कों में अलग-अलग विभाग करना चाहिए ॥ २५ ॥

अभिनव—क्षण, याम, मुहूर्त्त जिन लक्षणों को करना है कि इस क्षण में सन्ध्या करनी चाहिए, इत्यादि । उनसे युक्त दिवस की अवस्था को जानकर सबको करना चाहिए जो सर्वात्मना प्रत्येक परिपूर्ण हो, तब सबका विभाग करके दिखलायें । नाड़िकाओं से दिन और रात को आठ प्रकार से विभक्त कर अथवा छाया के प्रमाण से विभाग करके एक दिवस सम्पाद्य उपयोगी अभिनय का अङ्क में निबन्धन करें, यह तात्पर्य है ॥ २५ ॥

---

१. ख. दिवसांस्तान् । २. ख. उपेतान् ।

३. ख. विभजेन्नाट्याभिसो ह्यङ्कच्छेदेऽर्थमभिवीक्ष्य ।

दिवसावसानकार्यं[1] यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम्[2] ॥ २६ ॥
[3]विप्रकृष्टं तु यो देशं गच्छेत्कार्यवशानुगः ।
अङ्कच्छेदेऽथ संक्षेपान्निर्दिशेत्तं प्रवेशकैः ॥ २७ ॥

ननु तन्मध्ये तत्कार्यं मध्याह्नस्नानभोजनादि तद्दिवसमध्य एव वा यद्वृत्तं दूरस्थं दशरथमरणादि तत्कथं वाच्यमित्याह—दिवसावसानकार्यमिति ।

दिवसेऽवसानं समाप्तिर्यस्य तत् सर्वं कार्यं यद्यङ्के प्रत्यक्षेण प्रदर्शयितुं न युज्यते तदाङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैः चूलिकाङ्कावताराङ्कमुखप्रवेशकविष्कम्भका इहाभिप्रेताः । तथा च कोहलोऽर्थोपक्षेपपञ्चकमुक्तवान् ॥ २६-२७ ॥

एवमङ्कलक्षणं वितत्याभिहितमर्धेनोपसंहरन्नर्धान्तरेणाङ्कसन्धानरूपस्य प्रवेशकस्य सामान्यलक्षणं दर्शयन्नार्यां पठति—सन्निहितनायक इत्यादि ।

जो कार्य मध्याह्न स्नान, भोजन आदि हैं, उन्हें दिन के मध्य में करना अथवा जो कार्य दूरस्थ है । जैसे—दशरथ-मरण आदि, उसे कैसे कहना चाहिये ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—जब कार्य दिन के अन्त में पूरा न हो सके तब अङ्कच्छेद करके प्रवेशकों के द्वारा उनका विधान करना चाहिए ॥ २६ ॥

अनुवाद—जो कार्य अपनी अवस्था के अनुसार बहुत दूर तक जाता हो, उसे अङ्कच्छेद में प्रवेश के द्वारा संक्षेप में दिखाये ॥ २७ ॥

अभिनव—दिन भर में जिसकी समाप्ति हो सके, उन सब कार्यों को यदि अङ्क में प्रत्यक्ष दिखाना युक्त नहीं है तो अङ्कच्छेद करके प्रवेशकों के द्वारा दिखाना चाहिए। यहाँ प्रवेशक पद से अङ्कावतार, अङ्कमुख, प्रवेशक एवं विष्कम्भक अभिप्रेत है और कोहल ने अर्थोपक्षेपक पञ्चक अर्थात् पाँच अर्थोपक्षेपकों को कहा है ।

प्रवेशक

इस प्रकार अङ्क के लक्षण का विस्तार करके तथा कथित अर्थ का आधे से उपसंहार करके शेष अर्धभाग से अङ्कानुसन्धान रूप प्रवेशक के सामान्य लक्षण को दिखलाते हुए आर्या को पढ़ते हैं—'सन्निहित नायक' इत्यादि—

१. (टि०) यद्येकेन । २. ग. तद्विधेयं हि ।
२. अयं श्लोकः ख. पुस्तके नास्ति ।

सन्निहितनायकोऽङ्कः कर्तव्यो नाटके प्रकरणे वा ।
परिजनकथानुबन्धः प्रवेशको नाम विज्ञेयः[1] ॥ २८ ॥

नायकशब्देन तच्चरितसंभोगौ तौ सन्निहितौ प्रत्यक्षौ यत्रैकाङ्केऽपि रूपकेऽङ्को नायकचरितप्रत्यक्षताशून्यः कार्यः किंपुनरन्यत्रेति प्रकरणे नाटके वेत्युक्तम् ।

अन्ये त्वेतदुत्तरार्धेन संबन्धयन्तो रूपकान्तराणि प्रवेशकशून्यानि भवन्तीत्याचक्षते । परिजनकथानुबन्ध इति चतुर्णां लक्षणं सूतमागधादेश्चूलिकाङ्कस्य स्त्रीपुरुषादेर्वाङ्कमुखोपकरणस्य चेष्टीकञ्चुकादेर्वा प्रवेशकविष्कम्भोपयोगिनः परिजनस्य कथयैव परस्परश्लिष्टयानुबद्धोऽङ्कावतारः । यथोक्तम्—

अङ्कान्तर एवाङ्को निपतति यस्मिन्प्रयोगमासाद्य ।
नाट्यार्थकथायोगाद् विज्ञेयोऽङ्कावतारोऽसौ ॥ इति २८ ॥

अनुवाद—जहाँ पर नाटक और प्रकरण के अङ्क में नायक सन्निहित हो और परिजन को कथा का अनुबन्ध हो तो उसे 'प्रवेशक' समझने चाहिए ॥ २८ ॥

अभिनव—यहाँ पर नायक शब्द से उसके चरित और सम्भोग ये दोनों जहाँ सन्निहित अर्थात् प्रत्यक्ष हों, ऐसे एकाङ्क रूपक में अङ्क में नायक के चरित को प्रत्यक्ष दिखाना चाहिए, अर्थात् प्रत्यक्षता से शून्य अङ्क नहीं करना चाहिए। अन्यत्र नाटक और प्रकरण में कहना ही क्या ?

अन्य लोग तो इसे उत्तरार्द्ध से जोड़ते हुए रूपकान्तर प्रवेशकों से शून्य होते हैं, ऐसा कहते हैं । 'परिजनकथानुबन्धः' यह चारों अर्थोपक्षेपकों का लक्षण है। चूलिका के अङ्क सूत-मागधादि अङ्कमुख के उपकरण स्त्री-पुरुषादि अथवा प्रवेशक और विष्कम्भक, चेटी, कञ्चुकी आदि परिजनों के परस्पर श्लिष्ट कथा से अनुबद्ध होना 'अङ्कावतार' है । जैसा कि कहा गया है—

"जहाँ पर नाट्य के अभिनेय अर्थ सम्बन्धी कथा के योग के प्रयोग के अनुसार अङ्क के मध्य में ही जब अङ्क का निपतन होता है उसे अङ्कावतार समझना चाहिए ।"

---

1. ख. प्रवेशके वापि कर्तव्यः ।

[1]प्रकरणनाटकविषये पञ्चाद्या दशपरा भवन्त्यङ्काः ।
अङ्कान्तरसन्धिषु च प्रवेशकास्तेषु तावन्तः ॥ २९ ॥

तत्रायं प्रवेशकोऽङ्कार्थसन्धनाय भवतीति पूर्वोपक्षिप्तमङ्कं संख्यानुवाद-द्वारेण दर्शयति—प्रकरणनाटकविषय इति ।

सन्ध्यवस्थानपरिपूर्णोपनिबद्धा एवाङ्का उपक्रमोपसंहारवैतत्ये दश, कस्य-चित्संक्षेपेण षडित्येवम्, अन्यतो न्यूनाधिकत्वमनुचितमित्यर्थः । अङ्कमध्येषु तु सन्धानानि षट् चित्राणि संपादयितुं पञ्चविधः प्रवेशकः कार्यः अङ्कान्तरसन्धिष्विति निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी । अपिशब्देन प्रवेशक शब्दस्यावृत्तिः सूच्यते । चो हेतौ । प्रवेशकशब्दश्च महासामान्यवचनः पञ्चसु वृत्तः, इह तु मध्यमसामान्ये प्रवेशकविष्कम्भकद्वये वर्तते ॥ २९ ॥

जहाँ यह प्रवेशक अङ्क के अर्थ के अनुसन्धान के लिए होता है, अत एव पूर्व में उत्क्षिप्त अङ्क को संख्या के अनुवाद के द्वारा दिखाते हैं—प्रकरणेत्यादि ।

अनुवाद—प्रकरण और नाटक में पाँच से दस अङ्क तक होते हैं और अङ्कान्तर सन्धियों में उतने ही प्रवेशक होते हैं ॥ २९ ॥

अभिनव—सन्धि और अवस्थाओं से परिपूर्ण रूप से उपनिबद्ध रूपकों में होने वाले अङ्क उपक्रम और उपसंहार के विस्तार से दश और किसी रूपक के संक्षेप से छः अङ्क होते हैं । इससे कम और अधिक अङ्क होना अनुचित है । अङ्कों के मध्य में छः प्रकार के अनुसन्धानात्मक चित्रों को सम्पादन करने के लिए पाँच प्रकार के प्रवेशक करने चाहिए । 'अङ्कान्तरसन्धिषु' के निमित्त से कर्म के योग में सप्तमी है । 'अपि' शब्द से प्रवेशक शब्द की आवृत्ति सूचित होती है । 'सन्धिषु च' में 'च' शब्द हेतु में है । प्रवेशक शब्द महासामान्य का वाचक है, अतः पाँचों में रहता है । यहाँ पर तो मध्यम विष्कम्भक के अर्थ में और सामान्य प्रवेशक के अर्थ में है । दोनों में है ॥ २९ ॥

---

१. इतः प्रारभ्य पद्यद्वयं ख. पुस्तके नास्ति ।
ग. प्रकरणविषये...दशपरास्तया चैव ।
अङ्काः कर्तव्याः स्युर्नानारसभावसंयुक्ताः ॥ इति पाठः ।

[1]अनयोरन्तरविहितः प्रवेशकोऽर्थक्रियां[2] समभिवीक्ष्य ।
संक्षेपार्थः सन्धिष्वर्थानां संविधातव्यः ॥ ३० ॥

[3]अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षसंचितं वापि ।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥ ३१ ॥

तद्यमर्थः—यस्मान्मासकृतं वर्षसञ्चितं वा यच्च तत्कार्यं सामाजिकानां हृदयगतं तस्मात् प्रवेशकविष्कम्भौ कर्तव्यौ। परिमितन्तु यदनुसन्धेयं तत्राङ्कमुखमल्पानुसन्धेये चूलिका, अल्पतमे अङ्कावतारः। तत्र केचित् वनवासादयोद्ध्याप्रवेशानन्तरं रामानुसन्धानमनुसन्धानीयं मा भूदित्याशयेन व्याचक्षते मासेन मासाभ्यां मासैर्वर्षेण वर्षाभ्यां वर्षैः इति कदाचित्तु वर्षादूर्ध्वंन्तु ये महाप्रभावाश्चिरातीतमप्यनुसन्दधते रामादेस्तेषां बहुतरो हि कालः प्रवेशकैर्वर्णनीयः। ये तु पुरुषप्रायास्तेषां वर्षादूर्ध्वमनुसन्धानं नैवास्ति। तथा च मार्गशीर्षी तैषीं चान्तरेण दीर्घकालयात्रा आवर्षारात्रान्मासाष्टकमुक्तेति सङ्गिरन्ते।

अनुवाद—अर्थ की क्रिया को देखकर इन दोनों के अन्तर्गत सन्धियों में अर्थों के संक्षेप के लिए प्रवेशक का विधान करना चाहिये ॥ ३० ॥

अनुवाद—एक मास तक अथवा एक वर्ष तक संचित घटना हो, उन्हें अङ्कच्छेद करके करना चाहिए। एक वर्ष के बाद का समय कभी भी नहीं होना चाहिये ॥ ३१ ॥

अभिनव—इस लिए यहाँ यह अर्थ है कि मास में सम्पाद्य अथवा वर्ष में सञ्चित जो है, वह कार्य सामाजिकों के हृदय में स्थित है इसलिए विष्कम्भक और प्रवेशक को करना चाहिए, किन्तु जो अनुसन्धेय परिमित है वहाँ अङ्कमुख होता है, अल्प अनुसन्धेय में चूलिका है और अल्पतम में अङ्कावतार होता है। यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि वनवास से अयोध्या में प्रवेश करने के पश्चात् राम का अनुसन्धान अनुसन्धानीय न हो, इस आशय से व्याख्या करते हैं कि एक मास से, दो मासों से, बहुत से मासों से अथवा एक वर्ष से, दो वर्ष से, बहुत से वर्षों से करणीय है। कभी तो एक वर्ष के ऊपर रामादि के महाप्रभावशाली चिरकाल से अतीत बातों का अनुसन्धान करते हैं उनके बहुत से काल का वर्णन प्रवेशकों के द्वारा करने चाहिए। जो साधारण पुरुष हैं उनके कार्यों का वर्ष भर के ऊपर अनुसन्धान नहीं है। जैसाकि मार्गशीष और पौष मास को छोड़कर वर्षा की रात्रि तक आठ महीने की दीर्घकाल यात्रा कही है।

---

१. क. (टि०) अङ्कान्तरालसहितः। अङ्कान्तरालविहितः।
२. क-भ. अङ्कक्रियां। ३. ख. कुर्यात् नामकृतं। क-भ. अङ्कच्छेदे कार्यं।

एतच्चासत्, मासवर्षादीनां स्वीकृतनियतपरिमाणानां द्विवचनबहुवचनान्तत्वे वृत्त्ययोगस्य दर्शितत्वात् ।

सौर्यके मासजाते च परिमाणं स्वभावतः ।
उपाधिभृतमाश्रित्य संख्याभेदेन वर्तते ॥
वयस्त्विति परिच्छेदः क्रियतेऽपि न गम्यते ।
दृष्टो भेदावृते तत्र परिमाणमनर्थकम् ॥

इत्यादिबहु च वर्षादूर्ध्वमिति च निषेधः फल्गुफल एव स्यात् । तस्मादेकवचनान्तेनैव समासः । न च रामायणभारतादिचरितत्यागप्रसङ्गः कार्यग्रहणं ह्येतदर्थं मुनिना कृतं, यत्र हि यत्ननिष्पाद्यं सञ्चितं तदेव वर्षं गण्यते । वर्षान्तराणि तु तत्र विद्यमानान्यपि अविद्यमानकल्पानि । रामचरिते हि चतुर्दशवर्षाण्यरण्यनिवासो यद्यपि कार्यः, वर्षाणि त्रिचतुराणि भवन्ति यत्र मारीचवधसुग्रीवराज्यदानाद्यवान्तरकार्यं संभवति । तस्माद्वर्षादूर्ध्वमित्यनेन कार्यं वर्षद्वयादि निषिध्यत इत्येवं वर्षसहस्रायुषोऽपि वर्षशतान्तरालवृत्तचरितव्याख्यानेऽपि न किञ्चिद् दुष्यति । तेन पञ्चाङ्के नाटके पञ्च कार्यदिनानीति संक्षेपः, दशाङ्के तु दशेति विस्तरः ॥ ३१ ॥

किन्तु यह सब असत् है। मास, वर्ष आदि के रूप स्वीकृत नियत परिमाणों के द्विवचनान्तत्व और बहुवचनान्तत्व में वृत्तियों का याग नहीं दिखाई देता है।

"सौर मास में जो परिमाण स्वभावतः होता है वह उपाधियों का आश्रय लेकर संख्या के भेद से होता है। अवस्था है, इस प्रकार परिच्छेद किया जाता है, गम्य नहीं होता। वहाँ भेद के अतिरिक्त परिमाण निरर्थक है।"

इत्यादि बहुत वर्षों के ऊपर जो निषेध है, उसका फल निरर्थक ही होगा। इसलिए मास, वर्ष में एकवचनान्त से ही समास करना चाहिए। इस प्रकार शङ्का नहीं करनी चाहिये कि एकवचनान्त समास करने पर बहुकाल साध्य रामायण और महाभारत के चरितों के त्याग का प्रसङ्ग हो जायेगा। जहाँ पर सञ्चित कार्य वर्ष यत्न साध्य है उसी को वर्ष के रूप में गणना करते हैं। क्योंकि अन्य वर्ष रहते हुए भी नहीं के समान हैं। जैसे रामचरित में राम का चौदह वर्ष का यद्यपि वनवास है। तथापि मारीच के वध, सुग्रीव को राज्य प्रदान आदि अवान्तर कार्य सम्भव है वहाँ तीन-चार वर्ष ही होते हैं इसलिए एक वर्ष के ऊपर नहीं करना चाहिये। इसीलिये वर्षद्वय आदि का निषेध लिया जाता है और इसीलिये एक हजार वर्ष की आयु वाले के चरित्र को सौ वर्ष के अन्तराल में घटित करने में कोई दोष नहीं है। इसलिये पाँच अङ्क के नाटक में कार्य करने के लिए पाँच दिन संक्षेप हैं और दश अङ्क के नाटक में दस दिन होना विस्तार है॥ ३१ ॥

[1]यः कश्चित्कार्यवशाद्गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम् ।
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः[2] ॥ ३२ ॥

[3]अङ्कान्तरानुसारी संक्षेपार्थमधिकृत्य विन्दूनाम् ।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशकः संविधातव्यः[4] ॥ ३३ ॥

अङ्कछेदे निमित्तान्तरमप्याह—यः कश्चित्कार्यवशादिति ।

कार्यवशात्कार्यस्य तत्रायतत्वात् यः पुरुषो नायकः सोऽनेकयोजनव्यहित-मध्वानं यदा गच्छति तदा प्रतिदिनं गमनं विश्रान्तिः शय्येत्येवमादि कथं रङ्गे प्रदर्श्यः, तदन्तेनाङ्कच्छेदः कार्यः । डिमादिनायकस्य तु दिव्यस्याकाशयानकादिना सर्वं युज्यते । अनायकपुरुषस्त्वविच्छिन्न एवाङ्के निष्क्रामति । ननु दिवसावसानकार्यं केनोपपद्यत इति आवश्यकाविरोधेनेत्यादिना यदुक्तं ततस्तिलमात्रेणाप्यधिकं वाच्यमस्य न लभ्यते वाक्यस्य । अत एवैतत् भट्टलोल्लटाद्यैर्न पठितमेव ।

अब अङ्कच्छेद के अन्य निमित्तों को कहते हैं—

अनुवाद—यदि कोई पुरुष कार्यवश लम्बे रास्ते पर जाता है तो वहाँ पर भी तत्ववेताओं को पूर्ववत् अङ्कच्छेद करना चाहिये ॥ ३२ ॥

अनुवाद—'पूर्व अङ्क के अनुसार बिन्दु के अर्थ को संक्षेप में करके प्रकरण और नाटक में प्रवेशक का विधान करना चाहिए ॥ ३३ ॥

अभिनव—कार्यवश अर्थात् कार्य आयत (विस्तृत) होने से जहाँ पुरुष नायक है वह जब अनेक योजन लम्बे मार्ग पर जाता है तब प्रतिदिन का गमन, मध्य में विश्राम एवं शयन आदि कार्यों को रङ्ग के मध्य में कैसे दिखाना चाहिए? इसलिये अन्त में अङ्कच्छेद करना चाहिये । डिम आदि रूपकों में दिव्य नायक के आकाशयान आदि के द्वारा सब युक्तिसङ्गत है । नायक से भिन्न पुरुष तो अविच्छिन्न अङ्क में यदि निकल जाता है तो दिन के अवसान में होने वाला कार्य विना पात्र के किस प्रकार उपपन्न होता है? इस प्रकार 'आवश्यकाविरोधेन' इत्यादि जो कहा गया है अर्थात् जब किसी आवश्यक कार्य का विरोध नहीं होता तभी पात्र का निष्क्रमण होता है उससे तिल मात्र भी अधिक इस वाक्य का अर्थ नहीं मिलता अन्यथा नहीं, इत्यादि । इसीलिए भट्टलोल्लट आदि इसे नहीं पढ़ा है ।

---

१. क-य. यदि । २. क-प. पूर्वतन्त्रज्ञैः ।

३. क (टि०) अङ्कान्तराधिकारी संक्षेपमधिकृत्य विन्दूनाम् ।

४. ख. प्रवेशको भवति काव्येषु ।

उपाध्यायास्त्वाहुः—नेदं निमित्तान्तरं अपि तु पूर्वं तावत्कथितं यद्यङ्के नोपपद्यत इति तस्यैवोदाहरणमनयैवार्यया दर्शितम्। यथा नायकस्य प्रकृष्टाध्वगमनमिति पूर्ववदिति तदहमिति भवति पूर्वलक्षणाद्दोऽङ्कच्छेदोऽयमिति यावत्। अपि शब्द उदाहरणान्तरमपि सूचयति। अङ्कार्थसन्धानप्रयोजनस्य प्रवेशकस्य स्थानं वाच्यम्।

विषयं चाह अङ्कान्तरानुसारीति अङ्कमध्ये भवतीति यावत्। अङ्कान्तरं पूर्वाङ्कान्तरमनुसरति तस्य पश्चाद्भवतीत्यर्थः। प्रत्यङ्कान्तं यो बिन्दुः अनुसन्धानाभिधायिवाक्यं यत्संक्षिप्तं प्रयोजनं तदधिकताकरणं विस्तारमुद्दिश्येति वाच्यमुक्तं, प्रकरणे नाटके चावश्यं प्रवेशकस्तस्यावश्यमुत्तमकृतिविषये उपदेशाय प्रवृत्तोऽपरिमितेनोपायेन भूयस्तरावान्तरकार्यं प्रत्युत्पत्तिबहूनां चामात्यादीनामपि स्वकार्यनिरूपणाय प्रवेशकः, अन्यत्र रूपके परिमितकार्योपदेशात् न तथा प्रवेशकोपयोग इति वितनिष्यामः॥ ३२॥

उपाध्याय जी तो कहते हैं कि यह निमित्त नहीं है, अपितु पहले कहा जा चुका है कि यदि कोई कार्य अङ्क में उपपन्न नहीं होता इत्यादि। उसी का उदाहरण इस आर्या के द्वारा दिखाया गया है। जैसे नायक का प्रकृष्ट अध्वगमन, पूर्ववत् इत्यादि। इसलिए होता है कि यह अङ्कच्छेद पूर्वकथित लक्षण के योग्य है। अपि शब्द उदाहरणान्तर को सूचित करता है। अङ्कार्थ के सन्धान के प्रयोजनार्थ प्रवेशक का स्थान कहना चाहिए।

अब विषय को कहते हैं कि अङ्कान्तर के अनुसार आदि भाव यह है कि यह अंक के मध्य में होता है। अगला अंक पूर्व अंक का अनुसरण करता है अर्थात् वह उसी के पश्चात् होता है। प्रत्येक अंक के अन्त में जो बिन्दु है तथा जो अनुसन्धान करने वाले वाक्य के प्रयोजन का संक्षिप्त तत्त्व है वह अधिकताकरण रूप विस्तार के उद्देश्य से कहा गया है। इसलिए नाटक और प्रकरण में प्रवेशक अवश्य रहता है क्योंकि अपरिमित उपाय से उत्तम प्रकृति के विषय में उपदेश के लिये प्रवृत्त होता है। अतः भूयस्तर अवान्तर कार्य के विषय में प्रत्युत्पन्न मति वाले बहुत अमात्य आदि के स्वकार्य के निरूपण के लिये प्रवेशक होता है। अन्यत्र रूपकों में परिमित कार्य का उपदेश होने से वहाँ उस प्रकार प्रवेशकों का उपयोग नहीं होता, यह आगे विस्तार से कहेंगे॥ ३२-३३॥

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः ।
प्राकृतभाषाचारः प्रयोगमाश्रित्य[1] कर्तव्यः ॥ ३४ ॥

अथ विष्कम्भकाद्भेदमस्य दर्शयन् प्रवेशकशब्दोऽतिविशेषशब्दवाच्यपि भवतीति दर्शयति—नोत्तममध्यमपुरुषैरिति ।

उत्तमावयोऽपि भवन्ति परिजनास्तन्निवृत्यर्थमेतत् । उदात्तं संस्कृतवचनं तस्य निषेधः । अन्ये त्वाहुः—उदात्तं स्वात्मकार्यविश्रान्तं वचनं निषिध्यते, "आणत्तंमि भट्टिदारि आये" इत्यादिना हि स्वकृत्यं प्रधानोपयोग्येव दृश्यते, न स्वतन्त्र । तत्र प्राकृती भाषा आचारश्च व्यवहारः प्राकृतः एव । प्रयोगमाश्रित्येति क्वचित्तु प्रयोगवशात्संस्कृतभाषाचारो विष्कम्भकेऽपि कर्तव्य इति दर्शयति ॥ ३४ ॥

अब विष्कम्भक से प्रवेशक का भेद दिखाते हुए प्रवेश शब्द अतिविशेष शब्द का भी वाचक है, इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—नाट्यप्रयोग का आश्रय लेकर जहाँ उत्तम तथा मध्यम पुरुषों का आचार हो, न उदात्त वचनों में व्यवहार हो, ऐसे अभिनय करें। प्राकृत भाषा का उच्चारण करना चाहिए ॥ ३४ ॥

अभिनव—परिजन भी उत्तम होते हैं अथवा उत्तम परिजन होते हैं, आशंका की निवृत्ति के लिए यह कथन है। उदात्त का अर्थ संस्कृत वचन है और उसका निषेध है। अन्य लोग तो कहते हैं कि उदात्त का अर्थ अपने कार्य से विश्रान्ति होने वाले वचन का निषेध है। 'आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया' इत्यादि के द्वारा उनका अपना कृत्य प्रधान के उपयोगी दिखाई देता है, स्वतन्त्र नहीं। वहाँ पर प्राकृती भाषा और आचार-व्यवहार प्राकृत ही है। प्रयोग का आश्रय करके। कहीं तो प्रयोगवश संस्कृत भाषा का आचार विष्कम्भक में भी करना चाहिए, यह दिखाते हैं ॥ ३४ ॥

---

१. ख. प्रयोगयासाद्य कर्तव्यः ग. प्रयोशको नाम विज्ञेयः ।

'कालोत्थानगतिरसौ व्याख्यासंरम्भकार्यविषयाणाम् ।
अर्थाभिधानयुक्तः[2] प्रवेशकः स्यादनेकार्थः[3] ॥ ३५ ॥

संक्षेपार्थमधिकृत्येति यदुक्तं तदेव विभजति—कालोत्थानगतिरसाविति ।

कालोदयस्य गतिरवगमो यतः कालोदयसूचकः कश्चित् प्रवेशकः । यथा—"अज्ज वसन्तमहूसवे सबहुमाणमाहूय" इत्यादि (रत्ना: १) ।

अर्थाभिधानेति प्रत्येकं संबध्यते, तेन व्याख्यादीनां विषयान्तानां चतुर्णां योऽर्थस्तदभिधाने युक्तस्तदुद्देशेनप्रवृत्त इति पञ्चप्रकारः प्रवेशकः इति यावत् । व्याख्यायत इति व्याख्या ।

अनुवाद—संक्षेप का आश्रय लेकर यह जो कहा था, अब उसी का विभाग करते है—

अनुवाद—जहाँ पर काल के उत्थान (उदय) की गति (ज्ञान) हो तथा जहाँ पर व्याख्या, संरम्भ, कार्य एवं विषय का अर्थाभिधान हो ऐसे अनेक अर्थो वाला 'प्रवेशक' होता है ॥ ३५ ॥

अभिनव—काल के उत्थान (उदय) की गति (ज्ञान) जिससे हो, ऐसा कालोदय का सूचक कोई 'प्रवेशक' होता है । जैसे—रत्नावली में "आज वसन्तोत्सव में बड़े आदर के साथ बुलाकर......" इत्यादि ।

यहाँ अर्थाभिधान का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, इसलिये व्याख्या से लेकर विषय पर्यन्त चारों का जो अर्थ है उसके अभिधान से युक्त, उस उद्देश से प्रवृत्त, इस प्रकार पाँच प्रकार का 'प्रवेशक' है, व्याख्यान करना ही व्याख्या है । जैसे किसी प्रवेशक के द्वारा गूढ अर्थ का व्याख्यान किया जाता है ।

---

१. ब. कालार्थान्तरसङ्गव्यत्यासारम्भ कार्यविषयाणाय ।

२. ब. न. अर्थाभिधानपूर्वः ।

३. क-म. प्रवेशको नाम विज्ञेयः ।

यथा तापसवत्सराजे अमात्यप्रणिधिः "मामिज्जई असवासएहि हालाहलस्स पमावसंकिवा (भ्राम्यते पार्श्वकैः प्रमावशङ्कितैः ।)" तापस-अ-४ (इत्यादि), अनेन हि नातिव्यवधानोक्तं पद्मावतीगृहे च यद्वासवदत्तास्थापनं तस्य गूढं प्रयोजनं व्याख्यातम् । संरम्भः कार्यविशेषः विषयः अभिप्रायस्तस्यार्थं उपायान्वेषणादि तदभिधानयुक्तः प्रवेशको, यथा नृत्तपा (वा) रे गति "उपस्थितमिदं तत्प्रयोजन" मित्यादि । अनेन वासवदत्तामपहृत्योज्जोयनीं निनीषोर्वत्सराजस्य प्रयोजकत्वं प्राप्तानाममात्यानां संरम्भः शालङ्कायनेनोक्तः । कार्यं तु यदाधिकारिकमित्यादि (१९-३), तस्यार्थः पञ्चाङ्गस्यानुष्ठानम् । तद्यथा—कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपद्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति तथाभूताभिधानयुक्तश्च प्रवेशको बाहुल्येन तापसवत्सराजप्रतिभाचाणक्यमुद्राराक्षसादिषु । विषयस्तु भाविनोऽङ्कावतारस्येतिवृत्तं तस्यार्थो विशेषरूपः, तदभिधानेन युक्तः प्रवेशको यथा नागानन्दे द्वितीयेऽङ्के चेटिकाद्वयेन मदनावस्थेतिवृत्तस्य विशेषवर्णनं चन्दनलतागृहादि दर्शितम् । अन्यान्यपि प्रवेशकस्य प्रयोजनानि सन्ति । न त्वेत्परिगणनमित्याह—अनेकार्थं इति ॥ ३५ ॥

जैसे—तापसवत्सराज में अमात्य का प्रणिधि (दूत) "प्रसाद से शङ्कित पार्श्वक भ्रमण करते हैं" इत्यादि व्याख्या करते हैं। इससे अत्यन्त व्यवधान से रहित कहे हुए पद्मावती के घर में जो वासवदत्ता का स्थापन किया गया है, उसका गूढ़ प्रयोजन व्याख्यात है। संरम्भ का अर्थ कार्य-विशेष है, विषय अभिप्राय है, उसका अर्थ उपायान्वेषण इत्यादि है, उस अभिधान से युक्त प्रवेशक है। जैसे—तापसवत्सराज में नृत्त को समाप्ति पर "गतिवश यह उसका प्रयोजन उपस्थित हो गया" इत्यादि। इससे शालङ्कायन ने वासवदत्ता का अपहरण कर उज्जयिनी ले जाने के इच्छुक वत्सराज को प्रेरणा देने वाले अमात्यों का संरम्भ कह दिया। कार्य तो आधिकारिक है, इत्यादि। उसका अर्थ है पञ्चाङ्ग का अनुष्ठान। जैसे—(१) कर्मों के आरम्भ का उपाय अर्थात् किस उपाय के आश्रय से कर्मों का अनुष्ठान हो। (२) पुरुष और द्रव्य की सम्पत्ति की परिपूर्णता (३) देश और काल का विभाग (४) विनिपात का प्रतीकार (५) कार्य की सिद्धि। इस प्रकार के अभिधानों से युक्त प्रवेशक अधिकतर तापसवत्सराज, प्रतिभाचाणक्य, मुद्राराक्षस आदि में है। विषय तो भावी अङ्कावतार का इतिवृत्त है उसका अर्थ विशेष रूप। उसके अभिधान से युक्त प्रवेशक जैसे नागानन्द के द्वितीय अंक में दो चेटियों के कामावस्था रूप इतिवृत्त का। विशेष वर्णनीय चन्दनलता गृह को दिखा दिया। इनके अतिरिक्त प्रवेशक के और भी प्रयोजन है, केवल परिगणना नहीं है, इसीलिए अनेकार्थ कहा है ॥ ३५ ॥

[1]बह्वाश्रयमपि [2]कार्यं प्रवेशकैः संक्षिपेच्च सन्धिषु वा ।
बहुचूर्णपदैर्युक्तं जनयति खेदं प्रयोगस्य ।। ३६ ।।

नन्वेवंभूतोऽर्थो यः प्रवेशके प्रदर्श्यते समासेन विस्तरेण वेत्याशंक्याह—बह्वाश्रयमपीति ।

सन्धि चिकीर्षव इति अङ्कार्थसन्निवेशनिमित्तं ये प्रवेशकाः पञ्चाप्युक्ताः चूलिकादयस्तैर्वाङ्काश्रयं बहुवक्तव्यं विततमपि कार्यं संक्षिपेत् यावत्सन्धानोपयोगि तावत्तत्र ब्रूयात् । यतो, बहुभिर्गद्यगतैरसमस्तैः पदैरसंस्कृतप्रायैः खेदो भवति । अनेन प्रवेशकादौ उत्कलिकाप्रायं बहुतरसमाससङ्कीर्णमभिनयशाखाङ्गत्रोटनकारित्वात् समाससंशयेनार्थानिश्चायकत्वाच्च न कर्तव्यमित्यपि दर्शयति ।

दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम् ।। १८-२६ ।।

इस प्रकार का कौन सा अर्थ है जो प्रवेशक में संक्षेप या विस्तार से दिखलाया जाता है, इस प्रकार आशंका करके कहते हैं—

अनुवाद—बहुतों के आश्रय पर निर्भर कार्य को अथवा सन्धियों में विद्यमान कार्य को प्रवेशकों के द्वारा संक्षेप में करना चाहिये । अनेक चूर्णपदों से युक्त प्रयोग का विस्तार खेद को उत्पन्न करता है ।। ३६ ।।

अभिनव—सन्धि-विधान करने का इच्छुक अर्थात् जो नाटकादि में मुखादि सन्धियों की योजना करने का इच्छुक हो उसके लिए अङ्कार्थ के सन्निवेश के लिए जो चूलिका आदि पाँच प्रवेशक कहे गये हैं उनके द्वारा अंकों में कथनीय विस्तृत कार्य को संक्षेप में कहे जितना जहाँ सन्धान के उपयोगी हैं, वहाँ उतना कहे, क्योंकि गद्य में असमस्त (समास-रहित) असंस्कृत अनेक पदों के कथन से सामाजिकों को खेद होता है । इनसे यह सूचित किया गया है कि नाट्य उत्कलिका-प्राय गद्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि बहुतर समास से संकीर्ण होने से वह अभिनय की शाखा के अंकों को तोड़ने वाला है और समास में संशय होने से अर्थ का अनिश्चायक भी है ।

"जो दिन के अवसान में पूरा होने वाला कार्य पूरा न हो सके तो उसे अङ्कच्छेद करके प्रवेशकों के द्वारा दिखाना चाहिए ?"

---

१. बह्वाश्रयमप्यर्थं प्रवेशकै संक्षिपेत्प्रबन्धेषु अङ्केषु संयुक्तो जनयति खेदं प्रयोगस्य ।

२. ब. ब्रह्वाश्रयमप्यर्थं ।

यत्रार्थस्य समाप्तिर्न [1]भवत्यङ्के प्रयोगबाहुल्यात् ।
[2]वृत्तान्तस्वल्पकथैः प्रवेशकैः सोऽभिधातव्यः[3] ॥ ३७ ॥

इति यदुक्तं तत्रानुपपत्तिर्बहुप्रकारा भवतीति दर्शयितुमाह—यत्रार्थस्य समाप्तिरिति । यत्प्रत्यक्षप्रयोज्यमपि प्रयोगवशादङ्के समाप्तं भवति तत्प्रवेशकेन कर्तव्यम्, बहुतज्ञत्वं प्रयोगस्य बहुमानास्पदत्वम् ॥ ३६ ॥

तदयमत्रार्थः—यत्र दिवसकार्याण्यनेकानि तत्र तन्मध्ये यत्सुन्दरप्रयोगकमुपदेशोपयोगि च तत्प्रत्यक्षेण दर्शनीयम् । अन्यत्सर्वं प्रवेशकेन वृत्तान्तार्थां तदवशिष्टेनेति वृत्तनिर्वाहफला अल्पा संक्षिप्ता कथा यस्य प्रवेशकस्य । एवं प्रत्यक्षप्रयोज्यप्रवेशकोपयोगो दर्शितः ॥ ३७ ॥

अन्यत्रापि दर्शयति—युद्धं राज्यभ्रंश इत्यादि ।

अनुवाद—जहाँ पर अङ्क में प्रयोग को बहुलता से अर्थ की समाप्ति नहीं होती, वहाँ वृत्तान्त घटित स्वल्प कथा वाले प्रवेशकों के द्वारा सम्पन्न करना चाहिए ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जो कहा गया है, उसमें बहुत प्रकार की अनुपपत्तियाँ हैं, इस बात को दिखाने के लिए कहते हैं—जहाँ पर अर्थ को समाप्ति है अर्थात् प्रत्यक्ष में प्रयोज्य होने पर भी अंक में समाप्त नहीं होता है, उसे प्रवेशक के द्वारा सम्पन्न करना चाहिए । प्रयोग की बहुलता बहुमान का आस्पद है ।

अभिनव—इसका अर्थ यह भी है कि जहाँ पर दिन भर में पूरे होने वाले कार्य अनेक हैं वहाँ मध्य में ही सुन्दर प्रयोग वाले और उपदेश के योग्य कार्यों को प्रत्यक्ष दिखाना चाहिए। और शेष कार्य को प्रवेशकों के द्वारा पूरा करें। अवशिष्ट अर्थ का फल है, केवल इतिवृत्त का निर्वाह करना। अतः प्रवेशक में संक्षिप्त कथा रहती है, इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रयोग के योग्य प्रवेशक की उपयोगिता दिखलाया गया है ॥ ३६-३७ ॥

---

१. ख. भवेदङ्के ।

२. ख. बहुवृत्तान्तोऽल्पकथैः प्रवेशकैः संविधातव्यः ।

३. 'ख' पुस्तके इत्यनन्तरं श्लोकत्रयी अधिका दृश्यते ।

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं [1]नागरोपरोधनं चैव ।
[2]प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ ३८ ॥

युद्धे शस्त्रसंपातस्य बाहुल्यं, राज्यभ्रंशेऽपि पतनमरणादेः, नगरोपरोधे बलस्य यन्त्रसुरङ्गाविदानस्य ।

इह केचिदाहुः मरणं द्विविधम् । किञ्चिदन्यसंबन्धिन्या क्रियया संपाद्यं यथा चक्रेण दैत्यस्य शिरश्छेदं, किञ्चिदन्यसंबन्धिक्रियानैरपेक्ष्येणैव व्याध्यभिघातादिप्रभवम् । तत्राद्यस्यैव निषेधः क्रियते । एतदर्थमेव कृतग्रहणं तद्वचन्यक्रियावाचकम् । न च तद्युद्धेन संगृहीतम् । अयुद्धे पूर्वस्याप्यशङ्कितशिरश्छेदस्य दर्शितत्वादिति । त एवं प्रष्टव्याः—इदं मरणं प्रयोज्यमिदमप्रयोज्यमिति न तावदत्र विषयविभागे निदानमुत्पश्यामः । मृतस्य कथं निष्क्रमणं कथं वावस्थानं, तता नाट्योपयोगिसमस्तध्रुवागानादिप्रक्रियाविलोपः सामाजिकानां विरसताप्रतिपत्तिरिति तु सर्वत्र मरणं समान तस्मादङ्के मरणप्रयोज्यमेव । ननु मरणानुभाववर्णनेनेदानीं किं कृत्यं, युद्धवीररौद्रादावप्येतदनुभाववर्णने किं प्रयोजनं तदनुभावापरिज्ञाने प्रवेशकैरपि कथं वर्णनं स्यादिति चेन्मरणेऽपि समः समाधिः ।

अभिनव —अन्यत्र भी उन्हें दिखाते हैं—

अनुवाद—युद्ध, राजभ्रंश, मरण, नगर का उपरोध आदि अङ्क में प्रत्यक्ष नहीं दिखलाना चाहिए, उन्हें प्रवेशक के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ३८ ॥

अभिनव —युद्ध में शस्त्रों के सम्पात का राजभ्रंश में भी पतन, मरण आदि का, नगर के उपरोध में सेना का और सुरङ्ग आदि के निर्माण का बाहुल्य होता है ।

इस विषय में कुछ लोग कहते हैं कि मरण दो प्रकार का होता है—प्रथम किसी अन्य सम्बन्धी क्रिया से सम्पाद्य, जैसे चक्र से दैत्य के शिर का छेदन (काटना) और दूसरा किसी अन्य सम्बन्धी क्रियाओं से निरपेक्ष, जैसे व्याधि, चोट आदि से होने वाला । उनमें प्रथम मरण का ही निषेध किया गया है । इसीलिए 'कृत' का ग्रहण है, क्योंकि वह अन्या क्रिया का वाचक है । इसलिए युद्ध में उसका संग्रह नहीं

---

१. क. (टि०) समरस्यरोधनं ।
२. क-भ. अप्रत्यक्षकृतानि ।

किञ्च यत्र प्रत्यापत्तिशून्यं मरणं तत्प्रतिक्रियाविलोपकत्वान्न प्रयोज्यम्। यत्तु क्वचित्तत्प्रत्यापत्तिः यथा जीमूतवाहनस्य तदेव क्षणमात्रानिश्चितचेष्टात्मकं प्रयोज्यमेवेति सोऽपि मरणानुभावसाक्षात्करणस्य विषयः। यद्वाहिनीनामपि साटोपपरिक्रमणं शास्त्रवर्णनादिप्रारम्भरूपमदः प्रयोज्यमपि तु तन्निर्वाहो न प्रदर्शनीयः। एतदेव, तन्न प्रत्यक्षेण प्रयोज्यं, प्रवेशकैरिति उपक्षेपपञ्चकमध्यादन्यतमेनोपक्षेपेणेत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—व्याधिजमभिघातजं च मरणं रङ्गे प्रयोज्यं, अपुनर्जन्मनिष्क्रान्तिरहितप्रकृतिविधेयेति ॥ ३८ ॥

किया गया है। युद्ध के अभाव में अपूर्व और अशकिङ्कृत शिरः छेद दिखाया गया है। उनसे यह पूछना चाहिये कि यह मरण प्रयोज्य है और यह अप्रोज्य है, इस विषय के विभाग में कारण नहीं देख रहे हैं। क्योंकि मरे हुए का निष्क्रमण कैसे होगा और कैसे अवस्थान होगा? क्योंकि इससे नाट्य के उपयोगी समस्त ध्रुवा, गान आदि क्रियाओं का लोप होगा और सामाजिक के लिए विरसता आदि की प्रतिपत्ति होगी, इस प्रकार मरण सर्वत्र समान होगा, अतः रङ्ग में मरण का प्रयोग नहीं दिखाना चाहिए। अब तो प्रश्न है कि मरण के अनुभावों के वर्णन से इस समय क्या प्रयोजन है और युद्ध, वीर, रौद्र आदि रसों में उनके अनुभावों के वर्णन से क्या प्रयोजन है और मरण के अनुभाव के जाने विना प्रवेशकों के द्वारा उनका वर्णन कैसे होगा? इसका उत्तर होगा कि यह समाधि है तो वही उत्तर वहाँ भी होगा कि वह भी समाधि होगी। अतः दोनों जगह समान समाधि है।

और भी जहाँ पर मरण प्रत्यापत्ति से शून्य है, उस मरण को क्रिया-विलोपक होने से नहीं दिखाना चाहिये। और जहाँ कहीं प्रत्यासत्ति होती है, वहाँ पुनर्जीवन होता है जैसे, जीमूतवाहन का। उसे क्षण भर के लिए चेष्टा से शून्य होने से दिखाना चाहिये। तथा वह मरण के नियमों का साक्षात्कार का विषय है। और जो वाहिनी का साटोप परिक्रमण है तथा शास्त्र-सम्पात के वर्णन का प्रारम्भ रूप है वह प्रयोज्य होते हुये भी उसके निर्वाह का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। इसी बात को मूल में स्पष्ट कर दिया गया है कि निर्वाहपर्यन्त युद्ध को और अचिर प्रत्यासत्ति शून्य मरण का प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिए। 'प्रवेशकैः' पद के कथन का अर्थ है कि उपक्षेप पञ्चक में से किसी एक के उपक्षेप से। अन्य लोग तो कहते हैं कि व्याधि (रोग) और अभिघात से होने वाला मरण रङ्ग में दिखाना चाहिये। क्योंकि वह पुनर्जन्म और निष्क्रान्ति से रहित प्रकृति वाला होने से विधेय है ॥ ३८ ॥

अङ्के प्रवेशके च[1] प्रकरणमाश्रित्य नाटके वापि ।
न [2]वधः कर्तव्यः स्याद्योऽभ्युदयी नायकः ख्यातः[3] ॥ ३९ ॥

अथ सर्वथा यद्विषयं मरणं नाख्येयं, तद्दर्शयति अङ्के प्रवेशके चेति ।

प्रकरणे नाटके वा नायकस्य प्रत्यक्षेण वा वर्णनया वा न मरणं वर्णनीयम् । अङ्क इति प्रत्यक्षेण, प्रवेशक इति वर्णनया ।

ननु प्रत्यक्षेण ये न कस्यचिन्मरणं प्रयोज्यमिच्छन्ति तन्मते अङ्कग्रहणं किमर्थं, तत्राहुः वधशब्देन (न) मरणमुच्यते, अपि तु परकृतघातदानादि तत्रान्यघातदानाद्यपि प्रत्यक्षेण रङ्गे प्रदर्श्यते । अचिरप्रत्यापत्तौ समाश्वासे यस्तु नायकस्तस्य ख्यातस्य न घातदानादि प्रदर्शनीयम् । अन्ये तु ख्यातं नायकं पताकानायकादिक मिच्छन्ति ॥ ३९ ॥

अब यहां पर मरण का सर्वथा नहीं कहना चाहिए, उसे दिखाते हैं—

अनुवाद—नाटक और प्रकरण के अङ्क और प्रवेशक में अभ्युदयशाली नायक का वध नहीं दिखाना चाहिये ।

अभिनव—प्रकरण अथवा नाटक नायक का प्रत्यक्ष रूप से अथवा वर्णना के द्वारा मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए । अङ्क का निर्देश प्रत्यक्ष से और प्रवेशक का वर्णना से है ।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि जो प्रत्यक्ष रूप में किसी का मरण नहीं दिखाना चाहते, उनके मत में अङ्क का ग्रहण किस लिए है ? इस पर कहते हैं कि वध शब्द से मरण नहीं कहा है, अपितु वध शब्द से परकृत घात-दानादि का ग्रहण है अतः अन्य कृत घातदानादि प्रत्यक्ष रूप से रङ्ग में दिखाया जाता है । अचिर प्रत्यापत्ति समाश्वासन में जो नायक हैं। उसके घात-दानादि को भी नहीं दिखाना चाहिए । अन्य लोग तो ख्यात नायक के पताका नायक आदि चाहते हैं ।

---

१. क-भ॰ वा ।

२. क-म॰ न च बन्धः ।

३. क. (टि॰) यस्तत्र स नायकः ख्यातः । क-भ तत्रापि हिनायमस्यैव ।

[1]अपसरणमेव कार्यं [2]ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्यः ।
[3]काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥ ४० ॥

अपसरणमिति पलायनम् यथोक्तं—अशक्ये सर्वमुत्सृज्यापगच्छेत् । अदृष्टा हि जीवतः पुनरावृत्तिः इति । ग्रहणं वा कार्यं सनिबन्धनमिति । यथा वासवदत्ता-नृत्तधारे (पारे ?) वत्सराजस्य । सन्धिरेवेति सन्धानं, यदुक्तम्—

प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञः बलवताऽबलः ।
सन्धिनोपनमेत्……… । (अर्थशास्त्रे ७-३ अध्या)

अपसरणबन्धनसन्धीनां विषयविभागसूचनायाह । प्रधानरसानुसारेण यत्काव्यं यत्काव्यार्थस्तस्य श्लेषा बन्धनाद्युपपत्तयः तैरुपलक्षितमपसरणादिकार्यमिति यावत् । कार्यविशेषैरिति केषांचित्पाठः ॥ ४० ॥

अनुवाद—अभ्युदयशाली नायक का अपसरण (भाग जाना), या पकड़ा जाना अथवा सन्धि कर लेना आदि का नाट्यतत्त्ववेत्ता को रस के अनुसार बहुविध काव्य-श्लेष के द्वारा प्रयोग करना चाहिये ॥ ४० ॥

अभिनव—अपसरण का अर्थ है कि भाग जाना । जैसा कि कहा गया है कि अशक्य होने पर सब कुछ छोड़कर चला जाना चाहिये, क्योंकि मरे हुये का पुनरावर्त्तन नहीं देखा गया है अथवा किसी कारणवश उसका ग्रहण किया जा सकता है । जैसे—वासवदत्ता में नृत्त के समापन में वत्सराज का निग्रह । सन्धि का अर्थ सन्धान है । जैसा कि कहा गया है कि—

जैसे कोई दुर्बल राजा बलवान् राजा के द्वारा सेना आक्रान्त हो अर्थात् सेना के घेरे में आ जाय तो सन्धि (सुलह) करके झुक जाना चाहिए ।

अपसरण (भाग जाना), बन्धन और सन्धि (सुलह) के विषय-विभाग को सूचित करने के लिये कहते हैं कि प्रधान रस के अनुसार जो काव्यार्थ है उसका श्लेष अर्थात् बन्ध आदि उपपत्ति है, उससे उपलक्षित अपसरण आदि क्रियाओं को करना चाहिए, कुछ लोग कहते हैं कि काव्य श्लेष की जगह कार्यविशेष पाठ है ॥ ४० ॥

१. क. (टि०) अपसरणं । अवतरणं ।
२. क. (टि०) सोथर्वा ग्रहणमेव वा निश्चयम् ।
३. क-न. बहुभिः काव्यविशेषैः प्रवेशकैः सूचयेद्वापि ।
क. भ. तैस्तैः काव्यश्लेषैः प्रवेशकैः नाट्यतत्त्वज्ञैः ।

न महाजनपरिवारं कर्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा।
[1]ये तत्र कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वा ते स्युः ॥ ४१ ॥

अथ यद्यदप्रयोज्यं प्रत्यक्षेण तस्य सामान्यद्वारकं संग्रहं दर्शयितुमाह—न महाजनपरिवारमिति।

महाजनः संख्यया तेन परिवारः परिवारणं यत्र यत्र वस्तुनि तन्नाटकमिति तद्युक्तं तत् प्रकरणम्। वाग्रहणादन्यदपि न कार्यम्। एतदुक्तं भवति—बहुतरपुरुष-साध्यं यत्किञ्चित्तद्यथा समुद्रे सेतुबन्धनमित्यादि तत्सर्वं प्रत्यक्षेण न प्रदर्शनीयम् तथा महतो जनस्य पितापुत्रश्वश्रूस्नुषागुरुशिष्यादेः परितो वरणं व्रीडातङ्कादियोगेन यत्र जायते वैरस्यं वा महाजनस्य सभ्यस्य च यत्र परिवरणं चित्तसंकोचः तत्सर्वं परिचुम्बनाद्यपि न प्रत्यक्षं प्रयोज्यम्। यदि च प्रत्यक्षप्रयोज्यं तत्र पञ्च कार्यपुरुषाः यदि चत्वारः प्रकरीपतकादिरूपा तेषां च परिवारस्वभावास्तावन्त एवेति। यदि प्रकर्षस्तदा दशाष्टौ वा रङ्गे प्रविष्टा भवन्ति। ततोऽधिकेषु त्वभिनय चतुष्टयं सम्यगविभावनीयं स्यात् देवयात्रापरिदृश्यमानजनसमाजवत् ॥ ४१ ॥

जो प्रत्यक्ष रूपसे दिखाने योग्य नहीं है उसका सामान्य संग्रह दिखाते हैं—

अनुवाद—नाटक और प्रकरण को परिवार के अधिक जनों से युक्त नहीं करना चाहिये। और वहाँ चार-पाँच से अधिक संख्या नहीं होनी चाहिये ॥ ४२ ॥

अभिनव—संख्या के कारण महाजन है। अतः जिस-जिस वस्तु में उससे परिवारण होता है वह नाटक है तथा उससे युक्त प्रकरण है। 'वा' ग्रहण से यह बतलाया गया हैं कि महाजन से संख्याधिक्य का कारण तो होता ही है, इसके अतिरिक्त अन्य भी जो कुछ हैं उसे भी नहीं करना चाहिए। यह कहा जाता है कि अनेक पुरुषों से साध्य जो कुछ हैं। जैसे—

समुद्र में सेतुबन्धन आदि। यह सब प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए। महाजन अर्थात् पिता, पुत्र, सास, ससुर, बहू, गुरु, शिष्य आदि परिजनों का चारों ओर से वरण अर्थात् लज्जा एवं आतङ्क के कारण जहाँ वैरस्य है अथवा महाजन अर्थात् सभ्य का जहाँ परिवरण अर्थात् चित्त-संकोच है वह सब परिचुम्बन आदि को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए। यदि प्रत्यक्ष दिखाना भी हो तो चार-पाँच प्रकरी और पताकागत तथा उनके जो परिवार हो उतने हो अथवा उससे भी प्रकर्ष बतलाना हो तो आठ-दस कार्य पुरुषों को रङ्गमञ्च पर प्रवेश होना चाहिये। क्योंकि इससे अधिक रहने पर चारों प्रकार के अभिनयों का सम्यक् रूप से अवबोध नहीं होगा। क्योंकि वह केवल देवयात्रा में दिखाई देने वाला जन-समुदाय हो जायेगा।

---

१. ग. येनात्र ख. ये तत्र कार्याः।

[1]कार्यं [2]गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं [3]काव्यबन्धमासाद्य ।
ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ॥ ४२ ॥

एवमङ्के प्रवेशकस्वरूपं वितत्याभिहितम्, अधुना तत्समुदायस्य नाटकस्य यादृग्रूपं तद्दर्शयति—कार्यं गोपुच्छाग्रमिति ।

क्रमसूक्ष्माङ्गमिति केचित् । अन्ये तु यथा गोपुच्छाग्रे केचिद्वालाः ह्रस्वाः केचिद्दीर्घाः । एवं कानिचित्कार्याणि मुखसन्धौ परिसमाप्तानि कानिचित् प्रतिमुख-पर्यन्तानि कानिचिदवमर्शावसानानि पराणि निर्वहणपर्यवसायीनि, तद्यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठित इत्यादि यावत् बाभ्रव्यवृत्तान्तौ मुखोपक्षिप्तो निर्वहणनिष्ठां प्राप्तः । साररूपाश्च पदार्थाः पर्यन्ते कर्तव्याः ॥ ४२ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रवेशक का स्वरूप विस्तार से कहकर अब उस समुदाय रूप नाटक जैसा रूप है उसे दिखलाते हैं—

अनुवाद—काव्य-बन्ध की अपेक्षा करके गोपुच्छ के अग्रभाग से समास कार्य को छोटा या बड़ा करना चाहिए । और जो उदात्त भाव हैं उन्हें पीछे करना चाहिये ॥ ४२ ॥

अभिनव—कुछ लोग गोपुच्छाग्र का अर्थ करते है—जिसमें अङ्क क्रमशः सूक्ष्म हों । अन्य लोग तो कहते हैं कि जैसे गाय के पूछ के कुछ बाल छोटे होते हैं और कुछ दीर्घ होते हैं, उसी प्रकार नाटक और प्रकरण में कुछ कार्य मुख सन्धि में समाप्त होते हैं और कुछ कार्य प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं और कुछ कार्य अवमर्श सन्धि में समाप्त होते हैं, शेष कार्य निर्वहण सन्धि पर्यन्त होते हैं । जैसे रत्नावली नाटिका में मदन महोत्सव मुख सन्धि में ही निष्ठित है और बाभ्रव्य का वृत्तान्त मुख सन्धि में उपक्षिप्त होकर निर्वहण सन्धि में निष्ठित होता है । भाव यह कि सारभूत तत्त्वों को समाप्ति तक रखना चाहिए ॥ ४२ ॥

---

१ क. काव्यं ।
२. क. (टि०) गोपुच्छाग्रे । गोपुच्छाभंत् ।
३. क. (टि०) काव्यबन्धमुत्पाद्यनाटकादिषु प्राज्ञैः ।

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।
[1]निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतस्तज्ज्ञैः ॥ ४३ ॥

अत्र हेतुमाह सर्वेषां काव्यानामिति।

नाटकादीनां निर्वहणेऽद्भुतरसः कर्तव्यः। एवं हि तानि काव्यानि रसभावानां युक्त्या परस्परसंबद्धानि युक्तानि भवन्ति नान्यथा एकवाक्यतां च विना कः प्रबन्धार्थः। तथा च शृङ्गारवीररौद्रैः स्त्रीरत्नपृथिवीलाभशत्रुक्षयाः करुणादिभिस्तन्निवृत्तिरितीयता क्रमेण लोकोत्तरासंभाव्यमनोरथप्राप्तौ भवतिव्यमद्भुतेन। असाधारणलाभो हि यदि फलत्वेन कल्प्यतेऽवश्यं क्रियायाः किञ्चिदस्त्येव फलमात्रमिति किं तत्रोपायव्युत्पादनायत्तेनेत्यद्भुतावसानत्वमकार्यम्, केन व्युत्पाद्यजनस्यैवं बुद्धिर्जायते—अहो दुष्करमप्युपायक्रमेण सिद्ध्यति" इति, "उपायेन वर्तितव्यं" इति ॥ ४३ ॥

सारभूत पदार्थों को समाप्ति तक क्यों करना चाहिए ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—नाना प्रकार के रस, भाव, परिपूर्ण सभी काव्यों के निर्वहण सन्धि में नाट्य तत्त्ववेत्ता अद्भुत रस की योजना करें ॥ ४३ ॥

अभिनव—नाटक आदि काव्यों के निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार वे काव्य रस और भावों की युक्ति से परस्पर सम्बद्ध एवं युक्त हो जाते हैं, अन्यथा उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि परस्पर एकवाक्यता के विना प्रबन्धार्थ कैसा ? अतः शृङ्गार, हास्य, वीर, रौद्र रसों में क्रमशः स्त्रीरत्न लाभ, पृथ्वी लाभ, तथा शत्रु का क्षय तथा करुण, भयानक, वीभत्स आदि उनकी निवृत्ति। इस प्रकार क्रमशः लोकोत्तर असम्भाव्य मनोरथ की प्राप्ति होने पर निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस दिखाना चाहिये। असाधारण लाभ की यदि फल के रूप में कल्पना करें तो क्रिया का अवश्य कोई फल होगा। अतः उपायों के व्युत्पत्ति के अधीन होने से अद्भुत में अवसान नहीं करना चाहिये। ऐसी स्थिति में किस साधन से व्युत्पाद्य जन की ऐसी बुद्धि होगी। "अहो! उपायों के क्रम से (अनुष्ठान से) दुष्कर कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं"। अतः 'उपायों को करना चाहिये' ॥ ४३ ॥

---

१. क. (टि०) निर्वहणं कर्त्तव्यम् ।

नाटकलक्षणमेतन्मया समासेन कीर्तितं विधिवत्[1] ।
प्रकरणमतः परमहं लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ४४ ॥

यत्र कविरात्मशक्त्या[2] वस्तु शरीरं च [3]नायकश्चैव ।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम्[4] ॥ ४५ ॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति वक्तव्यान्तरं नाटकलक्षणमेतदित्यादि ।

क्वचिल्लक्ष्यं प्रसिद्धम्, इह तु लक्षणबलेन तस्यैव यत्नप्रसाध्यत्वमिति दर्शयति । लक्षणयुक्त्या लक्षणद्वारेण युक्तिस्तया हृदयानुप्रवेशनया हेतुभूतया संपाद्ययेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

तत्र प्रकरणस्य सभेदस्य सलक्षणं नामनिर्वचनं चाह–यत्र कविरात्मशक्त्येति ।

वस्त्विति साध्यं फलं, शरीरमिति तदुपायं वस्त्वादिकं काव्याभिधेयमात्मशक्त्या प्रकुरुते यत्काव्येन तत्प्रकरणमिति बुधैर्ज्ञेयमिति संबन्धः ॥ ४५ ॥

अभिनव—अब पूर्वोक्त का उपसंहार करते हैं और अन्य वक्ताओं पर आक्षेप करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार मैंने संक्षेप में नाटक के लक्षण को विधिवत् कहा है। इसके बाद अब लक्षण की योजना करते हुये प्रकरण को कहूँगा ॥ ४४॥

अभिनव—कहीं पर लक्ष्य प्रसिद्ध है। यहाँ पर तो लक्षण के बल से वह प्रयत्न साध्य है, इसके दिखाते हैं—लक्षण रूप द्वार से जो युक्ति (योजना) है, उसके द्वारा अर्थात् वस्तु के साध्य अर्थ को हृदय में प्रवेश कराने में हेतुभूत सम्पाद्य युक्ति से ॥ ४४ ॥

अब भेदों के साथ प्रकरण के लक्षण-सहित नाम निर्वचन करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर कवि अपनी शक्ति (प्रतिभा) से वस्तु (इतिवृत्त) शरीर और नायक की औत्पत्तिक कल्पना करता है उसे विद्वानों को प्रकरण समझना चाहिए ॥ ४५ ॥

अभिनव—यहाँ पर साध्य फल को ग्रहण करते हैं। शरीर का अभिप्राय फल के उपाय से है। काव्य के अभिधेय वस्तु आदि को जो आत्मशक्ति से काव्य के द्वारा प्रकर्षयुक्त करता है, विद्वानों को उसे प्रकरण समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

---

१. क. (टि०) प्रकीर्त्तितं विविधम् ।
२. ख. ग. बुद्धया । ३. ख. ग. नाटकं ।
४. ख. प्रकरणमेतद् बुधैर्ज्ञेयम् ।

[1]यदनार्षमथाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम् ।
उत्पन्नबीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥ ४६ ॥

यत्र समुत्पाद्यं न भवति तत्र योऽनुत्पाद्योऽशः न कुत्रस्थो ग्राह्य इति दर्शयितुमाह—यदनार्षमित्यादि।

अनार्षमिति पुराणादिव्यतिरिक्तबृहत्कथाद्युपनिबद्धं मूलदेव चरितादि। आहार्यमिति पूर्वकविकाव्यद्वाहरणीयं समुद्रदत्तचेष्टितादि।

ननु च तत्रांशे कविकृतत्वाभावात्कथं प्रकरणवाचोयुक्तिरित्याह—उत्पन्ने पूर्वसिद्धे बीजं वस्तु च यत्र तादृशमपि तत्, यदिति वस्तुभूतैः बृहत्कथादौ काव्यान्तरे वा प्रसिद्धैर्गुणैर्युक्तं प्रकरोति तदिति तस्माद्धेतोरेतदपि प्रकरणम्। तेन बृहत्कथाविसिद्धस्य मूलदेवादेरधिकावापं कविशक्तिर्यदा विधत्ते तदा प्रकरणम्। एवं पूर्वकविसमुत्प्रेक्षितसमुद्रदत्तचेष्टितादिवर्णनेऽपि अधिकावापं विदधत्कविः प्रकरणं कुर्यादिति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

अभिनव—जहाँ पर सनुत्पाद्य कुछ भी न हो, वहाँ अनुत्पाद्य अंश कहीं से भी नहीं लेना चाहिये। इस बात को दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर कथावस्तु अनार्ष हो अर्थात् ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों से न लिया गया हो, आहार्य अर्थात् कल्पित हो, अभूतपूर्व गुणों अर्थात् नवीन कल्पनाओं से युक्त हो, तथा जहाँ बीज और वस्तु कृत्रिम हो, उसे भी 'प्रकरण' समझना चाहिए ॥ ४६ ॥

अभिनव—अनार्ष का अर्थ है जो पुराणादि से भिन्न बृहत्कथा आदि में उपनिबद्ध मूलभूत देवचरित। आहार्य का अर्थ है प्राचीन कवियों के काव्य से उद्धृत (आहृत)। जैसे समुद्रदत्त की चेष्टायें आदि।

अब प्रश्न होता है कि जहाँ वस्तु उत्पाद्य नहीं है वहाँ अनुत्पाद्य अंश में कवि के द्वारा कृतत्व का अभाव होने से प्रकृष्ट करण रूप वाणी की युक्ति कैसे सङ्गत होगी? इस पर कहते हैं कि वहाँ पर उत्पन्न अर्थात् पूर्वसिद्ध काव्य में बीज और वस्तु जैसा रहे वहाँ 'यत्' पद का अभिप्राय है कि बृहत्कथा आदि में प्रसिद्ध वस्तुभूत गुणों से युक्त जो प्रकर्ष करता है, वह भी प्रकरण है। अतः कवि शक्ति के द्वारा बृहत्कथा आदि में प्रसिद्ध मूलभूत देवादि के सम्बन्ध में अधिक आवाप करता है वह भी प्रकरण होता है। इस प्रकार पूर्व कवियों के द्वारा समुत्प्रेक्षित समुद्रदत्त की चेष्टाओं के वर्णन में भी प्रकृष्ट स्वरूप की योजना करके कवि प्रकरण की योजना करें ॥ ४६ ॥

१ ग यदनर्थमथाहार्यं काव्यं कुरुते प्रभूतगुणयुक्तम् ।
ख. यदनायकहार्यकार्यं प्रकरोत्यद्भूतगुणयुक्तम् ।

यन्नाटके[1] मयोक्तं वस्तु शरीरं[2] च वृत्तिभेदाश्च ।
तत्प्रकरणेऽपि [3]योज्यं सलक्षणं सर्वसन्धिषु तु ॥ ४७ ॥

नन्वस्येति वृत्तस्य एवं योजनेत्याशंक्य पूर्वोक्तमेवातिदेशद्वारेण स्मारयितुमाह—यन्नाटके मयोक्तमिति ।

नानाविभूतियुक्तमृद्धिविलासादिभिरित्यादिनायकफलत्वमुक्तं तत् वस्तुशरीरमिति "अङ्कप्रवेशकाढ्यं" "वृत्तिभेदाश्चेति" "नानारसभावचेष्टितैर्बहुधा । सुखदुःखोत्पत्तिकृत" मिति, सलक्षणमित्यङ्कप्रवेशकयोर्लक्षणयुक्तमिति ॥ ४७ ॥

केचित्तु शरीरग्रहणेन गतार्थं तस्माल्लक्षणमित्यङ्कपरिमाणमङ्कान्तरसन्धानहेतुषु च प्रवेशकेषु यत्प्रयोज्यमुक्तं 'दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्येत' । यद्यङ्के नोपपद्येत इत्यादि तत्सर्वं प्रकरणेऽपि योज्यम् इति । अतिदेशायातमतिप्रसङ्गं वारयत्यार्याद्वयेन विप्रवणिगित्यादिना ।

अब प्रश्न होता है कि इस इतिवृत्त की योजना कैसे करें ? इस प्रकार आशङ्का करके पूर्वोक्त को ही अतिदेश के द्वारा स्मरण कराने के लिये कहते हैं—

अनुवाद—नाटक के लिए मैंने जिन वस्तु, शरीर और वृत्तियों के भेदों को कहा है, प्रकरण में भी लक्षण सहित समस्त सन्धियों में भी उनकी योजना करनी चाहिए ॥ ४७ ॥

अभिनव—ऋद्धि, विलास आदि से नाना विभूति युक्त है, इत्यादि से नायक को जो फलवान् कहा गया है, 'वस्तुशरीरम्' से अङ्क को प्रवेशक से युक्त होना कहा गया है, 'वृत्तिभेदाश्च' नाना रस, बहुविध भाव और चेष्टाओं से युक्त होना तथा सुख एवं दुःख की उत्पत्ति करने वाला तथा 'सलक्षणम्' से अङ्क एवं प्रवेशकों को लक्षणादि से युक्तता कही गई है ॥ ४७ ॥

अभिनव—कुछ लोग कहते हैं कि शरीर के ग्रहण से गतार्थ हो गया था, तो फिर 'सलक्षण' क्यों कहा है ? कहते हैं कि सलक्षण अर्थात् अङ्क का परिणाम और अङ्कान्तर के सन्धान के हेतु प्रवेशकों में जो प्रयोज्य कहा गया है "दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्येत" अर्थात् "यदि दिन के अवसान कार्य पूरा न हो सके तो अङ्कच्छेद करके प्रवेशकों के द्वारा उसका विधान करना चाहिए" इत्यादि । उन सबकी प्रकरण में भी योजना करनी चाहिये । इस प्रकार अतिदेश से प्राप्त अतिप्रसङ्ग को 'विप्रवणिक्' आदि दो आर्याओं से वारण करते है ।

---

१. क-न. प्रयोक्तं ।   २. क. ब. शरीरं राजाश्रयोपेताम् ।
३. ग कार्यं केवलमुत्पाद्यवस्तु स्यात् । ख. योज्यं केवलमुत्पाद्यवस्तुस्यात् ।

[1]विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
चरितं [2]यन्नैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ।। ४८ ।।
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम्[3] ।
बाह्यजनसंप्रयुक्तं [4]तज्ज्ञेयं प्रकरणं तज्ज्ञैः ।। ४९ ।।

सचिवो मन्त्री, आमात्योऽधिकृतः सार्थवाहस्तावत्पण्यानामाहर्ता तद्देशक्रय-विक्रयकृतो वणिजोऽन्य एव । नैकविधमित्यनेकरसयुक्तमित्यर्थः 'नैकरसान्तरविहित' इति तदतिदेशमात्रमिति सूचितम् ।। ४८ ।।

प्रख्यातोदात्तेति प्रसक्तं निषेधति नोदात्तेति ।

अनुवाद—जहाँ पर विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य और सार्थवाह (व्यापारी या सेनापति) के अनेक प्रकार के चरित का वर्णन किया जाता है, उसे 'प्रकरण' समझना चाहिए ।। ४८ ।।

अभिनव—सचिव का अर्थ मन्त्री, अमात्य का अर्थ अधिकारी, सार्थवाह का अर्थ आहर्त्ता, देश में क्रय-विक्रय करने वाला वणिक् कहलाता है। इस सार्थवाह से भिन्न होता है। 'नैकविधम्' का अर्थ है अनेक रसों से युक्त 'नैकरसान्तरविहित' से अतिदेश मात्र सूचित होता है ।। ४८ ।।

प्रख्यातोदात्त इत्यादि से प्रसक्त का निषेध करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर उदात्त नायक न हो, न दिव्यपात्र का चरित हो और न राजसम्भोग का वर्णन हो और जिसमें बाह्य (बाहरी) पात्र हों, उसे विद्वान् लोग 'प्रकरण' समझें ।। ४९ ।।

---

१. क-भ. सचिवश्रेष्ठब्राह्मण ।

२. ख. यदनेकविधं तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम ।

३. ग. राजसम्भोगः ।

४. ख. विज्ञेयं ग. ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ।

दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम्[1]।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु ॥ ५० ॥

तन्निषेधे चार्थान्नाटके वैपरीत्यमायातम्। नाटके च देवो नायकत्वेन निषिद्ध इति प्रकरणे कर्तव्यत्वेनापाद्यत इत्याह—

न दिव्यचरितमिति। तथा न दिव्याश्रयमिति यदनादेशाद् देवानां प्रयोज्यत्वं प्रसक्तं तदप्यनेन निषिद्धम्। नाटके देवनामिवेहापि राज्ञः प्रवेशे शङ्कमाने निराकरोति न राजसंभोगमिति। यदि वा औत्पत्तिकत्वेऽपि न राजोचितसंभोगोत्प्रेक्षा विप्रादिषु करणीयेत्यनेन शिक्षयति, अतएव राजनियमः। उचितोऽन्तः पुरजनः कञ्चुकिप्रभृतिः तद्व्यतिरिक्तो बाह्यजनोऽत्र चेटदासादिः प्रवेशकादौ कार्यं इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

एतदेव दर्शयति।

अभिनव—प्रख्यातोदात्त के निषेध करने पर अर्थात् नाटक में वैपरीत्य प्राप्त होता है। नाटक में देवता नायक के रूप में निषिद्ध है। अतः प्रकरण कर्त्तव्यत्वेन प्राप्त होता है, इसलिए कहते हैं—

'न दिव्यचरितम्' इति अर्थात् 'न दिव्यश्रयम्' इति। आदेश के विना देवताओं में जो प्रयोज्यत्व प्रसक्त है, वह इससे निषिद्ध हो गया। नाटक में देवताओं के समान यहाँ प्रकरण में भी राजा के प्रवेश की शङ्का का निराकरण करते हैं—

'न राजसम्भोगम्' अथवा औत्पत्तिक (नायक) होने पर भी राजोचित सम्भोग की उत्प्रेक्षा विप्र आदि में नहीं करनी चाहिए। उससे यह दिखाता है कि राजा के लिए यह नियम है और कञ्चुकी आदि अन्तःपुर के जो उचित जन हैं, उनसे अतिरिक्त यहाँ प्रकरण में बाह्य लोग चेट दास आदि प्रवेशक में करना चाहिए ॥ ४९ ॥

इसी बात को यहाँ दिखाते हैं—

अनुवाद—प्रकरण में दास, विट, श्रेष्ठि से युक्त तथा वेश्या स्त्री के उपचार (व्यवहार) के कारणों से उपेत तथा नीच कुल की स्त्रियों के चरित से युक्त (अथवा कुलीन स्त्रियों चरित अल्प) हो चाहिए ॥ ५० ॥

---

१. क-भ. करणैर्युक्तम्। क. (टि०) प्रकरणेऽपि।

वासविटश्रेष्ठियुतमिति कञ्चुकिस्थाने दासः विदूषकस्थाने विटः अमात्य-स्थाने श्रेष्ठीत्यर्थः। वेश्यावाटो वेश, तत्र या स्त्री तस्याः य उपचारो वैशिक (अ—२३) वक्ष्यते सकारणं यस्य श्रृङ्गारस्य तेनोपेतं, कुलस्त्रीविषयं चेष्टितं मन्दं यत्रेति।

उपाध्यायास्तु मन्दकुलानां स्त्रीणां चरितं यत्रेत्याहुः, तेन कुलाङ्गनापि तत्र मन्दकुलैवेति दर्शितं भवति। एतदेवाभिमन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोक-दत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शङ्केवोपनिबद्धा सा न दोषाय निर्वहणान्तो-पयोगिनी हि नन्दयन्तीनिर्वासनं तस्याश्च गृहान्तरावस्था। इवमेव मुखसन्धौ मूलं परपुरुषसंभावनामूलत्वात् एवमनभ्युपगमे तु श्वशुरेण बध्वा असन्निहिते पुत्रे निर्वासनं शवरसेनापतिगृहेश्वस्यानमित्युत्तमप्रकृतीनामनुपपन्नमेव। तस्मात् स्ववर्गा-पेक्षयेवमुत्तमत्वमद्यतने राजोचितानामुत्तमप्रकृतीनां वणिङ्मात्रे समारोप्य तद्दूषणं यत्कृतं न तेन ब्रह्मयशः स्वामियशः खण्डितं अपि तु स्वयश एव। ये हि मिथ्यायशो मिथ्याकलङ्कयितुमुद्यतास्तेषां स्वयश एवेति यशोमात्रावशेषता न हि नायकशब्द-मात्रादेव दुर्योधनवदेव शङ्काद्यनुचितम्। प्रकरणे हि तादृश एव नायकः केवलमन्यवणिगपेक्षया स उत्तमोऽस्तु, व्युत्पाद्यश्च तत्रैवंविध एवेत्यलम-वान्तरेण ॥ ५० ॥

अभिनव—'दासविटश्रेष्ठियुतम्' आदि से अभिप्राय है कि यहाँ प्रकरण में कञ्चुकी के स्थान पर दास, विदूषक के स्थान पर विट तथा अमात्य के स्थान पर श्रेष्ठी को योजना करनी चाहिए। वेश्याओं का वाट वेश है, उसमें जो स्त्री है उसका जो उपचार वैशिक अध्याय में कहेंगे, वह कारण है जिस श्रृङ्गार का, उससे परिपूर्ण जहाँ कुलीन स्त्री की चेष्टायें बहुत कम हो।

उपाध्याय जी तो कहते हैं कि अधम कुल की स्त्रियों के चरित जहाँ वर्णित हों वहाँ इसलिए कुलाङ्गना भी वहाँ नीच कुल वाली ही है, यह दिखाया गया है। इसी अभिप्राय को मानने वाले 'पुष्पदूषितम्' अशोक, दत्त आदि शब्दों के सुनने से समुद्रदत्त की जिस शङ्का का उपनिबन्धन किया है, वह दोषपूर्ण नहीं है, निर्वहण सन्धि में उपयोगनी है। जैसे नन्दवन्ती का अपने घर से निष्कासन तथा उसका नीच कुल में निवास। यही वस्तु परपुरुष की सम्भावना मूल होने से मुख सन्धि में मूल है। इस प्रकार न मानने पर पुत्र के घर में न रहने पर श्वसुर के द्वारा वधू

सचिवश्रेष्ठिब्राह्मणपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
गृहवार्ता यत्र भवेन्न तत्र वेश्याङ्गना कार्या ॥ ५१ ॥

अथास्य सप्तविधस्यापि प्रकरणस्य प्रत्येकं भेदत्रयं दर्शयितुमार्यात्रयं पठति सचिवेत्यादि।

सचिवादीनां सम्बन्धिनो यत्र गार्हस्थोचिता वार्ता पुरुषार्थसाधकमितिवृत्तं न तत्र वेश्याङ्गना नायिकात्वेन निबन्धनीया, विटादीनां तु नायकत्वेन कृता या गार्हस्थ्यचिन्ता सापि निबन्धनीयेत्युक्तं भवति। यदि गृहस्थचिन्तावर्णनं न भवति श्रेष्ठिसार्थवाहादीनां च विप्रादिवदविरुद्धो वेश्यायोग इति सापि प्रदर्शनीयेति लब्धमर्थात्। तत्र न तु कुलस्त्रीसंगमः कर्तव्यः ॥ ५१ ॥

का निष्कासन और उसका शबर सेनापति के घर में अवस्थापन यह सब उत्तम प्रकृति के उत्तमत्व का अपने वर्ग की अपेक्षा से यह उत्तमत्व वणिक् मात्र में आरोपित कर जो दूषण बतलाया गया है उससे ब्राह्मण का यश एवं स्वामो का यश खण्डित नहीं हुआ। अपितु अपने ही यश को उसने खण्डित कर दिया। जो मिथ्या यश वाले ढोंग करके झूठे यशस्वी बनकर दूसरे को कलङ्कित करने के लिए उद्यत है उनका अपना यश ही कलंकित हुआ अर्थात् वे यशःशेष हो गये (मर गये)। जैसे दुर्योधन के समान नायक शब्द मात्र के कारण दूसरे को कलंकित मानना अनुचित है। प्रकरण में वैसा ही नायक होता है, केवल अन्य वणिजों को अपेक्षा से वह उत्तम है और इसी प्रकार का व्यक्ति ही व्युत्पाद्य भी होता है। अब अवान्तर अर्थ चिन्ता न करिये ॥ ५० ॥

अब सात प्रकार के प्रकरण के प्रत्येक के तीन भेद दिखलाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर सचिव, श्रेष्ठि, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य एवं सार्थवाह के घर को बात जहाँ हो वहाँ वेश्याङ्गनाओं को उपस्थिति नहीं होनी चाहिए ॥ ५१ ॥

अभिनव—जहाँ पर सचिव आदि से सम्बन्धित गार्हस्थोचित वार्त्ता पुरुषार्थ साधक इतिवृत्त हो वहाँ पर वेश्याङ्गना नायिका के रूप में उपनिबन्धन नहीं करना चाहिए और विट आदि का जहाँ नायक के रूप में निबन्धन हो वहाँ गार्हस्थ्य चिन्ता में वेश्या का उपनिबन्धन हो सकता है, इसी प्रकार यदि श्रेष्ठि, सार्थवाह आदि के गृहस्थ चिन्ता का वर्णन न हो तो विप्र आदि के समान वहाँ वेश्या का सम्बन्ध दिखाया जा सकता है, यह अर्थ निकलता है। किन्तु वहाँ कुलीन स्त्री का सङ्गम नहीं करना चाहिए ॥ ५१ ॥

[1]यदि वेशयुवतियुक्तं न [2]कुलस्त्रीसङ्गमोऽपि स्यात् ।
अथ [3]कुलजनप्रयुक्तं न वेशयुवतिर्भवेत्तत्र ॥ ५२ ॥
यदि वा कारणयुक्त्या [4]वेशकुलस्त्रीकृतोपचारः स्यात् ।
[5]अविकृतभाषाचारं तत्र तु [6]पाठ्यं प्रयोक्तव्यम् ॥ ५३ ॥

तदाह यदि वेशयुवतीति ।

अथ कुलजनप्रयुक्तमिति । एवं श्रेष्ठिसचिवादिविषयं शुद्धं भेदद्रयमुक्तं, विटादिविषयस्तुसङ्कीर्णं एव वेश्याकुलजाभ्यां भवति ॥ ५२ ॥

तदाह यदि वा कारणयुक्तयेति ।

विटे वेशस्त्री प्रधानत्वात् पूर्वमुक्ता कुलस्त्री तु तत्रापि पितृपितामहाद्यनुरोधादिति कारणशब्देनोक्तम् । अविकृता भाषा कुलस्त्रियाः शौरसेनी, वेश्यायाः संस्कृता, आचारः कुलस्त्रियां विनयप्रधानः, अन्यस्यां तद्विपरीत । तथा च देवीचन्द्रगुप्ते माधवसेनामुद्दिश्य चन्द्रगुप्तस्योक्तिः—

अनुवाद—यदि प्रकरण में स्त्रियों का योग हो तो वहाँ कुलीन स्त्रियों का सङ्गम नहीं करना चाहिए और यदि कुलीन स्त्रियों का योग हो तो वहाँ वेश्या स्त्रियों का सङ्गम नहीं होना चाहिये ॥ ५२ ॥

अभिनव—इस प्रकार श्रेष्ठि एवं सचिव आदि के विषय शुद्ध दो भेद कहे गये हैं और विट आदि के विषय में वेश्या और कुलीन अङ्गना के कारण सङ्कीर्ण भेद होता है ॥ ५२ ॥

अनुवाद—यदि किसी कारण जहाँ वेश्या और कुलाङ्गना का एक साथ सङ्गम हो तो वहाँ अविकृत अर्थात् शुद्ध भाषा और विशुद्ध आचार से युक्त पाठ्य का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५३ ॥

अभिनव—विट के यहाँ वेश्या प्रधान रहती हैं, यह पहिले बताया जा चुका हैं किन्तु कुल स्त्री का सम्बन्ध माता, पिता, पितामह आदि के अनुरोध से होता है । यह बात कारण शब्द से कही गई है । कुलीन स्त्री की भाषा अविकृत संस्कृत है और वेश्या की भाषा शौरसेनी प्राकृत हो सकती है । कुलीन स्त्रियों का आचार विनय प्रधान है । तथा अन्य स्त्रियों का आचार उससे भिन्न है । जैसाकि देवीचन्द्र गुप्त में मानव सेना को लक्ष्य करके चन्द्रगुप्त का कथन है—

१. क-म. यति वेश्यायुवतियुतं । क-म. यदि वेश्याघुवतियुतं ।
२. ख. कुलस्त्रीसंगमो भवेत्तत्र । ग. कुलस्त्रीसङ्गमर्हति ततः । क-भ. कुलस्त्रीसङ्गमाद् ।
३. क-भ. कुलवधूप्रयुक्तं ।
४. ख. वेशकुलस्त्रीसंगमो न स्यात् । क-प. वेशकुलस्त्रीसङ्गयोऽपि स्यात् ।
५. क-भ. अविकृतभाषाचारं । ६. क. (टि०) काव्यं ।

[1]मध्यपुरुषैर्नित्यं योज्यो विष्कम्भकोऽत्र तत्त्वज्ञैः[2] ।
संस्कृतवचनानुगतः संक्षेपार्थः प्रवेशकवत् ॥ ५४ ॥

आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः ।
प्रत्यङ्गेषु वरानने पुलकिषु स्वेदं समातन्वता ॥
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं संपूर्णयोरप्यसौ ।
केनाप्यस्पृशताप्यधोनिवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासितः ॥ इति ।

अत्र हि व्युत्पाद्यस्तथाविध एव तादृश एव च वृत्तन्तोऽङ्के एवमेतत् एकविंशतिःप्रकरणे भेदाः ॥ ५३ ॥

प्रकरणे नायकापेक्षया प्रायशः उपयोगिनोऽपि मध्यमा एव संभवन्तीति तत्र विष्कम्भकं लक्षयति—मध्यमपुरुषैरिति ।

विष्कम्भयत्युपस्तम्भयतीति विष्कम्भकः । संस्कृतेन वचनेनानुगतं च सङ्कीर्णोऽप्यस्त्येवेति प्रवेशकेन वार्थक्रियाकर्तव्यतामेव कर्तव्यत्वेनाभिसन्धाय विष्कम्भकः कार्यः ॥ ५४ ॥

"सित से इतर वर्ण वाले नील उत्पल के समान कान्ति वाले तुम्हारे नेत्रों के आनन्दाश्रुओं से पुलकित प्रत्येक अङ्ग में पसीने को बहा देना और इन सम्पूर्ण नितम्बों के उपचय को करने वाले किस पुरुष ने स्पर्श किये बिना ही तुम्हारे अधोवस्त्र को गाँठ ढीली कर दी।"

यहाँ इसी प्रकार वृत्त वाले अङ्क में उसी प्रकार का व्यक्ति व्युत्पाद्य है। इस प्रकरण के २१ भेद होते हैं।। ५३ ॥

विष्कम्भक

अभिनव—प्रकरण में नायक को अपेक्षा उपयोग में आने वाले पात्र प्रायः मध्यम ही होते हैं, इसलिए विष्कमाक को बाहुल्येन सम्भावना होने से प्रकरण में विष्कम्भक का लक्षण बताते हैं—

अनुवाद—**नाटक तथा प्रकरण में नाट्यतत्त्ववेत्तादि को मध्यम पात्रों के द्वारा विष्कम्भक को योजना करनी चाहिये। तथा प्रवेशक के समान संस्कृत भाषा के वचनों में अनुगत संक्षेप अर्थ वाले वाक्य होने चाहिये ॥ ५४ ॥**

अभिनव—जहाँ विष्कम्भक (उपस्तम्भन) होता है वह विष्कम्भक है। संस्कृत वाक्यों के अनुगत वह सङ्कीर्ण भी होता है। अथवा अर्थक्रिया का कर्त्तव्यत्वेन अनुसन्धान करके प्रवेशक से भी विष्कम्भक को करना चाहिए ॥ ५४ ॥

---

१. क. (टि०) पात्रैः कार्यो नित्यं विष्कम्भकस्तु विज्ञेयः ।
२. ग. अपि विज्ञेयः ।

शुद्धः संकीर्णो वा द्विविधो विष्कम्भकोऽपि कर्तव्यः ।
[1]मध्यमपात्रः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यकृतः ॥ ५५ ॥
अङ्कान्तरालविहितः [2]प्रवेशकोऽर्थक्रियां समभिवीक्ष्य ।
[3]संक्षेपात्सन्धीनामर्थानां चैव कर्तव्यः ॥ ५६ ॥

तामेवार्थक्रियां स्पष्टयति संक्षेपात्सन्धीनामर्थानां चेति । सन्धीनां यः संक्षेपो युद्धराज्यभ्रंशादीनां चार्थानां यः संक्षेपस्तमभिसन्धाय शङ्कस्याङ्कयोर्वान्तराले मध्ये विष्कम्भको योज्यः ॥ ५५ ॥

ननु कोहलेन मुखसन्धेरङ्कस्य चायमन्तराले विहितः ।

"मध्यपुरुषनियोज्यो नाटकमुखसन्धिमात्रसञ्चारः ।
विष्कंभको हि कार्यो नाटकयोगे प्रवेशकवत् ॥" इति ।

तत्कथमुक्तमङ्कान्तरानुसारीति, उपलक्षणार्थमेतदित्यदोषः ।

अनुवाद—विष्कम्भक शुद्ध और संकीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है। मध्यम पात्रों से युक्त विष्कम्भक शुद्ध होता है और नीच और मध्यम पात्रों से युक्त संकीर्ण (मिश्र) विकम्भक कहलाता है ॥ ५५ ॥

अनुवाद—अर्थ क्रिया को सम्यक् रूप से देखकर अंक में सन्धियों अर्थों के अन्तराल में विहित प्रवेशक को संक्षेप में करना चाहिये ॥ ५६ ॥

अभिनव—अर्थक्रिया को स्पष्ट करते हैं—'संक्षेपात् सन्धीनाम्' अर्थात् सन्धियों का जो संक्षेप है। युद्ध, राज्यभ्रंश आदि अर्थों का जो संक्षेप है, उनका अभिसन्धान कर अङ्क और सन्धि के मध्य में विष्कम्भक की योजना करनी चाहिए ॥ ५५-५६ ॥

नाटिका

अब प्रश्न होता है कि कोहल ने मुखसन्धि और अङ्क के मध्य में विष्कम्भक का विधान किया है।

"मध्यम के द्वारा नियोज्य मुख सन्धि में केवल सञ्चार के योग्य नाटक में प्रवेशक की तरह नाटक की योजना करनी चाहिए"।

तब आप ने कहा कि अङ्क के अन्तराल में विष्कम्भक की योजना करनी चाहिए। कहते हैं कि यह उपलक्षण है, अतः दोष नहीं है।

---

१. ग. मध्यमपात्रैः ।
२. ग. प्रवेशकार्थक्रिया । ख. प्रवेशिकार्थक्रियामभिवीक्ष्य ।
३. ख. संक्षैपार्थः सन्धिष्वर्थानां संविधातव्यः ।

अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेदः[1] प्रयोक्तृभिः कार्यः ।
[2]प्रख्यातस्त्वितरो वा [3]नाटकयोगे प्रकरणे वा ॥ ५७ ॥

तथाहि बीजं विन्दुश्च प्रथममुपक्षिप्येते, तत्र च पृथग्जनस्यालब्धनिवेशत्वात् सचिवादिगोचरत्वाच्च तदुपक्षेपे विष्कम्भकस्यैवावसर इति यदुच्यते तदङ्कान्तरेष्वपि मन्त्रगुप्ततायां तुल्यमिति तत्राप्यनिवारितो विष्कम्भकप्रवेशः । पृथग्जनोऽपि वा यत्र मन्त्रचिन्तायामनुप्रवेश्यते तत्र प्रवेशकोऽपि प्रथमोपक्षेपे न योग्य इति युक्तम् । सामान्येनाङ्कान्तरानुसारीति अङ्कस्य मध्य इत्यनेन प्रस्तावनाङ्कमध्यवर्तिताप्युक्तैव । प्रवेशक विष्कम्भकविषये लिङ्गवचनयोरतन्त्रत्वात् स्त्रीणामप्यनुप्रवेशः संख्याधिक्यं च ।

और भी पहिले बीज और बिन्दु का उपक्षेप करते हैं, उसमें भी पृथक् जन का निवेश नहीं होता, किन्तु सचिवादि का विषय होने से उसके उपक्षेप में विष्कम्भक का ही अवसर है, ऐसा जो कहा जाता है वह अङ्कान्तर मैं भी मन्त्र को गुप्तता (गोपनोयता) के समान है, इसलिए वहाँ पर भी विष्कम्भक का प्रवेश अनिवारित है । जहाँ पर मन्त्रचिन्ता में पृथक् जन का निवेश कराया जाता है । वहाँ प्रथम उपक्षेप में प्रवेशक भो योग्य नहीं है, यह उचित हो है, सामान्य रूप से अङ्कान्तरानुसारी यह अंक के मध्य में इससे प्रस्तावना और अङ्क के मध्य में स्थिति को कह ही दिया है। प्रवेशक और विष्कम्भक के विषय में लिङ्ग और वचन के अतन्त्र होने से स्त्रियों का प्रवेश और (पात्रों को) संख्या का आधिक्य भी हो सका है ।

अनुवाद—नाटक और प्रकरण के रचना के योग से नाट्यप्रयोक्ताओं को एक अन्य भेद को कल्पना करनो चाहिये, जिसमें प्रख्यात अथवा इतर अर्थात् अप्रसिद्ध नायक होने चाहिये ॥ ५७ ॥

---

१. ख. एको प्रयोक्तृभिः ज्ञेयः ।
२. ख. प्रत्याख्यातस्त्वितरो वा ।
३. ग. नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये।

[1]प्रकरणनाटकभेदादुत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपतिम् ।
अन्तःपुरसङ्गीतककन्यामधिकृत्य[2] कर्तव्या ॥ ५८ ॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी[3] ।
[4]बहुनृत्तगीतपाठ्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥ ५९ ॥
[5]राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।
[6]नायकदेवोदूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥ ६० ॥

एवं सकलपुरुषार्थविषया व्युत्पत्तिः नाटकेन प्रधानस्य राजप्रायस्य क्रियते, प्रकरणेन च मध्यमप्रायस्य, अपूर्वकुतूहलवतस्तत्रापि चैकविंशकस्याभितानात् चित्रव्युत्पत्तिः। तत्र रूपकलक्षणस्य संकीर्णतया बहवो भेदाः सन्तीत्युक्तं सामान्यलक्षणे। तत्र प्रधानभूतयोः सर्वरूपकप्रसरणकारिणोः नाटकप्रकरणयोर्लक्षणसाङ्कर्यं दर्शिते सर्वरूपकाणां दर्शनं तद्भवतीत्यभिप्रायेण तदेव दर्शनीयम्।

उद्देशक्रमानुसारेण तु तल्लक्षणविस्तरणं पुनस्तल्लक्षणपरामर्शे च गौरवमित्यभिप्रायेणार्यात्रयं पठति प्रकरणनाटकभेदादित्यादि।

इस प्रकार नाटक के द्वारा राजप्रधान पुरुष को सकल पुरुषार्थ विषयक व्युत्पत्ति की जाती है। प्रकरण के द्वारा अपूर्व कुतूहल वाले मध्यम पुरुष की व्युत्पत्ति की जाती है उसमें भी प्रकरण के इक्कीस प्रकार होने से चित्र व्युत्पत्ति की जाती है, उसमें रूपक के लक्षणों से संकीर्ण होने से अनेक भेद होते हैं। यह बात सामान्य लक्षण में कही गई है। समस्त रूपकों के प्रसारण करने वाले प्रधानभूत नाटक और प्रकरण के लक्षणों में साङ्कर्य दिखाकर समस्त प्रकार के रूपकों का दर्शन करा दिया गया है। इस अभिप्राय से सभी रूपकों को दिखाना उचित है॥ ५७॥

उद्देश क्रम के अनुसार तो उनके लक्षण के विस्तार फिर उनके लक्षणों के परामर्श करने पर गौरव होगा, इस अभिप्राय से तीन आर्याओं को पढ़ते हैं—

---

१. ख. प्रकरणनायकभेदादुत्पन्न वस्तु नायको नृपतिः।
क-प. प्रकरणसमुद्भवा पुनरुत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपतिर्वा।
२. ख. वार्त्तामधिकृत्य। क. (टि०) कन्यामसित्य।
३. ख. सुविहितार्था।
४. ख. प्रनृत्तगीतपाठ्या। ग. बहुनृत्यगीत्वाघरति।
५. ख. कामोपचारयुक्ता प्रसाधनक्रोधसंयुताऽपि।
६. ख. नायकदूतोचापि देवी सम्बन्धा नाटिका ज्ञेय।

प्रकरणनाटकाभ्यां भेदात् लक्षणान्यत्वान्नाटिका ज्ञेयेतिदूरेण संबन्धः। उत्पाद्यं वस्तु चरितं च नायकं च नृपतिमन्तःपुरकन्यां सङ्गीतशालाकन्यां वाधिकृत्य प्राप्यत्वेन अभिसन्धाय कर्तव्या। स्त्रियः प्रायेण बाहुल्येन यत्र चत्वारोऽङ्काः यस्याः कस्याश्चिदवस्थायाः सरसोऽवस्थासमवापः कार्यं इति यावत्। ललिताभिनयात्मिकेति कैशिकीयं बद्धेत्यर्थः। सुष्ठु पूर्णतया विहितानि चत्वार्यपि कैशिक्यङ्गानि यत्र "अङ्गगात्रकण्ठेभ्य" इत्यत्र स्वाङ्गविशेषण-भावात् वा ङीप् प्रयोगः। एतदपि न मुनित्रयमतमित्यनादृत्यमिति त्वन्ये। रति-पुरस्सरः संभोगो राज्यप्राप्त्याविलक्षण आत्मा प्रधानभूतं फलं यस्याम्। अत एवाह

अनुवाद—नाटक और प्रकरण के भिन्न एक अन्य रूपक बनता है जिसे 'नाटिका' कहते हैं। जिसकी कथावस्तु उत्पाद्य होती है और नायक राजा होता है। जिसमें अन्तःपुर के सङ्गीत कला से सम्बद्ध नायिका होती है। प्रायः स्त्रियों की प्रचुरता रहती है, इसमें चार अङ्क होते हैं। तथा ललित अभिनयों से युक्त अङ्गों का सुन्दर विधान होता है। यह अनेकविध नृत्य, गीत, पाठ्य और रति एवं सम्भोग क्रियाओं से युक्त होती है। जो राजाओं के योग्य उपचार और क्रोध, दम्भ और प्रसाद से युक्त होती है। इस प्रकार नायक, देवी, दूती और परिजनों से युक्त नाटिका समझनी चाहिए ॥ ५८-६० ॥

अभिनव—लक्षण के भेद होने से नाटिका नाटक और प्रकरण से भिन्न होती है, ऐसा समझें। इसका सम्बन्ध दूर से है। नाटिका की कथावस्तु उत्पाद्य (कल्पित) तथा नायक कल्पित होता है। और नायक अन्तःपुर को अथवा सङ्गीत का अभ्यास करने वाली कन्या को प्राप्त करता है, ऐसी नायिका होती है। नाटिका में प्रायः स्त्रीपात्र अधिक होते है और चार अङ्क होते हैं। इसमें किसी अवस्था का सरस योग होना चाहिए। इसमें ललित अभिनय होने से कैशिकी वृत्ति होती है और चार अङ्गों वाली कैशिकी का सुन्दरता और पूर्णता से विधान होता है। 'सुविहिताङ्गी' में 'अङ्गगात्र-कण्ठेभ्यः' इस वार्त्तिक से स्वाङ्गविशेषण होने से ङीप् होता है। कुछ लोग कहते हैं कि मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि) के मत से विपरीत होने से यह अनादरणीय है। इसमें रतिपुरःसर राज्य प्राप्ति रूप सम्भोग प्रधान फल की योजना होती है। इसलिए कहा गया है कि नाटिका

राजगतैरुपचारैः व्यवहारैर्युक्ता, अन्या चेदुद्दिश्य तत्र व्यवहार, तत्पूर्वनायिकागतैः क्रोधप्रसादवञ्चनैरवश्यं भाव्यमिति दर्शयति प्रसादनेति, आर्यानुरोधात्क्रोधस्य पश्चात्पाठः। ननु यस्याः क्रोधो भवति सा न काचिदुक्तेत्याशंक्याह नायकेति। नायकस्य येयं देव्याद्या नायिका तथाभिलषितनायिकान्तरविषये दूतीकृतं सपरिजनं परिजनसमृद्धिर्यस्यां। एतदुभयप्रधानं सर्वं तन्त्रेत्यर्थः। अन्यसन्ध्यङ्गादि सर्वं पूर्ववदेव। तत्रैका नायिका तावद् व्याख्याता भवति। षट्पदेयं नाटिकेति संग्रहानुसारिणो भट्टलोल्लटाद्याः।

राजकीय उपचारों से युक्त होती है। इसमें यदि अन्य नायिका के साथ प्रेम-व्यवहार रखा जाता है तो पूर्व नायिका के क्रोध, प्रसादन और वञ्चना का वर्णन अवश्य होना चाहिए, इस बात को प्रसादन आदि के द्वारा दिखाते हैं। अब प्रश्न होता है कि क्रुद्ध को मनाया जाता है तो आचार्य ने पहिले प्रसादन फिर क्रोध लिखकर क्रम परिवर्तन क्यों कर दिया ? इसका उत्तर देते हैं कि आर्या छन्द के अनुरोध से ऐसा पाठ है, वस्तुतः पहिले क्रोध तब प्रसादन होती है। पुनः प्रश्न होता है कि क्रोध और प्रसादन का होना तो बताया गया है किन्तु किसे हो, यह नहीं बताया गया है, इस पर कहते हैं कि नायिका को यहाँ 'नायक' यह पाठ अशुद्ध है। 'नायिका' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है अर्थात् नायिका महादेवी आदि। अथवा नायक की देवी (महारानी) प्रथम नायिका। तथा देवी से अन्य नायिका के सम्बन्ध में जब अभिलाष हो तो दूती प्रभृति परिजनों की सहायिकाओं की समृद्धि जिसमें हो। इन दोनों (देवी और दूती) की प्रधानता जहाँ हो। सन्धि के सभी अङ्गादि पहले की तरह होते हैं। इसमें एक नायिका होती है, जिसकी व्याख्या कर दी गयी है। देवी और कन्या नायिका ख्यात और अख्यात भेद से चार प्रकार की होती है, कन्या अन्तःपुरिका और सङ्गीतशालगता दो प्रकार की होती है। इस प्रकार छः प्रकार की नायिका होती है, यह सङ्ग्रह के अनुयायी भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्यों का मत है।

अन्तर्भावगता ह्येषा भावयोरुभयोर्यतः ।
अत एव दशैतानि रूपाणीत्युदितानि वै ॥ ६१ ॥

श्रीशङ्कुकस्त्वयुक्तमेतदित्यभिधायाष्टधेति व्याचष्टे। घण्टकादयस्त्वाहुः—नायको नृपतिरित्येतावन्मात्रं नाटकादावुपजीवितः न तु प्रख्यातत्वमपि तद्भेदद्वयादन्येऽष्टाविति षोडशभेदा इति। नायको नृपतिरिति ये प्रथमां पठन्ति तैर्यत्रेत्यध्याहृत्यैकवाक्यतया तूभयस्य कार्यम्। अन्ये प्रथममार्यार्धं पृथगेव च वाक्यं योजयन्ति। प्रकरणभेदात्प्रकरणलक्षणांशात् उत्पाद्यं वस्तु नाटकलक्षणांशाच्च नृपतिर्नायकः स्थिते यत्रेत्यभिप्राये नाटिकैवंभूतेति ॥ ६० ॥

अन्ये तु प्रकरणनाटकभेदात् नाटिका भिद्यते नाटकशब्देनाभिनेयं रूपकमात्रं तस्यां सौकुमार्यप्रदर्शनाय स्त्रीत्वेन निर्देश इति प्रकरणिकापि सार्थवाहादिनायकयोगेन कैशिकीप्रधाना लभ्यत इत्याहुः। यद्यपि च नाटिकैवमुक्ता, तथापि प्रकरणनाटक लक्षणे एव तथा स्थिते तत्रेत्यभिप्रायेण उपसंहरति—प्रकरणनाटकलक्षणमिति अन्यदासूत्रयति वक्ष्याम्यतः परमिति।

श्री शङ्कुक तो यह मत ठीक नहीं है, ऐसा कहकर नायिका के आठ प्रकार कहते हैं। घण्टक आदि आचार्य कहते हैं कि इसका नायक नृपति होता है। केवल इतना ही नाटक आदि से उपजीवितत्व है, प्रख्यातत्व भी नहीं है। उन दो भेदों से अन्य ये आठ भेद होते हैं, इस प्रकार सोलह भेद बन जाते हैं। और नायक नृपति होता है, ऐसा जो प्रथम कारिका (आर्या) में पढ़ते हैं उनका 'यत्र' यह अध्याहार करके दोनों की एकवाक्यता करनी चाहिए और अन्य लोग तो प्रथम आर्या के अर्द्धभाग को पृथक् करके वाक्य की योजना करते हैं। प्रकरण के भेद से अर्थात् प्रकरण के लक्षण के अंश के ग्रहण से नायक नृपति (राजा) होता है ऐसा जहाँ हो, इस अभिप्राय के स्थित होने पर 'नाटिका' इस प्रकार की होती है ॥ ६० ॥

अनुवाद—क्योंकि यह नाटिका नाटक और प्रकरण दोनों भावों के अन्तर्गत भाव वाली हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतः दस ही रूपक कहे गये हैं ॥ ६१ ॥

अभिनव—अन्य लोग तो कहते हैं कि नाटक और प्रकरण के भेद से नाटिका भिन्न होती है। नाटक शब्द से यहाँ सभी अभिनेय रूपकों का ग्रहण हो जाता है किन्तु उसमें भी सौकुमार्य प्रदर्शन के लिए स्त्री रूप से निर्देश किया है। अतः प्रकरणिका भी सार्थवाहादि नायक के योग से कौशिकी वृत्ति प्रधान हो सकती है। यद्यपि यहाँ ऐसी नाटिका बतलाई गई है तथापि नाटक और प्रकरण के स्वरूप में किसी प्रकार वह स्थित है, इस अभिप्राय से उपसंहार करते हैं—

प्रकरण[1]नाटकलक्षणमुक्तं विप्रा ! मया समासेन ।
वक्ष्याम्यतः परमहं [2]लक्षणं युक्त्या समवकारम् ॥ ६२ ॥

ननूद्देशक्रमत्यागे किं फलं, उद्देशस्तावदत्र न परिगणनार्थं इत्युक्तं, तेनास्य प्राधान्यान्नाटिकया च विच्छिन्नोऽसावुद्देशक्रमः। यथा च नाटकप्रकरणयो र्व्युत्पाद्यभूयस्त्वं तथा समवकारेऽपि तत्र त्रिवर्गोपायप्रदर्शनात् । केवलं तत्तद्देवता-भक्तानां तच्चरितपुरस्सरतया तस्य तस्योपायस्यादरणीयत्वं भवतीत्यनेनाभि-प्रायेण दिव्योऽत्र नायकत्वेन निषिध्यते । तदीयं च भूयस्तरं न भूयस्तरं विततवृत्त-मनुक्रियया प्रदर्श्यते, तेन तन्मध्यपतितानां भवति निर्वेदादीनामभावे प्रयोगस्या-रञ्जकत्वं नाटकगताङ्कैकदेशवत्, नाटकादौ तु भूयस्तरं चरितमनेकाङ्गरञ्जकवर्गेण विना न रञ्जकमेवेति नाटकादौ दिव्यनायकनिषेध उक्तः । (नोक्त ?) तत्र हि राज-प्रभृतयो बहुतरफलानुबन्धिनि महति फले संप्रयाससाध्ये व्युत्पाद्यन्ते, न तथेह किन्तु त्रिवर्गोपायमात्रे ।

अनुवाद—हे विप्रों ! मैंने संक्षेप में नाटक और प्रकरण के लक्षणों से युक्त नाटिका को कह दिया है। इसके बाद अब मैं नाट्य लक्षण की योजना से समव-कार का लक्षण कहूँगा ॥ ६२ ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि उद्देश क्रम के परित्याग का क्या फल है ? कहते हैं यहाँ उद्देश परिगणनार्थ नहीं है, इसलिए इसकी प्रधानता से नाटिका के द्वारा यह उद्देशक्रम विच्छिन्न भी है। और भी जैसे नाटक और प्रकरण में अधिकतर तथ्य व्युत्पाद्य है वैसे ही समवकार में भी है तथा इसमें भी त्रिवर्ग को उपाय के रूप में दिखलाया गया है । केवल उन-उन देवता भक्तों के चरित को पुरः सर करके वे उपाय आदरणीय हैं, इस अभिप्राय से यहाँ नित्य पात्र को नायक के रूप में निषेध किया गया है। उसके भूयस्तर विततवृत्त को अनुकरण के रूप में नहीं दिखाया जाता है। इसलिए तन्मध्यपतित अर्थात् उसके मध्य में आने वाले निर्वेदादि के अभाव में प्रयोग में वैसी उपरञ्ज-कता नहीं है जैसे नाटक के एकदेश में उपरञ्जकता नहीं होती । किन्तु नाटक आदि में भूयस्तर चरित अनेक अङ्गों वाले उपरञ्जक वर्ग के बिना उपरञ्जन नहीं होता, अतः नाटक आदि में दिव्य नायक बनाने का निषेध नहीं है। क्योंकि जैसे वहां पर राजा आदि बहुतर फलों का अनुबन्धन करने वाले सम्यक् प्रयास से साध्य महान् फल के सम्बन्ध में व्युत्पाद्य है वैसा यहाँ समवकार में नहीं होता। किन्तु वहाँ त्रिवर्गोपाय मात्र से विनेय है ।

---

१. ख. ग. नाट्कनाटोलक्षमुक्तं यथा समासेन । २. ख. लक्षणयुक्तं । ग. लक्षणयुक्त्या ।

देवासुरबीजकृतः[1] प्रख्यातोदात्तनायक[2]श्चैव ।
त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात्त्रिशृङ्गारः ॥ ६३ ॥
द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादशनाडिका[3]प्रमाणश्च ।
वक्ष्याम्यस्याङ्कविधिं यावत्यो नाडिका यत्र[4] ॥ ६४ ॥

अन्यरूपकाणां तु त्रिवर्गोपायत्वं नास्ति एकाङ्कत्वात्, डिमस्तु चतुरङ्कोऽपि पश्चान्निर्दिष्ट इत्यत्र तल्लक्षणे कारणं वक्ष्यामः । तस्मात् त्रिवर्गव्युत्पादकत्वादने-काङ्कत्वाच्च तादृशरूपकानन्तरमेवाभिधानं युक्तमित्यलं बहुना ॥ ६२ ॥

देवासुरस्य यद्बीजं फलसंपादनोपायस्तेन कृतो विरचितः । देवासुरा अपि चाप्रख्याता बृहत्कथादौ श्रूयन्ते स्वयं वा केचिदूह्यन्त इति तन्निरासार्थं प्रख्यातपदम् । यद्यपि देवा पुरुषापेक्षयोद्धतास्तथापि स्वापेक्षया गाम्भीर्यप्रधान-तयोदात्ता उच्यते भगवत्स्त्रिपुरारिप्रभृतयः । प्रशान्ताः ब्रह्मादयः । उद्धताः नृसिंहादयः । अत्र यत्र तावत्येव समापन्नं त्र्यङ्क इत्युक्तम् । अर्थत्रयं च कपट-विद्रवशृङ्गाराः प्रत्येकं त्रिविधास्तत्र प्रत्यङ्कम् विद्रवादयस्त्रयस्तथाहि कपट उपायांशे विद्रवोऽव्यापत्तिसंभावनांशे शृङ्गार फलांशे, एवं द्वितीयेऽङ्के तृतीये च ॥ ६३ ॥

अन्य रूपक त्रिवर्गोपाय नहीं है, क्योंकि वे एकाङ्की हैं। डिम यद्यपि चार अङ्कों का होता है, तथापि उसका पीछे निर्देश है। इसलिए उसका लक्षण बताते समय उसके कारण को कहेंगे। इसलिए त्रिवर्ग का व्युत्पादक होने से तथा अनेक अङ्कों वाला होने से उस प्रकार रूपकों के अनन्तर ही उसका (नाटिका का) अभिधान करना उचित था । अतः अधिक कहने से रहने दिया जाय ॥ ६३ ॥

समवकार

अनुवाद—देवता और असुरों के वस्तु के बीज से जिसकी रचना हो, जिसका नायक प्रख्यात और उदात्त हो, जिसमें तीन अङ्क, तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के विद्रव और त्रिविध शृङ्गार हो, जिससे बारह नायक और अठारह नाड़ी प्रमाण का अभिनय का समय हो, वह समवकार कहलाता है। अब इसके अङ्कों में, जिसमें जितनी नाड़ियाँ होती हैं उक्त विधि को बतलाऊँगा ॥ ६३-६४ ॥

---

१. ख. कृतं । २. ख. नायकं ।
३. ख. प्रमाणं ।
४. इतोऽग्रे पद्यद्वयो ग्रन्थान्तरे अधिका ।

अङ्कस्तु सप्रहसनः सविद्रवः कपटः सवीथीकः ।
द्वादशनाडीविहितः प्रसवः कार्यः क्रियोपेतः ॥ ६५ ॥
कार्यस्तथा द्वितीयः समाश्रितो नाडिकाश्चतस्रस्तु ।
वस्तु [1]समापनविहितो द्विनाडिकः स्यात्तृतीयस्तु ॥ ६६ ॥

द्वादशनायकबहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित् । अन्ये तु प्रत्यङ्कम् नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेयि चतुराहुः समुदायापेक्षया हि द्वादशेति ॥ ६४ ॥

अभिनव—देवता और असुरों का जो बीज है अर्थात् फल के साधन का उपाय है, उससे विरचित बहुत से अप्रख्यात देवता और असुर भी वृहत्कथा आदि में सुनाई देते हैं तथा कोई स्वयं उसका ऊहन करते हैं, उनका निरास करने के लिए प्रख्यात पद का उपन्यास है। यद्यपि देवता पुरुषों की अपेक्षा उद्धत होते हैं तथापि अपनी अपेक्षा देवता होने के कारण उनका प्रधान गुण गाम्भीर्य होने से उदात्त भी होते हैं। जैसे भगवान् त्रिपुरारिप्रभृति। ब्रह्मादि प्रशान्त है और नृसिंहादि उद्धत हैं। यहाँ इतिवृत्त उतने में ही समाप्त हो जाता है अतः त्र्यङ्क कहा है। तीन अर्थ है—कपट, विद्रव और शृङ्गार। ये प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। ये प्रत्येक अङ्क में ये विद्रवादि तीन प्रकार के होते हैं। जैसे, कपट उपायांश में, विद्रव व्यापत्ति सम्भावना में और शृङ्गार फलांश में। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अङ्क में समझना चाहिए।

द्वादशनायकबहुल—कुछ आचार्य कहते हैं कि ये सभी नायक प्रत्येक अङ्क में होते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक अङ्क में नायक, प्रतिनायक और एक-एक उनके सहायक इस प्रकार चार नायक होते हैं और समुदाय की अपेक्षा बारह होते हैं ॥ ६४॥

अनुवाद—समवकार का प्रथम अङ्क प्रहसन, विद्रव, कपट और वीथी के साथ क्रियाओं से युक्त बारह नाडिका के प्रमाण का होना चाहिए। इसी प्रकार द्वितीय अङ्क चार नाड़िका का करना चाहिए। तृतीय अङ्क दो नाड़ियों का होना चाहिए, जिससे कथावस्तु की समाप्ति हो जाय ॥ ६५-६६ ॥

---

१. ख. वस्तु प्रमाणविहितो ।

सप्रहसन इति वचनात् प्रथमेऽङ्के कामशृङ्गारः प्रयोज्य इत्याह—तत्रैव हास्यस्यागमनात् । क्रियोपेतः (स्त्रियोपेतः) इति काम शृङ्गारात्मकं द्वादशघटिकामध्यसंपाद्यैः कपटविद्रवप्रहसनलक्षणैरुपायैः प्राप्ते प्रथमाङ्के निबध्नीयादिति तात्पर्यम् । द्वितीये त्वङ्के घटिकाचतुष्टयगामिभिः कपटादिभिरुपायैः, तृतीये त्वङ्के सर्वं वस्तुसमाप्यते द्विघटिकान्तरसंपाद्यैरुपायैः यद्यपि प्रत्यङ्कम् वस्तुपरिसमाप्तिरस्ति तथापि तृतीये वस्तुसमाप्तिग्रहणेनेदमाह बीजे तावदङ्कत्रयार्थं उपक्षेप्तव्यः, तदनन्तरमङ्कद्वयेऽवान्तरवाक्यार्थसमाप्तिरन्योन्यविशिष्टैव विधेया । तृतीयेत्वङ्केऽवान्तरवाक्यार्थः । तृतीयस्ताभ्यां प्रतिसंबद्धः । एवं महावाक्यार्थनिर्वाहहेतुसंबद्धतैव सर्वस्य जायते । एवं हि सानुसन्धाना विततदृशोऽपि त्रिवर्गं सिद्ध्युपायव्युत्पत्त्यनुगृहीता भवति, निरनुसन्धानापि तावत्तावत्त परिसमाप्त्या तावत्युपाये निजहृदयसंवादबलादिति । अत एव संबद्धोऽवकीर्णश्च यथार्थः समवकारः ॥ ६६ ॥

अभिनव—यहाँ 'स प्रहसनः' पद के कथन से यहाँ प्रथम अङ्क में कामशृङ्गार का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि यहीं पर हास्य भी आ जायेगा। 'क्रियोपेतः' पद के कहने से कामशृङ्गारात्मक यह है, यह दिखलाया गया है। बारह नाड़िका में सम्पादन होने से इसमें कपट, विद्रव, एवं प्रहसन रूप उपायों से युक्त प्रथम अङ्क का निबन्धन करना चाहिए। द्वितीय अङ्क चार नाड़िका में सम्पाद्य कपटादि उपायों का निबन्धन करना चाहिए। तृतीय अङ्क में सम्पूर्ण वस्तु को समाप्त कर देना चाहिए। दो घटिका के बीच में सम्पादनीय उपायों से यद्यपि प्रत्येक अङ्क में वस्तु की समाप्ति होती है तथापि तृतीय अङ्क में वस्तु-समाप्ति के ग्रहण से यह कहा गया है कि बीज के विषय में तो तीन अङ्कों के अर्थ का उपक्षेप करना चाहिए। तदनन्तर दो अङ्कों में परस्पर विशिष्ट अवान्तर वाक्यार्थ की समाप्ति का विधान है और तृतीय अङ्क में अवान्तर वाक्यार्थ की भी समाप्ति कर देनी चाहिए। क्योंकि तृतीय अङ्क उन दोनों से सम्बद्ध है। इस प्रकार महावाक्यार्थ के निर्वाह के हेतु से सबकी सम्बद्धता हो जाती है, इस प्रकार व्यापक दृष्टि रखने वाले त्रिवर्ग की सिद्धि के उपायों के सम्बन्ध में सानुसन्धाना व्युत्पत्ति भी अनुगृहीत हो जाती है। स्वहृदय के संवाद के बल से उतने उपायों में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने पर निरनुसन्धाना व्युत्पत्ति भी उतनी हो जाती है। इसलिए जहाँ अर्थ सम्बद्ध है तथा अवकीर्ण भी है वहाँ समवकार है ॥ ६५-६६ ॥

[1]नाडीसंज्ञा ज्ञेया मानं कालस्य यन्मुहूर्तार्धम् ।
तन्नाडिकाप्रमाणं [2]यथोक्तमङ्केषु संयोज्यम् ॥ ६७ ॥
या नाडिकेति संज्ञा कालविभागे क्रियाभिसंपन्ना ।
कार्या च सा प्रयत्नाद्यथा क्रमेणैव शास्त्रोक्ता ॥ ६८ ॥
[3]अङ्कोऽङ्कस्त्वन्यार्थः कर्तव्यः काव्यबन्धमासाद्य[4] ।
अर्थं हि समवकारे [5]ह्यप्रति सम्बन्धमिच्छन्ति ॥ ६९ ॥
युद्धजलसंप्लवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसंभ्रमकृतो[6] वा ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो [7]विद्रवस्त्रिविधः ॥ ७० ॥

तदाह—अङ्कोऽङ्क इति ।

अनुवाद—मुहूर्त्त का आधा भाग जो काल का मान (प्रमाण) है, उसे नाड़ी समझना चाहिए । उस नाड़िका के प्रमाण के अनुसार अङ्कों की योजना होनी चाहिए ॥ ६७ ॥

अनुवाद—काल के विभाग में क्रिया से अभिसम्पन्न जो नाड़िका यह यह संज्ञा है उस शास्त्रोक्त नाड़िका बड़े प्रयत्न से क्रम से करना चाहिए ॥ ६८ ॥

अभिनव—अङ्कोऽङ्क इत्यादि के द्वारा उसी बात को कहते है—

अनुवाद—काव्य-रचना को आसादित कर उन-उन अङ्कों में अन्य अर्थ करने चाहिए, सवकार में अर्थ वाच्य अप्रतिसम्बन्ध है अर्थात् अतिसम्बद्ध नहीं है ॥ ६९ ॥

अनुवाद—विद्रव तीन प्रकार का होता है—(१) युद्ध और जल संप्लव कृत २. वायु, अग्नि और हाथी के सम्भ्रम से होने वाला, ३. नगर के अवरोध से होने वाला विद्रव । ७० ॥

---

१ ख. ज्ञेयं तु नाडिकाख्यं मानं कालस्य यन्मुहूर्त्तभिति ।
२. ग. यथोत्तमाङ्केषु ।
३. क-न. अङ्कोऽङ्कसम्बन्धः ।
४. क-भ. काव्यबन्धतत्त्वज्ञैः ।
५. ख. ग. ह्यप्रतिसन्धानमिच्छन्ति ।
६. ख. ग. जलेन्द्रसम्भवो वापि । क-भ. विद्रवकृतो वा ।
७. क. टि०) विज्ञेया विद्रवास्त्रिधा ।

[1]वस्तुगतक्रमविहितो दैववशाद्वा परप्रयुक्तो वा।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतस्त्रिविधः [2]कपटोऽत्र विज्ञेयः ॥ ७१ ॥

तुर्व्यतिरेके अङ्कत्रयसंबन्धो भवति, न त्वङ्कोऽङ्कः परस्परमित्यर्थः। काव्यबन्धमिति। सर्वं वस्तु काव्यबन्धोपश्लिष्टमित्यर्थः। अन्यथा हि समवकार एकं कार्यमिति केयं भणितिः। एतदेव निर्वचनेनाह अर्थं हि समवकार इति। समवकार इत्यस्मिन् शब्देऽर्थं वाच्यमप्रतिसंबन्धमिति नातिसंबद्धं किञ्चित्संबद्धं वस्त्विच्छन्ति। संशब्दबलादवशब्दबलाच्च। प्रतिशब्देनातिशय उक्तः स निषिद्धः। त्रिविद्रव इत्युक्तं तत्त्रयं वक्तव्यमचेतनकृतमन्यकृतमुभयकृतं वा यदनर्थात्मकं वस्तु यतो विद्रवन्ति जनाः स विद्रव इति त्रिविधः। तत्राचेतनकृतमुदाहर्तुं जलवाय्वादिग्रहणम्। चेतनकृते गजेन्द्र उदाहरणम्। द्वयकृते नगरोपरोधस्तस्य युद्धाग्निदाहादिसंपाद्यत्वात् ॥६९-७०॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' का अभिप्राय व्यतिरेक होने से तीनों अङ्कों का सम्बन्ध है न कि प्रत्येक अङ्क का परस्पर सम्बन्ध है। सभी वस्तु काव्यबन्ध से उपश्लिष्ट है अन्यथा समवकार में एक कार्य है, वह कौन भणिति है? इसी बात को निर्वचन के द्वारा कहते हैं—समवकार इस शब्द में अर्थ (वाच्य) अप्रतिसम्बन्ध है अर्थात् अतिसम्बद्ध नहीं है, किञ्चित् सम्बद्ध है। संशब्द के बल से और अवशब्द के बल से यह अर्थ प्राप्त होता है। अप्रतिसम्बन्ध शब्द में पठित प्रति शब्द से जो अतिशय कहा है वह निषिद्ध है, उसका निषेध कर दिया है। त्रिविद्रव शब्द जो कहा है उससे तीन अनर्था तक वस्तुओं को कहना चाहिये। १. अचेतनकृत अनर्थ २. अन्यकृत अर्थात् चेतनकृत अनर्थ और ३. उभयकृत अनर्थ। जिससे लोग भागते हैं वह विद्रव तीन प्रकार का होता है। उनमें अचेतनकृत विद्रव का उदाहरण देने के लिए जल, वायु आदि का ग्रहण है। चेतनकृत विद्रव का उदाहरण गजेन्द्र है। उभयकृत विद्रव का उदाहरण नगरोपरोध है। जो युद्ध एवं अग्निदाह आदि से सम्पाद्य है ॥ ६९-७० ॥

अनुवाद—कपट भी तीन प्रकार का होता है—१. वस्तुगत से विहित २. दैववश अथवा दूसरे (शत्रु) के द्वारा प्रयोग करने के कारण ३. सुख दुःख की उत्पत्ति के कारण ॥ ७१ ॥

---

१. ख. ग. वस्तु गतिक्रमविहितो।

२. ख. ग. कपटाश्रयो ज्ञेयः।

[1]त्रिविधश्चात्र विधिज्ञैः पृथक्पृथक्कार्ययोगविहितार्थः ।
[2]शृङ्गारः कर्तव्यो धर्मे चार्थे च कामे च ॥ ७२ ॥

कपटो वञ्चना तस्याश्रयणमङ्गीकरणम् । त्रिधा तत्र वञ्चना, बुद्ध्यं कदाचित्केवलया कपटो भवति स हि वस्तुगतक्रमविहितः वस्तु फलं तत्प्राप्तौ वस्तुगतः फलसाधकः कर्त्ता तस्य यः क्रम उपायचिन्तनादिः तेन विहितः यत्रानपराद्ध एव वञ्चकेन वञ्च्यते स एवमुक्तः । यत्र तु वञ्चनीयोऽपि सापराधः स परयुक्तः कपटः तदपराधे तु वञ्चनकस्य वञ्चनेच्छा नास्तीति नायं भेदः संभवति वञ्चनेच्छाभावे वञ्चनायाः संपत्त्ययोगात् । यत्र तु द्वयोरपि न कश्चिदभिसन्धिदोषः काकतालीयेन तुल्यफलाभिसन्धानवतोरप्येक उपचयेनापरस्त्वपचयेन युज्यते तत्र वञ्चना सा दैवकृता । न च कस्याचित्सुखमन्यस्य दुःखमुत्पादयतीति ॥ ७१ ॥

अभिनव—कपट शब्द का अर्थ वञ्चना, छल है, उसका आश्रयण अङ्गीकरण है। वह वञ्चना तीन प्रकार की होती है। कभी-कभी केवल बुद्धि के द्वारा ही वञ्चना (कपट) होती है। उसका वस्तुगत क्रम से विधान होता है। वह वस्तुगत क्रम विहित फल को प्राप्त करने में वस्तुगत फल साधक कर्त्ता है उसका क्रम उपाय-चिन्तनादि से किया गया। जहाँ अनपराधी ही (अपराध न करने वाला ही) वञ्चकों के द्वारा वञ्चित किया जाता है। उसे इस प्रकार कहा गया है। जहाँ पर वञ्चनीय भी अपराधी है वहाँ वह परप्रयुक्त कपट होता है, उसके अपराध करने पर वञ्चक की वञ्चना करने की इच्छा नहीं होती, तब यह भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि वञ्चना करने की इच्छा न होने पर वञ्चना करने की सम्पत्ति नहीं होती। जहाँ दोनों में कोई अभिसन्धि कृत दोष नहीं है, वहाँ काकतालीय न्याय से तुल्यफल का अभिसन्धान होने पर एक का उपचय (समृद्धि) और दूसरे का अपचय (हानि) होता है, तो वह वञ्चना दैवकृत होती है। वहाँ किसी को सुखी और किसी को दुःखी उत्पन्न नहीं करता ॥ ७१ ॥

अनुवाद—पृथक्-पृथक् कार्य के योग से प्रयोजन के लिए विहित (प्रस्तुत किया जाने वाला) शृङ्गार को विधिवेत्ताओं ने तीन प्रकार का माना है जिसका उपयोग धर्म, अर्थ और काम में किया जाता है ॥ ७२ ॥

---

१. क-म. त्रिविधश्च विधिज्ञैः ।
२. ब. त्रिविधाकृतिश्शृङ्गारो ज्ञेयो धर्मार्थकामकृतः । क. (टि०) कर्त्तव्य शृङ्गारो ।

[1]यस्मिन् धर्मप्रापकमात्महितं भवति साधनं बहुधा ।
[2]व्रतनियमतपोयुक्तो ज्ञेयोऽसौ[3] धर्मश्रृङ्गारः ॥ ७३ ॥
[4]अर्थस्येच्छायोगाद् बहुधा चैवार्थतोऽर्थश्रृङ्गारः ।
[5]स्त्रीसंप्रयोगविषयेष्वर्थार्था वा रतिर्यत्र ॥ ७४ ॥

धर्मेऽर्थे काम इति सप्तम्या कार्यत्वं कारणत्वं नोच्यते । तेन धर्मो यत्र हेतुर्वा साध्यो वा नायिकालाभे स धर्मश्रृङ्गारः । एवमर्थकामयोर्वाच्यम् ॥ ७२ ॥

यत्र श्रृङ्गार इति तद्विषयः प्रमदा व्यपदिश्यते, व्रतादियुक्त्या प्राप्यो यत्र च प्राप्ते धर्मप्रार्थनारूपमात्महितं यज्ञादि पत्नीसंयोगकृतं सिध्यतीति संबन्धः अनेकधेति राज्यभूमिगोसुवर्णादिभेदेनेत्यर्थः । रतिबहुमानोऽर्थार्थमिति योषितां पुरुषाणां च ॥ ७३ ॥

अभिनव—धर्म, अर्थ, काम में प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति कार्य और कारण भाव को सूचित करती है, जहाँ नायिका की प्राप्ति में धर्म हेतु अथवा साध्य होता है वहाँ धर्मश्रृङ्गार होता है। इसी प्रकार अर्थ और काम श्रृङ्गार को भी समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

अनुवाद—जहाँ पर धर्म के प्रापक और आत्महितकारी बहुधा साधन होते है उसे व्रत, नियम और तप से युक्त धर्मशृङ्गार समझना चाहिए ॥ ७३ ॥

अभिनव—जहाँ श्रृङ्गार का विषय अङ्गना (नारी) होती है वहाँ नायक व्रतादि तपोऽनुष्ठान से प्राप्त होता है, जिसके प्राप्त होने पर 'आत्महित के साधक' धर्म और प्रार्थना के फलस्वरूप पत्नी का संयोग करा देने वाले यज्ञादि का अनुष्ठान किया जाता है, यह सम्बन्ध राज्य, भूमि, गौ, सुवर्ण आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। अर्थ के लिए रति का बहुमान स्त्री और पुरुष दोनों को होता है ॥ ७३ ॥

अनुवाद जहाँ पर अभीष्ट अर्थ की इच्छा से बहुधा अर्थ की प्राप्ति हो तथा जहाँ स्त्रियों के सम्प्रयोग (सम्भोग) के विषय में अर्थ के लिए जहाँ रति हो, उसे 'अर्थश्रृङ्गार' समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

---

१. ख. यत्र तु धर्मं प्रार्थितमात्महितं भवति साधितं बहुधा । ग. यत्र तु धर्मसमापकमात्महितं ।
२. ख. प्रतिनियमतपोयुक्तं । ३. क-भ. स ज्ञेयो ।
४. क-भ. अर्थस्येप्सा यत्र तु नैकविधो भवति सोऽर्थशृङ्गारः ।
क. प० अर्थस्याप्राप्तिर्यस्मिन् भवति च बहुधा स चार्थशृङ्गारः ।
५. ख. सम्प्रयोगविषयेष्वयथार्थयामपीष्यते हि रतिः ।

[1]कन्याविलोभनकृतं प्राप्तौ स्त्रीपुंसयोस्तु रम्यं वा ।
[2]निभृतं सावेगं वा [3]यस्य भवेत्कामशृङ्गारः ॥ ७५ ॥

ननु च देवेषु कथमर्थार्थित्वं गन्धर्वयक्षादिषु संभवत्येवेति केचित्। यदर्थनीयं तदर्थो देवेष्वपि चैतत्संभवतीत्यन्ये । उपाध्यायास्त्वाहुः—तत्र नायकयोरनुप्राप्तिरप्यन्यगतैव। यथा भगवतो भवानीपतेः गिरिराजपुत्रीसङ्गमनमिन्द्रादीनां तारकाक्रान्तनिजराज्यसमुन्मोचनाय भवतीति ॥ ७४ ॥

कन्यायां विलोभो नायकस्य तस्याश्च तस्मिन्निति परस्परानुरागकृत इत्यर्थः। स्त्रीपुंसयोरुद्यानस्थानादि प्राप्तौ निभृत इति प्रच्छादनपूर्वकं यदि चासावेवास्मीति प्रकटं कृत्वा यः शृङ्गार स कामप्रयुक्त एव । स्त्री परस्त्री पुनरत्र विवक्षिता, यथा शक्रस्याहल्या ।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि देवताओं में अर्थिता कैसे होगी ? इस पर कुछ आचार्य कहते हैं कि गन्धर्व और यक्ष आदि में यह होती ही है। अन्य लोगों का कहना है कि अर्थनीय अर्थ को देवताओं में भी सम्भावना रहती है। उपाध्याय जी कहते हैं कि यहाँ नायक-नायिका की अनुप्राप्ति अन्यगत फल प्राप्ति के लिए होती है। जैसे भगवान् भवानीपति का गिरिराज पुत्री पार्वती के साथ सङ्गमन के फल रूप कार्त्तिकेय की प्राप्ति का तारकासुर से आक्रान्त अपने राज्य की समुन्मोचन रूप अर्थात् पुनः प्राप्ति रूप फल इन्द्र आदि को मिला, यह अर्थशृङ्गार है ॥ ७४ ॥

अनुवाद—कन्या के विलोभन के लिए रम्य वस्तु की प्राप्ति में स्त्री और पुरुष के ऐकान्तिक या प्रकट विहार जहाँ हो, वह 'कामशृङ्गार' कहलाता है ॥ ७५ ॥

अभिनव—कन्या में नायक का और नायक में कन्या का लोभ परस्पर अनुराग से होता है। उद्यान आदि एकान्त स्थान में स्त्री-पुरुष की प्रच्छादन पूर्वक जो मिलन होता है वह प्रच्छन्न कामशृङ्गार है और यह वह 'यह मैं हूँ' इस प्रकार प्रकट रूप में जो शृङ्गार होता है वह प्रकट कामशृङ्गार है। 'स्त्री' से यहाँ परस्त्री विवक्षित है। जैसे इन्द्र का अहल्या में।

१. ख. कन्या विलोभनं वा प्राप्य ।
२. ख. विभृतं वा सावेगं जानीयात् । क. (द्वि०) निभृतः सावेगो वा विज्ञेयः ।
३. ख. जानीयात् कामशृंगारम् ।

[4]उष्णिग्गायत्र्याद्योऽन्यानि च यानि बन्धकुटिलानि ।
[5]वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि[5] प्रयोज्यानि ॥ ७६ ॥

नन्वेवं शृङ्गारयोगे काव्ये कैशिकीहोनता । कैशिक्यां वृत्तौ हीनतेति तत्र समासः, तेन नर्माद्यङ्गचतुष्कतदुपरञ्जकगीतनृत्यवाद्याद्यभावात् कैशिक्या हीनात्र भवति । उपाध्यायास्त्वाहुः—न कामसद्भावमात्रादेव कैशिकीसंभवः, रौद्रप्रकृतीनां तदभावात् । विलासप्रधानं यद्रूपं सा कैशिकी, न च चरितम् तद्रूपानुप्रवेशेऽपि तद्व्यवहारः प्राधान्यकृतो ह्यसावित्युक्तम् । तेन तत्र विषये भारत्यादिवृत्यन्तराभिधानमेव युक्तमिति ॥ ७५ ॥

उष्णिक्सप्तभिः, गायत्री षड्भिः । बन्धकुटिलानि विषमार्धसमानि तान्यत्र समवकारे सम्यग्योज्यानीति । नैव प्रयोज्यानीत्युद्भटः पठति । स्रग्धराद्यान्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे । एवं श्रद्धालवो देवताभक्ताः तद्देवयात्रादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धानहृदयाः स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिनाहृतहृदयाः क्रियन्ते इत्युक्तः समवकारः ॥ ७६ ॥

अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार शृङ्गार के योग में काव्य कैशिकी वृत्तिहीन क्यों होता है । कैशिकीवृत्ति हीनता में 'कैशिक्या' वृत्तौ हीनता' यह समास है । इसलिए नर्मादि चार अङ्गों के उपरञ्जक गीत, नृत्य, वाद्य का अभाव से कैशिकी की हीनता होती है । उपाध्याय जी तो कहते हैं कि केवल काम की सत्ता होने से ही कैशिकी वृत्ति का होना सम्भव नहीं है क्योंकि रौद्र प्रकृति में उपरञ्जक सामग्री के अभाव के कारण कैशिकी की हीनता रह सकती है । जो विलास-प्रधान रूप है, वह कैशिकी है न कि चरित । जिस रूप का अनुप्रवेश होगा उसी से व्यवहार होगा । क्योंकि व्यवहार प्राधान्यकृत होता है, यह कहा जा चुका है । अतः ऐसे स्थानों पर भारती वृत्ति अथवा भिन्न वृत्तियों का अभिधान ही युक्त है, उचित है ॥ ७५ ॥

अनुवाद—उष्णिक् और गायत्री आदि छन्दों से भिन्न कुटिल बन्ध वाले जो विषमवृत्त हैं उनका प्रयोग समवकार में नाट्यकारों को करना चाहिए ॥ ७६ ॥

---

४. ग. उष्णिग्गायत्री वा वृत्तानि । ख. उष्णिग्गायत्री वा यानि तथान्यानि ।
५. ग. तान्यत्र । ६. ख. नैव । ग. सम्यक् ।

एवं कार्यस्तज्ज्ञैर्नानारससंश्रयः[1] समवकारः ।
[2]वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणमीहामृगस्यापि ॥ ७७ ॥
दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः ।
सुविहितवस्तुनिबद्धो[3] विप्रत्ययकारकश्चैव ॥ ७८ ॥
[4]उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीविरोधग्रथितकाव्यबन्धश्च ।
संक्षोभविद्रवकृतः [5]संफेटकृतस्तथा चैव ॥ ७९ ॥
स्त्रीभेदनापहरणाव[6]मर्दनप्राप्तवस्तुश्रृङ्गारः ।
ईहामृगस्तु कार्तः [7]सुसमाहितकाव्यबन्धश्च ॥ ८० ॥

अथेहामृगमाह—दिव्येति ।

अभिनव—उष्णिक् सात अक्षरों का और गायत्री छः अक्षरों का वृत्त है। है। बन्ध कुटिल का अर्थ है विषम और अर्द्धसम वृत्त । समवकार में इन्हीं की सम्यक् रूप से योजना करनी चाहिए। उद्भट का मत है कि समवकार में इनकी योजना नहीं की जानी चाहिए। वे लोग व्याख्या करते हैं कि स्रग्धरा आदि अधिक अक्षरों वाले छन्दों का प्रयोग हो यहाँ होना चाहिए, अल्प अक्षरों वाले छन्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धालु, देवभक्त देवयात्रा आदि में इस प्रयोग से अनुगृहीत होते हैं और अनुसन्धान से शून्य हृदय वाले स्त्री, बालक और मूर्ख के हृदय विद्रव आदि से आकृष्ट किये जाते हैं, इस प्रकार समवकार को कह दिया गया ॥ ७६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों को नाना रसों से पूर्ण समवकार की रचना करनी चाहिए। अब इसके बाद ईहामृग का लक्षण कहूँगा ॥ ७७ ॥

अब ईहामृग को कहते हैं—

---

१. ख. ग. सुखदुःखसमाश्रयः। क. (टि०) नानारससंज्ञकः ।
२. क-न. अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये ।
३. ख. ग. निबन्धो वा । ४. क. तद्ध(?)पुरुषप्रायः
५. क. (टि०) संफोटकृतश्च सञ्ज्ञेयः ।
६. ख. अमर्दसंप्राप्त । ग. अवमर्दनं संप्राप्ता ।
७. ग. चतुरङ्कविभूषितश्चैव । चतुष्कविभूषिततज्ज्ञै ।

दिव्यानां पुरुषाणां आश्रयणं नायकतया तेन कृतः दिव्यस्त्रीनिमित्तमुपगतं युद्धं यत्र । दिव्यानुप्रवेशात्समवकारवत् असंबद्धार्थता मा प्रसांक्षीदित्याह सुविहितेन संश्लिष्टेन वस्तुना निबद्धः, विगतानि प्रत्ययकारणानि विश्वासहेतवो यत्र । मध्ये च तत्र दिव्यानामपि प्रवेशो भवतीति दर्शयति--उद्धतपुरुषेति स्त्रीनिमित्तको रोषः संक्षोभ आवेगः । स्त्रीनिमित्तानि यानि भेदनाहरणावमर्दनानि यथायोगं स्त्रीविषयाणि अन्यविषयाणि तैः प्राप्तं वस्त्वधिष्ठानं प्रमदालक्षणं यस्य तादृशः शृङ्गारो यस्मिन् । अवमर्दनं दण्डः । सुसमाहितः काव्यबन्ध इत्यनेन वीथ्यङ्गान्यत्र योज्यानीति दर्शयति ॥ ७८-८० ॥

अनुवाद—ईहामृग में दिव्य पुरुष नायक होते हैं और दिव्य स्त्री के कारण इसमें युद्ध होता है। इसकी कथावस्तु सुविहित रूप से निबद्ध होती है और वह अविश्वास का कारक होता है। इसमें उद्धत पुरुष प्रायः अधिक होते हैं और काव्यबन्ध स्त्री के रोष से ग्रथित होता है जो सङ्क्षोभ, विद्रव और संकेत का जनक होता है। इसमें स्त्री के निमित्त भेदन (तोड़-फोड़), अपहरण और अव-मर्दन के कारण प्राप्त होने वाली वस्तु के विषय में शृङ्गार रस के आधार पर सुसमाहित काव्य रचना अच्छे ढंग से रखनी होती है ॥ ७८-८० ॥

अभिनव— ईहामृग में नायक के रूप में दिव्य पुरुष का आश्रय लिया जाता है तथा उसी के कारण दिव्य स्त्री के निमित्त यहाँ युद्ध प्राप्त होता है। दिव्य के अनुप्रवेश से समवकार की तरह असम्बद्धार्थता से विमुक्त यह संश्लिष्ट वस्तु से निबद्ध करना चाहिए। यहाँ प्रत्यय अर्थात् विश्वास के कारक विश्वास के हेतुओं का अभाव रहता है। मध्य में दिव्य पुरुषों का भी प्रवेश होता है, इस बात को दिखाते हैं। इसमें उद्धत प्रकृति के पुरुष होते हैं—स्त्रियों के निमित्त रोष होता है। संक्षोभ का अर्थ आवेग है। यहाँ स्त्रियों के निमित्त जो भेदन (तोड़-फोड़), अपहरण और अवमर्दन (दण्ड) कभी स्त्री-विषयक और कभी अन्य विषयक होते हैं। उनके कारण जिसे प्रमदा रूप वस्तु और उद्यानादि अधिष्ठान प्राप्त होते हैं, इस प्रकार के शृङ्गार का जहाँ उपनिबन्धन रहता है। अवमर्दन का अर्थ दण्ड है। 'सुसमाहितकाव्यबन्ध' इस कथन से यहाँ वीथी के अङ्गों की योजना करनी चाहिए, यह दिखाया गया है ॥ ७८-८० ॥

[1]यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि [2]ते स्युः केवलममरस्त्रिया [3]योगः ॥ ८१ ॥
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।
किञ्चिद्व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ॥ ८२ ॥

अङ्कपरिमाणं नायकसंख्यां वृत्तिरसविभागं च व्यायोगातिदेशेनाह—यद्व्यायोग इति ।

कार्यशब्देनाङ्क उच्यते । तेनैक एवाङ्कः नायकास्तु द्वादश समवकारातिदेशेन व्यायोगे तल्लाभात् । अत्र तु समवकारातिदेशेन सर्वसंपत्तेगौरवं स्यात् ॥ ८१ ॥

ननु युद्धमवमर्दनं चेत्युक्तं तत्रास्य प्रत्यक्षप्रयोज्यता मा भूदिति दर्शयति—यत्र त्विति ।

अङ्कों का परिमाण, नायकों की संख्या, वृत्तियों और रसों का विभाग व्यायोग के अतिदेश से कहते हैं—

अनुवाद—जितने पुरुष, वृत्ति और रस व्यायोग में रहते हैं, वे ही ईहामृग में भी होते हैं। किन्तु ईहामृग में केवल देवस्त्रियों का योग ही होता है ॥ ८१ ॥

अभिनव—यहां कार्य शब्द से अङ्क को कहा गया है। इसलिए यहाँ अङ्क एक ही होता है, किन्तु नायक बारह होते हैं। समवकार के अतिदेश से व्यायोग में भी यह प्राप्त होता है। यहाँ पर तो समवकार के अतिदेश से सभी सम्पत्तियों का गौरव होगा ॥ ८१ ॥

अभिनव—युद्ध और अवमर्दन यह जो कहा गया है उसका यहाँ प्रत्यक्ष प्रयोग न हो, इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर पुरुषों का वध ईप्सित है उनका वहाँ उत्कट वध होता है, ऐसी स्थिति आ जाय तो किसी बहाने से युद्ध को शान्त कर देना चाहिए ॥ ८२ ॥

---

१. ख. यद्वा योगे कार्यं ये पुरुषा ये रसाश्च निर्दिष्टाः ।
२. ग. तत्स्यात् ।
३. ख. केवलममरस्त्रियो ह्यस्मिन् । ग. केवलमत्र स्त्रिया योगः ।

ईहामृगस्य [1]लक्षणमुक्तं विप्राः ! समासयोगेन ।
[2]डिमलक्षणं तु भूयो लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ८३ ॥
प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
[3]षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ॥ ८४ ॥

शृङ्गारहास्यवर्जं शेषैः सर्वैं रसैः समायुक्तः ।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसम्पन्नः[4] ॥ ८५ ॥

वधेप्सितानां बाध्यानां भवेदिति संभाव्यत इत्यर्थः । तत्रेति येषामिति चाधंमाहार्यं । व्याजमिति पलायनादि ॥ ८२ ॥

ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्थं यत्र स ईहामृगः ॥ ८३ ॥

अथ डिममाह—प्रख्यातवस्तुविषय इति ।

अभिनव—जिसका वध ईप्सित है उसके वध की सम्भावना होती है । यहाँ 'यत्र' के उत्तर में 'तत्र' का और 'तेषां' के उत्तर में 'येषां' का अध्याहार कर लेना चाहिए । व्याज का अर्थ पलायन आदि है ॥ ८२ ॥

अनुवाद—हे विप्रो ! इस प्रकार मैंने संक्षेप में ईहामृग का लक्षण कह दिया है । अब लक्षण को युक्ति से डिम का लक्षण बतलाऊँगा ॥ ८३ ॥

अभिनव—स्त्री के लिए मृग के समान ईहा (चेष्टा) जहाँ होती है । वह 'ईहामृग' होता है ॥ ८३ ॥

डिम का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—डिम का इतिवृत्त (कथावस्तु) प्रख्यात होता है, और नायक प्रख्यात एवं उदात्त होता है । छः रसों के लक्षणों से युक्त चार अङ्क वाले डिम की रचना करनी चाहिए ॥ ८४ ॥

अनुवाद—डिम शृङ्गार और हास्य रस को छोड़कर शेष सभी रसों से युक्त होता है तथा इतिवृत्त (कथावस्तु) दीप्त रसों और नानाभावों से सम्पन्न होता है ॥ ८५ ॥

---

१. ख. लक्षणमिदमित्युक्तं समासयोगेन ।
२. ग. अब वै डिमस्य लक्षणमतः प्रवक्ष्यामि ।
३. षट्त्रिंशल्लक्षणयुक् चतुरङ्को वै डिमः कार्यं ।
४. ख. घ. नानाभावान्वितावचैव । न. नानाभावादिकाश्चैव ।

[1]निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्धनियुद्धाघर्षण संफेटकृतश्च कर्तव्यः ॥ ८६ ॥
मायेन्द्रजालबहुलो [2]बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च ।
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ॥ ८७ ॥
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः ।
कार्यो डिमः प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्नः ॥ ८८ ॥

नाटकतुल्यं सर्वमन्यत्केवलं सन्धीनां रसानां चासमग्रता च शृङ्गारहास्यवर्जं षड्रसत्वम् । पर्यायेण शान्तस्य प्रयोगः स्यादित्याह दीप्तरसेति । काव्ययोनिः काव्यवस्तु । देवादयो बाहुल्येनात्र सात्त्वत्यारभटीति । "जातिरप्राणिनाम्" इति केचित् । सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसंपन्नं वृत्तिद्वयं यत्र वृत्तिसमूहे वा वृत्तिशब्दः सात्त्वत्यारभटीलक्षणव्यावृत्त्या संपन्नः । डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्यायाः तद्योगादयं डिमः । अन्ये तु डयन्त इति डिमः उद्धतनायकास्तेषामात्मनां वृत्तिर्यत्रेति । "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" इति ह्रस्वः । नानाश्रयभावसंपन्न इत्यनेन सर्वभावयुक्तत्वाविति वृत्तवैचित्र्यमाह ।

अनुवाद—निर्घात, उल्कापात, सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण से युक्त और युद्ध, नियुद्ध (मल्लयुद्ध) आकर्षण तथा संफेट से युक्त डिम करना चाहिए ॥ ८६ ॥

अनुवाद—डिम में माया और इन्द्रजाल की अधिकता तथा पुस्त (पुत्तलिकाओं या पलस्तर आदि) उत्थान से सम्पन्न देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि सोलह नायकों से युक्त सात्त्वती, आरभटी वृत्तियों से सम्पन्न डिम को नाना प्रकार भावों से सम्पन्न बड़े प्रयत्न से डिम करनो चाहिए ॥ ८७-८८ ॥

अभिनव—डिम में सब कुछ नाटक के समान होता है केवल सन्धियाँ और रस समग्र नहीं रहते हैं । शृङ्गार और हास्य रस को छोड़कर शेष छः रस होते हैं । पर्याय से क्रमशः शान्त रस की योजना हो सकती है, इसीलिए कहते हैं—दीप्तरसेति । काव्य योनि का अर्थ है काव्य की कथावस्तु । देवादि की बहुलता होने से यहाँ सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ होती हैं । कोई आचार्य कहते हैं कि 'जातेरप्राणिनाम्' में अप्राणी वाचक छन्दों के उपन्यास से यहाँ जाति का ग्रहण होता है । अतः सात्त्वती और आरभटी वृत्ति से सम्पन्न दो वृत्तियाँ जहाँ हो या

---

१. ख. ध. निर्घातचन्द्रसूर्योपरागोल्कापातसंयुक्तः ।
२. ख. ग. बहुपुरुषोत्थानयुक्तश्च ।

नाटकादनन्तरं डिमलक्षणं यद्यप्युचितं तथापि तद्गतप्रवेशिकादिसंभवनिराकरणार्थं सत्प्रकरणादपकृष्यास्याभिधानं, तेन दिनचतुष्टयवृत्तमेवात्र प्रयोज्यम्। अङ्कावतारः एव चात्र भवति। चूलिकाङ्कमुखयोस्त्वत्रापि युद्धादिवर्णने समुपयोगोऽस्त्येव। ततश्च वस्तुतः प्रवेशकाद्यनिषिद्धमेव, प्रवेशकस्य ह्यसंभव एव। सरसेतिवृत्त वशाद्वा यथाङ्केष्वन्योन्यासंबन्धात् यथा समवकारे बह्वङ्केऽपि तस्मात्प्रकरणोत्कर्षोऽस्य तस्यावसरभावात्। तत्र हि नाटकान्तरमस्याभिधाने प्रकरणस्य न तत्स्पर्धित्वमुक्तं भवेत्। तदनन्तराभिधाने नाटिकाविभेदः कथं ख्याप्यः। नाटिकायां च स्त्रीप्रधानत्वात्, त्रिश्रृङ्गाररसमवकाराभिधानमेव ततः परं न्याय्यम्। तत्प्रसङ्गेन च दिव्यपुरुषसंबन्धादीहामृग उक्तः, तदनन्तरं च दिव्यपुरुषाधिकारेण रूपकाणीति पूर्वमनेकरसयुक्तत्वेन विततेतिवृत्तत्वादयमभिधातुं युक्तमित्यलं बहुना ॥ ८८ ॥

वृत्ति समूह में हो। वृत्ति शब्द सात्वती और आरभटी के लक्षण की व्यावृत्ति से सम्पन्न है। डिम, डिम्ब, विद्रव ये पर्यायवाची है, इनके योग से डिम होता है। अन्य लोग कहते हैं कि जो उड़ते है, वे उद्धत नामक डिम है। उनकी अपनी वृत्ति जहाँ हो, वह डिम हैं, "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" सूत्र से 'डी' में ह्रस्व होता है और मन् प्रत्यय होकर 'डिम' शब्द बनता है। नानाश्रयगत भावों से सम्पन्न होने के कारण समस्त भावों से युक्त होने से वृत्तों में वैचित्र्य कहा गया है।

नाटक के बाद डिम का लक्षण बताना यद्यपि उचित था, तथापि नाटक में होने वाले प्रवेशक आदि की सम्भावना का निराकरण करने के लिए प्रकरण से अपकर्ष करके इसका कथन किया है, इसलिए चार दिन के वृत्तान्त का ही इसमें प्रयोग करना चाहिए। यहाँ पर अङ्कावतार ही होता है, इसलिए युद्धादि के वर्णन में चूलिका, अङ्कमुख का समुपयोग यहाँ भी होता है। इसी प्रकार प्रवेशक आदि असिद्ध ही है, तथापि प्रवेशक का होना यहाँ असम्भव है। सरस इतिवृत्त के वश से जैसे अङ्कों में परस्पर सम्बन्ध न होने के कारण, जैसे समवकार में बहुत अङ्कों में भी उसका अवसर प्राप्त होने से प्रकरण का उत्कर्ष होता है। वहाँ नाटक के बाद उसके कथन में प्रकरण को इसका स्पर्द्धी नहीं कहा जा सकता, और भी नाटक के बाद प्रकरण के कहे जाने पर नाटिकादि का भेद कैसे कहा जायेगा? क्योंकि नाटिका में स्त्रियों की प्रधानता है। अतः इसके बाद तीन शृङ्गार वाले समवकार का कथन ही उचित है। इसी के प्रसङ्ग से दिव्य पुरुषों के सम्बन्ध से ईहामृग कहा है और तदनन्तर दिव्यपुरुषाधिकार से अन्य रूपकों को कहा। अतः उसके पहिले अनेक रसों से युक्त विस्तृत इतिवृत्त होने के कारण यह कथन उचित है, अधिक कहने से क्या लाभ? ॥ ८४-८८ ॥

डिमलक्षणमित्युक्तं मया समासेन लक्षणानुगतम् ।
व्यायोगस्य तु लक्षणमतः परं संप्रवक्ष्यामि ॥ ८९ ॥

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः [1]कार्यं प्रख्यातनायकशरीरः ।
[2]अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥ ९० ॥

बहवश्च तत्र पुरुषा [3]व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।
[4]न च दिव्यनायकयुक्तः कार्यस्त्वेकाङ्क एवायम् ॥ ९१ ॥

न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः ।
युद्धनियुद्धाघर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः ॥ ९२ ॥

व्यायोगस्तु डिमस्यैव शेषभूतो, दिव्यनायकाभावात् केवलमत्रोदात्तस्य राजादेः नायकता, अपि त्वमात्यसेनापतिप्रभृतेर्दीप्तरसस्य, अत एवाह—प्रख्यातनायकेति । उदात्तग्रहणमपाकर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९० ॥

अनुवाद—इस प्रकार संक्षेप में मैंने डिम का लक्षण कहा है इसके बाद अब मैं व्ययोग का लक्षण कहूँगा ॥ ८९ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को व्यायोग की रचना इस प्रकार करनी चाहिए, जिससे नायक और इतिवृत्त प्रख्यात हो और स्त्रीपात्र अल्प हों, तथा एक दिन की अभिनेय घटना हो, समवकार के समान इसमें भी बहुत से पुरुष पात्र नायक होते हैं, किन्तु दिव्य नायक नहीं होता । इसमें एक ही अङ्क करना चाहिए । इसमें राजर्षि नायक होता है, किन्तु दिव्य नायक नहीं होता । इसमें युद्ध, नियुद्ध आकर्षण एवं संघर्ष होते हैं ॥ ९०-९२ ॥

अभिनव—व्यायोग डिम का ही अङ्गभूत है, यहाँ पर केवल दिव्य नायक के न होने से उदात्त राजा आदि नायकता रहती है । तथा दीप्त रस वाले अमात्य सेनापति प्रभृति की नायकता भी रहती है । इसीलिए कहा है—'प्रख्यातनायक शरीरः' । उदात्त शब्द का ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ९० ॥

---

१. ख. ग. कर्तव्यः ख्यातनायकशरीरः ।

२, क. (टि॰) स्त्रीजनयुक्तस्तु डिमः । स्यादेकाहप्रयोज्यश्च ।

३. ख. ग. कविभिः कार्या । क-भ. नित्यं कार्यं यथा ।

४. ख. न च तत्प्रमाणस्तु तदेकाङ्कः संविधातव्यः । ग. न च तत्प्रमाणयुक्ताः कार्या एकाङ्क एवायम् ।

एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगे दीप्तकाव्यरसयोनिः ।
वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणमुत्सृष्टिकाङ्कस्य ॥ ९३ ॥

यथा समवकार इति द्वादशेत्यर्थः । तावदङ्कपरिमाणशङ्कामतिदेशात् प्रत्यासत्त्या प्रसक्तां वारयितुमाह—एकाङ्क एवेति । एवकारेणैकाहचरित विषयत्वान्न्यायप्राप्तमेवात्रैकाङ्कत्वमित्याह ॥ ९१ ॥

ननु प्रख्यातनायकशब्देन किमत्र गृहीतमित्यप्रतिप्रसङ्गं शमयति—न चेति । चो भिन्नक्रमः । दिव्यैर्देवैः नृपैः ऋषिभिश्च नायकैः न निबद्धोऽयं भवतीत्यर्थः ।

ननु कस्मादयं व्यायोग इत्याह—युद्धं नियुद्धेति व्यायामे युद्धप्राये नियुध्यन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोगः इत्यर्थः । नियुद्धं बाहुयुद्धं संघर्षः शौर्यविद्याकुलरूपादिकृता स्पर्धा ॥ ९२ ॥

दीप्तं काव्यमोजोगुणयुक्तं, दीप्तरसाद्या वीररौद्राद्याः तदुभयं योनिः कारणमस्य ॥ ९३ ॥

अभिनव—जैसे समवकार में बारह नायक होते हैं। अतिदेश की प्रत्यासत्ति से प्रसक्त होने वाली अङ्क परिमाण की शङ्का का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि इसमें एक अङ्क होने चाहिए। यहाँ एवकार से एकाह चरित की विषयता होने से यहाँ एकाङ्कत्व न्याय प्राप्त है, इस प्रकार कहा है।

अभिनव—अब प्रख्यात नायक शब्द से यहाँ किसका लिया गया है ? इस अतिप्रसङ्ग का शमन करते हैं—न चेति ! यहाँ चकार का क्रम भिन्न है। यह दिव्य देवता, नृप, ऋषि नायकों से निबद्ध नहीं होता।

अभिनव—पुनः प्रश्न होता है कि इसे व्यायोग क्यों कहते हैं ? कहते हैं कि इसमें युद्ध, नियुद्ध और युद्धप्राय होता है, यहाँ पुरुष नियुद्ध (बाहुयुद्ध) करते हैं—इसलिए इसे व्यायोग कहते हैं। नियुद्ध का अर्थ बाहुयुद्ध है। और संघर्ष का अर्थ शौर्य, विद्या, कुल तथा रूप आदि से होने वालीस्पर्द्धा है ॥ ९०-९२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार दीप्त काव्य और दीप्त रस दोनों जिसकी योनि है, उस व्यायोग की रचना करनी चाहिए। इसके बाद अब उत्सृष्टिकाङ्क का लक्षण कहूँगा ॥ ९३ ॥

अभिनव—दीप्त काव्य का अभिप्राय है ओजोगुण से युक्त काव्य और दीप्त रस आदि अर्थात् रौद्र, वीर आदि रस ये दोनों गुण और रस जिसकी योनि (कारण) है ॥ ९३ ॥

[1]प्रख्यातवस्तुविषयस्त्वप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् ।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः [2]शेषैर्युक्तो भवेत्पुंभिः ॥ ९४ ॥
[3]करुणरसप्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च[4] ।
[5]स्त्रीपरिदेवितबहुलो निर्वेदितभाषितश्चैव[6] ॥ ९५ ॥
[7]नानाव्याकुलचेष्टः सात्त्वत्यारभटीकैशिकीहीनः ।
[8]कार्यः काव्यविधिज्ञैः सततं ह्युत्सृष्टिकाङ्कस्तु ॥ ९६ ॥

रौद्राद्यनन्तरं "रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणः (६-४५)" इत्युक्तत्वात्तत्प्रधानमुत्सृष्टिकाङ्कमेतदनन्तरमाह—प्रख्यातवस्तु विषय इति ।

अभिनव—रौद्र रस के अनन्तर "रौद्र का जो कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिए" इस कथन के अनुसार करुण रस प्रधान उत्सृष्टिकाङ्क को इसके बाद कहते हैं—

अनुवाद—उत्सृष्टिकाङ्क की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए और कभी-कभी अप्रख्यात भी हो सकती है। यह दिव्य पुरुष को छोड़कर शेष सभी प्रकार के पुरुषों से युक्त होता है। इसमें प्रायः करुण रस होने से युद्ध और उद्धत प्रहार इसमें नहीं होते। तथा इसमें स्त्रियों के विलाप अधिक होने से निर्वेदयुक्त भाषण अधिक होते हैं। इसमें व्याकुलमय अनेक चेष्टायें होती हैं, इसमें सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होती। इस प्रकार नाट्यतत्त्ववेत्ताओं को उत्सृष्टाङ्क की रचना करनी चाहिए ॥ ९४-९६ ॥

---

१. क-प. तेष्वप्रख्यातं वस्तु वा । क-भ. अप्रख्यातोऽपि वा क्वचित्कार्यं ।
२. ख. ग घ. शेषैरन्यैर्भवेत् । क-प. समन्वितः पुंभिः ।
३. क-द. करुण रसार्थप्रायो ।
४. क-भ. बद्धोद्धतप्रहारश्च ।
५. ख. घ. स्त्री देवन ···· ।
६. ख. घ. निर्वदितवाक्यभाषाश्च ।
७. क. (ब.) नानाध्याकुलचेष्टः ।
८. ब. कर्तव्योऽभ्युदयान्तस्तज्ज्ञैरुत्सृष्टिकाङ्कस्तु ।

प्रख्यात भारतादियुद्धे विषये निमित्ते सति यत्तत्करुणबहुलं चेष्टितं वर्ण्यते तत्ख्यातं स्त्रीपर्ववृत्तान्तवत्, माभूदित्यप्रख्यातग्रहणेनोक्तम् । तेनोभयोपादानस्य परस्परविरुद्धार्थत्वादकिञ्चित्करत्वं नाशङ्कनीयम् ॥ ९४ ॥

निवृत्तयुद्धा उद्धतप्रहाराः पुरुषा यस्मिन् । परिदेवितं दैवोपालम्भात्मनिन्दारूपमनुशोचनं यत्र । निर्वेदितानि श्रुतेषु निर्वेदो जायते तादृंशि भाषितानि यत्र व्याकुला चेष्टा भूमिनिपातविवर्तिताद्याः । सात्त्वत्यारभटीकैशिकीहोन इति समाहारद्वन्द्वान्तरद्वन्द्वगर्भस्तृतीयासमासः । उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्ताः । वृत्तिभिरुत्सृष्टत्वादित्यन्ये तदा द्वित्वं च त्रित्वमुद्देशस्यैकदेशेन । अयमङ्क इति निर्दिष्टो वृत्तानुरोधात् । इह च करुणरसबाहुल्यादेव देवैर्वियोगः रौद्रबीभत्सयानकसंबन्धो दिव्ययोगे न भवत्यपि तु करुणयोगः ॥ ९६ ॥

अभिनव—प्रख्यात अर्थात् महाभारतादि युद्ध के निमित्त होने पर जो करुण बहुल चेष्टायें वर्णित करते हैं, वह स्त्रीपर्व के वृत्तान्त की तरह ख्यात न हो, यह बात प्रख्यात शब्द के ग्रह से कही गई है। इसलिए उभयापादान के परस्पर विरुद्धार्थ होने से अकिञ्चित्करत्व को शङ्का नहीं करनो चाहिए।

'निवृत्तयुद्धोद्धत प्रहार' का अर्थ है—युद्ध से एवं उद्धत प्रहारों से निवृत पुरुष जहाँ हों । 'स्त्रोपरिदेवितबहुलः' का अर्थ है परिदेवित अर्थात् देवोपलम्भात्मक आत्मनिन्दा रूप अनुशोचन जहाँ हो। 'निर्वेदितभाषित' का अर्थ है जिसके सुनने पर निर्वेद हो जाय, ऐसे भाषण जहाँ हों। 'व्याकुलचेष्टः' अर्थात् व्याकुल करने वाली चेष्टायें भूमि पर गिरना एवं लोट-पोट करना आदि। 'सात्त्वत्यारभटीहीनः' में समाहार द्वन्द्व से भिन्न द्वन्द्वगर्भ समास है। 'उत्सृष्टिकाङ्क' का अर्थ है उत्क्रमण करने योग्य सृष्टि अर्थात् जीवित प्राण जिनके वे उत्सृष्टिका हैं अर्थात् शोक करने वाली स्त्रियाँ जिनमें अङ्कित हों, वह उत्सृष्टिकाङ्क होता है। जो वृत्तियों से उत्सृष्ट है वह उत्सृष्टिकाङ्क है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं । ऐसी स्थिति में वृत्तियों का द्वित्व या त्रित्व उद्देश के एकदेश के अनुसार होगा। वृत्त के अनुरोध से यहाँ 'यह अङ्क है' यह निर्देश है। उत्सृष्टिकाङ्क में करुण रस का बाहुल्य होने से देवताओं से वियोग होता है। रौद्र, बोभत्स, भयानक रस का सम्बन्ध दिव्यों के योग में नहीं होता, अपितु करुण रस का योग रहता है ॥ ९४-९६ ॥

यद्दिव्यनायककृतं काव्यं संग्रामबन्धवधयुक्तम् ।
तद्भारते तु वर्षे कर्तव्यं काव्यबन्धेषु ॥ ९७ ॥
[1]कस्माद्भारतमिष्टं वर्षेष्वन्येषु देवविहितेषु[2] ।
हृद्या सर्वा भूमिः शुभगन्धा काञ्चनी[3] यस्मात् ॥ ९८ ॥
उपवनगमनक्रीड़ा विहारनारीरतिप्रमोदाः स्युः ।
तेषु[4] हि वर्षेषु सदा न तत्र दुःखं न वा शोकः[5] ॥ ९९ ॥

नन्वेवं देवानां युद्धमप्यनुचितमित्याशंक्य प्रसङ्गात्समवकारादौ देशविशेषोपयोगं दर्शयति—दिव्यनायककृतमिति ।

तेषां भारतवर्षावतीर्णानां युद्धादिकं प्रदर्शयेदित्यर्थः ॥ ९७ ॥

अत्र राज्ञः पृच्छति कस्माद्भारतमिष्टमिति । अत्र प्रयोगे प्रतिवक्ति वर्षेष्वन्येष्विति देशत्वेन भोगभूमित्वे विहितेष्वपीत्यर्थः ॥ ९८ ॥

अभिनव—इस प्रकार यहाँ देवताओं का युद्ध भी अनुचित है ऐसी आशङ्का करके प्रसङ्गवश समवकारादि में देश विशेष का उपयोग दिखाते हैं—

अनुवाद—जो दिव्य नायकों द्वारा किये जाने वाले युद्ध, वध एवं बन्धन से युक्त काव्य है, उसे भारतवर्ष में काव्य रचनाओं में करना चाहिए ॥ ९७ ॥

अभिनव—उन भारतवर्ष में अवतीर्ण उन देवताओं के युद्ध आदि का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ९७ ॥

अनुवाद—देवताओं के द्वारा निर्मित अन्य वर्षों (देशों) के होने पर भी भारतवर्ष ही क्यों इष्ट (अभीष्ट) है । क्योंकि यहाँ की भूमि हृद्य है, शुभ गन्धों वाली है और काञ्चनी (सुवर्णमयी) है ॥ ९८ ॥

अभिनव—यहाँ राजा से पूछते हैं कि भारत ही क्यों इष्ट है ? उत्तर देते हैं कि अन्य देश भोग भूमि है ।

अनुवाद—अन्य वर्षों (प्रदेशों) में सदा उपवन-गमन क्रीड़ा, विहार, स्त्रियों के साथ रति और प्रमोद (आनन्द) होते हैं, वहाँ न दुःख है न शोक ॥ ९९ ॥

---

१. ख. तस्मात् । २. ख. नित्यकालं हि ।
३. क-प. हेमरत्नमयो यस्मात् ।
४. क. (टि०) भ. तस्मिन्नित्यं वर्षे ।
५. ख. न भवति दुःखं न वा तयेकम् ।

ये[1] तेषामधिवासाः पुराणवादेषु पर्वताः प्रोक्ताः ।
सम्भोगस्तेषु भवेत्कर्मारम्भो[2] भवेदस्मिन् ॥ १०० ॥

उपवनं गत्वा क्रीडा जलक्रीडादिकाः विहरणमुपवन एव सञ्चरणं नार्या सह रतिः संभोगः प्रमोदो दिव्यपानादिकृतम् ॥ ९९ ॥

नन्वेवमिलावृतकुरुप्रभृतिषु वर्षेषु मा तेषां देवानां वृत्तं व्याख्यायि तथापि स्वनिवासेषु व्यावर्ण्यतामित्यत आह—ये तेषामधिवासा इति ।

वसन्ति तेष्विति वासाः। पर्वता इति कैलासादयः, संभोग इति सा हि तेषां भूमिः भोगस्थानं, अस्मिन्निति भारतवर्षे कर्मारम्भः आरम्भग्रहणेनेवमाह—न तेषां दुःखं पूर्णं कदाचिद् भवति। दुःखपूर्णतायां देवत्वस्यैव विघातोऽनवस्थानप्राप्त्या स्वरूपलोप इति युक्तमुक्तम् । करुणारसबाहुल्यादुत्सृष्टिकाङ्कैः दिव्यैर्वियोग एव तेषां सुखबाहुल्यात्तत्सन्निधाने अन्यस्यापि शोकावसर पराकृतेरिति गाढदुःखाभिभूता, एवंभूतप्रयोगदर्शने सति 'दुःखी दुःखाधिकान् पश्ये' दिति नीत्या प्रतनूभूतदुःखभाराः सुखेन विनेया भवन्ति, यथोक्तं प्राक् स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च (१·१११) इत्युत्सृष्टिकाङ्कप्रयोगः ॥ १०० ॥

अभिनव—उपवन में जाकर जल क्रीड़ा करना, उपवन में विहार करना (घूमना), स्त्री के साथ सम्भोग और दिव्य सुरा का पान करना चाहिए ॥ ९९ ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार इलावृत कुरु प्रभृति वर्षों (प्रदेशों) में उन देवताओं का वर्णन वृत्त नहीं करना चाहिए, किन्तु अपने निवासों में वर्णन करना चाहिए, इस पर कहते हैं—

अनुवाद—पुराण और इतिहास में जो पर्वत उनके अधिवास कहे गये हैं उनमें सम्भोग होता है और उसमें कर्मारम्भ है ॥ १०० ॥

अभिनव—जिसमें वे रहते हैं वे वास हैं, पर्वत कैलास आदि हैं। सम्भोग का अर्थ है वह भूमि जो उनकी भोग भूमि है। 'अस्मिन्' का अर्थ है भारतवर्ष में कर्म का आरम्भ होता है। आरम्भ पद से यह बताया गया है कि भारत में पूर्ण दुःख कभी नहीं होता, क्योंकि पूर्ण होने पर देवत्व का ही विघात हो जायेगा। यहाँ अवस्था दोष होने पर देवताओं के स्वरूप का लोप हो जायेगा, यह ठीक ही कहा गया है। करुण रस की बहुलता से उत्सृष्टिकाङ्क में देवताओं का वियोग

---

१. ख. ग. न तेषामपि वासाः । पुराणवादे च पर्वता गदिताः ।

२. क. कर्मारम्भस्तथा ह्यस्मिन् ।

अङ्कस्य लक्षणमिदं व्याख्यातमशेषयोगमात्रगतम् ।
प्रहसनमतः परमहं सलक्षणं संप्रवक्ष्यामि ॥ १०१ ॥

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं [1]तथा च सङ्कीर्णम् ।
वक्ष्यामि[2] तयोर्युक्त्या पृथक्पृथग्लक्षणविशेषम् ॥ १०२ ॥

एवं रञ्जनाप्रधानेन करुणेन युक्तं रूपकमभिधाय रञ्जनप्रधानं हास्यप्राप्यं प्रहसनं लक्षयति विभागमुखेन प्रहसनमपि विज्ञेयमिति द्विविधमिति ।

विभागः शुद्धं संङ्कीर्णं चापीति । अपिशब्दोऽतिक्रमार्थः । तथेति सामान्य-लक्षणम् । तदयमर्थः लक्षणविशेषं विशेषलक्षणम् ।

होता है और देवताओं के सुख बहुल होने से उनके सन्निधान में दूसरों के शोक के अवसर दूर हो जाते हैं, हट जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों के देखने से गाढ़-दुःखाभिभूत पुरुष "दुःखी अपने से अधिक दुःखी को देखें" इस नीति के अनुसार दुःख का भार क्षीण हो जाने से वे सुखपूर्वक विनेय हो सकते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि "दुःख से पीड़ित को नाट्य धैर्य प्रदान करता है। इस प्रकार उत्सृष्टिकाङ्क का प्रयोग पूर्ण हुआ ॥ १०० ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क) का लक्षण व्यवस्थित रूप में बतला दिया है, इसके बाद अब प्रहसन के लक्षण बतलाऊँगा ॥ १०१ ॥

अभिनव—इस प्रकार रञ्जन की अप्रधानता वाले करुण रस से युक्त रूपक का लक्षण बतलाकर अब रञ्जन प्रधान, हास्य बहुल विभाग के द्वारा प्रहसन का लक्षण बतलाते हैं—

अनुवाद—प्रहसन दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण। अब मैं युक्ति के साथ अलग-अलग विशेष लक्षण को बतलाऊँगा ॥ १०२ ॥

अभिनव—प्रहसन के विभाग को बतलाते हैं—शुद्ध और सङ्कीर्ण। यहाँ अपि शब्द का अर्थ अतिक्रमण 'तथा' पद से सामान्य लक्षण| का कथन है। लक्षण विशेष का अर्थ विशेष लक्षण है ॥ १०२ ॥

---

१. ख. तथैव ।
२. ख. भगवत्तापसभिक्षुश्रोत्रियविप्रातिहाससंयुक्तम् ।

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसंबद्धम् ।
[1]कापुरुषसंप्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ॥ १०३ ॥
अविकृतभाषाचारं[2] विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु ॥ १०४ ॥

भगवत्तापसविप्राः यतिवानप्रस्थगृहस्थाः, अन्ये शाक्यादयस्तैरुपलक्षितम् । हास्यप्रधानवचनसंबन्धशीलनादिना कुत्सितैः पुरुषैरत एव प्रहस्यमानैः सामर्थ्यात्तैरेव भगवदादिभिर्युक्तम् ॥ १०३ ॥

तथापि च भाषाचारौ यत्र न विकृतावसत्याश्लीलरूपौ तथा विशेषेण भावैः व्यभिचारिभिरुपपन्नानि पदानि कथाखण्डानि यस्मिन् । नियतगतिः एकप्रचारं यद्वस्तु तद्विषयः प्रहसनीयलक्षणो यत्र, तच्छुद्धं प्रहसनम् । अत्र निर्वचनं यतः परिहासप्रधानान्याभाषणान्यत्र बाहुल्येन भवन्ति तेन यत्रैकस्यैव कस्यचित् चरितं दुष्टत्वात्प्राधान्येन प्रहस्ते तच्छुद्धमित्यर्थः ॥ १०४ ॥

शुद्ध प्रहसन

अनुवाद—भगवत्तापस अर्थात् भगवद्भक्त तपस्वी, विप्रों तथा अन्य पुरुषों के हास-परिहास पूर्ण सम्वाद से युक्त तथा कुत्सित पुरुषों के द्वारा सम्प्रयुक्त परिहासपूर्ण आभाषणों से युक्त, अविकृत भाषा और आचार (व्यवहार) से सम्पन्न विशेष भावों और चरितों से उपपन्न नियतगति और वस्तु विषयक शुद्ध प्रहसन समझना चाहिए ॥ १०३-१०४ ॥

अभिनव—'भगवत्तापसविप्राः' का अर्थ है—यति, वानप्रस्थ, गृहस्थ और दूसरे शाक्य बौद्धभिक्षु उनसे उपलक्षित । हास्य-प्रधान वचनों के सम्बन्ध का शीलन करने से कुत्सित पुरुषों के द्वारा प्रहस्यमान उन्हीं लोगों से भगवत्तापसादि से युक्त शुद्ध प्रहसन होता है ।

तथापि भाषा और आचार जहाँ पर विकृत श्लील रूप न हों, तथा विशेष रूप से व्यभिचारी भावों से उपपन्न पद कथाखण्ड जिसमें हों, नियतगति तथा एक प्रचार जो वस्तु हो वह विषय प्रहसन के योग्य लक्षण हो जहाँ, वह शुद्ध प्रहसन है। यहाँ प्रहसन पद का निर्वचन करते हैं, क्योंकि यहाँ परिहास प्रधान आभाषण बाहुल्येन होते हैं। इसलिए जहाँ पर किसी एक व्यक्ति का चरित दुष्ट होने से प्रधान रूप से हास्य का विषय बने, वह शुद्ध प्रकार है ॥ १०३-१०४ ॥

---

१. ख. नोचजनः ··· । २. ख. विशेष भावोपहास ···· ।

वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता[1] बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणैस्तु[2] संकीर्णम् ॥ १०५ ॥
लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः ।
[3]स प्रहसने प्रयोज्यो धूर्तप्रविवादसम्पन्नः ॥ १०६ ॥

यत्र तु वेश्यादिभिर्योगोऽत्युल्बणं चाकल्पादि तदेकद्वारेणानेकवेश्यादिचरितेन हसनीयेन सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् । अन्ये त्वाहुः—येषां स्वभावत एव चरितं शिष्टमध्ये सभ्येतरतमत्वेन प्रहसनार्हं तदविशुद्धत्वात्सङ्कीर्णम् तद्योगाच्च रूपकम् । ये तु स्वभावतो न गर्हिता भगवत्तापसादिचेष्टाविशेषास्तेषां प्राकृतपुरुषसंक्रान्ति-दौरात्म्योदितामन्यसंबन्धदूष्यमाणतया प्रहसनीयतां यातास्ते स्वभावशुद्धाः तद्योगा-द्रूपकं शुद्धमिति ॥ १०५ ॥

उभयसाधारणीमपि कवेः शिक्षामाह—लोकोपचारेति ।

अनुवाद—जहाँ पर अत्यन्त असभ्य वेश-भूषा, वस्त्र, चेष्टा तथा विचित्र उपकरणों के साथ जहाँ पर वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त तथा बन्धकी स्त्री की स्थिति हो, उसे 'मिश्र' (सङ्कीर्ण) प्रहसन कहते हैं ॥ १०५ ॥

अभिनव—जहाँ पर वेश्यादि का सम्बन्ध हो और वेष-भूषादि अत्यन्त उज्ज्वल हो वहाँ एक के द्वारा अनेक वेश्याओं के चरित हास्य का विषय बनने से सङ्कीर्ण होने से सङ्कीर्ण प्रहसन होता है । अन्य आचार्य कहते हैं कि—जिनका चरित स्वभावतः शिष्ट जनों के मध्य अत्यन्त असभ्य होने से प्रहसनीय हो, वह विशुद्ध न होने से सङ्कीर्ण भेद होता है । और उनके योग से रूपक भी सङ्कीर्ण होता है । और जो भगवत्तापस आदि की चेष्टायें स्वभाव से गर्हित नहीं है, किन्तु प्राकृत पुरुषों के सङ्क्रमण के संसर्ग से दौरात्म्य से उदित अन्यों के संसर्ग से दूषित होने से प्रहसनीयता को प्राप्त होते हैं वे स्वभावतः शुद्ध और उनके योग से रूपक भी शुद्ध होता है ॥ १०५ ॥

काव्य और लोक में उभय साधारणी शिक्षा को कवि के लिए कहते हैं—

अनुवाद—जो वार्त्ता लोक व्यवहार से युक्त है तथा जो दम्भ का संयोग धूर्त्तों के वाद-विवाद से सम्पन्न हो उसे प्रहसन में प्रयोग करना चाहिए ॥ १०६ ॥

---

१. ख धूर्तविटा । २. ख. करणात्तु ।
३. ख. तत्प्रहसने प्रयोज्य । ग. तत्प्रहसनेषु योज्यं ।

[4]वीथ्यङ्गैः संयुक्तं कर्तव्यं प्रहसनं यथायोगम् ।
भाणस्यापि तु लक्षणमतः परं संप्रवक्ष्यामि ॥ १०७ ॥

वार्ता प्रसिद्धिर्यदि सा लोकव्यवहारसिद्धा भवति, यथा शाक्यानां स्त्रीसंपर्कः प्रहसनीयो भवति, न चौर्यम् । एवं भाविप्रसिद्ध एवोपहसनीयः । अत्राधिकरणं स्वयमेवाह—धूर्तप्रविवादेति । धूर्ताः कृत्रिमतापसादयः विटादयश्च । तद्विषयो यः प्रकृष्टो विवादः विरुद्धतयावभासस्तेन फलभूतेन संपाद्यतया यदुक्तं प्रहस्यमानं तथाभूतचरितावलोकनेन हि संस्कृतमिति व्युत्पाद्यो न भूयस्तान्वञ्चकानुपसर्पतीति ॥ १०६ ॥

वीथ्यङ्गैरिति वक्ष्यमाणैः यथायोग्यमिति तेषां संप्रयोगे संख्यायाः क्रमस्य तु न कश्चिन्नियम इति दर्शयति । प्रहसनस्याङ्कनियमानभिधानात् शुद्धमेकाङ्कं, सङ्कीर्णं त्वनेकाङ्कम् वेश्यादिचरितसंख्याबलादिति केचित् ।

अन्ये त्वेकाङ्कप्रकरणमध्यपातित्वादेकाङ्कमिति मन्यन्ते प्रथमसंख्यातिक्रमे भेदाभावपरित्यागे च प्रमाणाभावात् ॥ १०७ ॥

अभिनव—जो वार्त्ता (प्रसिद्धि) लोक व्यवहार से सिद्ध होती है । जैसे—बौद्धों का स्त्री संसर्ग प्रहसनीय होता है किन्तु चौर्य प्रहसनीय नहीं होता । इस प्रकार प्रसिद्धि को प्राप्त वृत्त प्रहसनीय होते हैं । वृत्त के अधिकरण को स्वयमेव कहते हैं धूर्तप्रविवादिति । धूर्त कृत्रिम तपस्वी आदि और जो विट आदि हैं । उनके सम्बन्ध में जो प्रकृष्ट विवाद हैं, विरुद्ध रूप से अवभास है । उस फलभूत विवाद से सम्पाद्य होने से जो प्रहस्यमान कहा गया है, उस प्रकार के चरित के अवलोकन से संस्कृत व्युत्पाद्य फिर कभी वञ्चकों के जाल में नहीं फँसता ॥ १०६ ॥

अनुवाद—प्रहसन को यथायोग वीथी के अङ्गों से संयुक्त करना चाहिए । इसके बाद अब भाषा के लक्षण को कहूँगा ॥ १०७ ॥

अभिनव—वीथ्यङ्गैः अर्थात् वक्ष्यमाण वीथी के अङ्गों से । यथायोग उनके सम्प्रयोग में संख्या के क्रम का कोई नियम नहीं है, इसको दिखाते हैं । प्रहसन में अङ्कों के नियम का कथन न होने से शुद्ध प्रहसन एकाङ्की होता है और वेश्यादि के चरित को संख्या के बल से सङ्कीर्ण प्रहसन अनेक अङ्कों वाला होता है, ऐसा कोई आचार्य कहते हैं ।

---

४. ख. उद्घात्यकादिभिरिदं वीथ्यङ्ग्ये मिश्रितं भवेन्नियमम् ।

आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु[1] ।
[2]विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥ १०८ ॥

अथ हास्यरसोचितविटधूर्ताद्यनुप्रवेशेन समानयोगक्षेमं भाणं लक्षयितुमाह—आत्मानुभूतसंसीति ।

एकेन पात्रेण हरणीयः समाजिकहृदयं प्रापयितव्योऽर्थो यत्र स भाणः । एकमुखेनैव भाण्यन्ते उक्तिमन्तः क्रियन्ते अप्रविष्टा अपि पात्रविशेषा यत्रेति भाणः । तत्र स प्रविष्टः पात्रविशेषः आत्मानुभूतं वा शंसति परगतं वा वर्णयति ॥ १०८ ॥

अभिनव—अन्य लोग कहते हैं कि प्रथमोक्त संख्या के अतिक्रम में और भेदाभाव के परित्याग में प्रमाण का अभाव होने से एकाङ्की प्रकरण के मध्यपाती होने से एकाङ्की मानते हैं ॥ १०७ ॥

अब हास्य रस के योग्य विट, धूर्त आदि के अनुप्रवेश से प्रहसन के समान योगक्षेम वाले भाण का लक्षण बतलाते हैं—

अनुवाद—आत्मानुभूत बात को कहने वाला और दूसरों के विषय की बातों का वर्णन करने वाला एक पात्र के द्वारा अभिनेय 'भाण' कहलाता है ॥ १०८ ॥

अभिनय—एक पात्र के द्वारा हरणीय (सम्पादनीय) सामाजिक के हृदय में प्रापयितव्य अर्थ जहाँ कहा जाय, वह 'भाण' है । रङ्ग में अप्रविष्ट पात्र विशेष भी जहाँ एक पात्र के मुख से कहते हैं अर्थात् अपने कथन को श्रोता के अन्तःकरण में पहुँचा देते हैं, वह 'भाण' है । वह प्रविष्ट पात्र विशेष आत्मानुभूत अर्थ को कहता है अथवा दूसरे की बात का (चरित का) वर्णन करता है ॥ १०८ ॥

---

१. ग. विशेषेषु ।

२. ग. द्वि विधाश्रयो ..... ।

परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव[1] ॥ १०९ ॥
धूर्तविटसंप्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
[2]एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥ ११० ॥

तत्र च प्रयोगप्रयुक्तिमाह—परवचनमिति । परसम्बिवचनं स्वयमङ्गविकारैर-भिनयेत् ।

ननु तत्परवचनमयुक्तं कथमभिनयेत् आह—आकाशे शून्ये यानि पुरुषकथितानि दृष्टानि यत्र शून्ये तेन वर्ण्यन्ते वा कश्चित्पश्यत्याकर्णयति च तत्र च तद्वचनं स एवानुवदन् सामाजिकान् बोधयति । यथा "भो बाडव ! अले किं ब्रवीषि" इत्यादौ न केवलं परवचनमभिनयेत्, किन्तु प्रतिवचनैः स्वोक्तैः सह, अत एवोत्तरोत्तरग्रथित-योजनाभिरुपलक्षितैः ॥ १०९ ॥

अनुवाद—आत्मानुभूत दूसरे के वचनों को आकाशभाषितों के द्वारा उत्तरोत्तर ग्रथित प्रतिवचनों के द्वारा आङ्गिक अभिनयों से शारीरिक चेष्टाओं को प्रदर्शित करते हुए धूर्त एवं विटों द्वारा प्रयोज्य नाना अवस्थाओं वाले तथा बहुत चेष्टाओं वाले एकाङ्की भाण का विद्वानों द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ १०९-११० ॥

अभिनव—प्रयोग की युक्ति को कहते हैं—पात्र दूसरों के कहे वचन को स्वयं अपने अङ्गविकारों से अभिनीत करें ।

अब प्रश्न होता है कि युक्तिरहित दूसरे के वचनों का अभिनय कैसे करें ? इस पर कहते हैं कि शून्य आकाश में परपुरुष के कथित अथवा दृष्ट वचनों को शून्य में वर्णन करें अथवा जैसा कोई देखता है, या सुनता है वहाँ उसके वचन का अनुवाद करता हुआ सामाजिकों को बोध करायें । जैसे—"भो वाड़व ! अले, किं ब्रवोषि" इत्यादि स्थलों में केवल दूसरों के वचनों का अभिनय न करें। किन्तु अपने कहे हुए वचनों के साथ तथा उत्तरोत्तर ग्रथित योजनाओं से उपलक्षित कर अभिनय करें ।

---

१. ख. अभिनयेत्तत् । २. ख. ग. एकाङ्गो ।

ननु योऽसावेकोऽत्र प्रविशति स क इत्याह—धूतविटेति। नानाप्रकारावस्थाविशेषात् लोकोपयोगिव्यवहार एव आत्मा वाच्यं यस्य, अत एव बहुचेष्टः सततं कार्यं इति सकलसामान्यपृथग्गतोपयोग्यस्तु लोकव्यवहारो वेश्याविटादिवृत्तान्तात्मा निरूप्य इति बाहुल्येन पृथग्जनव्युत्पत्तियोनिरूपकमिदं राजपुत्रादीनामपि शम्भलीवृत्तान्तो ज्ञेय एवावञ्चनार्थमिति संप्रयोज्य इत्यर्थः ॥ ११० ॥

इदमिह मीमांस्यं—य एते उत्सृष्टिकादयो रूपकभेदाः ते तावदेकरसा एव यद्यपि नाटकादयोऽप्येवमेव। तथापि सर्वरसयोग्यतायामपि नाटके प्रकरणे च धर्मार्थादिवीर एव प्रधानं परमार्थतः सर्वेषु नायकभेदेषु वीरत्वानुगमदर्शनात्। समवकारे तु यद्यपि हि शृङ्गारादित्वमुक्तं तथापि वीर एव प्रधानं रौद्रो वा। डिमव्यायोगयोरप्येवम् । ईहामृगेऽपि रौद्रप्राधान्यमेव, नाटिकायां तु शृङ्गार एव प्रधानम् ।

अब प्रश्न होता है कि जो यह अकेला रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है वह कौन है? इस पर कहते हैं कि धूर्त, विट होता है। अनेकविध अवस्थाओं के वैलक्षण्य से लोकोपयोगी व्यवहार ही आत्मा अर्थात् वाच्य है जिसका, इसलिए बहुचेष्टा वाले भाण को सतत प्रस्तुत करना चाहिए, क्योंकि यह सकल सामान्य जन के उपयोगी वेश्या तथा विट के वृत्तान्त रूप लोक व्यवहार का निरूपण करते हैं। इस प्रकार यह रूपक बाहुल्येन सामान्य जन की व्युत्पत्ति की योनि है, अतः धोखा न हो जाय, इसलिए राजकुमारों की शम्भली के वृत्तान्त को जानना चाहिए, इस प्रकार धोखा न खा जाय कुट्टिनी के वृत्तान्त का भी नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

यहाँ यह विचारणीय है कि ये जो उत्सृष्टिकाङ्क आदि रूपकों के प्रभेद हैं वे सब एक रस है और यद्यपि नाटक आदि भी इसी प्रकार है तथापि नाटक और प्रकरण में सभी रसों की योग्यता होने पर भी धर्मवीर, अर्थवीर, युद्धवीर आदि वीर रस ही इसमें प्रधान होता है, वस्तुतः नायक के सभी भेदों में वीरता का अनुगम देखा जाता है। समवकार में यद्यपि शृङ्गारादि रस कहा गया है। तथापि वीर अथवा रौद्र रस ही वहाँ प्रधान होता है। डिम और व्यायोग में भी इसी प्रकार होता है। ईहामृग में रौद्र रस की प्रमुखता है किन्तु नाटिका में शृङ्गार रस की प्रधानता होती है।

एवं तावद् वीररौद्रशृङ्गारा यथास्वं पुमर्थत्रयप्राणभूतत्वेन वर्तमाना एतेषु प्रयोगेषु शान्तबीभत्सरसौ तु चरमपुमर्थयोगात्तत्र च सर्वस्य नाधिकारोऽपि कस्यचिदपश्चिमजन्मनोऽधिकारान्नाटके यद्यपि तत्फलप्रधानतया प्राधान्यमवलम्बेयातां तथापि नासौ प्रचुरप्रयोग इति तयोः पुरुषार्थप्रवरप्राणितयोरपि वीरादिरसान्तराध्यावापेनावस्थापनम्। एवं तावत्पुमर्थविषयो रूपकरसविषय एव परमार्थतः, तथापि त्वितिवृत्तवैतत्याद्रसान्तरप्रयोगोऽपि तदङ्गतया तत्र भवति। एवं तत्प्रधान-चेष्टायोगाद् वृत्तिवैचित्र्यमत्रोचितमेव। उत्सृष्टिकाङ्कप्रहसनभाणास्तु करुणहास्य-विस्मयप्रधानत्वाद् रञ्जकरसप्रधानाः, तत एवात्र स्त्रीबालमूर्खादिरधिकारी।

न च विततमत्रेतिवृत्तम्, इतिवृत्तवैचित्र्यमपि तत्र नास्ति। तथाहि—उत्सृष्टि-काङ्के तु वृत्तित्रयं तावद्वचसा निषिद्धं, भारती चात्र कथं वृत्ति चेष्टा हि करुणेऽप्रधानं तदुपकरणं तु परिदेवितात्मिका भारती, तस्मात्, फलसंवित्याख्या वृत्तिः, वाक्चेष्टयोः फलानुभव इति यस्या लक्षणं, साभ्युपगन्तव्या। अवश्यं चैतत्, अन्यथा मूर्छा-मरणादौ वाक्चेष्टयोरभावे निर्वृत्तिकतैव स्यात्। किञ्च यदि तावत्पुमर्थकामोद्देशेन कैशिक्यभिधीयते धर्ममर्थं चोद्दिश्य वृत्तिद्वयं वक्तव्यम्। तस्माच्चेष्टात्मिका न्याय-वृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति वृत्तित्रयमेव युक्तमिति भट्टो-द्भटो मन्यते।

इस प्रकार वीर, रौद्र और शृङ्गार रस यथाक्रम प्रत्येक धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग के प्राणभूत होकर इन प्रयोगों में विद्यमान है और शान्त तथा वीभत्स रस तो चरम पुरुषार्थ मोक्ष के योग से सम्बद्ध होने से नाटक में सबका अधिकार न होने से किसी अग्रजन्मा ब्राह्मण का ही अधिकार है। मोक्ष-रूपी फल को प्रधानता से यद्यपि शास्त्र और वीभत्स प्रधानता का अवलम्बन कर सकते है तथापि मोक्ष का प्रचुर प्रयोग नहीं होता। अतः चतुर्विध पुरुषार्थों में पुरुषार्थ प्रवर मोक्ष से अनुप्राणित शान्त और वीभत्स रस का वीरादि से भिन्न रसों के अध्याय से अवस्थापन होता है। इस प्रकार रूपकों में रस का स्थान परमार्थतः पुमर्थ के आश्रय से ही होता है, तथापि इतिवृत्त विस्तृता के कारण रसान्तरों का प्रयोग तदङ्गभूता होता है। अत एव इतिवृत्त के प्रधान रूप (नाटक) की चेष्टा के सम्बन्ध में वृत्ति-वैचित्र्य उचित ही है। उत्सृष्टिकाङ्क प्रहसन और भाण करुण, हास्य और विस्मय रस प्रधान होने के कारण रञ्जन ही फल है, अतः इनके अधिकारी स्त्री, बालक और मूर्ख हैं।

यदाह—

आद्ये वाक्चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेन चाष्टविधे ।
षोडशधा फलवृत्तिस्तद्द्वयतोऽनेकधा तु रसभेदात् ॥

तदत्र केचिदाहुः—सात्वत्यां यद्यपि कैशिकी शक्यान्तर्भावा तथापि रञ्जकत्वातिशयात्, पृथगुपात्तात्, स्वरवम्मुखजाभिनयतश्च, न वा-यायवत्ती (वृत्तित्वं) पुमर्थचतुष्कयोगोपपत्तिविप्रतिषेधात्, फलवृत्तौ च वृत्तिसामान्यलक्षणं व्यापाररूपत्वं यदि नास्ति तत्कथं वृत्तित्वम् । अस्ति चेद्वाक्चेष्टातिरिक्तो मानसो व्यापारो न कश्चित् लोकसिद्ध इति सूक्ष्मो वाक्चेष्टागत एवोपेत्यः। ततश्च मरणमूर्छादावपि प्राणात्मकायोयव्यापारसंभव एव यदनुस्मरणे लयतालगानानि प्रवर्तन्ते संवेदनमपि च मूर्छादौ नास्तीति शक्यं वक्तुमिति फलवृत्तिरपि तत्र कथम्। तस्मात्तत्र सात्वत्येव वृत्तिः । यदि बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयं काव्यमिति व्यवहारो रूपकसमुदायापेक्षया खण्डस्यावृत्तिकत्वेऽपि समुदितस्य रूपकस्य वृत्तिमयत्वात् ।

इसमें इतिवृत्त भी विस्तीर्ण नहीं होता और इतिवृत्त में वैचित्र्य भी नहीं होता। जैसे—उत्सृष्टिकाङ्क में तीनों बृत्तियों का वाणी से ही निषेध है तो यहाँ भारती वृत्ति भी कैसे होगी ? चेष्टा तो करुण रस में अप्रधान है, परिदेवितात्मिका भारती वृत्ति तो उपकरण है अतः यहाँ फलसंवित्ति नामक बृत्ति रहती है। वाणी और चेष्टा फल का अनुभव है जिसका लक्षण है वहाँ फलानुभवरूपा वृत्ति का अभ्युपगम करना चाहिए। यहाँ यह आवश्यक है, अन्यथा मूर्च्छा और मरण आदि में वाक् और चेष्टा के अभाव में कोई वृत्ति नहीं रहेगी। और भी यदि काम रूप पुरुषार्थ के उद्देश से कैशिकी वृत्ति का अभिधान करेंगे तो धर्म एवं अर्थ के उद्देश्य से दो वृत्तियों को कहना पड़ेगा। इसलिए चेष्टात्मिका अन्यावृत्ति और वाक् रूपा अन्या वृत्ति तथा तत्फलभूता फलसंवित्ति तीसरी वृत्ति माननी पड़ेगी, ये तीन वृत्तियाँ ही युक्त है, यह भट्टोद्भट का मत है। जैसा कि कहा है—

"वाणी और चेष्टा का चारों पुरुषार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर आठ प्रकार की वृत्तियाँ होगी, फिर फलवृत्तियाँ होने से उसके दुगुने सोलह प्रभेद वृत्तियों के होंगे। फिर रसों के भेद से वृत्तियाँ अनेक प्रकार की होगी।"

यच्छाकलीगर्भमतानुसारिणो मूर्छादावात्मसंवित्तिलक्षणां पञ्चमीं वृत्तिं सकलकार्यनिवृत्त्यनुमेयां मूर्च्छाकर्मानुभावेन च फलेनावच्छिन्नामात्मव्यापाररूपां मन्यन्ते, न च परिस्पन्द एवैको व्यापार इति मनसिकृत्य तन्मतं भावानां बाह्यग्रहणस्वभावत्वमुपपादयद्भिः भट्टलोल्लटप्रभृतिभिः पराकृतमिति न फलवृत्तिर्वा काचिदिति चतस्र एव वृत्तयः इति।

इस विषय में कुछ आचार्य कहते हैं—यद्यपि सात्त्वती में कैशिकी का अन्तर्भाव सम्भव हैं तथापि मनोरञ्जन की अधिकता के कारण तथा वागभिनय के कारण स्वरों की तरह कैशिकी का पृथग् उपादान होने से इन स्वीकृत वृत्तियों से भिन्न वृत्तियों में वृत्तित्व कैसे रहेगा? क्योंकि इन चारों पुरुषार्थों के योग की उपपत्ति न होने से इन स्वीकृत वृत्तियों से भिन्न वृत्तियों में वृत्तित्त्व कैसे रहेगा? यदि वृत्तियों का सामान्य लक्षण व्यापारत्व उनमें नहीं हो तो फलवृत्ति में वृत्तित्व कैसे रहेगा? यदि यह कहा जाय कि वृत्तियों का सामान्य लक्षण व्यापार उनमें है तो वाणी और चेष्टा से भिन्न मानस व्यापार लोकप्रसिद्ध नहीं है तो वाणी और चेष्टा में कोई सूक्ष्म व्यापार मानना पड़ेगा। अतः मरण और मूर्च्छा आदि में प्राणीय और कायिक (शारीरिक) व्यापार सम्भव होगा। जिसके अनुस्मरण करने पर ताल, लय एवं गायन की प्रवृत्ति होती है। यदि मूर्च्छा आदि में संवेदन नहीं है तो वहाँ फलवृत्ति कैसे होगी? अतः वहाँ सात्त्वती वृत्ति है। यदि बाहुल्य की अपेक्षा के अनुसार रूपक समुदाय की अपेक्षा से सभी काव्य वृत्तिमय है तो खण्डकाव्य के वृत्तिरहित होने पर भी समुदित रूपक वृत्तिमय होंगे।

जो शाकली गर्भ के मतानुयायी विद्वान् मूर्च्छा आदि में सकल कार्यों की निवृत्ति से अनुमेय मूर्च्छा कर्म के अनुभाव रूप फल से युक्त आत्मव्यापाररूपा आत्मसंवित्ति लक्षणा पञ्चमी वृत्ति स्वीकार करते हैं उनके मत में परिस्पन्द ही एक व्यापार नहीं है, यह बात मन में रखकर उनके मत को भावों में बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्व रूप स्वभाव का उपपादन करने वाले भट्टलोल्लट आदि ने निराकृत कर दिया, अतः फलवृत्ति नाम की कोई अतिरिक्त वृत्ति नहीं है। अतः वृत्तियाँ चार ही हैं।

वयन्तु ब्रूमः। कोऽयमस्थानसन्त्रासः ? यत्किञ्चिदिह नाट्ये समस्ति तच्चेद् वृत्तिष्वन्तर्भाव्यं तदा भवेदेतत्—न चैवम्। रङ्गो हि नाम का वृत्तिः, मृदङ्गपणव-वंशाद्या का वृत्तिरपि हि भवेत्। तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्रैव वर्ण्यंत इत्यतो वृत्तयः। काव्यस्य मातृका इति न हि किञ्चिद्व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति। मदमूर्छादिवर्णनायामपि मनोव्यापारस्य सात्त्वत्याख्यस्य संभवात्, करुणादावपि च मनोदेहव्यापारसंभवेऽपि बाहुल्येन वाग्व्यापारसंभवाद् भारती-वृत्तिरुच्यते। वृत्त्यन्तरनिषेधस्तु तदङ्गानामपरिपूर्णत्वात्। न च कायवाङ्मानस-व्यापारं तद्वैचित्र्यं वान्तरेणान्यः कश्चिद् व्यापारः संभवतीत्यसकृदुक्तम्। तस्मात्क-रुणप्रधाने भारती वृत्तिः परिदेवितबाहुल्यात्।

यत्तु 'शृङ्गारहास्यकरुणैरिह कैशिकी स्यात्' इति कोहलेनोक्तं तन्मुनिमत-विरोधादुपेक्ष्यमेव, तस्य यत्र यत्रानुल्बणा चित्तवृत्तिः सा सा कैशिकीत्याशयः। एवं प्रहसनभाणयोरपि वाग्व्यापारप्राधान्यादेव भारती वृत्तिः, मूर्छादौ तु व्यापारा-भावे वृत्त्यभाव एव। न हि सर्वं नाट्यं वृत्तिमयत्वतया समर्थनीयमित्यलमति-प्रसक्त्या॥ ११२॥

हम तो कहते हैं कि यह कौन सा अकारण उत्पन्न संत्रास है ? क्योंकि जो कुछ भी यहाँ नाट्य में है वह सब वृत्तियों में अन्तर्भाव्य है तब तो चौथी या पाँचवी वृत्ति मानना सामान्य है। किन्तु ऐसा रोष नहीं, क्योंकि रङ्गमञ्च कौन सी वृत्ति है ? मृदङ्ग, प्रणव, वंशी आदि कौन वृत्ति हो सकता है ? अतः पुरुषार्थ साधक व्यापार ही वृत्ति है, उसका तो सभी जगह वर्णन है, इसलिए वृत्ति है और वे वृत्तियाँ काव्य (नाट्य) की मातायें हैं (**वृत्तयो नाट्यमातरः**) क्योंकि कोई कार्य व्यापार शून्य नहीं होता। मदजनित मूर्च्छा आदि के वर्णना में सात्त्वती नामक मनोव्यापार हो सकता है तथा करुणादि में भी मानसिक एवं दैहिक व्यापार होने पर भी अधिकतर वाणी का व्यापार होने से भारती वृत्ति कही जाती है। वृत्त्यन्तर का निषेध तो उनके अङ्गों से पूर्ण न होने के आधार पर होता है। कायिक, वाचिक और मानस व्यापार अथवा उनके वैचित्र्य के विना अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता, इसे बार-बार कह चुके हैं। इसलिए करुण प्रधान काव्य में परिदेवन (विलाप) की बहुलता होने से भारती वृत्ति रहेगी।

भाणस्यापि हि निखिलं लक्षणमुक्तं तथागमानुगतम् ।
वीथ्या संप्रति निखिलं कथयामि यथाक्रमं विप्राः ! ॥ १११ ॥
सर्वरसलक्षणाढ्या युक्ता ह्यङ्गैस्त्रयोदशभिः ।
वीथी स्यादेकाङ्का [1]तथैकहार्या द्विहार्या वा ॥ ११२ ॥

अथ सर्वान्ते सर्वरसमयत्वादविततस्वभावत्वाच्च संक्षेपेण शक्यव्युत्पत्तिदायिनीत्वेन प्रधानभूतत्वात्तदङ्गानां च नाटिकादिभाणान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वाद् वीथीं लक्षयति ।

एकहार्येरित्याकाशपुरुभाषितैरित्यर्थः, द्विहार्येति उक्तिप्रत्युक्ति वैचित्र्येणेत्यर्थः ।

और जो "शृङ्गार, हास्य और करुण के योग से यहाँ कैशिकी वृत्ति होती है" ऐसा कोहलाचार्य ने कहा है, वह मुनि के मत से विरुद्ध होने के कारण उपेक्ष्य हो है, उसका आशय यह है कि जहाँ-जहाँ अनुल्वण चित्तवृत्ति है वहाँ-वहाँ कैशिकी वृत्ति है। इस प्रकार प्रहसन और भाण में भी वाणी के व्यापार की प्रमुखता होने से भारती वृत्ति ही है। मूर्च्छा आदि में व्यापार का अभाव होने से वृत्ति का अभाव ही है। समस्त नाट्य वृत्तिमय होने से समर्थनीय है, ऐसी बात भी नहीं है ।

अनुवाद—इस प्रकार आगम (शास्त्र) के अनुसार भाण का निखिल लक्षण मैंने कह दिया है। हे ब्राह्मणों ! अब मैं यथाक्रम वीथी के निखिल लक्षण को कहूँगा ॥ १११ ॥

अभिनव—अब सभी रूपकों के अन्त में सर्व रसमय होने से अतिविस्तृत स्वरूप न होने से संक्षेप में व्युत्पत्ति प्रदान करने में समर्थ होने से और प्रधान होने से उनके अङ्गों के नाटिका से भाण पर्यन्त समस्त रूपकों के उपजीव्य होने से वीथी का लक्षण बतलाते हैं—

अनुवाद—समस्त रसों के लक्षणों से सम्पन्न तथा तेरह अङ्गों से युक्त और एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा अभिनेय एक अङ्क वाली वीथी होती है ॥ ११२ ॥

अभिनव—एकहार्या का अर्थ है एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त आकाशभाषित के द्वारा। द्विहार्या का अर्थ है दो पक्षों के उक्ति-प्रत्युक्ति के वैचित्र्य से ॥ ११२ ॥

---

१. ख. द्विपात्रहार्यातथैकहार्या वा ।

अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात्प्रकृतिभिस्तिसृभिः ।
[1]उद्घात्यकावलगितावस्यन्दितनाल्यसत्प्रलापाश्च ॥ ११३ ॥
वाक्केल्यथ प्रपञ्चो मृदवाधिबले छलं त्रिगतम् ।
व्याहारो गण्डश्च त्रयोदशाङ्गान्युदाहृतान्यस्याः ॥ ११४ ॥
त्रयोदशसदाङ्गानि वीथ्यामेतानि योजयेत् ।
लक्षणं पुनरेतेषां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११५ ॥

अङ्गान्युद्दिशति—

उद्घात्यकावलगितावस्यन्दितनाल्यसत्प्रलापाश्च ।
वाक्केल्यथ प्रपञ्चो मृदवाधिबले छलं त्रिगतम् ।
व्याहारो गण्डश्च त्रयोदशाङ्गान्युदाहृतानीति ।

इत्युदाहरणमात्रमेतदिति यावत् ॥ ११३-११४ ॥

अब वीथी के अङ्गों का निर्देश करते हैं—

अनुवाद—वीथी में उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के पात्र होते हैं। बुद्घात्मक, अवलगित, अवस्यन्दित, नाली, असत्प्रलाप, वाक्केली, प्रपञ्च, मृदव, अधिबल, छल, त्रिगत, व्याहार और गण्ड ये वीथी के तेरह अङ्ग कहे गये हैं ॥ ११३-११४ ॥

अभिनव—वीथी के अङ्गों का कथन करते हैं। उद्घात्यक, अवलगित, अवस्यन्दित, नाली, असत्प्रलाप, वाक्केली, प्रपञ्च, मृदव, अधिवल, छल, त्रिगत व्याहार और गण्ड ये तेरह अङ्ग गिनाये गये हैं ॥ ११३-११४ ॥

अब क्रमशः इनका लक्षण कहते हैं —

अनुवाद—वीथी में इन तेरह अङ्गों की सदा योजना करनी चाहिए। अब क्रमशः मैं इनके लक्षणों को कहूँगा ॥ ११५ ॥

---

१. क. ग. उद्घात्यकावलगिते ह्यवस्पन्दितमेव च ।
असत्प्रलापश्च तथा प्रपञ्चो नालिकापि वा ।
वाक्केल्यधिबलं चैव च्छलं व्याहार एव च ।
मृदवं त्रिगतं चैव ज्ञेयं गण्डमथापि वा ।
त्रयोदश सदाङ्गानि वीथ्यामेतानि योजयेत् ।
लक्षणं पुनरेतेषां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।

पदानि 'त्वगतार्थानि ये नराः'[2] पुनरादरात् ।
योजयन्ति[3] पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥ ११६ ॥

एतानि क्रमेण लक्षयति—पदानि त्वगतार्थानीति ।

नन्वेषामुक्तिवैचित्र्यरूपत्वं चेल्लक्षणालङ्कारादिभ्यः को भेदः ? इतिवृत्तोपकरणरूपत्वे तु सन्ध्यङ्गेभ्यः कथमन्यता, रसोपकरणतायां वृत्त्यङ्गेष्वन्तर्भावः । न चैतद् व्यतिरिक्तमेषां सामान्यलक्षणमस्ति । तत्र केचिदुक्तलक्षणादिविशेषरूपत्वमेवैषां प्रतिपादयन्ति, विवेचकास्तु तद्व्यतिरिक्तान्येवैतानीत्याहुः ।

तथाहि प्रश्नप्रतिवचनयोरन्याभिप्रायरूपेण योगेन यद्वैचित्र्यं तद्वीथ्यङ्गम्, अत एवोदाहृतानीत्येषां सामान्यलक्षणम् । उदाहृतानि प्रतिवचनानीत्यर्थः । तानि च सर्वाणि प्रतिवचनशून्यस्य काव्यस्याभावात् तेन विचित्राणीति लभ्यन्ते । अत एव वीथी पङ्क्तिरन्योत्तरासहिष्णुत्वात् विचित्रोक्तिप्रत्युक्तिगर्भत्वात्, लक्षणालङ्कारादीनां तु नोक्तिनियतं रूपमिति विशेषः । तत्र यदा विवक्षितमुत्तरं दातुं शक्तोऽयं स्यादिति यन्मम मनसि वर्तते तदेव वक्ति न वेत्येवमादिना निमित्तेन यदा प्रष्टैव

१. उद्घात्यक

अब क्रम से इनका लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जो मनुष्य अगतार्थ पदों के अर्थ प्रतीति के लिए अन्य पदों के साथ आदर पूर्वक योजना करते हैं, उसे 'उद्घात्यक' कहते हैं ॥ ११६ ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि वीथी के ये उद्घात्यकादि अङ्ग यदि उक्ति के वैचित्र्य रूप हैं तो लक्षण और अलङ्कारों से इनका भेद क्या होगा ? यदि इन्हें इतिवृत्त का उपकरण मानते हैं तो सन्ध्यङ्गों से इनकी भिन्नता कैसे रहेगी ? यदि रस का उपकरण मानते हैं तो वृत्ति के अङ्गों में इनका अन्तर्भाव हो जायेगा और इनके अतिरिक्त इनका कोई सामान्य लक्षण नहीं है । उत्तर देते हैं कि कोई आचार्य उक्त लक्षणों के उनका विशेषरूपता प्रतिपादन करते हैं, किन्तु विवेचक लोग तो इन्हें लक्षणों से व्यतिरिक्त (अलग, भिन्न) ही कहते हैं ।

१. क-भ. हि गतार्थानि । तु गतार्थानि ।
२. ग. यैर्नराः । ख. यन्नराः । क-न. ये नराः स्वल्पबुद्धयः ।
३. क-न. पर्यायैरव बाध्यन्ते । क-भ. पश्चात् पदैः प्रपद्यन्ते ।

प्रतिवचनं वैचित्र्यमभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्तोचितमभिधत्ते तदा तदुत्तर-मुद्घात्यकम्। प्रश्नात्मके उद्घाते साध्विति यत्, तत्राज्ञातार्थे कन्। पदान्यगतार्थानि प्रश्नरूपाण्यादरात्कृतानि पर्यायैः पदान्तरैरुत्तररूपैः नराः सुधियो योजयन्ति। तदुत्तरपदसमूहात्मकमुद्घात्यकम्। यथा पाण्डवानन्दे—

का भूषा बलिनां क्षमा, परिभवः कोऽयं सकुल्यैः कृतः,
किं दुःखं परसंश्रयो, जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं, शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः,
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे च्छन्नस्थितैः पाण्डवैः॥ ११५॥

और भी प्रश्नोत्तर से भिन्न अभिप्राय के योग में जो वैचित्र्य है वह वीथी का अङ्ग है। इसलिए 'उदाहृतानि' यह इनका सामान्य लक्षण कहा गया है। 'उदाहृतानि' पद का अर्थ है प्रतिवचन अर्थात् प्रत्युत्तर। अत एव प्रतिवचनों से शून्य काव्य में इनका अभाव होने से विचित्रता है, यह मिलता है। इसीलिए अन्य के उत्तरों को सहन न करने के कारण तथा विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति से मिश्रित होने के यह वीथी है, पंक्ति है। किन्तु लक्षण और अलङ्कारों का उक्ति-प्रत्युक्ति कोई रूप नियत नहीं है। इसका उससे विशेषता है। वहाँ यदि प्रतिवक्ता विवक्षित उत्तर देने में समर्थ होगा अथवा मेरे मन में जो है वह कहता है या नहीं? इत्यादि कारणों से जब प्रष्टा व्यक्ति अपने मन में विचित्र उत्तर का अनुसन्धान करके पूछता है और प्रतिवक्ता उचित उत्तर देता है तो वह उत्तर उद्घात्यक कहलाता है, प्रश्नात्मक उद्धात में जो साधु है वह 'उद्घात्यक' है। यहाँ अज्ञात अर्थ में कन् प्रत्यय है। अगतार्थ पद (अज्ञातार्थ) और आदर से किये गये प्रश्न रूप पदों के उत्तर रूप पर्याय पदान्तरों की योजना जहाँ नट करते हैं वह उत्तरभूत पद समूहात्मक वाक्य उद्घात्यक है। जैसा कि पाण्डवानन्द में—

"बलवानों का भूषण क्या है? क्षमा। परिभव क्या है? जो कुटुम्बियों द्वारा किया जाय। दुःख क्या है? दूसरे के आश्रय में रहना। संसार में श्लाघ्य कौन है? जिसका आश्रय लिया जाय। मृत्यु क्या है? व्यसन। शोकयुक्त कौन है? जिसने शत्रुओं को जीत लिया है। इस तथ्य को किसने जान लिया है? विराट नगर में छिपकर रहने वाले पाण्डवों ने।" ॥ ११६ ॥

यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत्प्रसाध्यते[1] ।
[2]तच्चावलगितं नाम विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः ॥ ११७ ॥
[3]आक्षिप्तेऽर्थे तु कस्मिश्चिच्छुभाशुभसमुत्थिते ।
[4]कौशलादुच्यतेऽन्योऽर्थस्तदवस्पन्दितं भवेत् ॥ ११८ ॥

यत्रान्यस्मिन्निति । यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसन्धानपूर्वकेऽप्यन्यत्कार्यं सिध्यति तान्यन्यकार्यावलगनादवलगितम् । यथा "अवि सुहाअदि दे लोअणाणा" मिति विदूषकेण पृष्टे (राज्ञः) "सुखयतोति किमुच्यते" इति "कृच्छ्रेणोरूयुग" मित्याद्युत्तरं वसन्तकप्रत्यायनोद्देश्येन प्रवृत्तमपि सागरिकागतमास्थाबन्धजोवितं मुख्यं शृङ्गाराख्यं कार्यं साधयतीति ॥ ११७ ॥

२. अवलगित

अनुवाद—जहाँ पर किसी अन्य कार्य का समावेश कर दूसरे कार्य की सिद्धि की जाय, उसे नाट्यप्रयोक्ताओं को 'अवलगित' समझना चाहिए ॥ ११७ ॥

अभिनव—जहाँ पर उत्तर दिये गये पर अन्य के अनुसन्धान पूर्वक उत्तर देने में दूसरा कार्य सिद्ध हो जाय, तो वहाँ अन्य कार्य के अवलगन होने से वह 'अवलगित' वीथ्यङ्ग कहलाता है। जैसे—रत्नावली में विदूषक ने राजा से पूछे जाने पर कि 'अरे मित्र ! आपके नेत्र सुख दे रहे हैं।' (अयि मित्र ! सुखयति ते लोचने) राजा उत्तर देता है कि 'सुखयति, इति किमुच्यते ?' यह कहकर 'कृच्छ्रेणोरुयुगम्' इत्यादि उत्तर यद्यपि वसन्तक को विश्वास दिलाने के उद्देश्य से हुआ तथापि सागरिका के आशाबन्ध जीवन मुख्य कामशृङ्गार को सिद्ध कर रहा है ॥ ११७ ॥

३. अवस्पन्दित

अनुवाद—जहाँ पर बिना सोचे समझे अनजान में किसी आक्षिप्त अर्थ के विषय में कुशलता से अन्य अर्थ को कहा जाता है वह 'अवस्पन्दित' कहलाता है ॥ ११८ ॥

1. ख. प्रशस्यते ।
2. क-न. परानुरोधात्तज्ज्ञेयं नाम्नावगलित बुधैः ।
3. ख. आक्षिप्य कंचिदर्थं शुभाशुभसमुत्थितम् ।
4. ख. यत्सृजेत्बुद्धिवंशद्यात् । क. उत्सृजेदबुद्धिवैकल्यात् ।

आक्षिप्ते त्विति। शुभाशुभं दैवं तेनाबुद्धिपूर्वकं कुत्रचिदर्थे आक्षिप्तेऽपि कौशलात्तत्प्रच्छादनेच्छया यत्रोत्तरोऽन्योऽर्थं उच्यते तदवस्पन्दितं चक्षुःस्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसंभवात्। यथा—

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे।

अत्र दैववशादयमर्थं आयातः सत्पक्षे अमधुरा गोर्येषान्ते, तथा प्रकर्षेण साधिताः आधिसहिताः यैर्दिशः कृतः धृतराष्ट्रात्मजाः पतन्तीति। तत्रोत्तरं प्रतिहतममङ्गलम्। पुनः सूत्रधारः। ननु शरत्समयवर्णनया धार्तराष्ट्रा हंसा नभस्तलात् इति व्यपदिशामीत्यादि अवस्पन्दितत्वमेव सूचयति "न खलु न जाने किन्त्वमङ्गलत्वात् शङ्कितमेव मे हृदय" मिति ॥ ११८ ॥

अभिनव—'शुभाशुभम्' का अर्थ है दैव। जहाँ अबुद्धि पूर्वक अनजान में किसी अर्थ का आक्षेप होने पर भी कुशलता से उनके अर्थ को छिपाने की इच्छा से जहाँ दूसरा ही उत्तर कहा जाता है। उसे नेत्र के स्फुरण (फड़कने) से किसी अन्तर्हित (अज्ञान) अर्थ की सूचना मिलने के समान जहाँ अज्ञात अर्थ सूचना मिलती है, उसे 'अवस्पन्दित' या 'अवस्यन्दित' कहते हैं।

जैसे वेणीसंहार नाटक में—

"जैसे सुन्दर पक्ष (पंख) वाले, मधुर स्वर वाले मद से उद्धत प्रसन्नता से चपल गति वाले दिशाओं को सुशोभित करने वाले राजहंस समय के अनुसार पृथ्वी पर उतर रहे हैं, उसी प्रकार सुन्दर (उत्तम) पक्ष (सहायकों) वाले, मधुरभाषी, अपने पक्ष की आशाओं को सिद्ध करने वाले अथवा सम्पूर्ण दिशाओं अधिकार जमाये हुए मद से उद्धत अर्थात् उद्दण्ड स्वभाव वाले ये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि काल के वश मरकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं।"

यहाँ दैववशात् का यह अर्थ आशा है। प्रत्यक्ष में मधुर है, वाणी जिसकी, जिन्होंने दिशाओं को अच्छी तरह साधित कर लिया है अर्थात् वहाँ के लोगों को आन्तरिक व्यथा से ग्रस्त कर दिया है, ऐसे धृतराष्ट्र के लड़के गिर रहे हैं। इस पर नट का उत्तर है कि अमङ्गल नष्ट हो गया। पुनः सूत्रधार कहता है अरे! शरत् समय (शरदृतु) का वर्णन होने से राजहंस नतमस्तक पृथ्वी पर उतर रहे हैं, ऐसा मैं कह रहा हूँ, इत्यादि अवस्पन्दित को ही सूचित करता हूँ। मैं इस बात को नहीं जानता हूँ, ऐसो बात नहीं, किन्तु अमङ्गल होने से मेरा हृदय शङ्कित सा हो रहा है ॥ ११८ ॥

हास्येनोपगतार्थप्रहेलिका नालिकेति विज्ञेया ।
[1]एकद्विप्रतिवचना वाक्केली स्यात्प्रयोगेऽस्मिन् ।। ११९ ।।

हास्येनोपगतार्थेति प्रहेलिका परवितारणकारि यदुत्तरं, अत एव हास्ययुक्ता सा नालिका प्रणालिका व्याजेत्यर्थं । प्रकर्षेण हेलिका नर्मादिक्रीडारूपं यस्या सा प्रहेलिका ।

यथा—

सुसंगता—"जस्य किदे तुमं आअदा सो एत्थ एव्व चिट्ठदि ।"

सागरिका—"सहि ! कस्स किदे ।"

सुसङ्गता—(सहासम्) "अइ अप्पसङ्किदे ! णं चित्तफलअस्स ।"

अनया भङ्ग्या आच्छादितं च गर्भगतं चास्य वस्त्विति । एकद्विप्रतिवचनेति । एकं द्वयोः प्रतिवचनमस्याम् । द्विग्रहणमनेकोपलक्षणम् । तदमुना सर्वं प्रश्नोत्तरवर्गः स्वीकृतः । यथा—

---

४. नालिका तथा ५. वाक्केली

अनुवाद—हँसी, मजाक में जहाँ अर्थ उपगत (प्रतीत) हो, उस प्रहेलिका को 'नालिका' कहते हैं और जिस प्रयोग में एक, दो उत्तर-प्रत्युत्तर हो, उसे 'वाक्केली कहते हैं ।। ११९ ।।

अभिनव—जहाँ परिहास में अर्थ की उपलब्धि हो जाय वह 'प्रहेलिका' है । जिसका उत्तर दूसरे के वितारण करने वाला या छलने वाला होता है । इसलिए हास्य से युक्त होने से वह 'नालिका' या प्रणालिका का बहाना है । प्रकर्ष से हेलिका अर्थात् नर्मादि क्रीड़ामय रूप है जिसका वह प्रहेलिका है । जैसे रत्नावली में—

सुसंगता—सखि ! जिसके लिए तुम आई हो, वह यहीं पर है ।

सागरिका—सखि । कस्य कृते (किसके लिए ?)

सुसङ्गता—(सहासम्) अरे ! आत्मशङ्किते ! चित्र फलक के लिए ।

इस प्रकार व्याज से (शैली से) मन की बात छिपा दो जाती है और जहाँ पर दोनों के लिए एक ही उत्तर हो वह वाक्केली है । यहाँ 'द्वि' पद अनेक का उपलक्षण है । इसलिए इससे समस्त प्रश्न वर्ग और उत्तर वर्ग का ग्रहण होता है । जैसे—

---

१. ख. हास्येनावगतार्था ।
ना० शा०—९१

मूर्खजनसन्निकर्षे हितमपि यत्र प्रभाषते विद्वान् ।
[1]न च गृह्यतेऽस्य वचनं विज्ञेयोऽसत्प्रलापोऽसौ ॥ १२० ॥

नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते ।
बाह्यान्तरा विजेतव्याः के नाम कृतिनोऽरयः ॥ ११९ ॥

मूर्खजनसन्निकर्षं इति यदुत्तरं मूर्खं प्रति वस्तुतो हितमपि शब्दच्छलाद्यथा प्रियं तादृशं च मूर्खे प्रियांशेन गृह्यते न तु हितांशेन। तथाभूतभङ्गीद्वयाश्रयणं च सिद्धत्वात्करोति। एवं हि तात्कालिकः कोपोऽपि रक्षितो भवति प्रियाभिधायित्वात्। यथा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे तेनोत्तरं दीयते—

"मेघों के चले जाने पर नदियों की क्या शोभा प्रतिभासित होती है। कौन कृती है जिसके लिए अन्तः शत्रु और बाह्य शत्रु विजेतव्य है" अर्थात्—जिसका बाह्य शत्रु और अन्तः शत्रु अभी विजेतव्य है वह कृती कैसे है ? ॥ ११९ ॥

६. असत्प्रलाप

अनुवाद—जहाँ पर विद्वान् पुरुष मूर्खजनों के सम्पर्क में अर्थात् मूर्खजनों के लिए हित की बात करता है किन्तु मूर्ख उसके वचन को ग्रहण नहीं करता, उसे 'असत्प्रलाप' समझना चाहिए ॥ १२० ॥

अभिनव—यदि एक उत्तर शब्दच्छल से मूर्खजन के प्रति वस्तुतः उसके हित के लिए हो जैसे प्रिय और हितकारी वचन कहा जाय और मूर्ख प्रियांश को ग्रहण कर ले और हितांश को छोड़ दें। इस प्रकार शैली से प्राप्त दो में से सिद्ध होने के कारण एक आश्रय लेता है। इस प्रकार प्रिय मधुर कथन (वाक्य) होने से तत्कालिक कोप नहीं रहता, किन्तु यथार्थ कथन होने से कालान्तर में कोप का होना सम्भव है। जैसे किसी व्यसनी राजपुत्र के 'सुख क्या है ?' पूछे जाने पर वह उत्तर देता है—

---

१. ब. वचनं न गृह्यतेऽस्य संज्ञेयोऽसत्प्रलापस्तु ।

यदसद्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः परस्परं यत्तु ।
एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः स्यात् ॥ १२१ ॥

सर्वथा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्परः ।
तस्यार्थानां सुखानां च समृद्धिः करगामिनि ॥

असतोऽसाधुभूतस्य वस्तुनः प्रलपनमस्मिन्नित्यसत्प्रलाप इति ॥ १२० ॥

यदसद्भूतमिति यथा रत्नावल्याम् "सुसङ्गते" कथमहमिहस्थो भवत्या ज्ञातः" इति राजन्युक्तवति सुसङ्गयोच्यते "ण केवलं भट्टा चित्तफलहेण, ता देवीए णिवेदइस्सं" इत्यादौ आभरणदानपर्यन्ते प्रपञ्चः । तथाहि—द्वयोः सागरिकासुसङ्गतयोः परस्परसंबन्धमाश्रित्यासद्भूतमसत्यं देव्यै निवेदयामीत्युक्तम् । संस्तवश्च तत्रास्ति "भट्टिणो पसादेण किमिदं मए' इति हास्यमपि परिहासरूपं विद्यते । एकस्य च राज्ञोऽर्थे प्रयोजने सागरिकासङ्गमे हेतुर्भवत्येवेति अन्यथाऽभिधानात्प्रपञ्चः ॥ १२१ ॥

"जो सर्वथा अक्षविजयी (इन्द्रियजयी अथवा जुए में विजय प्राप्त करने वाला) है तथा जो सुरासेवन में (देवताओं के आराधना में अथवा सुरा मदिरा के सेवन में) तत्पर है, उसके लिए सुख तथा धन को समृद्धि सदा करगामिनी (हस्तगत) है।"

इसमें असाधुभूत (असत्) वस्तु का प्रलपन (कथन) होने से 'असत्प्रलाप' है ॥ १२० ॥

७. प्रपञ्च

अनुवाद—जो परिचय (संस्तव) से युक्त दो व्यक्तियों के परस्पर असद्भूत वाक्य किसी के अर्थ के लिए हो, उसे हास्यजनक 'प्रपञ्च' समझना चाहिए ॥ १२१ ॥

अभिनव—असद्भूतमिति । जैसे रत्नावली में—'हे सुसङ्गते ! मैं यहाँ हूँ, कैसे आप ने समझ लिया' इस प्रकार राजा के कहने पर सुसङ्गता कहती है कि "मैं केवल आपको ही नहीं, अपितु इस चित्रफलक के साथ आपको समझती हूँ"। मैं जाकर महारानी से निवेदन करूँगी' इत्यादि में आभरण प्रदान पर्यन्त अंश में 'प्रपञ्च' है । तथाहि—सागरिका और सुसङ्गता दोनों के परस्पर सम्बन्ध के असद्भूत असत्य अर्थ का आश्रय लेकर देवी से निवेदन करती हूँ' इस प्रकार कहा इसमें उनको संस्तव (प्रशंसा) भी है । 'भट्टिनी के प्रसन्नता से बहुत पाया है' में हास्य भी परिहास रूप में विद्यमान है । तथा राजा के साथ सागरिका के मिलन रूप अर्थ में वह हेतु भी है । किन्तु अन्यथा अभिधान से यहाँ 'प्रपञ्च' है ॥ १२१ ॥

यत्कारणाद् गुणानां दोषीकरणं भवेद्विवादकृतम् ।
दोषगुणीकरणं वा तन्मृदवं [1]नाम विज्ञेयम् ॥ १२२ ॥

परवचनमात्मनश्चोत्तरोत्तरसमुद्भवं द्वयोर्यत्र ।
अन्योन्यार्थविशेषकमधिवलमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥ १२३ ॥

यत्कारणादिति गुणानां दोषत्वं दोषाणां वा गुणत्वं यत्र क्रियते तन्मृदवम् । विवादकृतमित्यनेन लक्षणाद्विशेषमाह, इदं वृत्यन्तरं स्वभावमित्यर्थः । यथा "शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्" (वेणी ३) इत्यत्र दोषस्य गुणीकरणं, विवादाकर्णनेन सह "यदि शस्त्रमुज्झितमशस्त्रपाणय" (वेणी-३) इत्यत्र कर्णवचनेन प्रतिज्ञातपरिपालनस्य गुणस्यापि दोषीकरणं विवादकृतमेव । मृदवमिति मर्दनं मृत् । परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति ॥ १२२ ॥

---

८. मृदव

अनुवाद—क्योंकि जहाँ किसी विवाद के कारण गुणों का दोषीकरण और दोषों का गुणीकरण हो, वहाँ 'मृदव' नामक वीथी समझना चाहिए ॥ १२२ ॥

अभिनव—जहाँ पर गुणों को दोष और दोषों को गुण कर दिया जाय, वहाँ 'मृदव' होता है । 'विवादकृतम्' इस पद से लक्षण को अपेक्षा विशेष को कहते हैं अर्थात् यह वृत्यन्तर या स्वभाव है । जैसे—'अब इसके शिर को कुत्ता, कौआ अथवा द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न स्पर्श करे" । यहाँ पर किसी महापुरुष के शिर का स्पर्श करना दोष है किन्तु विरागमूलक होने से यहाँ दोष गुण हो गया है । विवाद के श्रवण (सुनने) के साथ "यदि आपने अस्त्र छोड़ दिया, आपके हाथ में अस्त्र नहीं है" । यहाँ पर कर्ण के वचन से परिज्ञात परिपालन रूप गुण भी दोष हो गया है, क्योंकि यह विवाद के कारण हुआ है । 'मृदवम्' में मृद् का अर्थ मर्दन है और 'अव' का अर्थ है 'रक्षण' । अतः जहाँ पर पक्ष का मार्दव करके अपने पक्ष का रक्षण होता है वहाँ 'मृदव' होता है ॥ १२२ ॥

९. अधिवल

अनुवाद—जहाँ पर अपने तथा दूसरे के वचन दोनों के उत्तरोत्तर उठने वाले दोनों वाक्य परस्पर के सम्बन्ध होने से अर्थ विशेष का लाभ होता है, उसे 'अधिवल' समझना चाहिए ॥ १२३ ॥

---

१. ख. ग. नामापि ।

अन्यार्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धानहास्यरोषकरम् ।

परवचनमात्मनश्चेति परस्य वचनमात्मनश्च वचनं परस्परमर्थविशेषलाभो यत्र भवतीत्युत्तरोत्तरस्याधिकाधिकस्यार्थस्य समुद्भवो यत्र तदधिबलम् । एतदुक्तं भवति—यत्रोक्तिप्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे परस्परज्ञानोपजीवनबलात्स्वपक्षसुघटितादधिबलसंबन्धादधिबलम् । यथा नागानन्दे "रागस्यास्पदमित्यवैमो"त्यादित आरभ्य विदूषकेण सहोक्तिक्रमेण स्वपक्षो व्रढिमानमानीतो यावदाह "ननु शरीरतः प्रभृति-सर्वमेव मया परार्थं प्रतिपाल्यते' (अ–१) इति ॥ १२३ ॥

अन्यार्थमेव वाक्यमिति यद्वाक्यं प्रयोजनान्तरमुद्दिश्य वचनमुच्यमानं कस्य-चिद्वचनमन्यस्य हास्यमपरस्य रोषं जनयति तच्छलम् । यथा—

कस्स व ण होई रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम् ।
सभमरपदुमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम् ॥

अभिनव—पर का वचन और अपना वचन । इन दोनों का परस्पर में सम्बन्ध होने से, जहाँ अर्थ विशेष का लाभ होता है। अतः जहाँ उत्तरोत्तर अधिक अथ का समुद्भव हो तो वहाँ 'अधिवल' होता है। यह कहा गया है कि जहाँ उत्तर और प्रत्युतर के क्रम में किये गये परस्पर एक दूसरे को जानकारी के बल से और स्वपक्ष से सुघटित किये गये अधिक बल के सम्बन्ध से 'अधिवल' होता है। जैसे—नागानन्द नाटक में "राग के स्थान को मैं समझता हूँ" यहाँ से विदूषक के साथ उक्तिक्रम से अर्थात् उत्तर-प्रत्युत्तर में अपने पक्ष को दृढ़ता से रखने पर्यन्त जो कहा है—"मैं तो अपने शरीर से लेकर सब कुछ परोपकार के लिए सुरक्षित रखता हूँ।" इत्यादि ॥ १२३ ॥

१०. छल

अनुवाद—किसी अन्य प्रयोजन से अभिसन्धि से दूसरे के लिए प्रयुक्त हास्य और रोषकारक वाक्य को 'छल' कहते हैं।

अभिनव—जहाँ एक वाक्य को किसी अन्य प्रयोजन के उद्देश्य से कहा जाय, किन्तु उससे किसी को हास्य होता है और दूसरे को रोष उत्पन्न होता है, उसे 'छल' कहते हैं। जैसे—

"अपनो प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे रोष नहीं होता, अतः रोकने पर भी विपरीत काम करने वाली भ्रमरयुक्त कमल के सूँघने वाली वामे! अब उसके परिणाम को भोगो।"

प्रत्यक्षवृत्तिरुक्तो व्याहारो हास्यलेशार्थः ॥ १२४ ॥

एतद्वचनं सखीसंबन्धि भर्तृप्रत्यायनं प्रयोजनमुद्दिश्य प्रयुक्तं तस्य पत्न्या अपि संबन्धिनां छलं, विदग्धजनस्य हास्यं, सपत्न्या रोषं जनयति।

प्रत्यक्षवृत्तिरिति प्रत्यक्षशब्देन भावी प्रत्यक्ष उच्यते। तदयमर्थः—भाविनि प्रत्यक्षेऽर्थे दैववशाद् वृत्तिर्यस्य स व्याहारः विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन। यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचिं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां गौरीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥ (रत्नावली-२)

---

११. व्याहार

अनुवाद—हास्य के लेश से युक्त अर्थ जहाँ भावी प्रत्यक्ष अर्थ में कहा जाय, उसे 'व्याहार' कहते हैं ॥ १२४ ॥

यह कथन सखी के सम्बन्ध में पति को विश्वास दिलाने के उद्देश्य से कहा गया है, किन्तु यह वचन पत्नी के सम्बन्धियों के लिए 'छल' है, अर्थात् सम्बन्धियों के वञ्चना के लिए है, विदग्धजनों के हास्य के लिए तथा सौतों के रोष के लिए है अर्थात् सौतों को रोष करता है।

प्रत्यक्षवृत्तिरिति—यहाँ प्रत्यक्ष शब्द भावी प्रत्यक्ष को कहता है। अतः उसका यह अर्थ है। जहाँ भावी प्रत्यक्ष अर्थ में देववशात् जिसकी वृत्ति हो वह 'व्यापार' है। जिससे विविध अर्थ अभिनेय हो, वह 'व्याहार' है। जैसे रत्नावली में—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचिं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां गौरीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥ (रत्नावली—२)

क्षण भर में कलियों से लदी, पाण्डुर वर्ण, विकसित होने वाली, निरन्तर बहने वाले वायु के झकोरों से अपना संचारजन्य खेद को बढ़ाती हुई, मदन नामक वृक्ष से युक्त उद्यानलता को अन्य नारी के समान देखते हुए मैं आज निश्चय ही देवी के मुख को क्रोध से कुछ-कुछ लाल कर दूंगा।"

यहाँ राजा का वासवदत्ता के प्रति भावी विषयक अर्थ वाला यह कथन व्याहार है।

[1]श्रुतिसारूप्याद्यस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्नियुज्यन्ते ।
यद्धास्यमहास्यं वा [2]तन्त्रिगतं नाम विज्ञेयम् ॥ १२५ ॥

श्रुतिसारूप्यादिति शब्दसारूप्याद् बहव इति प्रश्नप्रतिवचनस्य स्वभावा यत्र नियुज्यन्ते युक्तिभिरिति काक्वादीनां तथैवोपपत्तिभिः । त्रिशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतं वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेकप्रश्नासाधारणम् । इह तु य एव प्रश्नस्तदेव प्रतिवचनमिति विशेषः । यथा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ ! दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् त्वया विरहिता मया ॥ (विक्रमो)

अत्रैतदेवोत्तरं साकांक्षाकाकुप्रयोगेऽपि प्रतिबिम्बे वामदक्षिणवैपरीत्यवन्निराकाक्ष-काकुः संवृत्ता यत एतद्धास्यम् । एवमहास्य उदाहार्यम् ॥ १२५ ॥

१२. त्रिगत

अनुवाद—श्रुति सारूप्य अर्थात् शब्दों की समानता के कारण युक्ति से जहाँ अनेक अर्थों को योजना हो उसे हास्य रूप अथवा अहास्य रूप 'त्रिगत' समझना चाहिए ॥ १२५ ॥

अभिनव—शब्द सारूप्य के कारण बहुत से प्रश्न एवं उत्तर रूप अर्थ जहाँ काकु आदि की युक्तियों से नियोजित होते हैं वह 'त्रिगत' है। यहाँ 'त्रि' शब्द अनेक का उपलक्षण है। अनेक अर्थों में जो गत है अतः त्रिगत है। वाक्य में मुख्य उत्तर है जो अनेक प्रश्नों के लिए साधारण है। यहां तो जो प्रश्न है वही प्रतिवचन है, यही विशेषण है। जैसे विक्रमोर्वशीय में—

"हे क्षितिभृन्नाथ ! (पृथ्वीपति) इस रमणीय वन में मुझसे वियुक्त सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी को तुमने देखा है ?"

यहाँ जो प्रश्न है वही त्वया, मया और वैपरीत्य कर देने पर वही उत्तर होता है। यहाँ साकाङ्क्ष काकु के प्रयोग में भी यही उत्तर है। बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब में दायें-बायें का वैपरीत्य है उसी प्रकार यहाँ निराकाङ्क्ष काकु हो गई, क्योंकि यहाँ हास्य भी है। इसी प्रकार अहास्य का भी उदाहरण समझना चाहिए ॥ १२५ ॥

१. क. प्रत्यक्षवृत्तिरुक्तो ।
२. ख. ग. श्रुतिसारूप्यार्थात्मनि । ख. ग. त्रिगतं नामापि विज्ञेयम् ।

संरम्भसंभ्रमयुतं विवादयुक्तं तथापवादकृतम् ।
बहुवचनाक्षेपकृतं गण्डं प्रवदन्ति तत्त्वज्ञाः[1] ॥ १२६ ॥

संरम्भसंभ्रमयुतमिति संरम्भेणाकृतिविशेषेण यः संभ्रम आवेगः तद्युक्तं यद्-विरुद्धं वस्तु यदनेन कृत पूर्वोक्तवस्त्वपवदमेव च तद्वचनं दृष्टार्थगर्भत्वात् । गण्ड इव गण्डः। ईषदसमाप्तं वचनं बहुवचनं तत्कृतेनाक्षेपेण कृतं स्वयं प्रतिवचनतां पूर्व-वचनस्य गतमित्यर्थः । तथा च कोहलः—

वचसां सम्बद्धानामन्ते यस्स्यात्पदे स्वसंबन्धः ।
संबद्धमिवाभाति हि तद्गण्डो नाम वीथ्यङ्गम् ॥

अनेनेषदसमाप्तिरेव दर्शिता । यथा दुर्योधनेन भानुमतीं प्रत्युच्यते—

अध्यासितुं एव चिराज्जघनस्थलस्य ।
पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥ इति (वेणी०)

१३. गण्ड

अनुवाद—जहाँ सम्भ्रम, संरूप विवाद, अपवाद तथा आक्षेप से युक्त बहुतों से वचन हो, तत्त्ववेत्ता उसे 'गण्ड' कहते हैं ॥ १२६ ॥

अभिनव—संरम्भ अर्थात् आकृति विशेष से जो सम्भ्रम या आवेग है उससे युक्त जो विरुद्ध वस्तु जो उसने किया है वह पूर्वोक्त वस्तु अपवदन है, क्योंकि वह वचन पूर्वदृष्ट अर्थ से गर्भित है। गण्ड (फोड़े) की तरह जो हो वह 'गण्ड' है। जो वचन ईषदसमाप्त है वह बहुवचन है। बहुवचन कृत आक्षेप से विहित अर्थात् स्वयं पूर्व वचन की प्रतिवचनता से गत है । जैसा कि कोहल ने कहा है—

"अनेक सम्बद्ध पदों के अन्त में जो पद हों उसमें असम्बन्ध जहाँ सम्बन्ध की तरह प्रतीत हो, उसे 'गण्ड' नामक वीथी का अङ्ग कहते हैं ॥"

इससे वचन की ईषदसमाप्ति दिखाई गई है।

जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन भानुमती से कहता है—

'हे करभोरु ! तुम्हारे जघन स्थल के चिरकाल तक बैठने के लिए मेरा उरुयुगल पर्याप्त है ।'

1. अत्र मुद्रितपुस्तिकानुसारेण पाठभेदः । तत्र षोडशपद्यान्यधिकानि सन्ति ।

तत्र प्रविश्य कञ्चुकी—

भग्नं भीमसेन मरुता भवतो रथकेतनम् ॥ इति ।

तत्रोरुभग्नमितियुपूर्वविश्रान्तमपि भग्नमित्यत्र संबन्धयोग्यं जातम् ।

एतैः त्रयोदशभिरङ्गैर्युक्ता वीथी, तस्याश्च सर्वरसत्वस्याभिधानात् पर्यायेण रसानां प्राधान्यादुत्तमो मध्यमोऽधमो वा नायको भवत्येव । तथा च कोहलः—

उत्तमाधममध्याभिर्युक्ता प्रकृतिभिस्तथा ।
एकहार्या द्विहार्या वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥ इति ।

अधमप्रकृतेस्तु न नायकत्वमिति ध्रुवं, तर्हि प्रहसनकभाणकादौ किं ब्रूयाः हास्यादिरसप्रधानत्वे ह्यधम एव नायकः । कथाशरीरफलेन प्रधानतया संबध्यमानो नायक उच्यते । अनायकत्वेऽहि चास्याधमत्वं नानुपादेयं स्यात् । परिवारतया तस्यानुप्रवेशो ह्यनिवारित एव सर्वत्र ।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनमर्थमनुसन्धत्ते इति दशरूपविधानमिति ।

तदनन्तर प्रवेश करके कञ्चुकी कहता है—महाराज ! टूट गया, टूट गया, भीम अर्थात् भयङ्कर वायु ने आप के रथकेतन को तोड़ दिया ।

यहाँ पूर्व में विश्रान्त उरुयुगल का उरुभङ्ग के सम्बन्ध जोड़ा गया है । अतः यहाँ 'गण्ड' नामक वीथी का अङ्ग है ।

इस प्रकार तेरह अङ्गों से युक्त वीथी होती है । उससे सभी रसों का अभिधान होता है । पर्याय से (क्रमशः) रसों के प्राधान्य से उत्तम, मध्यम, अधम नायक होता है । जैसा कि कोहल ने कहा है—

"उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों से युक्त, एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा सम्पाद्य जो हो, वह 'वीथी' कहलाता है ।"

यदि यह कहा जाय कि अधम प्रकृति का नायक नहीं होता, यह ध्रुव है तो फिर प्रहसन और भाण में क्या कहा जायेगा ? इसलिए जहाँ हास्य रस की प्रमुखता रहेगी, वहाँ तो अधम नायक होगा ही । कथा शरीर अर्थात् इतिवृत्त तथा उसके फल से जो सम्बद्ध होता है वह नायक कहलाता है । नायक के न रहने पर भी इसमें अधमत्व उपादेय होगा । क्योंकि, नाट्य में परिवार होने से उसका प्रवेश तो सर्वत्र अनिवार्य है, उसे कौन रोक सकेगा ? ॥ १२६ ॥

अब अध्याय का उपसंहार करते हुए भावी अध्याय के अर्थ का अनुसन्धान करते हैं—

इति दशरूपविधानं सर्वं प्रोक्तं मया हि लक्षणतः ।
[1]पुनरस्य शरीरगतं संनिविधौ लक्षणं वक्ष्ये ॥ १२७ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे दशरूपनिरूपणं नामाध्यायोऽष्टादशः समाप्तः[2] ।

'लक्षणत' इत्यनेनेदमाह दशैव तानि लक्षणानि उदाहरणानां तु का गणना एतच्च पूर्वमेव दर्शितम् । तत्रैषां पुमर्थोपयोगो निजनिजलक्षणावसरे दर्शित एवेति पौनरुक्त्यं नाश्रीयत इति शिवम् ।

इति विमलशिशिरदीधितिकलितशिरोमण्डनाङ्घ्रिदास्यचणः ।
अभिनवगुप्तो गुप्तं दशस्वरूपं सतत्त्वकं व्यवृणोत् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेदविवृतावभिनवभारत्यां दशरूपकविधानं नामाष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १८ ॥

अनुवाद— इस प्रकार लक्षण के अनुसार दशरूप के समस्त विधान को मैंने कह दिया है। अब उनकी सन्धियों की विधि के विषय में शरीरगत लक्षण को कहूँगा ॥ १२७ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथद्विवेदीकृत नाट्यशास्त्र की हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

अभिनव—'लक्षणत:' कहने का तात्पर्य यह है वे लक्षण दश ही हैं। उदाहरणों की गणना ही क्या है ? यह तो मैंने पहले ही दिखा दिया है। वहाँ अपने-अपने लक्षण कहने के अवसर पर पुरुषार्थ का उपयोग दिखलाया ही है। इसमें यहाँ पुनरुक्ति नहीं होगी अर्थात् कहे हुए को पुनः नहीं करते। इति शिवम् ॥

'इस प्रकार विमल एवं शिशिर किरणों वाले चन्द्रमा से शोभित शिरोभाग वाले चन्द्रशेखर शिव के चरणों की दासता से प्रसिद्ध अभिनवगुप्त ने दशरूपकों के गुप्त तत्त्वों की व्याख्या की है।'

इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत अभिनवगुप्तपादाचार्य की अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ १८ ॥

---

१. ख. इतिवृत्तद्विविधानसन्धिविलक्षणं वक्ष्ये । ग. इतिवृत्तद्विविधानं सन्धिविधौ.....।
२. ख. इति भारतीये नाट्यशास्त्रे दशरूपविधानं नाम विंशोऽध्यायः ।

पद्यार्द्धानुक्रमणिका

'ख'

'द'

‘फ’

‘ब’

'र'

व्याख्यातः स्मृता ग्रन्थाः ग्रन्थकाराश्च

अश्व हृरः
अमरुकाव्यम्
आनन्दवर्धनः
उद्भटः
उपाध्याया
कात्यायनः
कामसूत्रम्
कुमारसम्भवः
कृत्या रावणम्
कोहलः
गोपालः
घण्टकः
चन्द्रगुप्तः
चाणक्यशास्त्रम्
जयदेव
तापसवत्सराज
दुःखलात्मजः
देवीचन्द्रगुप्त
नाकुलम्
नागानन्दः
नृत्तवारः
पाण्डवानन्दः
पुष्पदूतिका
प्रतिज्ञा चाणक्यम्
प्रतिना चाणक्यम्
प्रातिशाख्यम्
बालरामायणम्
विप्दुसारः
बृहत्कथा
ब्रह्मयशः स्वामी
भट्टनायकः
महेन्दुराजः
भामहः
भीमः
मायापुण्यकम्
मालतीमाधवम्
मुद्राराक्षसम्
मुनित्रयम्
रत्नावली
राजशेखरः
लोल्लटः
विक्रमोर्वशीयम्
वृद्धाः
वेणीसंहारः
शङ्कुकः
शाकुन्तलम्
संग्रहः

सव्याख्यनाट्यशास्त्रोपात्त

शुद्धि-निर्देश

पृष्ठ सं०	पंक्ति सं०	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
६	२७	मस्तक	मस्तक आञ्चित
७	११	दूशरा	दूसरा
७	२३	खटकामख	खटकामुख
१४	१४	स्तम	स्तन
३५	१५	आबिग	आवेग
४३	७	श्रुत्या	श्रुत्वा
७४	२८	गतिष्वाभोरणेषु	गतिष्वाभरणेषु
७५	२	व्यश्रः	त्र्यस्रः
८१	९	अघसानां	अधमानां
९८	६	शास्त्रक्षतं	शस्त्रक्षतं
१०३	९	शबराश्चेव	शबराश्चैव
१०४	११	पार्श्र्नाक्रान्ते	पार्श्वक्रान्तैः
१३७	२	विष्कम्भिनं	विष्कम्भितं
१३७	१०	तथासनविधि	तथासनविधिः
१४०	१०	प्रसुप्तस्थ	प्रसुप्तस्य
१७०	३	दाशार्णाः	दशार्षर्णाः
२५२	५	अभिज्ञानशाकुन्तले	यथा अभिज्ञानशाकुन्तले
२५३	३	अथ समाप्यभावात्	अर्थसमाप्त्यभावात्
२५३	१६	उच्छन्द	उच्छब्द
४५३	६	एतद्दृशविध	एतद्दृशविध
४६५	१०	एवार्थो	एवार्थो
५२०	३	प्रथमेङ्के	प्रथमेऽङ्के
७१६	१७	अङ्को	अङ्को



श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स